॥ श्रीः ॥

चौखम्बा आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला
३०

काय-चिकित्सा

(भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली
द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार

(द्वितीय भाग)

लेखक
आचार्य विद्याधर शुक्ल
भूतपूर्व कायचिकित्सा-विभागाध्यक्ष
आयुर्वेद महाविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय सस्कृति एव साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० न० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष ' ३३३४३१

द्वितीय सस्करण १९९३

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू ए बगलो रोड, जवाहरनगर
पो० बा० न० २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष २३६३९१

*

प्रधान वितरक
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० न० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

प्राक्कथन

भारतीय चिकित्सा-विज्ञान मानवीय सवेदना, चेतना, तपस्या, साधना, अनुभूति, सस्कृति और मानव के अन्त करण से उद्भूत भावोर्मियो से उच्छरित ज्ञान का एक दिव्य प्रकाश-पुञ्ज है, जो जन-जन को आरोग्य संपन्न, पौरुष-पराक्रम-साहस-शौर्य से समृद्ध और दया-प्रेम-करुणा-सहानुभूति आदि से ओत-प्रोत बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। उसकी विलक्षणताएँ अनिर्वचनीय हैं, जिन्हें बतलाने की चेष्टा करना आसमान को गिलाफ चढाने जैसा है।

भारतीय चिकित्सा-विज्ञान हमारी सस्कृति और सभ्यता की वह आलोकमयी शिखा है, जिसकी शाश्वत ज्योति ने विश्व की समस्त मानवता का, सम्पूर्ण सस्कृतियो का मार्गदर्शन किया है।

उस चिकित्सा-विज्ञान के उत्कर्ष की कसौटी है उसका कायचिकित्सा अङ्ग। जिसकी बदौलत आज आयुर्वेद को विश्वव्यापी सम्मान और गौरव प्राप्त हो रहा है।

वर्तमान में, सम्पूर्ण भारतवर्ष मे आयुर्वेद का एक ही पाठ्यक्रम चल रहा है, जो केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्, नई दिल्ली द्वारा संचालित है। अध्ययनाध्यापन की सुविधा से कायचिकित्सा के पाठ्य विषय चार प्रश्नपत्रो मे विभक्त हैं। प्रथम प्रश्नपत्र मे आयुर्वेदीय कायचिकित्सा के सैद्धान्तिक विषय और योग, प्राकृतिक चिकित्सा, सिद्ध, यूनानी एव आधुनिक चिकित्सा पद्धतियो का सामान्य सिद्धान्त आदि विषय निहित हैं। इनसे सम्बद्ध समस्त ज्ञातव्य विषयो का सकलन और उनकी समीक्षा का विस्तारपूर्वक वर्णन मेरी पुस्तक कायचिकित्सा (प्रथम भाग) में किया गया है। यह रचना श्रद्धालु एव जिज्ञासु पाठको, छात्रो और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से विभूषित अध्यापक-बन्धुओ को रास आयी, इस बात की मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

सम्प्रति कायचिकित्सा के द्वितीय प्रश्नपत्र से सम्बद्ध विषयो की विशद व्याख्या से सवलित यह द्वितीय भाग आप के खोजी हाथो में अर्पित करते हुए मैं अन्त करण से आनन्दानुभव कर रहा हूँ।

पाठको की पसन्दीदा आँखो के सामने मेरी पूर्व की रचनाओ की झलक की रश्मियाँ आभासित हैं, इसलिए अग्रिम पाठ्यविषयो की पुस्तको के प्रकाशन की प्रतीक्षा करने की उनकी प्रवृत्ति एक स्वाभाविक मानसिकता है और यही एक सबल है, कि मुझे वार्धक्यजनित दुर्बलताओ के दमन मे कामयाबी

हासिल है और मैं यथाशक्य शारीरिक या मानसिक क्षमता को बरकरार रख पाता हूँ।

जहाँ तक बन पड़ा है, मैंने भरसक प्रयास किया है कि इस द्वितीय भाग मे द्वितीय प्रश्नपत्र का समस्त विषय समाहित हो जावे। इसके समायोजन मे पूर्वाचार्यों की परम्परा का बाहुल्येन अनुसरण किया गया है। फिर भी आवश्यकता और अनुभव के आधार पर प्रत्येक शीर्षक को सुबोध बनाने की चेष्टा की गयी है।

आभार—मैं उन यशस्वी महर्षियो और आधुनिक गवेषको के प्रति आभार व्यक्त करना अपना माधुर्यपूर्ण कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी कृतियो से इस रचना को संपन्न करने मे यत्किञ्चित् भी सहायता मिली है।

धन्यवाद—मेरे आत्मज डॉ० आशुतोष शुक्ल ने इस ग्रन्थ के प्रणयन मे अपेक्षित सभी प्रकार से सहयोग दिया है। भगवान् विश्वनाथ उनकी आयुर्वेद के उत्थान की अभिरुचि को सतत अग्रसारित करें, यही आकाङ्क्षा है।

अन्त मे, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी परिवार को अनेकश साधुवाद और धन्यवाद देता हूँ, जिनकी प्रेरणा एव सहयोग से प्रेरित होकर यह ग्रन्थ सपूर्ण हुआ और उन्होने सुन्दर, सुरुचिपूर्ण ढग से ग्रन्थ का प्रकाशन किया।

महाशिवरात्रि स० २०४७
१२ फरवरी १९९१
आशुतोष औषधालय
जलकल रोड, देवरिया

विनयावनत
विद्याधार शुक्ल

विषय-सूची

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित आयुर्वेदाचार्य (बी० ए० एम० एस०) का पाठ्यक्रम

(कायचिकित्सा : द्वितीय प्रश्नपत्र)

(भाग क : ५० अंक)

(१) ज्वर की उत्पत्ति २, ज्वर की परिभाषा ३, ज्वर के पर्याय और भेद ७–११, निज ज्वर २७, आगन्तुक ज्वर ७३, समज्वर ११, विषमज्वर ८७, नव ज्वर ७६, जीर्ण ज्वर ७९, समवेगी ज्वर, विषमवेगी ज्वर, पुनरावर्तक ज्वर ८४, मुक्तानुबन्धी ज्वर और सन्निपात ज्वरो के विशिष्ट चिकित्सा सिद्धान्त ८७, ५७। मन्थर, आन्त्रिक, श्वसनक, श्लेष्मक एवं आक्षेपक ज्वरो के निदान-लक्षण-सम्प्राप्ति एव चिकित्सा का विवेचन १२७–१५५, विषमज्वर का निदान-लक्षण-सम्प्राप्ति एव चिकित्सा-विधि ८७–१२०, कालाजार-मलेरिया १०६, प्रलेपक १११, वातबलासक १११ तथा श्लीपद १२१ का निदान-लक्षण और चिकित्सा। अभिषङ्गज्वर ७४, भूताभिषङ्ग ज्वर तथा जीवाणुसम्मत ज्वरो के निदान लक्षण और चिकित्सा। पिडकामय-मसूरिका १७० और रोमान्तिका १८२, ज्वरो की प्रतिषेधक और प्रतिकारक चिकित्सा।

(२) अन्नवहस्रोतोगत रोगो का नैदानिक वर्णन, चिकित्सासूत्र और चिकित्सा, जैसे–अरुचि १८५, अजीर्ण २०७, अग्निमान्द्य १९३, आनाह २४०, आध्मान २४६, आटोप २४८, छर्दि २५०, विसूचिका २२१, अलसक २३६, विलम्बिका २३८, गुल्म ३०४, शूल २७६, अम्लपित्त २६७, क्रिमि ३३० और अर्श रोग ३४९।

(३) मूत्रवहस्रोतोगत रोगो का नैदानिक वर्णन, चिकित्सासूत्र और चिकित्सा, जैसे–मूत्रकृच्छ्र ३७८, मूत्राघात ३८८ एव अश्मरी ३९८।

(४) प्राणवहस्रोतोगत रोगो का नैदानिक वर्णन, चिकित्सासूत्र और चिकित्सा, जैसे—कास ४०७, श्वास ४२३, हिक्का ४३६, पार्श्वशूल ४४३, राजयक्ष्मा ४४५, शोष ४६७, हृदयरोग ४७५, हृच्छूल ४९२ और हृदयाभिघात ४९४।

(५) रक्तवहस्रोतोगत रोगो का नैदानिक वर्णन, चिकित्सासूत्र और चिकित्सा, जैसे—रक्तपित्त ४९६, कामला ५१२, कुम्भकामला ५१८ और हलीमक ५२१। दाह ५२२, वातरक्त ५२७, रक्तगत वात ५३४ और रक्तावृत वात ५३५।

(६) उदकवहस्रोतोगत रोगों का नैदानिक वर्णन, चिकित्सासूत्र और चिकित्सा, जैसे—तृष्णा ५३६, अतीसार ५४१, प्रवाहिका ५४९ एव विसूचिका ५२१।

(७) रसवहस्रोतोगत रोगों का नैदानिक वर्णन, चिकित्सासूत्र और चिकित्सा, जैसे—पाण्डुरोग ५५३, आमवात ५५९, मद ५५३, मदात्यय ५६९, तथा सम्बन्धित अवस्थाविशेष।

(भाग ख ५० अंक)

(१) यौनसक्रमित रोग एव यौन मनोगत विकार ५७४–५९६।

(२) चयापचयदोष-जनित रोगों का नैदानिक वर्णन और चिकित्सा तथा सामान्य परिचय ६३३–६३९, तरल-वैद्युत्-अम्ल और क्षार के असन्तुलन सम्बन्धी विकार। धातुविकृतिजन्य रोग, जैसे—मधुमेह ६२३, वातरक्त ५२७, धमनी-प्रतिचय ६३०।

(३) त्वचा के रोगों का नैदानिक वर्णन और चिकित्सा, जैसे—कुष्ठ ५९७, किलास ६०७, विसर्प ६११, शीतपित्त-उदर्द-कोठ ६१६ तथा बाह्य जीवाणुओं का सक्रमण ६१९।

प्रथम अध्याय

ज्वर-विवेचन

ज्वर का महत्त्व

ज्वर एक व्यापक रोग है, जो सभी रोगो के पहले उत्पन्न हुआ। वह सभी रोगो मे बलवान् और प्रधान है।[1] वह शरीर के तापमान को बढा देता है, मन मे विकलता, बेचैनी और ग्लानि उत्पन्न करता है तथा इन्द्रियो को अपने विषयो (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के ग्रहण मे असमर्थ बना देता है। वह बुद्धि को, बल को, वर्ण को तथा हर्ष और उत्साह को घटा देता है। वह शरीर को थका देता है, इन्द्रियो मे निष्क्रियता ला देता है, बेहोश बना देता है और भोजन मे अनिच्छा उत्पन्न करता है।

शरीर मे ताप उत्पन्न करने के कारण उसे 'ज्वर' कहते हैं। वह बडा कठिन रोग है। उसमे बहुत से ऐसे उपद्रव होते हैं, जिनकी चिकित्सा करना दुष्कर है। वह सभी रोगो का राजा है।[2] प्राणियो के जन्म के समय और मृत्यु के समय वह अवश्य ही होता है, इसलिये सभी प्राणी सज्वर उत्पन्न होते हैं और सज्वर मरते हैं—'सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते च।' च० नि० १।३५। जन्म और मृत्यु के समय अवश्य होना[3] और देह तथा मन इन दोनो को ही सतप्त करना एव सभी स्थावर-जङ्गमो को आक्रान्त करना ज्वर का विशिष्ट प्रभाव है।

ज्वर यमराज के समान मारनेवाला होता है। क्षय, तम, ज्वर, पाप्मा और मृत्यु, ये सब यमराज के रूप माने गये हैं।[4] ज्वर अनेक प्रकार की तिर्यग्-योनियो (पशु-पक्षी-वृक्ष-पहाड-भूमि आदि) मे भी होता है और विभिन्न नामो से कहा जाता है[5]।

विभिन्न योनियो मे ज्वर के नाम

योनि	ज्वर	योनि	ज्वर
हाथी मे	पाकल	भैंसो मे	हारिद्र
गायो मे	ईश्वर	पक्षियो मे	अभिघात
भेंड बकरे मे	प्रलाप	पतगो में	पक्षपात

१ देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली।
ज्वर प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा॥ च० चि० ३।४

२ स सर्वरोगाधिपति। च० नि० १।३५

३ ज्वरप्रभावो जन्मादौ निधने च महत्तम। च० चि० ३।२६

४ क्षयस्तमो ज्वर. पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मका॥ च० चि० ३।१३

५. नानातिर्यग्योनिषु च बहुविधै शब्दैरभिधीयते। च० नि० १।३५

जल मे	नीलिका (काई)	मृगो में	मृगरोग
वृक्षो मे	कोटर आदि	मछलियो मे	इन्द्रमद
घोडो मे	अभिताप	साँपो मे	अक्षिक
मनुष्यो मे	ज्वर	भूमि मे	ऊषर
ऊँटो मे	अलस		

ज्वर महामोह-स्वरूप है, जिसके कारण ज्वराक्रान्त प्राणी अपने पूर्वजन्मकृत कर्मो का कुछ भी स्मरण नही कर पाता। ज्वर ही जीवननाश के समय शरीर से प्राणो का हरण कर लेता है। देवता और मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी ज्वर के वेग को सहन नही कर पाते। कर्म के कारण मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है और कर्म के क्षय से पुन मनुष्य योनि मे आ जाता है, फिर भी मनुष्य मे देवत्व प्राप्त करने की क्षमता होने से, जब उसे ज्वर होता है, तो चिकित्सा करने पर वह ज्वरमुक्त हो जाता है।

ज्वर की उत्पत्ति[1]

त्रेतायुग मे भगवान् शकर ने शान्त रहने का सकल्प लिया था, उसी समय असुर महात्माओ की तपस्या मे विघ्न डालना शुरू किया और समर्थ रहते हुए भी दक्ष प्रजापति ने असुरो का प्रतीकार नही किया। दूसरी बात यह हुई कि उन्ही दिनो दक्ष प्रजापति ने एक यज्ञ किया और देवताओ के आग्रह करने के बावजूद उस यज्ञ मे उन्होंने शकर जी को भाग नही दिया। तीसरी उपेक्षा यह हुई कि यज्ञ की सफलता के लिए, जो शकर भगवान् के प्रार्थना के मन्त्र हैं, उनका पाठ नही हुआ और न ही शिव को आहुतियाँ दी गयी।

अक्रोधव्रत के समाप्त हो जाने पर, जब दक्ष प्रजापति की उपेक्षा एव अपमान की ओर भगवान् शकर का ध्यान गया, फिर तो वह शिव से रुद्र बन गये। उन्होने अपने मस्तक के तृतीय नेत्र को खोल दिया और उसकी ज्वाला से विघ्नकर्ता राक्षसो को नष्ट कर दिया, उन्हें जला दिया। तदनन्तर यज्ञ को नष्ट करनेवाले, क्रोध की अग्नि से सतप्त बालक को उत्पन्न किया। उस बालक ने यज्ञ का विध्वस कर दिया, फिर तो दाह और व्यथा से पीडित देवता और प्राणिमात्र पागलो की तरह इधर-उधर भागने लगे। दक्ष के तबेले मे भयङ्कर चीत्कार और कुहराम मच गया। इस आतङ्क से त्राण देनेवाला भगवान् शकर के अतिरिक्त कोई दूसरा नही है, यह सोचकर सप्तर्षियो को साथ लेकर देवताओ ने शिव की ऋचाओ से उनकी तब तक स्तुति की, जब तक कि वे अपने शिव (कल्याणकारी) रूप में नही हो गये।

जब उस क्रोध के अवतारी बालक ने भगवान् शकर के शान्त भाव को देखा, तो उसने प्रार्थना की कि अब मैं क्या करूँ ? भगवान् शकर ने उसे आदेश दिया कि प्राणियो के जन्म एव मरण के समय तथा जब से वे अपथ्य करें, तब तुम उनके शरीर मे प्रविष्ट होकर 'ज्वर' नाम से प्रसिद्ध होगे।

---

१. च० चि० ३।१५–२५

इस प्रकार भगवान् शकर की क्रोधाग्नि से ज्वर की उत्पत्ति हुई।

वक्तव्य—उक्त कथा को ज्वर का रूपक मानकर क्रोध से ज्वर की उत्पत्ति के कथन का अभिप्राय यह मानना चाहिए, कि शरीर मे तैजस भाव की वृद्धि के कारण ज्वर की उत्पत्ति होती है। महर्षि चरक ने क्रोध से पित्त की वृद्धि होना बतलाया है—'क्रोधात् पित्तम्' (चि० चि० ३।११५)। अत क्रोध को आग्नेय माना गया है। पित्त और अग्नि का अभेद कहा गया है। सुश्रुत ने शरीरान्त सचारी पित्त को ही अग्नि की सज्ञा दी है—'न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिवर्तमानेष्वग्निवदुपचार क्रियतेऽन्तरग्निरिति।' (सु० सू० २१) 'सामान्य वृद्धि का कारण होता है'—इस सिद्धान्त से पित्तवर्धक क्रोध का भी आग्नेय होना सिद्ध हो जाता है। यदि क्रोध आग्नेय न होता, तो उससे पित्त की वृद्धि नही होती। उक्त सिद्धान्त के आधार पर ही प्रत्येक ज्वर मे पित्त को प्रकृतिस्थ रखनेवाले उपचार किये जाते हैं। इसी आशय से वाग्भट ने भी कहा है कि पित्त के विना ऊष्मा नही हो सकती और ज्वर विना ऊष्मा या ताप के बढ नही सकता, इसलिये ज्वर मे पित्त को कुपित करनेवाले औषध-आहार-विहार का परित्याग कर देना चाहिए।

माधव ने दक्ष द्वारा किये गये अपमान मे क्रुद्ध रुद्र के नि श्वास मे ज्वर की उत्पत्ति कही है।

इस सन्दर्भ मे दक्ष का अर्थ वायु और रुद्र का अर्थ अग्नि है। वायु की विकृति से अग्नि की विकृति और इन दोनो की विकृति से ज्वर की उत्पत्ति होती है।

अन्य दृष्टि से असात्म्य पदार्थों की शरीर मे उपस्थिति (विषोत्पत्ति = दक्ष प्रयुक्त अपमान), तापनियन्त्रक केन्द्र की विकृति (रुद्रकोप), धात्वग्निव्यापार रक्त-प्रवाह की वृद्धि (कुपित रुद्र का नि श्वास) एव त्वचा द्वारा तापनिर्हरण के अभाव से तापवृद्धि अर्थात् ज्वर की उत्पत्ति होती है। एवञ्च निष्कर्ष यह है कि 'प्रकुपित वायु ही अग्नि-पित्तस्वरूप रुद्र को प्रेरित करता है, जिससे प्रेरित पित्त रसानुग हो शरीर मे प्रवाहित होता हुआ रस-रक्त को उष्ण कर सपूर्ण शरीर को सतप्त कर देता है। इस प्रकार शरीर के सतप्त हो जाने पर शरीर मे ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है।'

ज्वर शब्द के पारिभाषिक अर्थ

आयुर्वेद-वाङ्मय मे ज्वर शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया गया है—

१ सामान्यतया ज्वर शब्द सभी रोगो के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे—व्याधि, आमय, गद, आतङ्क, यक्ष्मा, ज्वर, विकार, ये सभी शब्द पर्यायवाची कहे गये हैं।[1]

२ विशेष अर्थ मे—शरीर की ऊष्मा या ताप के बढ जाने को ज्वर कहते हैं। शारीरिक बाह्य तथा आभ्यन्तर अवयवो के जीवन्त व्यापार को लगातार सचालित रखने के लिए शरीर मे ऊष्मा की नियत मात्रा विद्यमान रहती है।

---

१ ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च।
एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते॥ च० चि० ३।१२

किन्ही कारणो से, जब उस ऊष्मा की मात्रा अधिक होती है, तो शरीर का ताप बढ जाता है। इस बढे हुए ताप का ही नाम ज्वर है। इस प्रकार ज्वर एक अलग रोग है, जिसमे तापवृद्धि के साथ शारीरिक एव मानसिक विकृतियाँ हो जाती हैं।

चरक ने कहा है कि ज्वर एक प्रकार का होता है और सन्ताप उत्पन्न करना जिसका लक्षण है। अन्यत्र उसे देह, इन्द्रिय एव मन को सतप्त करनेवाला कहा गया है।[1]

सुश्रुत के अनुसार स्वेद का अवरोध, सन्ताप और सर्वाङ्ग मे पीडा, ये लक्षण एक साथ जिस रोग मे हो, उसे 'ज्वर' कहते हैं।[2]

स्वेदावरोध—आमरस के कारण या रक्त मे ज्वर-जन्य विष की प्रचुरता से स्वेद-ग्रन्थियो से स्वेद का निकलना बाधित हो जाता है। स्वेद शब्द स्रावसामान्य का उपलक्षण (बोधक) है, अत **स्वेदावरोध** से मुख, आमाशय, अन्त्र, वृक्क तथा अन्य ग्रन्थियो के स्राव का कम होना या बन्द होना, यह अर्थ भी समझना चाहिए। रक्त मे परिभ्रमण करनेवाले ज्वर-जनक विषो के कारण तापनियन्त्रक केन्द्र के अक्रियाशील हो जाने से परिसरीय केशिकाओ का विस्फार नही होने पाता। इस प्रकार भोजनाभाव तथा विषो एव आमदोष की प्रचुरता के कारण स्वेद-ग्रन्थियो का कार्य अवरुद्ध हो जाता है।

सन्ताप—ताप या ऊष्मा उत्पन्न करना पित्त का गुण है, जब पित्त की वृद्धि होती है, तभी सन्ताप होता है। इसलिये सामान्यत सभी ज्वरो मे पित्त का अनुबन्ध मानकर उनमे पित्त शमन करनेवाली चिकित्सा का उपदेश किया गया है।[3] शरीर मे ताप की वृद्धि होने पर त्वचा के स्पर्श द्वारा उसका अनुभव होता है। इन्द्रियो मे सन्ताप होने पर उनकी क्रिया अवरुद्ध हो जाती है और मन सन्ताप होने पर चित्त का न लगना, बेचैनी एव ग्लानि होती है।

शरीर मे सन्ताप या तापवृद्धि होना शरीर की प्रतिक्रियात्मक शक्ति का निदर्शक है। तापवृद्धि का होना शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए एक उपयोगी क्रिया है। ताप की अधिकता के दो लाभ हैं—प्रथम ताप बढने पर जीवाणुओ की वृद्धि रुक जाती है और दूसरा लाभ यह है कि तापवृद्धि होने से हृदय की गति तीव्र हो जाती है, जिससे विकृति के निराकरण के लिए रक्त प्रचुर मात्रा मे विकृत स्थान मे पहुँच जाता है।

सर्वाङ्गग्रहण—यह लक्षण प्रमुख रूप से सर्वाङ्गवात विकार मे होता है, किन्तु जब स्वेदावरोध तथा सन्ताप के साथ सर्वाङ्गग्रहण (सर्वाङ्ग पीडा) होता है, तो ये तीनो ज्वर के परिचायक लक्षण हो जाते हैं।

१ देहेन्द्रियमनस्तापी । च० चि० ३।१५

२ स्वेदावरोध. सन्ताप सर्वाङ्गग्रहण तथा।
युगपद् यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥ सु० उ० ३९

३ ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना।
तस्माद् पित्तविरुद्धानि त्यजेद् पित्ताधिकेऽधिकम् ॥

ज्वर की प्रकृति

प्रकृति शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया गया है—(१) पहला अर्थ सन्निकृष्ट कारण है। इस दृष्टि से शारीरिक दोप—वात-पित्त-कफ एव मानस दोष—रज तथा तम, ज्वर की प्रकृति[1] अर्थात् सन्निकृष्ट कारण हैं। क्योकि शारीरिक तथा मानसिक दोपो मे जब विपमता होती है तभी ज्वर होता है और जब शारीर तथा मानस दोष विषम नही होते, तो ज्वर नही होता। ज्वर के विप्रकृष्ट कारण—मिथ्या आहार-विहार, असात्म्येन्द्रियार्थसयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम तथा आगन्तुक कारण होते हैं।

(२) प्रकृति का दूसरा अर्थ स्वभाव है, जिसके अनुसार ज्वर की स्वाभाविक प्रकृतियो को जानना चाहिए। जैसे—

१ ज्वर देह और धातुओ का नाश करता है, इसलिए उसे क्षय कहते हैं।

२. ज्वर से मोह उत्पन्न होता है, जो तमोगुण का कार्य है, अत उसे तम कहते हैं।

३. ज्वर शरीर मे ताप और मन तथा इन्द्रियो मे सन्ताप उत्पन्न करने से ज्वर कहलाता है।

४ ज्वर पूर्व जन्मकृत पाप से भी होता है एव दु खप्रद होता है, अत पाप्मा कहलाता है।

५. ज्वर मृत्युकाल मे अवश्य ही रहता है, इसलिए उसे मृत्यु कहते हैं।

६. ज्वर यमराज के समान मारनेवाला होता है, अत यमात्मक कहा जाता है।[2]

ज्वर की प्रवृति

कृतयुग जब समाप्त हो रहा था तब कुछ सम्पन्न लोग इतना अधिक भोजन करने लगे कि उनका शरीर भारी हो गया और वे थकावट एव आलस्य से ग्रस्त हो गये। फिर तो उनमे श्रम से बचने के लिए धन-सम्पत्ति के सञ्चय की प्रवृत्ति का उदय हुआ। सञ्चय से धन-सम्पत्ति के प्रति ममता जगी और लोभ उत्पन्न हुआ।

त्रेतायुग मे लोभ से द्रोह, द्रोह से असत्य भाषण, असत्य भाषण से काम-क्रोध-अहकार द्वेप-कठोरता-अभिघात-भय सन्ताप-शोक-चिन्ता और उद्वेग आदि की उत्पत्ति हुई। धर्म का भी ¼ अश लुप्त हो गया, फिर महाभूतो के गुणो का चतुर्थांश नष्ट हो जाने से द्रव्यो, आहार, औपध एव अन्नो मे स्निग्धता तथा रस, वीर्य, विपाक एव प्रभाव भी घट गया। उन हीनगुणी आहारो के सेवन से एव मिथ्या विहार से मनुष्यो

---

१ तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषा शारीरमानसा।
देहिनं नहि निर्दोपं ज्वर समुपसेवते॥ च० चि० ३।१२।

२ क्षयस्तमो ज्वर पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मका।
पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणा क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा॥
इत्यस्य प्रकृति प्रोक्ता। —च० चि० ३।१३।

के शरीर का सम्यक् पोषण नही हो पाता था, फिर तो अग्नि एव वायु के विकारो से ग्रस्त होकर मनुष्य ज्वर आदि रोगों से ग्रस्त होने लगे।

इस प्रकार ज्वर की प्रथमोत्पत्ति पूर्ववर्णित रुद्रकोप से तथा द्वितीय उत्पत्ति लोभ-परिग्रह या ममता से हुई। लोभ के वशीभूत मनुष्य सञ्चयी हो जाता है, फिर वह आहार-विहार मे भी सन्तुलन खो बैठता है, जिसके परिणामस्वरूप ज्वर रोगोत्पत्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।[1]

ज्वर का प्रभाव[2]

१. शारीरिक एव मानसिक सन्ताप होना, २ भोजन में रुचि का न होना, ३. प्यास अधिक लगना, ४ शरीर के अग-अग मे पीडा का होना और ५ हृदय मे व्यथा होना—ये सभी लक्षण ज्वर के प्रभाव कहे गये हैं। जन्म और मृत्यु के समय ज्वर बहुत बडा मोह उत्पन्न करता है। उस महामोह के ही कारण मनुष्य पूर्वजन्म की बातो को स्मरण नही कर पाता। अनौपाधिक शक्ति को प्रभाव कहते हैं, जिसके होने से ज्वर से आक्रान्त व्यक्ति मे सन्ताप आदि लक्षण पाये जाते हैं। चूंकि यह ज्वररोग का प्रभाव है, इसलिए वातश्लेष्मज ज्वर मे भी ईषदुष्ण रूप ताप होता ही है। जब शरीर मे ताप बढता है तो प्यास भी बढ जाती है और जल की इच्छा होती है। पाचकाग्नि की विकृति से भोजन मे अरुचि होती है। ज्वर के वेग एव तीव्र रक्तसवहन के कारण अगमर्द और हृदय में पीडा होती है।

चिकित्सा के पूर्व रोग के प्रतिषेध या रोग का आक्रमण होने पर उससे मुक्ति पाने के लिए उस रोग के कारण तथा स्वभाव रूप प्रकृति का, सन्निकृष्ट एवं विप्रकृष्ट कारणजन्य प्रवृत्ति या उत्पत्ति का एव उसके प्रभाव का वर्णन कर दिया गया, जिससे चिकित्सक को चिकित्सा कार्य मे सुगमता हो।

ज्वर का प्रत्यात्म लक्षण[3]

प्रत्यात्म लक्षण उस लक्षण को कहते हैं जो लक्षण अवश्यम्भावी होता है, जिस लक्षण की उपस्थिति अनिवार्य रूप से होती ही है। जैसे—'**शरीर और मन में संताप का होना**' ज्वर का प्रत्यात्म (अपना निजी) लक्षण है। शरीर मे सताप होने से शरीर की त्वचा के स्पर्श से उष्णता प्रतीत होती है, अग-अग में वेदना होती है और मन मे सताप होने पर विकलता, बेचैनी, कही मन न लगना एव ग्लानि (हर्षक्षय) होती है। शरीर मे ज्वर के प्रविष्ट होने पर प्राणिमात्र (हाथी से चीटी तक) सतप्त होते हैं।

---

१ भ्रश्यति तु कृतयुगे ˙ प्राग्ज्वरादिभिराक्रान्तानि। च० वि० ३।२४।

२. सन्ताप सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा।
ज्वरप्रभावो जन्मादौ निधने च महत्तम ॥ च० चि० ३।२६

३ ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानस ।
ज्वरेणाविशता भूतं नहि किञ्चिन्न तप्यते ॥ च० चि० ३।३१

शरीर तथा मन मे एक साथ सताप का होना अनर्थकर होता है। शारीरिक ज्वर या सताप पहले शरीर मे होता है, फिर वह मन को भी आक्रान्त कर लेता है, कि वा मानसिक ज्वर या सताप पहले मन मे उत्पन्न होता है और बाद मे शरीर को भी सक्रान्त कर देता है, क्योकि शरीर और मन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि एक की स्थिति का दूसरे के ऊपर निश्चित ही प्रभाव होता है। दोषानुसार ज्वर के विभिन्न लक्षण और प्रकार हैं, वे सभी लक्षण सर्वत्र नही होते, किन्तु 'सन्ताप होना' एक ऐसा लक्षण है, जो निश्चित रूप से सभी ज्वरो मे पाया जाता है और अव्यभिचारी है। अत सन्ताप होना ज्वर का प्रत्यात्मलक्षण है।

ज्वर के पर्याय[1]

व्याधि, आतङ्क, ज्वर, विकार एव रोग—इन नाम पर्यायो से एक ही ज्वर रूप अर्थ जाना जाता है और ये ज्वर के पर्याय शब्द हैं।

वैदिक वाङ्मय में ज्वर[2]

वेद मे ज्वर के लिए तक्मा पद आया है। 'तकि कृच्छ्रजीवने' धातु से तक्मा पद बना है, जिसका अर्थ है जीवन को कष्ट या दु ख देने वाला। गुण-भेद से ज्वर के लिए निम्नलिखित नाम वेद मे आते हैं—

नाम	अर्थ	सन्दर्भ
१ शीर्षलोक	शिर को पकडने वाला	अथर्व० १९।३९।१०
२ सहस्राक्ष	हजारो आँखो वाला	,, ६।२६।३
३ अर्चि	ज्वाला स्वरूप	,, १।२५।२
४ तपु.	तपाने वाला	,, ६।२०।१
५ शुष्मी	शोषण करनेवाला	,, ६।२०।१
६ तक्मा	कष्टमय जीवनकर्ता	,, ५।२२।१
७ ग्रभीता	पकडनेवाला	,, १।१२।२
८ शोचि	सतापक	,, १।२५।२
९ हुडू	जिसके वेग मे मुख से हुडू की ध्वनि निकले	,, १।२५।२
१० शोक	शोकातुर बनानेवाला	,, १।२५।३
११ अभिशोक	शोक से सतप्त करनेवाला	,, १।२५।३
१२ वरुणस्य पुत्र	जलीय भूमि मे होनेवाला	,, १।२५।३
१३ व्याल	सर्प की तरह प्राणघातक	,, ५।२२।६
१४ विगद	विशेष प्रकार का रोग	,, ५।२२।६
१५ व्यङ्ग	अगो को विकृत बनानेवाला	,, ५।२२।६

१ ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च।
एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते ॥ च० चि० ३।११

२ वेदों में आयुर्वेद' ले० रामगोपाल शास्त्री पृ० ९०–९१ से साभार उद्धृत।

१६ अमर्त्य	जो कभी नही मरता अर्थात् बार-बार होनेवाला	अथर्व०	५।२६।३
१७ पाप्मा	क्षय करनेवाला	,,	६।२६।१
१८ अभिशोचयिष्णु	सब ओर से तपानेवाला	,,	६।२०।२
१९ रुद्र	रुलानेवाला	,,	६।२०।२
२० हरितस्य देव	हरितवर्ण का देवता	,,	१।२५।२

तक्मा ज्वर के भेद

२१ अभ्रजा	मेघ से उत्पन्न होनेवाला—कफज्वर	अथर्व०	१।१२।३
२२ वातजा	वात से उत्पन्न होनेवाला—वातज्वर	,,	१।१२।३
२३ शुष्म	शोषक ज्वर	,,	१।१२।३
२४ परुष	त्वचा मे रूक्षता उत्पन्न करनेवाला	,,	५।२२।३
२५ अगज्वर	अगो मे रहनेवाला	,,	९।८।५
२६ अगभेद	अगमर्द करनेवाला	,,	९।८।५
२७ शीत	शीतपूर्वक होनेवाला ज्वर	,,	५।१२।१०
२८ रूर	उष्ण (पैत्तिक) ज्वर	,,	५।२२।१०
२९ तृतीयक	तीसरे दिन आनेवाला	,,	५।२२।१३
३० वितृतीय	चातुर्थिक ज्वर	,,	५।१२।१३
३१ सदन्दि	सदा रहनेवाला—सतत आदि	,,	५।२२।१३
३२ शारद	शरद् ऋतु मे होनेवाला	,,	५।२२।१३
३३ वार्षिक	वर्षा ऋतु मे होनेवाला	,,	५।२२।१३
३४ ग्रैष्म	ग्रीष्म ऋतु मे होनेवाला	,,	५।२२।१३
३५ विश्वशारद	शरद् ऋतु मे विशेष रूप से फैलनेवाला—मलेरिया ज्वर	,,	९।८।६
३६ अन्येद्यु	अन्येद्युष्क	,,	१।२५।४
३७ उभयद्यु	चातुर्थिक विपर्यय	,,	१।२५।४
३८ अरुण	लाल ज्वर (मसूरिका आदि मे)	,,	६।२०।३
३९ बभ्रु	पीतज्वर	,,	६।२०।३
४० वन्य	वन मे रहने से होनेवाला	,,	६।२०।३
४१ च्यवन	स्वेद लानेवाला	,,	७।११६।१
४२ नोदन	जो ज्वर इधर-उधर दौडता है	,,	७।११६।१
४३ अव्रत	विषमज्वर	,,	७।११६।२
४४ धृष्णु	जो धृष्टता पूर्वक चढता है	,,	७।११६।१
४५ हायन	धान पकने के समय होनेवाला	,,	१९।९।१०

ज्वर मे अग्नि की ज्वाला जैसी जलन, उन्मत्तवत् प्रलाप, कम्पन आदि सैंकडो उपद्रव होने का वेद-मन्त्रो मे वर्णन किया गया है ।[1]

---
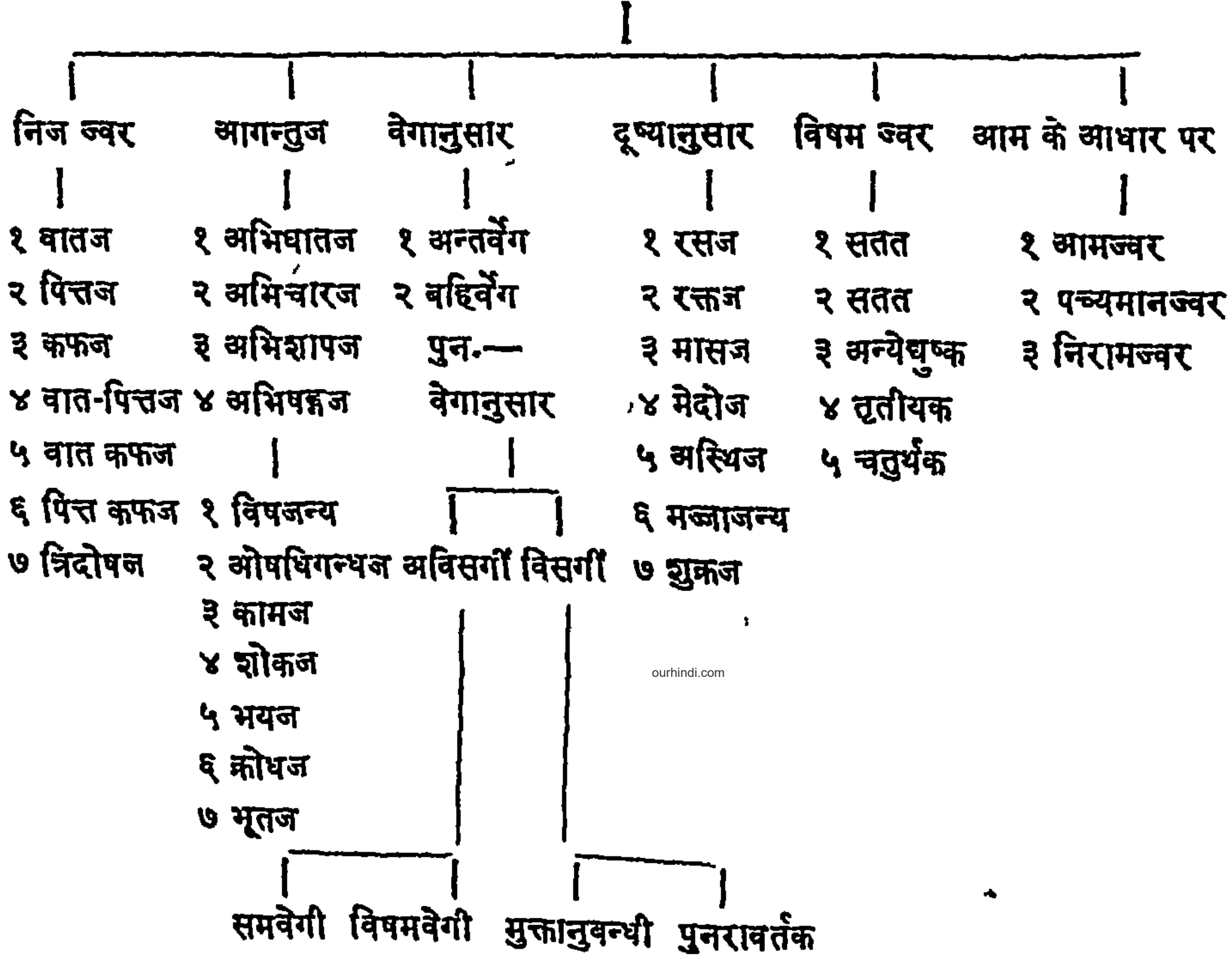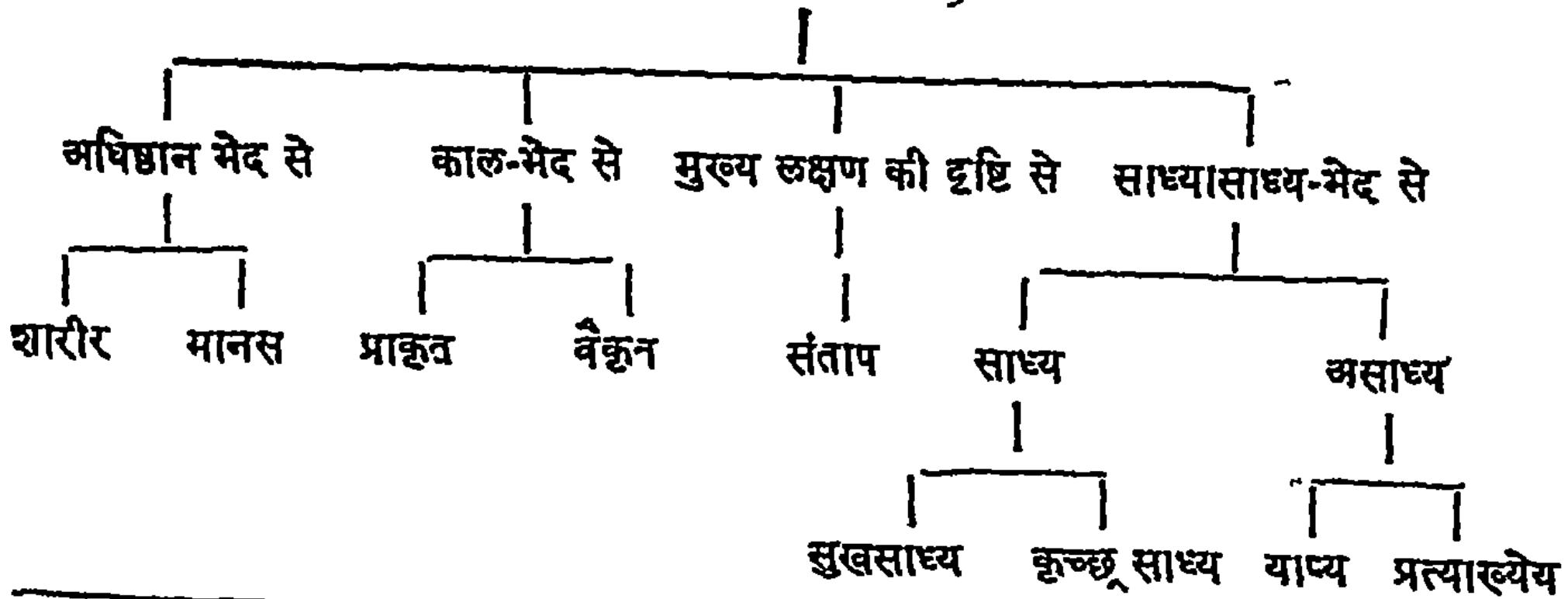
१ (क) यस्य भीम प्रतिकाश उद्वेपयति पूरुषम् । अथर्व० ९।८।६

(ख) अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति । अन्यमस्मदिच्छतु कश्चिदमतस्तपुर्वधाय । अथर्व० ६।३०।१

(ग) शत रोपीश्च तक्मन ।

(३) सन्निपातज्वर के भेद
दोषानुबन्ध
नाम
१ वातोल्बण
विस्फारक
२ पित्तोल्बण
आशुकारी
३ कफोल्बण
कम्पन
४ वातपित्तोल्बण
बभ्रु
५ वातकफोल्बण
शीघ्रकारी
६ पित्तकफोल्बण
भल्लु
७ हीनवात-पित्तमध्य-श्लेष्माधिक
वैदारिक
८ हीनवात-मध्यकफ पित्ताधिक
याम्य
९ हीनपित्त-मध्यकफ-वाताधिक
क्रकच
१० हीनपित्त-वातमध्य-कफाधिक
कर्कटक
११ हीनकफ-पित्तमध्य-वाताधिक
सम्मोहक
१२ हीनकफ-वातमध्य-पित्ताधिक
पालक
१३ सर्वदोषोल्बण
कूटपालक
ourhindi.com

(४) सन्निपातज्वरों के नाम-भेद
मतान्तर
१ शीताङ्ग
२ तन्द्रिक
३ प्रलापक
४ रक्तष्ठीवी
५ भुग्ननेत्र
६ अभिन्यास
७ जिह्वक
८ सन्धिग
९ अन्तक
१० रुग्दाह
११ कर्णिक
१२ चित्तविभ्रम
१३ कण्ठकुब्ज
मतान्तर
१ कुम्भीपाक
२ प्रोर्णुनाव
३ प्रलापी
४ अन्तर्दाह
५ दण्डपात
६ अन्तक
७ एणीदाह
८ हारिद्रक
९ अजघोष
१० भूतहास
११ यन्त्रापीड
१२ सन्यास
१३ सशोषी
सन्निपात ज्वरो के अन्य भेद
१ आन्त्रिक ज्वर
२ श्वसनक ज्वर
३ प्रणालीय श्वसनक ज्वर
४ उपखण्डीय ,, ,,
५ श्लेष्मक ज्वर (इन्फ्लुएञ्जा)
६ आक्षेपक ज्वर

(५) ज्वर के भेद

जीवाणुसम्भव ज्वर	पिडकामय ज्वर
१ पीत ज्वर	१ गो मसूरिका
२ कृष्णमेह ज्वर	२ लघु मसूरिका
३ पृषज्ज्वर	३ बृहत् मसूरिका
४ पाताल पृषज्ज्वर	४ रोमान्तिका
५ खातिज्वर	५ शोण ज्वर
६ किं ज्वर	६ विसर्प
७ माल्टा ज्वर	७ जालगर्दभ
८ सैकतमक्षिका ज्वर	८ रोहिणी
९ मूषिकदंशज ज्वर	९ घूणदशज
१० कर्णमूलिक ज्वर	१० एन्थ्रैक्स
११ ग्रन्थिक ज्वर	
१२ श्लैपदिक ज्वर	
१३ मलेरिया	
१४ कालाजार	
१५ दण्डक ज्वर	

(६) कुछ अन्य ज्वर

१ प्रलेपक	८ रोगोत्पानज	१५ देशान्तरीय	२२ रात्रि ज्वर
२ वातवलासक	९ सात्म्यविपर्ययज	१६ मृगमक्षिका	२३ अर्धाङ्ग ज्वर
३ शीताभिप्रायी	१० ऋतुविपर्ययज	१७ वातालिका	२४ ऋक्षदोषोद्भव
४ उष्णाभिप्रायी	११ प्रसूतिज	१८ क्षतज	२५ प्लीह ज्वर
५ स्नेहविभ्रमज	१२ स्तन्यागमोत्थ	१९ श्रमज	२६ अजीर्णज
६ सतर्पणज	१३ ग्रहबाधोत्थ	२० शाखानुसारी	२७ अशुघात
७ अपतर्पणज	१४ दुष्प्रजाता ज्वर	२१ विषज	२८ तृणपुष्प
			२९ हारिद्रक ।

सम ज्वर और विषम ज्वर

समज्वर और विषम ज्वर की दृष्टि से भी ज्वर दो प्रकार का होता है—

१ समज्वर[1]—जो ज्वर स्वल्प कारणोवाला, बहिर्मार्गसंश्रित, उपद्रवरहित, एकाश्रयवाला, सुखपूर्वक चिकित्सा करने योग्य तथा लघुपाकी होता है, उसे समज्वर कहते हैं।

---

१ अल्पहेतुर्बहिर्मार्गो वैकृतो निरुपद्रव ।
एकाश्रय सुखोपायो लघुपाकी समो ज्वर ॥ का० सं० खि० अ० १

२ विषमज्वर[1]—जो समज्वर के विपरीत लक्षणोवाला हो, एवञ्च तीक्ष्ण होने के कारण सन्ततज्वर तथा प्रेत और ग्रहो से उत्पन्न होनेवाले तथा सतत आदि चारो ज्वर विषम गति के कारण विषमज्वर कहे जाते हैं। इसके सम्बन्ध के अन्य विषम ज्वर आगे कहे जायेंगे।

ज्वर का सामान्य निदान

१. स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन एव रक्तमोक्षण का मिथ्यायोग या अतियोग होना।

२. शस्त्र, काष्ठ, लोष्ट्र, पाषाण, दण्ड, मुष्टि आदि का आघात।

३ व्रण, विद्रधि आदि का उभार या प्रपाक होना।

४. श्रम करना, धातुक्षय होना, अजीर्ण या विषग्रस्त होना।

५ असात्म्य सेवन एव मिथ्या आहार-विहार-सेवन।

६. ऋतु-परिवर्तन।

७. विषयुक्त औषधपुष्प की गन्ध लेना।

८ शोकग्रस्त होना।

९ जन्मनक्षत्र या लग्नस्थान मे विशिष्ट ग्रह की उपस्थिति से उत्पन्न पीडा।

१०. अभिचार-कर्म (विपरीत मन्त्रोच्चारपूर्वक लोहस्रुवा से होम या सर्षप आदि से होम कर मारण या उच्चाटन का प्रयोग करना)।

११ देवता, गुरु या वृद्धजन द्वारा शाप दिया जाना।

१२. काम-क्रोध-भय आदि का मन मे आवेश होना।

१३. देवता, राक्षस आदि का अभिषङ्ग होना।

१४. असम्यक् रूप से प्रसूता स्त्रियो द्वारा अथवा यथाकाल प्रसूता स्त्रियो द्वारा मिथ्या आहार-विहार का सेवन करना।

१५. स्तन्य का प्रथम वार स्तनो मे आविर्भूत होना।

सुश्रुतसहिता चिकित्सास्थान अ० ३९ मे ज्वर के ये निदान कहे गये हैं। महर्षि चरक ने निजज्वरो के अलग-अलग निदान का उल्लेख किया है। वाग्भट ने मिथ्याहार आदि को विप्रकृष्ट तथा वातादि दोषो को सन्निकृष्ट कारण माना है।[2] श्रीगणनाथसेन ने मिथ्याहारादि वाह्य कारणो को निदान शब्द से लिया है, धातुवैषम्य उत्पन्न कर या साक्षात् ज्वरादि रोगो को उत्पन्न करते हैं।[3]

---

१ विषमस्तद्विपर्ययस्तत्तीक्ष्णत्वात् सन्ततो मत।
तद्वत् प्रेतग्रहोत्था वै चत्वारो विषमागमात्॥ का० स० खि० अ० २

२ वातादिसन्निकृष्टं च तथाहारादिसम्भवम्।
अपर विप्रकृष्ट च रोगाणा कारणद्वयम्॥

३ वाह्य निमित्तं रोगाणा निदानमिति कीर्तितम्।
विधाय धातुवैषम्य साक्षाद् वा रोगकारि तत्॥ सिद्धान्तनिदान, प्रथम भाग

निज ज्वरों की सामान्य सम्प्राप्ति

मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित पृथक्-पृथक् वात, पित्त या कफ या द्वन्द्वज दोष—वातपित्त, वातकफ या पित्तवात अथवा सन्निपात—वात-पित्त-कफ रस नामक धातु से मिलकर अग्न्याशय से अग्नि को बाहर निकालकर उस अग्नि की गर्मी से सम्पूर्ण शरीर को उष्ण बनाकर, स्रोतों को रोककर, जब बढ़े हुए दोष सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाते हैं, तब शरीर मे अधिक ताप उत्पन्न करते हैं, जिससे मनुष्य का शरीर अधिक उष्ण हो जाता है और उष्णता सारे शरीर मे व्याप्त हो जाती है एवञ्च वह व्यक्ति ज्वर से पीडित कहा जाता है।[1]

वक्तव्य—मिथ्या आहार विहार एव वलवान् के साथ युद्धादि कारणो से वर्षाऋतु में, वृद्धावस्था मे, दिन के अन्त मे, रात्रि के अन्त मे या भोजन पच जाने पर प्रकुपित वायु, मिथ्या आहार-विहार एव क्रोध आदि से शरद् ऋतु मे, मध्य वय मे मध्याह्न मे, मध्य रात्रि मे या भोजन के पचते समय प्रकुपित पित्त अथवा मिथ्या आहार-विहार तथा दिवास्वप्नादि स्वप्रकोपक कारणो से वसन्त ऋतु मे, वाल्यकाल मे, प्रात काल, प्रदोष वेला मे अथवा भोजन के आदि मे प्रकुपित कफ सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होकर एकाकी, द्वन्द्व या सन्निपात रूप से ज्वर को उत्पन्न करते हैं। ये दोष आमाशय मे पहुँचकर वहाँ की ऊष्मा के साथ मिलकर कि वा पाचकाग्नि या धात्वग्नि या दोषाग्नि के साथ मिलकर रसधातु के साथ मिश्रित होकर, रसवाहक तथा स्वेदवाहक स्रोतो के मार्ग को अवरुद्ध कर जठराग्नि को मन्द कर, पक्तिस्थान से ऊष्मा को निकालकर उसे सम्पूर्ण शरीर में फैलाकर अपने प्रकोपक काल में ज्वर के वेग को उत्पन्न करते हैं।[2]

जब दोष स्वप्रकोपण काल मे ज्वर उत्पन्न करते हैं, तब वह प्राकृत ज्वर होता है तथा अन्य काल मे जब वे ज्वर उत्पन्न करते हैं, तब वह वैकृत ज्वर कहलाता है।

सम्प्राप्ति सारणी[3]

मिथ्या आहार-विहार
एव प्रकोपण काल
|

---

१ संसृष्टा. सन्निपतिता पृथग्वा कुपिता मला.।
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्ति स्थानान्निरस्य च ॥
स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो वलम्।
स्रोतासि रुद्ध्वा सम्प्राप्ता केवलं देहमुल्वणा ॥
सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥ च० चि० ३।१२९–१३२

२. सु० उ० त० अ० ३९।१५–१८

३ मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रया।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदा स्यू रसानुगा. ॥ माधवनि० ज्वर०

वात-पित्त-कफ का पृथक्, द्वन्द्व या
सन्निपात रूप मे प्रकोप
|
आमाशय मे दोष-सञ्चय
|
रस + दोष मिलन
|
कोष्ठाग्नि का वहिर्गमन
|
सामरस सम्पृक्त दोष का रसवह एवं स्वेदवह
स्रोतो में अवरोध उत्पन्न करना
|
दोषो का रस के साथ
सर्वशरीर मे फैलना
|
ज्वर की अभिनिर्वृत्ति
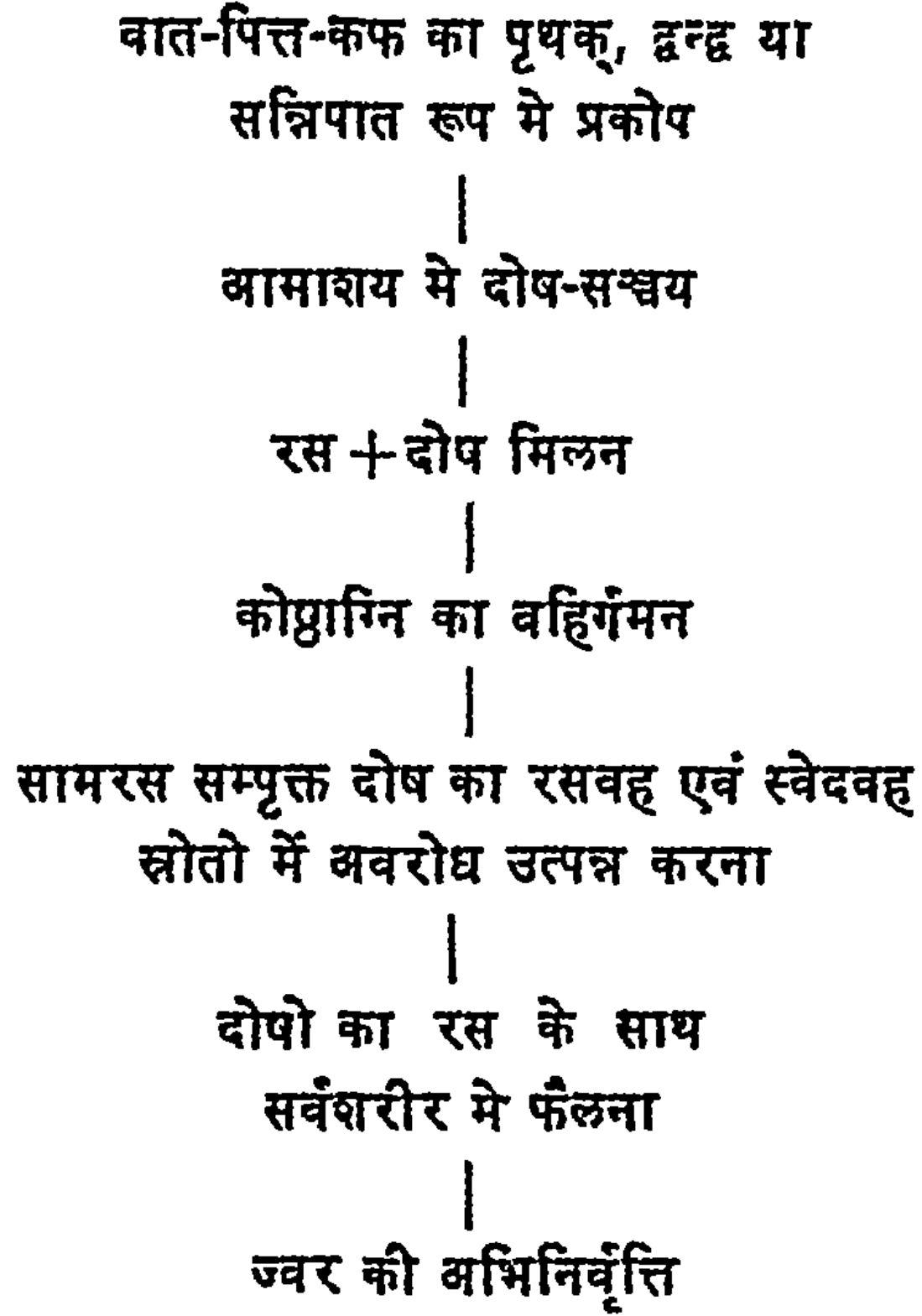
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—स्रोतस्

१ दोष = वात-पित्त-कफ, पित्त का प्राधान्य
२. दूष्य = (क) कोष्ठाग्नि
= (ख) रस
३. अधिष्ठान = (क) आमाशय
= (ख) सर्वशरीर
४ स्रोतस् = रसवह = स्वेदवह
५. स्रोतोदुष्टि लक्षण = रोग

निज ज्वरों का सामान्य पूर्वरूप

१ शरीर से थकावट
२ चित्त मे बेचैनी
३ शारीरिक वर्ण मे विकृति होना
४ मुख का स्वाद बिगडना
५ आंखो में आंसू आना
६ शीत वायु एव धूप की कभी इच्छा, कभी अनिच्छा
७ कभी जल की इच्छा, कभी नही
८ जम्भाई आना
९ शरीराङ्गो में पीडा होना
१० अगो मे भारीपन
११ रोगटे खडा होना
१२ भोज्य-पेय मे अरुचि
१३ आंखो मे अँधेरा छाना
१४ आनन्द न आना
१५ ठण्डक लगना (सुश्रुत)
१६ नीद का अधिक आना
१७ अगो का झुकना
१८ अगो का कांपना
१९ चक्कर आना

२० प्रलाप करना
२१ दाँत का कोट होना
२२ शब्दासहिष्णुता
२३ अविपाक
२४ दुर्बलता
२५ मानसिक दुर्बलता
२६ दीर्घसूत्रता
२७ अभ्यस्त कर्म न करना
२८ कार्यों को उलटा करना
२९ श्रेष्ठो की बात न मानना
३० बालको से द्वेष करना
३१ धार्मिक कर्म मे उपेक्षा
३२ माल्य-धारण से दु ख
३३ अनुलेपन से दु ख होना
३४ भोजन से क्लेश होना
३५ मधुर आहार से द्वेष
३६ अम्लप्रियता
३७ लवणप्रियता
३८ कटुप्रियता (चरक नि० १।३३)

ये लक्षण ज्वर होने के पूर्व होते हैं और कदाचित् ज्वर हो जाने पर भी बने रहते हैं।

निज ज्वरो का विशिष्ट पूर्वरूप

१ ज्वर के पूर्वरूप मे वायु की प्रबलता से जम्भाई अधिक आती है।
२ ,, ,, पित्त ,, नेत्रो मे दाह होता है।
३ ,, ,, कफ ,, खाने मे अनिच्छा होती है।
४ ,, ,, तीनो दोषो ,, तीनो दोषो के मिश्रित लक्षण होते हैं।
५ ,, ,, दो ,, ,, दो-दो दोषो के ,, ,,

ज्वर के पूर्वरूप मे इन्द्रियो की स्वविषयो मे अप्रवृत्ति, बल-वर्ण की हानि और व्यक्तियो के स्वभाव मे भी परिवर्तन हो जाता है।

ज्वर का सामान्य लक्षण

ज्वर के जो प्रभाव कहे गये हैं, वे ही ज्वर के सामान्य लक्षण हैं, जैसे—
१ संताप होना।
२ अरुचि होना।
३ तृष्णा का अनुभव होना।
४ अङ्गमर्द।
५ हृदय मे वेदना होना।
ये ज्वर के सामान्य लक्षण हैं[1]।

आम ज्वर, पच्यमान ज्वर और निराम ज्वर

आम ज्वर

जठराग्नि की दुर्बलता से अपरिपक्व, आमाशयस्थित दोषयुक्त रस ही 'आम'[2]

१ सन्ताप सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा। च० चि० ३।२६
२ ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥ अ० हृ० सू० १३।२५

है। यह दूषित रस शोषित होकर सर्वशरीर मे घूमते हुए, आम ज्वर या अ
आमदोषजन्य विकार उत्पन्न करता है। चिकित्सा के समय आम एव अग्नि
विचार अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि आम ज्वर मे औषध देना निषिद्ध है और इ
अवस्था मे औषध देना—शोधन या शमन औषधियो का प्रयोग ज्वर को विषमज्व
बना देता है।

लक्षण

१. स्रोतोऽवरोध एव कोष्ठ से अग्नि के बहिर्गमन के कारण भोजन मे अरुचि।
२ खाये हुए अन्न का समुचित रूप से न पचना।
३. उदर का भारी होना।
४ हृदय-प्रदेश में भारीपन की प्रतीति।
५. तन्द्रा—नीद की-सी उँघाई आना।
६ आलस्य—कर्म करने मे असमर्थता।
७. ज्वर का लगातार बने रहना।
८ दोष तथा मलो की प्रवृत्ति न होना—बाहर न निकलना।
९ मुख से लार टपकते रहना।
१०. हृल्लास—वमन होने का आभास होना।
११ भूख का न लगना।
१२. मुख का स्वाद फीका बना रहना।
१३. अगो मे जकडाहट, सूनापन और भारीपन का होना।
१४ मूत्र का अधिक निकलना।
१५. आम मल का निकलना।
१६ ग्लानि का न होना अर्थात् मास का क्षीण न होना।
ये आमज्वर के लक्षण है।

पच्यमानज्वर

१. ज्वर का वेग अधिक तीव्र होना।
२ तृष्णा अधिक होना।
३ प्रलाप होना।
४ तीव्र श्वास का वेग होना।
५ शिर मे चक्कर मालूम होना।
६ मल-मूत्र-स्वेद एव नासामल की सम्यक् प्रवृत्ति।
७. जी मचलाना
ये पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं[१]।

---

१. ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलाप श्वसनं भ्रम.।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम्॥ च० चि० ३।१३६

नरामज्वर[1]

१ भूख का लगना ।
२ शरीर का कृश होना ।
३ शरीर का हलका मालूम पडना ।
४ ज्वर के वेग का मृदु होना ।
५ मल मूत्र की प्रवृत्ति सम्यक् होना ।
६ ज्वर का ८ दिन बीत जाना ।
ये सभी निरामज्वर के लक्षण हैं ।
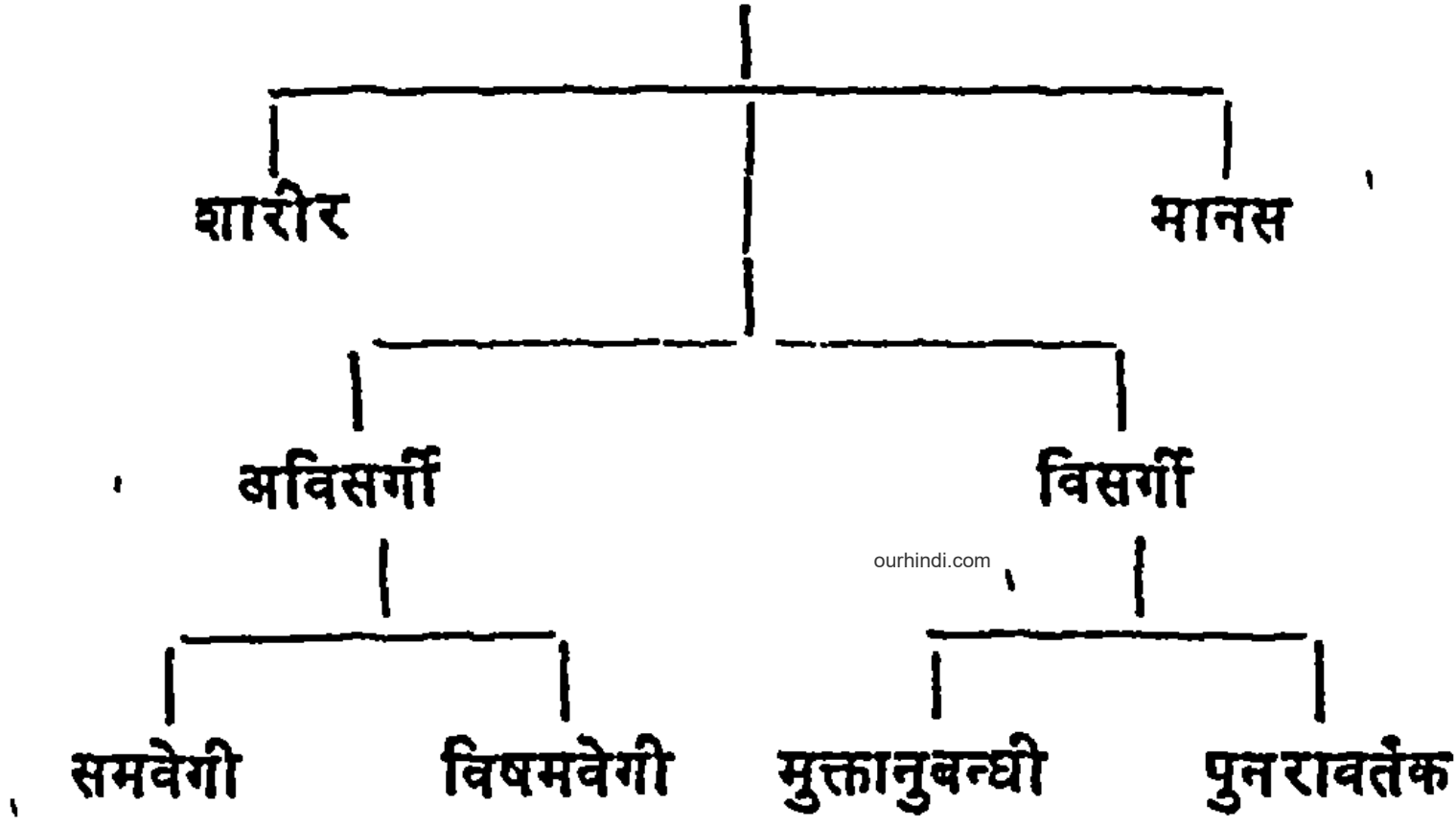
शारीर ज्वर

जो ज्वर पहले शरीर मे सताप, तृष्णा, अगमर्द आदि उत्पन्न करता है और बाद में मानसिक ग्लानि आदि उत्पन्न करता है, उसे शारीर ज्वर कहते है ।

मानस ज्वर

जिस ज्वर मे पहले मन मे व्यग्रता, बेचैनी, चचलता और ग्लानि होती है तथा बाद मे सताप आदि शारीरिक लक्षण होते हैं, उसे मानस ज्वर कहते हैं ।

अविसर्गी ज्वर

जो ज्वर अपनी अवधि काल तक बना रहता है और मध्य मे कभी शरीर के प्राकृतिक ताप पर नही उतरता है, उसे अविसर्गी ज्वर कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं—

(१) **समवेगी ज्वर**—इसे कॉण्टीनुअस फीवर (Continuous fever) कहते हैं। इसमे ज्वर का वेग हमेशा बना रहता है, जिसके वेग मे दिन-रात मे बहुत थोडे अश मे कमी वेशी होती है ।

---

१ क्षुत् क्षामता लघुत्व च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ म० नि० २।१२७

२ का० हि०

(२) **विषमवेगी ज्वर**—इसे रेमिटेण्ट फीवर (Remittent fever) कहते हैं। इसमें ज्वर का वेग २४ घण्टे मे २ डिग्री तक न्यूनाधिक होता रहता है, किन्तु स्वाभाविक तापमान (Normal temperature) पर कभी नहीं आता है।

विसर्गी ज्वर

जिस ज्वर मे ज्वर का वेग एक अहोरात्र मे एकाधिक वार प्राकृत तापमान तक चला आता है और फिर वढ जाता है, उसे विसर्गी ज्वर कहते हैं। इसके दो प्रकार होते हैं—

(१) **मुक्तानुबन्धी ज्वर**—इस ज्वर मे एक या अनेक वार ज्वर का वेग घटकर प्राकृत तापमान पर आ जाता है। इसे इण्टरमिटेण्ट फीवर (Intermittent fever) कहते है।

(२) **पुनरावर्तक ज्वर के कारण और लक्षण**—ज्वर के छूट जाने पर शरीर मे प्राकृत वल होने के पहले ही जो व्यक्ति व्यायाम, व्यवाय, स्नान और अधिक घूमना-टहलना शुरू कर देता है, तो इसे पुन ज्वर आ जाता है, उसे पुनरावर्तक ज्वर कहते हैं।

पुनरावर्तक ज्वर की मारकता[१]—वह पुन लौटकर आया हुआ ज्वर अधिक दिनो से पीडित, अतएव दुर्वल तथा ओज क्षीण पुरुष को कुछ ही दिनो मे मार डालता है।

जीर्णज्वर

१. २१ दिनो तक ज्वर का वना रहना।

२ ३ सप्ताह तक ज्वर निरन्तर रहकर मृदुवेग होना।

३. प्राय प्लीहा का वढ जाना।

४ जठराग्नि का मन्द पड जाना।

ये जीर्ण ज्वर के लक्षण हैं।[२]

ज्वर के उपद्रव[३]

१. कास २ मूर्च्छा ३ अरुचि ४ तृषा ५. वमन ६ अतीसार ७ विबन्ध ८. हिचकी ९ श्वास और १० अगो का टूटना, ये ज्वर के दस उपद्रव होते हैं।

साध्य ज्वर का लक्षण

रोगी वलवान् हो, ज्वर अल्पदोषवाला हो और कोई उपद्रव न उत्पन्न हुआ हो, तो वह ज्वर साध्य होता है।[४]

---

१ चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्वल हीनतेजसम्।
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागत ॥ च० चि० ३।३३५

२. त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत ।
प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

३ कासमूर्च्छाऽरुचिच्छर्दितृष्णातीसारविड्ग्रहा ।
हिक्का श्वासोऽङ्गभेदश्च ज्वरस्योपद्रवा दश ॥ आयु० दीपिका

४ वलवत्स्वल्पदोषेषु ? ज्वर साध्योऽनुपद्रव । च० चि० ३।५०

असाध्य ज्वर का लक्षण

१ जो ज्वर बहुत-से बलवान् कारणों से उत्पन्न हो।

२. जो अनेक लक्षणों से युक्त हो।

३. जो इन्द्रियों की शक्ति को शीघ्र ही नष्ट कर दे।

४ जो ज्वर क्षीण तथा शोथयुक्त रोगी को हुआ हो।

५. गूढ़ लक्षणों वाला अन्तर्वेगी ज्वर।

६. दीर्घ काल तक बना रहनेवाला।

७ जिस ज्वर में सिर तथा रोंगटे खड़े होते हों, आँखें लाल हों तथा ज्वर का वेग बलवान् हो।

८ अन्तर्दाह, प्यास, मल एवं अपानवायु के अवरोध तथा श्वास की अधिकता से युक्त गम्भीर ज्वर।

९ प्रारम्भ से ही विषम वेगवाला ज्वर।

१० दीर्घकाल तक लगातार रहनेवाला ज्वर।

११. जिस ज्वर का रोगी बेहोशी से कराहता रहता हो और उठने-बैठने में असमर्थ होने से बिस्तर पर सोता रहता हो।

१२ जिस ज्वर में बाहर में शीत और भीतर में दाह मालूम होता हो।

१३. जिसमें रोंगटे खड़े हो जायें, आँखें लाल हों तथा हृदय में जोर से चोट लगने जैसी पीड़ा हो एवं रोगी मुख खोलकर हाँफ रहा हो।

१४. जिस ज्वर में हिचकी आती हो, दम फूलता हो, प्यास लगती हो, मूर्च्छा होती हो, आँखें इधर-उधर नाच रही हों, लम्बी साँसें निरन्तर चल रही हों तथा रोगी क्षीण हो।

१५ जिसमें रोगी की कान्ति नष्ट हो जाये, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हों, क्षीणता एवं अरुचि हो।

१६ जिस ज्वर में रोगी गम्भीर या अन्तर्दाह ज्वर के तीक्ष्ण वेग से ग्रस्त हो।

१७ जिसमें सभी पूर्वरूप के लक्षण उपस्थित हों, वह ज्वर असाध्य होता है।

ज्वर के अरिष्ट[1]

१ जो ज्वर का रोगी स्वप्न में भूत-प्रेतों के साथ मदिरा पीता है और कुत्ते द्वारा दक्षिण दिशा में घसीटा जाता है, वह रोगी भयङ्कर ज्वर से ग्रस्त होकर प्राण त्याग कर देता है।

२ बल और मांस से हीन जिस व्यक्ति को दिन में १२ बजे के पूर्व ज्वर होता हो और साथ ही भयङ्कर सूखी खाँसी भी आती हो, वह शीघ्र ही मर जाता है।

---

[1] (क) प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना।
सुघोरं ज्वरमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ॥ च० इ० ५।०

(ख) ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः।
बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥

३. बल-मास से हीन जिस व्यक्ति को दिन में १२ बजे के बाद ज्वर होता हो और साथ ही भयङ्कर कफज कास हो, उसकी भी मृत्यु आसन्न (निकट) समझनी चाहिए।

४ सहसा ज्वर का तीव्र वेग होना, अधिक तृष्णा, मूर्च्छा, बल का क्षय और सन्धियों में शिथिलता होना, ये मरणासन्न पुरुष के लक्षण हैं।

५. प्रलेपक ज्वर के रोगी को यदि उष काल मे शरीर से अधिक स्वेद निकलता हो, तो उसका जीवित रहना दुर्लभ होता है।

६. जिस दुर्बल रोगी को रोग सहसा त्याग देता है, महर्षि आत्रेय उसका जीवन सन्दिग्ध मानते हैं अर्थात् यह अरिष्ट लक्षण है।

ज्वरमोक्ष का पूर्वरूप (दारुणमोक्ष)

ज्वर जब जाने लगता है, तब रोगी के शरीर मे—१. दाह, २. स्वेद, ३. भ्रम, ४. तृष्णा, ५. कम्पन, ६. अतिसार, ७. सज्ञानाश, ८ कूजन, (अव्यक्त शब्द बोलना) और ९. मुख मे दुर्गन्ध होना—ये लक्षण होते हैं।[1]

ज्वरमोक्षकाल मे ज्वर से पीडित व्यक्ति अस्पष्ट बोलता हुआ वमन करता है और अनेक प्रकार की चेष्टायें करता है। उसकी श्वास तेज हो जाती है, शरीर की

(ग) ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुण ।
बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव स. ॥ च० इ० ६।१०-११

(घ) सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णामूर्च्छाबलक्षयः।
विश्लेषणं च सन्धीना मुमूर्षोरुपजायते ॥ च० इ० ८।२३

(ङ) गोसर्गे वदनाद् यस्य स्वेद. प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ च० इ० ८।२४

(च) यं नरं सहसा रोगो दुर्बल परिमुञ्चति ।
संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ च० इ० ९।१५

धातुपाक होने पर वातज्वर सात दिन में, पित्तज्वर दस दिन में और कफज्वर बारह दिन में रोगी को मार डालता है।

धातुपाक—निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची ।
अरतिर्बलहानिश्च धातूना पाकलक्षणम् ॥

त्रिदोष ज्वर की मारक अवधि ७ या १४, ९ या १८, ११ या २२ दिन है। तथा च—
सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥ अ० हृ० नि० २

१. दाह. स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भेदसंज्ञता ।
कूजनं चास्यवैरस्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥ मा० नि० ज्वरनि०

ननु दोषक्षयं विना न व्याधिनिवृत्ति. क्षीणश्च दोष. कथमेवविधं लक्षणं कुर्यात् ? उच्यते—कश्चिद् भाव. क्षीणोऽपि विनाशकाले स्वशक्ति दर्शयति, यथा निर्वाणावस्थो दीपो विशेषात् प्रज्वलति अथवा दोषाभिभूताना धातूनां दोषापगमे क्षोभाद्दाहाय तरलतरत्वानरपरिहीयमानतरणतरलकरी-शिखरकम्पवदिति । मधुकोश-व्याख्या ।

ानक फीकी पड जाती है, अगो से पसीना छूटने लगता है, शरीर कांपने लगता है, ार-बार मूर्च्छा आती है, प्रलाप करता है, कदाचित् सारी देह उष्ण हो जाती है ा सर्वाङ्ग शीतलता हो जाती है एव सज्ञाशून्यता एव ज्वर के वेग से पीडित होकर ोधी व्यक्ति की तरह इधर-उधर देखता है। अपानवायु और आवाज के साथ वेग र्वक द्रव मल का त्याग करता है। बुद्धिमान् चिकित्सक ज्वरमोक्षकालीन इन क्षणो को जाने।[1]

ज्वरमोक्ष

ज्वर तीन प्रकार से रोगी का पिण्ड छोडता है—

१. दारुण मोक्ष (By Crysis)।

२. अदारुण मोक्ष (By Lysis)।

३ विषमगति मोक्ष।

(१.) दारुण मोक्ष

जब दोष अधिक हो, ज्वर प्रबल हो, ज्वर नया हो और उचित चिकित्सा से उसके दोष का पाचन हो गया हो, तो दोष नष्ट होते समय ऊपर पूर्वरूप मे बतलाये हुए लक्षणो को उत्पन्न कर शान्त हो जाते हैं, इसे 'दारुण मोक्ष' कहा जाता।[2]

दारुण ज्वरमोक्ष तीव्र सक्षोभ सहित होता है। इसका कारण दोषो की अधिकता या सद्य ज्वरनाशक क्रियाओ का उपयोग या स्वत दोषो का परिपाक होना है। निमोनिया ज्वर मे यह लक्षण प्रधान रूप से पाया जाता है।

(२) अदारुण मोक्ष[3]

अधिक दिनो तक रहनेवाले जो ज्वर दोष के स्वभाव के अनुसार सन्ताप आदि लक्षणो को उत्पन्न करने के अनन्तर क्रमश धीरे-धीरे बिना किसी उपद्रव के उतरते हैं, उनका यह उतरना 'अदारुण मोक्ष' कहलाता है।

यह आन्त्रिक ज्वर या यक्ष्मा जैसे दीर्घकालानुबन्धी ज्वरो मे देखा जाता है।

(३) विषमगति मोक्ष

एक ही दिन मे अचानक उतर जाना, फिर चढ जाना, पुन घटना-बढना, जिन ज्वरो में होता है, उनके उतरने को—मोक्ष को—'विषमगति मोक्ष' कहा जाता है।

---

१ ज्वरप्रमोक्षे पुरुष कूजन् वमति चेष्टते।
श्वसन् विवर्ण स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहु ॥
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्ग शीताङ्गश्च भवत्यपि।
विसज्ञो ज्वरवेगार्त सक्रोध इव वीक्षते ॥
सदोषशब्द च शकृद् द्रवं स्रवति वेगवत्।
लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षण ॥ च० चि० ३।३२४–३३६

२ बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वर।
सत्क्रियादोषपक्त्या चेद् विमुञ्चति सुदारुणम् ॥ च० चि० ३।३२७

३ कृत्वा दोषवशाद् वेगं क्रमादुपरमन्ति ये।
तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणा चिरकारिणाम् ॥ च० चि० ३।३२८

ज्वरमुक्त के लक्षण[1]

१ पसीना होना, २ शरीर मे हलकापन, ३ शिर मे खुजली, ४. मुखपाक, ५. छीक आना और ६. भोजन करने की इच्छा होना, ये ज्वरमुक्त के लक्षण हैं।

जिस पुरुष की इन्द्रियो मे असमर्थता (क्लम) न हो, बाह्य या आभ्यन्तर किसी प्रकार का सन्ताप न हो, शरीर मे पीडा न हो, इन्द्रियाँ निर्मल हो, मन प्रसन्न हो और स्वाभाविक प्रकृति के लक्षण व्यक्त हो जायँ तथा भूख-प्यास लगने लगे, तो उसे 'ज्वरमुक्त' समझना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि ज्वरमोक्ष प्रत्यक्ष अनुभूत होता है, फिर भी ज्वरमुक्ति के लक्षण-ज्ञान की आवश्यकता विषमज्वर की आशका की निवृत्ति के लिए है, क्योकि एकबार ज्वरमोक्ष होकर विषमज्वर मे पुन ज्वर-वृद्धि हो जाती है। कुछ ज्वरो मे प्रत्यक्ष तापक्रम होने पर भी ग्लानि, गौरव आदि लक्षण होते हैं। अतएव ज्वर वास्तव मे मुक्त हो गया है, इस बात के ज्ञान के लिए ज्वरमुक्ति के लक्षण का ज्ञान आवश्यक है।

ज्वर की सामान्य चिकित्सा के सिद्धान्त

ज्वर चिकित्सा मे विचारणीय विषय

१ ज्वर जनक कारणो का परित्याग करना चाहिए, क्योकि निदानवर्जन प्रथम चिकित्सा[2] है।

२ ज्वर पित्तप्रधान व्याधि है, अत पित्तह्रासकर तथा पित्तप्रसादन औषधो का प्रयोग करे।

३. ज्वर के बढे हुए तापमान को कम करना प्रधान लक्ष्य जानें, क्योकि सताप ही ज्वर है।

४ परमज्वर या उच्च तापमान या सताप की अधिकता (Hyperpyrexia) की विषमयता से और मस्तिष्कगत तापनियन्त्रक केन्द्र के असन्तुलन से रोगी की रक्षा मे सावधानी बरतनी चाहिए।

५ दोष की प्रधानता के अनुसार चिकित्सा का निर्धारण करना चाहिए।

६ रोगी एव रोग की स्थिति के अनुसार शोधन या शमन उपचार करे।

७ चिकित्सा की व्यवस्था रोगी के शरीर, मन एव रोग, इन तीनो के अनुकूल होनी चाहिए।

८ रोगी के हित को सर्वोपरि जाने और परीक्षित औषधो का ही प्रयोग करे।

९ बढे हुए सताप को स्व-विवेकानुसार बाह्य या आभ्यन्तर उपचार से नियन्त्रित करे।

---

१ (क) स्वेदो लघुत्व शिरस कण्डू पाको मुखस्य च।
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम्॥ मा० नि०

(ख) विगतक्लमसन्तापमव्यथ विमलेन्द्रियम्।
युक्त प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात पुरुषमज्वरम्॥ च० चि० ३।३२९

२ सङ्क्षेपत क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्। सु० उ०

ज्वर के पूर्वरूप मे उपचार

१ यदि कफ या पित्त का अनुबन्ध जान पडे, तो रोगी को उपवास करायें।

२ यदि ज्वर का पूर्वरूप वातज, श्रमज, क्षतज, भयज, क्रोधज, कामज अथवा शोकज हो तो उपवास न करायें, अपितु लघु आहार (मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू, फलाहार, दुग्ध एव दाल का यूष आदि) देना चाहिए।[1]

३. लघु आहार देहलाघवकर होने से लघन के समान होता है।[2]

४. ज्वर आमाशयोत्थ तथा 'आम' विकार प्रधान रोग है, जिससे स्रोतो मे अवरोध होता है, अत आमपाचनार्थ लघन कराना चाहिए। आमाशयोत्थ रोगो के लिए लघन या अपतर्पण प्रमुख उपचार है।

५ ज्वर मे पित्तानुबन्ध मे विरेचन एव कफानुबन्ध मे वमन कराना चाहिए।

६ वातानुबन्ध मे लघ्वाहार एव औषधसिद्ध या केवल घृत का पान करायें।

७. द्वन्द्वज एव त्रिदोषज मे दोष के अवस्थानुसार उपचार करे।

८ तत्पश्चात् युक्तिपूर्वक कषायपान, अभ्यग, स्वेद, स्नेह, प्रदेह, परिषेक, अनुलेप, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन आदि का प्रयोग करे।

तापशामक बाह्य उपचार

१. रोगी को पूर्ण विश्राम दे।
२. शिर पर बरफ की थैली रखे।
३ मुख पर ठडे जल के छीटें दे।
४ मस्तक पर शीतल जल की धार गिरावे।
५ ललाट पर गुलावजल मे यूडीकोलन मिलाकर पट्टी रखे।
६ ललाट पर सिरका मे गुलावजल मिलाकर उसकी पट्टी रखे।
७ नौसादर और कलमी सोरा के समभाग घोल की पट्टी शिर पर रखे।
८ विष्णु तेल मे पुराना सिरका मिलाकर शिर पर पट्टी रखे।
९. ललाट पर घिसा श्वेत चन्दन लगावे।
१० मुचकुन्द का फूल पीसकर ललाट पर लगावे।
११ शीतल जल मे कपडा भिगोकर सर्वाङ्ग को पोछे।
१२. बर्फ के टुकडे तौलिया मे लपेटकर नाभि पर रखे।
१३ शतधौत, सहस्रधौत अथवा पुराना घी अगो पर लगावे।
१४ श्वेत चन्दन, सुगन्धवाला और कपूर पीसकर शरीर मे अनुलेप लगावे।

---

१ ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्॥ च० चि० ३।१३९

२ ज्वरस्य पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हित लघ्वशनमपतर्पण वा ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात्। तत कषायपानाभ्यङ्ग–स्नेह–स्वेद–प्रदेह–परिषेकानुलेपन–वमन-विरेचनास्थापनानुवासनोपशमन-नस्त कर्म धूप धूमपानाञ्जन क्षीरभोजनविधान च यथास्व युक्त्या प्रयोज्यम्। च० नि० १।३६

१५ अत्यधिक सताप मे रोगी को सुलाकर चारो ओर बरफ की सिल्ली रखकर, पखे की हवा दे।

१६ बेर अथवा नीम की पत्ती को बारीक पीसकर, हाँडी मे रखकर थोडा जल डालकर मथे और उससे उत्पन्न फेन का सर्वाङ्ग मे लेप करे।

१७ चन्दनादि तैल या लाक्षाचन्दनादि तैल या लाक्षादि तैल का सर्वाङ्ग मे अभ्यग करे।

१८ रोगी को सेंधानमक और सोडाबाईकार्ब मिला जल पर्याप्त मात्रा में पिलाकर, ठडे जल मे चादर भिगोकर गले से पैर तक ओढा देवे, इससे पसीना और पेशाब आकर ज्वर उतर जाता है।

१९ चन्दनलिप्त गात्रा, विशाल उरोजोवाली, मधुर मुग्धभाषिणी, रमणीय विलासिनियो का आलिङ्गन सपूर्ण सताप को दूर करता है।

२० केले के पत्ते की या कमलपत्रमयी शय्या पर शयन करना, समवयस्कों के साथ पुष्प से लदे वृक्षो वाले उद्यान मे निवास, वीणावादन के साथ सगीत का सुनना, शुक, भ्रमर एव कोकिल के कलरव, मनोहर कथा-वार्ता तथा प्रियदर्शिनी ललनाओ का साहचर्य एव पखे की शीतल वायु का सेवन, ये सभी ताप के दाह को दूर करनेवाले ललित उपकरण हैं।[1]

ज्वर मे सामान्य आभ्यन्तर उपचार

१ **नये ज्वर में निषेध**—ज्वर प्रारम्भ होने से ३-४ दिन के भीतर दिन में सोना, स्नान करना, तेल-उबटन की मालिश करना, अन्न खाना, मैथुन करना, क्रोध करना, सीधी हवा के झोके मे रहना, व्यायाम करना और कषायरस प्रधान औषधो का सेवन करना वर्जित है।[2]

२ चिकित्सा के आरम्भ मे ही यह पता लगा लेना चाहिए कि ज्वर नया है, तरुण है, मध्य है, पुराणावस्था मे है अथवा जीर्णज्वर है। तीन दिन तक नव, ४ से ७ दिन तक तरुण, ७ से १२ दिन तक मध्य, १२ से २१ दिन तक पुराण तथा २१वें दिन के बाद जीर्णज्वर की सज्ञा होती है।[3]

---

१ (क) श्रीखण्डमण्डितकलेवरवल्लरीणां मुक्ताफलाकुलविशालकुचस्थलीनाम्।
वैदग्ध्यमुग्धवचसां सुविलासिनीनामालिङ्गन सकलदाहमपाकरोति॥
(ख) शय्या पल्लवपद्मपत्ररचिता वासो वयस्यैं समं
कान्तारे कुसुमस्फुरत्तरुवरे गान तु वीणान्वितम्।
आलापाश्च शुकालिकोकिलकृता कान्ताश्च कान्ता कथा।
वाताश्चामलबालकव्यजनजा दाघ निराकुर्वते॥
वैद्यजीवन १।२७ २८

२ नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्।
क्रोधप्रवातव्यायामान् कषायाँश्च विवर्जयेत्॥ च० चि० ३।१३८

३. आ सप्तरात्रं तरुण ज्वरमाहुर्मनीषिण।
मध्यं द्वादशरात्रं तु पुराणमत उत्तरम्॥

३ ज्वर के आम, पच्यमान या निराम की अवस्था पहचान करके आवश्यक उपचार करे।

४ ज्वरोत्पादक प्रधान दोप तथा उसके अनुबन्ध या उपद्रवो का विचारकर चिकित्सा की व्यवस्था करे।

५ ज्वरारम्भ मे आमदोप की प्रबलता मे लघन, मध्यावस्था मे पाचन तथा निरामावस्था मे शमन उपचार करना चाहिए। ज्वर के निवृत्त हो जाने पर रोगी के बल आदि का विचार कर विरेचन औषध का प्रयोग करना चाहिए।

६ ज्वर के तरुण, आम या पच्यमान अवस्था मे लघन, स्वेदन, काल (७-८ दिन) की प्रतीक्षा, यवागू, तिक्तरस वाले द्रव्य तथा पाचन द्रव्यो का प्रयोग विचारपूर्वक करना चाहिए।[1]

७ ज्वर की तृष्णा के शमनार्थ निम्न 'षडङ्गपानीय'[2] का प्रयोग करना चाहिए—१ नागरमोथा, २ पित्तपापडा, ३ खश, ४. लालचन्दन, ५ सुगन्धवाला और ६ सोठ, इन सबको समान भाग लेकर जोकुट कर रख दे। इसमे २५ ग्राम दवा को २ लीटर पानी मे औटायें और अर्धावशिष्ट छानकर रख ले। यही षडगपानीय है।

८ कषाय प्रयोग—१ नागरमोथा और पित्तपापडा, २ सोठ और पित्तपापडा, ३ धमासा और पित्तपापडा, ४ चिरायता, नागरमोथा, गुरुच और पित्तपापडा, ५ पाठा, खश और सुगन्धवाला—ये पाँच योग हैं। २० ग्राम दवा आधा लीटर जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथकर, छान कर, सवेरे-शाम पिलाने से सभी तरह के ज्वर शान्त हो जाते हैं।

९ रसौषधियाँ—

(क) व्यवस्था-पत्र—३-३ घण्टे पर दिन मे ४ बार—

गोदन्ती भस्म	५०० मि० ग्रा०
जहरमोहरा पिष्टी	२५० मि० ग्रा०
रसादिवटी	२५० मि० ग्रा०
मधु से—	१ मात्रा

यह योग सभी प्रकार के ज्वरो मे सन्ताप, दाह, तृष्णा, शिर शूल आदि को शान्त करता है।

अथवा

(ख) व्यवस्था पत्र—दिन मे ३-४ बार, ३-३ घण्टे पर—

---

* त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत ।
 प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

१ लङ्घनं स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस ।
 पाचनान्यविपक्वानां दोषाणा तरुणे ज्वरे ॥ च० चि० ३।१४२

२ मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरै ।
 शृतशीत जल दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये ॥ च० चि० ३।१४५

त्रिभुवनकीर्ति	१२५ मि० ग्रा०
गोदन्ती भस्म	५०० मि० ग्रा०
टङ्कण भस्म	२५० मि० ग्रा०
अमृतासत्त्व	५०० मि० ग्रा०
मधु से—	१ मात्रा

१० पेय जल—अर्धावशिष्ट क्वथित जल में सेंधानमक या सोडाबाईकाब मिलाकर पिलाने से ज्वर की विषमयता का पाचन हो जाता है। २४ घण्टे में ४-५ लीटर जल पिलाना चाहिए।

११ नवसादर १२५ मि० ग्रा० यवक्षार ३७५ मि० ग्रा० तथा कलमीसोरा ३७५ मि० ग्रा० = १ मात्रा षडगपानीय मे मिलाकर दिन मे २-३ बार दें।

१२ अन्य ज्वरघ्न रस-रसायन—

प्रवालपिष्टी	सजीवनी वटी
मृगशृङ्ग भस्म	त्रिभुवनकीर्ति
हिंगुलेश्वर रस	विषतिन्दुकादि वटी
मृत्युञ्जय रस	जयमगल रस
ज्वरकेसरी	जया वटी
ज्वरसहार	अमरसुन्दरी वटी

रोगी के बल के अनुसार इनकी १ मात्रा १२५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्रा० दे। ज्वरघ्न सहपान के साथ इनका प्रयोग करना चाहिए।

१३ *पथ्य*—*पुराना साठी या अगहनी चावल*, मूग, मसूर, कुलथी या चने की दाल का यूष, परवल, करेला, सहिजन, बथुआ, चौलाई, गुरुच, जीवन्ती के साग, मकोय, मुनक्का, कैथ, अनार, इनके पके फल तथा लघु आहार एव हितकर औषधियाँ मध्यज्वर मे लाभप्रद हैं।

मण्ड, पेया, विलेपी, कृशरा का सेवन करे। जौ की वार्ली, साबूदाना, लाजमण्ड, दूध फाडकर उसका पानी या दूध, मिश्री या ग्लूकोज का प्रयोग करे।

पुराने ज्वर मे पथ्य—वमन, विरेचन, अञ्जन, नस्य, अनुवासन, धूम्रपान एव सशमन औषधो का प्रयोग हितकर है। प्रलेप, मालिश, शीतल पदार्थों का सेवन, गाय या बकरी का दूध, घी, एरण्ड स्नेह, चन्द्रमा की किरणो का सेवन तथा प्रियतमा का आलिङ्गन करना, ये सब साधन पुराने ज्वर मे हितकर हैं।

१४. अपथ्य—लाल फूलों की माला या लाल वस्त्रो का धारण, वमन के वेग को रोकना, दन्तधावन करना, असात्म्य तथा परस्पर विरुद्ध भोजन करना, अधिक मात्रा मे भोजन करना, जलन पैदा करनेवाले और भारी पदार्थों का सेवन, दूषित जल, क्षार, खटाई, पत्तो के साग, अकुरित अन्न, खस का जल, पान, तरबूज, बडहल का फल, तिलकुट तथा कचौडी, बडा, दही आदि अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन करना ज्वर के रोगी के लिए अपथ्य है।

द्वितीय अध्याय

निज ज्वर

वात-पित्त-कफ, इन शारीरिक दोषो से उत्पन्न ज्वरो को 'निजज्वर' कहते हैं, ये सात हैं—१ वातज २. पित्तज ३. कफज ४. वातपित्तज ५ वातकफज ६ पित्त-कफज और ७ त्रिदोषज।
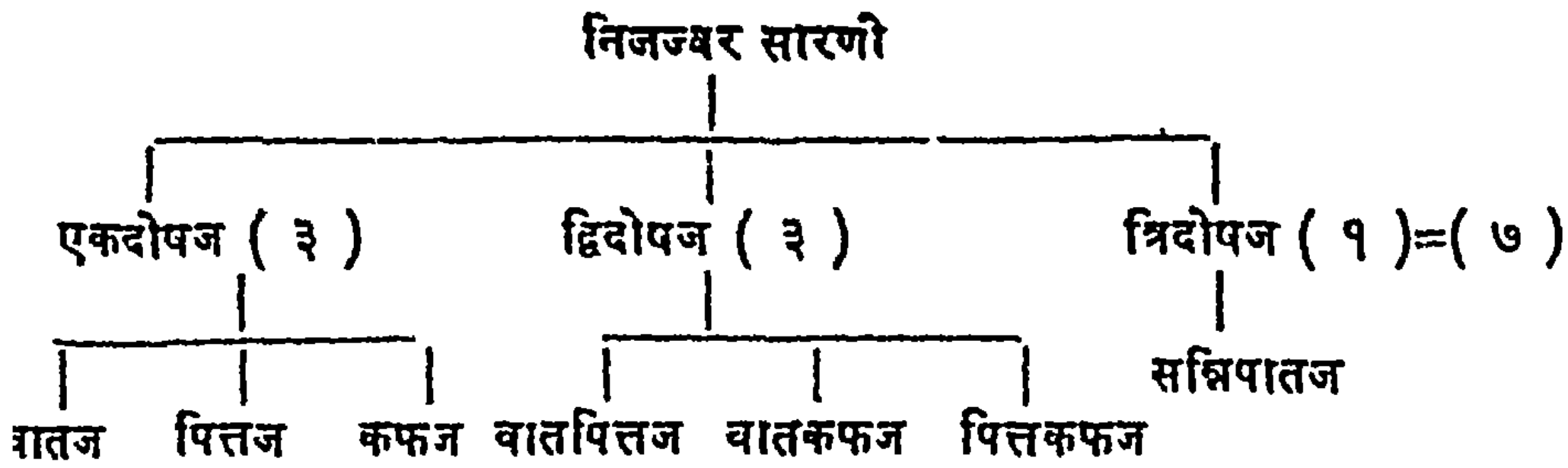
वातज्वर का निदान

रूक्ष-लघु-शीतगुणयुक्त, कटु-तिक्त कषाय-रसप्रधान आहार एव शुष्क शाक, शुष्क मांस, मटर, मसूर, सेम, तीना का चावल—इनका अधिकांश सेवन आदि मिथ्या आहार और वमन-विरेचन-आस्थापन-नस्य का अतियोग, व्यायाम, वेगविधारण, अनशन, अभिघात, अतिमैथुन, रात्रिजागरण, शरीर से विषमचेष्टा आदि मिथ्याविहार तथा मानसिक उद्वेग, काम, शोक, भय आदि एव अपतर्पण प्रभृति कारणो से प्रकुपित हुआ वायु ज्वरोत्पादक हो जाता है।[1]

---

१ (क) आठ प्रकार के आहार विधि विधान—१ प्रकृति, २ करण, ३, संयोग, ४ राशि, ५ देश, ६ काल, ७ उपयोगसंस्था और ८ उपयोक्ता—इनकी उपेक्षा कर भोजन करना मिथ्या आहार है तथा असमय में या अधिक मात्रा में या असात्म्य या अनियमित भोजन करना मिथ्या आहार कहलाता है।

(ख) अपनी शक्ति से अधिक या कम कार्य करना मिथ्या विहार है।

(ग) अतिश्रम, उपवास, रात्रि-जागरण तथा धातुक्षय आदि से वायु प्रकोप होता है।

तथा च—

(क) अकाले चातिमात्रं च ह्यसात्म्यं यच्च भोजनम्।
विषमं चापि यद् भुक्तं मिथ्याहारः स उच्यते॥

(ख) अशक्तः कुरुते कर्म शक्तिमात्रं करोति यः।
मिथ्याविहार इत्युक्तः सदा तं परिवर्जयेत्॥

(ग) व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद् भङ्गात् क्षयाज्जागरात्
वेगानाञ्च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः।
रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्
वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥ च० नि० १।१९

वातज्वर की सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त कारणो से प्रकुपित हुआ वायु जब आमाशय मे जाकर ऊष्मा से मिल जाता है और आहार-पाचन के परिणामस्वरूप बने रसनामक धातु से मिलकर, रसवह एव स्वेदवह स्रोतो को बन्द कर तथा अग्नि की शक्ति नष्ट कर और कोष्ठाग्नि को बाहर निकालकर, सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाता है, तब ज्वर की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति सारणी
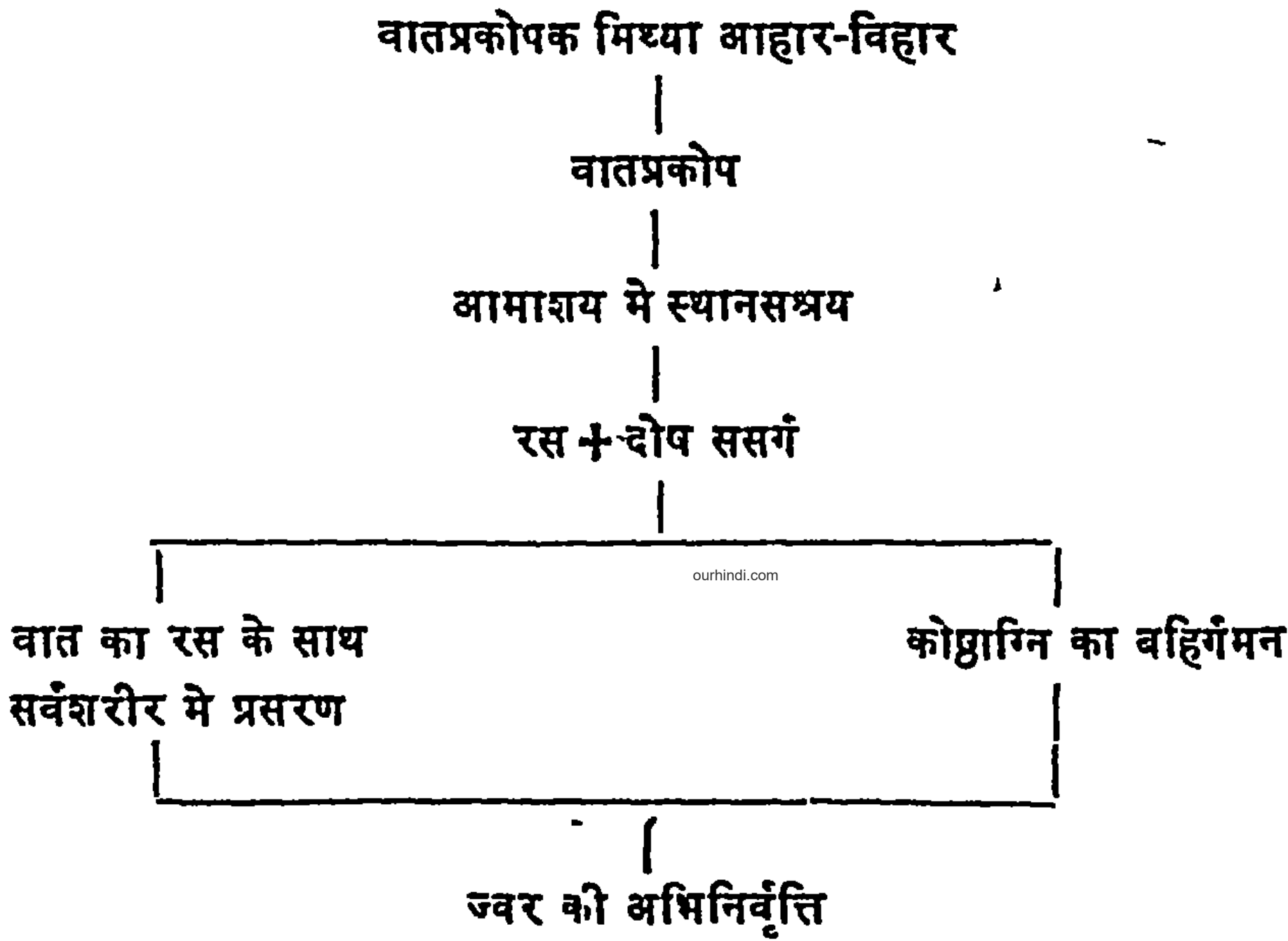
वातज्वर के लक्षण

१ अगो का काँपना
२ ज्वरवेग की विषमता[१]
३ कण्ठ सूखना
४ ओठ सूखना
५ नीद न आना
६ छीक का रुक जाना
७. अगो मे रूक्षता
८. शिर शूल
९ हृदय शूल
१०. अगों में वेदना
११. स्वाद मे फीकापन
१२ मल का बध जाना
१३. उदर मे शूल उठना
१४ उदर मे आध्मान
१५ जम्भाई आना

(घ) च० नि० १।१९

१ ज्वर की प्रवृत्ति या वृद्धि को वेग कहते हैं। वातज्वर में इन दोनों का समय निश्चित नहीं होता। अतएव सुश्रुताचार्य ने इसे 'विषमवेग' कहा है। चरक भी इसे 'विषमारम्भविसर्गी' मानते हैं, जिनकी व्याख्या चक्रपाणि इस प्रकार करते हैं—'आरम्भ उत्पाद, विसर्गो मोक्ष तौ विषमौ यस्य स विषमारम्भविसर्गी' अर्थात् ज्वर का वेग कभी शिर से प्रारम्भ होता है, कभी पीठ मे या जंघा से तथा कभी तेज होता है और कभी मन्द। इसी प्रकार उसकी निवृत्ति का स्थान और काल भी अनियत होता है।

ये सब वातज्वर के लक्षण हैं।[1]

वातज्वर मे उपचार

१. ज्वर के वेग को कम करने लिए पूर्वोक्त बाह्य उपचारो को करे।

२ प्रत्येक ज्वर में आमदोष का सम्बन्ध होता है और उसके पाचनार्थ लघन का विधान है, किन्तु वातज्वर के प्रसङ्ग मे लघन का अर्थ लघु भोजन समझकर हलका आहार खाने को दे।

३. ज्वर से पीडित मनुष्य को अरुचि होने पर भी हितकर लघु भोजन देना चाहिए, क्योकि भोजन के समय भूख प्रतीत होने पर भोजन न करने से रोगी क्षीण हो जाता है या मर जाता है।[2]

४ ज्वरयुक्त या ज्वरमुक्त को अपराह्ण मे लघु भोजन देना चाहिए, क्योकि उस समय कफ के क्षीण होने से जठराग्नि प्रबल होती है और ऐसे समय भोजन न देने से जठराग्नि रस-रक्तादि धातुओ को जलाती है, जिससे बल का ह्रास होता है, अत ज्वरित को समय से हितकर मिताहार देना चाहिए।[3]

५ वात, रूक्ष, लघु, शीत, सूक्ष्म, चल और विशद गुणो वाला होता है।[4] अत उसकी चिकित्सा मे इन गुणो के विपरीत गुण (स्निग्ध, उष्ण, गुरु, घन, स्थिर, श्लक्ष्ण एव पिच्छिल) वाले आहार एव औषध द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।

६. अन्य ज्वरो की तरह वातज्वर में भी ज्वर के साम-निराम एव तरुण और जीर्ण होने का विचार आवश्यक है। लक्षणो के अनुसार वातज्वर की तरुणावस्था सात दिन तक मानी गयी है। यह अवस्था सामावस्था के लक्षणो से युक्त हो, तो पाचन औषध देना हितकर होता है। एतदर्थ 'किरातादि क्वाथ' उपयुक्त औषध है, योग—चिरायता, नागरमोथा, नीम की गीली छाल, गुरुच, छोटी बडी कटेरी, गोखरू, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी और सोठ—इनका विधिवत् बना हुआ क्वाथ पिलावे।

इन सभी द्रव्यो का समभाग मिलित २० ग्राम मोटा चूर्ण लेकर, आधा लीटर जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ कर, सबेरे-शाम पिलाना चाहिए। इसी प्रकार—

---

१. वेपथुर्विषमो वेग. कण्ठौष्ठपरिशोषणम्।
निद्रानाश क्षवस्तम्भो गात्राणा रौक्ष्यमेव च ॥
शिरोहृद्गात्ररुग् वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता।
शूलाध्माने जृम्भण च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥ सु० उ० अ० ३९ तथा
च० नि० १।२१ एवं अ० हृ० नि० २

२ ज्वरितो हितमश्नीयात् यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्।
अन्नकाले ह्यभुञ्जान क्षीयते म्रियतेऽपि वा ॥

३ ज्वरित ज्वरमुक्त वा दिनान्ते भोजयेल्लघु।
श्लेष्मक्षये प्रवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा ॥ सु०

४ रूक्ष· शीतो लघु. सूक्ष्मश्चलोऽथ विशद· खर.।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥ च० सू० १

७. बृहत्पञ्चमूल क्वाथ।
८. पिप्पल्यादि क्वाथ।
९. गुडूच्यादि क्वाथ।
१०. द्राक्षादि क्वाथ।
११ रास्नादि क्वाथ।
१२ भूनिम्बादि क्वाथ या
१३ दशमूलादि क्वाथ का सेवन कराने से वातज्वर शान्त हो जाता है।
१४. वातज्वर के पूर्वरूप मे घृत पान कराना प्रशस्त उपचार कहा गया है।

१५. रसौषध प्रयोग—नये ज्वर मे सामान्यत दूध देना निषिद्ध है, परन्तु रस-योगों के प्रयोग के समय दूध अवश्यमेव देना चाहिए, क्योकि रसयोगो मे प्राय: विषद्रव्यो का उपयोग पाया जाता है। अत दूध विषघ्न होने से उत्तम पथ्य के रूप मे प्रयोगार्ह है। रसचिकित्सा मे रोगी, रोग, दूष्य, देश, काल आदि विषयों के परीक्षण का प्रतिबन्ध नही है, क्योकि रस औषधियों मे अचिन्त्य शक्ति निहित होती है। इनकी मात्रा अल्प होती है। ये शीघ्र आरोग्यप्रद होती हैं और इनके खाने मे अरुचि का प्रश्न नहीं है, इसलिए काष्ठौषधियो की अपेक्षा ये श्रेष्ठ हैं।

१६ व्यवहारोपयोगी योग—

(क) प्रात, दोपहर, शाम

हिंगुलेश्वररस	३६० एम जी०
गोदन्तीभस्म	१ ग्राम
शुद्ध टकण	३६० एम० जी०
	३ मात्रा

आर्द्रक स्वरस और मधु से अथवा
भुने जीरे १ ग्राम चूर्ण के साथ उष्णोदक से।

(ख) प्रात सायम्
किरातादि क्वाथ ५० एम० एल०

१७ अथवा— प्रात, दोपहर, शाम

ज्वरधूमकेतु	३६० एम० जी०
	३ मात्रा

आर्द्रक स्वरस और मधु से।

१८ कब्ज रहने पर—प्रात -सायम्
विश्वतापहरण रस २४० एम० जी०
२ मात्रा
आर्द्रक स्वरस व मधु से।

१९ प्रतिश्याय भी हो तो—३-३ घण्टे पर ४ बार

संजीवनीवटी	४ वटी
१ शृग भस्म	५०० एम० जी०
शुद्ध नरसार	१ ग्राम
	४ मात्रा

उष्णोदक से

२० अन्य योग—त्रिभुवनकीर्तिरस, मृत्युञ्जय, जयन्ती वटी एव महाज्वराङ्कुश रस का भी अकेले-अकेले १२५ मि० गा० की मात्रा मे उष्णोदक से प्रयोग किया जा सकता है।

२१ पथ्य—वातहर औषध-सिद्ध जल मे पकायी गयी पेया, विलेपी, मण्ड, यवागू, मूग का यूष, शाक या यूप, वार्ली, किसमिश, मुनक्का आदि सूखे फल या अनार, मुसम्मी आदि का रस, साबूदाना वा लाजमण्ड, इन्हे सुविधानुसार सेवन करना चाहिए।

पित्तज्वर का निदान[1]

१ कटुरस द्रव्य, २ अम्लद्रव्य, ३ उष्णद्रव्य, ४ विदाही द्रव्य, ५ लवणातियोग, ६ तीक्ष्ण द्रव्य, ७ क्षारीय द्रव्य, ८ सरसो का तेल, ९ तिल तैल, १०. तीसी का तेल, ११ तिलकुट, १२ दही, १३ सुरा, १४ सिरका, १५ काञ्जी, १६ अजीर्ण मे भोजन एव १७ आहार-विधि के विपरीत प्रकार से भोजन करने आदि मिथ्याहार से पित्त प्रकुपित हो जाता है।

इसी प्रकार के मिथ्याहार के साथ-साथ—१. तीक्ष्ण धूप लगना, २ अग्नि की ज्वाला के पास रहना, ३. अधिक श्रम, ४. क्रोध करना, ५ उपवास करना, ६ स्त्री-समागम, ७ भयग्रस्त होना, ८ भोजन का पाचनकाल, ९ शरद् ऋतु, १० मध्याह्न, ११ अर्धरात्रि आदि के मिथ्या विहार से पित्त प्रकुपित होकर ज्वर उत्पन्न करता है।

पित्तज्वर की सम्प्राप्ति[2]

पूर्वोक्त कारणो से प्रकुपित पित्त आमाशय से ऊष्मा को साथ लेकर आहार के परिणामस्वरूप उत्पन्न आद्य रस नामक धातु से मिलकर एव स्वेदवहस्रोतो को

---

१ (क) उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथाऽतितीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते। च० नि० १।२२

(ख) कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां
मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्॥

तीसटाचार्य, मधुकोष० निदान० ५

२. तद्यदा प्रकुपितमामाशयादूष्माणमुपसृज्याद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रस

बन्दकर, द्रव होने के नाते अग्नि को उपहृत कर, पुनः पच्यमानाशय से अग्नि को बाहर निकालकर पीडा उत्पन्न करते हुए, सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है और ज्वर उत्पन्न करता है।

पित्तज्वर के लक्षण[1]

१, तीक्ष्णवेगीज्वर, २. अतिसार, ३ निद्राल्पता, ४ वमन, ५ कण्ठपाक, ६ ओष्ठपाक, ७ मुखपाक, ८ नासापाक, ९ स्वेद, १० प्रलाप, ११. कटुमुखता, १२. मूर्च्छा, १३ दाह, १४ मद, १५ तृष्णा, १६. भ्रम, १७. पीतमूत्रता, १८ पीतविट्कता, १९ पीतनेत्रता, २०. तालुपाक, २१ आहारपचनकाल, मध्याह्न, अर्धरात्रि एव शरद् ऋतु मे ज्वर की वृद्धि, २२ अरुचि, २३. अगमर्द, २४ रक्त चकत्ते होना, २५. नखपीतता, २६ वदनपीतता, २७ त्वचा का हारिद्र्य, २८. शीत-प्रार्थना, २९ अरति, ३० निष्ठीवन, ३१ अम्लक, ३२. नि श्वासदौर्गन्ध्य, ३३ निदान सेवन से हानि और ३४ निदान विपरीत पदार्थों से लाभ होना, ये पित्तज्वर के लक्षण हैं।

पित्तज्वर में उपचार

१. ज्वर आमाशयोत्थ व्याधि है एव पित्त द्रव धातु है, जिसके कारण उसमें लघन के प्रति सहिष्णुता है तथा पित्तज्वर में आम का भी सम्बन्ध होता है, आमाशयोत्थ रोग[2] की दृष्टि से, पित्त की दृष्टि से तथा आमपाचन की दृष्टि से पित्तज्वर मे लघन कराना चाहिए। लघन से आम का पाचन होता है एव दोष का शमन होता है।

२. आमपाचनार्थं दीपन-पाचन औषधों का सेवन करावे।

३ पित्तज्वर मे ज्वर का वेग लगातार उच्च तापक्रम मे रहता है, अत तापशमनार्थ पूर्वोक्त बाह्य उपचारो का प्रयोग करे।

४ पित्तज्वर में ऐसी औषधो तथा आहार पदार्थों को देना चाहिए, जो कषाय-तिक्त एव मधुर रसयुक्त हो तथा शीतवीर्य हो। ('त मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत'। च० सू० २०।१९)

स्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय द्रवत्वादग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयत् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयतीति। च० नि० १।२७

१ (क) च० नि० १।२८

(ख) वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्व तथा वमि।
कण्ठौष्ठमुखनासाना पाक स्वेदश्च जायते॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्व पैत्तिके भ्रम एव च॥ सु० उ० ३९

(ग) अ० हृ० नि० २।

२. शान्तिरामाशयोत्थानां व्याधीनां लङ्घनक्रिया।
ज्वरस्यैकस्य चाप्येका शान्तिर्लङ्घनमुच्यते॥ च० नि० ८।१५

५ तृष्णा शमनार्थ षडङ्गपानीय[1] बार-बार पिलाते रहे।

६ ज्वर के आदि मे लघन, मध्य मे पाचन, ज्वरान्त मे औषध तथा ज्वर मुक्त होने पर विरेचन देना हितकर है।[2]

७ पित्तज्वर मे स्नेह-विरेचन, प्रदेह, परिषेक, अभ्यग, अवगाहन आदि के द्वारा मात्रा और काल का विचार कर चिकित्सा करे।[3]

८. पित्तज्वर मे पित्तशमनार्थ विरेचन का प्रयोग सर्वश्रेष्ठ उपचार है, क्योकि विरेचन सर्वप्रथम आमाशय मे जाकर विकृत मूलभूत पित्त का नाश करता है, फिर आमाशय के विकृत पित्त के नाश से शरीर के अन्य भागो के पित्तज उपद्रव स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।[4]

९ तृष्णा एव ज्वरदाहशमनार्थ शर्करा मिश्रित दुरालभादि क्वाथ[5] पिलाना चाहिए। योग—१ घमासा २. पित्तपापड़ा ३ फूलप्रियगु ४ चिरायता ५ अडूसा ६ कुटकी और ७ हर्रे। अथवा—

१० द्राक्षादि क्वाथ[6] पिलावे। योग—१ काला मुनक्का २. हर्रे ३. नागरमोथा ४ कुटकी ५ अमलतास का गूदा ६. पित्तपापडा। अथवा—

११ किराताादि क्वाथ का सेवन करावे। योग—१ चिरायता, २ गुरुच, ३ धनिया, ४. रक्तचन्दन, ५ खश, ६. पित्तपापडा और ७ पद्मकाठ। अथवा—

१२. केवल पित्तपापडा का क्वाथ दे। अथवा—

१३ पर्पटादि क्वाथ[7] का प्रयोग करे। योग—१. पित्तपापडा २ सुगन्धबाला ३ लालचन्दन और ४. सोठ समभाग मे। अथवा—

१४. पटोलादि क्वाथ अथवा—

१५. गुडूच्यादि क्वाथ का प्रयोग करना हितकर है।

१६ वाह्य लेपार्थ—वेर या नीम के पत्ते को महीन पीसकर किसी पात्र मे

---

१ मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरै।
शृतशीत जल दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये॥ च० चि० ३।१४५

२ ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्त ज्वरमध्ये तु पाचनम्।
ज्वरान्ते भेषज दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम्॥

३ स्नेहविरेकप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभि पित्तहरैर्मात्रा कालं च प्रमाणीकृत्य। च० सू० २०।१९

४ विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्य॰ पित्ते प्रधानतम मन्यन्ते भिषज, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवल वैकारिक पित्तमूलमपकर्षति। तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गता पित्तविकारा प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाग्नौ व्यपोढे केवलमग्निग्रह शीती भवति तद्वत्। च० सू० २०।१९

५ दुरालभापर्पटकप्रियङ्गुभूनिम्बवासाकटुरोहिणीनाम्।
क्वाथ पिबेच्छर्करयाऽवगाढ तृष्णास्रपित्तज्वरदाहयुक्त॥ यो० र०

६ द्राक्षाभयापर्पटकाब्दतिक्ताक्वाथं सशम्याकफलं विदध्यात्।
प्रलापमूर्च्छाभ्रमदाहशोषतृषान्विते पित्तभवे ज्वरे च॥ यो० र०

७ एक पर्पटक श्रेष्ठ पित्तज्वरविनाशन।
किं पुनर्यदि युज्येत चन्दनोशीरधान्यकै॥ यो० र०

३ का०, द्वि०

थोडा पानी डालकर खूब मसले, जिससे उसमे झाग पैदा हो जावे, उस झाग का सर्वाङ्ग मे लेप लगाने से ताप का शमन होता है।

१७. रसौषध योग—

१. सवेरे शाम

ज्वरकेसरी वटी २४० एम० जी०

योग २ मात्रा

चीनी मिले नारियल के जल से या मधु से।

अथवा—३-३ घण्टे पर ४ वार—

२ गोदन्ती भस्म	१ ग्राम
जहरमोहरा पिष्टी	$\frac{1}{2}$ ग्राम
रसादि वटी	$\frac{1}{2}$ ग्राम

योग ४ मात्रा

पित्तपापडा के या धनिया के क्वाथ से।

अथवा—३-३ घण्टे पर ४ वार—

३ गोदन्ती भस्म	१ ग्राम
प्रवाल भस्म	$\frac{1}{2}$ ग्राम
गुडूची सत्व	२ ग्राम

योग ४ मात्रा

१८ ताप, तृष्णा, दाह की अधिकता मे चन्द्रकला रस, सूतशेखर, लीलाविलास, रसादि वटी का प्रयोग चन्दनोदक, धान्योदक, नारिकेलोदक या पित्तपापडा के क्वाथ के साथ करना चाहिए।

पथ्य—

१९ **पेय पदार्थ**—१ परवल के पत्ते या फल के साथ बनाये गये जौ के क्वाथ मे मधु का प्रक्षेप देकर पिलाने से ज्वर का ताप एव दाह शान्त हो जाते हैं। २ मुद्ग यूष या ३ लाजमण्ड पिलाना चाहिए।

२० **आहार**—मधुर-तिक्त या कषायरसप्रधान द्रव्यो का आहार निर्माण कर रुचि के अनुसार देना चाहिए, जो सुपाच्य, हलका और अनुष्ण हो। मुनक्का, किसमिस, आलूबुखारा आदि चूसने के लिए देवे।

कफज्वर का निदान[1]

१ मधुर पदार्थों का अतियोग, २ अम्लातियोग, ३ लवणातियोग, ४ स्निग्धाति-

---

१ (क) गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रवदधिदिननिद्राऽपूपसर्पिष्प्रपूरैः ।
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः सम्प्रकोपो प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥
चि० क० ३१

(ख) च० नि० १।२६

योग, ५ गुरुद्रव्य का अतियोग, ६ पिच्छिलातियोग, ७ शीतद्रव्यातियोग, ८ अभिष्यन्दी द्रव्यातियोग, ९ दुग्धातियोग, १० द्रवातियोग, ११ दधिसेवन, १२ आपूप (पूआ) का अतियोग, १३ घृतपक्वातियोग आदि आहार के मिथ्यायोग तथा १४ दिवास्वाप, १५ अतिप्रसन्नता, १६ परिश्रम न करना आदि मिथ्या विहार करने से कफ प्रकुपित हो जाता है।

कफज्वर की सम्प्राप्ति[1]

उपर्युक्त कारणो से प्रकुपित हुआ कफ आमाशय मे जाकर तत्रस्थ ऊष्मा के साथ मिलकर आहार परिणाम जन्य प्रथम रसधातु से सगत होकर, रसवह एव स्वेदवह स्रोतो को बन्दकर, अग्नि को मन्द कर, पाचन-सस्थान से अग्नि को वाहर निकालकर, पीडा उत्पन्न करता हुआ सम्पूर्ण शरीर मे फैलता है, तब ज्वर को उत्पन्न करता है।

कफज्वर के लक्षण[2]

१ शरीर गीले वस्त्र से ढँका जैसा प्रतीत होना, २ वेग (ताप) मन्द रहना, ३ आलस्य मालूम होना, ४ मुख का स्वाद मीठा मालूम होना, ५ मल-मूत्र का वर्ण श्वेत होना, ६. अगो में जकडापन होना, ७ अन्न मे अरुचि होना या विना खाये पेट भरा मालूम होना, ८ शरीर मे भारीपन, ९ ठडक लगना, १०, वमन की प्रवृत्ति होना, ११ रोमाञ्च होना, १२ अधिक नीद आना, १३ स्रोतो मे अवरोध, १४ शरीर मे हलकी पीडा, १५ लार टपकना, १६ मुख का स्वाद नमकीन होना, १७ अपचन, १८ खाँसी आना और १९ नेत्रश्वेतता, ये कफज्वर के लक्षण हैं।

चिकित्सासूत्र

१ कफज ज्वर मे कफदोष के द्रवत्व, गुरुत्व, शीतत्व, स्निग्धत्व, माधुर्य, स्थैर्य, पैच्छिल्य आदि गुणयुक्त होने के कारण पूर्वोक्त विकार होते हैं। इन विकृतियो को दूर करने के लिए कटु, तिक्त, कषाय रस युक्त औषध एव आहार द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।

२ तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष गुण विशिष्ट द्रव्यो का प्रयोग हितकर है।

३ स्वेदन, वमन, शिरोविरेचन आदि कफनाशक उपचारो द्वारा मात्रा तथा काल का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए।

४ कफज विकारो मे वमन श्रेष्ठतम उपाय है, क्योकि यह कफ के मूलस्थान

---

१ च० नि० १।२६

२ (क) स्तैमित्य स्तिमितो वेग आलस्य मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्व स्तम्भस्तृप्तिरथाऽपि च॥
गौरव शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
प्रतिश्यायोऽरुचि कास कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता॥ मा० नि०

(ख) च० नि० १।२७।

आमाशय मे जाकर पुन वक्ष-स्थल के कफ को बाहर निकाल देता है। एवं कफ के नष्ट हो जाने से शरीर मे फैले कफ के विकार स्वय शान्त हो जाते हैं।[1]

५ कफ के द्रव होने से तथा ज्वर मे सामता अधिक होने के कारण कफज्वर मे लघन बर्दास्त करने की क्षमता भी अधिक होती है, अत आमदोष के पाचनार्थ लंघन कराना चाहिए।

६. कफज्वर के उपचार मे लघन या अपतर्पण का विशेष महत्त्व है। रूक्ष स्वेदन तथा आमपाचनार्थ दीपन-पाचन ओषधो का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए सोठ, मरिच, पीपर का प्रयोग करना समुचित है।

७ पेयजल या यवागू बनाने मे तिक्त या कषायरस युक्त द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा

क्वाथ—८ निम्बादि क्वाथ ५० एम० एल० प्रात-साय पिलाना चाहिए। योग—नीम की भीली छाल, सोठ, गुरुच, देवदारु, चिरायता, छोटी पीपर, पुष्करमूल और बडी कटेरी समभाग।

९ मरिचादि क्वाथ उपद्रव युक्त कफज्वर को नष्ट करता है। योग—मरिच, पिपरामूल, सोठ, मगरैला, चित्रक, कायफल, कूठ, सुगन्धवाला, वच, हर्रे, कण्टकारी-मूल, काकडासिंगी, अजवायन, नीम की छाल, सभी समभाग मे।

१०. कटुत्रिकादि क्वाथ का सेवन करायें। योग—सोठ, मरिच, पीपर, नागकेसर, हलदी, कुटकी तथा इन्द्रजौ सभी समभाग मे।

११ त्रिफलादि क्वाथ में मधु का प्रक्षेप डालकर पिलावे। योग—आँवला, हर्रे, बहेडा, परवल के पत्ते या फल, अडूसपत्ती, गुरुच, कुटकी, पिपरामूल सब समभाग।

१२. इसी प्रकार निम्नलिखित क्वाथो का प्रयोग करे—१ सप्तच्छादि क्वाथ, २. पिप्पल्यादिगण क्वाथ, ३ निम्बादि क्वाथ, ४ मुस्तादि क्वाथ, ५. वासादि क्वाथ, ६. हरिद्रादि क्वाथ।

१३ पिप्पली चूर्ण १ ग्राम मे २ ग्राम मधु मिलाकर दिन मे ४ बार देने से कास-श्वास, प्लीहा वृद्धि एव कफज्वर नष्ट होते हैं।

१४. चातुर्भद्रावलेहिका—कायफल, पोहकरमूल, काकडासिंगी और पिप्पली के समभाग चूर्ण को १ ग्राम लेकर दूना मधु मिलाकर दिन मे ४ बार देना चाहिए।

१५ व्यवस्थापत्र—

१. ३-३ घण्टे पर ४ बार—

त्रिभुवनकीर्तिरस	५ डेसी ग्राम
शुद्ध टकण	५ डेसी ग्राम
	४ मात्रा

१. च० सू० २०।१९।

आर्द्रक स्वरस और मधु के साथ।

अथवा

२ ज्वरसंहार ५ डेसी ग्राम
शृंग भस्म ५ डेसी ग्राम
शुद्ध नरसार ५ डेसी ग्राम

४ मात्रा

३-३ घण्टे पर ४ वार उष्णोदक से।

३ ४-४ घण्टे पर ३ वार—
मृत्युञ्जय रस ५ डेसी ग्राम

३ मात्रा

आर्द्रकस्वरस तथा मधु से।

४. ३-३ घण्टे पर ४ वार
कफकेतु रस ५ डेसी ग्राम
शुद्ध टंकण ५ डेसी ग्राम

४ मात्रा

आर्द्रक स्वरस और मधु से या उष्णोदक से।

अन्य रसयोगो मे कफकुठार रस, आनन्दभैरव, अभ्रकञ्चुकी, तालभस्म और जयन्ती वटी देय है।

१६ पथ्य—कफज्वर अपतर्पण साध्य रोग है, इसलिए इसमे पथ्य देने मे अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। दोष एवं आम का पाचन ठीक से हो जाना चाहिए। यथावश्यक संशोधन भी कर लेना चाहिए। तदनन्तर लघु, सुपच मुद्गयूष, परवर का जूस या अन्य कटु, तिक्त या कषायरसप्रधान आहार द्रव्य की योजना करनी चाहिए। पीने के लिए उष्णोदक देना चाहिए।

प्रतिश्याय युक्त कफ ज्वर

३-३ घण्टे पर ४ वार—

१. त्रिभुवनकीर्तिरस ५ डेसी ग्राम
शृंग भस्म ५ डेसी ग्राम
शुद्ध नरसार ५ डेसी ग्राम

४ मात्रा

उष्णोदक से।

२. २-२ घण्टे पर १-१ गोली व्योषादिवटी चूसना।

३. सवेरे-शाम
प्रतिश्यायहर कषाय ५० एम० एल०

१ मात्रा

योग—उन्नाव ५ नग, लिसोडा बीज ५ नग, बनप्सा, खसखस, मुलहठी, गावजवां और सौफ ३-३ ग्राम, तुरगबीन ६ ग्राम, मिश्री १५ ग्राम । सबको कूटकर २५० मि० ली० जल मे अर्धावशिष्ट पकावे और छानकर प्रात पान करे । पुन शाम को इसी तरह पकाकर पान करे ।

४ तुलस्यादि फाण्ट सवेरे-शाम ५० एम० एल० पीना चाहिए ।

योग—तुलसी की पत्ती १० नग, काली मरिच ५ दाना, अदरक ३ ग्राम और लौग ३ नग लेकर, सबको कूटकर १ कप पानी मे ५ मिनट औटायें, फिर छानकर थोडी चीनी और दूध मिलाकर चाय की तरह गरम गरम पीना चाहिए ।

द्वन्द्वज और त्रिदोषज ज्वरो के निदान

विषम (कभी कम, कभी अधिक, कभी समय से पूर्व कभी बाद एव विधि-विरुद्ध) भोजन, उपवास, खाद्यान्न परिवर्तन, ऋतुओ का अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग, अपने प्रतिकूल गन्ध का सेवन, विष-दूषित जल का उपयोग, कृत्रिम विष का सेवन, उपत्यका (पर्वतीय क्षेत्र) निवास, असम्यक् रूप से स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन और शिरोविरेचन का प्रयोग करना, सशोधन के बाद नियमानुसार पथ्य न लेना, स्त्रियो का अस्वाभाविक प्रसव होना, प्रसव के बाद प्रसूता का समुचित आहार-विहार न होना और पूर्वकथित वातज्वर, पित्तज्वर या कफज्वर मे से किन्ही दो दोषो के कारणो का ससर्ग होना अथवा तीनो दोषो के प्रकोपक कारणो का सन्निपात जुट जाना, इन कारणो के अनुक्रम एव अनुपात के अनुसार दो दोषो या तीनो दोषो के प्रकोप से तदनुसार सम्प्राप्ति के होने से द्वन्द्वज या सन्निपातज ज्वर होते हैं ।

तीन द्वन्द्वज (१ वातपित्तज २ वातकफज एव ३ पित्तकफज) ज्वरो मे मिले हुए दो दोषो के लक्षण होते हैं, जो पूर्व मे कहे गये है । एव त्रिदोष के प्रकोप से तीनो प्रकार के ज्वरो के लक्षणो को देखकर सन्निपातज्वर जानना चाहिए[१] ।

चरक-चिकित्सास्थान अध्याय ३ मे कहा गया है—'निदानस्थान के ज्वर-वर्णन मे अलग-अलग दोषो से होनेवाले तीन प्रकार के ज्वरो के लक्षण कहे गये हैं, उसी आधार पर द्वन्द्वज ज्वरो के तीन प्रकार तथा सन्निपात ज्वर के भी लक्षण कह दिये गये हैं ।'[२]

ये लक्षण प्रकृतिसमसमवायारब्ध द्वन्द्वज या सन्निपात ज्वर के है ।

---

१ च० नि० १।२८ ।
२ निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृति ।
ससर्गसन्निपातानां तथा चोक्त स्वलक्षणम् ॥ च० चि० ३।८८

वात-पित्त ज्वर के लक्षण

प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, निद्रानाश, शिर मे पीडा, कण्ठ और गले का सूखना, वमन, रोगटे खडे होना, भोजन मे अरुचि, आँखो के सामने अँधेरा छा जाना, सन्धियो मे पीडा और जभाई आना, ये सभी वातपित्त ज्वर के लक्षण हैं।[1]

वात-श्लेष्म ज्वर के लक्षण

शरीर का गीले कपडे से ढका होने जैसा प्रतीत होना, सन्धियो मे पीडा होना, नीद अधिक आना, शरीर मे भारीपन, शिर मे जकडाहट, सर्दी-जुकाम होना, खाँसी, पसीना अधिक आना और शरीर मे ज्वर के तापमान का मध्यम वेगयुक्त होना, ये सब वातश्लेष्म ज्वर के लक्षण हैं।[2]

श्लेष्म-पित्त ज्वर के लक्षण

मुख के भीतर कफ का लेप लगाया हुआ-सा जान-पडना, मुख का स्वाद तीता रहना, तन्द्रा, मूर्च्छा, खाँसी, अरुचि, प्यास का बना रहना, कभी शीत और कभी दाह का मालूम होना, ये सब श्लेष्मपित्तज्वर के लक्षण है।[3]

वक्तव्य—इन उपर्युक्त द्वन्द्वज ज्वरो के लक्षणो को विकृतिविषमसमवायारब्ध समझना चाहिए, क्योकि इनमे जो लक्षण हैं, उनमे कुछ ऐसे भी लक्षण है, जो ज्वर के आरम्भक दोष के नही हैं, जैसे—वातपैत्तिक ज्वर मे अरुचि और रोमहर्ष, ये दोनो न तो वात के लक्षण हैं, न पित्त के। इसी प्रकार वातश्लैष्मिक ज्वर मे स्वेद-

---

१ (क) तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाह स्वप्ननाश शिरोरुजा।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तम ॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृति। सु० उ० ३९

(ख) रोमहर्षश्च दाहश्च पर्वभेद शिरोरुजा।
कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरति ॥
स्वप्ननाशोऽतिवाग् जृम्भा वातपित्तज्वराकृति। च० चि० ३

२ (क) स्तैमित्य पर्वणा भेदो निद्रागौरवमेव च ॥
शिरोग्रह प्रतिश्याय कास स्वेदाप्रवर्तनम्।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृति ॥ सु० उ० ३९

(ख) शीतको गौरव तन्द्रा स्तैमित्य पर्वणा च रुक्।
शिरोग्रह प्रतिश्याय कास स्वेदाप्रवर्तनम्
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृति ॥ च० चि० ३

३ (क) लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोह कासोऽरुचिस्तृषा।
मुहुर्दाहो मुहु शीत श्लेष्मपित्तज्वराकृति ॥

(ख) मुहुर्दाहो मुहु शीत स्वेद स्तम्भो मुहुर्मुहु।
मोह कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम् ॥
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृति। च० चि० ३

प्रवृत्ति और सन्ताप, ये दोनो न वात के लक्षण हैं, न तो कफ के। एव पित्तश्लेष्मज ज्वर मे अनवस्थित शीत तथा दाह का होना विकृतिविषमसमवायारब्ध लक्षण है।

सन्निपातज्वर मे आँखो मे मलिनता, अश्रुपूर्णता, शिर को इधर-उधर फेंकना आदि लक्षण अपने प्रकुपित समवेत दोष के कारण उत्पन्न हुए नही प्रतीत होते हैं। अत उन्हे विकृतिविषमसमवायजन्य लक्षण कहा जाता है।

प्रकृतिसमसमवाय—'प्रकृत्या हेतुभूतया सम कारणानुरूप समवाय प्रकृतिसम-समवाय' अर्थात् कारण के अनुरूप कार्य का होना प्रकृतिसमसमवाय कहलाता है, जैसे—श्वेत तन्तुओ से बना हुआ वस्त्र श्वेत ही होता है। इसी प्रकार कफपित्तज ज्वर मे मुख का कफयुक्त तथा तीता होना (लिप्ततिक्तास्यता) कारण के अनुरूप लक्षण होने से प्रकृतिसमसमवाय लक्षण है।

विकृतिविषमसमवाय—विकृति के कारण विषम अर्थात् कारण के विपरीत कार्य का होना, विकृतिविषमसमवाय कहलाता है, जैसे—पीले रग की हल्दी और सफेद चूने के सयोग से विषम लाल रग की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वातपित्त ज्वर के लक्षणो मे अरुचि तथा रोमहर्ष, ये दोनो विषम लक्षण हैं। 'विकृत्या हेतुभूतया विषम कारणाननुरूप समवायो विकृतिविषमसमवाय'।

द्वन्द्वज ज्वरो का चिकित्सासूत्र[1]

१ दो दोषो से उत्पन्न ज्वरो मे कौन दोष अधिक बढा है ? किस दोष की प्रधानता या उग्रता है ? किस दोष के लक्षण अधिक गम्भीर हैं ? यह देख-समझकर प्रधान दोष के प्रतिकार के लिए अधिक सावधान होकर उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करे। साथ ही सहचर दोष का भी उपचार करे। पूर्व मे अलग-अलग दोषो से होनेवाले ज्वरो मे जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उसका प्रयोग करना चाहिए।

२ जब द्वन्द्वज ज्वरोत्पादक दोनो दोष सम अवस्था मे प्रकुपित हो, तो उन दोनो की समान रूप से चिकित्सा-व्यवस्था करनी चाहिए। जैसे—वात-पित्त ज्वर मे वात और पित्त की, वातश्लेष्मज ज्वर मे वात और कफ की, पित्तश्लेष्मज ज्वर मे पित्त और कफ की चिकित्सा करनी चाहिए।

३ विकृतिविषमसमवायारब्ध ज्वरो मे ज्वरारम्भक दोषजन्य लक्षणो से विपरीत भी कुछ लक्षण होते हैं, अत ऐसी स्थिति मे विशिष्ट चिकित्सा करनी चाहिए।

वातपित्तज्वर चिकित्सा

१ दुग्धपान—वातपित्त ज्वर के रोगी को जलन हो रही हो और प्यास अधिक हो तथा ज्वर निराम हो, तो उसे वातपित्तनाशक औषधियो से सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना चाहिए अथवा वातपित्तज्वर के रोगी को मलावरोध हो तो गाय का

---

१ संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः ।
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत् ॥ च० चि० ३।२८५

दूध पिलावे तथा अधिक दस्त हो रहा हो, तो बकरी का दूध पिलाना चाहिए। गाय का दूध मलनिस्सारक और बकरी का दूध सग्राही होता है।[1]

आचार्य चरक ने इस ज्वर मे धारोष्ण दूध का प्रयोग कहा है।[2]

२. **घृतपान**—जब वातपित्त ज्वर मे कफ मन्द हो और १० दिन बीत जाने के बाद दोष पक गये हो, तो दोषानुसार औषधियो से सिद्ध किये हुए घृत का पान कराना चाहिए, जो अमृत के समान लाभप्रद होता है।[3]

३ **नवाङ्गकषाय**—सोठ, गुरुच, नागरमोथा, चिरायता, शालिपर्णी, पृश्णिपर्णी, गोखरू, छोटी और बडी कटेरी का क्वाथ प्रात -सायं पिलावे।

४ **किरातादि क्वाथ**—चिरायता, गुरुच, मुनक्का, आँवला और कचूर, इनके क्वाथ मे गुड डालकर पिलाना चाहिए।

५ **मुस्तादि क्वाथ**—नागरमोथा, पित्तपापडा, नीलकमल, चिरायता, खस और लालचन्दन के क्वाथ मे चीनी मिलाकर प्रात -सायं देवे।

६. अनार तथा आँवले का स्वरस पिलाना और मूँग का यूप देना—वात-पित्त-ज्वर को शान्त करता है।

७ **भारग्यादि क्वाथ**—भारगी के मूल की छाल, गुरुच, नागरमोथा, देवदारु, बडी कटेरी, सोठ, पीपर और पोहकरमूल का क्वाथ, ज्वर तथा श्वास रोग मे लाभकर है। यह क्षुधा को प्रदीप्त करता है तथा रुचि को बढाता है।

८. **रसप्रयोग**—

(१) मृत्युञ्जय रस ५ डेसीग्राम
रसादि वटी ५ डेसीग्राम
योग ४ मात्रा
३–३ घण्टे पर ४ बार मधु से।

अथवा—

(२) त्रिभुवनकीर्ति रस ५ डेसीग्राम
गोदन्तीभस्म १ ग्राम
४ मात्रा
३–३ घण्टे पर मधु से।

वात-कफज्वर-चिकित्सा

१ रूक्षस्वेदन करना चाहिए। स्वेद संपूर्ण शरीर के स्रोतो को मृदु बनाता है

---

१ (क) दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम्।
बद्धप्रच्युतदोष वा निराम पयसा जयेत् ॥ च० चि० ३।१६७
(ख) पुरीषे ग्रथिते पथ्य वातपित्तविकारिणाम्। च० सू० २।११३

२ धरोष्ण वा पय सद्यो वातपित्तज्वर जयेत् ॥

३ अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तर ज्वरे।
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥ च० चि० ३।१६४

और अग्नि को स्वस्थान मे लाकर वातकफजन्य दोष और मल-मूत्र की स्तब्धता को दूर कर ज्वर को हटाता है।

२ आग पर तपाये हुए वालू की पोटली वनाकर उसे उष्ण काञ्जी मे भिगोकर सहन योग्य होने पर उस पोटली से स्वेदन करे।

३ पचकोल क्वाथ—पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता और सोठ के समभाग का क्वाथ वनाकर सवेरे-शाम पिलावे।

४ प्यास लगने पर गरम जल पिलाना चाहिए।

५ आरग्वधादि क्वाथ—अमलतास, पिपरामूल, नागरमोथा, कुटकी और हर्रे, इनका क्वाथ आम एव शूल युक्त वातकफज्वर मे लाभकर है। यह क्वाथ अग्नि-प्रदीपक तथा आमनाशक है।

इसे 'गिरिमालापञ्चक' नाम से भी कहा जाता है। इसमे अन्य द्रव्यो का क्वाथ वनाकर वाद मे अमलतास का गूदा मिलावे, अन्यथा अमलतास का क्वाथ करने से गुणहानि होती है।

६. वृहत्पिप्पल्यादि क्वाथ—(भावप्र०) का प्रयोग वहुत उपयोगी है।

७, वचादि क्वाथ—मीठा वच, कुटकी, पाठा, आरग्वध और इन्द्रजौ का क्वाथ वातकफज्वर को शान्त करता है।

८. रसप्रयोग—

(१) त्रिभुवनकीर्ति रस ५ डेसीग्राम
शुद्ध टकण १ ग्राम
योग—४ मात्रा
३—३ घण्टे पर ४ वार आर्द्रक स्वरस और मधु से।

अथवा—

(२) ज्वरसहार रस ५ डेसीग्राम
शृगभस्म ५ डेसीग्राम
गोदन्तीभस्म १ ग्राम
४ मात्रा
३—३ घण्टे पर ४ वार मधु से।

अथवा

(३) नारदीय लक्ष्मीविलास रस ५ डेसीग्राम
४ मात्रा
दिन मे ४ वार—तुलसी स्वरस और मधु से।

(४) वातश्लेष्मान्तक रस ५ डेसीग्राम
४ मात्रा
३—३ घण्टे पर ४ वार पान के रस और मधु से।

श्लेष्म-पित्तज्वर-चिकित्सासूत्र

१. कफ-पित्त के सशोधन के लिए विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। जैसे— पित्त या कफ-पित्त या पित्ताशयगत दोष हो, तो विरेचन औषध के प्रयोग से इन सबका शोधन हो जाता है। यदि वात-पित्त-कफ पक्वाशयगत हो, तो निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए।[१]

२ यदि ज्वर पुराना हो, रोगी की जठराग्नि तीक्ष्ण हो, उसके कफ-पित्त क्षीण हो और उसका मल रूक्ष तथा विवन्धयुक्त हो, तो उसे अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।[२]

३ साम कफपित्तज्वर मे लघन और पाचन का प्रयोग करना चाहिए।[३]

४ जब कफपित्तप्रधान ज्वर हो, तो यवागू नही देनी चाहिए।[४] उसे जागल जीवो का मासरस तथा अम्लीकृत या अनम्ल यूष देना चाहिए।

चिकित्सा

५ अमृताष्टक क्वाथ—गुरुच, इन्द्रजौ, नीम की छाल, परवल के पत्ते, कुटकी, सोठ, लालचन्दन, नागरमोथा, इनका क्वाथ तैयार कर, उसमे आधा ग्राम पीपर का चूर्ण डालकर सवेरे-शाम पिलावे।

६ पटोलादि क्वाथ—पटोलपत्र, नीम की छाल, हर्रे, वहेडा, आँवला, मुलहठी और वरिआर का क्वाथ प्रात-साय पिलावे।

७. पञ्चतिक्त क्वाथ—छोटी कटेरी, गुरुच, सोठ, पोहकरमूल और चिरायता का क्वाथ कफपित्तज्वर तथा खांसी एव श्वास मे भी हितकर है।

८ कटुरोहिणी चूर्ण—कुटकी का चूर्ण २ ग्राम तथा चीनी २ ग्राम सवेरे-शाम जल से खिलाना चाहिए।[५]

९ रसप्रयोग—३-३ घण्टे पर ४ वार

१ त्रिभुवन कीर्ति रस	५ डेसीग्राम
गोदन्तीभस्म	१ ग्राम
शुद्ध टकण	५ डेसीग्राम
	४ मात्रा

आर्द्रकस्वरस और मधु से।

---

१ पित्तं वा कफपित्तं वा पक्वाशयगतं हरेत्।
स्रसन, त्रीन् मलान् वस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्॥ च० चि० ३।१७१

२ ज्वरे पुराणे सङ्क्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये।
रूक्षवद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम्॥ च० चि० ३।१७२

३ सामा ये ये च कफजा कफपित्तज्वराश्च ये।
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति॥ च० चि० ३

४. मद्यात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे॥ च० चि० ३।१५४

५. सशर्करां तु शार्ङ्गेष्टां कटुकामुष्णवारिणा।
पीत्वा ज्वरं जयेज्जन्तु कफपित्तसमुद्भवम्॥ भै० र० ज्वर०

२ ३—३ घण्टे पर ४ बार

ज्वरसहार रस ५ डेसीग्राम
४ मात्रा

तुलसी पत्र रस और मधु से ।

लक्ष्मीविलास रस, मृत्युञ्जय तथा अश्वकञ्चुकी रस का भी प्रयोग करना उचित है । इस श्लेष्मपित्त ज्वर की विशिष्ट औषध 'कस्तूरीभैरव रस' है, किन्तु वह सर्वसुलभ नही है । अत यथालाभ इनमे से प्रयोग करना चाहिए ।

———

तृतीय अध्याय

सन्निपात ज्वर

निदान और सम्प्राप्ति

वात-पित्त-कफ प्रकोपक मिथ्या आहार-विहार के एक साथ जुट जाने से तीनो दोषो का एक साथ ही प्रकोप हो जाता है और वे पूर्वोक्त ज्वरो की तरह स्वकारणो से प्रकुपित होकर 'रस' नामक धातु मे अनुगमन कर पाचकाग्नि को उसके स्थान से निकाल कर शरीर की ऊष्मा को बढा देते हैं। एव देहोष्मा के बढ जाने से सपूर्ण शरीर उष्ण हो जाता है और इस शरीर की उष्णता या सताप की वृद्धि को ही ज्वर कहते हैं।

इस ज्वर के उत्पादक कारणो मे तीनो दोषो के प्रकोपक कारणो का समावेश होता है, इसलिए इसमे तीनो दोषो के मिले-जुले लक्षण होते हैं। अतएव यह त्रिदोषज ज्वर या सन्निपात ज्वर कहलाता है।

सन्निपात ज्वर के जनक कुछ विशिष्ट निदान[1]

१. प्रसव, मूढगर्भ या गर्भपात के बाद स्त्री का शीत उपचार करना।
२. भोजन, शयन, जागरण एव नित्यकर्मों की विषमता।
३ चिन्ता, ईर्ष्या आदि मनोविकारो का होना।
४ जिह्वा की लोलुपता, दूषित दुग्धपान और विरुद्ध आहार।
५ उपवास, अध्यशन, विषमाशन एव अजीर्णाशन।
६. सहसा पथ्य परिवर्तन एव ऋतु-परिवर्तन।
७ विष-दूषित वायु तथा जल का सेवन, गरविषसयोग।
८ अनभ्यस्त पर्वतीय या उपत्यका (पर्वत समीप भूमि) निवास।
९ स्नेहन-स्वेदन आदि पूर्वकर्मों का मिथ्यायोग।
१० पञ्चकर्मों का हीन, मिथ्या या अतियोग होना।

ये सभी कारण है, जिनसे तीनो दोषो का प्रकोप होकर सन्निपातज्वर होता है।

सन्निपातज्वर का द्विधा आरम्भ

उक्त ज्वरारम्भक कारण-दोषो को प्रकुपित करके दो प्रकार से सन्निपातज्वर का आरम्भ करते हैं—

१ जब वातज आदि ज्वरो के मिले-जुले गम्भीर लक्षणो के साथ ज्वर का आरम्भ होता है, तो उसमे जो लक्षण होते हैं, वे त्रिदोषज होते हैं, अत उस ज्वर को प्रकृतिसम-समवायारब्ध कहते हैं।

---

१ काश्यपसंहिता-विशेषकल्पाध्याय के आधार पर।

२ जब स्वप्रकोपक कारणो से कुपित दोष वातज आदि ज्वरो के लक्षणों से भिन्न विशिष्ट लक्षणो वाले सन्निपातज्वर को उत्पन्न करते हैं, तो उस ज्वर को **विकृति-विषम-समवायारब्ध** कहते हैं।

दोनो मे सामान्य अन्तर यह है कि प्रकृतिसम-समवाय मे तो कारण के अनुरूप जैसा-जैसा दोषप्रकोप का स्वरूप होगा, तदनुसार लक्षण होते हैं, किन्तु विकृति-विषम-समवाय मे कोई नियम नही है (विकृतो नियमो नास्ति), अत उसमे ऐसे भी लक्षण उत्पन्न होते हैं, जिनको किसी दोष मे जायमान नही कहा जा सकता। अत वे लक्षण दोषज लक्षणो से विशिष्ट लक्षण होते हैं।

सन्निपातज्वर की साध्यासाध्यता

१ दोष तथा मलो की प्रवृत्ति न होना, २ जठराग्नि का नाश होना तथा ३ सभी लक्षणो का उत्पन्न होना असाध्यता के लक्षण हैं।

जब उक्त लक्षण के विपरीत लक्षण हो, तो सन्निपात ज्वर कृच्छ्रसाध्य होता है। यह किसी भी स्थिति मे सुखसाध्य नही होता है।[1]

सन्निपातज्वर दुश्चिकित्स्य है।

आचार्य चरक ने इसे सबसे बडा दुश्चिकित्स्य कहा है। (सन्निपातो दुश्चि-कित्स्यानाम्—च० सू० २५)। आचार्य भालुकि ने सन्निपातज्वर की चिकित्सा करने को मृत्यु के साथ युद्ध करना बतलाया है।[2]

सन्निपातज्वर की मर्यादा[3]

१ वातप्रधान सन्निपातज्वर सातवे दिन बढकर उतर जाता है या मार डालता है।
२ पित्तप्रधान ,, दसवें दिन ,, ,,
३ कफप्रधान ,, बारहवें दिन ,, ,,

अन्य मत से[4] ७, ९, ११, १४, १८ तथा २२ दिनो की मर्यादा कही गयी है।

स्वानुभव—प्राय १०, १४, २२ तथा २८वे दिन ज्वर उतर जाता है। कदाचित् समुचित उपचार के अभाव मे ज्वर का पुनरावर्तन हो जाता है और २८वें दिन के बाद १-१ सप्ताह की अवधि बढने से ३५, ४२, ४९ या ५६ दिन तक ज्वर चलता रह जाता है।

वक्तव्य—सन्निपातज्वर की उक्त मर्यादा मे रोगी का जीवन या मरण दो बातो

---

१ दोषे विवद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षण।
सन्निपातज्वरोऽसाध्य कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा॥ च० चि० ३।१०९

२ मृत्युना सह योद्धव्य सन्निपात चिकित्सता। भालुकि वचन्

३ सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशम याति हन्ति वा॥ सु० उ० ३९

४ सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥ मा० नि०

पर निर्भर है[1]—(१) यदि मलपाक होता है तो रोगी बच जाता है और (२) धातुपाक[2] होने पर रोगी मर जाता है।

समसर्वदोषोल्वण, विकृतिविषमसमवेत सन्निपात ज्वर के लक्षण

१ क्षण मे दाह होना और क्षण मे शीत का अनुभव होना।
२ अस्थियो की सन्धियो मे तथा शिर मे पीडा होना।
३ नेत्र का अश्रुपूर्ण, मलिन, रक्त तथा अधखुला दीख पडना।
४ कानो मे आवाज होते रहना और कर्णशूल होना।
५ कण्ठ मे यव शूक (टूड) के घँसे होने जैसा लगना।
६ तन्द्रा (नींद आने जैसा लगना), मूर्च्छा और प्रलाप होना।
७. काम, स्वास, अरुचि और भ्रम होना।
८ जीभ जली हुई-सी और खुरदरी मालूम होना।
९ अग अग मे शिथिलता और थकावट का अनुभव होना।
१० कफ के साथ रक्त तथा पित्त मिश्रित थूक का निकलना।
११. रोगी शिर को इधर-उधर घुमाता रहता है और उसे प्यास लगती रहती है।
१२ नींद नही आती है और हृदय-प्रदेश मे पीडा होती है।
१३ स्वेद, मूत्र तथा मल का विलम्ब से और थोडा थोडा निकलना।
१४ शरीर का अतिकृश न होना और कण्ठ से कहरने की आवाज आना।
१५ शरीर मे श्याम या रक्त वर्ण के चकत्ते निकलना।
१६ वोलने मे असमर्थता और मुख नाक-गुद आदि स्रोतों का पकना।
१७ उदर मे भारीपन और दोषों का पाक विलम्ब से होना—ये सब सन्निपात-ज्वर के लक्षण है[3]।

सन्निपात ज्वर के भेद

चरक तथा काश्यप के १३ प्रकार

१ वातोल्वण
२ पित्तोल्वण
३ कफोल्वण
४ वात पित्तोल्वण मन्दकफ
५ वात-श्लेष्मोल्वण-मन्दपित्त
६. पित्त-कफोल्वण-मन्दवात
७. हीनवात-मध्यपित्त-श्लेष्माधिक
८ हीनवात मध्यकफ-पित्ताधिक
९ हीनपित्त-मध्यकफ-वाताधिक
१०. हीनपित्त-मध्यवात-कफाधिक

---

१ पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्।
हन्ति विमुञ्चति वाशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ॥ तन्त्रान्तर

२ सम्प्राप्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजान्वितेषु।
पक्वेषु वा तेषु कलाज्वराणां स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः ॥ तन्त्रान्तर

३ च० चि० ३।१०३–१०९।

११. हीनकफ-मध्यपित्त-वाताधिक
१२. हीनकफ-मध्यवात-पित्ताधिक
१३ समसर्वदोषोल्वण

मालुकितन्त्रोक्त १३ प्रकार

१ वातोल्वण विस्फुरक
२ पित्तोल्वण आशुकारी
३. कफोल्वण कम्पण
४. वातपित्तोल्वण विभु
५ पित्तश्लेष्मोल्वण फल्गु
६ वातश्लेष्मोल्वण मकरी
७. हीनवात-मध्यपित्त-कफोल्वण—वैदारिक
८ मध्यवात-हीनपित्त-कफोल्वण—कर्कोटक
९. अधिकवात-मध्यपित्त-हीनकफ—सम्मोह
१० हीनवात-अधिकपित्त-मध्यकफ—याम्यक
११ मध्यवात-अधिकपित्त-हीनकफ—क्रकच
१२ अधिकवात-हीनपित्त-मध्यकफ—पाकल
१३ प्रवृद्ध त्रिदोष—कूटपाकल

तन्त्रान्तरीय १३ प्रकार

१. कुम्भीपाक
२ प्रोर्णुनाव
३ प्रलापि
४. अन्तर्दाह
५ दण्डपात
६. अन्तक
७ एणीदाह
८ हारिद्रक
९ अजघोष
१० भूतहास
११. यन्त्रापीड
१२. सन्यास
१३ सशोषि

तन्त्रान्तरोक्त १३ प्रकार

१ शीताङ्ग
२. तन्द्रिक
३ प्रलापक
४ रक्तष्ठीवी
५ भुग्ननेत्र
६ अभिन्यास
७ जिह्वक
८ सन्धिक
९ अन्तक
१०. रुग्दाह
११ चित्तविभ्रम
१२ कर्णग्रह
१३. कण्ठकुब्ज

प्रथम और द्वितीय भेदों के लक्षण

(१) वातोल्वण सान्निपातज्वर के लक्षण[1]

सन्धियो, अस्थियो और शिर मे वेदना होना, प्रलाप, शरीर मे भारीपन, शिर में

[1] (क) च० चि० ३।९४।
(ख) आयु० वि०।

चक्कर होना, प्यास लगना, कण्ठ तथा मुख का सूखना, ये वातोल्वण सन्निपात के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रान्तर मे इसे विस्फारक कहा गया है और कास, श्वास, मूर्च्छा, कम्पन, पार्श्ववेदना, जृम्भा और कषायमुखता—ये विशेष लक्षण कहे गये हैं।

(२) पित्तोल्बण सन्निपातज्वर के लक्षण[1]

इसमे रोगी का मल एव मूत्र सरक्त होना, दाह, स्वेद, प्यास, वल का ह्रास और मूर्च्छा, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—तन्त्रान्तर मे इसे आशुकारी नाम से कहा गया है तथा अतिसार, भ्रम, मुखपाक, शरीर मे लाल दाने निकलना और तीव्र दाह होना, ये विशेष लक्षण कहे गये हैं।

(३) कफोल्बण सन्निपातज्वर के लक्षण[2]

आलस्य, अरुचि, जी मिचलाना, दाह, वमन, वेचैनी, शिर मे चक्कर आना, तन्द्रा और खाँसी होना, ये कफोल्वण सन्निपातज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे कम्पन कहा गया है और जडता, वाणी का अस्पष्ट निकलना, रात्रि मे अधिक नीद आना, नेत्रो मे अकडन होना और मुख का स्वाद मीठा वना रहना, ये विशेष लक्षण कहे गये हैं।

(४) वातपित्तोल्वण मन्दकफज सन्निपातज्वर के लक्षण[3]

इसमे शिर मे चक्कर आना, प्यास, दाह, शरीर मे भारीपन होना और शिर मे भयङ्कर पीडा होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे वभ्रु नाम से कहा गया है। इसमे मद, मुखशोष, आँखो का न खुलना, आध्मान, अरुचि, तन्द्रा, कास, श्वास, भ्रम और थकावट होना, ये विशेष लक्षण कहे गये हैं।

(५) वातश्लेष्मोल्वण मन्दपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण[4]

इस ज्वर के साथ शरीर मे शीत लगना, कास, अरुचि, तन्द्रा, प्यास, दाह, देह मे पीडा और व्यथा होना, ये लक्षण होते हैं।

---

[1] (क) च० चि० ३।९५।
(ख) आ० वि०।

[2] (क) च० चि० ३।९६।
(ख) आ० वि०।

[3] (क) च० चि० ३।९१।
(ख) आ० वि०।

[4] (क) च० चि० ३।९२।
(ख) आ० वि०।

४ का० द्वि०

वक्तव्य—अन्यत्र इसे शीघ्रकारी कहा गया है और शीत लगना, मूर्च्छा, क्षुधा लगना, पार्श्वपीडा, शूल, पसीना न आना तथा श्वास, ये विशेष लक्षण कहे गये हैं।

(६) पित्तकफोल्बण मन्दवात सन्निपात ज्वर के लक्षण[1]

इस ज्वर मे वमन, शरीर मे शीत लगना, वार-वार दाह होना, तृष्णा, मूर्च्छा और हड्डियो मे व्यथा होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे भल्लु नाम दिया गया है और अन्तर्दाह तथा वहि शीत लगना, प्यास, थूकते रहना, दक्षिण पार्श्व मे सुई चुभाने जैसी वेदना, वक्ष स्थल, शिर एव कण्ठ मे जकडन, कफ या पित्त का कठिनाई से निकलना, चकत्ते निकलना, पतले दस्त लगना, श्वास, हिचकी और आँख न खुलना, ये विशेष लक्षण होते हैं।

(७) हीनवात-मध्यपित्त-श्लेष्माधिक सन्निपातज्वर के लक्षण[2]

इस ज्वर मे प्रतिश्याय, वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि और अग्निमान्द्य ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसका नाम वैदारिक रखा गया है। इसमे अल्पाश मे शूल, कटिप्रदेश मे सुई चुभाने जैसी पीडा, शरीर के मध्य भाग मे दाह, पीडा, चक्कर, इन्द्रियो मे अकर्मण्यता, शिर शूल, वस्तिशूल, हृदयशूल, बोलने मे कष्ट होना, प्रमीलक, श्वास, कास, हिक्का, जडता और सज्ञानाश होना ये विशेष लक्षण हैं।

(८) हीनवात-मध्यकफ-पित्ताधिक सन्निपातज्वर के लक्षण[3]

इस ज्वर मे हलदी के वर्ण का पीला मूत्र निकलना, आँखो मे पीलापन, दाह, तृष्णा, भ्रम और अरुचि, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे याम्य नाम दिया गया है। इसमे हृदय मे दाह, यकृत्-प्लीहा-अन्त्र और फुफ्फुस का पाक होना तथा ऊपर के मुखमार्ग से तथा नीचे के गुदामार्ग से पूय तथा शोणित का निर्गमन होना, ये लक्षण होते हैं।

इससे आक्रान्त रोगी के दाँत सड जाते हैं और रोगी कवलित हो जाता है।

(९) हीनपित्त-मध्यकफ-वाताधिक सन्निपातज्वर के लक्षण[4]

इस सन्निपातज्वर मे शिर शूल, कम्पन, श्वास, प्रलाप, वमन और अरुचि ये लक्षण होते है।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे क्रकच सन्निपात के नाम से कहा गया है। इसमे थकावट, मूर्च्छा, वेचैनी और चक्कर आना, ये विशेष लक्षण होते है। इसमे मन्यास्तम्भ का होना मारक लक्षण है।

---

१ (क) च० चि० ३ तथा (ख) आ० वि०
२ (क) च० चि० ३ तथा (ख) आ० वि०
३ (क) च० चि० ३ तथा (ख) आ० वि०
४ (क) च० चि० ३ तथा (ख) आ० वि०

(१०) हीनपित्त-मध्यवात-कफाधिक सन्निपातज्वर के लक्षण[1]

इस ज्वर मे शीत अधिक लगना, शरीर में भारीपन, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थियो मे पीडा और शिर शूल होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे **कर्कटक सन्निपात** कहा गया है। इसमे अकथनीय अन्तर्दाह होना, बोलने मे असमर्थता, चेहरे का लाल-सुर्ख होना, पित्त से आकृष्ट कफ का छाती से न निकल पाना, बाणविद्ध जैसा पार्श्वशूल होना, हृदय उत्पाटित होने जैसा प्रतीत होना, प्रमीलक, श्वास तथा हिक्का का प्रतिदिन बढते जाना, जिह्वा का दग्धवत् और खरस्पर्शवती होना, गले का शूको से आवृत प्रतीत होना, ज्वर का अविसर्गी रूप बना रहना, रोगी का कबूतर की बोली जैसा कहरते रहना, छाती मे कफ का भरा होना, ओठ तथा तालु का सूखना, तन्द्रा होना, निद्रा की अधिकता, वाणी का अवरुद्ध होना, प्रभा का क्षीण हो जाना, सदा बेचैनी का बना रहना, अपथ्य आहार-विहार की रुचि होना, अगो का फैलना और थूक मे थोडा-थोडा रक्त आना, ये विशेष लक्षण होते हैं।

(११) हीनकफ-मध्यपित्त-वाताधिक सन्निपातज्वर के लक्षण[2]

इस ज्वर मे श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुखशोष और पार्श्व मे अधिक पीडा का होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे **सम्मोहक** सन्निपातज्वर कहा गया है। इसमे प्रलाप, थकावट, बेहोशी, कम्पन, मूर्च्छा, अरति और चक्कर आना, ये विशेष लक्षण होते हैं। इस सन्निपात से आक्रान्त रोगी पक्षाघात का शिकार हो जाता है।

(१२) हीनकफ-मध्यवात-पित्ताधिक सन्निपात ज्वर के लक्षण[3]

इसमे पतला शौच होना, अग्निमान्द्य, तृष्णा, दाह, अरुचि और भ्रम होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अन्यत्र इसे **पालक सन्निपात** कहा गया है। इसमे मोह, प्रलाप, मूर्च्छा, मन्यास्तम्भ, शिरोग्रह, कास, श्वास, तन्द्रा, सज्ञानाश, हृदय में व्यथा, रक्तस्राव और आँखो का लाल एव स्तब्ध होना, ये लक्षण होते हैं।

(१३) समसर्वदोषोल्बण सन्निपात ज्वर के लक्षण[4]

इसके लक्षण पूर्व मे कहे जा चुके हैं।

वक्तव्य—अन्य तन्त्रो में इसे **कूटपालक सन्निपात** कहा गया है। इसके लक्षणो मे ऊर्ध्वश्वास, अगो की जकडन और आँखो की निश्चलता, ये विशेष लक्षण कहे गये हैं। यह अन्य रोगो की अपेक्षा बडा ही दारुण होता है, जैसे—वज्रपात, शस्त्राघात या

---

१ (क) च० चि० ३ तथा (ख) आ० वि०
२ (क) च० चि० ३ तथा (ख) आ० वि०
३ च० चि० ३ तथा (ग) आ० वि०
४ च० चि० ३ तथा सु० उ० ३९

अग्निदाह होना। यह तीन दिन मे रोगी को यमराज के यहाँ पहुँचा देता है। इसके भयङ्कर लक्षणो को देखकर लोग यह कहने लगते हैं, कि यह रोगी किसी प्रेतात्मा द्वारा गृहीत है। यह किसी कुलदेवता के अपमान के कारण हुआ रोग है या इसकी ग्रहदशा खराब है या इसने कृत्रिम विष खा लिया है आदि आदि।

तृतीय भेद : तन्त्रान्तर-पठित सन्निपात के लक्षण

(१) कुम्भीपाक सन्निपात ज्वर का लक्षण[1]

जिस सन्निपात ज्वर मे रोगी की नाक से काला, लाल एव गाढा रक्त निकलता हो और वह अपने शिर को चारो ओर घुमाता-पटकता रहता हो, उसे कुम्भीपाक सन्निपात कहते हैं।

(२) प्रोर्णुनाव के लक्षण[2]

जिस ज्वर मे रोगी अपने अगो को ऊपर उठाकर नीचे फेंकता रहता हो और लगातार ऊपर की ओर श्वास लेता हो, इस विचित्र कष्टप्रद अवस्था को प्रोर्णुनाव सन्निपात कहते हैं।

(३) प्रलापी के लक्षण[3]

जिस प्रलाप करनेवाले सन्निपात ज्वर के रोगी को पसीना आना, चक्कर मालूम होना, अग टूटना, काँपते रहना, नेत्र आदि मे जलन, कण्ठ मे पीडा और शरीर मे भारीपन हो, उसे प्रलापी सन्निपात जानना चाहिए।

(४) अन्तर्दाहसन्निपात के लक्षण[4]

जिस ज्वर मे रोगी के शरीर मे अन्दर से दाह हो और ऊपर में सर्दी लग रही हो, शोथ, बेचैनी और श्वास हो तथा अग जले हुए प्रतीत हो रहे हो उसे अन्तर्दाह सन्निपात जानना चाहिए।

वक्तव्य—यह 'अन्तर्वेगी ज्वर'[5] के समान है।

---

१ घोणाविवरक्षरद् बहुशोणासितलोहितं सान्द्रम्।
विलुठन् मस्तकमभित कुम्भीपाकेन पीडितं विद्यात् ॥ आ० वि०

२ उत्क्षिप्य य स्वमङ्गं क्षिपत्यधस्तान्निनान्तमुच्छ्वसिति।
त प्रोर्णुनावजुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात् ॥ आ० वि०

३ स्वेदभ्रमाङ्गभेदा कम्पो दवथुर्वमिर्व्यथा कण्ठे।
गात्रञ्च गुर्वतीव प्रलापिजुष्टस्य जायते लिङ्गम् ॥ आ० वि०

४ अन्तर्दाह शैत्य बहि श्वयथुररतिरति तथा श्वास।
अङ्गमपि दग्धकल्प मोऽन्तर्दाहार्दित कथित ॥ आ० वि०

५ अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलाप श्वसनं भ्रम।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रह ॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत्। च० चि० ३

(५) दण्डपात सन्निपात ज्वर के लक्षण[१]

जिस ज्वर मे रोगी को न दिन मे, न रात मे नीद आती हो, वह भ्रमवश आकाश से कोई वस्तु (जो होती नही है) पकडने की चेष्टा करता है और उठकर जैसे कोई लाठी अचानक नीचे गिर जाय, वैसे गिर पडता है तथा भ्रम से व्याकुल होकर चारो ओर घूमता रहता है, उसे **'दण्डपात'** सन्निपात कहते हैं।

(६) अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण[२]

इस ज्वर मे रोगी के समस्त शरीर मे गाँठे निकल आना एव उदर मे वायु भर जाना तथा निरन्तर दम फूलना और वेहोश हो जाना, ये लक्षण होते हैं।

(७) एणीदाह सन्निपात ज्वर के लक्षण[3]

रोगी के शरीर मे अतिशय पीडा होना, शरीर पर सर्प, पक्षी या हरिणो के समूह के दौडने जैसा अनुभव होना, शरीर मे दाह तथा कम्पन होना, ये **'एणीदाह'** सन्निपात के लक्षण हैं।

(८) हारिद्रक सन्निपात ज्वर के लक्षण[४]

जिस ज्वर मे रोगी का शरीर अत्यन्त पीला हो गया हो, आँखें और भी अधिक पीली हो और उनसे भी अधिक पीलापन मल मे हो गया हो, शरीर के भीतर दाह और वाहर ठडक लग रही हो, तो उसे **'हारिद्रक'** सन्निपात जानना चाहिए।

(९) अजघोष सन्निपात ज्वर के लक्षण[५]

इस ज्वर मे रोगी के नेत्र ताम्रवत् लाल हो जाना, शरीर से बकरे के समान गन्ध आना, कन्धो मे पीडा और गलावरोध होना, ये लक्षण होते हैं।

(१०) भूतह्रास सन्निपात ज्वर के लक्षण[६]

इस ज्वर मे रोगी की ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा घ्राण) अपने-अपने विषयो (क्रमश शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्ध) को नही ग्रहण कर पाती हैं और रोगी वे-वजह हँसता रहता है और प्रलाप करता रहता है।

---

१ नक्तन्दिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूढधीर्नभस ।
उत्थाय दण्डपाती भ्रमातुर सर्वतो भ्रमति ॥ आ० वि०

२ सम्पूर्यते शरीर ग्रन्थिभिरभितस्तथोदर मरुता ।
श्वासातुरस्य सतत विचेतनस्यान्तकार्तस्य ॥ आ० वि०

३ परिधावतीव गात्रे रुग् गात्रे भुजगपतङ्गहरिणगण ।
वेपथुमत सदाहस्यैणीदाहज्वरार्तस्य ॥ आ० वि०

४ यस्यातिपीतमङ्ग नयने सुतरा मलस्ततोऽप्यधिकम् ।
दाहोऽतिशीतता बहिरस्य स हारिद्रको ज्ञेय ॥ आ० वि०

५ छगलकसमानगन्ध स्कन्धरुजावान् निरुद्धगलरन्ध्र ।
अजघोषसन्निपातादाताम्राक्ष पुमान् भवति ॥ आ० वि०

६ शब्दादीनधिगच्छति न स्वान् विषयान् यदिन्द्रियग्रामै ।
हसति प्रलपति पुरुष स ज्ञेयो भूतह्रासार्त ॥ आ० वि०

(११) यन्त्रापीड सन्निपात ज्वर के लक्षण[1]

जिस ज्वर मे रोगी को अपना शरीर बार-बार ज्वर के वेग से कोल्हू मे पेरने के समान पीडित होता हो और रक्तसहित पित्त का वमन होता हो, उसे 'यन्त्रापीड' सन्निपात ग्रस्त समझना चाहिए।

(१२) संन्यास सन्निपात ज्वर के लक्षण[2]

सन्यास सन्निपात मे अतीसार और वमन होता है। रोगी अव्यक्त शब्द करता है, बहुत देर तक अपने अगो को इधर-उधर फेंकता रहता है, प्रलाप करता है तथा उसका नेत्रमण्डल देखने मे उग्र हो जाता है।

(१३) संशोषी सन्निपात ज्वर के लक्षण[3]

इस ज्वर मे रोगी को दस्त अधिक लगने से शरीर काला पड जाता है और नेत्र-मण्डल भी काला पड जाता है तथा शरीर मे सफेद फुन्सियो के घेरे बन जाते हैं।

चतुर्थ भेदवाले तन्त्रान्तरीय सन्निपात के लक्षण

(१) शीताङ्ग सन्निपात ज्वर के लक्षण[4]

जिस सन्निपात ज्वर मे रोगी का शरीर बर्फ के समान शीतल हो तथा श्वास, कास, हिचकी, मोह, कम्पन, प्रलाप, थकावट के साथ कफस्राव एव वातप्रकोप, दाह, वमन, अगो मे पीडा और स्वरविकृति हो, उसे 'शीताङ्ग' सन्निपात जानें।

(२) तन्द्रिक सन्निपात ज्वर के लक्षण[5]

जिस ज्वर मे रोगी को अधिक तन्द्रा, प्यास, अतिसार, श्वास, खाँसी, शरीर मे उष्णता, गले मे सूजन तथा खुजली एव कफ हो, जीभ काली हो, थकावट, कानो से कम सुनाई देना और दाह हो, उसे वैद्य लोग त्रिदोषज 'तन्द्रिक' सन्निपात ज्वर कहते हैं।

---

१ येन मुहुर्ज्वरवेगाद् यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम्।
रक्त पित्त च वमेद् यन्त्रापीड स विज्ञेय॥ आ० वि०

२ अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिर नर क्षिपति।
सन्याससन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति॥ आ० वि०

३ मेचकवपुरतिमेचकलोचनयुगलो मलोत्सर्गात्।
सशोषिणि सितपिटकामण्डलयुक्तो ज्वरे नरो भवति॥ आ० वि०

४ हिमशिशिरशरीर सन्निपातज्वरी य, श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापै।
क्लमबहुकफवातैर्दाहवम्यङ्गपीडास्वरविकृतिभिरार्त शीतगात्र स उक्त॥ आ० वि०

५ तन्द्राऽतीव ततस्तृषाऽतिसरणं श्वासोऽधिक कासरुक्
सन्तापाऽतितनुर्गलेश्वयथुना सार्धकञ्च कण्डू कफ।
सुश्यामा रशना क्लम श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा
यत्र स्याद् स हि तन्द्रिको निगदितो दोषत्रयोत्थो ज्वर॥ आ० वि०

(३) प्रलापक सन्निपात ज्वर के लक्षण[1]

जिस ज्वर मे तीनो दोषो के अतिप्रकुपित होने से रोगी अधिक प्रलाप करता हो, सहसा शरीर मे कम्पन, पीडा, उठने मे लडखडाकर गिरना, दाह और अत्यन्त वेहोशी होना, ये सब लक्षण हो तो उसे इस भूमण्डल मे 'प्रलापक' सन्निपात कहते हैं।

(४) रक्तष्ठीवी सन्निपात ज्वर के लक्षण[2]

थूकने पर रक्त निकलना, शरीर मे लाल काले चकत्ते निकलना, आंखो मे लाली, अधिक प्यास, अरुचि, वमन, श्वास, अतिसार, भ्रम, उदर मे वायु भरना, वेहोशी, उठने मे गिर पडना, हिचकी, अगो में अतिशय पीडा होना, ये 'रक्तष्ठीवी' सन्निपात ज्वर के लक्षण हैं।

(५) भुग्ननेत्र सन्निपात ज्वर के लक्षण[3]

जिस सन्निपात ज्वर मे रोगी के नेत्रो मे टेढापन हो एव श्वास, खाँसी, तन्द्रा, अधिक प्रलाप, मद, कम्पन, वहरापन तथा मोह हो, उसे 'भुग्ननेत्र' कहते हैं।

(६) अभिन्यास सन्निपात ज्वर के लक्षण[4]

जिस सन्निपात ज्वर मे वातादि तीनो दोष अत्यन्त प्रकुपित तथा बलवान् हो एवं रोगी में अधिक मोह, निश्चेष्टता, श्वास, मूकता, दाह, मुख पर चिकनाहट, अग्निमान्द्य एवं निर्वलता, ये लक्षण हो, उसे 'अभिन्यास' सन्निपात कहते हैं।

(७) जिह्वक सन्निपात ज्वर के लक्षण[5]

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी की जिह्वा मे अत्यन्त कठिन कांटे पड जायें तथा

---

[1] यत्र ज्वरे निखिलदोषनितान्तरोषजाते प्रलापबहुला सहसोत्थिताश्च।
कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञता स्युर्नाम्ना प्रलापक इति प्रथित पृथिव्याम् ॥ आ० वि०

[2] निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलं
लौहित्य नयने तृषाऽरुचिवमिश्वासातिसारभ्रमा ।
आध्मानं च विसंज्ञता च पतनं हिक्काऽङ्गपीडा भृशं
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते ॥ आ० वि०

[3] भृश नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्रा भृशं
प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा ।
पुरा निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्गं ज्वरे
पुरातनचिकित्सकै स इह भुग्ननेत्रो मत ॥ आ० वि०

[4] दोष स्तीव्रतरा भवन्ति बलिन सर्वेऽपि यत्र ज्वरे
मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृश मूकता ।
दाहश्चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षय
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्तित इह प्राचीनैर्भिषग्भि पुरा ॥

[5] त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृश
वृत्ता कठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता ।
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकाससन्तप्तता
पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वकं चक्षते ॥ आ० वि०

उसकी जबान बन्द हो जाय, वह बहरा हो जाय, बलहीन हो जाय, श्वास, खाँसी तथा शरीर में तापाधिक्य हो, तो उसे 'जिह्वक' सन्निपात कहते हैं।

(८) सन्धिग सन्निपात ज्वर के लक्षण[1]

जिस ज्वर में सन्धियों में अतिशय पीडा और शोथ हो, मुख में कफाधिक्य हो जाता हो, नींद न आती हो तथा खाँसी आती रहती हो, उसे 'सन्धिग' सन्निपात कहते हैं।

(९) अन्तक सन्निपात ज्वर के लक्षण[2]

जिस ज्वर में रोगी लगातार शिर हिलाता रहे, सर्वाङ्ग में पीडा हो, खाँसी, हिचकी, श्वास, दाह, मोह देह में अत्यन्त सन्ताप, विकलता और व्यर्थ बोलते रहना, ये सब लक्षण हों, उसे 'अन्तक' सन्निपात कहते हैं।

(१०) रुग्दाह सन्निपात ज्वर के लक्षण[3]

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी को अधिक दाह तथा प्यास हो एव श्वास, प्रलाप, विपरीत रुचि, भ्रम, मोह, अंगों में पीडा, मन्या तथा हनु में अधिक वेदना, कण्ठ में पीडा, थकावट, ये सब लक्षण हो रहे हों, उसे रुग्दाह सन्निपात ज्वर जानना चाहिए।

(११) चित्तविभ्रम सन्निपात ज्वर के लक्षण[4]

जिस ज्वर में रोगी गाना गाता है, नाचता है, हँसता है, प्रलाप करता है, विकृत ढग से देखता है, दाह, पीडा तथा भय से व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है, उसे 'चित्तविभ्रम' सन्निपात जानना चाहिए।

(१२) कर्णिक सन्निपात ज्वर के लक्षण[5]

जिस त्रिदोषज ज्वर में कर्णमूल में शोथ और पीडा हो, कण्ठ में अवरोध, श्वास, प्रलाप, अधिक पसीना निकलना, मोह तथा दाह होता हो, तो उसे 'कर्णिक' सन्निपात कहते हैं।

---

१ व्यथाऽतिशयिता भवेच्छ्वयथुसयुता सन्धिषु
प्रभूनकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक्।
समस्तमिति कीर्तित भवति लक्ष्म यत्र ज्वरे
त्रिदोपजनिते बुधे स हि निगद्यते सन्धिग. ॥ आ० वि०

२ यस्मिँल्लक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीते ज्वरे-
ऽजस्त्र मूर्धविधूनन सकसन सर्वाङ्गपीडाऽधिका।
हिक्काकासमदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता
वैकल्यञ्च वृथा वचासि, मुनिभि सङ्कीर्तित. सोऽन्तक ॥ आ० वि०

३ दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा श्वासप्रलापविरुचिभ्रममोहपीडा.।
मन्याहनुव्यथनकण्ठरुज श्रमश्च रुग्दाहसज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥ आ० वि०

४ गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्येत्।
दाहव्यथाभयार्तो नरस्तु चित्तभ्रमे ज्वरे भवति ॥ आ० वि०

५. दोपत्रयेण जनित किल कर्णमूले तीव्रा ज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च।
कण्ठग्रहो बधिरता श्वसन प्रलाप. प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णिकाख्ये ॥ आ० वि०

(१३) कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर के लक्षण[1]

जिस ज्वर मे रोगी का कण्ठ सैकडो धान आदि के शूको (टूडो) से आवृत जैसा प्रतीत होता हो तथा अधिक श्वास, प्रलाप, अरुचि, दाह, शरीर मे पीडा, प्यास, हनुस्तम्भ, शिर शूल, मोह और कम्पन होना, ये सब लक्षण हो, उसे कण्ठकुब्ज सन्निपात कहते हैं।

सन्निपात ज्वरो का सापेक्ष निदान

विभेदक लक्षण

१ वातोल्वण (विस्फारक) मे १ पार्श्ववेदना २ जृम्भा ३ कषायास्यता।

२ पित्तोल्वण (आशुकारी) मे १ मुखपाक २ लाल दाने निकलना ३ दाह।

३ कफोल्वण (कम्पन) मे १ टूटी वाणी २ रात्रि निद्रा ३ मुखमाधुर्य।

४ वातपित्तोल्वण (बभ्रु) मे १. मुखशोष २ आध्मान ३ भ्रम।

५ वातकफोल्वण (शीघ्रकारी) मे १ शीतज्वर २ दवथु ३ पार्श्वग्रह ४. अस्वेद।

६ पित्तकफोल्वण (भल्लु) मे १ दक्षिण पार्श्वशूल २ उरोग्रह ३ गलग्रह ४. कफपित्त निर्गम कृच्छ्रता।

७. हीनवात-मध्यपित्त-कफाधिक (वैदारिक) मे उछ्वास की अधिकता।

८ हीनवात-मध्यकफ-पित्ताधिक (याम्य) मे पक्षाघात।

९ हीनपित्त-मध्यकफ-वाताधिक (क्रकच) मे १ रक्तनेत्रता २ स्तब्धनेत्रता ३. शरीर-छिद्रो से रक्तनिर्गम।

१० हीनपित्त-मध्यवात-कफाधिक (कर्कटक) मे १ हृद्दाह २ यकृत् प्लीहा पाक ३ ऊर्ध्वाध रक्तपूयनिर्गम ४ शीर्णदन्तता।

११. हीनकफ-मध्यपित्त वाताधिक (सम्मोहक) मे १ मोह २. मूर्च्छा।

१२. हीनकफ-मध्यवात-पित्ताधिक (पालक) में १ मुख मे रक्ताभा २ वक्ष मे कफप्रस्तता।

१३ सर्वदोषोल्वण (कूटपालक) मे क्षण मे दाह, क्षण मे शीत आदि पचीसो लक्षण पूर्वकथित के अनुसार।

सन्निपात ज्वर-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

सन्निपात ज्वर दो प्रकार का होता है—१ विषम सन्निपातज्वर और २. सम-सन्निपातज्वर।

---

१. कण्ठ शूकशतावरुद्धवदतिश्वास प्रलापोऽरुचि-
दाहो देहरुजा तृषाऽपि च हनुस्तम्भ शिरोऽर्तिस्तथा।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे
यत्र स्यात् स हि कण्ठकुब्ज उदित. प्राच्यैश्चिकित्साबुधै ॥ आ० वि०

सन्निपात ज्वर
├── विषमसन्निपातज्वर
└── समसन्निपातज्वर

(१) विषम सन्निपात ज्वर का चिकित्सा-सूत्र

यह विषम रूप से बढे हुए दोषो से होता है। जैसे—हीन, मध्य तथा अधिक और वृद्ध, वृद्धतर एव वृद्धतम दोष ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

ऐसे विषमसन्निपातारब्ध ज्वर मे, एक दोष को बढाना और वृद्धतर तथा वृद्धतम दो दोषो को घटाना चाहिए। इसमें दोषो की उल्बणता के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। जो दोष[1] हीन हो, उसे बढाकर तथा जो दोष बढा हो, उसे घटाकर दोषो को एक समान स्थिति मे लाकर चिकित्सा करनी चाहिए। क्योकि दोषो के समान भाव में हो जाने पर ज्वरनाशक औषधो का प्रभाव ठीक होता है। जैसे—

(१) सन्निपात ज्वर मे, जब वात वृद्धतम, पित्त वृद्धतर और कफ वृद्ध हो, तो वात पित्त को घटाकर एव कफ को बढ़ाकर, तीनो दोषो को सम अनुपात में लाना चाहिए और तब सन्निपात ज्वर की समुचित चिकित्सा करनी चाहिए। इस स्थिति मे स्निग्ध-शीत मधुर ज्वरनाशक औषध का सेवन करने पर वृद्धतम वात की कमी होगी, पित्त का प्रशमन होगा और कफ की कुछ अंश मे वृद्धि होगी, जिससे तीनों दोष समान स्थिति में हो जायेंगे और तब फिर सन्निपातज्वरघ्न औषध का प्रयोग ज्वर को शान्त करने मे सफल होगा।

(२) इसी तरह वातहीन, पित्तमध्य, कफवृद्ध सन्निपात ज्वर मे, शीत-रूक्ष एव लघु गुणयुक्त औषध द्रव्यो का जब प्रयोग किया जाता है, तब वात की वृद्धि होकर, पित्त तथा कफ का क्षय होकर, दोषो की समान अवस्था हो जाने पर ज्वरघ्न औषधो का समुचित प्रभाव होता है।

(३) पित्तहीन, वातमध्य, कफवृद्ध सन्निपात ज्वर मे तीक्ष्ण-उष्ण-कटु रसयुक्त ज्वरघ्न द्रव्यों के प्रयोग से पित्त की वृद्धि एव वात तथा कफ का ह्रास करके चिकित्सा करनी चाहिए।

इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिए, कि जब तक दोष समान मान मे नहीं होगे, तब तक ज्वरनाशक औषधो का ठीक-ठीक असर नही होगा।

(२) सम सन्निपातज्वर का चिकित्सा-सूत्र

१ यह वात-पित्त-कफ के समान रूप से प्रकुपित होने से होता है। इसलिए इसकी चिकित्सा मे ऐसी औषधो का प्रयोग करना चाहिए, जो सभी दोषो को शान्त करने मे समान रूप से कार्यकारी हो।

२. समवृद्ध दोषो से होने वाले सन्निपात ज्वर मे कफस्थानानुपूर्वी चिकित्सा

---

१ वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च। चरक० चि०

करनी चाहिए अर्थात् कफदोष तथा ज्वरजनक स्थान आमाशय के अनुसार (जिससे कफ एवं आमाशय इन दोनो का शोधन हो जाये ऐसी) चिकित्सा करनी चाहिए।[1]

३. आचार्य भेल के अनुसार सम सन्निपात ज्वर मे पहले आम और कफ, इन दोनो को नष्ट करनेवाली चिकित्सा करनी चाहिए। कफ तथा आमदोष के क्षीण हो जाने पर पित्त तथा वायु का शमन करना चाहिए।[2]

४. अन्यत्र भी समवृद्ध सन्निपात ज्वर मे प्रथमत कफ की ही चिकित्सा करने का निर्देश है—'श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद् व्याधौ त्रिदोषजे'।

५ आचार्य सुश्रुत[3] ने उक्त मत से भिन्न मत प्रकट किया है, कि 'सन्निपात ज्वर मे सबसे पहले पित्त का शमन करना चाहिए, क्योकि ज्वर से सपीडित रोगी के पित्त का शमन करना कठिनतर होता है।'

सुश्रुत के इस कथन के समर्थन मे कतिपय विद्वान् चरक के 'कफस्थानानुपूर्व्या वा'[4] का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'कफस्य स्थान स्थान यस्य तस्य आनुपूर्व्या' अर्थात् कफ का स्थान (आमाशय) जिनका स्थान है, ऐसे पित्त की पहले चिकित्सा करनी चाहिए ?[5]

६. इस प्रकार चरक के अनुसार प्रथम कफ और आमाशय की चिकित्सा तथा सुश्रुत के अनुसार प्रथम पित्त की चिकित्सा का सिद्धान्त, पृथक् पृथक् दृष्टिकोण से अपनाया गया प्रतीत होता है। एवञ्च सुश्रुत का मत[6] जीर्णसन्निपात ज्वर की चिकित्सा से है और चरक का मत नवीन सन्निपात ज्वर की चिकित्सा से है।

७. सन्निपात ज्वर मे जब अत्यधिक सताप हो, तो सबसे पहले सताप को शान्त करने का उपचार करना चाहिए। ज्वर की ही तरह अतिसार की उग्रावस्था मे भी पित्त के शमन का ही उपदेश दिया गया है।[7]

समसन्निपात ज्वरो में चिकित्साक्रम

समत्रिदोषज सन्निपात ज्वरो मे सबसे पहले आम तथा कफ से सम्बद्ध विकारो

---

१. कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्। च० नि० ३।२८७

२ सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्।
पश्चाच्छ्लेष्मणि सङ्क्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ॥

३ शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु।
दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषत॥ सु० नि० अ० ३९

४ चरक नि० अ० ३।२८७

५ अन्ये तु कफस्थानमामाशयरूप स्थानं यस्य तत् कफस्थानं पित्तमिति पश्चात्तदर्लोपाद् उष्ट्रमुखवद् बहुव्रीहिं वदन्ति, ततश्च पित्तानुपूर्व्या जयेदित्यर्थं। च० नि० ३।२८७ पर चक्रपाणि।

६ सुश्रुतवचनं हि जीर्णत्रिदोषाभिप्रायेण ज्ञेयम्, एतच्च प्रथमोत्पन्नसन्निपातज्वरचिकित्सित कफस्थानानुपूर्व्या ज्ञेयम्। च० नि० ३।२८७ पर चक्रपाणि।

७ समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥

को दूर करने के लिए—१ लघन, २ वालुकास्वेद, ३. नस्य, ४. निष्ठीवन ५ अवलेह और ६ अजन का यथोचित रूप से प्रयोग करना चाहिए।[१]

१ ज्वर मे आमदोष के कारण स्रोतो में रुकावट उत्पन्न हो जाती है, अत सर्वप्रथम लघन कराना चाहिए, जिससे आम न बने और शरीरस्थ आम का पाचन हो जावे।

२ आमपाचनार्थ सोंठ-मरिच-पीपर के समभाग का चूर्ण खिलाना चाहिए।

३ यदि कफ के जमने से वक्ष स्थल मे जकडाहट हो, तो हल्का सेंक करना चाहिए।

४. शिर मे भारीपन और स्तब्धता हो, तो नस्य देना चाहिए।

५ यदि कण्ठ मे कफ जकडा हो, तो ऐसी औषध देवे, जिससे वार-वार थूकने की प्रवृत्ति हो और कफ ढीला होकर निकल जावे।

४ यदि कफ सूख गया हो, तो उसे ढीला करके निकालने के लिए अवलेह या चटनी जैसी चीज चटाना चाहिए।

७. यदि रोगी की चेतना लुप्त हो जाती हो और उसे वेहोशी होती हो, तो उसके नेत्रो मे अजन लगाना चाहिए, जिससे उसकी वेहोशी या तन्द्रा दूर हो जाय।

(१) लघन

लघन शब्द के दो अर्थ लिये जाते हैं—१. उपवास और २ लघुभोजन। लघन की अवधि दोषानुसार होती है।[२] जैसे—

वाताधिक सन्निपात ज्वर मे ३ दिन उपवास करावे।
पित्ताधिक ,, ५ दिन ,, ।
कफाधिक ,, १० दिन ,, ।

अथवा—जब तक आम का पाचन न हो जाय, तब तक लघन करावे।

(२) स्वेदन

१ स्वेदन से शरीर के रसवहस्रोत और स्वेदवहस्रोत खुल जाते हैं।
२ ,, ,, शरीर मे पसीना होता है और कफ क्षीण हो जाता है।
३ ,, ,, शरीर के भीतरी विष पसीने द्वारा वाहर निकल जाते हैं।
४ ,, ,, शरीर का ताप कम हो जाता है एव शरीर हल्का हो जाता है।
५ उक्त लाभ की दृष्टि से पुन स्वेदन करना चाहिए।
६ कफोल्वण या वातकफोल्वण सन्निपात मे स्वेदनकर्म विशेष लाभप्रद होता है।

---

१ लङ्घन वालुकास्वेदो नस्य निष्ठीवनं तथा।
अवलेहोऽञ्जनं चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे॥ भै० र०

२ त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथाऽपि वा।
लङ्घनं सन्निपातेषु कुर्यादारोग्यदर्शनात्॥ आ० वि०

(६) अञ्जन

जब रोगी को तन्द्रा, बेहोशी या मूर्च्छा आती हो, तो नेत्रो मे शिरीषाञ्जन का प्रयोग करना चाहिए।

योग—शिरीष का बीज, पीपर, कालीमिर्च, सेंधानमक, छिल्का रहित लहसुन, शुद्ध मैनसिल और वच, इनको समान भाग मे लेकर पीसकर जव के आकार की वर्ती बनावे तथा आवश्यक होने पर पानी मे घिसकर आँखो मे लगावे।

सन्निपात ज्वर मे निषिद्ध—

१ काँपते हुए तथा प्रलाप करते हुए सन्निपात ज्वर के रोगी को घृत अथवा मास आदि बृहण द्रव्य नही देना चाहिए।

२ सन्निपात ज्वर के रोगी को यदि दाह मालूम हो रहा हो और प्यास की अधिकता हो, तब भी उसे शीतल जल नही देना चाहिए।[1]

आवस्थिक चिकित्सा

(१) शिरोगौरव

दस वर्ष का पुराना घी (या जितने वर्ष का पुराना मिल सके) लेकर उसमें कपूर मिलाकर शिर और ललाट पर लगाना चाहिए।

(२) शिरःशूल

हिमांशु या हिमसागर या षड्बिन्दु तेल शिर पर तथा हाथ-पैर के तलवे पर लगाना चाहिए।

(३) प्रलाप मे

अण्डे की जर्दी का शिर पर लेप करना चाहिए।

(४) कास-श्वास और पार्श्वशूल मे

१ विधिवत् बनाये हुए दशमूल क्वाथ मे पीपर का चूर्ण १–२ ग्राम मिलाकर, पिलाना चाहिए। अथवा —

२ दशमूल की दस औषधो के साथ चिरायता, नागरमोथा, गुरुच और सोंठ, समभाग मिलाकर क्वाथ बनाकर उचित मात्रा मे पिलावे। या—

३ यदि रोगी को विबन्ध भी हो, तो उक्त क्वाथ मे निशोथ का चूर्ण ३–४ ग्राम मिलाकर पिलाना चाहिए। यह चतुर्दशाङ्गक्वाथ (भै० र०) है। या—

४ दशमूल के दस द्रव्य, कचूर, काकडासिंगी, पुष्करमूल, यवासा, भारगी, इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी, इन १८ द्रव्यो को सम भाग मे लेकर क्वाथ कर

---

१ सन्निपाते प्रकम्पन्त प्रलपन्त न बृंहयेत्।
तृष्णादाहाभिभूतेषु न दद्यात् शीतलं जलम्॥ भै० र०

५० मि० ली० की मात्रा में आवश्यकतानुसार पिलावें। यह खांसी, श्वास, पसली के दर्द और विबन्ध की उत्तम औषध है। यह अष्टादशाङ्गक्वाथ (भै० र०) है।

(५) तन्द्रा, प्रलाप और कास में

चिरायता, देवदारु, सोंठ, नागरमोथा, कुटकी, धनिया, इन्द्रजौ, गजपीपर और दशमूल के इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर सबेरे शाम पिलावें। यह भूनिम्बादि अष्टादशाङ्ग क्वाथ (भै० र०) है।

(६) वातोल्बण सन्निपात में

वृहत् पञ्चमूल (बेल की छाल, अरणी की छाल, पाढल की छाल, गम्भार की छाल और सोनापाठा की छाल) का क्वाथ बनाकर ५० मि० ली० की मात्रा में दिन में ३ बार पिलावें। रोगी के बल के अनुसार इसे अति उष्ण या सुखोष्ण या कम या अधिक मात्रा में देना चाहिए।

रसप्रयोग—

दिन में ४ बार, ३–३ घण्टे पर
वेताल रस ५०० मि० ग्रा०
त्रैलोक्यचिन्तामणि ५०० मि० ग्रा०
योग ८ मात्रा
आर्द्रक स्वरस और मधु से।

नाडीशैथिल्य और प्रलाप में—

दिन में २ बार
वृहत् कस्तूरीभैरव ५०० मि० ग्रा०
योगेन्द्र रस ५०० मि० ग्रा०
[illegible]चतुर्मुख ५०० मि० ग्रा०
योग ४ मात्रा
मीठा पान रस १ ग्राम और मधु से।

(७) पित्तोल्बण सन्निपात में

१ लालचन्दन बुरादा, पित्तपापड़ा, खस, सुगन्धबाला, नागरमोथा, कमल के फूल, कमलदण्ड, सौंफ, धनिया, पद्माख और आंवले के समभाग का क्वाथ ५० मि० ली० की मात्रा में दिन में २ बार दें। अथवा—

२ फालसा के फल या पत्ते, आंवला, हर्रे, बहेड़ा, देवदारु का बुरादा, कायफल, लालचन्दन चूर्ण, पद्मकाठ, कुटकी और पिठवन के समभाग का क्वाथ, रोगी के बलानुसार उचित मात्रा में पिलाने से दाहज्वर शान्त हो जाता है। तथा—

दिन मे ४ वार—
सौभाग्य वटी १ ग्राम
मुक्तापिष्टी २५० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी ५०० मि० ग्रा०
योग ४ मात्रा
वडी लायची के २५० मि० ग्रा० चूर्ण और मधु से।

आवश्यकतानुसार प्रवालभस्म, प्रवालपचामृत, अकीकपिष्टी, जहरमोहरा पिष्टी, गूडूची सत्त्व और गोदन्ती भस्म का यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए।

(८) कफोल्वण सन्निपात मे

छोटी कटेरी, वडी कटेरी, पुष्करमूल, भारगी, कचूर, काकडासिगी, दुरालभा (यवासा), इन्द्रजौ, परवल की पत्ती और कुटकी का क्वाथ सन्निपात ज्वर के कास, श्वास, पार्श्वशूल, हृद्ग्रह आदि उपद्रवो का शमन करता है। यह बृहत्यादि क्वाथ (भै० र०) है।

दिन में ४ वार—
महालक्ष्मीविलास ५०० मि० ग्रा०
मकरध्वज ५०० मि० ग्रा०
शुद्ध टकण १ ग्राम
योग ४ मात्रा
आर्द्रक स्वरस तथा मधु से।

अथवा—

दिन में ४ वार—
शृगाराभ्र २५० मि० ग्रा०
शुद्ध टकण ५०० मि० ग्रा०
त्रिभुवनकीर्ति ५०० मि० ग्रा०
कफकेतु रस ५०० मि० ग्रा०
योग ४ मात्रा
काकडासिगी के १ ग्राम चूर्ण और मधु मे।

(९) वातपित्तोल्वण सन्निपात मे

१ सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी और गोखरु का क्वाथ, दिन मे ३ वार ५० मि० ली० की मात्रा मे पिलाना चाहिए। यह वाताधिक्य मे उपयोगी है।

२ पित्ताधिक्य मे गुरुच, पित्तपापडा, नागरमोथा, चिरायता और सोठ, इनका क्वाथ ५० मि० ली० की मात्रा मे दिन ३ वार पिलावे।

(१०) पित्तश्लेष्मोल्वण सन्निपात मे

१ पित्तपापडा, लालचन्दन बुरादा, सुगन्धवाला और सोठ का ५० मि० ग्रा० क्वाथ दिन मे ३ वार पिलावे। यह पर्पटादि क्वाथ है। अथवा—

२ रात मे ९ बजे
निद्रोदय रस १२० मि० ग्रा०
सर्पगन्धा वटी ५०० मि० ग्रा०
१ मात्रा
मधु से ।

(१४) हृदयसरक्षणार्थ

दिन में ४ वार
हृदयार्णव रस ५०० मि० ग्रा०
मधु से । योग ४ मात्रा
या—
दिन मे ४ वार
महालक्ष्मीविलास ५०० मि० ग्रा०
मधु से । योग ४ मात्रा

अष्टादशाङ्ग क्वाथ, चिन्तामणि रस, अकीक भस्म और जवाहरमोहरा का यथोचित प्रयोग करना चाहिए ।

(१५) मूर्च्छा मे

दिन मे ३ वार
मूर्च्छान्तिक रस ३७५ मि० ग्रा०
मधु से । योग ३ मात्रा
या—
हेमगर्भपोट्टली रस २५० मि० ग्रा०
योग २ मात्रा
प्रात -साय मधु से दे ।

नस्यार्थ—कट्फल की छाल का चूर्ण, बडी पीपर का चूर्ण या श्वासकुठार रस के नस्य से बेहोशी दूर हो जाती है ।

(१६) कफवृद्धि, हिक्का तथा वमन मे

अष्टाङ्गावलेहिका, हिक्कान्तक रस और सूतशेखर रस का यथायोग्य प्रयोग करे ।

(१७) पार्श्व मे लीन और विष्टब्ध कफ मे

जब वायु या पित्त कफ को सुखा देते हैं, तो वह पार्श्वों मे शल्य के समान पीडा देने लगता है, अत उसे तीक्ष्ण नस्य, कवल-धारण या स्वेद से ढीला कर निकालना चाहिए । इसके लिए कट्फल की छाल के चूर्ण का या सैंधानमक-पागानमक-कालानमक

२ तन्द्रिक सन्निपात ज्वर

इसमे निम्न क्वाथ, नस्य तथा अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए—

१ **क्वाथ**—छोटी कटेरी, गुरुच, पुष्करमूल, सोठ और हर्रे को समभाग लेकर क्वाथ कर पिलाना चाहिए।

२ **नस्य**—सोठ-मरिच-पीपर के चूर्ण मे अगस्त के फूल के स्वरस की भावना देकर शीशी मे रख ले और इसको सूँघने के लिए प्रयोग करे।

३ **अञ्जन**—सेंधानमक, कपूर, पीपर, मधु और घोडे की लार समभाग लेकर, सूक्ष्म बारीक पीसकर अञ्जन बनाकर सुरक्षित रख ले। इसके लगाने से तन्द्रा दूर होती है।

३ प्रलापक सन्निपात ज्वर

तीव्र सन्निपात ज्वर के वेग मे रोगी असम्बद्ध बोलता है, अनाप-शनाप बकता है, चिल्लाता है और बिस्तर से भागता है। इस स्थिति मे तगरादि क्वाथ शीघ्र लाभकारी एवं प्रभावशाली औषध है।

योग—तगर, पित्तपापडा, अमलतास, नागरमोथा, कुटकी, लामज्जक (खश), असगन्ध, ब्राह्मी, मुनक्का, श्वेतचन्दन, शङ्खपुष्पी और दशमूल की १० औषधे, इन्हें समभाग लेकर क्वाथ बनाकर पिलाना चाहिए।

रस-प्रयोग—

दिन मे ४ बार

सौभाग्य वटी	५०० मि० ग्रा०
योगेन्द्ररस	२५० मि० ग्रा०
मुक्तापिष्टी	२५० मि० ग्रा०
चतुर्भुज	२५० मि० ग्रा०
	योग ४ मात्रा

ब्राह्मी स्वरस और मधु से।

४ रक्तष्ठीवी सन्निपात ज्वर

जब थूक और खाँसी मे रक्त आता हो तो निम्न औषधो का प्रयोग करे—

१ **रोहिषादि क्वाथ**—रोहिष घास, अरूस, पित्तपापडा, फूलप्रियगु और कुटकी, समभाग का क्वाथ चीनी मिलाकर, दिन मे ३ बार ५० मि० ली० की मात्रा मे दे। अथवा—

२ **पद्मकादि क्वाथ**—पद्मकाठ, लालचन्दन बुरादा, पित्तपापडा, नागरमोथा, चमेली के फूल, जीवक, सफेद चन्दन, सुगन्धबाला, मुलहठी और नीम की पत्ती के सम भाग का क्वाथ ५० मि० ग्रा० की मात्रा मे दिन मे ३ बार पिलाना चाहिए।

३ शमन प्रयोग—

दिन मे चार बार

रक्तपित्तकुलकण्डन	५०० मि० ग्रा०
शुद्ध स्वर्णगैरिक	१ ग्राम
बोलपर्पटी	१ ग्राम
लाक्षा चूर्ण	२ ग्राम

योग ४ मात्रा-

वासा स्वरस और मधु से।

५ भुग्ननेत्र सन्निपात ज्वर

इसमें रोगी के नेत्र आधे खुले रहते हैं और वह बेहोश पडा रहता है। उसे होश में लाने के लिए नस्य का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

अश्वगन्धादि नस्य—असगन्ध, सेंधानमक, वच, काली मरिच, पीपर, सोठ और लहसुन को महुए की शराब तथा बकरे के मूत्र के साथ पीसकर कपड़े की पोटली मे रखकर नाक मे टपकाना चाहिए।

६ अभिन्यास सन्निपात ज्वर

इसमे कारव्यादि क्वाथ तथा शृग्यादि क्वाथ का प्रयोग उत्तम लाभकर होता है।

१ **कारव्यादि क्वाथ**—कलौंजी (मगरैला), पुष्करमूल, एरण्ड का मूल, त्रायमाणा, सोठ, गुरुच और दशमूल के १० द्रव्य, कचूर, काकडासिंगी, यवासा, भारगी, और गदहपुर्ना, इन सबको समभाग लेकर, विधिवत् क्वाथ बनाकर दिन मे ३ बार पिलावे।

२ **शृग्यादि क्वाथ**—काकडासिंगी, भारगी, हर्रे, स्याहजीरा, चिरायता, पित्त-पापडा, देवदारु, वच, कूठ, जवासा, कायफल, वायविडग, हल्दी, दारुहल्दी और अजवायन, इन सबको समभाग लेकर क्वाथ कर प्रयोग करे।

७ जिह्वक सन्निपात ज्वर

इसमे विषमयता के कारण रोगी की जिह्वा की पेशियाँ स्तब्ध हो जाती हैं। रोगी जीभ को बाहर नही निकाल पाता और कुछ भी निगल नही पाता है।

इसमे किरातादि क्वाथ का कवल धारण करना चाहिए।

१ **योग**—चिरायता, कुटकी, पीपर, कुरैया की छाल, कण्टकारीमूल, कचूर, बहेडा, देवदारु, मरिच, कायफल, अतीस, नागरमोथा, आंवला, पुष्करमूल, चित्रक, काकडासिंगी, अरुस और सोठ के क्वाथ को मुख मे धारण करना चाहिए।

२ **विश्वादि क्वाथ**—सोठ, गनियार, गम्भार, सोनापाठा और पाढल की जडो की छाल, गुरुच, आंवला और धनियाँ, इनके समभाग का क्वाथ पिलाना चाहिए।

३ **क्षुद्रादि क्वाथ**—छोटी कटेरी, गुरुच, सोठ और पुष्करमूल का क्वाथ पिलाना लाभप्रद है।

८ सन्धिक सन्निपात ज्वर

इसमे सन्धियो में तीव्र पीडा, जाँघो मे जडता, मन्यास्तम्भ आदि उपद्रव हो हो जाते हैं। इसमें बचादि क्वाथ का प्रयोग हितकारक होता है।

बचादि क्वाथ—वच, पित्तपापड़ा, यवासा, सैरेयक (कटसरैया), गुरुच, अतीस, देवदारु, नागरमोथा, सोठ, विधारा, रास्ना, गुग्गुलु, बडी दन्ती, एरण्डमूल की छाल और शतावर का क्वाथ पिलाने से सन्धिक सन्निपात ज्वर नष्ट होता है।

९ अन्तक सन्निपात ज्वर

यह सन्निपातज्वर प्राणनाशक होता है, अत इसमें कोई चिकित्सा लाभप्रद नहीं होती। इसमे भगवदाराधन का ही सहारा है—

भेषज जाह्नवीतोय वैद्यो नारायणो हरि ।

१०. रुग्दाह सन्निपात ज्वर

इसमे षडङ्गपानीय पिलाना, लेप करना तथा शीत जलावगाहन लाभप्रद होता है।

षडङ्गपानीय—खस, लालचन्दन बुरादा, सुगन्धबाला, मुनक्का, आँवला और पित्तपापडा के मोटे चूर्ण को लेकर ३ लीटर पानी मे औटायें, जब आधा बच जाय तो छानकर पिलाना चाहिए।

लेप—१ बेर की पत्तियाँ दही के साथ पीसकर ललाट और हाथ-पैर के तलवो पर लेप करे। अथवा—

२ कपूर, सफेद चन्दन धूरा और नीम की पत्तियाँ मट्ठे मे पीसकर लेप करे। अथवा—

३ नीम की पत्तियो को किसी पात्र मे (भगौना, परात या कठवत मे) रखकर थोडा पानी डालकर दोनो हाथो से मले और उसमे जो फेन उठे, उसको ललाट, हाथ-पैर आदि मे लेप करने से दाह शान्त हो जाता है।

११. चित्तविभ्रम सन्निपात ज्वर

इसमे रोगी की चेतना लुप्त हो जाती है, वह पूर्वपरिचित जनो को नही पहचानता है, शिर शूल, स्मृतिनाश और नेत्र-पीडा से व्याकुल रहता है। उसे बेहोशी और चक्कर आता है।

इसमे अञ्जन लगाने से लाभ होता है।

प्रचेता नाम गुटिका—पीपर, कालीमरिच, वच, सेंधानमक, करञ्जबीज, धतूरे का फल, आँवला, हर्रा, बहेडा, सरसो, हीग और सोठ, इनके समभाग चूर्ण को लेकर, बकरी के मूत्र मे पीसकर, यव के आकार की गुटिका बनावे। इसके अञ्जन से रोगी की बेहोशी दूर होकर चेतना आ जाती है।

१२ कर्णग्रह (कर्णिक) सन्निपात ज्वर

इसमे कान के मूल मे शोथ हो जाना विशेष लक्षण है। इसमे सन्निपात ज्वर की आभ्यन्तर औषधो के प्रयोग के साथ ही शोथ स्थल पर लेप आदि लगाकर ग्रन्थि का भेदन करे और उसके बाद व्रण की तरह उपचार करे।

१ **कुलत्थादि लेप**—कुलथी, कट्फल, सोठ और मगरैला को समभाग लेकर, पीसकर, दिन मे ३ बार सुखोष्ण लेप करे। इससे शोथ फट जाता है। अथवा—

२. **हिंग्वादि लेप**—हीग, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रायण की जड, सेंधानमक, देवदारु का बुरादा, कूठ और मदार का दूध सभी एक साथ पीसकर, गरम कर, शोथ पर लेप करना चाहिए। या—

३ **अर्कादि लेप**—मदार का दूध, भिलावा, चित्रक की जड, गुड, दन्ती की जड, कूठ, हीराकसीस, इन्हें पीसकर लेप करे। अथवा—

४ **दशाङ्ग लेप**—सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लालचन्दन, छोटी इलायची, जटामासी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ, नेत्रवाला तथा खश, समभाग लेकर चूर्णकर सुखोष्ण कर लेप लगावे।

५ **अतस्यादि लेप**—तीसी को पीसकर, गरम कर सुखोष्ण लेप लगाने से शोथ पककर व्रण बन जाता है, तब व्रण की तरह उसका उपचार करना चाहिए। या—

६ **जलौका प्रयोग**—कान के मूल मे शोथ के स्थान पर जोक लगाकर रक्त को निकाल देने से शोथ का शमन हो जाता है।

१३ कण्ठकुब्ज सन्निपात ज्वर

इसमें रोगी मूक हो जाता है। इसमे फलत्रिकादि क्वाथ पिलाना लाभप्रद है।

१ **फलत्रिकादि क्वाथ**—आंवला, हर्रा, बहेडा, सोठ, मरिच, पीपर, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, अरुस और हल्दी, इनके समभाग का क्वाथ प्रात-साय पिलाना चाहिए।

२ अष्टाङ्गावलेहिका (भै० र०) आदी के रस और मधु के साथ बार-बार चटाना चाहिए।

सन्निपात ज्वर मे उपयोगी प्रमुख औषधें

१	शीताङ्ग सन्निपात ज्वर	महामृत्युञ्जय रस, सूतराज रस, मल्लसिन्दूर, कालकूट रस, अचिन्त्य शक्ति रस।
२.	तन्द्रिक ,,	सूचिकाभरण, हेमगर्भपोट्टली रस, श्वासकुठार।
३	प्रलापक ,,	कस्तूरीभैरव रस, निद्रोदय रस, ब्राह्मी वटी, महावातविध्वसन रस, तगरादि कषाय।
४	रक्तष्ठीवी सन्निपात ज्वर	सूतशेखर, कामदुधा रस, प्रवालपचामृत, प्रवालपिष्टी, स्फुटिका भस्म, शुद्ध गैरिक, अरुसपत्र स्वरस, लाक्षाचूर्ण।

५. भुग्ननेत्र सन्निपात ज्वर	प्रचेता गुटिका का अंजन, पूर्ण चन्द्रोदय, प्रवालपिष्टी, तगरादि कषाय ।
६. अभिन्यास ,,	हेमगर्भपोट्टली रस, चतुर्भुज, रसराज रस, महालक्ष्मी-विलास, कारव्यादि क्वाथ तथा शृङ्ग्यादि क्वाथ ।
७. जिह्वक ,,	किराताादि क्वाथ या विश्वादि क्वाथ का कवलधारण । कस्तूरीभूषण रस, मृतसंजीवन रस ।
८. सन्धिक ,,	महावातविध्वंसन, कालकूट रस, वचादि क्वाथ या मुस्तादि क्वाथ ।
९ अन्तक ,,	यह असाध्य घोषित है। भगवान् मृत्युञ्जय का स्मरण एवं चिन्तन करे।
१० रुग्दाह ,,	षडङ्गपानीय, चन्द्रकला रस, प्रवालपिष्टी, शतधौत घृत का अभ्यंग, लाजतर्पण, शीतल पुष्पशय्या, बदरी-पल्लवोत्थ फेन लेप ।
११. चित्तविभ्रम ,,	सन्निपातभैरव, लक्ष्मीविलास, तगरादि कषाय, प्रवालपिष्टी, द्राक्षादि क्वाथ, प्रचेता गुटिका ।
१२. कर्णग्रह ,,	कट्फलादि क्वाथ, भार्ग्यादि क्वाथ, कुलत्थादि लेप, अतस्यादि लेप, जलौकावचारण ।
१३ कण्ठकुब्ज ,,	अष्टाङ्गावलेह, कट्फलादि क्वाथ, किराताादि क्वाथ, समीरपन्नग रस, चन्द्रामृत रस, शुद्ध टंकण, श्वासकुठार रस ।

चतुर्थ अध्याय

आगन्तुक ज्वर, नव ज्वर, जीर्ण ज्वर तथा पुनरावर्तक ज्वर

आगन्तुक ज्वर[1]

निदान—सूत्र रूप मे आगन्तुक ज्वर के चार कारण या निदान कहे गये है—१. अभिघात, २ अभिचारकर्म, ३. अभिशाप और ४ अभिषङ्ग ।

(१) अभिघात ज्वर

जब किसी शस्त्र से, लाठी-डण्डे से, पत्थर की चोट से, गिरने से या किसी असात्म्य वस्तु के शरीर मे प्रवेश करने से शरीर मे विषाक्तता हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप ज्वर हो जाता है, उसे अभिघात ज्वर कहते है ।

उपचार—अभिघात, चोट-मोच या प्रहार के स्वरूप के अनुसार शीत या उष्ण सेंक या मालिश या बन्धन लगावे । शाकाहारी व्यक्ति को दूध-घी मे बने पकवान और सूखे मेवे खिलावे तथा मासार्थी को प्रिय मासरसयुक्त आहार दे । यदि आघातजन्य व्रण हो, तो उसका व्रणवत् उपचार करना चाहिए ।

(२) अभिचार ज्वर

तन्त्र तथा मन्त्रो के प्रयोग, लोहे से बने स्रुवा से हवन आदि या अनिष्टकारक मारण-उच्चाटन आदि के द्वारा जब किसी व्यक्ति के प्रतिकूल अनुष्ठान किया जाता है, तब लक्ष्यभूत व्यक्ति ज्वराक्रान्त हो जाता है, तो उस ज्वर को अभिचार ज्वर कहते हैं । इस ज्वर मे भयङ्कर अति दु सह घोर पीडा एव सन्निपात ज्वर जैसे लक्षण हो जाते हैं । चित्त मे चञ्चलता तथा विकलता होती है ।

उपचार—इस प्रकार के ज्वर मे दैवव्यपाश्रय चिकित्सा ही श्रेष्ठ उपचार है । होम-नियम व्रत-जप-मणिधारण-दान-मगलपाठ आदि से यह ज्वर निवृत्त होता है ।

(३) अभिशाप ज्वर

ब्राह्मण, पतिव्रता स्त्री, गुरु, वृद्ध, सिद्ध एव तपस्वी जनो का अपमान करने से वे शाप दे देते हैं, जिससे ज्वर हो जाता है, उस ज्वर को अभिशाप ज्वर कहते है ।

उपचार—इसमें यदि सभव हो, तो उस शाप देने वाले व्यक्ति से अनुनय-विनय एव प्रार्थना कर शाप से मुक्ति करावें और उनका आशीर्वाद लें । सात्त्विक आचरण अपनावे तथा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा—होम-जप दान आदि करें ।

(४) अभिषङ्ग ज्वर

इसमे कारण के अनुरूप लक्षण होते हैं और इसके निम्न भेद होते हैं—

---

१ अभिघाताऽभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गत । आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्व त विभावयेत् ॥

(१) कामाभिषङ्ग ज्वर

इसमे चित्तविभ्रम, तन्द्रा, आलस्य, भोजन मे अनिच्छा, हृदय मे वेदना और मुख सूखना आदि लक्षण होते हैं।

उपचार—क्रोधजनक कारणो के सेवन से काम ज्वर का शमन होता है। इसमें सुगन्धवाला-चन्दन-खस-धनिया-जटामासी आदि पित्तशामक द्रव्यो का क्वाथ पिलाना लाभप्रद है।

(२) शोकाभिषङ्ग ज्वर

इसमे नेत्रो से अश्रुप्रवाह, प्रलाप और अतिसार आदि लक्षण होते हैं।

उपचार—काम और क्रोधजनक भावो को जागृत कर शोकजन्य ज्वर को शान्त करना चाहिए।

(३) भयाभिषङ्ग ज्वर

इसमे रोगी के नेत्र लाल होते है, भोजन में अरुचि होती है, रोगी चिन्ता में डूबा रहता है और कांपता रहता है।

उपचार—भयजनक कारणो को दूर कर धैर्य, आश्वासन और ढाढस बधाना चाहिए तथा काम या क्रोध को जागृत करना चाहिए।

(४) क्रोधाभिषङ्ग ज्वर

इसमें आखें लाल होती हैं, मुखमण्डल तमतमाया होता है और भौंहें एवं ओठ तथा सर्वाङ्ग कांपता रहता है।

उपचार—मनोवाञ्छित प्रिय वस्तु की प्राप्ति करानी चाहिए, असन्तोष की भावना को दूरकर प्रसन्नताजनक वातावरण बनाना चाहिए। कामवासना जागृत होने से क्रोधज्वर शान्त हो जाता है।

(५) भूताभिषङ्ग ज्वर

इसमे रोगी मे विलक्षण ज्ञान, मानवोत्तर (दैवी या आसुरी) वाणी, पराक्रम, उद्वेग, अकस्मात् हास्य एव रोदन, अगो मे कम्पन तथा आक्रामक भूत के अनुसार लक्षण होते हैं।

उपचार—इसमे आक्रामक भूत के अनुसार दैवव्यपाश्रयचिकित्सा—होम-यज्ञ-नियम-दान-स्वस्त्ययन आदि तथा बन्धन, ताडन, आश्वासन, इष्टवस्तु-लाभ कराकर यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए।

(६) विषाभिषङ्ग ज्वर

इसमे रोगी के मुख का वर्ण नीला पड जाता है। रुग्ण व्यक्ति अतिसार, अरुचि तथा प्यास से पीडित रहता है तथा शरीर मे सुई चुभाने जैसी वेदना होती है और मूर्च्छा भी आती है।

उपचार—रोगी की मूर्च्छा को दूर करने के लिए नस्य और अञ्जन का प्रयोग करे तथा विष के अनुसार उपचार करे।

(७) ओषधिगन्धाभिषङ्ग ज्वर

ओषधि के गन्ध से होने वाले ज्वर मे मूर्च्छा होना, शिर मे पीडा, वमन होना और छीक आना, ये सब लक्षण होते हैं।

उपचार—इसमे लक्षणो के अनुसार चिकित्सा करे। मूर्च्छा मे प्रचेता गुटिका का अञ्जन लगावे। शिर शूल मे हिमांशु तेल को शिर मे लगावे। रुग्ण के आवास मे गुग्गुलु, धूप, राल, नीम की पत्ती और माहेश्वर धूप आदि जलावे।

रस-प्रयोग—

४-४ घण्टे पर दिन मे ३ बार

बृहत्कस्तूरीभैरव रस	४०० मि० ग्रा०
स्मृतिसागर	४०० मि० ग्रा०
ब्राह्मीवटी	४०० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	४०० मि० ग्रा०
गुडूची सत्त्व	१ ग्राम
मधु से।	
	योग ३ मात्रा।

विशेष निर्देश—आगन्तुक ज्वरो मे लघन नही कराना चाहिए।

आगन्तुक ज्वर-सारणी
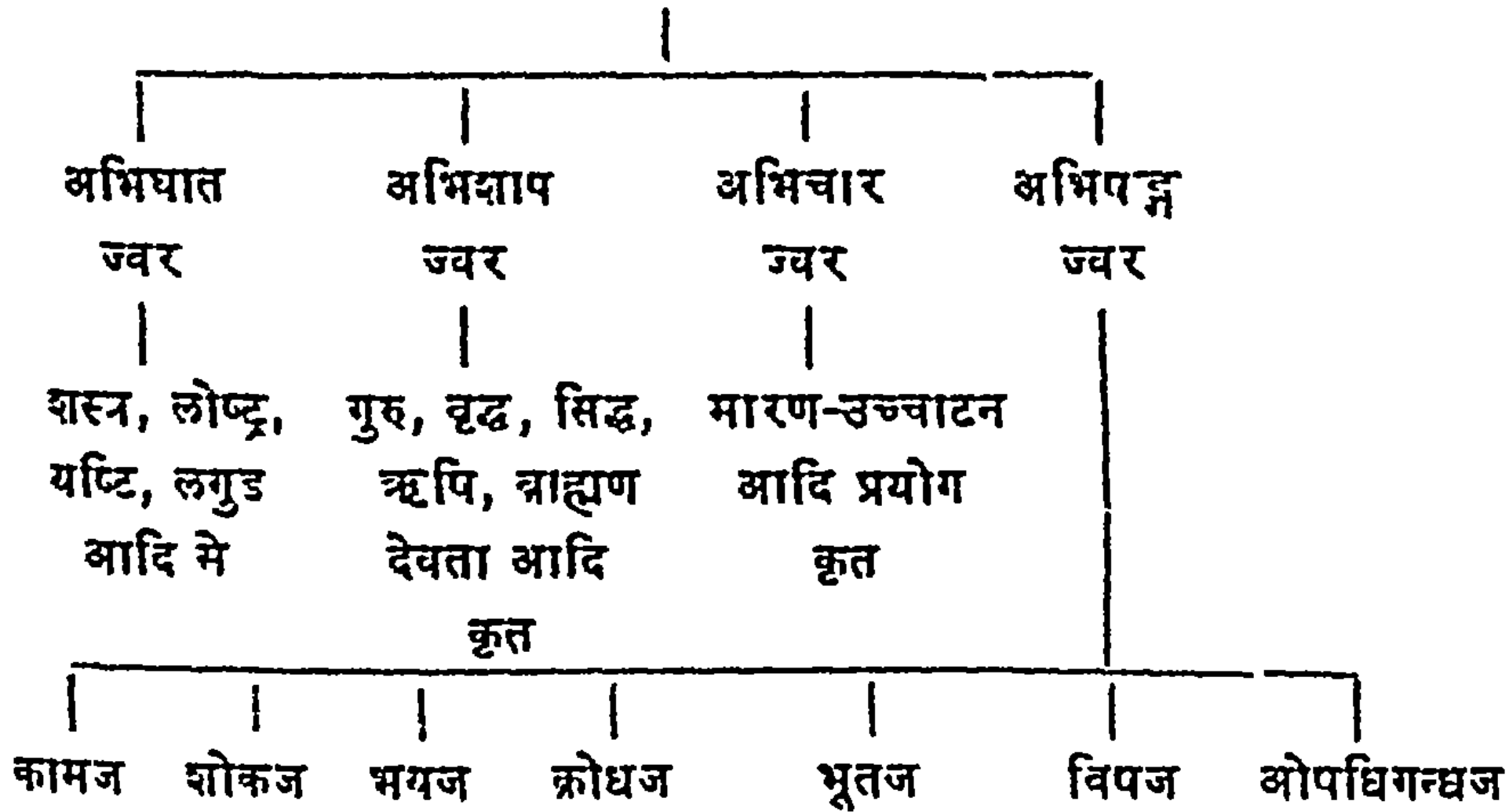
आमज्वर

इसका लक्षण प्रथम अध्याय मे द्रष्टव्य है।

उपचार

१ आमज्वर मे आम का पाचन कराना प्रथम कर्तव्य है। लघन अर्थात् उपवास कराने से आम का पाचन हो जाता है। यदि रोगी बालक, वृद्ध, दुर्बल या गर्भिणी स्त्री हो, तो उपवास न कराकर लघु आहार देना चाहिए।

२. उपवास से बढे हुए दोष कम होते हैं, ज्वर का वेग घटता है, अग्नि प्रदीप्त होती है, शरीर मे हलकापन होता है और भोजन की इच्छा जागृत होती है।

३ रोगी के बल के अनुसार जितनी सहनशक्ति हो उतना ही उपवास करावे।

४ आमपाचनार्थ दीपन-पाचन औषधो का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—सोठ-मरिच-पीपर-चाभ और चित्रक का क्वाथ पिलाना हितकर है।

५ स्वेदन, तिक्तरसवाली औषधो के क्वाथ के पीने से तथा यवागू के प्रयोग से दोषो का पाचन हो जाता है।

६ आम को निकालने के लिए वमन का प्रयोग किया जाता है।

७ तृष्णा की अधिकता मे नागरमोथा, पित्तपापडा, खश, लाल चन्दन, सुगन्धवाला और सोठ का मिलित चूर्ण २० ग्राम १ लीटर जल मे पकाकर आधा बचने पर छानकर थोडा थोडा पिलाना चाहिए।

८. दोषो के अनुसार लक्षणो की उपस्थिति होने पर दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

९ ज्वर के रोगी के देश काल आदि का विचार कर गरम जल पिलाना चाहिए। गरम जल पीने से वायु का अनुलोमन होता है, अग्नि प्रदीप्त होती है और थोडा ही जल पीने से तृष्णा शान्त हो जाती है।

१० उष्ण जलपान तृष्णा का शमन एव कफ का विलयन करता है, रुके हुए स्वेद, कफ, मल-मूत्र एव वायु को प्रवृत्त करता है तथा तन्द्रा, जडता और अरुचि को नष्ट करता है।

११ उष्ण जल बासी हो जाने पर प्रयोग न करे। प्रात काल का बनाया हुआ जल दिन भर और सायकाल का बनाया हुआ जल रात भर प्रयोग किया जाना चाहिए।

नवज्वर या तरुणज्वर[1]

ज्वर की चिकित्सा मे सर्वप्रथम विचारणीय विषय यह होना चाहिए, कि ज्वर नव है या जीर्ण ? ज्वर कब से है ? उसकी अवधि से यह निर्णय किया जा सकता है। जैसे—ज्वर के जन्म दिन से सात दिन का समय तरुण या नवज्वर का है। सात से बारह दिन तक मध्यमज्वर माना जाता है, उसके बाद पुराणज्वर कहा जाता है एव तीन सप्ताह के बाद भी बने रहनेवाले ज्वर को जीर्णज्वर कहते हैं।

---

१ आसप्तरात्र तरुण ज्वरमाहुर्मनीषिण।
मध्य द्वादशरात्र तु पुराणमत उत्तरम्॥
त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत.।

उपचार

१ निषेध[1]—नवज्वर मे कषायरस का प्रयोग नही करना चाहिए, क्योकि कषायरस स्तम्भक (रोकनेवाला) होता है, जिससे दोप आकुल होकर विषमज्वर जनक हो जाते हैं।

२ दिन मे सोना, स्नान करना, अभ्यग करना, अन्न खाना, मैथुन करना, क्रोध करना, वायु के प्रवाह मे रहना और व्यायाम करना निषिद्ध है।

३. नवज्वरी के शिर पर जल की धारा गिराना (परिषेक), तैलमर्दन, अनुलेपन, वमन विरेचन आदि शोधन, शीत जलपान, गुरु एव स्निग्ध पदार्थों का भोजन करना निषिद्ध है। इनके सेवन से शोप, वमन, मद, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि तथा तृष्णा आदि उपद्रव होते हैं।

४ कर्तव्य—नवज्वर मे—१ लघन, २ स्वेदन, ३ काल अर्थात् ७–८ दिनो तक ज्वर उतरने की प्रतीक्षा, ४ यवागू देना, ५ तिक्तरसयुक्त औपध सेवन और ६. पाचक द्रव्यो का प्रयोग विचार-विमर्श कर औचित्य के आधार पर करना चाहिए।[2]

५. राजयक्ष्माज्वर, वातज या धातुक्षयज ज्वर, भय-शोक-काम क्रोध-श्रमज ज्वर तथा अभिघातज्वर मे लघन नही कराना चाहिए।

६ दोषानुसार वात-पित्त-कफज ज्वर मे क्रमश एक, तीन या छह रात तक लघन कराना चाहिए।

७ स्वेदन—विशेपकर अस्थि-जघा एव सन्धिस्थलो मे वेदनायुक्त ज्वरो मे तथा आमवातज्वर, वातज ज्वर एव कफज्वर मे स्वेदन उपयुक्त है।

स्वेदनार्थ—उष्ण जल पिलाना, शीत से बचाना, भारी ऊनी वस्त्र से ढके रखना तथा स्वेदकारक औपधो का वाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिए।

स्वेदन से शरीर से पसीने का निर्गमन होता है, जिससे स्रोतो की शुद्धि होती है। 'षडङ्गपानीय'[3] पिलाना उत्तम एव लाभप्रद है। उष्ण जल पिलाना उत्तम स्वेदन प्रकार है।[4]

---

१ नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्।
क्रोधप्रवातव्यायामकषायांश्च विवर्जयेत् ॥ च० चि० ३।१३८
स्नानं विरेकं सुरतं कषायं व्यायाममभ्यञ्जनमह्नि निद्राम्।
दुग्धं घृतं वैदलमामिषं च तक्रं सुरां स्वादु गुरु द्रवं च ॥
अन्नं प्रवातं भ्रमणं रुषां च त्यजेत् प्रयत्नात् तरुणज्वरार्तः ॥

२ लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणज्वरे ॥ च० चि० ३।१४२

३ मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः।
शृतशीतं जलं दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये ॥ च० चि० ३।१४५

४ ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचनवमनापतर्पणानि भवन्ति, पाचनार्थं च पानीयमुष्णं, तस्मादेतज्ज्वरार्तेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम्।
च० वि० ३

उष्ण जल मे नवसादर, कलमीसोरा और यवक्षार मिलाकर पिलाना अथवा श्वेतपर्पटी डालकर पिलाना अधिक उपयोगी है, इससे ज्वर और प्यास दोनो का शमन होता है तथा खुलकर पेशाव होता है।

८. काल—नवज्वर मे ज्वर साम रहता है और प्राय एक सप्ताह मे आम का पाचन हो जाने से ज्वर निराम हो जाता है, जिससे अपने आप दोप का पाचन हो जाता है, अत एक सप्ताह तक ज्वर के निराम होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

९ **यवागू-प्रयोग**—यवागू शब्द से लाजमण्ड (धान के लावा का बना माड), बार्ली अथवा इसी तरह के पेय लिये जाते है। यह अग्निप्रदीपक होती है तथा इससे मल-मूत्र एव वायु की सम्यक् प्रवृत्ति होती है, यह स्वेद लाती है, प्यास शान्त करती है और बल देती है। यह ज्वरहर एव लघुता कारक है।[1]

१० **तिक्तरस**—तिक्तरस ज्वरनाशक तथा पाचन होता है, इसलिए गुडूची, चिरायता, कुटकी आदि से सिद्ध किये हुए जल मे पेया, यवागू आदि का निर्माण कर नवज्वरी को पिलाना चाहिए।

११ **क्वाथ**—(क) **गुडूच्यादि क्वाथ**—गुरुच, पुरानी धनिया, नीम की छाल, लालचन्दन बुरादा, पद्मकाठ, यह सब मिलाकर २५ ग्राम लेकर ४०० मि० ली० जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर प्रात काल पिलाना चाहिए।

(ख) **पञ्चतिक्त क्वाथ**—भटकटैया की जड, गुरुच, सोठ, पोहकरमूल, चिरायता इन सबको समभाग लेकर विधिवत् क्वाथ बनाकर पिलाना चाहिए।

(ग) **धान्यपटोल क्वाथ**—धनिया और परवल की पत्ती का क्वाथ प्रात काल पिलाना चाहिए।

१२ **नवज्वर मे आहार-विधि**—नवज्वरी को आहार देना इष्ट हो, तो उसे दिन मे एक ही बार अपराह्ण मे भोजन देना चाहिए। प्रात काल भोजन, अभिष्यन्दी भोजन, रात्रि भोजन और गुरु भोजन निषिद्ध है।

१३. **व्यवस्थापत्र**—

प्रात , साय, मध्याह्न
ज्वरधूमकेतु ५०० मि० ग्रा०
योग ३ मात्रा
मधु से।

बाद मे—गुडूच्यादि क्वाथ ५० मि० ग्रा० पीना
प्रात , साय
अथवा—वैद्यनाथ वटी ४०० मि० ग्रा०
योग २ मात्रा
मधु से।

---

१ च० चि० ३।१५१–१५४ ।

अथवा—दिन मे ३ बार
प्रतापमार्तण्ड ३०० मि० ग्रा०
योग ३ मात्रा

अथवा—प्रात, साय, मध्याह्न
नवज्वरेभाकुश ३०० मि० ग्रा०
योग ३ मात्रा

अथवा—सवेरे शाम
ज्वरकेशरी ३०० मि० ग्रा०
जल से। योग २ मात्रा

अथवा—दिन मे ३ बार
पर्णखण्डेश्वर १२० मि० ग्रा०
योग ३ मात्रा
लगाये हुए पान मे खिलावे।

जीर्णज्वर

लक्षण

१ २१ दिनो तक बने रहने के बाद आगे भी ज्वर बना रहना।
२ ज्वर का तापमान मन्द होना।
३. प्लीहा की वृद्धि होना।
४ जठराग्नि का मन्द होना।

उपचार

१. दुग्धपान—जीर्णज्वर मे कफ के क्षीण हो जाने पर दुग्ध का प्रयोग अमृत के समान जीवन-रक्षक होता है। दोषानुसार औषधो को डालकर पकाये हुए दूध को उष्ण या शीत कर आवश्यकतानुसार पिलाना चाहिए।[1]

दुग्धपाक—२० ग्राम औषधचूर्ण, १६० ग्राम दूध और ६४० ग्राम जल डालकर, दुग्धावशेष पाक करे और छानकर पिलावे।

२ वस्ति-प्रयोग—जब जीर्णज्वर मे कफ एव पित्त क्षीण हो गये हो, अग्नि प्रबल हो, रोगी का मल गाँठदार हो, तो अनुवासनवस्ति का प्रयोग करे।

पक्वाशयगत दोष मे निरूहवस्ति देनी चाहिए, इससे ज्वर कम होता है, बल एव अग्नि की वृद्धि होती है और अन्न मे रुचि उत्पन्न होती है।[2]

---

१ जीर्णज्वराणां सर्वेषां पय प्रशमन शतम्।
पेय तदुष्णं शीतं वा यथास्व भेषजै श्रृतम्॥ च० चि० ३।२३९

२ (क) प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनान्।
पक्वाशयगते दोषे ॥ च० चि० ३।२४०

३ जीवन्त्यादि वस्ति—जीवन्ती, मदनफल, मेदा, पीपर, मुलहठी, वच, ऋद्धि, रास्ना, वरियार, वेलसोठ, सौंफ और शतावर, सबको समभाग लेकर पीसकर, दूध-जल तथा तैल-घी मिला ले।

इसमे दूध ४ भाग, जल ४ भाग, घी और तैल १-१ भाग तथा औषध द्रव्यो का कल्क आधा भाग होना चाहिए। इसकी गुदामार्ग से वस्ति दे।

४ मलाधिक्य होने पर निरूहवस्ति देनी चाहिए। एतदर्थ—पटोलादि निरूह-वस्ति, आरग्वधादि निरूहवस्ति अथवा गुडूच्यादि निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

५ घृतप्रयोग[1]—ज्वरोष्मा की रूक्षता से शरीर मे भी रूक्षता हो जाती है। दूसरी बात यह है, कि कफ तथा रस-रक्तादि धातुओ की क्षीणता होने पर वायु की वृद्धि हो जाती है, उससे भी रूक्षता हो जाती है, अत उस रूक्षता के ह्रास के लिए रोगी को घृत का सेवन करना चाहिए।

ज्वरनाशक मधुकादि कषाय, बृहद् भार्ग्यादि कषाय, दारुयादि क्वाथ एव दार्व्यादि क्वाथ आदि मे घृत मिलाकर पिलाना चाहिए। इससे ज्वर का शमन, जठराग्नि की वृद्धि तथा शरीर मे सबलता आती है।

६. दाह मे शतधौत एव सहस्रधौत घृत का अभ्यङ्ग करना चाहिए। चन्दनादि तैल या हिमाशु तैल का अभ्यङ्ग करना दाहशामक है।

७ ज्वरघ्न औषधो के क्वाथ मे पिप्पल्यादि या गुडूच्यादि घृत २० ग्राम की मात्रा मे मिलाकर पिलाना दाहशामक है।

८ अभ्यङ्ग[2]—औषधसिद्ध तैलो का आवश्यकतानुसार शीत या उष्ण अभ्यङ्ग या आलेपन करना चाहिए। इसमे—१ त्वचागत ज्वर का शमन, २. शरीराङ्गों को सुख तथा बल एव ३ त्वचा की रूक्षता या विकृति का नाश होता है।

९ तैल-प्रयोग—जीर्णज्वरो मे लाक्षादि तैल, महालाक्षादि तैल, चन्दनादि तैल, अगुर्वादि तैल एव चन्दन-बलालाक्षादि तैल का उपयोगिता की दृष्टि से प्रयोग करना चाहिए।

(ख) निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्व मुद रुचिम्।
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्त शीघ्रमावहेत्॥ च० चि० ३।२७०

(ग) ज्वरे पुराणे सङ्क्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये।
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम्॥ च० चि० ३।२७२

१ ज्वरा कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनै।
रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम्॥
रूक्ष तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च।
य स्यादनुबलो धातु स्नेहवध्य स चानिल॥
कषाया सर्वं एवैते सर्पिषा सह योजिता।
प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसन्धुक्षणा शिवा.॥ च० चि० ३।२१६-२१८

२ अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत्।
यथाभिलाप शीतोष्णं विभज्य त्रिविधं ज्वरम्॥ च० चि० ३।२५६

शीत लग रही हो, तो अङ्गारक तैल या अगुर्वादि तैल का अभ्यङ्ग करे और उष्णता प्रतीत हो तो चन्दनादि तैल लगाना चाहिए।

१०. धूपन—धूपन के प्रयोग से पसीना आकर त्वचागत ज्वर उतर जाता है। पसीने को सूखे वस्त्र से पोछ देवे और रोगी को ठडी हवा से बचावे।

११ अञ्जन[1]—यदि दुग्ध, घृत, अभ्यङ्ग, धूपन आदि के प्रयोग से ज्वर न शान्त हो, तो रोगी को अञ्जनभैरव रस का अञ्जन लगाना चाहिए। इससे ज्वर शान्त हो जाता है।

१२ शिरोगौरव, कफाधिक्य एव तन्द्रा मे[2]—शिरोविरेचन नस्य का प्रयोग करना चाहिए। इससे शिर का भारीपन एव कफज विकार दूर होते है, अन्न मे रुचि उत्पन्न होती है और इन्द्रियो मे चेतनता आती है।

१३ विरेचन निषेध[3]—ज्वर से क्षीण व्यक्ति के बल का नाश हो जाता है, इसलिएं उसे वमन या विरेचन नही करना चाहिए। रोगी को कुछ अधिक मात्रा मे मुनक्का और दूध देने से पेट साफ हो जाता है। यदि फिर भी कब्ज रहे, तो ग्लिसरीन की वत्ती लगावे या पिचकारी से गुदा मे २ औंस ग्लिसरीन चढावे या साबुन का पानी चढावे अथवा अमलतास की गुद्दी का घोल उचित मात्रा मे पिलाकर मलापहरण करे।

१४ व्यवस्था-पत्र—

४-४ घण्टे पर दिन मे ३ बार

१	स्वर्णवसन्तमालती	३०० मि० ग्रा०
	बृहत्सर्वज्वरहर लौह	३०० मि० ग्रा०
	शृग भस्म	४०० मि० ग्रा०
	प्रवाल भस्म	४०० मि० ग्रा०
	गुडूचीसत्त्व	१ ग्राम
	सितोपलादि चूर्ण	२ ग्राम
	मधु से।	योग ३ मात्रा
२	भोजनोत्तर २ बार	
	अमृतारिष्ट	२० मि० ग्रा०
		१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

---

१ धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वरा शमम्। च० चि० ३।१७६

२ गौरवे शिरस शूले निवद्धेष्विन्द्रियेपु च।
जीर्णज्वरे रुचिकरं दद्यान्मूर्धविरेचनम् ॥ च० चि० ३।१७३

३ ज्वरक्षीणस्य न हित वमनं न विरेचनम्।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥ च० चि० ३।८६९

३. अभ्यङ्ग—
महालाक्षादि तैल की मालिश करना।
४ शिर पर—
हिमांशु तैल की मालिश करना।

१५. यकृत्प्लीहावृद्धि सह जीर्णज्वर मे—
दिन मे ३ बार

१ यकृत्प्लीहारि लौह	३६० मि० ग्रा०
लोकनाथ रस	३६० मि० ग्रा०
मुक्ताशुक्ति	½ ग्राम
शरपुंखा क्षार	१ ग्राम
मधु से।	योग ३ मात्रा

२ भोजनोत्तर २ बार

कुमार्यासव	२० मि० ग्रा०

समान जल मिलाकर पीना।

३ रात मे—

आरोग्यवर्धिनी	५०० मि० ग्रा०
दूध या जल से।	१ मात्रा

१६. शोथयुक्त जीर्णज्वर मे—
१. दिन मे ३ बार

पुनर्नवामण्डूर	१ ग्राम
पुटपक्व विषमज्वरान्तक	३६० मि० ग्रा०
लोकनाथ रस	३६० मि० ग्रा०
मुक्ताशुक्ति	३६० मि० ग्रा०
पुनर्नवास्वरस मधु से।	योग ३ मात्रा

२ भोजनोत्तर २ बार

पुनर्नवासव	२० मि० ग्रा०
	१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

३ रात्रि मे—

आरोग्यवर्धिनी	५०० मि० ग्रा०
जल से।	१ मात्रा

१७. हृदयदौर्बल्य सह जीर्णज्वर मे—

दिन मे ३ बार

१ सर्वज्वरहर लौह	३६० मि० ग्रा०
हृदयार्णव	३६० मि० ग्रा०
अर्जुनत्वक् चूर्ण	३ ग्राम
मधु से ।	योग ३ मात्रा

२. भोजनत्तर २ बार

अर्जुनारिष्ट	२० मि० ग्रा०
	१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना ।

३ रात्रि मे—

चन्द्रप्रभावटी	१ गोली ।
दूध से ।	१ मात्रा

१८. ज्वर की भयकरता मे—

दिन मे ४ बार

जयमगल रस	५०० मि० ली०
मधु से ।	४ मात्रा

ज्वर का चिकित्सासूत्र

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् ।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥

....

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरै ।
शृतशीत जल दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये ॥

. ..

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम् ।
क्रोधप्रवातव्यायामान् कषायाश्च विवर्जयेद् ॥

. . . . .

लङ्घन स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस ।
पाचनान्यविपक्वाना दोषाणा तरुणे ज्वरे ॥
ज्वरक्षीणस्य न हित वमन वा विरेचनम् ।
कान तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥
अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने ।
विभज्य शीतोष्णकृत कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् ॥

जीर्णज्वराणा सर्वेषा पय प्रशमन मतम्
पेय तदुष्ण शीत वा यथास्व भेषजै श्रृतम् ॥
वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च ।
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वर जयेत् ॥
व्यायाम च व्यवाय च स्नान चङ्क्रमणानि च ।
ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ॥
असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते ।
वर्ज्यमेतन्नरस्यास्य पुनरावर्तते ज्वर ॥
मुद्गान्मसूरान् चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् ।
यूषार्थं यूपसात्म्याना ज्वरिताना प्रदापयेत् ॥
देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहताप
पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम् ।
स्वेद क्षव प्रकृतियोगिमनोऽन्नलिप्सा
कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि ॥

पुनरावर्तक ज्वर

(Relapsing Fever)

निदान

ज्वर के छूट जाने पर जब तक शरीर मे पूरा बल नही आ जाता, तब तक ही जो व्यक्ति व्यायाम, मैथुन, स्नान, घूमना-फिरना और मनमाना भोजन करने लग जाता है या सही ढग से दोषो का संशोधन न हुआ हो और शरीर मे कुछ दोष शेष रह गये हो, किन्तु रोगी अपने को शुद्ध समझ कर अपथ्य आहार-विहार का सेवन करने लग जाता है, तो रोगी की थोडी सी बदपरहेजी मे ज्वर लौट आता है, उसे ही पुनरावर्तकज्वर कहते हैं ।

एवञ्च शरीर मे शेष रहे दोष यद्यपि पुनरावर्तक ज्वर न उत्पन्न करते हों, फिर भी वे गम्भीर मज्जा आदि धातु मे प्रविष्ट होने से शरीर का अपकार तो करते ही हैं और दीनता, शोथ, ग्लानि, पाण्डु, भोजन मे अरुचि, कण्डू, कोठ, पिडका और मन्दाग्नि उत्पन्न करते हैं ।[1]

लक्षण

लौट-लौट कर शीत, कम्पन, शिर शूल, अस्थि-सन्धिशूल और नमन की प्रवृत्ति के साथ तीव्र वेग (१०४ डिग्री तक) युक्त ज्वर का आक्रमण होना, इसका प्रधान लक्षण है । कदाचित् प्लीहा की वृद्धि, पाण्डु, कामला, शोथ आदि लक्षण भी हो जाते हैं । ज्वर का वेग पसीना आकर उतर जाता है और रोगी स्वस्थता का अनुभव करता है, किन्तु सप्ताह बीतते-बीतते पुन शीत, कम्प आदि के साथ ज्वर आने लगता है ।

---

१ च० चि० ३।३३३-३३४, ३३६-३३७ ।

असाध्य लक्षण

जब पुन -पुन लौटकर आनेवाला ज्वर अधिक दिनो से पीडित किसी रोगी को शरीर और मन दोनो से तोड़ देता है, तो रुग्ण का शरीर दुर्बल, निस्तेज तथा हीन मनोबल का हो जाता है एव कुछ ही दिनो मे वह ज्वर रोगी के प्राण का हरण कर लेता है।[1]

चिकित्सासूत्र

१ रोगी के ज्वर की गाम-निराम अवस्था, रोग एव रोगी के वल और उसके मनोवल का सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात् आवश्यकतानुसार शोधन या शमन उपचार करना चाहिए।

२ सामान्य ज्वर मे जो-जो औषधियाँ विभिन्न अवस्थाओ मे वतलायी गयी हैं या जो उपचार वतलाये गये हैं, पुनरावर्तक ज्वर मे भी उन-उन अवस्थाओ मे उन सवका प्रयोग करना चाहिए।[2]

३ ज्वर के पुनरावर्तन की दशा में मृदु शोधन द्वारा दोपो की शुद्धि, यापन वस्तियो का प्रयोग (चरक-सिद्धिस्थान मे कथित), भोजन मे हलका यूप और जाङ्गल पशु-पक्षियो का मासरस देना चाहिए।[3]

४ अभ्यङ्ग, उवटन, स्नान, धूपन एव अञ्जन का प्रयोग तथा तिक्त द्रव्यो से सिद्ध किया हुआ घृत सेवन करना लाभदायक है।[4]

५ यदि गुरु, अभिष्यन्दी और असात्म्य आहार-विहार के सेवन करते से पुनरावर्तक ज्वर पुन आ गया हो, तो सामान्य ज्वर के समान ही लघन एव उष्ण चिकित्सा करनी चाहिए।[5]

६ किराततिक्तादि क्वाथ—१ चिरायता, २ कुटकी, ३ नागरमोथा, ४ पित्तपापडा और ५ गुरुच, इनके समभाग का क्वाथ ५० मि० ली० की मात्रा मे लगातार दो सप्ताह तक पीने से पुनरावर्तक ज्वर शान्त हो जाता है। दीर्घकाल तक वने रहने वाले अन्य ज्वरो मे भी यह लाभप्रद होते देखा गया है।[6]

---

१ चिरकालपरिक्लिष्ट दुर्वल हीनतेजसम्।
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागत ॥ च० चि० ३।२३५

२ निर्वृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद् यथावस्थं यथावलम्।
यथाप्राण हरेद् दोप प्रयोगैर्वा शम नयेत् ॥ च० चि० ३।३३९

३ मृदुभि शोधनै शुद्धिर्यापना वस्तयो हिता।
हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलाभिपजा रसा ॥ च० चि० ३।३४०

४ अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च।
हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च ॥ च० चि० ३।३४१

५ गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्याना भोजनाद् पुनरागते।
लङ्घनोष्णोपचारादि क्रम कार्यश्च पूर्ववत् ॥ च० चि० ३।३४२

६ किराततिक्तक तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता।
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्तकं ज्वरम् ॥

७ घृत—पिप्पल्यादि घृत, वासादि घृत और वलादि घृत का केवल अथवा ज्वरघ्न औषधो के क्वाथ में प्रयोग करना चाहिए।

वेग के अनुसार ज्वर के भेद
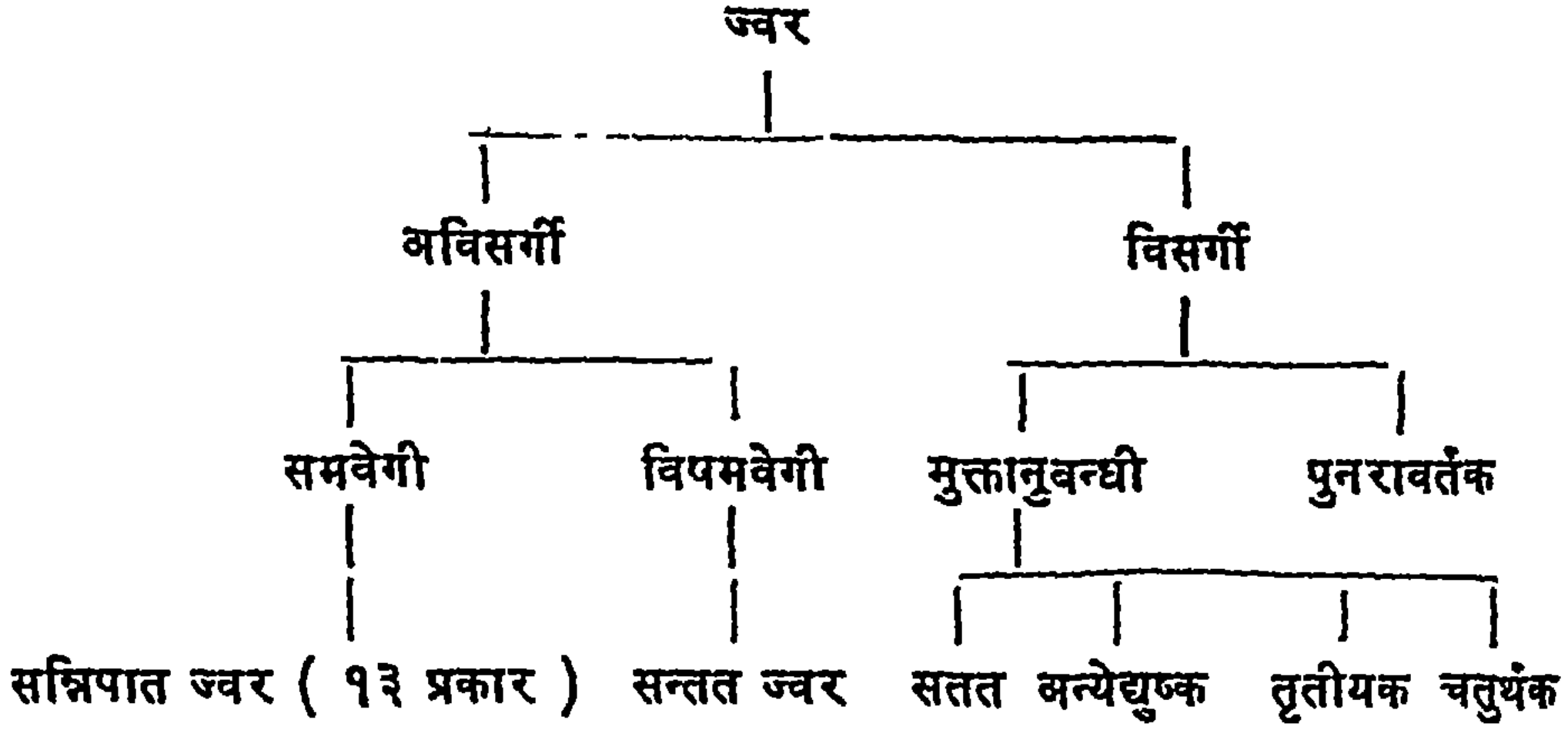
पुनरावर्तक ज्वर मे व्यवस्थापत्र—

४–४ घण्टे पर दिन में ३ बार

१. सर्वज्वरहरलौह ½ डेसीग्राम
पुटपक्वविषमज्वरान्तक ½ डेसीग्राम
त्रिभुवनकीर्ति ½ डेसीग्राम
गोदन्तीभस्म १ ग्राम
मधु से। योग ३ मात्रा

२ प्रात साय—
पुनरावर्तक क्वाथ १०० मि० ली०
पीना। २ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ बार
लोहासव २५ मि० ली०
१ मात्रा
समान जल मिलाकर पीना।

४. रात में सोते समय
सुदर्शन चूर्ण ३ ग्राम
१ मात्रा
गरम जल से।

तस्या तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षण॰।
ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात्तत्तच्चिकित्सितम्॥ च० चि० ३।३४३-३४४

पञ्चम अध्याय

विषम ज्वर

परिचय

जिस ज्वर के आने और जाने का समय विषम (अनियत) हो, अर्थात् चढ़ने-उतरने का समय निश्चित न हो, जो कभी तो शीत के साथ और कभी गर्मी के साथ उत्पन्न होता हो, और जिसका वेग विषम (कभी तीव्र सन्तापयुक्त, कभी मन्द सन्तापयुक्त) हो, उसे विषम ज्वर कहते हैं।[1]

आचार्य वाग्भट[2] ने कहा है कि जिसका आरम्भ, जिसकी क्रिया और जिसका काल विषम हो, वह 'विषमज्वर' कहलाता है।

१ जिसका आरम्भ कभी सिर से, कभी पृष्ठ से, कभी शाखा से, कभी मध्यकाय से होता है।

२ जिसकी क्रिया विषम होती है अर्थात् जो कभी शीत के साथ और कभी गर्मी के साथ होता है।

३ जिसका आगमनकाल और मोक्षकाल विषम होता है, जैसे—यदि ज्वर के चढ़ने का समय ८ बजे दिन रहा है, तो १० बजे दिन या ५ बजे शाम हो जाता है। इसी प्रकार यदि वह ६ बजे शाम को उतर जाता था, तो समय बदल कर पहले ही ४ बजे दिन या बाद में ९ बजे रात में उतरता है, तो आगमनकाल और मोक्षकाल में विषमता होने से ऐसा ज्वर 'विषमज्वर' कहा जाता है।

विषम ज्वर का मुक्तानुबन्धित्व

छोड़-छोड़कर पुनः होनेवाला ज्वर 'विषमज्वर' कहलाता है। इसे मुक्तानुबन्धित्व कहते हैं। वस्तुतः जब ज्वर का वेग उतर जाता है, तो ज्वर के मुक्त होने की प्रतीति होती है, किन्तु ज्वर छोड़ता नहीं है, अपितु धातुओं में लीन हो जाता है, छिप जाता है, फिर वेग काल में उसका अनुबन्ध हो जाता है। इस प्रकार मुक्त करके पुनः हो जाने से ऐसे विषमज्वर को मुक्तानुबन्धी कहते हैं। विजयरक्षित ने मुक्तानुबन्धित्व[3] का विषमत्व माना है।

विषमज्वर कभी भी रोगी के शरीर को नहीं छोड़ता, क्योंकि रुग्ण व्यक्ति ग्लानि, भारीपन, कृशता से ग्रस्त रहता है। ऊपर से ज्वर चला गया, ऐसा आभास

---

[1] य स्यादनियतात् कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च।
वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः ॥ सिद्धान्तनि० ज्वर०

[2] विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्। अष्टाङ्ग० नि० २।६०

[3] मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम्। मा० नि० ज्वर० ३५ पर मधुकोष टीका

भले ही होता है, परन्तु धातुओ मे लीन रहने तथा सूक्ष्मरूप मे होने से परिलक्षित नही होता।[1]

विषम ज्वर का निदान

१ जो मनुष्य ज्वर से ग्रस्त हो या जिसे ज्वर छोड रहा हो अथवा जिसे ज्वर अभी-अभी छोडा हो, वह मनुष्य यदि व्यायाम करने लगता है या भारी असात्म्य (अहितकर) भोजन करने लगता है तथा अधिकाशत जलीय पदार्थ, खीर, खिचडी, उडद का बडा, मास, ताजी दही, तिलकुट आदि भोज्य पदार्थ, ग्राम्य और आनूप मास आदि गुरु पदार्थों का सेवन करता है, दिन मे सोता है, अजीर्ण रहने पर भोजन करता है, तो उसका ज्वर बढ जाता है अथवा शीघ्र ही विषमज्वर[2] का रूप धारण कर लेता है।

२ कतिपय विद्वानो ने विषमज्वर का कारण भूताभिषङ्ग[3] माना है। आचार्य गणनाथ सेन ने भूताभिषङ्ग शब्द की व्याख्या मे भूत शब्द से सूक्ष्म जीवाणुओ का ग्रहण किया है।[4]

३. सुश्रुत ने विषमज्वर मे आगन्तुक को कारण माना है। वे आगन्तुक[5] नेत्रो से अदृश्य रक्तगत जीवाणु ही हो सकते हैं।

ये जीवाणु भिन्न आकृति के तथा समान जाति के होते हैं। ये मण्डलाकार पादादि रहित और ताम्रवर्ण के होते हैं।

४ सुश्रुताचार्य ने दो कारणो का उल्लेख किया है[6]—१ 'पर' और २. स्वभाव। पर शब्द से 'डल्हण' ने भूत (ज्वरजनक जीवाणु) अर्थ लिया है, जो कि आगन्तुक कारण है। स्वभाव शब्द निज (दोष) कारण के अर्थ मे है।

---

१ स चापि विषमो देहं न कदापि विमुञ्चति।
ग्लानिगौरवकार्श्येभ्य स यस्मान्न प्रमुच्यते॥
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते।
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लज्यते।
धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते॥ सु॰ उ॰ ३९।६४-६५

२ ज्वरितो मुच्यमानो वा मुक्तमात्रश्च यो नर.।
व्यायामगुर्वसात्म्यान्नमतिमात्रमथो जलम्॥
पायस कृशर पिष्ट पलल दधिमन्दकम्।
पिण्याकमाषविकृतीर्ग्राम्यानूप तथाऽऽमिषम्॥
एवंविधानि चान्यानि विरुद्धानि गुरूणि च।
सेवते च दिवास्वप्नमजीर्णाध्यशनानि च॥
ज्वरोऽभिवर्धते तस्य विषमो वाऽऽशु जायते॥ काश्यप॰ खिल॰ १

३ केचिद् भूताभिषङ्गोत्थ ब्रुवते विषमज्वरम्। सु॰ उ॰ ३९।६८

४ भूताभिषङ्गो नाम भूतानां सूक्ष्मप्राणिनां जीवाणूनामभिषङ्ग इति व्याचक्षीरन् नव्या।
सिद्धान्तनि॰ ख॰ १।१७८ की टीका

५ आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे। सु॰ उ॰ ३९।५६

६ परो हेतु स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरित। सु॰ उ॰ ३९।५६

इस प्रकार सुश्रुत ने निज तथा आगन्तुज कारण-भेद से दो प्रकार का विषमज्वर ाना है।

निज-विषम ज्वर की सम्प्राप्ति

१ जो दोष प्रारम्भ से ही अल्पबलवाला हो अथवा ज्वर के छूट जाने के बाद ारीर मे अवशिष्ट अल्पदोष, मिथ्या आहार-विहार के सेवन से पुनः प्रकुपित होकर, स-रक्तादि धातुओ मे से किसी को आश्रय बनाकर विषमज्वर को उत्पन्न करता है।[१]

२. जिस प्रकार (बथुआ आदि का) बीज पृथ्वी मे पडा रहता है और जब उसके अनुकूल (शरद्) ऋतु आती है, जो जल आदि पा जाने पर अकुरित हो ाता है, उसी प्रकार दोष धातुओ मे पडा रहता है और जब उसके अनुकूल रिस्थिति आती है, तो कुपित होकर ज्वर उत्पन्न करता है।[२]

३. सभी दोष या कोई दो दोष विषम रूप मे रसवाहिनी धमनियो मे पहुँचकर षमज्वरो को उत्पन्न करते है।[३]

४ ज्वर का रोगी जब ज्वर की तरुणावस्था मे ही कषाय का सेवन करता है अथवा लोलुपतावश स्नेहपान, दुग्धपान या सन्तर्पण पदार्थों का सेवन करता है तथा जो व्यक्ति देवता का प्रकोप का पात्र या किसी ग्रह द्वारा गृहीत होता है अथवा वमन-विरेचन-स्नेहपान या अनुवासन वस्ति का प्रयोग करने के बाद शीघ्र ही शीतोपचार या गुरु अन्न का सेवन तथा मैथुन करता है, उस व्यक्ति की अस्थियो की मज्जा के भीतर प्रकुपित वायु के प्रविष्ट हो जाने से कफ और पित्त का भी प्रकोप हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप धातुओ मे विषमता उत्पन्न हो जाने पर परिस्थिति के अनुसार विषमज्वर का कोई प्रकार उत्पन्न होता है और वह विषमज्वर छोड-छोडकर बार-बार हो जाया करता है।[४] यह अपने नियत समय पर शान्त हो जाता है और फिर अपने नियत समय पर प्रकट हो जाता है।[५]

विषमज्वर अनुषङ्गी (लगाव स्थापित रखनेवाले) स्वभाव के होते है, अत ये शान्त होकर पुन पुन प्रकट हो जाते हैं।[६]

---

१ दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुन ।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥ सु० उ० ३९।६६

२ अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति ।
अधिशेते तथा धातु दोष काले च कुप्यति ॥ च० चि० ३।६८

३ समस्तो द्वन्द्वशो वाऽपि धमनी रसवाहिनी ।
दोषा प्रपन्ना कुर्वन्ति विषमा विषमज्वरान् ॥ का० खिल० १

४ काश्यप० खिल० अ० १।१६–२०

५ शमप्रकोपयो काल न चायमतिवर्तते । का० खि० १

६. न च स्वभावोपशमं गच्छत्यनुशयात्मक ।
नहि स्वभावशान्ताना भावानामस्ति सम्भव ॥ का० खि० १

विषमज्वर निदान-सम्प्राप्ति सारणी

१. निज १ आरम्भ से अल्प दोष
२ ज्वरमुक्त दोष
३. स्वभावत धातुवैषम्य
} + मिथ्या आहार-विहार
|
दोष का पुन प्रकोप
|
धातुओ में दोष-सञ्चय
|
विषम आरम्भ, विषम क्रिया एव विषमकालपूर्वक ज्वर
|
निजज्वर

२ 'पर' भूताभिषङ्ग (जीवाणु) } → विषमारम्भ-क्रिया-काल पूर्वक ज्वर
|
आगन्तुक विषमज्वर
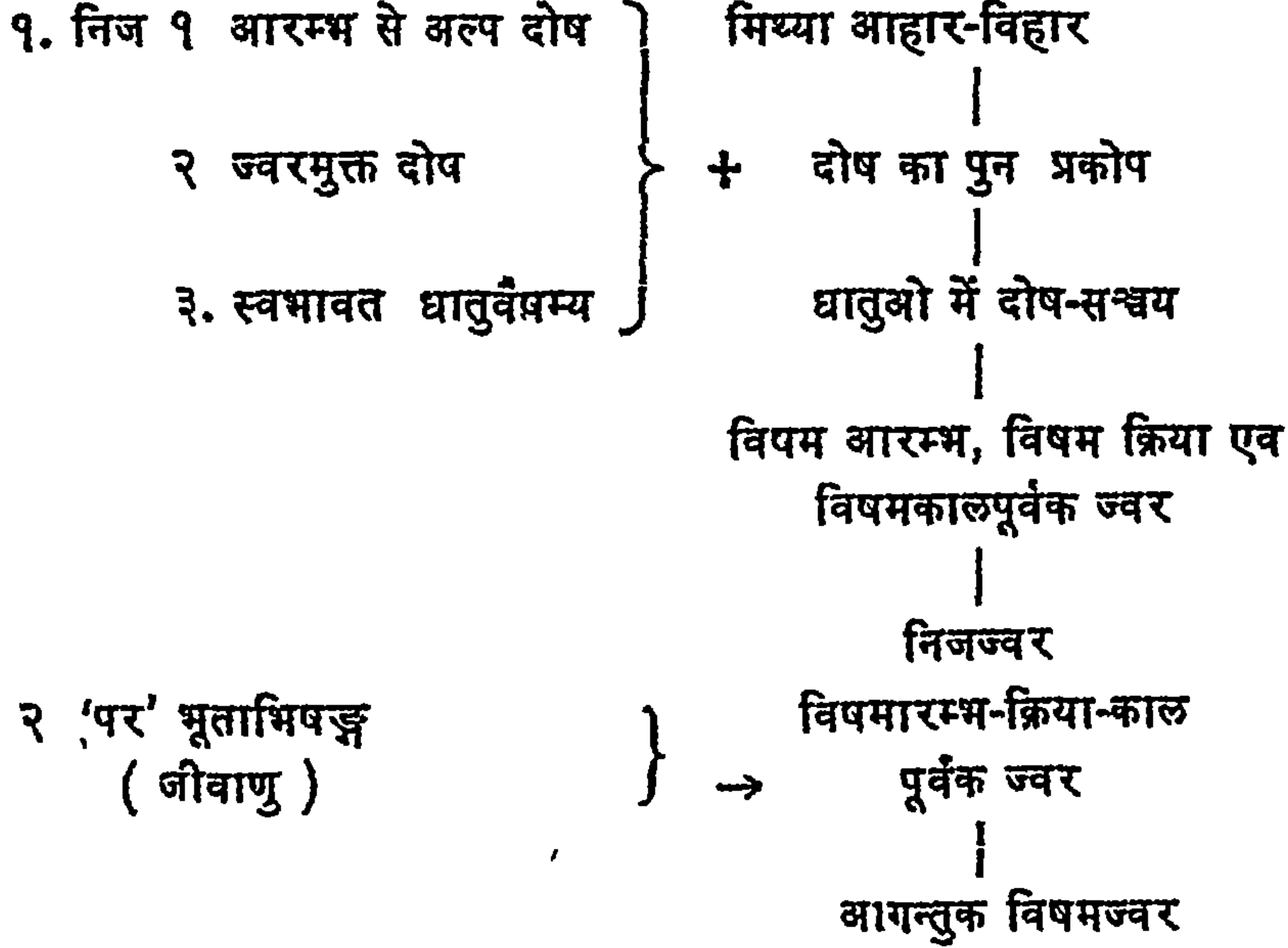
विषम ज्वर के भेद

दो भेद

१ आचार्य दारुवाह ने—१ तृतीयक और २. चतुर्थक, इन्ही दोनो को विषमज्वर माना है, क्योकि इनमे सूक्ष्मतम और दूरतर धातुएँ दूषित होती हैं। तृतीयक मे दोष मेदोगत होता है तथा चतुर्थक मे दोष अस्थि एव मज्जागत होता है।[1]

२ आचार्य सुश्रुत ने कारण-भेद से द्विविध विषमज्वर माना है—

(क) निज अर्थात् धातुवैषम्यकृत।

(ख) आगन्तुक[2] (जीवाणु द्वारा उत्पन्न)।

चार भेद

आचार्य खरनाद[3] ने (सन्तत को छोडकर)—१. सतत, २ अन्येद्युष्क, ३ तृतीयक और ४ चतुर्थक, इन चारो को विषमज्वर माना है।

---

१ अन्ये तु तृतीयकचतुर्थकावेव विषमौ, विषमाणा चिरेण चोत्पादात्, यदाह दारुवाह —सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च। दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्प चिरेण यत्॥ याति देह न वाऽशेष भूयिष्ठ प्रतिपद्यते। क्रमोऽयं तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरे।'
च० चि० ३।७४ चक्रपाणि-टीका

२. परो हेतु स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरित। परो भूतादि कारणम्। (डल्हण)
सु० उ० ३९।५६

३ अन्ये तु सन्तत परित्यज्य सततकादींश्चतुरो विषमज्वरानिच्छन्ति, यत सन्तते कालवैषम्य तादृश नास्ति, उक्त च खरनादेन—'ज्वरा पूर्व मयोक्ता ये पञ्च सन्ततकादय। चत्वार सन्तत हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वरा।' च० चि० ३।७४ पर चक्रपाणि टीका

छह भेद

१. चरकाचार्य ने—१ सन्तत, २ सतत, ३ अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक, ५. चतुर्थक और ६. चतुर्थक विपर्यय, इन छहों को विषमज्वर कहा है।[१]

२. वाग्भट[२] ने भी चरकोक्त छह प्रकार के विषमज्वरो का ही उल्लेख किया है।

३. माधवकर[३] ने भी चरकोक्त छह प्रकार माना है।

सात भेद

काश्यप के अनुसार—१ सन्तत, २. सतत, ३ अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक, ५ चतुर्थक, ६. प्रेतज्वर और ७ ग्रहोत्थ ज्वर के रूप मे ७ प्रकार के विषमज्वर होते हैं।[४]

दश भेद

आचार्य गणनाथ सेन ने पाँच विषमज्वरो के साथ—१ वातबलासक, २. प्रलेपक, ३ श्लैपदिक, ४ औपद्रविक और ५ जीर्ण सततक भेद कालज्वर, इन पाँचो को भी विषमज्वर कहा है। इस प्रकार विषमज्वर की सख्या १० हो जाती है।[५]

बारह भेद

आचार्य सुश्रुत ने—१ सन्तत, २. सतत, ३ अन्येद्युष्क, ४ तृतीयक, ५ चतुर्थक, ६ अन्येद्युष्कविपर्यय, ७ तृतीयकविपर्यय, ८ चतुर्थकविपर्यय,[६] ९ औपत्यक, १० मद्योत्थ, ११ प्रलेपक और १२ वातबलासक, इन बारह भेदो को विषमज्वर माना है।[७]

---

१ विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्यय । च० नि० ३।७३

२ अष्टाङ्गहृ० निदान० २।६८–७३

३ मा० नि० ज्वर० ३४–३९

४ का० स० खिल० १।

५ सन्तत सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थका ।
यश्च वातबलासाख्य. क्षयिणाञ्च प्रलेपक ॥
दर्शादिष्वपरो दृष्टो यश्च श्लैपदिको ज्वर ।
यश्चौपद्रविक दृष्ट प्रायशो जीर्णरोगिणाम् ।
धातुस्था सर्व एवैते विज्ञेया विषमज्वरा ॥ सि० नि० ख० १।१८३–१८५

६ कफस्थानेषु वा दोपस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा ।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान् ॥ सु० उ० ३९।५५

७ वाताधिकत्वात् प्रवदन्ति तज्ज्ञास्तृतीयकञ्चापि चतुर्थकञ्च ।
औपत्यके मद्यसमुद्भवे च हेतु ज्वरे पित्तकृतं वदन्ति ॥
प्रलेपक वातबलासकञ्च कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञा ।
मूर्च्छानुबन्धा विषमज्वरा ये प्रायेण ते द्वन्द्वसमुत्थिताःस्तु ॥ सु० उ० ३।५७–५८

निष्कर्ष

१ सन्तत	७ अन्येद्युष्क विपर्यय	१३. वातबलासक ज्वर
२ सतत	८ तृतीयक विपर्यय	१४ श्लैपदिक ज्वर
३. सतत-भेद कालज्वर	९ चतुर्थक विपर्यय	१५. औपद्रविक ज्वर
४ अन्येद्युष्क	१० प्रेतज्वर	१६ औपत्यिक ज्वर
५ तृतीयक	११ ग्रहोत्थज्वर	१७ मद्यसमुद्भव
६. चतुर्थक	१२. प्रलेपकज्वर	

ये सभी विषमज्वर माने गये हैं।

विषमज्वर-सारणी

दो भेद	चार भेद	छह भेद	सात भेद	दस भेद	बारह भेद
निज	सततक	सन्तत	सन्तत	सन्तत	सन्तत
आगन्तुज	अन्येद्युष्क	सतत	सतत	सतत	सतत
एव	तृतीयक	अन्येद्युष्क	अन्येद्युष्क	कालज्वर	अन्येद्युष्क
तृतीयक	चतुर्थक	तृतीयक	तृतीयक	अन्येद्युष्क	तृतीयक
चतुर्थक		चतुर्थक	चतुर्थक	तृतीयक	चतुर्थक
		चतुर्थक	प्रेतज्वर	चतुर्थक	तृतीयक विपर्यय
		विपर्यय	ग्रहोत्थज्वर	वातबलासक	चतुर्थक विपर्यय
				प्रलेपक	अन्येद्युष्क विपर्यय
				श्लैपदिक	प्रलेपक
				औपद्रविक	वातबलासक
					औपत्यिक
					मद्यसमुद्भव

विषमज्वर के वेगों के अन्तर में युक्ति

ज्वर की सम्प्राप्ति में यह कहा गया है कि 'अपने कारणो से कुपित हुए दोष आमाशय मे पहुँचकर वहाँ की ऊष्मा के साथ मिलकर 'रस' धातु के साथ सम्पृक्त होकर रसवाहक एव स्वेदवाहक स्रोतो के मार्ग अवरुद्ध कर तथा जठराग्नि को मन्द कर उसे सपूर्ण शरीर मे फैलाकर अपने समय मे ज्वर को उत्पन्न करते हैं।'[1]

इस कथन से यह प्रकट है, कि दोष रसधातु के साथ मिलकर ही ज्वर उत्पन्न करते हैं। यह बात विषमज्वर के सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य है—

---

१ दुष्टा स्वहेतुभिर्दोषा· प्राप्यामाशयमूष्मणा।
सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम्॥
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम्।
निरस्य वहिरूष्माण पक्तिस्थानाच्च केवलम्॥
शरीर समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम्। जनयन्ति। सु० उ० ३९।१६ १८

बात यह है, कि रक्त आदि उत्तरोत्तर धातुओ के स्रोत सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम मुखवाले होते हैं तथा ये स्रोत दूर, दूरतर एव दूरतम होते हैं, इसलिए रक्त-मास-मेद अस्थि या मज्जा मे रहे हुए दोष को रसधातु मे पहुँचने मे उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत अधिकाधिक समय लगता है। यही कारण है कि ज्वर के सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक ज्वरो के वेगागम काल मे अन्तर या विलम्ब हो जाता है।[1]

विषमज्वर के आश्रय धातु

१ रस धातु में आश्रित दोष सन्ततज्वर को,

२ रक्त धातु मे आश्रित दोष सततज्वर को,

३. मास धातु मे आश्रित दोष अन्येद्युष्क को,

४ मेद धातु मे आश्रित दोष तृतीयक और

५. अस्थि और मज्जा मे आश्रित दोष चतुर्थकज्वर को उत्पन्न करते है।[2]

दोषगति के अनुसार विषमज्वरो की भिन्नता[3]

१ दोष आमाशयस्थ होने पर सततज्वर को उत्पन्न करता है और यह ज्वर अहोरात्र मे दो बार आता है।

२ उर प्रदेश मे स्थित दोष एक अहोरात्र में उर प्रदेश से आमाशय मे आते हैं तथा दूसरे अहोरात्र मे अन्येद्युष्कज्वर को उत्पन्न करते है।

३ इसी प्रकार कण्ठप्रदेश मे स्थित दोष एक अहोरात्र मे उर प्रदेश मे आते हैं और दूसरे अहोरात्र मे आमाशय मे जाते हैं तथा तीसरे दिन तृतीयक ज्वर उत्पन्न करते हैं।

४ शिर प्रदेश मे स्थित दोष कण्ठ, उर और आमाशय मे तीन दिन मे पहुँचकर चौथे दिन चतुर्थकज्वर उत्पन्न करते हैं।

५ आमाशय आदि मे स्थित दोष प्रतिदिन प्रलेपकज्वर को उत्पन्न करते हैं।

---

१ सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च।
दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पं चिरेण यत्॥
यानि देह न वाऽदीर्घ भूयिष्ठ प्रतिपद्यते।
क्रमोऽय तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरे॥ वाग्भट वचन।

२ सन्तत रसरक्तस्थ सोऽन्येद्यु पिशिताश्रित।
च० चि० ३।७४ पर चक्रपाणि

मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थक।
कुर्याच्चतुर्थक घोरमन्तक रोगसङ्करम्॥ भा० नि० ज्वर०

३ सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचातुर्थकान् सप्रलेपकान्।
कफस्थानविभागेन यथासङ्ख्य करोति हि॥
अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थान प्रपद्यते।
ततश्चामाशयं प्राप्य दोष कुर्याज्ज्वर नृणाम्॥
कफस्थानेषु वा दोषस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्॥ सु० उ० ३९।५२-५३,५५

६ वक्ष स्थल और आमाशय मे स्थित दोष अन्येद्युष्क विपर्ययज्वर उत्पन्न करते हैं।

७. कण्ठ, हृदय और आमाशय मे स्थित दोष तृतीयक विपर्यय ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

८ शिर, कण्ठ, उर और आमाशय मे स्थित दोष चतुर्थक विपर्यय ज्वर उत्पन्न करते हैं।

विषमज्वरो की विभिन्नता मे कारण[1]

वर्षा आदि ऋतु, दिन-रात, दोष और मन मे वलवान् या निर्बल होने से तथा अर्थ (पूर्वजन्मकृत कर्म) के कारण सन्तत आदि ज्वर अपने-अपने काल पर भिन्न-भिन्न रूपो मे हुआ करते हैं।

विषमज्वर का वेग ज्वार-भाटा की तरह

जिस तरह वायु के झोको से उत्पन्न हुई लहरो से सागर भर जाता है और वायु के वेग के चले जाने पर सागर का जल पुन अपनी सीमा में आ जाता है, उसी तरह वायु से प्रेरित हुए दोष अनेक प्रकार के ज्वरो को उत्पन्न करते हैं। जैसे वेग के आने पर समुद्र की तरङ्गें बढकर समुद्र मे तूफान उत्पन्न कर देती हैं और वेग के चले जाने पर वह पानी का तूफान वही विलीन हो जाता है, उसी तरह दोषवेग के उत्पन्न होने से मनुष्य मे ज्वर चढता है तथा दोषवेग के शान्त हो जाने पर ज्वरवेग शान्त हो जाता है।[2]

सन्तत ज्वर

जो ज्वर विना उतरे हुए लगातार सात दिन तक, दस दिन तक या वारह दिन तक वना रहता है, उसे सन्तत ज्वर कहते हैं।[3]

जव दोष अल्प होते हैं, तो ज्वर उक्त अवधि मे शान्त हो जाता है और जब दोष प्रवल होते हैं, तो उक्त अवधि मे रोगी को यमलोक पहुँचा देते हैं।

सन्तत ज्वर की दोषानुसार अवधि

सन्ततज्वर की सप्ताह आदि की अवधि दोषभेद से की गयी है, जैसे—वातप्रधान

---

१. ऋत्वहोरात्रदोषाणा मनसश्च वलावलात्।
कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्त त प्रपद्यते ॥ च० चि० ३।७५

२ वातेनोद्धूयमानस्तु यथापूर्य्येत सागर।
वातेनोदीरितास्तद्वद् दोषा कुर्वन्ति वै ज्वरान् ॥
यथा वेगागमे वेला छादयित्वा महोदधे।
वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रवान्तर्निलीयते ॥
दोषवेगोदये तद्वदुदीर्य्येत ज्वरोऽस्य वै।
वेगहानौ प्रशाम्येत यथाऽम्भ सागरे तथा ॥ सु० उ० ३९।७३ ७४

३ सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्तत स निगद्यते ॥ मा० नि०

न्ततज्वर सात दिन मे, पित्तप्रधान दस दिन मे और कफप्रधान सन्ततज्वर प्राय ारह दिन में उतर जाता है। कभी-कभी जब उक्त अवधि मे ज्वर शान्त नही ोता तो दीर्घकाल तक बना रह जाता है।

सन्तत ज्वर की असह्नीयता

यह ज्वर सदा दोष के अनुकूल परिस्थितियो मे ही होता है। जैसे—

(१) वसन्तऋतु मे (काल) मेद धातु के दूषित होने पर (दूष्य) कफ कृति के मनुष्य मे (प्रकृति) कफ से ज्वर होता है।

(२) शरदऋतु मे रक्त के दूषित होने पर पित्त प्रकृति के मनुष्य मे पित्त से वर होता है।

(३) वर्षाऋतु मे अस्थिधातु के दूषित होने पर वात प्रकृति के मनुष्य मे ात से ज्वर होता है।

यह सन्तत ज्वर त्रिदोषज होता है, फिर भी जो दोष तीनो दोषो मे प्रधान ोता है, वह अपने अनुकूल ऋतु, प्रकृति एव दूष्य के अनुसार ज्वरोत्पादक होता ै। इस प्रकार काल दूष्य-प्रकृति के अनुकूल होने से वह निष्प्रत्यनीक (विरोध-हित) होता है, अतएव वह अत्यधिक दु सह होता है।[1]

सन्तत ज्वर के बारह आश्रय

सन्ततज्वर मे जिस प्रकार वात-पित्त-कफ ये तीन दोष दूषित होकर रस-रक्तादि सात धातुओ को दूषित करते हैं, उसी प्रकार मूत्र और पुरीष को भी दूषित करते हैं। इस प्रकार तीनो दोष, सात धातुएँ और मूत्र एव पुरीष ये सभी दूषित होते हैं। अत इसके ३+७+२=बारह आश्रय होते हैं।[2]
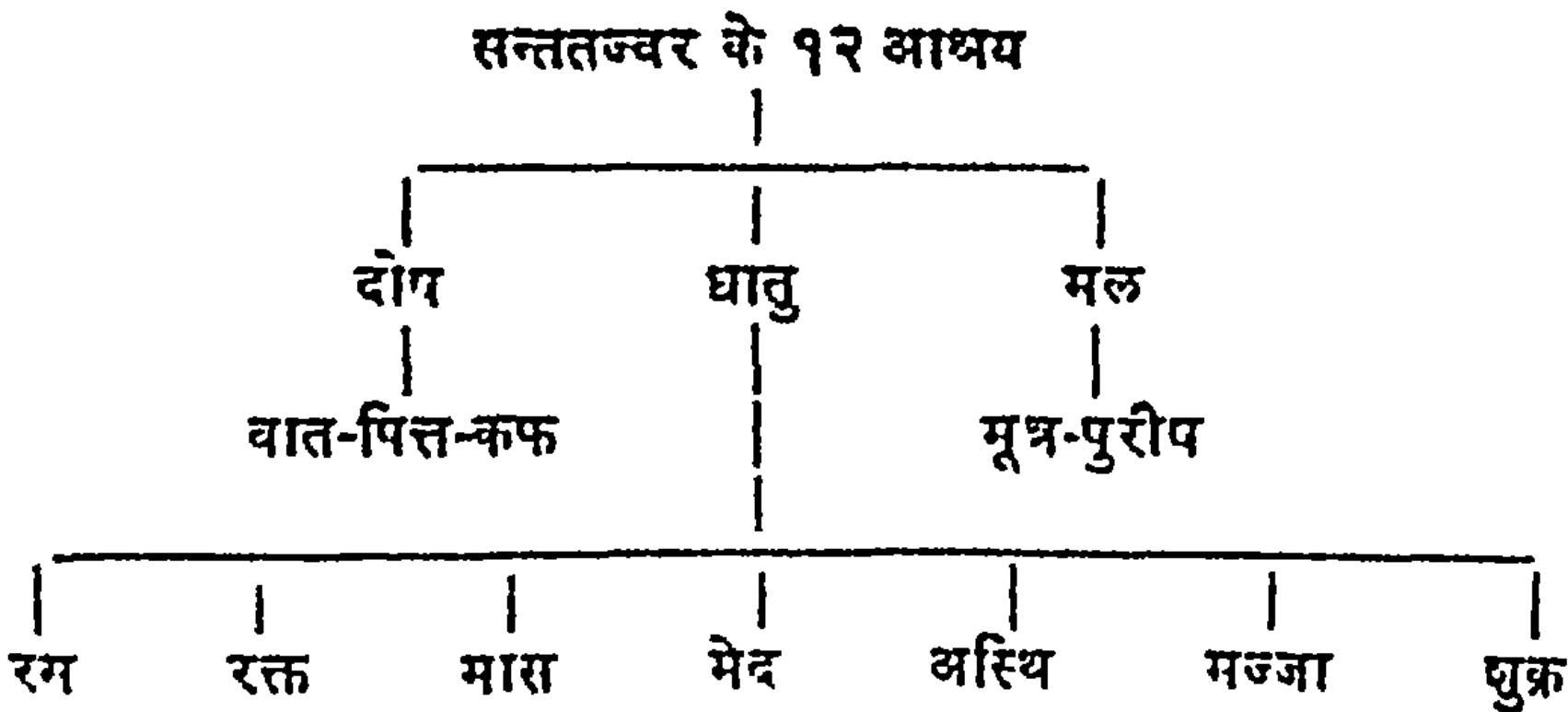
सन्तत ज्वर का कालक्रम

जब सन्तत ज्वर मे रस-रक्त आदि दूष्य पूर्णरूप से शुद्ध नही होते अथवा कुछ

---

१ कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्।
निष्प्रत्यनीक कुरुते तस्माज्ज्ञेय सुदु सह ॥ च० चि० ३।५५

२ यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीष चानिलादय ।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥
द्वादशैते समुद्दिष्टा सन्ततस्याश्रयास्तदा। च० चि० ३।५६,६१

शुद्ध और कुछ अशुद्ध होते हैं, तो यह बारहवें दिन छोड देता है, किन्तु इसका अव्यक्त लक्षण बना रहता है। फिर वह १३वें दिन प्रकट हो जाता है, तब इसका शमन कठिन हो जाता है और यह दीर्घकाल (१४, १८, २२, २८, ४४ दिन) तक बना रह जाता है।

सन्तत ज्वर की विषमता

यह सन्देह किया जाता है, कि सन्तत ज्वर एक अविसर्गी (लगातार बना रहनेवाला) ज्वर है, तो फिर इसे क्योकर विपमज्वर माना जा सकता है ? क्योकि जो ज्वर मुक्तानुबन्धी (छोड-छोड कर होनेवाला) होता है, उसे ही विपमज्वर कहा जाता है तथा खरनाद ने इसे विषमज्वर नही माना है।

समाधान—वस्तुत सन्ततज्वर भी बारहवें दिन अपने लक्षणो को छोड देता है और उसके लक्षण अव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार अव्यक्त लक्षण रूपी विसर्ग या मुक्तानुबन्धित्व लक्षण सन्तत मे भी प्राप्त होता है, यह बारहवें दिन छोड तो देता है, किन्तु फिर तेरहवें दिन प्रकट हो जाता है। अत मुक्तानुबन्धी होने से इसे विपमज्वर मानना युक्तिसङ्गत है।[1]

सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति[2]

बढे हुए दोप सम्पूर्ण शरीर मे फैले हुए रसवाही स्रोतो मे फैल जाते हैं, जिससे स्तब्धता हो जाती है और वे सन्ततज्वर उत्पन्न करते हैं।[3]

सन्तत ज्वर की चिकित्सा

कलिङ्गादि क्वाथ

इन्द्रजौ	१० ग्राम	२०० मिलीलीटर जल मे
परवल का मूल	१० ग्राम	पकावे, चौथाई शेप बचे तो
कुटकी	५ ग्राम	छानकर प्रात काल पिलावे।

वातप्रधान सन्तत ज्वर मे

३—३ घण्टे पर ४ बार

सौभाग्य वटी	५०० मि० ग्रा०
बृहद् वातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
	योग ४ मात्रा

आर्द्रक स्वरस ½ चम्मच और मधु से।

---

१ विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षण।
दुर्लभोपशम काल दीर्घमप्यनुवर्तते। च० चि० ३।५९–६०

२ स्रोतोभिर्विसृता देहा गुरवो रसवाहिभि।
सर्वदेहानुगा स्तब्धा ज्वर कुर्वन्ति सन्ततम्॥ च० नि० ३।५३–५४

३ यह मलेरियल रेमीटेण्ट फीवर (Malerial remitent fever) के साथ सामञ्जस्य रखता है।

पित्तप्रधान ज्वर मे

३–३ घण्टे पर ४ वार

सौभाग्य वटी ५०० मि० ग्रा०
मुक्ताशुक्ति ५०० मि० ग्रा०

योग ४ मात्रा

भुनी वडी इलायची चूर्ण २५० मि० ग्रा० और मधु से।

कफप्रधान ज्वर में

३–३ घण्टे पर ४ वार

सौभाग्यवटी	५०० मि० ग्रा०
रससिन्दूर	२५० मि० ग्रा०

योग ४ मात्रा

भुनी लौंग का चूर्ण १२५ मि० ग्रा० और मधु से।

सतत ज्वर की सम्प्राप्ति

जब कुपित दोष रक्तधातु मे आश्रित होता है, तब वह काल-प्रकृति-दूष्य के विरोधी होने से क्षय तथा वृद्धि के स्वभाववाले सततक ज्वर को उत्पन्न करता है। वह सततकज्वर दिन-रात मे २ वार उत्पन्न होता है।[1]

वक्तव्य—मधुकोष[2] टीका मे कहा गया है, कि चाहे दिन मे २ वार या रात मे २ वार अथवा दिन मे १ वार और रात मे १ वार ज्वर होता है। गणनाथ सेन[3] जी ने इसे कृच्छ्रसाध्य कहा है।

आधुनिक डवल क्वाटिडियन (Double quatidion) के साथ इनका साम्य है।

जब दोष के विपरीत काल होता है, तो ज्वर का क्षय हो जाता है और जब दोष के अनुकूल काल होता है, तो ज्वर की वृद्धि हो जाती है। जैसे—

१ वातप्रधान ज्वर दिन के अन्तिम भाग और रात्रि के अन्तिम भाग मे बढ जाता है।

२ पित्तप्रधान ज्वर दिन के मध्याह्न और रात्रि के मध्य मे बढ जाता है।

३. कफप्रधान ज्वर दिन तथा रात्रि के प्रथम भाग मे वढ जाता है।

---

१ रक्तधात्वाश्रय प्रायो दोष सततकं ज्वरम् ॥
सप्रत्यनीक कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम्।
अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ॥ च० चि० ३।६१ ६२

२ अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ वा, अह्नि एककालं रात्रावेककाल वा, द्वौ कालावितीशान देव। मा० नि० ज्वर० ३५ (मधुकोष टीका)

३. अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।
स कृच्छ्रसाध्यो (जीर्णस्तु स कालज्वर उच्यते) ॥ सि० नि० ख० १।१८१

सततक ज्वर की चिकित्सा

पटोलादि क्वाथ

परवल की पत्ती या मूल	५ ग्राम
अनन्तमूल की जड	५ ग्राम
नागरमोथा	५ ग्राम
पाठा	५ ग्राम
कुटकी	५ ग्राम

उक्त सभी दवायें भूसा की तरह कूट कर २५० मि० ली० जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर प्रात काल पिलावे।

३–३ घण्टे पर ४ बार

ज्वराङ्कुश	२५० मि० ग्रा०
वेताल रस	२५० मि० ग्रा०
चन्द्रोदय	१२५ मि० ग्रा०

योग ४ मात्रा

हरसिंगार और तुलसी के पत्र स्वरस मिलित १ चम्मच और मधु से।

अथवा ३–३ घण्टे पर ४ बार

ज्वरकुञ्जरपारीन्द्र २५० मि० ग्रा०

योग ४ मात्रा

पान की पत्ती के ½ चम्मच रस और मधु से।

सततक भेद : कालज्वर

जब सततक ज्वर पुराना हो जाता है, तब उसे कालज्वर या कालाजार कहा जाता है। यह सततक विषमज्वर धातुओं मे अन्तर्लीन होकर रहता है और समय-समय पर प्रकट होता है। रोगी की अग्नि मन्द हो जाती है, शरीर बलहीन एव क्षीण होता है। शरीर पीला पड जाता है, शोथ, विवर्णता और प्लीहोदर हो जाता है। यह दुश्चिकित्स्य होता है। इसमे उपद्रव स्वरूप अतिसार हो जाता है, कदाचित् नासिका या मसूडो से रक्तस्राव होने लगता है। रोगी के कपोल का मास गलने लगता है।[१] इसे लिसमॅनिएसिस या काला-अजार कहते हैं।

सुश्रुत ने इसे लाघरक नाम से कहा है, जिसका वर्णन पाण्डुरोग के अन्तर्गत किया है। इसे अलसक या पानकी भी कहते हैं।[२]

---

१ सि० नि० ख० १।१९०–१९४

२ (क) सकामलापानकिपाण्डुरोग कुम्भाह्वयो लाघरकोऽलसाख्य।

(ख) ज्वराङ्गमर्दभ्रममादतन्द्राक्षयान्वितो लाघरकोऽलसाख्यः॥ सु० उ० ४४।६, १३

(ग) सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता।
पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकी लक्षणं भवेत्॥ च० चि० अ० १६

कालज्वर की चिकित्सा

सुश्रुत का प्रवालमुक्तादि योग कालज्वर की उत्तम औषध है।[1]

प्रवालमुक्तादि योग

३–३ घण्टे पर ४ बार

प्रवालभस्म	२५० मि० ग्रा०
मुक्ताभस्म	२५० मि० ग्रा०
शुद्ध नीलाञ्जन	२५० मि० ग्रा०
शखभस्म	२५० मि० ग्रा०
शुद्ध स्वर्णगैरिक	५०० मि० ग्रा०

योग ४ मात्रा

कालमेघ की पत्ती के रस तथा हर्रसिंगार की पत्ती के रस मिलित १ चम्मच और मधु से।

ज्वर की विशेषता मे

(पूर्वोक्त) प्रवालमुक्तादि योग	५०० मि० ग्रा०
ज्वरकुञ्जरपारीन्द्र	४०० मि० ग्रा०

३–३ घण्टे पर ४ बार

हर्रसिंगार की पत्ती के रस और मधु से।

अथवा—३–३ घण्टे पर ३ बार

पुटपक्व विषमज्वरान्तक	४०० मि० ग्रा०
प्रवालभस्म	४०० मि० ग्रा०
शखभस्म	४०० मि० ग्रा०

योग ४ मात्रा

हर्रसिंगार के रस और मधु से।

नीलाञ्जन (एण्टीमनी) का एक विशिष्ट योग, इस रोग की वहुश परीक्षित औषध है— यूरिया स्टेबेमीन। इसका आविष्कार डॉ० ब्रह्मचारी ने किया और वह कालज्वर की रामवाण औषध है।

अन्येद्युष्क ज्वर

चौबीस घण्टे मे एक बार आनेवाला ज्वर अन्येद्युष्क कहलाता है।[2] सुश्रुत के अनुसार इसका आश्रय मासधातु है—'सोऽन्येद्यु पिशिताश्रित'—सु० उ० ३९।६७। चरक के अनुसार मेदधातु अन्येद्युष्क का आश्रय है—'अन्येद्युष्क ज्वर दोषो रुद्ध्वा मेदोवहा सिरा'। च० चि० ३।६३।

---

१ प्रवालमुक्ताञ्जनशङ्खचूर्णं लिह्यात्तथा काञ्चनगैरिकोत्थम्। सु० उ० ४४।२४

२ अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रादेककालं प्रवर्तते। सु० उ० ३९।७०

सुश्रुत ने अहोरात्र मे एक बार ज्वर आने का कारण यह वतलाया है, कि कफ का स्थान हृदय भी होता है एव जब कुपित दोष हृदय में होते हैं, तो वहाँ से २४ घण्टे मे आमाशय मे आते हैं और आमाशय मे आकर ही ज्वर उत्पन्न करते हैं।

अन्येद्युष्क ज्वर की सम्प्राप्ति

काल, प्रकृति, दूष्य, इनमे से किसी एक का बल प्राप्त कर सप्रत्यनीक (अर्थात् काल, प्रकृति, दूष्य इनमे से कोई भी एक या दो जिसके प्रतिकूल या विरोधी हो ऐसा) दोष मेदोवहा सिराओ मे अवरोध उत्पन्न कर दिन-रात मे एक वार ज्वर उत्पन्न करता है। इस ज्वर के आने का कोई निश्चित समय नही होता है। किन्तु २४ घण्टे मे किसी एक समय प्रकट हो जाता है[१]। आधुनिक क्वार्टिडियन फीवर से इसकी समता है।

अन्येद्युष्क ज्वर की चिकित्सा

निम्बादि क्वाथ

परवल की पत्ती ५ ग्राम
नीम की छाल ५ ग्राम
निर्वीज आँवला ५ ग्राम
,, हर्रा ५ ग्राम
,, बहेडा ५ ग्राम
नागरमोथा ५ ग्राम
इन्द्रजौ ५ ग्राम

चौगुने जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर प्रात काल पिलाना।

३—३ घण्टे पर ४ वार

महाज्वराङ्कुश ५०० मि० ग्रा०
गोदन्तीभस्म १ ग्राम
योग ४ मात्रा

तुलसीपत्र-स्वरस तथा मधु से।

अथवा—३—३ घण्टे पर ४ वार

ज्वरकुञ्जरपारीन्द्र ५०० मि० ग्रा०
गोदन्तीभस्म १ ग्राम
योग ४ मात्रा

तुलसीपत्र-स्वरस और मधु से।

---

१. कालप्रकृतिदूष्याणा प्राप्यैवान्यतमाद्बलम्।
अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहा सिरा॰।
सप्रत्यनीको जनयत्येककालमहर्निशि॥ च० चि० ३।६१

तृतीयक ज्वर

यह ज्वर जिस दिन आता है, उसके दूसरे दिन नही आता है, फिर तीसरे दिन आ जाता है। इस प्रकार बीच मे एक दिन छोडकर तीसरे दिन पुन होनेवाले ज्वर को तृतीयक ज्वर कहते हैं। सुश्रुत ने इस ज्वर मे दोष को मेदधातु[1] के आश्रित कहा है। चरक ने अस्थि[2] के आश्रित दोष को इस ज्वर का जनक माना है। आधुनिको के अनुसार यह टर्शियन फीवर (Tertian fiver) है।

डल्हण[3] ने कण्ठस्थ दोष को तृतीयक का जनक कहा है। कण्ठदेश मे स्थित दोष एक अहोरात्र मे वक्षःस्थल मे तथा दूसरे अहोरात्र मे आमाशय मे आकर अपने प्रकोप काल मे तीसरे दिन तृतीयक ज्वर को उत्पन्न करता है।

तृतीयकज्वर की सम्प्राप्ति

अस्थिगत सप्रत्यनीक (विरोधी सहित) दोष, काल, प्रकृति, दूष्य, इनमे से किसी एक से बल प्राप्त कर अपने प्रकोपकाल मे, तीसरे दिन तृतीयक ज्वर उत्पन्न करता है।

तृतीयक के तीन प्रकार[4]

(१) कफ और पित्तप्रधान त्रिदोष से होनेवाला तृतीयक ज्वर पहले त्रिक-प्रदेश (कमर) मे जकडन तथा दर्द उत्पन्न करता है।

(२) वात और कफ प्रधान त्रिदोष से होनेवाला तृतीयक ज्वर पहले पीठ मे वेदना उत्पन्न करता है।

(३) वात और पित्तप्रधान त्रिदोष से होनेवाला तृतीयक ज्वर पहले शिर मे वेदना उत्पन्न कर तब फिर समस्त शरीर को प्रभावित करता है।
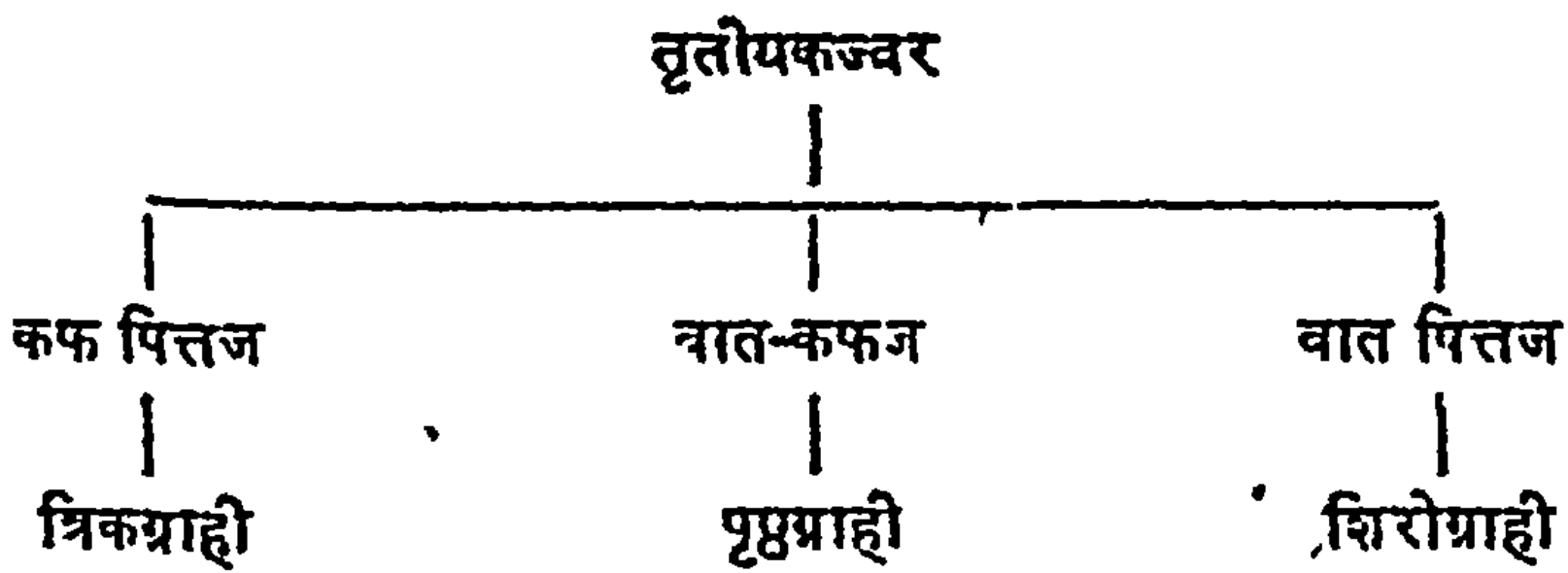
तृतीयक ज्वर की चिकित्सा

तृतीयक ज्वर को साधारण कर्म नष्ट करता है।[5] साधारण शब्द से दैवव्यपाश्रय

---

१ मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि। सु० उ० ३९।

२. दोषोऽस्थिमज्जग कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ। च० चि० ३।६४

३ कण्ठस्थस्तृतीयकम्। डल्हण

४ कफपित्तात् त्रिकग्राही पृष्ठाद् वातकफात्मक।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविध स्यात् तृतीयक ॥ च० चि० ३।७१

५ कर्म साधारण जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ। च० चि० ३।२९२

और युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का ग्रहण किया जाना चाहिए। अर्थात् दोष के ससर्ग के अनुसार क्वाथ, चूर्ण, आसव-अरिष्ट आदि का यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए।

विषमज्वर मे आगन्तुक (भूत-प्रेत या जीवाणु) का भी अनुबन्ध होता है,[1] अत जीवाणुनाशक होम-नियम-बलि-मगलाचार आदि दैवव्यपाश्रय[2] चिकित्सा भी करनी चाहिए।

किरातादि क्वाथ

चिरायता ५ ग्राम
गुरुच ५ ग्राम
लालचन्दन ५ ग्राम
सोठ ५ ग्राम

सभी का मोटा चूर्ण बनाकर २०० मि० ली० जल मे चतुर्थांवशिष्ट क्वाथ बनाकर प्रात काल पिलाना चाहिए।

ज्वर के वेग के समय से ६ घण्टा पूर्व से २–२ घण्टे पर ३ बार

गोदन्ती भस्म	१	ग्राम
रससिन्दूर	३००	मि० ग्रा०
भुना करजबीज चूर्ण	३	ग्राम

योग ३ मात्रा

चिचिडी के पत्ते के १ चम्मच रस और मधु से।

अथवा—

ज्वर आने के ६ घण्टा पूर्व से २–२ घण्टे पर

त्र्याहिकारि रस	५००	मि० ग्रा०
भुना अतीस चूर्ण	१½	ग्राम

योग ३ मात्रा

मधु से।

चतुर्थकज्वर

जो ज्वर बीच मे २ दिन छोडकर पुनः चौथे दिन आ जाता है, उसे चतुर्थक ज्वर कहते हैं।[3]

सम्प्राप्ति

काल, दूष्य तथा प्रकृति, इनमे से किसी एक के या दो के बल को प्राप्त कर

---

१ आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे। च०/चि० ३।२९२
२. शापाभिचाराद् भूतानामनुषङ्गाच्च यो ज्वर.।
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते॥ च० चि० ३।३१७-३१८
३ दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थक·। च० चि० ३।६७

सप्रत्यनीक (काल-प्रकृति-दूष्य मे से किसी एक या दो के प्रतिकूल रहने पर) दोष, बीच मे २ दिन छोडकर अपने प्रकोपकाल मे चौथे दिन चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। इसका जनक दोष मज्जाधातु के आश्रित रहता है।

काश्यप के अनुसार चतुर्थक जनक दोष शिरःस्थ होता है। वह शिर मे स्थित दोष दूसरे दिन कण्ठ मे, तीसरे दिन वक्ष मे और चौथे दिन आमाशय मे आकर अपने प्रकोपकाल मे चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है।[1]

प्रभाव भेद से चतुर्थक के दो भेद[2]

चतुर्थक ज्वर प्रभाव भेद से दो प्रकार से पीडा करता है। जब वह कफप्रधान होता है, तो वह प्रथम जघाओ की पिण्डलियो मे पीडा उत्पन्न कर समस्त शरीर को प्रभावित करता है और यदि वह वातप्रधान होता है, तो पहले शिर में पीडा उत्पन्न कर तब शरीर को पीडित करता है।
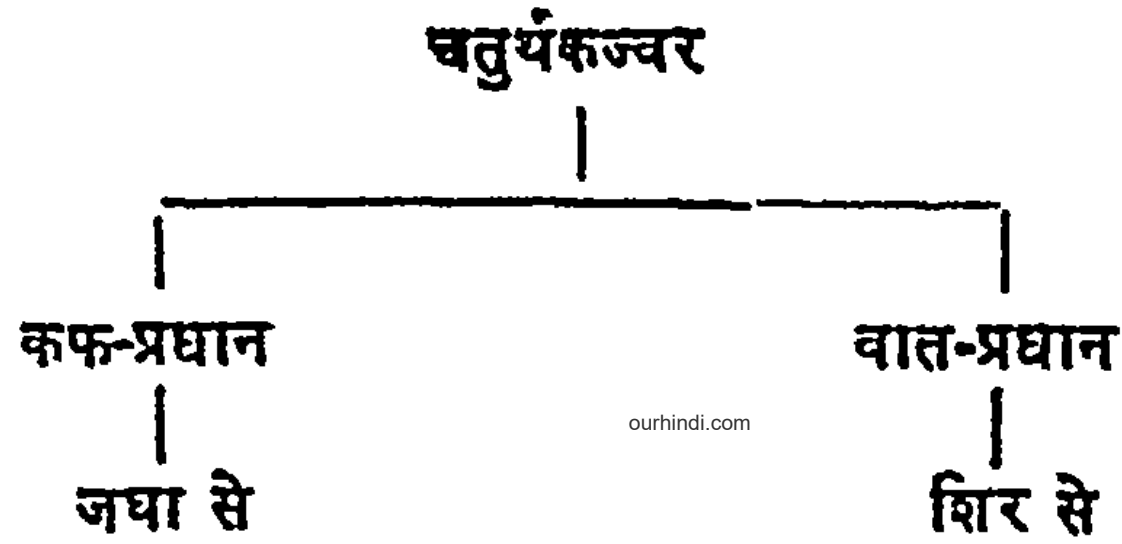
चतुर्थक ज्वर की चिकित्सा

गुडूच्यामलकादि क्वाथ

गुरुच	१० ग्राम
निर्बीज आँवला	१० ग्राम
नागरमोथा	१० ग्राम

विधिवत् क्वाथ बनाकर सवेरे शाम पिलाना।

ज्वर आने के ६ घण्टा पूर्व से २–२ घण्टे पर ३ बार

हरिताल भस्म ३०० मि० ग्रा०

योग ३ मात्रा

तुलसीपत्र-स्वरस तथा मधु से।

अथवा—

ज्वर आने के ६ घण्टा पूर्व से २–२ घण्टे पर ३ बार

चतुर्थकारि रस ५०० मि० ग्रा०

योग ३ मात्रा

---

१ काश्यप० खिल० १

२. चतुर्थको दर्शयति प्रभाव द्विविध ज्वर।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिक पूर्वं शिरस्तोऽनिलसम्भव ॥ च० चि० ३।७२

मधु और हरसिंगार की पत्ती के रस से।

अथवा—

ज्वर आने के ६ घण्टा पूर्व से २–२ घण्टे पर

ज्वरकुञ्जरपारीन्द्र ५०० मि० ग्रा०

भुना करजबीज चूर्ण ३ ग्राम

योग ३ मात्रा

पान की पत्ती के रस और मधु से।

विपर्यय ज्वर

चतुर्थक विपर्यय ज्वर[1]

जब दोष अस्थि और मज्जा दोनो मे अवस्थित होते हैं, तब 'चतुर्थकविपर्यय' नामक विषमज्वर उत्पन्न होता है। इसमे मध्य में दो दिन लगातार ज्वर रहता है और इन दो दिनो के पूर्व और पश्चात् १–१ दिन ज्वर नहीं रहता है।

कतिपय विद्वान् चतुर्थक विपर्यय की तरह तृतीयक, अन्येद्युष्क तथा सततक का भी विपर्यय मानते हैं।[2]

तृतीयक विपर्यय

जो विपर्यय आदि और अन्त के दिनो को छोडकर मध्य में एक दिन चढता है, उसे 'तृतीयकविपर्यय' कहते हैं।

अन्येद्युष्क विपर्यय

दिन-रात के किसी एक समय को छोडकर शेष सब समय मे बने रहनेवाले ज्वर को 'अन्येद्युष्कविपर्यय' कहते हैं।

सततक विपर्यय

दिन-रात के किसी दो समय को छोडकर शेष सब समय मे ज्वर के वेग का बना रहना 'सततकविपर्यय' है।

इन विपर्ययो का कारण नाना प्रकार की दोष विकृतियाँ ही हैं।

वक्तव्य—आचार्य चरक ने केवल चतुर्थक विपर्यय ज्वर का वर्णन किया है, और कहा कि दोष अस्थि और मज्जा इन दो धातुओ मे स्थित होकर जिस ज्वर को उत्पन्न करता है, वह 'चतुर्थक विपर्यय' होता है।

---

१. विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः।
त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोति यम्॥ च० चि० ३।७३

२. कफस्थानेषु वा दोषस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्॥ सु० उ० ३९।५५

आचार्य सुश्रुत[१] ने कहा है, कि कफ के स्थान हृदय, आमाशय आदि मे स्थित दोष दूसरे और चौथे दिनो मे विपर्यय सज्ञक कृच्छ्रसाध्य विषमज्वरो को उत्पन्न करते हैं। आचार्य सुश्रुत के इस कथन की व्याख्या करते हुए आचार्य जेज्जट[२] ने अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक, इन सबके विपर्यय ज्वरो का वर्णन किया है। जैसे—

(१) आमाशय तथा हृदय दोनो मे दोष के स्थित होने से 'अन्येद्युष्क विपर्यय' ज्वर होता है।

(२) आमाशय, हृदय तथा कण्ठस्थित दोष से 'तृतीयक विपर्यय' ज्वर होता है। जिस दिन हृदयस्थ दोष आमाशय मे पहुँचकर ज्वर उत्पन्न करता है, उसी दिन कण्ठस्थित दोष हृदय मे आ जाता है और दूसरे दिन वही आमाशय मे पहुँचकर पुन ज्वरवेग प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार दो दिन ज्वर होकर एक दिन नही होता। इसको ही तृतीयक विपर्यय ज्वर कहते हैं।

(३) आमाशय, हृदय, कण्ठ और शिर मे स्थित दोष से 'चतुर्थकविपर्यय ज्वर' होता है।

(क) प्रथम दिन हृदयस्थ दोष आमाशय मे पहुँचकर ज्वर उत्पन्न करता है। उसी दिन कण्ठस्थ दोष हृदय मे और शिरस्थ दोष कण्ठ मे आजाता है।

(ख) द्वितीय दिन पुन. हृदयस्थ दोष आमाशय मे पहुँचकर ज्वरवेग प्रारम्भ करता है और उसी दिन कण्ठस्थ दोष हृदय मे पहुँच जाता है। इस प्रकार—

(ग) तीसरे दिन भी हृदयस्थ दोष आमाशय मे पहुँचकर ज्वर को उत्पन्न करता है।

उक्त क्रम से तीन दिनो तक लगातार ज्वर बना रहता है और एक दिन के लिए रोगी ज्वरमुक्त हो जाता है। इसे जेज्जटाचार्य ने 'चतुर्थकज्वर' कहा है।

ये पूर्वोक्त सभी विषमज्वर के प्रकार ऋषियो द्वारा वर्णित और मान्य हैं। यद्यपि इनके वर्णन में मतभेद है, किन्तु सभी पक्ष स्वीकार्य हैं। विषमज्वर के अनेकानेक प्रकार हैं, जो वर्णित प्रकारो से मिलते-जुलते हैं।

कफस्थानानुसार ज्वरोत्पत्ति

आमाशयस्थ दोष	हृदयस्थ दोष	कण्ठस्थ दोष	शिरस्थ दोष	सन्धिस्थ दोष
सतत ज्वर	अन्येद्युष्क ज्वर	तृतीयक ज्वर	चतुर्थक ज्वर	प्रलेपक ज्वर
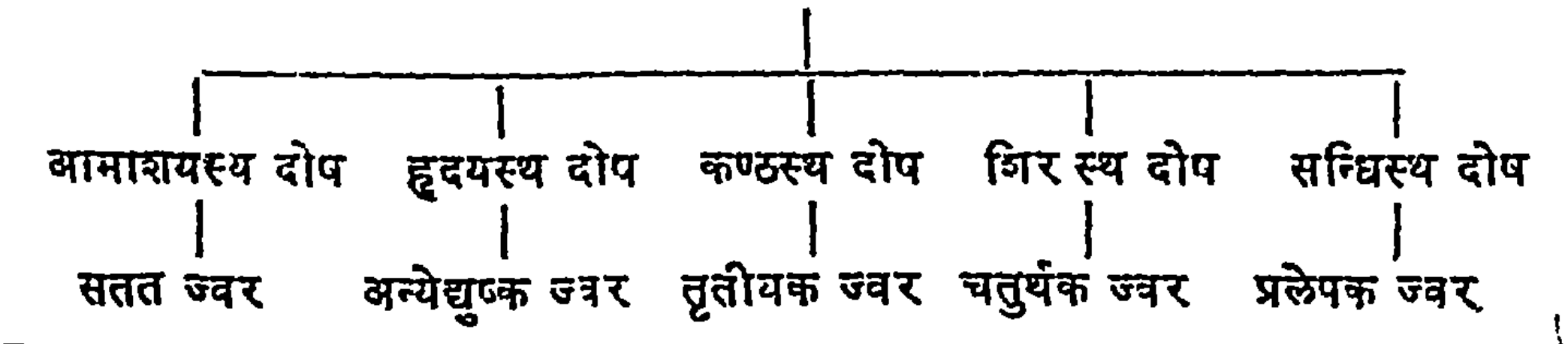
१ अहोरात्रादहोरात्राद् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते।
ततश्चामाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥
कफस्थानविभागेन यथासङ्ख्यं करोति हि।
सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचतुर्थकान् सप्रलेपकान् ॥ सु० उ० ३९।५३, ५५

२ माधवनि० ज्वर० ३९ पर मधुकोष-व्याख्या।

चिकित्सा

उन-उन विषमज्वरो की जो चिकित्सा कही गयी है, वही चिकित्सा उसके विपर्यय विषमज्वरो की भी करनी चाहिए।

मलेरिया

परिचय

विषमज्वर के वर्णन के प्रसङ्ग मे आचार्य सुश्रुत[1] मे विषमज्वर मे आगन्तुक का अनुबन्ध होना बतलाया है और आचार्य चरक ने अभिषङ्ग ज्वर के कथन में भूताभिषङ्गज ज्वर का उल्लेख किया है।[2] 'आगन्तुक' और 'भूत' शब्द से सूक्ष्म जीवाणु अर्थ ग्रहण करने से मलेरियाज्वर का विषमज्वर के साथ सामञ्जस्य बैठ जाता है, क्योकि जैसे विषमज्वर के कारण आगन्तुक तथा भूत हैं, उसी प्रकार मलेरिया के भी कारण सूक्ष्म जीवाणु हैं और दोनो के लक्षण एक समान होते हैं।

कोष-ग्रन्थो मे भूत शब्द का अर्थ पिशाच और क्षुद्र जन्तु किया गया है।[3] पिशाच मासभक्षी क्षुद्र जन्तुओ को कहते हैं—'पिशित मासमाचामति इति पिशाच।' इस प्रकार भूत शब्द जीवाणु वाचक है और वह विषमज्वर का कारण कहा गया है।

विशेष जाति के जीवाणु से होनेवाला मलेरियाज्वर अधिकाश विद्वज्जनो के मत मे विषमज्वर ही है।

यह शीतपूर्वक या दाहपूर्वक, शिर शूल, वमनेच्छा, सर्वाङ्गव्यथा आदि तीव्र लक्षणो के साथ उत्पन्न होनेवाला ज्वर है, जो बार-बार आक्रमण करता है। इसके आक्रमण का काल कभी शीघ्र और कभी विलम्ब से होता है। इसके भोग का काल भी कभी अल्प और कभी अधिक होता है। वेग कभी मृदु और कभी तीक्ष्ण होता है। कभी जाडा लगता है और कभी सन्ताप के साथ शुरू होता है। इसमे विषम आरम्भ, विषम क्रिया और विषम काल, ये विषमज्वर के सभी लक्षण मिलते हैं।[4]

मलेरिया का कारण

मलेरिया को उत्पन्न करनेवाले विशेष जाति के जीवाणु होते हैं, जिनका सवर्धन और प्रसार मच्छरो के द्वारा होता है। अत. मच्छर-बहुल स्थानो में मलेरिया का प्रकोप अधिक देखा जाता है। आनूप देशो, जलाशयो, मलिन, गन्दी व अन्धकारपूर्ण बस्तियो और तराई वाले इलाको के आवासो मे रहनेवाले लोग अधिकाश मलेरिया-ग्रस्त होते है। मच्छरो की वृद्धिवाले मौसम मे मलेरिया अधिक फैलता है।

मलेरिया का प्रधान कारण प्लाज्मोडियम जाति का जीवाणु है, जिसका

---

१ आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे। सु० उ० ३९।५६

२ कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वर।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गज॥ च० चि० ३।११५

३. भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ जन्तौ क्लीबे त्रिपूचिते। मेदिनीकोष

४ विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्। अ० हृ० नि० २।६९

संवहन, प्रसार तथा मनुष्यो मे उपसर्ग एनाफ्लीज जाति के मच्छरो द्वारा होता है। प्लाज्मोडियम की चार जातियाँ मलेरिया उत्पन्न करती हैं। जैसे—

१ प्लाज्मोडियम वाईवैक्स से		तृतीयकज्वर
(Plasmodium vivax	—	Benign tertian)
२ प्लाज्मोडियम मलेरिया से	—	चतुर्थकज्वर
(Plasmodiam Malaria		Quartan)
३. प्लाज्मोडियम फैल्सीफेरम से		घातक तृतीयकज्वर
(Plasmodium Falcifarum	—	Malignant tertian)
४ प्लाज्मोडिम आवेल से		सामान्य तृतीयक के समान
(Plasmodium Ovale	—	Benign tertian)

इन जीवाणुओ के जीवन के दो विभाग होते है—१ मच्छर के शरीर मे और २ मानव शरीर मे।

चिकित्सा की दृष्टि से जीवाणुओ की निम्नलिखित अवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं—

१ मशकदंश द्वारा मानव-शरीर मे प्रविष्ट अशकेत (स्पोरोजोआ) रक्त मे जाकर, कुछ समय तक वृद्धि करके, यकृत् कोषाओ मे सचित होकर एक सप्ताह मे पर्याप्त वृद्धि कर लेते हैं।

२ यकृत् कोषाओ के विदीर्ण हो जाने पर अशकेत (स्पोरोजोआ) रक्त प्रवाह मे पहुँचकर रुधिरकायाणु का भेदन कर अन्त प्रविष्ट होकर वृद्धि करते हैं। इस समय तक रोग का सचयकाल होता है—रोग का विशेष लक्षण प्रकट नही होता। जब रक्तकण विदीर्ण होता है और जीवाणु बाहर आ जाते हैं, तब शीतपूर्वक ज्वर होता है।

३ कुछ समय बाद जब जीवाणु विभाजन पद्धति से वृद्धि नही कर सकता, तब अशकेत का परिवर्तन व्यवाय कायाणु मे होता है, जो मशक शरीर मे बिना प्रविष्ट हुए रोगोत्पत्ति-सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता।

घातक मलेरिया

(Malignant Malaria)

घातक मलेरिया ज्वर का आक्रमण किसी भी समय हो सकता है। उसमे बाहर से अल्प मात्रा मे सन्ताप होने पर भी तीव्र शिर शूल, वमन, दाह, सर्वाङ्ग वेदना, प्रलाप, मूर्च्छा इत्यादि गम्भीर लक्षण होते हैं। ज्वर का अनुबन्ध कई दिनो तक बना रहता है। पैत्तिक लक्षणो की उत्पत्ति होना, तृष्णा, दाह, शिर शूल, प्रवाहिका, कामला, प्लीहवृद्धि आदि के आधार पर इसका अनुमान किया जाता है।

मलेरिया का प्रभाव

मलेरिया के जीवाणु रक्तकणो का भक्षण कर बढते हैं, इस कारण दुर्बलता और रक्ताल्पता बढती है। मलेरिया मे अधिक सख्या मे रक्ताणु नष्ट होते हैं और इन

विनष्ट हुए रक्तकणो का भक्षण करना प्लीहा का काम है तथा प्लीहा का काम जब बढ जाता है, तब वह स्वय बढ जाती है। जीवाणु रक्तकणो के साथ प्लीहा में प्रविष्ट हो जाते हैं और प्लीहा मे पहुँचकर उसके कोशाओ को दूषित कर देते हैं। अधिक दिनो तक जब यही क्रम चलता रहता है, तब प्लीहा मे सूत्रमय तन्तुओ की रचना हो जाती है, जिससे वह कठोर हो जाती है और स्थिर रूप से बढ जाती है। मलेरिया के जीवाणु यकृत मे जाकर उसके कोषाओ को विक्षुब्ध कर देते हैं, जिससे उसमे सूत्रमय तन्तु बढ जाते हैं और यकृत् की वृद्धि हो जाती है। रक्तकणो के अधिक विनष्ट होने से रक्तरञ्जक अधिक विमुक्त होकर रञ्जक पित्त को बढाते हैं एवं रञ्जक पित्त अधिक मात्रा मे तैयार होता है। यकृत उस सपूर्ण पित्त को निर्माण कार्य मे लगाने मे असमर्थ होता है, इसलिए वह रक्त मे मिलकर कामला के तुल्य लक्षण उत्पन्न कर देता है। जो रक्तरञ्जक काम मे नही आते, उनसे कृष्ण-रञ्जक-प्रभृति बनकर मूत्र मे आकर उसे काला और लाल कर देते हैं अथवा नेत्रो के नीचे कपोल पर बैठ जाते हैं, जिससे कपोलो पर काले दाग मालूम होते हैं। रक्तकणो के अधिक विनष्ट हो जाने पर प्रोटीन के अधिक विमुक्त होने से यूरिया बन जाता है, इससे मूत्र गाढा हो जाता है।

मलेरिया ज्वर मे श्वेतकण भी अल्प हो जाते हैं। जब मलेरिया के जीवाणु पक्वाशय, अन्त्र और श्लैष्मिककलाओ मे पहुँच जाते हैं, तब विसूचिका के लक्षण प्रकट होते है और जब मस्तिष्क की कैशिक रक्त-प्रणाली मे पहुँचते हैं, तब उन्माद के लक्षण प्रकट होते हैं।

मलेरिया ज्वर की तीन अवस्थाएँ

प्रथम अवस्था—प्रथमावस्था आधे घण्टे से एक घण्टे तक रहती है। रोगी बेचैन और उदास रहता है, शरीर शिथिल होता है, सन्धियो मे दर्द होता है, शरीर काँपने लगता है तथा रोगी चारपाई पर उछलने लगता है और दाँत किटकिटाता है। अगुलियो का अग्रभाग नीला पड जाता है, फिर ताप बढ़ने लगता है, जिससे बेचैनी बढ जाती है, जी मिचलाने लगता है, नाडी की गति तीव्र हो जाती है, मुखमण्डल लाल हो जाता है और हाथ-पैर या जोडो मे ऐंठन मालूम होने लगती है।

द्वितीय अवस्था—रोगी के शरीर का ताप बढ जाता है और रोगी गर्मी सहने में असमर्थ होता है। शरीर का तापमान १०३ से १०६ डिग्री तक बढ जाता है, जिससे रोगी प्रलाप करने लग जाता है। यह अवस्था-१ से ६ घण्टे तक रहती है।

तृतीय अवस्था—इसमे रोगी के मस्तक तथा चेहरे पर पसीने की बूँदें निकलने लगती हैं, फिर पूरे शरीर मे पसीना निकलने लगता है। पसीना होने से बेचैनी कम होती है, ज्वर शीघ्रता से उतरने लगता है, रोगी को कमजोरी महसूस होने लगती है और प्राय नीद नही आती। यदि अधिक दिनो तक ज्वर का क्रम चलता रहता है, तो रोगी क्षीण तथा दुर्बल हो जाता है, रक्ताल्पता हो जाती है और उसका

मनोबल गिर जाता है। यकृत-प्लीहा के बढ़ जाने पर रोगी अधिक दिनों तक इस रोग की यन्त्रणा में पड़ा रह जाता है।

मलेरिया की जीवाणुजन्य सम्प्राप्ति

मलेरिया के रोगी के शरीर में मलेरिया जनक जीवाणुओं का प्रवेश एनाफिलीज जाति के मच्छर के काटने से होता है, जब कि वह मच्छर स्वयं मलेरिया के जीवाणु से उपसृष्ट होता है। मनुष्य के रक्तधातु में प्रविष्ट मलेरिया के जीवाणु लालकणों को विदीर्ण करके बाहर आ जाते हैं, जो शीत कम्पपूर्वक ज्वर का वेग प्रारम्भ होता है। ये जीवाणु विभिन्न प्रकार के होते हैं। इनके रक्तकण से बाहर आने का काल भी भिन्न होता है अतः मलेरिया ज्वर के वेग भी अलग-अलग समयों पर होते हैं।

इन जीवाणुओं के जीवन के निम्नलिखित दो चक्र हैं—

(१) अमैथुनीचक्र

मशकदंश के पश्चात् मानव रक्त में विषमज्वर के जिन जीवाणुओं का प्रवेश होता है, वे विभाजन के द्वारा अपनी वृद्धि करते हैं—स्त्री-पुरुषकामाय कायाणु (Male and female gametocyst) की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए इसे अमैथुनीचक्र कहते हैं। प्रारम्भ में रक्त में प्रवेश के समय के कुछ देर बाद ये यकृत कोषाओं में संचित होते हैं। वहाँ पर्याप्त वृद्धि होकर अणुवेतों (Merozoites) में रूपान्तर होता है। इसमें ६ से १२ दिन लगते हैं। यकृत से कुछ जीवाणु रक्तकायाणु के भीतर प्रविष्ट होकर वृद्धि करते हैं। इन्हें रुधिर कायाणुगत (Erythrocitic) कहते हैं। जीवाणु रुधिरकायाणु के भीतर सवंधित होने पर उसका विदारण करके प्लीका में आते हैं। विदारण के समय रुधिरकायाणु के भीतर संचित विजातीय प्रोटीन-सम विष पृथक् होकर रक्तरस में मिलता है, जिसकी प्रतिक्रिया रूप में शीतपूर्वक ज्वराक्रमण होता है।

(१) प्लाज्मोडियम वाईवैक्स का जीवन-चक्र ४८ घण्टे में पूर्ण होता है, अतः रक्तकण में प्रविष्ट हुए सम्पूर्ण अणुवेत ४८ घण्टे के पश्चात् रक्तकण को विदीर्ण करके बाहर आते हैं। इस जाति के जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर प्रति तीसरे दिन ज्वर का वेग आया करता है। अतः प्राचीनों ने इसे तृतीयक ज्वर नाम दिया है।

(२) प्लाज्मोडियम मलेरिया नामक उपजाति के जीवाणु का जीवनचक्र ७२ घण्टे में पूर्ण होता है। अतः रक्तकणों में लीन अणुवेत ७२ घण्टे पर रक्तकण को विदीर्ण कर बाहर आ जाते हैं, जिससे मध्य में दो दिन छोड़कर चौथे दिन ज्वर का वेग आ जाता है। इसे चतुर्थक ज्वर कहते हैं।

(३) प्लाज्मोडियम वाइवैक्स के दो स्वतन्त्र वंश-विस्तार लगातार दो दिन होने से अन्येद्युष्क ज्वर होता है। यह २४ घण्टे में एक बार आता है और पूर्ण विसर्गी स्वरूप का होता है, इसे तृतीयक विपर्यय (Double tertian) भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह कि किसी व्यक्ति को तृतीयक जीवाणु का उपसर्ग १ तारीख को हुआ और २ तारीख को भी हुआ, जो जीवाणु १ तारीख को शरीर में पहुँचे, वे १५ दिन

के सचयकाल (Incubation period) के पश्चात् १५, १७, १९ आदि तारीखों मे ज्वर उत्पन्न करेंगे। इसके अतिरिक्त २ तारीख को हुए उपसर्ग के फलस्वरूप १६, १८, २० आदि तारीखो मे भी ज्वर होगा। इस प्रकार का वेग प्रतिदिन आयेगा। अत यह प्रतिदिन आनेवाला ज्वर अन्येद्युष्क ज्वर कहलाता है।

इसी प्रकार चतुर्थक ज्वर जनक जीवाणु के पृथक्-पृथक् लगातार दो उपसर्ग होने से दूसरे प्रकार का ज्वर उत्पन्न होता है, जिसे चतुर्थकविपर्यय कहते हैं। चतुर्थकविपर्यय का चक्र तीन दिन का होता है, इसमे १ दिन छोडकर २ दिन लगातार ज्वर बना रहता है। चतुर्थक ज्वर जनक जीवाणु के लगातार २ दिन उपसर्ग होने से चतुर्थक विपर्यय ज्वर होता है।

जो जीवाणु १ तारीख को शरीर मे पहुँचे, वे २० दिन के सचयकाल के पश्चात्, २०, २३, २६, २९ आदि तारीखो में ज्वर उत्पन्न करेंगे। इसी प्रकार जो जीवाणु २ तारीख को प्रविष्ट हुए, उनके कारण २१, २४, २७ आदि तारीखो मे ज्वर का वेग आयेगा। अत चतुर्थक जनक जीवाणु के ही दो उपसर्ग से दो सज्वर दिन और एक ज्वररहित दिन होगा। इसे चतुर्थक विपर्यय कहते हैं।

(२) मैथुनीचक्र

रुधिरकायाणु के भीतर प्रवेश तथा जीवाणुओ की वृद्धि कुछ समय तक चक्रवत् होती रहती है। कुछ समय बाद विभाजन के द्वारा वृद्धि नही हो सकती, तब इसका रूपान्तर व्यवाय कायाणुओ मे होता है। व्यवाय कायाणुओ की उत्पत्ति तृतीयक मे प्रारम्भ से, घातक विषमज्वर मे, एक सप्ताह मे तथा चतुर्थक मे ४ सप्ताह बाद होती है। इनकी वृद्धि तथा इनका रुधिर कायाणु प्रवेश न हो सकने के कारण रोगोत्पत्ति नही हो सकती। मशकदश के साथ इनका पुन मशक शरीर मे प्रवेश होने पर वही स्त्री-पुरुष व्यवाय कायाणुओ का सम्मिलन होकर पूर्ववत् क्रियाशक्ति प्राप्त होती है। मशक शरीर मे पोषित-वर्द्धित होनेवाले चक्र को मैथुनीचक्र कहते हैं।

शीत विषमज्वर

जब कफ और वात दोष कुपित होकर त्वचा मे ठहरते हैं, तो पहले शीत लगकर ज्वर चढता है। कुछ समय के बाद जब इनका प्रकोप कम होता है, तब पित्त कुपित होकर दाह आदि अपने लक्षण प्रकट करता है, इसको शीत विषमज्वर कहते हैं।[1]

दाह विषमज्वर

जब पित्त प्रकुपित होकर त्वचा मे ठहरता है, तो पहले दाह को उत्पन्न करके ज्वर उत्पन्न करता है, इसके बाद पित्त के शान्त होने पर जाडा लगता है। यह ज्वर अत्यन्त कष्टसाध्य होता है।[2]

---

१ त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे।
तयो प्रशान्तो पित्तमन्ते दाह करोति च॥ सु० उ० ३९।५९

२ करोत्यादौ तथा पित्त त्वक्स्थ, दाहमतीव च।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुत शीतमन्तत॥ सु० उ० ३९।६०

विषमज्वर का विशेष प्रकार

जब शरीर मे आहार रस, कफ और पित्त दूषित हो जाते हैं, तब श्लेष्मा से आधा देह ठंडा और पित्त से आधा शरीर गरम मालूम होता है। इसका दो रूप है—

१ जब कोष्ठ मे दूषित पित्त पहुँचता है, तब शरीर का मध्य भाग गरम रहता है और हाथ-पैर मे कफ के स्थित होने से हाथ-पैर ठंडे रहते हैं।

२ जब कोष्ठ मे दूषित कफ पहुँचता है, तब कोष्ठ या मध्य शरीर मे ठण्डक रहती है एव हाथ-पैर मे दूषित पित्त के रहने से हाथ-पैर में गरमी रहती है।

प्रलेपक ज्वर[1]

दोषो के सन्धियो मे पहुँचने पर प्रलेपक ज्वर की उत्पत्ति होती है। यह ज्वर सदा बना रहता है। प्रात काल मे इसका वेग कम हो जाता है और अपराह्ण या सायङ्काल मे बढ जाता है। इसमे बार-बार स्वेद निकलता है तथा रोगी को शरीर में भारीपन तथा शीत का अनुभव होता है। यह प्रलेपक नामक ज्वर है, जो राज-यक्ष्मा के रोगियो के लिए विशेष कष्टकारक होता है।

वातबलासक ज्वर[2]

यह वायु तथा कफ के प्रकोप से होने वाला ज्वर है। इसमे रोगी को प्रतिदिन मन्द-मन्द ज्वर रहता है, शरीर रूक्ष होती है और शोथ पहले हाथ-पैर मे, फिर मध्य शरीर मे तथा क्रमश धीरे-धीरे पूर्ण शरीर मे फैल जाता है। शरीर मे दुर्बलता हो जाती है और रोगी वेदना से त्रस्त होकर कराहता रहता है। कफ की अधिकता होने पर शीत लगती है और शरीर जकड जाती है। यह ज्वर जहाँ पर अधिक पानी होता है और जहाँ के लोग चावल अधिक खाते हैं, वहाँ विशेषकर होता है[3]। यह चिरकाल तक सताता है और आनूप देश मे सक्रामक रूप से फैलता है।

वक्तव्य—'वातबलासक' शब्द मे वात का अर्थ वायु और बलासक का अर्थ कफ है। वातबलासक ज्वर मे वायु और कफ प्रधान दोष हैं और इनके साथ पित्त का भी अनुबन्ध होता है। यह ज्वर मुख या हाथ-पैर मे शोथ उत्पन्न करता है। प्राय निचले अगो से प्रारम्भ होकर शोथ ऊपर की ओर बढता है। दुर्बलता तथा वेदना के कारण

---

१ (क) प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च।
मन्दज्वरविलेपी च स शीत स्यात् प्रलेपक ॥ अ० म० नि० २

(ख) तथा प्रलेपको ज्ञेय शोषिणा प्राणनाशन।
दुश्चिकित्स्यतमो मन्द सुकष्टो धातुशोषकृत् ॥ सु० उ० ३९।५४

(ग) प्रातर्हीनोऽपराह्णे य सायं वाऽपि प्रवर्तते।
स्वेदै प्रलिम्पन् गात्राणि मोऽय ज्ञेय प्रलेपक ॥ सि० नि० ख० १।२०६

२ नित्यं मन्दज्वरो रूक्ष शूनकस्तेन सीदति।
स्तब्धाङ्ग श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥ अ० स० नि० २

३ आनूपभूमौ वसतां स च तण्डुलभोजिनाम्।
वृक्करोगवतां प्रायो बालानां त्वतिदारुण ॥ सि० नि० ख० १।२०५

अगो के सचालन मे कष्ट होता है और अंगो में स्तब्धता होती है। कफ की अधिकता होने से लालास्राव, शीत, कास तथा श्वास जैसे उपद्रव होते हैं। रोग के बढने पर फुप्फुस मे शोथ भी पाया जाता है। वात से प्रेरित कफ से उत्पन्न होने के कारण इसे श्लेष्मभूयिष्ठ माना गया है। लक्षणो के अनुसार आधुनिक दृष्टि से इस रोग को जानपदिक शोथ (Ehidemic dropsy) नाम दिया जा सकता है। शोथ, हृदय-दौर्बल्य, दृष्टिक्षय, ज्वर तथा कफज लक्षण इसमे विशेष होते हैं। हृदय के प्रभावित होने से हृद्द्रव तथा श्वास की मन्दता हो जाती है।

प्रेतोत्थ ज्वर और ग्रहोत्थ ज्वर

देवता, पितृ आदि की अवहेलना या निन्दा करने से अथवा ग्रहो की पूजा-अर्चा का तिरस्कार करने से वे क्रुद्ध होकर विषम ज्वर सदृश ज्वरो को उत्पन्न करते हैं। वालको को जब ग्रहजन्य पीडा होती है, तो उन्हे ज्वर, अतिसार और वमन आदि लक्षण होतें हैं।

जातहारिणी ग्रह से ग्रस्त शिशु को ज्वर, तन्द्रा, प्रमीलक, पाण्डु, कामला, तृष्णा, अतिसार, विकृत स्वर, तालुशोष, मुखपाक, विसर्प आदि लक्षण हो जाते हैं। रेवती ग्रह के १६ प्रकार वतलाये गये हैं, उनमे जातहारिणी एक प्रमुख ग्रह है।

ग्रहोत्थ ज्वर मे रोगी अकस्मात् रोने या हँसने लगता है। ग्रहगृहीत वालको के लक्षण और चिकित्सा का अनेकश वर्णन किया गया है।[१]

चिकित्सा

देवता आदि के क्रोध या ग्रहबाधा के कारण होने वाले ज्वरो मे वलि-प्रदान, शान्ति, होम तथा सिद्धमन्त्रो के जप द्वारा पापो को दूर करना चाहिए तथा नील-कण्ठ भगवान् शकर की उपासना करनी चाहिए—

वलिभि शान्तिहोमैश्च सिद्धैर्मन्त्रपदैस्तथा।
पापापहरण चास्य कर्तव्य सिद्धिमिच्छता।
भूतेश्वर नीलकण्ठ प्रपद्येत वृषध्वजम् ॥

औपद्रविक ज्वर

सभी प्रकार के पुराने रोगो में, विशेषकर ग्रहणी आदि मे तीनो दोषो के प्रकोप से उपद्रवस्वरूप[२] ज्वर की उत्पत्ति होती है। यह ज्वर प्रारम्भ से नही होता, किन्तु कालक्रम से उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार बाद मे उत्पन्न होने के कारण यह औप-द्रविक ज्वर कहलाता है।

---

१ (क) काश्यपसंहिता, सूत्रस्थान, वेदनाध्याय तथा रेवतीकल्पाध्याय।
(ख) सु० उ० त० ३७। (ग) हा० सं० ३।५५। (घ) मा० नि०, मसूरिका

२ व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालज‍।
उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते॥ चरक

इस ज्वर के आरम्भ का समय और प्रकार तथा ढग विषम होने से एव विषमारम्भ, विषम क्रिया और विषम-काल इन विषमज्वर-लक्षणो के होने से इसे विषम ज्वर माना जाता है। यह किसी रोग मे बाद मे उत्पन्न होकर फिर लगा रहता है और उस रोग की कृच्छ्रसाध्य या असाध्य स्थिति का बोध कराता है।[1]

विषम ज्वरो मे सामान्य चिकित्सा-सूत्र

१ मुख्य रूप से तृतीयक और चतुर्थक इन दो विषमज्वरो को विशिष्ट मानकर इनके प्रतिकार के लिए युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय, इन दोनो प्रकार के उपचार करने का निर्देश किया गया है। आगन्तुक (भूत प्रेत या जीवाणु का भी सम्बन्ध होने से दैवव्यपाश्रय तथा जीवाणु-नाशक चिकित्सा का भी प्रयोग करना चाहिए।

२ विषमज्वर प्राय त्रिदोषज होता है, अत त्रिदोष शामक चिकित्सा करनी चाहिए।

३ वातप्रधान[2] विषमज्वर मे घृतपान, अनुवासनवस्ति, निरूहवस्ति, स्निग्ध तथा उष्ण उपचारो से चिकित्सा करनी चाहिए।

४ पित्तप्रधान[3] विषमज्वर मे विरेचन के द्वारा पित्तनाशक द्रव्यो को डालकर क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध पिलाकर तिक्त तथा शीतवीर्य द्रव्यो से सिद्ध किये हुए घृतो का प्रयोग कर चिकित्सा करनी चाहिए।

५ कफप्रधान[4] विषमज्वर मे वमन कराकर, पाचन द्रव्यो का प्रयोग कर, रूक्ष अन्नपान खिला-पिलाकर या लघन कराकर और उष्ण द्रव्यो का प्रयोग कर चिकित्सा करनी चाहिए।

६ विषमज्वर मे आवश्यकतानुसार पहले वमन और विरेचन कराना चाहिए।[5] वमनार्थ—उत्तम मात्रा मे (रोगी के बलानुसार) षट्पल घृत पिलाकर वमन करावे या पूर्ण रूप से भोजन कराने के बाद वमन करावे।[6] कफाधिक मे वमन करावे।

---

[1] (क) आगन्तुर्विषमार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्।
विशेषेण नरं वृद्धमनीगारो विनाशयेत्॥
(ख) रक्तारोचकहृल्लासमर्दितं तृष्णाभिसंयुतम्।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्यान्यः क्षीणो हतेन्द्रियः॥
(ग) हत्वाश्रयं सर्वदोषैर्विषमस्य तु ज्वरः।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्त्युग्रं दयातुरम्॥

[2] वातप्रधानं सर्पिर्भिर्वस्तिभिः सानुवासनैः।
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम्॥ च० चि० ३।२९४

[3] विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च।
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत्॥ च० चि० ३।२९५

[4] वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम्।
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे॥ च० चि० ३।२९६

[5] विषमेषु ज्वरेष्वाद्यां क्रियां संशोधनीं चरेत्। आयु० वि०

[6] सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत् पुनः।
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत्॥ च० चि० ३।३०१

८ का० हि०

पित्तप्रधान विषमज्वरो मे विरेचनार्थ एरण्ड तैल, निशोथ, हरीतकी चूर्ण अथवा स्वर्ण-क्षीरी के मूल का प्रयोग कराना चाहिए ।

७. जो रोगी क्षीण, दुर्बल, वृद्ध या बालक हो, उन्हे विरेचन सह्य नही होता, अत उनकी सशमन चिकित्सा करनी चाहिए ।

चिकित्सा

८ प्रतिदिन प्रात काल लहसुन स्वरस मिलाकर घृतपान कराना चाहिए ।[1]

९ प्लीहोदर की चिकित्सा मे कथित 'षट्पल घृत' का रोगी के बलानुसार मात्रा मे प्रयोग कराना चाहिए ।

१० मुलहठी, परवल के पत्ते, कुटकी, नागरमोथा और हरें, इनको ५–५ ग्राम लेकर, विधिवत् क्वाथ बनाकर प्रतिदिन पिलाना चाहिए ।

११ रोगी के बल के अनुसार उसे प्रतिदिन उचित मात्रा मे घी, दूध, चीनी, मधु और पीपर के चूर्ण का यथायोग्य प्रयोग कराना चाहिए या पीपर का चूर्ण २ ग्राम ५० मि० ली० दशमूल क्वाथ के साथ प्रात -साय पीना चाहिए ।[2]

१२ सुश्रुत० चि० ५।१२ मे कथित 'वर्धमानपिप्पली' का प्रयोग करना चाहिए और क्षुधा लगने पर दूध या मासरस का सेवन करना चाहिए । अथवा मुर्गे के मास के साथ उत्तम मद्य का पान करना चाहिए ।[3]

१३ पञ्चकोल घृत, पिप्पल्यादि घृत, गुडूच्यादि घृत, पटोलादि घृत, महाकल्याण घृत और पञ्चगव्य घृत का प्रयोग यथायोग्य करना चाहिए ।[4]

१४. उबाला हुआ शर्करा, दूध, पीपर, मधु और घृत —इन्हे पञ्चसार कहते हैं । इन्हे उचित प्रमाण मे लेकर मथकर प्रतिदिन पीने से विषमज्वर नष्ट हो जाता है ।[5]

विषमज्वर मे एक-एक औषध का प्रयोग

१ कालाजीरा और गुड का सेवन ।

२ लहसुन डालकर पकाया हुआ तिल-तैल का सेवन ।

३ त्रिफला चूर्ण तथा गुड का प्रयोग ।

४ हरीतकी चूर्ण और मधु का सेवन ।

५ गरम दूध मे तिल तैल मिलाकर सेवन ।

६ हरसिंगार की पत्ती का रस और मधु ।

---

१ प्रात प्रात ससर्पिष्क रसोनमुपयोजयेत । सु० उ० ३९।२१३

२ सु० उ० ३९।२१४-२१५

३ पिप्पलीवर्धमान वा पिवेत् क्षीररसाशन ।
ताम्रचूटस्य मासेन पिवेद् वा मद्यमुत्तमम् ॥ सु० उ० ३९।२१७

४ सु० उ० ३९।२१८, २१९ २२३, २२७ २२९, २३५ २३९, २४०-२४१ ।

५ शृतमप्य शर्करा च पिप्पल्यो मधुसर्पिषी ।
पञ्चसारमिदं पेय भक्षिन विषमज्वरे ॥
क्षतक्षीणे क्षये श्वासे हृद्रोगे च नदिष्यते ॥ सु० उ० ३९।२५५

७ नीम की छाल का क्वाथ पीना।
८. काली तुलसी का क्वाथ पीना।
९. द्रोणपुष्पी (गूमा) का स्वरस पीना।
१० चम्पा के फूल का रस पीना।
११ अपामार्ग की जड को लाल डोरे मे बाँधकर रविवार को कमर मे बाँधने से रोज आनेवाला ज्वर नही आता है।
१२ जयन्ती की जड भी बाँधने से लाभ होता है।
१३. मकोय की जड कान मे बाँधने से रात्रि मे ज्वर नही होता है।
१४ काकजघा (ककहिया) को लाल डोरे मे दाहिने हाथ मे बाँधे।
१५ परिजार के मूल को लाल डोरे मे दाहिने हाथ मे बाँधे।
१६ भारगी मूल दाहिने हाथ मे लाल डोरे से बाँधे।
१७ लज्जावन्ती (लजौनी) लाल डोरे मे बाँह मे बाँधे।
१८ भृगराज का मूल लाल डोरे मे बाँह मे बाँधे।
१९. सफेद मदार की जड की छाल २ रत्ती तण्डुलोदक से सेवन करे।
२० सफेद कनेर के मूल की छाल २ रत्ती तण्डुलोदक से सेवन करे।
२१ कुटकी के मूल को मदार के दूध की भावना देकर सेवन करे।
२२ वनप्सा का अर्क पिलाना हितकर है।
२३ श्वेत अपराजिता के पत्ते हाथ मे मलकर कपडे मे बाँधकर पोटली बनाकर सूँघे।
२४ सिरस के फूलो के रस मे हल्दी और दारुहल्दी का चूर्ण घृत के साथ मिलाकर नस्य देने से चतुर्थक ज्वर नही आता।
२५ सभालू के पत्तो के रस का नस्य विषमज्वर-नाशक है।
२६ सहदेवी का स्वरस काली मिर्च के साथ पीना चाहिए।
२७ कालमेघ की पत्ती मरिच के साथ पिलाना चाहिए।
२८ करञ्जबीज चूर्ण ½ ग्राम पीपर के २ रत्ती चूर्ण के साथ खिलावे।
२९ सप्तपर्ण की छाल का चूर्ण ३ ग्राम दिन मे ३ बार देना चाहिए।

विषमज्वर की चिकित्सा के दो भाग

विषमज्वर की चिकित्सा वेग की दृष्टि से दो प्रकार की होती है—

१ वेगकालीन चिकित्सा।
२ वेग-प्रतिषेधक चिकित्सा।

(१) वेगकालीन चिकित्सा

विषमज्वर के उत्पन्न हो जाने के समय उससे होनेवाले कम्प, शीत, अङ्गमर्द या दाह आदि के निराकरण के लिए जो चिकित्सा की जाती है, उसे वेगकालीन चिकित्सा कहते हैं।

(१) ज्वर की प्रथमावस्था मे रोगी ठडक की तीव्रता से विस्तर पर उछलने लगता है, कँपकँपी की भयकरता से रोगी त्रस्त रहता है, उस समय सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, उसे शीत से बचाना। इसलिए भारी रजाई या मोटा कम्बल ओढावे तथा निर्वात सुरक्षित स्थान मे रोगी को सुलावे।

(२) द्वितीयावस्था मे ज्वर का वेग तीव्र हो जाता है और रोगी असह्य सन्ताप का अनुभव करता है। उस समय ताप को घटाना चाहिए। एतदर्थ—

३—३ घण्टे पर ४ बार

गोदन्ती भस्म	१ ग्राम
जहरमोहरा पिष्टी	५०० मि० ग्रा०
रसादि वटी	५०० मि० ग्रा०
	योग ४ मात्रा

पित्तपापडा के अर्क या षडङ्गपानीय से दे।

इसके प्रयोग से सताप, दाह, तृष्णा और शिरोवेदना का शमन होता है।

विबन्ध होने पर—विश्वतापहरण या अश्वकचुकी रस उपयुक्त अनुपान से देना चाहिए।

प्रलाप होने पर—बृ० कस्तूरीभैरव रस ५०० मि० ग्रा०
४ मात्रा

लवग, ब्राह्मी, जटामासी, तगर और शखपुष्पी के क्वाथ से ४ बार ३—३ घण्टे पर देवे।

तृष्णा की अधिकता मे—

३—३ घण्टे पर ४ बार

रसादि वटी	५०० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
गुडूचीसत्त्व	१ ग्राम
षडगपानीय से।	४ मात्रा

विषमज्वरघ्न औषधो मे कतिपय प्रमुख औषधें

विषमज्वरान्तक वटी
करजादि वटी
जया-जयन्ती वटी
महाज्वराङ्कुश
मलेरिया वटी
कासीस गोदन्ती भस्म
लक्ष्मीनारायण रस
अमरसुन्दरी वटी

रात्रिज्वर मे
विश्वेश्वर रस
शीतप्रधान ज्वर में
हरताल भस्म
मल्लभस्म
शीतमञ्जी रस
ज्वरकुञ्जरपारीन्द्र
नारायणज्वराकुश

ज्वरमहार रस	मल्लादि वटी
त्रिभुवनकीर्ति रस	भूतभैरव रस
पचतिक्त घन वटी	ज्वरमुरारि वटी
त्र्याहकारि रस	सप्तपर्ण वटी
चतुर्थकारि रस	वृहत् सर्वज्वरहर लौह

आधुनिक चिकित्सा मे मलेरिया की निश्चित औषध के रूप मे क्विनीन का प्रयोग किया जाता है। यह सिनकोना नामक औषध वृक्ष की छाल के सत्त्व से बनती है। इसका चूर्ण, वटी या सूचीवेध के रूप मे रोग और रोगी की दशा के अनुसार प्रयोग होता है।

विषमज्वर मे प्रयुक्त होनेवाली आधुनिक औषधें—

(१) क्विनीन तथा सिनकोना (Quinine and Cinchona)

(२) क्लोरोक्वीन ग्रूप—

१ कैमाक्वीन (Camaquin)
२ रेमाचीन (Resochin)
३ निवाक्वीन (Nevaquin)
४ एवक्लोक्लोर (Avloclor)

(३) पैल्युड्रीन (Paludrin)
(४) एटेब्रिन (Atebrin)
(५) मेपाक्रीन (Mapachrine)
(६) पामाक्वीन (Pamaquin)
(७) पेण्टाक्वीन (Pentaquin)
(८) आयसो पेण्टाक्वीन (Isopentaquin)

वक्तव्य—क्विनीन के अनेक यौगिक होते है।

(१) मुख द्वारा प्राय क्विनीन सल्फेट का व्यवहार होता है। इसकी १ मात्रा लगभग ४०० मि० ग्राम की होनी चाहिए।

(२) क्विनीन का प्रयोग प्राय ज्वराक्रमण के ४ घण्टा पूर्व से किया जाता है। एक व्यावहारिक योग—

Quinin sulph	gr 5
Acid sulphdil	mg 19
Glycerine	mg 19
Aqua menthpip	oz 1
	१ मात्रा

प्रति ४ घण्टे पर दिन मे ३ बार।

(३) ज्वर की तीव्रावस्था मे क्लोरोक्वीन वर्ग की औषधियों का पूर्ण मात्रा मे प्रयोग करना उत्तम है।

(४) ज्वर मुक्ति के बाद भी जीवाणुओ का पूर्णरूप से निर्मूलन नही होता। क्विनीन एव पामाक्वीन का एक सप्ताह तक सयुक्त रूप से प्रयोग करने से स्थायी लाभ तथा रोग-प्रसार-प्रतिषेध दोनो ही कार्य पूर्ण होते हैं।

Quinin sulph	grs 3
Pamaqvin	gr ½
Yest	tal 1
	मात्रा १

दिन मे ३ बार तीन दिन तक, २ बार तीन दिन तक और एक बार तीन दिन तक।

(५) पुराने विषमज्वर मे पैल्युड्रिन और पामाक्वीन का मिश्रण अधिक उपयुक्त है—

Paludrine	gr 1
Pamaquin	gr ⅙
	१ मात्रा

दिन मे ३ बार पाँच दिन तक।

(६) तृतीयक ज्वर मे विश्व-स्वास्थ्य-सगठन (W H O) ने निम्नलिखित योग सर्वोत्तम बतलाया है—

Totaquin	grs 5
Paludrine	gm 0 1
Yest	gm 0 5
	१ मात्रा

दिन मे ३ बार नीबू के शर्बत के साथ, एक सप्ताह तक।

(७) चतुर्थक ज्वर मे क्लोरोक्वीन या कैमाक्वीन का प्रयोग १२५ मि० ग्रा० की मात्रा मे, दिन मे ३ बार एक सप्ताह तक करना चाहिए।

(२) वेग प्रतिषेधक चिकित्सा

सामान्य उपचार

मच्छरो को प्रश्रय देनेवाले स्थानो की पूर्णत शुद्धि, पोखरे, तालाब, बावली, गड्ढे, नाली आदि की सफाई, डी० डी० टी०, मिट्टी के तेल, पोटास, फार्मेलीन आदि का प्रयोग कर मच्छरो का निवारण करना चाहिए। शरद ऋतु और वसन्त ऋतु मे मच्छरो की अधिक वृद्धि होती है, अत इन ऋतुओ मे पहले ही सावधानी के साथ घरो और आस-पास के स्थानो की सफाई करे।

मच्छर रात मे ही आक्रमण करते है, अत बाहर निकलने के काम दिन मे ही निपटा लेना चाहिए। सोते समय रात मे मच्छरदानी लगानी चाहिए। सोते समय

कड़वा तेल लगाने से मच्छर नहीं काटते। पंखे की हवा से भी मच्छरों के आक्रमण से बचा जा सकता है।

विशिष्ट उपचार

१. धूपन—गुग्गुलु, नीम की पत्ती, मोरपंख, कड़वा कूठ, हर्रे, पीली सरसों, जौ और घी, इन सबको कूटकर एक में मिलाकर आग में डालकर धुआं करने से विषमज्वर के वेग नहीं होते।

२ अञ्जन—सेंधानमक, पीपर और शुद्ध मैनसिल समभाग लेकर तिल के तेल में बारीक पीसकर अञ्जन बनाकर ज्वर के आगमन से पूर्व अञ्जन लगाना चाहिए।

३. नस्य—बाघ की चर्बी, सेंधानमक और हींग, सबको समान मात्रा में लेकर बारीक पीसकर नस्य लेना चाहिए। अथवा सिंह की चर्बी, पुराना घी और सेंधा-नमक समान मात्रा में पीसकर ज्वर का वेग आने से पूर्व नस्य लेना चाहिए।

४ मद्यपान—ज्वर का वेग आने के समय भर पेट खाने के बाद पर्याप्त मात्रा में मद्यपान का प्रयोग करना चाहिए।

५. आस्थापनवस्ति—ज्वर के वेग के आने के समय ही आस्थापन या यापन-वस्ति का प्रयोग करें (जिसका वर्णन पञ्चकर्म विधि भाग में किया गया है)।

६. लाल फिटकरी को तवे पर भूनकर लावा बना लें और उसकी १ ग्राम की मात्रा बताशे में रखकर ज्वर के वेग के समय से १ घण्टा पहले खिला दें, तो ज्वर नहीं आता।

७ चातुर्थक ज्वर में नस्य—१ शिरीष के फूल के स्वरस में हल्दी और दारुहल्दी का चूर्ण और घृत मिलाकर स्वरस में पीसकर नस्य लेने से लाभ होता है। २ अगस्त्य-पत्र का स्वरस और हींग घोटकर तैयार नस्य का प्रयोग लाभकर है। ३ केवल अगस्त्यपत्र-स्वरस का नस्य भी लाभकर होता है।

८ रोगी के बलानुसार हरताल भस्म २५ से ५० मि० ग्राम तक की मात्रा में श्वेत वत्स वाली श्वेता गौ के दूध में देना चाहिए। रविवार के दिन इसका प्रयोग करे।

९ महाज्वरांकुश रस तथा चतुर्थकारि रस आदि का यथोचित प्रयोग करने से चतुर्थक ज्वर से छुटकारा मिल जाता है।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

१ पद्मराग आदि मणियों, सहदेवी, अपामार्ग आदि औषधों, मांगलिक—मूंगा, रुद्राक्ष आदि द्रव्यों, विषों और अगद (विषघ्न) द्रव्यों के धारण से विषमज्वर से मुक्ति मिल जाती है।

२ पार्वती, नन्दी आदि अनुचर तथा ब्राह्मी आदि अष्ट मातृगण के साथ भगवान् शिव की सावधानी से पूजा करने से शीघ्र ही विषमज्वर से छुटकारा हो जाता है।

३ विष्णु-सहस्रनाम का पाठ करने से तथा सहस्र शिरवाले, चर-अचर के

स्वामी, व्यापक भगवान् विष्णु की उपासना करने से सभी प्रकार के ज्वर छूट जाते है।

४ ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र, अग्नि, हिमालय, गगा, मरुद्गण आदि को यज्ञाहुति देने से ज्वर छूट जाता है।

५ माता-पिता और गुरुजनो की भक्तिपूर्वक पूजा करने से, ब्रह्मचर्य रहने से, तपस्या करने से, सत्य बोलने से, नियम पूर्वक रहने से, जप और होम करने से, दान करने से, वेदो के सुनने से और साधु-सज्जनो के दर्शन से मनुष्य ज्वर-मुक्त हो जाता है।

विषमज्वर मे पथ्य

१ विषमज्वर मे उपवास कराना आवश्यक नही है। ज्वर के वेगकाल मे उपवास कराना चाहिए और वेग न रहने पर हल्का, सुपाच्य एव पुष्टिकर आहार देना चाहिए।

२ मासाहार—जो व्यक्ति मासाहार मे रुचि रखते हो, उन्हे पीने के लिए मण्ड के साथ मदिरा और खाने के लिए मुर्गा, तीतर तथा मोर का मास देना चाहिए।

३ अन्न—गेहूँ-जौ की रोटी, मूग-चने की दाल का यूप, अगहनी चावल या साठी का चावल, बथुआ, करेला, पपीता, परवल आदि का साक देना चाहिए।

४ फल दुग्ध—नारगी, सेव, खजूर, अनार, मुनक्का, किसमिस और गो दुग्ध देना चाहिए।

षष्ठ अध्याय

श्लैपदिक, मन्थर या आन्त्रिक, श्वसनक, श्लेष्मक तथा आक्षेपक ज्वर

श्लीपद

(फाइलेरिया : Filaria)

परिचय और निर्वचन

१ इस रोग को स्वरूप की दृष्टि से (जिस रोग में पैर में सूजन होने से पैर पत्थर जैसा कठोर एवं स्थूल हो जाता है) श्लीपद (शिलावत् पद श्लीपदम्) कहते हैं।

२ हाथी के पैर के समान तथा पैर में मोटापा आ जाने से इसे हस्तिपाद (एलिफेन्टियासिस Elephantiasis) कहते हैं।

३ इसके उत्पादक कारण—फाइलेरिया बैंक्रॉफ्टाइ (Filaris Bancrofti) नामक जीवाणु के होने से फाइलेरिया कहते हैं।

४. श्लीपद रोग शरीर के सभी अंगों में होता है, पैर में अधिकतर होता है, अतः इसे श्लीपद कहा जाता है।

श्लीपद का निदान

१ यह कफप्रधान त्रिदोषज व्याधि है, इसलिए कफ को बढ़ाने या विकृत करने वाले सभी आहार-विहार इस रोग के कारण हो सकते हैं।[1]

२ इसका प्रधान कारण माइक्रोफाइलेरिया नामक जीवाणु है। पूर्ण परिवर्धित पुरुष-कृमि बालों के समान पतले, डोरे के समान १½–२ इञ्च लम्बे होते हैं और स्त्री कृमि ३-४ इञ्च लम्बी होती हैं। ये दोनों आपस में मिलकर लसीकावाहिनियों में एकत्र होते हैं एवं रसायनीजाल, रसायनी और रसकुल्या में रहते हैं। ये पारभासक (Translucent) तथा श्वेतवर्ण के होते हैं। इनके बीच में मुख तथा शिर के समीप जननेन्द्रिय होती है। मादा अनेक वर्षों तक समय पर असंख्य माइक्रो-फाइलेरिया को उत्पन्न करती है।

श्लीपदजनक कृमियों की विशेषतायें—

१ इनकी विचित्रता यह है, कि ये दिन में त्वचा के रक्त (परिसरीय रक्त—Peripheral blood) में नहीं रहते हैं।

---

[1] गुरुमधुराम्लस्निग्धदध्युदेक्षुभक्ष्य द्रवदधिदिननिद्रापूपमांसप्रपूरैः।
दुर्दिनपतनशाके इक्षुगण कफप्रकोपो प्रभवति दिवमादौ भुक्तमात्रे वमन्ते॥

२ सायकाल होते ही ये परिसरीय रक्त मे आना आरम्भ कर देते हैं और मध्य-रात्रि के समय एक बूद रक्त मे उनकी सर्वाधिक सख्या (३०० से ६०० तक) हो जाती है । इसीलिए परीक्षणार्थ श्लीपद रोगी का रक्त मध्यरात्रि मे ही लिया जाता है । सोने के समय मे परिवर्तन कर देने से ये रात्रि के स्थान पर दिन मे भी मिलने लगते हैं ।

सहायक निदान

१ जलबहुल सीडनयुक्त स्थान—जहाँ पर पृथ्वी की सतह पर अधिकाश समय पानी जमा रहता है, ऐसे स्थान मे यह रोग प्राय होता है । जहाँ नदियाँ अधिक हो, या समुद्री किनारा हो अथवा तालाब, पोखरे आदि हो, ऐसे स्थान को अनूपदेश कहते हैं । आसाम, बगाल, उडीसा, त्रावणकोर, कोचीन, उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले—बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, बलिया और वाराणसी आदि श्लीपद रोग के गढ हैं ।

२ मच्छर—'क्यूलैक्स फेटिजेण्टस' नामक मच्छर इस रोग के कृमि का प्रसार करता है । जब श्लीपद के रोगी को क्यूलैक्स जाति का मच्छर काटता है, तो उसके उदर मे श्लीपद जनक जीवाणु प्रविष्ट हो जाते हैं और वे मच्छर के शरीर मे फैल जाते हैं तथा बहुत से मच्छर की शुण्डा के निकट चले जाते हैं । जब वह मच्छर किसी को काटता है, तब वे शुण्डा से निकलकर दष्ट व्यक्ति की त्वचा मे पहुँच जाते हैं और लसीका आदि में रहने लग जाते है ।

लक्षण

जघाओ, पिण्डलियो और पैर के ऊपरी भाग मे शोथ होने पर, उसे श्लीपद कहा जाता है । वक्षण प्रदेश मे पीडा के साथ शोथ होना और क्रमश पैर तक शोथ का फैल जाना, भयकर वेदना होना और जाडा देकर ज्वर होना, ये श्लीपद के प्रमुख लक्षण हैं । हाथ-पैर मे और अण्डकोषो मे पीडा होती है । कभी-कभी यह हाथ, कान, नेत्र, शिश्न, ओष्ठ, स्तन और वृषण आदि अवयवो मे फैल जाता है ।[1]

वातज श्लीपद का लक्षण

जो श्लीपद कृष्णवर्ण का हो, रूक्ष हो, फटा हुआ हो, जिसमे दरार पडी हो, जिसमे पीडा की तीव्रता हो और अकारण ही उग्र व्यथा हो तथा ज्वर सहित हो, उसे वातज श्लीपद जानना चाहिए ।

---

१ (क) जङ्घासु पिण्डी प्रपदोपरिष्टात् ।
स्याच्छ्लीपद मासकफास्रदोषात् ॥ च० चि० १२।९८

(ख) य सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्ति शोथो नृणा पादगत क्रमेण ।
तच्छ्लीपद स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहु ॥ मा० नि०

(ग) शाखासु मुष्कयोर्वाऽपि रागशोथरुजाकर ।
प्रान्ते प्रायशो भावी ज्वर श्लैपदिक स्मृत ॥ मि० नि० प्र० ख०

पित्तज श्लीपद का लक्षण

जिस श्लीपद में शोथ में पीलापन हो, दाह हो और मृदुता हो तथा ज्वर हो, उसे पित्तज जानना चाहिए।

कफज श्लीपद का लक्षण

जिस श्लीपद में शमिन शोथ में ठंडापन हो, चिकनापन हो, पाण्डुता हो, गुरुता और स्थिरता हो, उसे कफज जानना चाहिए।

संप्राप्ति

क्यूलेक्स फेटिगन्स जाति का मच्छर श्लीपद-जनक कृमि का वाहक होता है और जब वह मच्छर मनुष्य को काटता है, तब उस के द्वारा ये कृमि माइक्रो फाइलेरिया बैंक्रोफ्टाई (Micro Filaria Bancrofti) मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में प्रविष्ट होकर लसीकावाहिनी, लसीकाग्रन्थि तथा लसीका-ग्रन्थियों में अपनी वृद्धि करके लसीकावाहिनियों में अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्थानीय लसीकासंचय से क्रमशः सूजन प्रारम्भ हो जाती है, जो आगे चलकर शिला या पत्थर के समान कठोर हो जाती है। संप्राप्त लसीकाग्रन्थि में सूजन होती है और शोथ के परिणामस्वरूप ज्वर हो जाता है, जो प्रायः शीत के साथ होता है और दो चार दिनों तक बना रहता है। जब रोग का दौरा चला जाता है, तो सूजन कम हो जाती है, किन्तु कुछ शेष रह जाती है। रोग का पुनः पुनः आक्रमण होता रहता है और ज्वर तथा लसीकाग्रन्थियों का शोथ बार बार होता रहता है। इस प्रकार कई दौरे होने के फलस्वरूप आक्रान्त अंग-विशेष का शोथ पत्थर जैसा कड़ा हो जाता है, जो अधिकांशतः पैर के ऊपर होने से इस रोग को श्लीपद कहते हैं।

श्लीपद का उत्पादक देश[1]

सदैव आर्द्र रहनेवाले प्रदेश, जहाँ पुराना पानी जमा रहता है, और जहाँ थोड़ी-बहुत ठंडक सभी ऋतुओं में बनी रहती है, वहाँ यह रोग अधिकांश होता है। गन्दे स्थान और मकान, शरीर की गन्दगी तथा वस्त्र की गन्दगी, मशहरी का प्रयोग न करना, इस रोग को फैलाने में सहायता पहुँचाते हैं।

असाध्य लक्षण[2]

जिस श्लीपद का शोथ वल्मीक की तरह शिखर और गाँठों से युक्त हो, एक वर्ष का पुराना हो और जो आकार में बड़ा हो, वह असाध्य होता है।

जो कफ प्रकृतिवाले पुरुष को कफवर्धक आहार-विहार के सेवन से उत्पन्न हुआ हो, स्रावयुक्त हो, बहुत ऊँचा बढ़ गया हो, जो सभी दोषों के लक्षणों से युक्त हो,

---

[1] पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः ।
यद्देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ मा० नि०

[2] वल्मीकमिव सञ्जातं कण्टकैरुपचीयते ।
अब्दातीतं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः ॥ मा० नि०

जिसमे खुजली होती हो और जिसमे कफ की अधिकता हो, उसे असाध्य जानकर छोड देना चाहिए ।[1]

चिकित्सा-सूत्र

श्लीपद मे सिरावेध करना चाहिए, कफनाशक संपूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए तथा श्लीपद-पीडित स्थान पर सरसो का तेल लगाना चाहिए । लंघन, आलेपन, स्वेदन और विरेचन का प्रयोग करना चाहिए ।[2]

सामान्य चिकित्सा

१ लंघन—श्लीपद रोग मे कफदोष की प्रधानता होती है, जिसके कारण शोथ, भारीपन तथा अवरोध होता है । कफज रोगो मे लंघन-उपवास कराना श्रेष्ठ उपचार है । इस रोग का दौरा प्राय एकादशी, अमावास्या और पूर्णिमा तिथियो मे होता है, अत इन तिथियो मे उपवास कराकर, रोग के दौर से रोगी को बचाया जा सकता है । यदि पूर्ण उपवास न कर सके, तो दिन मे एक बार भोजन करे तथा रात्रि मे बिलकुल भोजन न करे ।

इस रोग का दौरा दिन की अपेक्षा रात्रि मे होता है, क्योकि दिन की अपेक्षा रात्रि मे कफ की वृद्धि होती है, इसलिए या तो रात्रि मे उपवास करावे या एकदम हलका भोजन दे । कफवर्धक आहार—चावल, दही आदि का सेवन न करे । रोग के आक्रमण काल मे पूर्ण लंघन कराना चाहिए, किन्तु दौरा समाप्त हो जाने पर सम्भावित तिथियो मे उपवास कराना चाहिए । जो रोगी उपवास नही सह सकते हो, उन्हे हलका भोजन देना चाहिए, क्योकि लघु आहार को भी लंघन कहा गया है—'लङ्घन लघु भोजनम्' ।

२ लेप—(क) धुस्तूरादि लेप—धतूरे की पत्ती, रेड के मूल की छाल, सिन्दुवार की पत्ती, गदहपुर्ना की जड, सहिजन की छाल, इन सबको समान भाग लेकर, कॉजी मे पीसकर, सरसो का तेल मिलाकर, गरम कर, मोटा लेप लगाने से पुराना श्लीपद भी ठीक हो जाता है ।

(ख) सफेद मदार के मूल की छाल को कॉजी मे पीसकर लेप करे ।

(ग) मदनादि लेप—मदनफल और समुद्रलवण दोनो को १०–१० ग्राम लेकर, १० ग्राम मोम और ३० ग्राम भैस के घी के साथ मिश्रित कर आग पर गरम कर लेप करने से श्लीपद मे त्वचा की विदीर्णता और विवर्णता का नाश होता है ।

---

१ यच्छ्लेष्मलाहारविहारजातं पुंसः प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य ।
सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम् ॥ मा० नि०

२ (क) सिराकफघ्नश्च विधिः समग्रस्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च । च० चि० १२।९८

(ख) लङ्घनालेपनस्वेदरेचनै रक्तमोक्षणैः ।
प्रायः श्लेष्महरैरूष्णैः श्लीपदं समुपाचरेत् ॥

(ग) प्रच्छर्दनं लङ्घनमस्रमोक्ष स्वेदो विरेकः परिलेपनञ्च । भै० र०

(घ) मजिष्ठादि लेप—मजीठ, मुलहठी, रास्ना और गदहपुर्ना इन सबको समभाग मे लेकर काँजी मे पीसकर लेप करे। यह लेप दाह की अधिकता मे विशेष लाभकर है।

३ रेचन—समभाग त्रिफला के क्वाथ मे २५ मि० ली० गोमूत्र मिलाकर प्रात-साय पिलाना चाहिए अथवा त्रिफलाचूर्ण, अमलतासे का गूदा, गोमूत्र या एरण्ड तैल का प्रयोग कर कोष्ठशुद्धि कराना चाहिए।

एक-एक औषध के प्रयोग—

४ छोटी हर्रे को गोमूत्र मे भिगोकर पुन एरण्डतैल मे भूनकर चूर्ण बनाकर और सेंधानमक मिलाकर, गरम जल मे नित्य प्रात-साय ३ ग्राम की मात्रा मे सेवन करने से श्लीपदजन्य अण्डवृद्धि मे लाभ होता है। वृद्धावस्था मे सामान्यत होनेवाली अष्ठीला वृद्धि मे भी हरीतकी चूर्ण ३ ग्राम और सेंधानमक १ ग्राम मिलाकर खाने से लाभ होता है।

५ सरसो का तेल १० ग्राम की मात्रा मे प्रतिदिन सेवन करे।

६ पूतिकरञ्ज की पत्ती का रस १० ग्राम समान भाग सर्षप तेल से सेवन करे।

७ विधारावीज चूर्ण ३ ग्राम गोमूत्र २०० मि० ली० के साथ प्रयोग करे।

८ सिहोर की २० ग्राम छाल का क्वाथ गोमूत्र मिलाकर डेढ से दो माह तक पीने से पुराना श्लीपद भी ठीक हो जाता है। इससे गरम-गरम धोना भी ठीक रहता है।

९ खैर की छाल का चूर्ण २ ग्राम और समभाग निम्बत्वक् चूर्ण गोमूत्र के साथ सेवन करे।

चूर्ण

१० आँवला निर्बीज २५ ग्राम

आँवला निर्बीज	२५ ग्राम	सोठ	२५ ग्राम
हर्रा ,,	२५ ,,	मरिच	२५ ,,
वहेडा ,,	२५ ,,	पीपर	२५ ,,
चाभ	२५ ,,	वरुण की छाल	२५ ,,
गोखरूबीज	२५ ,,	गोरखमुण्डी	२५ ,,
दारुहल्दी	२५ ,,	गुरुच	२५ ,,

विधारा का बीज ३०० ग्राम लेकर चूर्ण बना ले तथा ४ ग्राम की मात्रा प्रात-सायं १०० मि० ली० गोमूत्र से दे।

११ पञ्चकोल चूर्ण—

पीपर पिपरामूल चाभ
चीता सोठ

इन पाँचो के समभाग का चूर्ण बना ले। प्रात-साय २–२ ग्राम गरम जल से दे।

रस-भस्म

१२. प्रात -साय—पुनर्नवामण्डूर १–१ ग्राम मधु से दे।

१३ दिन मे ३ वार—महायोगराजगुग्गुलु १ ग्राम
मल्लसिन्दूर ३०० मि० ग्राम
महालक्ष्मीविलास ३०० मि० ग्राम
योग ३ मात्रा
मधु से।

१४ **व्यवस्था-पत्र**

१. प्रात, साय, मध्याह्न
नित्यानन्द रस ५०० मि० ग्रा०
आरोग्यवर्धिनी १ ग्राम
योग ३ मात्रा
१ छोटी इलायची के चूर्ण और मधु से।

२ भोजनोत्तर २ वार
लोहासव ३० मि० ली०
अमृतारिष्ट ३० लि० ली०
योग २ मात्रा
समान जल मिलाकर पीना।

३ लेप—धुस्तूरादि लेप या दशाङ्गलेप अथवा सिहोर की छाल का लेप लगावे।

४ रात मे सोते समय—
श्लीपदगजकेशरी २०० मि० ग्रा०
योग १ मात्रा
गरम जल से।

विशिष्ट चिकित्सा

शल्यकर्मविद् चिकित्सक द्वारा सिरावेध कराना चाहिए। जैसे—वातज श्लीपद मे, यदि पैर मे हो तो गुल्मसन्धि के ऊपर वाली सिरा का वेध करे।

पित्तज मे गुल्फ की अध सिरा का वेध करना चाहिए।

कफज मे, क्षिप्र मर्म को बचाते हुए अगुष्ठ के समीप की सिरा का वेध करना चाहिए।

पथ्य

१ श्लीपद के रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए।

२ सोते समय शोथयुक्त अग को तकिया लगाकर ऊँचा रखे।

३ भोजन मे रूक्ष अन्न—जौ, गेहूँ, कुलथी, मूँग, चना और अरहर दे।

४ शाको मे कटु, तिक्त एव दीपन-पाचन द्रव्यो का प्रयोग करे, जैसे—परवल, सहिजन, करेला, वथुआ, गदहपुर्ना आदि लाभप्रद हैं।

५ शाको को सर्षप तैल मे बनावे, गरम मसाले और लहसुन प्याज का प्रयोग करे।

६ गोमूत्र का सेवन तथा यदा-कदा एरण्डतैल का सेवन उत्तम है।

७ सरसो के तेल का पान और आहार मे प्रयोग करना चाहिए।

८ कफनाशक आहार-विहार का प्रयोग लाभकर होता।[1]

अपथ्य

१ श्लीपद रोग कफप्रधान होता है, अत कफवर्धक आहार-विहार का परित्याग करना चाहिए।

२ सभव हो तो आनूप देश और श्लीपद वाले प्रदेशो मे निवास न करे।

३ नया चावल, नया अन्न उडद, तिल आदि नही खायें।

४ दही, गुड, रवडी, मलाई, मिठाई और खट्टे पदार्थ छोड दे।

५ कोहडा, वैगन, खटाई, मछली, भारी, चिकने और अभिष्यन्दी पदार्थ नही खाना चाहिए।

६. आनूप जीवो का मास, नदी तालाव या पोखरे का जल सेवन न करे।

प्रतिषेध

१ एकत्र हुए दूषित जल के जमाव को दूर करना और सफाई करना चाहिए। २ मच्छरो का नाश करने का उपाय करना चाहिए। ३ त्वचा को स्वच्छ रखना चाहिए और कडवे तेल की मालिश करना चाहिए। ४. कभी पहले जिन्हे श्लीपद हो चुका हो, उन्हे वर्षा ऋतु मे नित्यानन्द रस अथवा श्लीपदगजकेसरी का १–२ माह तक सेवन करते रहना चाहिए। ५ रोग के शान्त हो जाने के वाद भी ६–८ महीने तक भोजन के साथ नित्य लहसुन का सेवन करना चाहिए। ६ दही, चावल और केला खाने का यदि अभ्यास हो, तो छोड देना चाहिए।

मन्थर या आन्त्रिक ज्वर

पर्याय और परिचय—इसे आन्त्रिक ज्वर, मन्थरक ज्वर, मधुरक ज्वर, मौक्तिक ज्वर, मोतीझरा, टाइफायड फीवर, एण्टेरिक फीवर (Enteric Fever), सशोषी सन्निपात ज्वर और मुवारकी आदि नामो से पुकारते हैं।

यह एक विशेष प्रकार का त्रिदोपज औपसर्गिक ज्वर है। तीनो दोपो के प्रकोप के होने से इसमे तीनो दोपो के लक्षण पाये जाते हैं। जव जिस दोप की प्रवलता

१ (क) पुरातना षष्टिकशाल्यश्च यवा कुलत्थं लशुनं पटोलम्।
एरण्डतैलं सुरभीजलं च यवा कुलत्थं लशुनं पटोलम्॥
एतानि पथ्यानि भवन्ति पुंसां रोगे मतिः श्लीपदनामधेये॥ भा० र०

(ख) पिबेत्सर्षपतैलं च श्लीपदानां निवृत्तये। भै० र०

होती है, तब उसके अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं। इसमे शरीर मे, विशेषकर ग्रीवा, छाती, उदर और जघाओ मे मोती जैसे दाने निकल आते है। यह विशिष्ट अवधि तक रहनेवाला ज्वर है, जो प्राय तीन या चार सप्ताह तक बना रहता है। इसमे आँतें क्षत हो जाती हैं, क्षुद्रान्त्र के अधोभाग की लसीकाग्रन्थियो मे तथा सम्पूर्ण क्षुद्रग्रन्थि समूह (पेयर्स पैचेज Payer's patches) मे शोथ हो जाता है। प्राय प्लीहा बढ जाती है।

निदान

अधिक मार्ग-गमन, उपवास से उत्पन्न कृशता, दुर्गन्धयुक्त स्थान मे निवास, मल-मूत्र के ससर्गयुक्त जल का पान, खाद्य-पदार्थों पर मक्षिका आदि का सस्पर्श, इन कारणो से विशेषकर ग्रीष्मऋतु, शरद् ऋतु या वर्षा ऋतु मे आन्त्रिक ज्वर होता है।

इस ज्वर की उत्पत्ति का प्रधान कारण आन्त्रज्वराणु—बैसिलस टाइफोसिस (Bacillus Typhosis) नामक जीवाणु है। यह सचरणशील जीवाणु है, जो अन्त -कोशीय विष का निर्माण करता है। यह आमाशयिक अम्लक्षेत्र को पार कर आसानी से क्षारीय क्षेत्र मे पहुँच जाता है और ग्रहणी स्थित पित्त मे बढने लगता है। यह क्षुद्रान्त्र मे क्षत और शोथ उत्पन्न करता है तथा वहाँ से बृहदन्त्र मे भी पहुँच जाता है। क्षुद्रान्त्र की भित्ति को पारकर जीवाणु सम्बद्ध लसीकाग्रन्थियो मे पहुँचकर सवर्धित होते हैं तथा वहां से लसीकावाहिनी (Thoracic duct) के द्वारा रक्तवह-सस्थान म पहुँच जाते हैं। यकृत्-प्लीहा, पित्ताशय एव वृक्को मे इनका भलीभाँति सवर्धन होता है और अन्त मे क्षुद्र ग्रन्थि समूह मे स्थानसश्रय होता है। अस्थिमज्जा मे भी इन जीवाणुओ का प्रवेश हो जाता है। इनकी वृद्धि होने पर ये आन्त्रिक व्रण, मूत्राशय, पित्ताशय, प्लीहा, रक्त और लसीकाग्रन्थियो मे उपस्थित मिलते हैं। मल, मूत्र तथा स्वेद मे भी पाये जाते है।[१]

---

१ (क) घृताशनात् स्वेदरोधान्मन्थरो जायते नृणाम्।
ज्वरे दाहो भ्रमो मोहो ह्यतीसारो वमिस्तृषा ॥
अनिद्रा च मुख तालु जिह्वा च परिशुष्यति।
सप्ताहाद् द्वादशाहाद् वा स्फोटाश्च सर्षपोपमा ॥
ग्रीवाया परिदृश्यन्ते एकविंशति (दिने) शाम्यति।
एभिस्तु लक्षणैर्विद्यात् मन्थराख्य ज्वर नृणाम् ॥ निदानदीपिका

(ख) अध्वोपवासक्लिष्टाना दुर्गन्धाभ्यर्णवासिनाम्।
प्रायो मलादिससृष्टभक्ष्यपानोपयोगत ॥
सर्वेष्वृतुषु भूम्ना तु ग्रीष्मे शरदि-वार्षिके।
आन्त्रिकाख्यो ज्वर कृच्छ्रो दृश्यते घोरदर्शन ॥
तस्य जीवाणव केचिन्मलमूत्रादिसम्भवा।
विशिष्टं तु निदानं स्यु ॥ सि० नि० प्र० ख०

(ग) कीटाणवो बैसिलस टाइफोसससनामका।
दण्डाकारा कृतावासा रक्ते मूत्राशये मल ॥
स्वेदे पित्ताशये प्लीह पिटकास्वान्त्रिक व्रणे।
जनयन्ति नृणा देहे ज्वर प्रोक्त विशेषत ॥ भा० नि० परिशिष्ट

संक्रमण

बैसिलस टाइफोसिस नामक जीवाणु जल, वायु और भोजन के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं। रोगी के मल-मूत्र पर बैठकर वही मक्षिकायें जब भोज्य पदार्थों पर बैठ जाती हैं, तो उनके पैरो मे लगे जीवाणु भोजन मे चले जाते हैं और उस भोजन के भोक्ता मे जीवाणु का सक्रमण हो जाता है। इसी प्रकार रोगी के सम्पर्क मे रहने वाले, रोगी का उच्छिष्ट खाने वाले, रोगी के परिचारक आदि भी रुग्ण हो जाते हैं। रोगी के मल-मूत्रस्थ जीवाणु वायु मे फैलकर मुख या नाक द्वारा शरीर मे चले जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। ये जीवाणु दूध मे बढते हैं, इसलिए दूध से भी सक्रमण होता है। यदि रोगी का वस्त्र कुँए पर धोया जाता है, तो ये जीवाणु कुँए के जल मे भी पहुँच जाते हैं और उस जल को पीने वाले भी आन्त्रिक ज्वर से आक्रान्त हो जाते हैं।

सम्प्राप्ति[1]

आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु का प्रथम आक्रमण क्षुद्रान्त्र की लघु लसीकाग्रन्थियो पर होता है। इस बात का अनुसन्धान सर्वप्रथम 'पेयर' महोदय ने किया था। इस कारण इसे 'पेयर्स पैचेज' (Payer's Patches) की सज्ञा दी गयी। जीवाणु अन्त्रस्थ लसीकाग्रन्थि, प्लीहा तथा कभी-कभी वृहदन्त्र की लसीकाग्रन्थियो मे शोथ उत्पन्न करता है, जिससे वे रक्तमय हो जाती हैं। शेषान्त्र और उण्डुक के द्वार पर के पैचेज अधिक प्रभावित होते हैं। ज्वरारम्भ के प्रथम सप्ताहान्त मे इन पैचेज का विनाश होने लगता है। दूसरे सप्ताह मे, व्रण हो जाते हैं और व्रण के ऊपर के श्लैष्मिककला के टुकडे झडने लगते हैं। तीसरे सप्ताह मे उस पर वीजाङ्कुर-सदृश मृदु धातु की कला (Granulation tissue) आ जाती है। कदाचित् जब व्रणो की झिल्ली झडने लगती हैं, तब किसी धमनी के खुल जाने से रक्तस्राव होने लगता है। तीसरे सप्ताह के अन्त मे व्रणो का उपशमन हो जाता है और अन्त्र अपनी स्थिति मे आ जाते हैं।

प्राय वृहदन्त्र मे वृहद् व्रण होता है, जिसके फलस्वरूप अतिसार होते देखा जाता है। प्लीहा मृदु, शोथयुक्त तथा रक्तपूर्ण होती है। पित्ताशय मे असख्य आन्त्र जीवाणु निवास करते है। रोगी के मल मे उनका निर्गमन जारी रहता है। रोगी के निरन्तर लेटे रहने से तथा कभी-कभी आन्त्र जीवाणुओ के पहुँच जाने से फुप्फुसो मे उपस्थायी (Hypostatic) पाक (न्युमोनिया) हो जाता है।

---

१. अथान्त्राश्रयिणश्च ते।
रसं रक्तञ्च दोषाँश्च कोपयन्त्यचिरादपि॥
क्षिण्वन्ति चान्तिम भागं क्षुद्रान्त्राणां शनै शनै॥
ततोऽन्त्रक्षतसंवृद्धौ क्वचिद् रक्तस्य नि स्रव.।
भिन्नान्त्रताऽथवाऽसाध्येस्येष वैकृतनिश्चय॰॥ सि० नि० प्र० ख०
१ का० द्वि०

रोग के प्रबल होने पर इस ज्वर के कारण निम्नलिखित परिवर्तन होते देखे जाते हैं—

१. जीवाणुओ के परिवर्धन और सख्यावृद्धि के काल मे टाइफो-टॉक्सिन नामक एक प्रकार का रासायनिक विष उत्पन्न हो जाता है और रक्त के साथ मिलकर सब अङ्गो मे होने वाले ज्वरीय विकार को उत्पन्न कर देता है। इसी कारण से लसीका-ग्रन्थियो तथा यकृत्-प्लीहा आदि की वृद्धि हो जाती है।

२ रक्त मे अशुद्धि, पतलापन, श्वेतकण और रजकपित्त (हीमोग्लोबिन—Haemoglobin) इन दोनो की न्यूनता होने से शरीर निस्तेज हो जाता है।

३ मास मे नित्यप्रति क्षीणता और श्याववर्णता होती है।

४. नाडी क्षीण होती है और गति डेढ गुना या दो गुना हो जाती है।

५. उदर के दक्षिण कटिपार्श्विक प्रदेश मे स्पर्शासहिष्णुता, मल दुर्गन्धयुक्त और उदर मे आटोप (गुडगुडाहट) होता है।

६. तृष्णावृद्धि, श्वेतपीत मैली जिह्वा, मलिन दन्तावलि, यकृत्-प्लीहावृद्धि और उदावर्त होता है।

७ उपद्रवस्वरूप न्युमोनिया, श्वासनलिकाशोथ, श्वासोच्छ्वास मे तीव्रता और शुष्क कास होता है।

८ मूत्र, विवर्ण (लाल-पीला) दुर्गन्धयुक्त, थोडा-थोडा एवं बार-बार होता है। मूत्र मे यूरिया और फॉस्फेट अधिक तथा क्लोराइड कम परिमाण मे होता है।

९ शरीर से विशेष प्रकार की तीखी गन्ध निकलती है।

१० शरीर मे गले से छाती, उदर या ऊरु तक श्वेताभ गुलाबी पिडकाओ के निकल आने से इस ज्वर का निश्चय हो जाता है।

११ चक्कर आना, निद्रानाश, शिर शूल, बलक्षय, बाधिर्य आदि लक्षण होते हैं और विचारशक्ति मे ह्रास होता है।

१२ रात्रि मे प्रलापाधिक्य होता है।

१३. इस ज्वर मे प्रारम्भिक दिनो मे सायङ्काल थोडा-थोडा करके तापमान बढता है। १०१° फा० हो जाने पर चार दिन पश्चात् या द्वितीय सप्ताह मे ताप का क्रम स्थिर हो जाता है, अर्थात् प्रात काल १०१° फा० और सायङ्काल १०४° फा० के लगभग रहता है।

१४. सीढी के समान चढता-उतरता तापमान चित्र, शिर शूल, तन्द्रा, जडता, मोती जैसे दाने निकलना और प्लीहावृद्धि से रोग का निश्चय हो जाता है।

१५. प्रयोगशाला मे रोगी का रक्त, मूत्र या मल लेकर यथाविधि परीक्षण करने पर आन्त्र जीवाणुओ की उपस्थिति मिलती है।

लक्षण

यह ज्वर धीरे-धीरे बढता है। कभी शीत-कम्प के साथ, कभी तीव्र वेदना के साथ और कभी यो ही सोपानावलि के अनुसार (सीढ़ी चढ़ने के तुल्य) ५-६ दिन

तक क्रमश एक-एक डिग्री बढता जाता है। रुग्ण के श्वास मे दुर्गन्ध, कोष्ठबद्धता, अनिद्रा, नाडी की गति मन्द और जिह्वा मलिन होती है। फिर एक सप्ताह मे मोती के दाने जैसी पिडकायें कण्ठ मे और कभी ऊरु प्रदेश मे दिखलाई देने लगती हैं। तीव्र शिरःशूल और पेशियो मे कमजोरी मालूम होती है। पिडकाओ के निर्गमन के स्पष्ट हो जाने पर रोग प्रकट हो जाता है।

प्रथम सप्ताह के प्रधान लक्षण

नाडी का स्पन्दन ९० से १२० होता है। तापमान की क्रमिक वृद्धि होती है, तृष्णा-वृद्धि, रात्रि-प्रलाप, अनिद्रा, जडता तथा नेत्रनिर्भुग्नता होती है। ज्वर के आरम्भ मे कोष्ठबद्धता, किन्तु सप्ताहान्त मे अतिसार हो जाता है। उदर मे आध्मान एव नाभि के नीचे दबाने पर पीडा होती है। प्लीहा बढ जाती है, किन्तु कोमल होती है। पेशियाँ क्षीण होने लगती हैं, मास गलने लगता है और मूत्र थोडा गहरे लाल रग का हो जाता है।

द्वितीय सप्ताह

दूसरे सप्ताह मे धीरे-धीरे दानें (पिडकायें) छाती और उदर मे निकल आते हैं। ग्रीवा, वक्ष स्थल, उदर और ऊरु प्रदेश तक प्रचुर सख्या मे पिडकाओ का घनीभूत होकर निकलना अच्छा लक्षण है। पिडकायें 'मन्थरज्वर' की परिचायक होती हैं। ये पिडकायें स्वेदग्रन्थियो के मुख पर शोथ होने या रक्तधातु ज्वर[1] होने पर निकलती हैं। प्रलाप, बेचैनी, तन्द्रा, मुखशोष, जडता, कास, दौर्बल्य, आध्मान और मानसिक सन्ताप बढ जाता है।[2] ज्वर बढकर स्थिर हो जाता है। ज्वर का वेग प्राय १०३° फा० तक रहता है, जो प्रात काल कुछ कम हो जाता है। नाडी की गति प्रति मिनट ११० से १४० तक होती है। जिह्वा शुष्क होकर फट जाती है, उसकी किनारी लाल होती है तथा जिह्वा, दांत एव ओठ पर मैल जम जाती है। अन्त्रक्षतों मे धमनी के फट जाने से मल के साथ रक्त आने लगता है। कभी कभी खाँसी आने लगती है और श्वास भी हो जाता है। मल मे रक्त का आना और कास-श्वास होना, ये घातक लक्षण हैं।

तृतीय सप्ताह

तीसरे सप्ताह मे उपर्युक्त लक्षण कम हो जाते हैं। यदि वे लक्षण बढ जायें, तो ज्वर की अवधि चार सप्ताह या अधिक की होने की सभावना होती है, तब नाडी का स्पन्दन तेज और विषम होता है। श्वास-कष्ट होता है, अति स्वेद निर्गमन के कारण दुर्बलता बढ जाती है, हाथ पैर मे कम्पन तथा जीभ मे भी कम्पन होने लगता है। आन्त्र मे अतिशय व्रण न होने से अधिक बार मलत्याग होता है और कदाचित्

---

१ प्रलाप पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम्। च० चि० ३

२ सि० नि० म० ख०।

रक्तस्राव भी होने लगता है, जिसका सद्य. फलप्रद उपचार न होने मे रुग्ण का जीवन सन्दिग्ध हो जाता है।

यदि यह ज्वर तीन सप्ताहवाला होता है, तब समुचित चिकित्सा होने पर ठीक इक्कीसवें या बाइसवें दिन ज्वर उतर जाता है।

चतुर्थ सप्ताह

चौथे सप्ताह मे तीसरे सप्ताह के लक्षण उपस्थित रहते हैं। प्रलाप, बेहोशी और मानसिक असन्तुलन होना अच्छे लक्षण नहीं हैं। योग्य चिकित्सा होने से तृतीय-सप्ताहान्त या चतुर्थ सप्ताह के आरम्भ मे तापमान क्रमश घटने लगता है। चौथा सप्ताह समाप्त होते-होते ताप स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है। जिह्वा का अग्र भाग और किनारे स्वच्छ हो जाते हैं। रोगी चैतन्य हो जाता है। क्षुधा की प्रतीति होती है और रोगी आरोग्योन्मुख हो जाता है।

असाध्य लक्षण

रोग की प्रथमावस्था मे रक्तस्राव होने से रोग असाध्य हो जाता है। रोगी के अन्त्र मे उग्रता, समय-समय पर रक्तस्राव, तीव्र नाडी गति, अन्त्रावरण-प्रदाह, सहसा आध्मान आदि लक्षण मृत्यु का आमन्त्रण देते हैं। उदर मे उत्कट वेदना, अतिसार, उदरच्छदपाक, अतिदुर्बलता, हस्त-पाद कम्प आदि अरिष्ट लक्षण होते हैं। प्रात काल ताप का बढना, समूचे दिन बराबर रहकर रात्रि मे बढ जाना असाध्य लक्षण है। ताप की अतिवृद्धि होकर सहसा ताप का ह्रास होना असाध्य लक्षण है। श्वासनलीय प्रदाह, फुफ्फुसप्रदाह, विसर्प ज्वर, आन्त्रिक रक्तस्राव, स्वरयन्त्रक्षत, अन्त्रविदारणजन्य अन्त्रावरणप्रदाह, अतितीव्र सन्ताप, प्रलाप, आध्मान, वृक्कशोथ आदि उपद्रवों का होना असाध्यता का सूचक हैं।

उपद्रव

आन्त्रिकज्वर मे वे सभी उपद्रव हो सकते हैं, जो सन्निपातज्वर में होते हैं। किसी-किसी को ज्वर उतर जाने पर भी १–२ सप्ताह तक प्रलाप बना रहता है। बधिरता या मूकता आदि उपद्रव हो जाते हैं। लघु अन्त्र के अन्तिम भाग मे विशेष विकृति होती है। यकृत्प्लीहा, पक्वाशय, ग्रहणी आदि पित्तस्थान दूषित हो जाते हैं। अतिसार, रक्तस्राव, आध्मान, अन्त्रविदारण, प्लीहावृद्धि, श्वासस्थान सम्बन्धी रोग, शीर्षसौषुम्निक ज्वर, वृक्कशोथ आदि उपद्रवो की सभावना होती है। गर्भिणी स्त्री को इस ज्वर के होने पर गर्भपात हो जाता है। स्मृति-विभ्रम, मूढ चित्तता, सन्धिशोथ और खालित्य होते देखा जाता है।

सामान्य चिकित्सा

१ आन्त्रिक ज्वर मे जो उपद्रव सम्भावित होते हैं, उनसे बचने के लिए समुचित पथ्य की व्यवस्था, शरीर की नियमित सफाई और उत्तम परिचर्या का प्रबन्ध करना चाहिए।

पथ्य

२. आमदोष के पाचन के लिए कम से कम १ सप्ताह तक लंघन अवश्य कराना चाहिए।

३ तृष्णा या दाह होने पर षडङ्गपानीय पिलाना चाहिए।

४. आध्मान या उदरशूल होने पर—नागरमोथा, वायविडंग, पित्तपापड़ा और लौंग १०-१० ग्राम कूटकर १ लीटर जल में उबालकर, आधा बचने पर छानकर, थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें।

५ अतिसार होने पर सौंफ का अर्क पिलावें।

६ लाजमण्ड—धान का लावा १० ग्राम १५० मि० ली० जल में अर्धावशिष्ट पकाकर, मिश्री तथा छोटी लाइची का चूर्ण मिलाकर २-३ बार पिलाना चाहिए।

७ यव की पेया (वार्ली) लाजमण्ड की तरह पेया बनाकर उसको ४-४ चम्मच ३-४ बार पिलावें।

८. प्यास और जलन की अधिकता में मुसम्मी का रस थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिए।

९ विबन्ध होने पर—मुनक्के का बीज निकाल कर, तवे पर हलका भूनकर जीरा-नमक लपेट कर १०-१२ दाना खाने को देते रहें।

१०. दूसरे सप्ताह में ज्वर का तापमान और विषमयता बढ़ जाती है। अत इनके शमनार्थ षडंगपानीय अथवा नारिकेल जल ४-६ चम्मच कई बार पिलाना चाहिए।

११. पैत्तिक लक्षणों की तीव्रता में—

ब्राह्मी की पत्ती	३ ग्राम
धनिया	३ ,,
नागरमोथा	३ ,,
सुगन्धवाला	३ ,,
सारिवा (अनन्तमूल)	३ ,,

आधा लीटर जल में पकाकर २५ ग्राम मिश्री मिलाकर रख दें। इस जल को ४-४ चम्मच ४-५ बार पिलाते रहें।

१२. रोगी की परिस्थिति के अनुसार लाजमण्ड और पेया देते रहें।

१३ तृतीय सप्ताह में पञ्चकोल सिद्ध दूध पीने को दे। मीठा सन्तरा, मुसम्मी, सेव, इनमें से किसी का भी रस १-२ बार पिलाया जा सकता है।

१४ चौथे सप्ताह में यदि ज्वर हो तो पूर्ववत् दूध एवं फलों का रस देते रहे। यदि ज्वर का वेग मृदु हो और रोगी को क्षीणता प्रतीत हो, तो धान का लावा, साबूदाना, हॉर्लिक्स आदि पथ्य देना चाहिए।

१५ ज्वरमुक्त होने पर सबसे पहले २-३ भोजन वेला में परवल देना चाहिए। परवल का छिलका और कड़ा बीज निकालकर, पतला चीरकर, हलदी, धनिया,

जीरा, मरिच, लौंग और इलायची के महीन मसाले डालकर रस्सेदार सब्जी बनाकर नीबू निचोडकर खाने को दें।

यदि न जँचे या न मिले, तो मूँग की दाल का यूष या धान का लावा थोडी मात्रा मे दें। २—३ वक्त के बाद मुलायम रोटी का छिलका और मूँग की दाल तथा परवल दें। आदी और नीबू का प्रयोग रुचिवर्धक है।

परिचर्या

१ शयन-व्यवस्था—आन्त्रिक ज्वर के रोगी को कई सप्ताह तक बिस्तरे पर पडकर समय बिताना पडता है, इसलिए चारपाई कसी हुई होनी चाहिए। उस पर मुलायम गद्दा और सफेद चादर तथा तकिया होना चाहिए। कठोर बिस्तर दु खदायी होता है और उससे अङ्गो के छिलने का भय रहता है।

चादर बदलते रहना चाहिए। आकस्मिक रूप से मल-मूत्र आदि के कारण गन्दी चादर तुरन्त हटानी चाहिए।

२. यदि रोगी अचेत-सा पडा रहता हो, तो उसे सहारा देकर जब-तब करवट बदलवा देना चाहिए।

स्वच्छता

१ प्रतिदिन प्रात काल सुखोष्ण जल मे कपडा भिगोकर समस्त शरीर को पोछ लेना चाहिए या केवल सूखे कपडे से हलके हाथ से समस्त शरीर की सफाई कर देनी चाहिए। मञ्जन से दांतो की और दातौन फाडकर जिह्वा की सफाई की जानी चाहिए। पहनने और ओढने के वस्त्र या कम्बल आदि की भी सफाई रखनी चाहिए।

२. रोगी को स्वच्छ हवादार कमरे मे रखना चाहिए, जिससे कि वायु सीधे शरीर पर न लगे।

३. शारीरिक और मानसिक दृष्टि से पूर्ण आराम देना चाहिए।

आवस्थिक चिकित्सा

सामदोष के पाचनार्थ—

सौभाग्य वटी	४०० मि० ग्रा०
आनन्दभैरव रस	४०० मि० ग्रा०
योग ३ मात्रा	

४—४ घण्टे पर ३ बार भुना जीरा ½ ग्राम और मधु से।

आन्त्रिक ज्वर मे तीव्र ज्वरघ्न उपचार न कर, रोगी की सुश्रूषा और पथ्य का विशेष ध्यान रखना चाहिए, जिससे कोई उपद्रव न हो और अपने समय पर ज्वर छूट जाय। इस दृष्टि से आरम्भ से अन्तिम समय तक उसे निम्नाङ्कित योग देना उपयुक्त है—

३–३ घण्टे पर ४ वार

अभ्रक भस्म	२५० मि० ग्रा०
शुक्ति भस्म	२५० मि० ग्रा०
शुद्ध टंकण	२५० मि० ग्रा०
शुक्ता भस्म	१२५ मि० ग्रा०
रससिन्दूर	१२५ मि० ग्रा०
	४ मात्रा

जायफल, जावित्री, लवग — प्रत्येक के २५० मि० ग्रा० चूर्ण और मधु से।

दानों के शीघ्र तथा पूर्ण निकलने के लिए—

लौंग ७ अदद, जायफल २ ग्राम, सोंठ २ ग्राम, ब्राह्मी की पत्ती १ ग्राम — २० मि० ली० पानी के साथ पीसकर किसी चम्मच आदि को गरम कर उससे छौंककर मधु मिलाकर प्रात साय पिलावे।

द्वितीय सप्ताह मे—

प्राय वात-पैत्तिक लक्षणो की वृद्धि हो जाती है, ऐसी स्थिति मे धनी रोगी को निम्नाङ्कित योग देने से सभी सम्भावित उपद्रव शान्त हो जाते हैं—

४–४ घण्टे पर ३ वार

मुक्ता भस्म	२५० मि० ग्रा०
योगेन्द्र रस	३७५ मि० ग्रा०
सौभाग्यवटी	३७५ मि० ग्रा०
त्रैलोक्यचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
	योग ३ मात्रा

२५० मि० ग्रा० भुनी बडी लाइची के चूर्ण और मधु से।

अल्प सपन्न रोगी को उक्त योग की जगह निम्न योग देवे—

४–४ घण्टे पर ३ वार

ब्राह्मी वटी	४०० मि० ग्रा०
प्रवाल भस्म	२०० मि० ग्रा०
मुक्ता शुक्ति	२०० मि० ग्रा०
आनन्दभैरव	४०० मि० ग्रा०
ज्वरारि अभ्र	४०० मि० ग्रा०
	योग ३ मात्रा

भुना जीरा और मधु से।

उग्र सन्ताप शमनार्थ—

४–४ घण्टे पर

सूतशेखर	३०० मि० ग्रा०
वसन्तमालती	२०० मि० ग्रा०
गुडूचीसत्त्व	१ ग्राम
शिलाजत्वादि लौह	३०० मि० ग्रा०
	योग ३ मात्रा

मिश्री मिले हुए शतपुष्पार्क या पर्पटार्क के साथ।

चतुर्थ सप्ताह मे—

ज्वरानुबन्ध रहने पर—

पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह	३०० मि० ग्रा०
वसन्तमालती	३०० मि० ग्रा०
प्रवालपञ्चामृत	३०० मि० ग्रा०
सितोपलादि चूर्ण	३ ग्राम
	योग—३ मात्रा

मधु से।

बाद मे सुदर्शनचूर्ण ४ ग्राम लेकर चाय की तरह बनाकर पीना।

हृदयदौर्बल्य में—

चतुर्भुज	१२५ मि० ग्रा०
विश्वेश्वर	१२५ मि० ग्रा०
मुक्ताभस्म	१२५ मि० ग्रा०
	योग—३ मात्रा

४–४ घण्टे पर मधु से।

हृदयातिपात मे—

४–४ घण्टे पर ३ बार

वृहत् कस्तूरीभैरव	३७५ मि० ग्रा०
सिद्धमकरध्वज	३७५ मि० ग्रा०
चिन्तामणि चतुर्मुख	३७५ मि० ग्रा०
	योग—३ मात्रा

पान से रस और मधु से।

लाक्षणिक चिकित्सा

कासानुबन्ध मे—

३–३ घण्टे पर ४ वार

चन्द्रामृत	१ ग्राम
चन्दनादि लोह	½ ग्राम
तालीसादि	४ ग्राम

योग—४ मात्रा

अडूसे के रस तथा मधु से।

विबन्ध मे—

ग्लिसरीन द्रव १ औंस सिरिञ्ज से गुदा मे वस्ति द्वारा देने से मलशोधन होता है। मुनक्का खिलाना चाहिए या फटे दूध का पानी पिलाना चाहिए। ईसबगोल की भूसी ४ से ६ ग्राम सुखोष्ण दूध से देना चाहिए।

अतिसार मे—

१. कोरया की छाल	६ ग्राम
वेल का गूदा	६ ग्राम
मोचरस	६ ग्राम
नागरमोथा	६ ग्राम
धनिया	६ ग्राम

५०० मि० ली० जल में अष्टमाशावशिष्ट क्वाथ बनावे। दिन मे ३ वार १०-१० मि० ली० मधु मिलाकर पिलावे।

२ ३–३ घण्टे पर ४ वार

सिद्धप्राणेश्वर	½ ग्राम
कर्पूर रस	½ ग्राम
आनन्दभैरव	½ ग्राम
रामबाण	१ ग्राम
महागन्धक	१ ग्राम

योग—४ मात्रा

१ ग्राम भुना जीरा चूर्ण और मधु से।

सज्ञानाश और प्रलाप मे—

३–३ घण्टे पर ४ वार

योगेन्द्र रस	३०० मि० ग्रा०
चतुर्भुज	३०० मि० ग्रा०
बृहद् कस्तूरीभैरव	३०० मि० ग्रा०

योग—४ मात्रा

ब्राह्मी स्वरस और मधु से।

अनिद्रा में—

अपराह्ण से अर्धरात्रि तक ३—३ घण्टे पर ४ वार

सर्पगन्धा चूर्ण	३०० मि० ग्रा०
जल से	१ मात्रा

आन्त्रगत रक्तस्राव

दूसरे-तीसरे सप्ताह मे ही ज्वर की शान्ति, नाडी की क्षीणता एव गति तीव्रता, प्रलाप एव दुर्बलता आदि लक्षणो की आकस्मिक वृद्धि होने पर आन्तरिक रक्तस्राव का अनुमान किया जाता है।

जामुन के रग का या तारकोल के समान वर्ण का दुर्गन्धयुक्त मल होने पर अथवा प्रत्यक्षत मलद्वार से रक्त के निर्गमन का निश्चय हो जाता है।

ऐसी स्थिति में रोगी को शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से पूरा विश्राम देना चाहिए। शान्त कमरे मे सुलाना तथा वहाँ केवल परिचारक को जाने देना चाहिए। करवट बदलाने, मल-मूत्र कराने और त्वचा की सफाई कराने मे रोगी को हिलने न दें। पेट पर वर्फ की थैली रखना चाहिए। पैरो को मोडकर, घुटने से नीचे तकिया रखकर उदर को शिथिल रखना चाहिए। पैर की ओर चारपाई के पाये के नीचे १-१ ईंट ऊँचा करना चाहिए।

२—२ घण्टे पर ५ बार

कर्पूररस	½ ग्राम
रामवाण	½ ग्राम
रक्तपित्तकुलकण्डन	½ ग्राम
शुद्ध स्वर्णगैरिक	१ ग्राम
वोलपर्पटी	१ ग्राम
	योग—४ मात्रा

असली नागकेशर और खूवकला के समभाग के १ ग्राम चूर्ण व मधु के साथ।

दिन मे ३ वार

चन्दनकिराताादि क्वाथ २५ मि० ली०

पीने को दे।

चन्दनकिराताादि क्वाथ

रक्तचन्दन	चिरायता	जवासा	सोठ
इन्द्रजौ	कोरया की छाल	खस	अनार फलत्वक्
दारुहल्दी	नीम की छाल	लज्जावन्ती	अतीस

और रसौत—इन सभी का समभाग में क्वाथ बनावे।

वाताधिक्य में

३–३ घण्टे पर ४ बार

बृहद्वातचिन्तामणि	४०० मि० ग्रा०
रसराज	४०० मि० ग्रा०
सौभाग्यवटी	५०० मि० ग्रा०
	योग ४ मात्रा

आर्द्रक तथा ताम्बूल स्वरस और मधु से।

पित्ताधिक्य में

३–३ घण्टे पर ४ बार

मुक्तापिष्टी	३०० मि० ग्रा०
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
अभ्रकभस्म	५०० मि० ग्रा०
गुडूचीसत्व	१ ग्राम
	योग ४ मात्रा

भुनी बड़ी इलायची चूर्ण ½ ग्राम और मधु से।

कफाधिक्य में

३–३ घण्टे पर ४ बार

चन्द्रामृत रस	५०० मि० ग्रा०
बृहत्कस्तूरीभैरव	३०० मि० ग्रा०
सौभाग्यवटी	१ ग्राम
शुद्ध टंकण	½ ग्राम
	योग ४ मात्रा

आर्द्रक स्वरस और मधु से।

ज्वरमुक्ति के बाद बलप्रद प्रयोग

१ प्रातः सायं

नवायस लौह	आधा ग्राम
वसन्तमाली	चौथाई ग्राम
मुक्ताशुक्ति	आधा ग्राम
सितोपलादि चूर्ण	एक ग्राम
	योग २ मात्रा

मधु से।

२ भोजन के पूर्व—

यवानीषाडव चूर्ण	६ ग्राम
	२ मात्रा

बिना अनुपान के।

३. भोजन के बाद २ बार

लोहासव	२५ मि० ली०
द्राक्षारिष्ट	२५ मि० ली०
योग २ मात्रा	

समान जल मिलाकर पीना।

श्वसनकज्वर (Pneumonia)

पर्याय और परिचय

इसे फुप्फुसपाक, फुप्फुसप्रदाहक, कर्कोटक सन्निपात, फुप्फुससन्निपात, रक्तष्ठीवी सन्निपात, श्वसनक ज्वर तथा न्यूमोनिया आदि नामो से जाना जाता है।

न्यूमो (Pneumo) शब्द का अर्थ है—वायु, एव न्युमोनिया का शब्दार्थ है—श्वासयन्त्र मे होनेवाली व्याधि, क्योकि श्वास और वायु का नित्य सम्बन्ध है।

भावमिश्र ने इसका नाम कर्कटक सन्निपात रखा है। कर्क का अर्थ है—कर्कोटक, केकडा या कर्कराशि या जलकुम्भी, ये सभी नाम इस रोग मे चरितार्थ हैं। इसमे तीव्र ज्वर के साथ फुप्फुसो मे पाक होता है। विशेषकर फुप्फुसो के खण्डों और वायुकोषो मे शोथ होता है। थूक के साथ लाक्षा रग के सदृश रक्त निकलता है। वक्ष स्थल मे वेदना होती है। रोगी कास और श्वास से पीडित होता है।[1]

इस ज्वर मे दो प्रकार का प्रदाह होता है—

१ फुप्फुसखण्ड प्रदाह।

२ श्वासप्रणाली प्रदाह।

इनमे फुप्फुसखण्ड प्रदाह विशेष घातक है। नाडी वेगवती होती है। स्टेथिस्कोप से परीक्षा करने पर फुप्फुसो से बुद्-बुद् की ध्वनि सुनाई देती है। यदि फुप्फुसों पर अगुलिताडन परीक्षा की जावे, तो पत्थर पर आघात होने के सदृश घन शब्द सुनाई देता है। ये लक्षण फुप्फुस के वायुकोषो का अवरोध होने पर व्रणशोथ होने के कारण होते हैं। दुर्बलता, पार्श्वशूल, शिर शूल तथा अन्य अनेक आमयिक अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं।[2]

---

१ लाक्षारसाभं य ष्ठीवेद् रक्त श्वासज्वरार्दित।
स्त्यानफुप्फुसमूलस्य तस्य श्वसनको ज्वर.॥ सि० नि० प्र० ख०

२ इषुणेवाहत पार्श्वे तुद्यते खन्यते हृदि।
प्रमीलक श्वासहिक्के प्रवर्धते दिने दिने॥
जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गल शूकैरिवावृत।
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्॥
अतीव श्लेष्मणा पूर्ण शुष्कवक्त्रोष्ठतालुक.।
तन्द्रानिद्रातियोगार्तो हत वाड्निहतद्युति॥
न रतिं लभते किञ्चिद् विपरीतानि चेच्छति।
आयम्यते च बहुशो रक्त ष्ठीवति चाल्पश॥
एष कर्कटको नाम्ना सन्निपात सुदारुण। भावप्र० पू० ज्वर०

फुफ्फुसखण्ड प्रदाह
(Lobar Pneumonia)

निदान

दुर्बलता, निर्धनता, शोक, वस्त्राच्छादन विहीनता, सहसा शीत लग जाना, वर्षा होने पर नग्न शरीर मे आर्द्र तथा शीतल वायु का स्पर्श होना, धूलियुक्त दूषित वायु मे रहना, अति परिश्रम करना, वक्ष स्थल मे आघात लगना, अनियमित आहार-विहार करना तथा इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति का निकट सम्पर्क होना, इत्यादि कारणो से यह रोग होता है। वर्षा, शिशिर और वसन्त ऋतु मे इसके होने की अधिक सभावना होती है। सामान्यत किसी भी ऋतु मे यह रोग हो सकता है।

इस रोग की उत्पत्ति—१ न्यूमोकोक्कस (Pneumococcus), २ वैसिलस न्यूमोनिया (Bacillus Pneumonia), ३ स्टेफिलोकोक्कस (Staphylococcus) एव ४ स्ट्रेप्टोकोक्कस (Streptococcus) इन जीवाणुओ से होती है। इस रोग के स्थान और लक्षण-भेद से निम्नलिखित आठ प्रकार होते हैं—

१. उभय फुफ्फुसग्राही (Double Pneumonia)
२. परिभ्रामक अर्थात् स्थान-परिवर्तन करनेवाला (Wandering Pneumonia)
३ केन्द्रक अर्थात् फुफ्फुसो के मध्य भाग को दूषित करनेवाला (Central)
४ घातक प्रलापादि उपद्रवयुक्त (Cerebral Pneumonia)
५ श्वासप्रणाली का प्रदाह प्रतिश्याससह (Lobular)
६ फुफ्फुसावरण दाहसह (Pleuritic)
७. फिरङ्गरोगसह (Syphilitic)
८ आन्त्रिक ज्वरसह (Typhoid Pneumonia)

संक्रमण

इस रोग के जीवाणु चार प्रकार से फुफ्फुसो मे जाकर रोग उत्पन्न करते हैं—
१ श्वास में गृहीत वायु से श्वास प्रणाली में।
२ प्रवाहित रक्त से।
३ लसीका के द्वारा।
४ फुफ्फुस के समीपस्थ अवयवो के रोगाक्रान्त होने से।

न्युमोनियाणु रोगी के थूक द्वारा बाहर निकलते हैं और सूखकर धूलिकण मे या वायु मे मिल जाते हैं। वायु मे उडते हुए जीवाणु, स्वस्थ व्यक्ति के श्वास द्वारा फुफ्फुसो मे जाकर रोग उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी रोगी के कफ से या दूषित वस्त्रादि से भी इस रोग का सक्रमण होता है। किसी भी तरह ये जीवाणु नासिका और मुख मे पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं। इनके सक्रमण का प्रधान माध्यम वायु है।

सम्प्राप्ति

इस ज्वर के जीवाणु गले या मुख से फुफ्फुसों मे पहुँचकर फुफ्फुसप्रदाह उत्पन्न

करते हैं। फुप्फुसकोशाओ मे शोथ होने से वह स्थान ठोस हो जाता है, जिससे श्वासोच्छ्वास मे कठिनाई होती है।[1] ज्वर का वेग बढ जाता है और विष का प्रभाव अधिक हो जाता है, जिससे हृदय, मस्तिष्क और नाडी-सस्थान भी प्रभावित होते हैं। विष का प्रभाव अतितीव्र होने से रोग असाध्य हो जाता है। यदि ३, ५ या ७ दिन मे फुप्फुसशोथ आदि लक्षण दूर हो जाते हैं, तो रोग मृदु हो जाता और रोग के साध्य होने की आशा बलवती हो जाती है।

न्यूमोनिया के कारण फुप्फुसप्रदाह होने पर सामान्यत' चार प्रकार की सप्राप्ति की अवस्थायें होती हैं—१ रक्ताधिक्य २ रक्तघनीभवन ३ असितघनीभवन और ४. प्रकृतिभाव।

(१) रक्ताधिक्य (Hyperamia)

इस अवस्था मे वायुकोष्ठो की रक्त-प्रणालियाँ रक्त से परिपूर्ण होकर फैल जाती हैं। फुप्फुस अत्यन्त भारी हो जाता है। रोगी को बेचैनी, शीत तथा कम्प के साथ खाँसी आने लगती है। श्वास-प्रश्वास प्रति मिनट ५०–६० बार और नाडी की गति १२०–१३० तक हो जाती है। तापमान १०३°–१०४° फा० तक हो जाता है।

(२) रक्तघनीभवन (Red Heptization)

इसमे फुप्फुस का आक्रान्त भाग ५ से २४ घण्टे के भीतर ठोस हो जाता है। फुप्फुस खण्ड के सभी सूक्ष्म छिद्र लसीकास्राव से भर जाते हैं। फुप्फुस लाल पाषाण के समान हो जाता है। यह अवस्था ३ से १० दिन तक रहती है। साध्यावस्था मे प्राय एक सप्ताह के पश्चात् फुप्फुस मृदु होकर यथास्थिति में आने लगता है।

(३) असित घनीभवन

इस अवस्था मे फुप्फुस मे मृदुता आ जाती है। यह पूय-सञ्चयावस्था होती है। फुप्फुस का वर्ण काला हो जाता है। रक्ताणुओ मे से रक्तरजक द्रव्य नष्ट हो जाते हैं। रक्ताभिसरण-क्रिया मे प्रतिबन्ध आ जाता है। पूयाधिक्य होने पर रोग असाध्य हो जाता है।

(४) प्रकृतिभाव (Resolution)

रोग के उपशमन होने पर यह अवस्था होती है। जब दूषित मल कफ के साथ मिलकर बाहर निकल जाता है और स्राव का कुछ अश शनै शनै रक्त मे लीन होता रहता है, तब प्राकृतिक स्थिति आती है।

इस रोग का परिणाम फुप्फुस के शोथ पर निर्भर है। दोनो फुप्फुसो मे न्युमोनिया होने पर तरल कफ अथवा लाल कफ निकलने पर अनेक बार रोग विषमावस्था धारण कर लेता है। अति तीव्र ताप, हृदय का कार्यावरोध, निद्रानाश,

---

१ सहृत्यासृङ्मूलत फुप्फुसस्याऽसव्ये पार्श्वे सव्यतो वा द्वयोर्वा।
जिघांसन्ति श्वासयन्त्रं विषोत्था दोषास्तस्माच्छ्वासकष्ट ज्वरश्च॥ सि० नि० प्र० ख०

प्रलाप, कम्प, सज्ञानाश या वृक्कविकार होने पर रोगी का जीवन सन्दिग्ध हो जाता है।

पूर्वरूप

इस रोग के पूर्वरूप मे पार्श्वशूल, कास, श्वास, कम्प, फुप्फुसावरण मे जल-संचय, क्षुधानाश, निर्बलता, बेचैनी होने के साथ-साथ नाडी की गति तीव्र होती है।

लक्षण

ज्वर प्राय शीत के साथ प्रारम्भ होता है। शुरु से ही ज्वर तीव्रवेगी होता है। अरुचि, तृष्णा, पार्श्वशूल, कास तथा श्वास की वृद्धि, रक्तमिश्रित चिकना एव दुर्गन्ध-युक्त कफ निकलना, श्वासवेग के समय नासिका तथा उर पर्शुकाओ मे कम्पन होना, स्वेदाधिक्य, सर्षप सदृश पिड़काओ का निकलना, दुर्बलता, प्रलाप और गले मे घरघराहट होती है। जिह्वा कठोर, मैली तथा शुष्क होती है। नाडी की गति प्रति मिनट १०१ से १०३ तक होती है। ज्वर १०३° से १०४° फा० तक होता।

ताप के चले जाने पर भी कभी कभी फुप्फुसावरण से दाह, फुप्फुस-विद्रधि या जीर्णकास आदि लक्षण शेष रह जाते है और फुप्फुस वर्षो तक दुर्बल रह जाता है, जिससे शीत या वर्षा का थोडा-सा भी आघात होने पर यह रोग पुन आक्रमण कर देता है।[१]

श्वासप्रणालिका-प्रदाह

(Broncho Pneumonia)

परिचय

फुप्फुसो से सम्बद्ध वायुकोषो मे जाती हुई सूक्ष्म श्वास-नलिकाओ मे दाह-शोथ का होना इसका प्रधान स्वरूप है। यह उपद्रवात्मक होता है। रोमान्तिका, काली खांसी, कण्ठरोहिणी या वातश्लेष्मज्वर आदि विषसंसर्गी रोगो के अन्त मे यह उपद्रव स्वरूप होता है। यदि अन्न या अन्य पदार्थ श्वासनलिका मे चला जाता है, तब भी यह रोग हो जाता है।

निदान

यह रोग पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चो, क्षीण मनुष्य और वृद्धो को अस्थिक्षय, अतिसार आदि शरीरक्षयकारक रोगो के अन्त मे प्राय हो जाता है। सामान्य कास रोग के अन्त मे, क्षय रोग मे और तेज वायु के श्वासपथ मे चले जाने पर इस रोग की उत्पत्ति होती है। स्तनपायी शिशुओ को होनेवाला यह रोग 'उत्फुल्लिका' (डब्बा) कहा जाता है। माता के अपथ्य सेवन से यह बच्चो को हो जाता है। यह रोग तीव्र सक्रामक होता है।

---

१ सि० नि० पू० ख०।

सम्प्राप्ति

इस रोग मे सूक्ष्म श्वास-प्रणालियो मे शोथ होने के कारण उसका मार्ग सकुचित हो जाता है। फिर दोनो फुप्फुमो के वायुकोष दूषित हो जाते हैं। श्वास नलिकाओ तथा वायुकोषो मे दाह होने से वे लसीकास्राव से भर जाते हैं। सूक्ष्म श्वासनलिकाओ के स्राव से अवरुद्ध होने पर उनसे सम्बद्ध वायुकोष दूषित होकर सकुचित हो जाते हैं। समीपवर्ती अन्य वायुकोष भी शोथ और दाह से पीडित हो जाते हैं।

लक्षण

शीत लगकर ज्वर हो जाता है और शिर शूल, कास, श्वास आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। फिर कुछ दिनो मे ज्वर का वेग १०२°–१०३° फा० तक वढ जाता है। जब फुप्फुसगामी श्वास-नलिकाओ मे एव वायुकोषो मे शोथ की अतिवृद्धि होती है, तब वायुकोष ठोस हो जाते हैं और अगुलिताडन से जड ध्वनि निकलती है। वच्चो मे कण्ठ मे घरघराहट, श्वास की गति तीव्र और प्रतिश्याय होता है। इस रोग का आक्रमण अकस्मात् होता है। इसमें ज्वर धीरे-धीरे उतरता है। वीच-वीच में कुछ वढ भी जाता है। रोगी की शक्ति क्षीण हो जाती है। वह धीरे-धीरे स्वस्थ होता है। यदि रोगी के वल का अतिशय ह्रास हो जाय, तो कास-श्वास वढ जाते हैं और शल्यज फुप्फुस-प्रदाह होकर रोगी की इहलीला समाप्त हो जाती है। यह रोग फुप्फुसखण्ड-प्रदाह की तरह भयानक नही है और इससे मृत्यु कम होती है।

चिकित्सा-सूत्र

१. श्वनक ज्वर के दोनो प्रकारो (फुप्फुमखण्ड-प्रदाह और श्वासप्रणाली-प्रदाह) मे प्राय एक ही समान औषधि एव पथ्य की व्यवस्था से लाभ होता है। रोगावस्था या आयुभेद से औषधो मे अन्तर हो सकता है। अनुपान आदि परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित किये जाने चाहिए।

२ रोग से कारणो का परित्याग करना चाहिए। रोगी का निवास-स्थान आर्द्र न हो और वहाँ धूल तथा धुंआ नहीं लगना चाहिए। स्थान स्वच्छ एव विस्तृत हो, जहाँ शीत वायु या वायु का सीधा सपर्क न हो। वायु के तीव्र प्रवाह से रोगी को वचाना चाहिए।

२. विकृत पार्श्व की ओर करवट करके शयन करने से रोगी को कष्ट होता है, अत उस ओर का भाग ऊपर रखना चाहिए, जिससे दवाव न पडे। यदि सोने मे कष्ट हो, तो मसनद लगाकर रोगी को अर्ध लेटी हुई मुद्रा मे रखें। ऐसा करने से खाँसी और श्वास मे राहत मिलती है।

३ रोगी के शरीर को गरम कपडे से ढँका रखें, मुँह खुला हो और ओढना वहुत वजनदार न हो, नहीं तो श्वास लेने मे कठिनाई हो जाती है। कमरे का वातावरण गरम रखना चाहिए।

४. रोगी को पूर्ण विश्राम देवे। मल-मूत्र त्याग के लिए, थूकने, जल पीने, दवा

खाने और पथ्य लेने आदि कार्य के लिए परिचारक की सहायता के बिना नहीं उठना बैठना चाहिए।

५. कमरे की खिडकियाँ खुली हो, जिससे स्वच्छ वायु तथा प्रकाश आने मे व्यवधान न हो।

६ ज्वर के आक्रमण के समय रोगी को वहुत जाडा लगता है, इसलिए उस समय ओढने की पर्याप्त व्यवस्था करे और कमरे को गरम रखने का यत्न करे। जगले खुले रखकर कमरे मे धुँआ रहित अगीठी आदि रखनी चाहिए।

७. आरम्भ के दिनो मे लघन कराना चाहिए और ३ दिन तक अर्धावशिष्ट उवाला हुआ जल मिश्री, ग्लूकोज या मुनक्का खिलाकर ३ लीटर तक प्रतिदिन पिलाना चाहिए। मुनक्के का वीज निकालकर कालीमरिच और सेंधानमक वुरक कर तवे पर गरम करके रखे और १५–२० दाने तक प्रतिदिन देवे।

८. प्राय एक सप्ताह या ८–१० दिन मे रोग का शमन होने तक लघन कराना उचित है। तत्पश्चात् रुचि होने पर पहले परवल का यूप, लाजमण्ड, मूग का यूष, मखाना, धान का लावा, मीठा सन्तरा, मुसम्मी, किसमिस आदि देना चाहिए।

औषधोपचार

यह वातश्लेष्मोल्वण सन्निपात है। इसमे कफनाशक, हृद्य, सन्तापहर, कफ-नि सारक, कफ-विलयनकारक औषधो का प्रयोग कराना चाहिए। एतदर्थ—

व्यवस्थापत्र

१ ३–३ घण्टे पर ४–५ वार

त्रिभुवनकीर्ति	५०० मि० ग्राम
महालक्ष्मीविलास	५०० मि० ग्राम
श्रृगाराभ्र	२५० मि० ग्राम
श्रृग भस्म	५०० मि० ग्राम
शुद्ध नरसार	१ ग्राम
रससिन्दूर	२५० मि० ग्राम
	योग ५ मात्रा

ताम्बूलपत्र स्वरस और मधु से।

२. प्रात-साय २ वार
अष्टादशाग[1] क्वाथ ५० मि० ली० पीना।

३. ९ वजे, २ वजे दिन और ९ बजे रात्रि में
श्रृग्यादि चूर्ण ६ ग्राम

---

१ दशमूल, कचूर, काकडासिंगी, पुष्करमूल, जवासा, सोंठ, इन्द्रजौ, परवल की पत्ती और कुटकी, प्रत्येक समभाग लेकर २० ग्राम का क्वाथ वनाकर पीना।

शुद्ध टंकण	आधा ग्राम
अर्कलवण	आधा ग्राम
	योग ३ मात्रा

सुखोष्ण जल से।

वक्षःस्थल पर सुखोष्ण अभ्यंगार्थ—

पंचगुणतैल

या

पुराणघृत में कर्पूर-सैन्धव मिलाकर प्रयोग करें।

आवस्यिक चिकित्सा

श्वासकृच्छ्रता में

४–४ घण्टे पर ३ बार

श्वासकासचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
महालक्ष्मीविलास	२५० मि० ग्रा०
बृहद्वातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
शृंगाराभ्र	२५० मि० ग्रा०
शुद्ध टंकण	१ ग्राम
	योग ३ मात्रा

काकड़ासिंगी चूर्ण १ ग्राम और मधु से।

शुष्ककास, दाह और व्यग्रता में

३–३ घण्टे पर ४ बार

कासकर्तरी	५०० मि० ग्रा०
शुद्ध टंकण	१ ग्राम
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
मधुयष्टी चूर्ण	५ ग्राम
	योग ४ मात्रा

मधु से। तत्पश्चात् लिसोड़ा का शर्बत पिलाना।

बच्चों में कफ ढीला होकर मुख से नहीं निकलता, इसलिए उन्हें वमन औ रेचनकारक औषध देनी चाहिए।

कङ्कुष्ठ (उसारे रेवन्द)	१२५ मि० ग्रा०
अतीस चूर्ण	२५० मि० ग्रा०
	योग १ मात्रा

मधु से चटाना।

ज्वरान्तदौर्बल्यनिवारणार्थं

१	नवायस लौह	५०० मि० ग्रा०
	शृंग भस्म	५०० मि० ग्रा०
	प्रवाल भस्म	२५० मि० ग्रा०
	स्वर्णवसन्तमालती	२५० मि० ग्रा०
	अभ्रक भस्म	२०० मि० ग्रा०
	सितोपलादि	३ ग्राम
		योग २ मात्रा

प्रातः-साय मधु से, तदनन्तर च्यवनप्राश १५ ग्राम दूध से।

२ भोजनोत्तर दोनो समय—

द्राक्षासव २५ मि० ली०

१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

पथ्य

१ रुग्ण को सुखद, स्वच्छ, शान्त और असकीर्ण स्थान एव विस्तर पर सुलाना चाहिए।

२ पीने के लिए सुखोष्ण जल देना चाहिए।

३. बकरी का दूध उत्तम है, न मिलने पर गाय का दूध दे।

४ आहार मे मण्ड, पेया, विलेपी का सुखोष्ण प्रयोग करे।

५ धान का लावा या मखाना जीरा नमक डालकर भूनकर खाने को दे।

६ परवल की रस्सेदार सब्जी या भुर्ता मे जीरा-नमक डालकर दे।

७ मूँग का यूष, पपीता या करेला रुचि के अनुसार दे।

८ मुनक्का, किसमिस और अगूर भी देना चाहिए।

९ भोजन सुपाच्य तथा पौष्टिक होना चाहिए।

१०. अनार और मीठी मुसम्मी देना उत्तम है।

११ परवल की सब्जी, मूग की दाल और रोटी खाने मे देना चाहिए।

श्लेष्मकज्वर
(Influenza)
पर्याय और परिचय[1]

श्लेष्मकज्वर, वातश्लेष्मकज्वर, प्रतिश्यायज्वर, फ्लू, जनपद व्यापक प्रतिश्याय और इन्फ्लुएञ्जा, इन नामो से यह जाना जाता है।

---

१. प्रादु पन्तीह यत्र प्राय श्लेष्मजोपद्रवा भृशम्।
क्वचिज्जनपदोद्ध्वंसी ज्वरोऽसौ श्लेष्मक स्मृत.॥ सि० नि० पू० ख०

यह जनपदव्यापक ज्वर है, जो तीव्र, आशुकारी और सक्रामक है। इसमे कफज विकारो की अधिकता प्रतीत होती है, अत एव इसे श्लेष्मज्वर की सज्ञा दी गयी है। यह रोग सबसे पहले सन् १७४१ ई० मे इटली में हुआ था। सन् १९३१–३२ मे महामारी के रूप मे यह भारतवर्ष मे प्रकट हुआ। सन् १९१८–१९ ई० मे इसका विश्वव्यापी प्रसार हुआ। सन् १९५७ मे इसका इतना व्यापक आक्रमण हुआ कि भारत, मलाया, जापान, फिलीपाइन और इटली के प्राय समस्त नगर इससे आक्रान्त हो गये थे। भारतवर्ष के नगरो और गाँवो के अनेकानेक परिवार इस महामारी से सत्रस्त और पीड़ित देखे गये। लेखक उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के मुख्यालय देवरिया नगर मे उन दिनो चिकित्साकार्य कर रहा था और उसे यह स्मरण है कि सम्पूर्ण नगर तथा सभी परिवार के अधिकाश सदस्य इस फ्लू की महामारी की पकड़ मे आ गये थे। किसी-किसी परिवार के तो सभी के सभी सदस्य बच्चे बूढ़े-जवान इस ज्वर से आक्रान्त देखे गये।

निदान[1]

इस रोग को उत्पन्न करनेवाला कीटाणु हीमोफाइलस बैक्टीरिया (Haemophilus Bacteria) या बैसिलस इन्फ्लुएन्जा (Bacillus Influenza) कहा जाता है। इस रोग का चयकाल ३–४ दिन है। रोग प्रतिश्याय से शुरु होता है। इस रोग का प्रभाव श्वासयन्त्र, अन्नपचन-संस्थान, मस्तिष्क और नाड़ीतन्त्र पर पड़ता है। इसमे अतिशय शक्तिक्षीणता हो जाती है।

संक्रमण

इस ज्वर का सक्रमण वायु द्वारा होता है, इसलिए एक साथ एक स्थान मे रहनेवाले व्यक्तियो मे एक साथ ही फैल जाता है। आर्द्र भू-भाग के निवासी, अशुद्ध दूषित वातावरण के सम्पर्क मे रहनेवाले, दुर्बल व्यक्ति या रोगी, फुफ्फुस और हृदय के रोगी शीघ्र ही इस रोग के शिकार हो जाते हैं। शरद् ऋतु में होनेवाला यह रोग कष्टसाध्य होता है। वसन्त ऋतु मे भी इस रोग का आक्रमण होता है। रोगी के दूषित वस्त्रो के स्पर्श से तथा रोगी की सेवा शुश्रूषा करने से या रोगी के सपर्क मे रहने से इस रोग का सक्रमण होता है।

संप्राप्ति

इस रोग के कीटाणुओ का प्रवेश श्वासमार्ग से होने के कारण श्वासनलिका और दोनो फुफ्फुस विकृत हो जाते हैं। दाह-शोथ होकर श्वासनलिकायें कफावृत हो जाती हैं, तब रक्तष्ठीवन आदि न्यूमोनिया जैसे लक्षण हो जाते हैं। श्वसनमार्ग मे व्रणशोथ हो

---

१ वायुवाहितजीवाणुविष युगपदक्षमा।
लोकेषु प्रसृतं प्राय श्वासमार्गेण तं ज्वरम्॥
विदधाति क्वचिद् वाऽथ भुक्तमार्गेण सङ्क्रम।
जनाज्जने च सङ्क्रान्ति श्वसनादिनिमित्तत ॥ सि० नि० पू० ख०

जाता है। उग्र होने पर श्वसनमार्गीय श्लेष्मकला में रक्ताधिक्य हो जाता है। क्वचित् उचित चिकित्सा के अभाव मे यह मारक रूप धारण कर लेता है।

अन्नमार्ग से कीटाणुओं का प्रवेश होने पर आमाशय और पक्वाशय मे विकृति होती है और इससे वमन या अतिसार या दोनो की प्रवृत्ति हो जाती है। यदि कीटाणुओ का प्रवेश मस्तिष्क में हो जाता है, तो वहाँ पर भी दाह शोथ आदि विकृति हो जाती है।[1]

लक्षण

इस रोग मे विकृति, विशेषत कफ-वातोल्वण सन्निपात के समान होती है। कभी-कभी इस रोग के कीटाणु धातुओ को भी दूषित कर देते हैं[2]। रक्त मे श्वेतकणों की सख्या कम हो जाती है। शरीर शक्तिहीन हो जाती है। रोग का आक्रमण सहसा होता है। सर्वाङ्ग मे वेदना होने लगती है। शीत अथवा गरमी मालूम होकर नासिका के अन्दर और कण्ठ मे प्रतिश्याय के लक्षण प्रकट होते हैं। खाँसी, गले मे पीडा, शिर शूल, उर शूल, पृष्ठ तथा कटिप्रदेश मे वेदना, कृशता और बल के ह्रास का अनुभव होता है। ताप प्राय. पाँच-सात दिन तक १०३°–१०४° फा० रहता है। नाडी की गति तीव्र होती है। मस्तिष्क मे भारीपन, नासिका मे बोझ और उग्रता तथा नेत्रो मे लालिमा एव अश्रुपूर्णता होती है। छीकें आती हैं। कभी-कभी नासिका से रक्त निकलने लगता है। गले मे वेदना, स्वरभेद या स्वरावरोध हो जाता है। रोग के बढने पर कफवृद्धि के भी लक्षण बढ जाते हैं। फुप्फुसो मे रोग का आक्रमण होने पर श्वासकृच्छ्रता और श्वासावरोध आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। श्वासनलिका मे शोथ होने पर दीर्घकालिक कास हो जाता है।

पचनसस्थान के विकृत हो जाने पर अग्निमान्द्य, उदरशूल, वमन या अतिसार अथवा दोनो होने लगते हैं। नेत्र और शिर में अतितीव्र वेदना होती है। ग्रीवा तथा मस्तिष्क मे वेदनाधिक्य का अनुभव होने लगता है। सामान्यत यह ज्वर तीसरे दिन बहुत बढ जाता है। प्रायः पाँचवें-छठे दिन ज्वर उतर जाता है। रोग के उपद्रवयुक्त होने पर इसकी अवधि चार सप्ताह तक हो जाती है। कभी-कभी १०–१२ दिन के बाद अन्त्र में दुर्बलता एव स्वेदाधिक्य होता है तथा मल-मूत्र अधिक मात्रा में निकलने लगता है।[3]

---

१. प्रायश्चास्य विकारा स्यु श्वासयन्त्रे क्वचित् पुनः।
अन्नमार्गे समग्रेऽपि क्वापि वा सर्वधातुषु ॥ सि० नि० पू० ख०

२. कफवातोल्वणं तच्च सन्निपातमुदीरयत्।
विषं धातून विकुरुते स्तोकेनातिबलेन वा ॥ सि० नि० पू० ख०

३. प्रतिश्याय. शिर शूलं शीतकम्पौ च कुत्रचित्।
अङ्गमर्द. कटीपृष्ठोरसां तीव्राश्च वेदना ॥
कासो ज्वरोऽवसादश्च कार्यंञ्चाल्पदिनैर्भृशम्।
अत्यर्थबलहानिश्च लिङ्गानि श्लेष्मके ज्वरे ॥

इस रोग की तीव्रता मे तीन प्रकार के विशेष विकार होते हैं—

१. दोनो फुफ्फुसो मे विकृति होने पर फुफ्फुसप्रदाह, थूक मे रक्त आना, प्रलाप, कास, श्वास आदि लक्षण न्युमोनिया जैसे हो जाते हैं। कभी-कभी फुफ्फुसावरण मे दाह होकर रक्त या पूय भर जाता है।

२ अन्नमार्ग आक्रान्त होने पर क्षुधानाश, वमन, अतिसार, उदरशूल आदि विषभक्षण-सदृश लक्षण होने लगते हैं।

३ कभी मस्तिष्क और नाडीतन्त्र पर रोग का तीव्र प्रभाव देखा जाता है, तब मूर्च्छा, वातविकार, अङ्गमर्द, हृदय की गतिमन्दता और वेदना, निद्रानाश और प्रलाप आदि सन्निपात-सदृश लक्षण होते हैं।

साध्यासाध्यता

उपद्रवरहित रोग साध्य होता है। सौम्य प्रकार के विकार मे बिना औषध-प्रयोग के भी रोग शान्त हो जाता है। फुफ्फुसदाह होने पर वृद्ध रोगी की मृत्यु हो जाती है। इन्फ्लुएञ्जा वाले रोगी मे कोई भी जीर्ण रोग पुन' तीव्र हो जाते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

१. रोगी को विश्राम कराना चाहिए और उसे स्वच्छ, शान्त व बड़े कमरे तथा हवादार स्थान मे रखे।

२ रोगी को शीत से और ठंडी वायु से बचावे। कमरे को निर्धूम अग्नि के अलाव से गरम रखना चाहिए।

३ रोगी के मुख-दन्त आदि को मञ्जन से शोधित करा देना चाहिए और शरीर को सुखोष्ण जल मे भिगोई तौलिया से प्रतिदिन पोछ देना चाहिए।

४ पीने के लिए अर्धावशिष्ट उष्णोदक या षडङ्गपानीय या पित्तपापड़े का अर्क देना चाहिए। तुलसी की पत्ती और कालीमरिच डालकर बनायी चाय पिलानी चाहिए।

५ दिन में २–३ बार गोजिह्वादि फाण्ट पिलाना चाहिए। इससे खाँसी और श्वास मे जमा हुआ कफ सरलता से निकल जाने से श्लेष्मज्वर मे आराम मिलता है।

गोजिह्वादि फाण्ट—गावजवान, मुलहठी, सौंफ, मुनक्का, अजीर, उन्नाव, अडूस के पत्ते, जूफा, सीपस्तीन, खूबकला, हंसराज, गुलबनप्सा और काली मिर्च, प्रत्येक

सामान्यतो विशेषात्तु फुफ्फुसाक्रमणे सति।
सरक्तं ष्ठीवनं प्राय प्रलाप श्वसनं तथा॥
अथान्नमार्गे त्वाक्रान्ते वम्यतीसारयोर्द्वयो।
एकस्य वा प्रवृत्ति. स्याच्छूल क्वापि च कामला॥
अत्यर्थविषयोगेन सर्वधातुप्रदूषणात्।
अभिन्यासस्समं क्वापि रूप तस्मान्न मुच्यते॥
नैरुज्यं स्वल्पदोषस्य शीघ्रं यद्यपि जायते।
बलहानिश्चिराय स्यात् कृच्छ्रं तु बहुदोषता॥ सि० नि० पू० ख०

समभाग लेकर, भूसा की तरह कूटकर रख ले। इसमे से १५ ग्राम दवा को २०० मि० ली० जल मे अर्धावशिष्ट पकाकर छानकर ३ ग्राम चीनी या मधु मिलाकर २–३ बार पिलाना चाहिए।

६ कमरे का धूपन—गुग्गुलु, निम्बपत्र शुष्क, लोहवान, देवदारु, और जटामासी समभाग लेकर कूटकर रख ले और निर्धूम अगारे पर थोडा-थोडा डालकर कमरे को धूपित करे।

औषध-व्यवस्था

श्लैष्मिक मे दोषपाचन, सशोधन तथा सशमनार्थ

प्रति ४–४ घण्टे पर ३ बार

सजीवनी वटी	५०० मि० ग्रा०
सौभाग्य वटी	५०० मि० ग्रा०
अभ्रकञ्चुकी	२५० मि० ग्रा०
शृगभस्म	५०० मि० ग्रा०
शु० नरसार	५०० मि० ग्रा०
	योग ३ मात्रा

सुखोष्ण जल से।

वाताधिक्य मे—

प्रति ३ घण्टे पर ४ बार

ब्राह्मीवटी	५०० मि० ग्रा०
वृहद्वातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
महालक्ष्मीविलास	५०० मि० ग्रा०
चन्द्रोदय	२५० मि० ग्रा०
	योग ४ मात्रा

सिन्दुवारपत्र-स्वरस और मधु से।

सर्वाङ्गवेदना, ज्वर तथा अनिद्रा मे

प्रति ४ घण्टे पर ३ बार

शृगभस्म	५०० मि० ग्रा०
वेताल रस	५०० मि० ग्रा०
शृगाराभ्र	५०० मि० ग्रा०
महाज्वराकुश	५०० मि० ग्रा०
	योग ४ मात्रा

तुलसीपत्र-स्वरस और मधु से।

पथ्य

मण्ड, पेया या विलेपी देकर क्षुधा को जागृत करे। हलका, सुपाच्य, रुचिवर्धक एवं पुष्टिकर आहार देना चाहिए। विबन्ध दूर करने के लिए मुनक्का खिलाना,

तथा परवल की सब्जी देना चाहिए। सुखोष्ण जल का सभी कामो मे प्रयोग करना चाहिए। सक्रमण-प्रतिषेधार्थ अन्य परिजनो को धूपन आदि उपाय करना चाहिए।

ज्वरान्तदौर्बल्य मे

१ प्रात -साय

वसन्तमालती	२५० मि० ग्रा०
महालक्ष्मीविलास	२५० मि० ग्रा०
शिलाजत्वादि लोह	५०० मि० ग्रा०
रससिन्दूर	२५० मि० ग्रा०
सितोपलादि	२ ग्राम
मधु से।	योग २ मात्रा

२ भोजनोत्तर—

द्राक्षारिष्ट	२० मि० ली०
	१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

३ रात मे सोते समय—

चन्द्रप्रभावटी	१ गोली

दूध से।

आक्षेपक ज्वर (Cerebro-Spinal Fever)

पर्याय और परिचय

पर्याय—क्रकच सन्निपात, ग्रीवाभञ्जकज्वर, गर्दनतोड बुखार, सेरिब्रो-स्पाइनल फीवर और मेनिन्जाइटिस आदि इसके पर्याय हैं।

परिचय—इस रोग मे भयङ्कर ज्वर, अगो मे आक्षेप, भुग्न-नेत्रता, मन्यास्तम्भ, शरीर की पेशियो मे जकडाहट तथा पीडा और मस्तिष्क एव सुपुम्ना के आवरण मे शोथ आदि लक्षण होते हैं। रोगी प्रलाप करता है, उसे मूर्च्छा, कम्प, बेचैनी और चक्कर मालूम होता है।[1]

निदान

धूल और धुंआ जहाँ व्याप्त हो, ऐसे सकीर्ण स्थान मे अनेक मनुष्यो के एक साथ रहने से, विशेषकर निर्धन मनुष्यो को यह रोग होता है। निर्बल बालको और युवा पुरुषो को यह रोग अधिकतर होता है।

इस ज्वर का मुख्य कारण मेनिंगोकोक्कस (Meningococcus) नामक

---

१ आक्षिप्यन्ते यतोऽङ्गानि सङ्कोच यान्ति चाञ्जसा।
घोरो ज्वरश्च सञ्जातः सोऽयमाक्षेपक स्मृत.॥ सि० नि० पू० ख०

जीवाणु[1] है, जो सेम के बीज के आकार का होता है। भारतवर्ष मे यह रोग वसन्त और ग्रीष्मऋतु मे प्राय होता है। नासिका के रोग, गले के रोग और प्रतिश्याय इस रोग के सहायक कारण होते हैं। घनी आबादी मे रहनेवाले लोग इससे विशेष रूप से आक्रान्त होते हैं। यह रोग स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक होता है। अति परिश्रम, भय, क्रोध और दरिद्रता के कारण यह रोग आक्रमण कर बैठता है।

संप्राप्ति

इस रोग के जनक जीवाणु नासिका और कण्ठमार्ग से प्रवेशकर सुषुम्ना तथा मस्तिष्क के आवरणो मे पहुँचकर वहाँ निवास करते हैं। वे वहाँ दाह तथा शोथ उत्पन्न करते हैं, जिससे मस्तिष्कावरण मोटा हो जाता है एव मस्तिष्क-विवर बडे हो जाते हैं और उनमे पूय तथा गाढी लसीका भर जाती है, तदनन्तर सुषुम्ना और मस्तिष्क की सेलो पर दबाव पडने से चेष्टावह तन्तुओ मे उत्तेजना आकर आक्षेप आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं।[2]

संक्रमण

रोगी व्यक्ति के खांसने, छीकने और थूकने से स्वस्थ मनुष्यो मे भी जीवाणु का सक्रमण हो जाता है। ये जीवाणु वायु द्वारा मनुष्य के श्वासपथ या मुखमार्ग मे प्रविष्ट हो जाते हैं। सडे-गले पदार्थ तथा कूडा-कचरा, जल-जमाव आदि भी सक्रमण फैलाते हैं।

लक्षण

इस रोग मे चार प्रकार की स्थिति देखने मे आती है, जैसे—

१ तीव्र प्रकार मे आरम्भ मे ज्वर विषम रूप मे घटना-बढता है, फिर कुछ समय स्थिर होकर चढने लगता है और १०२° से १०४° फा० तक हो जाता है। शिर शूल, वमन, सन्धिशूल, प्रलाप, ग्रीवास्तम्भ और ग्रीवा मे शूल होता है। शिर एक ओर मुड जाता है, व्याकुलता बढ जाती है तथा रोगी को प्रकाश-सत्रास हो जाता है। शरीर पर मोतीझरा जैसे गुलाबी दानें निकल आते हैं। अगो मे सकोच और नेत्रवक्रता के साथ रह-रहकर आक्षेप हो जाता है।

२ अतितीव्र प्रकार मे रोगी अतिदुर्बल हो जाता है और दानें अधिक निकलते है। तीव्र शिर.शूल, वमन, कम्प, भयकर सर्वाङ्गशूल के साथ नाडी क्षीण हो जाती है और रोगी १ से ३ दिन मे ही दिवगत हो जाता है। कोई-कोई रोगी तीव्र लक्षणो से सघर्ष करता हुआ ५ से ७ दिन बाद मरता है।

---

१ वसता सङ्कुले देशे रजोधूमाकुले चिरम्।
द्ररिद्राणा भवेद् भूम्ना सोऽयं जीवाणुसम्भव ॥ सि० नि० पू० ख०

२ मस्तिष्कमूले परित सुषुम्नाकाण्डं च तच्छादिकलान्तराले।
विषं क्रमात् पूयसमां लसीका सहृत्य दोषानखिलान् प्रकोप्य ॥
चेष्टावहानामथ नाटिकानामुत्तेजनादाक्षिपदङ्गकानि।
सङ्कोच्य शाखाश्च निहन्ति सद्यायाम् आक्षेपके दुर्लभजीवितस्य ॥ मि० नि० पू० ख०

३. मृदु प्रकार मे सन्धिशूल के साथ अन्य लक्षण अधिक उग्र नही होते। ये लक्षण कुछ दिन बने रहते हैं और भाग्यशाली रोगी रोगमुक्त हो जाता है।

४. जीर्ण प्रकार मे समय-समय पर ज्वर का वेग होना और दानो का निकलना देखा जाता है। यह बालको मे अधिक होता है।[१]

उपद्रव

इस रोग मे सामान्यत फुफ्फुस एवं हृदय सम्बन्धी उपद्रव होते हैं, विशेषकर श्वसनकज्वर तथा हृदयावरणीकला का प्रदाह होता है। न्यूमोनिया, बधिरता, अन्धता, शिर शूल, स्थानिक पक्षाघात और वृक्कप्रदाह आदि उपद्रव होते है। प्राय अस्सी प्रतिशत रोगी कालकवलित हो जाते हैं, किन्तु आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा आविष्कृत जीवनरक्षक औषधो के प्रयोग से कुछ प्रतिशत आरोग्य-प्राप्ति की आशा बलवती हुई है।

चिकित्सा-सूत्र

१ स्वच्छ, अल्पप्रकाश युक्त, शान्त, वायुसञ्चार युक्त कमरे मे, मृदुल शय्या पर रोगी को सुलाना चाहिए।

२ प्रथम सप्ताह मे लघन कराना उपयुक्त है। उष्णोदक, षडगपानीय, नारिकेल-जल एव यवपेया दी जानी चाहिए।

३ वमन, शूल शूल आदि विषमयता के लक्षणो के शान्त हो जाने पर धान के लावा का बना मण्ड, मूग का यूष, परवल का यूष अथवा पचकोल डालकर पकाया क्षीरपाक देना चाहिए।

४ ग्रीवा या पृष्ठ मे अधिक वेदना होने पर रबर की थैली मे गरम पानी भरकर उससे सेंकना चाहिए। शरीर को सुखोष्ण जल से दिन मे ३ बार पोछना चाहिए।

५ दिन भर मे ३-४ बार कुल्ला कराकर मुख की सफाई करानी चाहिए। इसके लिए दशनसस्कार चूर्ण का प्रयोग करना उत्तम है।

६ रोगी को ३-४ लीटर जल दिन भर मे अवश्य देना चाहिए, जिससे मूत्रावरोध का कष्ट न हो। मलशोधनार्थ मुनक्का ५० ग्राम तक दें।

७. यदि रोगी मूर्च्छित अवस्था मे हो, तो उसे हलके हाथो का सहारा देकर करवट बदलवाते रहे। विषमयता दूर करने के लिए समलवण जल और ग्लूकोज मिलाकर सिरा द्वारा देना आवश्यक है।

औषध-व्यवस्था

आक्षेप, मूर्च्छा, प्रलाप आदि मे

३-३ घण्टे पर ४ बार

मूर्च्छान्तक	५०० मि० ग्रा०
वातकुलान्तक	२५० मि० ग्रा०

१ सि० नि० पू० ख०।

स्वर्णमाक्षिक भस्म	५०० मि० ग्रा०
महालक्ष्मीविलास	५०० मि० ग्रा०
	योग ४ मात्रा

ब्राह्मी स्वरस और मधु से।

वमन या पैत्तिक लक्षणो की उग्रता में

४–४ घण्टे पर ४ बार

सूतशेखर रस	१०० मि० ग्रा०
मयूरपिच्छ भस्म	५०० मि० ग्रा०
कर्चूर चूर्ण	१ ग्राम
	योग ४ मात्रा

मधु से। बाद मे पर्पटार्क मिश्री मिलाकर पिलाना।

रोग-मुक्ति के बाद भी स्मृतिनाश रहने मे

(१) प्रात -साय

ब्राह्मी वटी	२५० मि० ग्रा०
स्मृतिसागर	२५० मि० ग्रा०
चतुर्भुज	२५० मि० ग्रा०
सप्तामृत लौह	१ ग्राम
	योग २ मात्रा

मधु से। बाद मे जटामासी चूर्ण का फाण्ट ५० मि० ली०, पिलाना।

(२) भोजनोत्तर २ बार

सारस्वतारिष्ट	२० मि० ली०
समान जल से पीना	१ मात्रा

(३) प्रात —महाचैतसघृत

अथवा

सारस्वत घृत या सारस्वत चूर्ण दूध से।

(४) रात मे सोते समय

चन्द्रप्रभा वटी २ गोली दूध से।

(५) शिर मे मालिश

विष्णु तैल या हिमाशु तैल या ब्राह्मी तैल।

उपद्रव—शिर शूल, ग्रीवास्तब्धता, प्रलाप, मूर्च्छा, आक्षेप, वमन, रक्तस्राव, हृदयातिपात, स्मृतिनाश आदि होने पर उनके अनुसार औषध एव पथ्य उपचार करना चाहिए।

निर्देश—स्वस्थ व्यक्तियो को रुग्ण के सम्पर्क से बचाना चाहिए। रुग्ण की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए। रोगी के थूकने तथा खाँसने से भी रोग का प्रसार होता है, अत. उसे छीकने-खाँसने के समय मुख एव नासिका पर रूमाल लगाने का निर्देश देना चाहिए।

सप्तम अध्याय

दण्डक, पीत, कृष्णमेह, मूषिकदंश और कर्णमूलिक ज्वर तथा मसूरिका, लघुमसूरिका एवं रोमान्तिका

दण्डकज्वर

(Dengue Fever)

पर्याय और परिचय

इसे ब्रेकबोन फीवर, डेंग्यू फीवर, डैण्डी फीवर, शूलास्थिज्वर, हड्डीतोड बुखार और दण्डक ज्वर आदि पर्यायो से जाना जाता है।

यह तीव्र, आशुकारी और संक्रामक होता है। रोगी अत्यन्त दुर्बलता का अनुभव करता है। ज्वर सहसा चढता है और प्राय आठ दिन रहता है। यह बालको और वृद्धो को होता है। इसमे शरीर मे दण्ड से मारने के समान पीडा होती है, विसर्प के समान त्वचा लाल हो जाती है और चकत्ते हो जाते हैं, जो तीसरे-चौथे दिन उत्पन्न होते हैं।

यह ससार के विभिन्न देशो मे महामारी के रूप मे प्रकट होता है। भारतवर्ष, ईरान, श्रीलका, ब्रह्मदेश, इण्डोचीन, मलाया, चीन, फिलीपाइन्स, आस्ट्रेलिया, मिश्र, यूनान, उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका और पश्चिम द्वीपसमूह मे पाया जाता है।

निदान

इसका मुख्य कारण एक विषाणु है, जो मच्छर द्वारा मनुष्य शरीर मे प्रवेश करता है। 'ईडिस इजिप्टी' नामक यह मच्छर इस रोग का प्रधान वाहक माना जाता है। भारतवर्ष मे सन् १८७१ से १८७५ तक और मिश्र मे १९२७ से १९२८ तक इसका भयकर रूप मे प्रसार हुआ था। इस रोग के कारण मनुष्य की शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है, कि वह अपना कार्य-व्यापार सुचारु रूप से करने मे असमर्थ हो जाता है। इसका सचयकाल ५ से ७ दिन होता है।

लक्षण[1]

सहसा ज्वर का आक्रमण होता है, जो १०२° से १०५° फा० तक चला जाता

---

१ अस्थिसन्धिरुजास्तीव्रा दण्डाहतिकृता इव।
क्वचित् क्षिप्रोदयलयो विसर्प सर्वगात्रग ॥
ज्वरश्च कण्ठरुग्युक्त पुनरावर्तते गत
सञ्चारिणा सशोथेन सन्धिशूलेन लक्षित ॥
प्रतिश्या-कासवान् प्रायेणाऽटाहेन प्रमुच्यते।
चिरं मन्धिरुजाः सन्ति स ज्ञेयो दण्डकज्वर ॥

है। साधारण आक्रमण होने पर १००° फा० तक रहता है। इसमे आमवात की तरह हाथ-पैर, पीठ, सन्धिस्थल और कटिप्रदेश मे शूल होता है। यह अस्थियो को अधिक प्रभावित करता है, जिससे मनुष्य ठीक से चलने फिरने मे असमर्थ हो जाता है। पहले एक सन्धि मे पीडा होती है, फिर सभी सन्धियो मे पीडा होकर तापमान बढ़ जाता है। मुखमण्डल मे लालिमा और गले मे खराश होती है। वमन, हृल्लास और विष्टम्भ बना रहता है। ज्वरवेग अधिक होने पर भी नाडी की गति का न्यून बना रहना इस ज्वर की विशेषता है।

ताप उतरने के पश्चात् प्रस्वेद और अतिसार हो जाता है। कभी-कभी नासिका से रक्तस्राव होने लगता है। यह वातश्लेष्म-प्रधान ज्वर है, अत इन्फ्लुएन्जा का सन्देह होता है, किन्तु अन्तर स्पष्ट है, कि इन्फ्लुएन्जा मे पहले ही प्रतिश्याय हो जाता है और डेंग्यू मे पहले प्रतिश्याय नही होता। इन्फ्लुएन्जा मे सन्धियो मे अधिक पीडा नही होती, जब कि डेंग्यू मे सन्धियो मे भयकर पीडा होती है।

सामान्य चिकित्सा

१. रोगी को एक सप्ताह-पर्यन्त शय्या पर विश्राम करावे, निवास-स्थान स्वच्छ, मनोरम, हवादार और आरामदेह होना चाहिए।

२. सुखोष्ण जल मे तौलिया भिगोकर देह पोछ देना चाहिए।

३. मलशोधनार्थ कुटकी चूर्ण या यष्ट्यादि चूर्ण अथवा सुखविरेचनी वटी का प्रयोग करना चाहिए।

४. वमन मालूम पडने पर लौंग-इलायची चूसने को दे और पीने लिए सौंफ या पित्तपापडे का पानी देवे।

५ ज्वरारम्भ से २–३ दिन तक उष्णोदक पर्याप्त मात्रा मे पिलाना चाहिए। बाद, फलो का रस, यव की पेया और पानी मे घोलकर ग्लूकोज देते रहना चाहिए।

६ आहार की रुचि जाग्रत होने पर मूग का यूप, दूध, साबूदाना और लाजमण्ड आदि सुपाच्य आहार दे।

७ ज्वर की तीव्रता मे शिर पर बरफ की थैली रखे।

८ नेत्र-पीडा होने पर बरफ के टुकडे को कपडे मे लपेट कर आँखो के ऊपर रखना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

सर्वाङ्गवेदना शमनार्थ

३–३ घण्टे पर ४ बार

वेताल रस	५०० मि० ग्रा०
मृत्युञ्जय रस	५०० मि० ग्रा०

प्रायोऽमी जानपदिको वातश्लेष्मप्रकोपन।
मालानां जरताद्यातिदारुण परिलक्ष्यते॥ सि० नि० पू० ख०

कृष्णचतुर्मुख	५०० मि० ग्रा०
गुडूचीसत्त्व	२ ग्राम
	योग ४ मात्रा

भुनी अजवायन का १ ग्राम चूर्ण और मधु से।

ज्वरान्त दौर्बल्य मे

१ प्रात -साय

नवायस लौह	½ ग्राम
प्रवाल भस्म	२५० मि० ग्रा०
विषाण भस्म	२५० मि० ग्रा०
सितोपलादि	२ ग्राम
शुद्ध कुपीलु	१२५ मि० ग्रा०
	योग २ मात्रा

मधु से।

२ भोजनोत्तर

अश्वगन्धारिष्ट	२५ मि० ली०
	१ मात्रा

समान जल से पीना।

३. अभ्यगार्थ

चन्दनवला-लाक्षादि तैल

प्रतिषेधार्थ

धूपनोपयोगी गुग्गुलु, लोहबान, नीम की पत्ती आदि जलाकर मच्छर भगावे या कछुआ या मुर्गा छाप अगरबत्ती जलावे। रोगी को मच्छरदानी के अन्दर सुलावे। स्वस्थ व्यक्ति भी मच्छरदानी लगावें।

पीतज्वर

(Yellow Fever)

इस ज्वर मे त्वचा पीली पड जाती है, अत -इसे 'पीतज्वर' कहते हैं। यह एक सक्रामक रोग है, जिसमे उच्च तापमान के साथ उग्र कामला रोग के भी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। रोगी का शरीर एकदम पीला पड जाता है। यह शीत देश की अपेक्षा उष्ण देशो में अधिकाश होता है। अफ्रीका के पश्चिमी तट तथा उष्णकटि-बन्धीय अमेरिका के स्थानो मे यह देशव्यापी होकर उत्पन्न होता है।

निदान

इस रोग का कारण एक अतिशय सूक्ष्म जीवाणु है, जो इडिस ईजिप्टी (Aedes aegypti) नामक मच्छर के दश से शरीर मे प्रविष्ट होता है। इसका सचयकाल ३–६ दिन तक रहता है।

मकान के अगल-बगल सचित मल मूत्र से उत्पन्न विप तथा अनियमित अयुक्ति-युक्त आहार, अपरिमित मद्यपान, अस्वास्थ्यकर जलवायु आदि इसकी उत्पत्ति और प्रसार के सहायक कारण हैं।

लक्षण

शीत लगकर शरीर कांपने लगता है। भ्रूप्रदेश, पृष्ठवंश और हाथो मे वेदना होती है। पहले कई दिनो तक तापांश १०४°–१०५° फा० तक रहता है। चौथे-पांचवें दिन ताप कम हो जाता है। रोगी को वमन होता है, शिर शूल होता है, कदाचित् वमन मे रक्त आ जाता है। नेत्र लाल हो जाते हैं। रोगी कटिवेदना से व्यथित होता है। ज्वर शान्त होने पर पीडा शान्त हो जाती है।

इसके २ प्रकार होते हैं—१ मृदु तथा २ सामान्य।

१ मृदु प्रकार मे ज्वर चार-पांच दिन मे उतर जाता है और रोगी का जीवन बच जाता है।

२ सामान्य प्रकार की तीन अवस्थायें होती हैं—

प्रथमावस्था—ज्वर का आरम्भ ठडक और कँपकँपी के साथ होता है। अगमर्द, शिर शूल, कटिशूल, हस्त-पादशूल आदि लक्षण तीव्र होते है। मूत्र का वर्ण पीला हो जाता है। नाडी की गति पहले तीव्र होती है, फिर धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है।

द्वितीयावस्था—यह अवस्था तीसरे-चौथे दिन प्रारम्भ होती है। रोगी मे विप-मयता बढ जाती है। आमाशय मे शूल होता है। वमन की प्रवृत्ति होती है और उसमे काला रक्त आता है। मल के साथ भी रक्त आता है। रक्तस्राव की मात्रा घटती बढती रहती है। नेत्र पीले पड जाते है। रोग उग्र होने पर उग्र कामला रोग हो जाता है। मरणोन्मुख रोगी का शरीर हल्दी जैसा पीला देखा जाता है। मूत्रा-घात होना रोग की भयकरता का सूचक है। द्वितीयावस्था मे लक्षणो की गम्भीरता होने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है अथवा सुधार होने लगता है।

तृतीयावस्था—रोगी का तापमान घटकर पुन बढने लग जाता है, जिसके कारण एक सविराम ज्वर उत्पन्न हो जाता है, जो हफ्तो तक बना रहता है। इसमे यकृद्-वृद्धि या यकृत्पाक आदि उपद्रव हो जाते हैं। शरीर पीला पड जाता है और अतिसार हो जाता है। मूर्च्छा या सन्यास की स्थिति मारक है। मूत्राघात होने से भी रोगी की मृत्यु हो सकती है। आयु के शेष रहने पर तृतीयावस्था मे भी रोगी बच जाता है।

आयुर्वेद की दृष्टि से यह पित्तप्रधान व्याधि है। आमाशय मे अम्लता, रक्तमिश्रित वमन, शरीर तथा मूत्र का पीलापन, विषमयता, मूर्च्छा, सन्यास आदि विकार पित्तजनित होते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

१. रोगी को पूर्ण विश्राम की स्थिति मे रखना चाहिए।

२. स्वच्छ, शान्त, मनोरम, सुखद शय्या युक्त आवास मे रोगी को आवासित करें।

३ अनुरक्त, पवित्र और दक्ष तथा बुद्धिमान् परिचारक रखें।

४. रोगी को यष्टयादि चूर्ण या निशोथ चूर्ण देकर मलशोधन करावें।

५ मूत्रल औषधो के प्रयोग से या पुनर्नवा जल, शतपुष्पार्क या पित्तपापडे के अर्क को मिलाकर मूत्रकष्ट दूर करें।

६ वमन-निरोधार्थ लौंग-इलायची चूसने को दें।

७ तीव्र सन्ताप शमनार्थ शिर पर बर्फ की थैली रखें।

८ प्रथम ३–४ दिन तक केवल पेय पदार्थ पिलावे, जैसे—१ लीटर जल मे ४ ग्राम सोडाबाईकार्ब डालकर उसके साथ नारगी का या मुसम्मी का रस डालकर पिलावें।

९ ज्वर शान्त हो जाने पर बार्ली, लाजमण्ड, मुद्गयूष या परवल आदि का सेवन करावें।

१०. उपद्रव होने पर तदनुसार उपचार-व्यवस्था करें।

औषध-व्यवस्था

४–४ घण्टे पर ४ बार

१. गोदन्ती भस्म	१ ग्राम
प्रवालपिष्टी	½ ग्राम
लीलाविलास रस	½ ग्राम
पुनर्नवामण्डूर	१ ग्राम
	योग—४ मात्रा

पुनर्नवा-स्वरस और मधु से। बाद मे २५ मि० ली० गोमूत्र पीना।

२ २ बजे दिन तथा ९ बजे रात

अविपत्तिकर चूर्ण	५ ग्राम
उष्णोदक से।	२ मात्रा

प्रतिषेधक उपाय

१ मच्छरो का विनाश करने का उपाय करे तथा उनसे बचने के लिए मशहरी लगाने का अभ्यास करना चाहिए।

२ वायुयानो मे घुसे मच्छर दूसरे देशो मे पहुँचकर रोग फैला देते हैं, अत वायुयान चलाने के पूर्व उसका पूर्णरूप से शोधन आवश्यक है।

३ रोगाक्रान्त स्थानो मे जाने वाले यात्रियो को इस रोग का प्रतिरोधक टीका लगवाना चाहिए।

४ रोग के प्रसार की आशका होने पर आवास के गली-कूचो की सफाई और मच्छर-विनाशक छिडकाव करना चाहिए।

५. मच्छरनाशक सभी संभव उपायों का अवलम्बन कर इस रोग की महामारी से बचा जा सकता है।

कृष्णमेहज्वर

(Blackwater Fever)

परिचय—इस ज्वर में मूत्र का वर्ण काला हो जाता है, इसलिए इसे 'कृष्णमेह-ज्वर' कहा जाता है। इस लक्षण से सादृश्य रखने वाला एक पित्तज प्रमेह भी होता है, जिसे कालमेह कहते हैं।

निदान

इस रोग का कारण मलेरिया या विषमज्वर-नाशक क्विनीन सदृश औषधों का अधिक सेवन करना बतलाया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अतितीव्र गति से रक्ताल्पता हो जाती है।

लक्षण

यह शीत और सर्वाङ्ग कम्पन के साथ अचानक होने वाला ज्वर है। इसमें उग्र कटिवेदना और उदरवेदना होती है। रोगी पित्त का वमन करता है और उसका मूत्र गाढा एवं रक्तवर्ण का होता है और कुछ समय बाद उसके मूत्र का वर्ण काला हो जाता है। रक्ताल्पता होने से शरीर का वर्ण पाण्डुवर्णी हो जाता है। रोगी का रक्त-चाप गिर जाता है और बेचैनी का अनुभव करता है। यकृत् और प्लीहा बढ जाते हैं। उग्र रोग होने पर मूत्राघात या मूत्राल्पता हो जाती है। ज्वर का वेग प्राय. ३–४ दिनों में कम होने लगता है। अधिक समय तक सन्ताप बने रहने पर रोगी की मृत्यु भी संभावित होती है।

सामान्य चिकित्सा

१ रुग्ण की परिचर्या व्यवस्था सुचारु रूप से सम्पादित करे।

२ पीने के लिए अर्धशृत जल में ग्लूकोज या मिश्री मिलाकर देवे। नीबू डाल-कर ग्लूकोज का घोल पिलावे या सोडाबाईकार्ब मिला मिश्री या ग्लूकोज का शर्बत, पिलावे।

३. शीतवीर्य, मधुर एवं तिक्तरस-प्रधान औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्था-पत्र

प्रति ३ घण्टे पर ४ बार

१ प्रवालपञ्चामृत	५०० मि० ग्रा०
गोदन्ती भस्म	१ ग्राम
पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह	५०० मि० ग्रा०
त्रिभुवनकीर्ति रस	५०० मि० ग्रा०
गुडूचीसत्त्व	२ ग्राम
मधु से।	योग ४ मात्रा

२ पथ्य लेने के पश्चात् २ बार

लोहासव २ चम्मच

अमृतारिष्ट २ चम्मच

१ मात्रा

समान जल से पीना।

३ ९ बजे ३ व बजे दिन

क्षारपर्पटी २ ग्राम

२ मात्रा

शतपुष्पार्क से।

४ रात मे सोते समय

अविपत्तिकर चूर्ण २ ग्राम

सुखोष्ण जल से।

मूषिकदंशज ज्वर

परिचय—यह ज्वर चूहो के काटने से होता है, अत इसे 'मूषिकदंश ज्वर' या 'आखुदश ज्वर' कहते हैं। चूहे मासभक्षी जीव हैं, इसलिए कभी-कभी सोये व्यक्ति के किसी अग को काटकर मास एव रक्त का आस्वादन करते हैं। इनका दश कष्टकारक होता है और काटकर रक्त निकाल देना अधिक कष्टकर होता है। दश के कुछ समय वाद ज्वर होता है। सहिता-ग्रन्थो मे भी इसका वर्णन पाया जाता है। इसे दूषीविष[1] मानना उचित है।

निदान

इस ज्वर का प्रधान हेतु स्पायरिल्लम माइनस (Spirillum minus) नामक जीवाणु है। ये जीवाणु कठिन चक्राकार और दण्डीय होते हैं। ये चलनशील (Mobile) होते हैं।

लक्षण

इस रोग के ४ रूप पाये जाते हैं—

१ सार्वदैहिक लक्षणवाला ज्वर।

२ स्थानिक लक्षणवाला ज्वर।

३ अधिक शूलयुक्त ज्वर।

४ अधिक वातज लक्षणवाला ज्वर।

इस रोग का सचयकाल ५ से ४० दिन का तथा औसत १० दिन का होता है। चूहे के काटने के दसवें दिन या और बाद हृल्लास और शिर शूल के साथ ज्वर का

[1] जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा।
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति॥ सु० कल्प० अ० २

आरम्भ होता है। दश का स्थान फूल जाता है, स्थानिक लसीकाग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। हाथ-पैर मे भी सूजन हो जाती है। ज्वर १००° से १०२° फा० तक जाता है जो तीसरे दिन १०४° फा० तक हो जाता है। ज्वर २–३ दिन के बाद उतर जाता है। कुछ दिन रोगी को ज्वर नही आता, परन्तु वृक्कपाक, सन्धिशूल तथा अग-विक्षेप में सज्ञानाश हो सकता है। ज्वर पुन चढता है, किन्तु उसका वेग अधिक तीव्र नही होता। इस प्रकार ज्वर बार-बार आता है।

प्रकार-भेद से लक्षण

दूषीविष चूहे के काटने का लक्षण

दूषीविषवाले चूहे जिस स्थान पर काटते हैं, उस स्थान से पाण्डुवर्ण का रक्त निकलता है। उस स्थान पर चकत्ते हो जाते हैं। रोगी ज्वर, अरुचि, रोमाञ्च और दाह से पीडित होता है।

प्राणहर चूहे के दश का लक्षण

यदि चूहे के काटने पर मूर्च्छा, अगो मे शोथ, शरीर मे विवर्णता, दश स्थान मे क्लेद, बहरापन, ज्वर, शिर मे भारीपन, लालास्राव और वमन होता हो, तो असाध्य समझना चाहिए।[1]

चूहो के शुक्र के ससर्ग से अत्युग्र लक्षण होते, जैसे—ग्रन्थि, शोथ, तन्तुशोथ, भ्रम, शीतज्वर, अतिवेदना, रुदन, कम्प, ग्रन्थिभेद, अगमर्द, मूर्च्छा आदि। इस ज्वर मे रक्तविषमयता (Septicaemia) के लक्षण वहुत स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।[2]

चिकित्सा-सूत्र

१. सामान्यत ज्वरोपचार करना श्रेयस्कर होता है। दश-स्थान का व्रणवत् उपचार करना चाहिए। मल-शोधनार्थ तथा आम-पाचनार्थ औषधो का प्रयोग करना चाहिए।

दाह, विस्रावण और प्रलेप

२. अग्निसतप्त घृत से दशस्थान को दग्ध करे, फिर पाछकर दश मे से रक्त निकाले, फिर दशस्थान पर शिरीष, हल्दी, कुष्ठ, केशर और गुरुच को बारीक पीसकर लेप करे।[3]

---

१. आदशाच्छोणित पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचि ।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥ च० चि० २३

२ शुक्र पतति यत्रैषा शुक्रदिग्धै. स्पृशन्ति वा ।
यदङ्गमङ्गैस्तत्रास्रे दूषिते पाण्डुता गते ॥
ग्रन्थय श्वयथु कोथो मण्डलानि भ्रमोऽरुचि ।
शीतज्वरोऽतिरुक् सादो वेपथु पर्वभेदनम् ॥
रोमहर्ष स्रुतिर्मूर्च्छा दीर्घकालानुबन्धनम् । अष्टाङ्गहृ० उ० ३८

३ दग्ध्वा विस्रावयेद् दंश प्रच्छन्न च प्रलेपयेत् । सु० क० ७।३३

३ वमन—(क) कडवी तरोई, शिरीष और अकोठ, इनके क्वाथ से वमन करावे।

(ख) अथवा शिरीष, कडवी तरोई, मदनफल और देवदाली का फल, इन्हे पीसकर दही मिलाकर, पिलाकर वमन करावे। अथवा—

(ग) मदनफल, वच, देवदाली और कूठ, इन्हे गोमूत्र मे पीसकर दही के साथ पिलाकर वमन करावे।

४ विरेचन—निशोथचूर्ण, शुद्ध जयपाल बीज और त्रिफलाचूर्ण क्रमश २ ग्राम तथा १ रत्ती ५ ग्राम मिलाकर प्रयोग करने से विरेचन हो जाता है।

५ नस्य—शिरीषबीज चूर्ण का नस्य मे प्रयोग करना चाहिए।

संशमन योग

(१) अजन—सोठ-मरिच-पीपर समभाग लेकर गोबर के रस मे घिसकर अजन करना चाहिए।

(२) कैथ का स्वरस मधु के साथ पान करे।

(३) रसौत, हल्दी, इन्द्रजौ और कुटकी का चूर्ण २–२ ग्राम ३ बार मधु से।

(४) प्रात काल अतीस का चूर्ण १–२ ग्राम मधु से।

विशेष उपचार

१ चूहे का विष प्राय मेघो से आकाश के घिर जाने पर कुपित होता है, अत उस समय वमन, विरेचन, नस्य तथा अन्य विषघ्न उपचार करे।[1]

२ न भरनेवाले व्रणो की कर्णिका को चीरकर तथा दोष के अनुसार एव व्रण की अवस्थानुसार चिकित्सा करे।[2]

व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय

दालचीनी चूर्ण ½ ग्राम
सोठ का चूर्ण ½ ग्राम
गरम जल से।

त्वच च नागर चैव समाश श्लक्ष्णपेषितम्।
पेयमुष्णाम्बुना सर्वमूषिकाणा विषापहम्॥ च० चि० २३।२०४

२ ४–४ घण्टे पर ३ बार

आखुविषान्तक रस ३०० मि० ग्रा०

---

१ मूषिकाणा विष प्राय कुप्यत्यभ्रेष्वनिर्हृतम्।
तत्राप्येष विधि कार्यो यश्च दूषीविषापह॥ सु० क० ७।४१

२ स्थिराणा रुजना चापि व्रणानां कर्णिका भिषक्।
पाटयित्वा यथादोष व्रणवच्चापि शोधयेत्॥ सु० क० ७।४२

प्रवालपिष्टी ५०० मि० ग्रा०
गुडूची सत्त्व १ ग्राम
योग ३ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार
अमृतारिष्ट २५ मि० ली०
१ मात्रा
समान जल मिलाकर पीना।

४ महागद[1] का अथवा
अजित अगद का अथवा
तार्क्ष्य अगद का अथवा
सजीवन अगद का
पान, नस्य, अभ्यग, अञ्जन मे प्रयोग करना चाहिए।

५. दशस्थल पर दशाङ्ग लेप लगावे।

दशाङ्ग लेप—सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लालचन्दन, छोटी इलायची, जटामासी, हलदी, दारुहलदी, कूठ, नेत्रबाला और खस समभाग के चूर्ण को गोघृत मे मिलाकर लेप करना चाहिए।

कर्णमूलिक ज्वर या पाषाणगर्दभ
(Mumps)
पर्याय और परिचय

यह महामारी के रूप मे फैलनेवाला तीव्र सक्रामक ज्वर है। इसे कर्णमूलिक ज्वर, पाषाणगर्दभ, गलसूआ, कनफेर, मम्प्स तथा पेरोटाइटिस कहते हैं।

इस रोग मे कर्ण की अग्रवर्ती लालाग्रन्थियो (Parotid gland) मे शोथ हो जाता है। पाषाण (पत्थर) की तरह कठोर होने के कारण इसे पाषाणगर्दभ कहा जाता है। सुश्रुताचार्य ने कहा है—'कफ-वायु के प्रकोप से हनुसन्धि प्रदेश मे उत्पन्न अल्पपीडावाले स्थिर (कठिन) शोथ को पाषाणगर्दभ जानना चाहिए।'[2]

यह रोग मुख्यरूप से बालको या २० वर्ष तक की आयुवाले युवा व्यक्तियो को होता है। इसमे अधोहन्वी (Sub-maxillary) तथा अधोजिह्वी (Sub-lingual) ग्रन्थियो में भी कभी-कभी शोथ आदि का होना पाया जाता है।

---

१. त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः।
कटुत्रिकं चैव सुचूर्णितानि शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि॥
एषोऽगदो हन्ति विषं प्रयुक्तः पानाञ्जनाभ्यञ्जननस्ययोगैः।
अवार्यवीर्यो विषवेगहन्ता महागदो नाम महाप्रभावः॥ सु० क० ५।६१–६३

२. हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम्।
पाषाणगर्दभं विद्याद् बलासपवनात्मकम्॥ सु० नि० १३।१३

निदान

आयुर्वेदीय दृष्टि से इसका कारण कफ और वायु का प्रकोप है। आधुनिक विज्ञान इसका कारण विषाणु (Virus) मानता है। ये विषाणु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से नही दिखलाई पडते। ग्रन्थियो मे शोथ के पहले या रोग अच्छा हो जाने के बाद इक्कीस दिनो तक इसके रोगी रोग फैला सकते हैं।

संक्रमण

यह रोगी द्वारा या किसी वाहक द्वारा मनुष्यो मे फैलता है। रोगी के दूषित रूमाल आदि से भी फैलता है। रोगोत्पादक विषाणु रोगी के लालास्राव मे होता है, जो खाँसते-छीकते लालकणो के साथ उडकर निकट के व्यक्तियो पर आक्रमण करता है। विषाणु का प्रसार मारक के रूप मे प्राय शीत एव वसन्त ऋतु (माघ-फाल्गुन, चैत्र-वैशाख) मे बिन्दूत्क्षेपो द्वारा होता है।

सम्प्राप्ति

यह रोगजनक विषाणु उपसर्ग के २ से ३ सप्ताह बाद तक लसीकाग्रन्थियो की प्रणालियो द्वारा लालाग्रन्थियो (Salivary glands) मे पहुँचकर शोथ उत्पन्न करता है। शोथ प्राय कर्णमूलस्थित लालाग्रन्थियो मे होता है। किसी-किसी रोगी मे जिह्वा के अधोभाग और अधोहनु की ग्रन्थियो मे शोथ होता है। शोथ प्राय पहले एक कान के पास होता है और १—२ दिन मे दूसरे कान पर भी हो जाता है। यह वात-कफज विकार है।

लक्षण[1]

प्रथमत कर्णमूलिक शोथ, तीव्र ज्वर तथा सर्वाङ्ग वेदना के साथ रोग का आक्रमण होता है। शोथ, ज्वर, अङ्गमर्द आदि लक्षण दूसरे-तीसरे दिन बढते जाते हैं। तीसरे दिन के बाद प्राय एक पार्श्व की आक्रान्त ग्रन्थि का शोथ कम होने लगता है, किन्तु दूसरे पार्श्व की ग्रन्थि का शोथ प्रारम्भ हो जाता है। दो-तीन दिन मे ज्वर उतर जाता है। कदाचित् ज्वर नही भी होता है। शोथ के कारण मुँह को हिलाना-डुलाना तथा खाना-पीना कठिन हो जाता है। ये शोथयुक्त ग्रन्थियाँ कभी-कभी पक भी जाती हैं। न पकने पर पाँच-छह दिन मे शोथ दूर हो जाता है।

---

१ (क) एकत कर्णमूलेऽथानुपद्श्चान्यत पुन ।
शोथ सरुग्ज्वरो यत्र स ज्ञेय कर्णमूलिक ॥
पञ्चषैस्तु दिनैस्तत्र रुजाशोफौ प्रणश्यत ।
स्याताञ्च कोपयो प्रायो दशाहाच्च सुखम्भवेत् ॥
स प्रायो जानपदिको वातश्लेष्मकृतो ज्वर ।
बालानामथ यूनाञ्च विशेषेण प्रवर्तते ॥

(ख) वातश्लेष्मसमुद्भूत श्वयथुर्हनुसन्धिज ।
स्थिरो मन्दरुज स्निग्धो ज्ञेय पाषाणगर्दभ ॥

उपद्रव

प्राय ज्वराक्रमण के सात दिन बाद वृषणशोथ तथा स्त्रियो के गर्भाशय के पास रहनेवाले दोनो बीजकोषो (Ovaries) पर या कभी स्तनो पर और भगनासा (Clitoris) मे शोथ हो जाता है। बीजकोषो मे शोथ होने से वक्षण मे बहुत वेदना होती है। किसी-किसी को बाधिर्य या अग्न्याशयशोथ (Pancreatitis), मस्तिष्कावरणशोथ (Meningo-encephalitis) आदि तथा अर्दित आदि होने की सभावना रहती है। इन उपद्रवो के कारण नपुसकता, वन्ध्यता, मधुमेह, बाधिर्य, अगघात आदि विकार भी कदाचित् हो जाते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

१ रोगी को वायु-प्रवेश योग्य बडे कमरे मे स्वच्छ वातावरण मे रखना चाहिए। १० दिन तक पूर्ण विश्राम करावे।

२ रोगी को स्वतन्त्र कमरे मे रखे, जहाँ जनागम न हो। रोग के प्रसार-निरोध के लिए रोगी का पृथक्करण आवश्यक है।

३. रुग्ण के दन्तवेष्ट, मुख, जिह्वा, गला, नासिका आदि अगो की स्वच्छता सावधानी से होनी चाहिए।

४ प्रारम्भ मे प्राय तीन दिन तक रोगी को उपवास कराना चाहिए। आवश्यक समझें तो पेय पदार्थ दें।

५. यव की पेया (बार्ली) लाजमण्ड, दूध, फलो का रस, साबूदाना, दलिया आदि हलके तथा सुपच आहार दे।

६ कुनकुने जल में तौलिया भिगोकर प्रतिदिन शरीर पोछ लिया करे। ½ लीटर कुनकुने जल मे १ चम्मच सोडाबाईकार्ब मिलाकर कुल्ला कराना चाहिए।

७ मुखशोधनार्थ 'दशनसस्कार चूर्ण' का प्रयोग उत्तम है।

स्थानिक उपचार

१ शोथ को दिन में ३ बार सेंकना चाहिए। सेंकने के लिए भुने बालू की पोटली या नमक चूर्ण की पोटली का प्रयोग करना चाहिए।

२. धतूरे की पत्ती से या एरण्डपत्र से सेंककर ऊपर से ऊनी मफलर लपेट देना चाहिए।

३ रबर की थैली मे गरम पानी भरकर सेंकना भी उत्तम है। गरम पानी मे छोटा तौलिया भिगोकर गारकर उससे सेंकना चाहिए।

४. जो रोगी पित्तप्रकृति के हो उनके शोथ पर रबर की थैली मे या मोटे कपडे मे लपेटा हुआ बरफ का टुकडा रखना चाहिए। इससे शोथस्थान मे हुई रक्त की अधिकता घट जाती है और वेदना आदि लक्षण घट जाते हैं।

५. उपनाह स्वेद (Poultice)—

सन के बीज
मेथी के बीज
मंगरैल
रास्ना
देवदारु बुरादा
कूठ
सरसो
दारुहलदी
हलदी

} इन सबको समभाग मे लेकर पीसकर गरम कर सुखोष्ण प्रलेप करना चाहिए।

६ वत्सनाभ, सोठ मृगश्रृग और कुचला को धतूरे के पत्ते के रस मे घिसकर २ रत्ती अफीम मिलाकर गरम कर लेप करना चाहिए।

लाक्षणिक चिकित्सा

१ वायु के अनुलोमन तथा कफ के पाचनार्थ

४ बार ३—३ घण्टे पर

वेनाल रस	४०० मि० ग्रा०
त्रिभुवनकीर्ति	५०० मि० ग्रा०
शुद्ध टकण	१ ग्राम
	४ मात्रा

आर्द्रक-स्वरस तथा मधु से।

२ अंगमर्द तथा ज्वर-शमनार्थ

३—३ घण्टे पर ४ बार

हिंगुलेश्वर	३०० मि० ग्रा०
स्वर्ची	३०० मि० ग्रा०
	योग—४ मात्रा

सुखोष्ण जल से।

३ शोथनाशनार्थ

आर्चा का लेप
या
दशाङ्ग लेप का सुखोष्ण करके लेप।

४ मुखशोधनार्थ

दशन-संस्कार चूर्ण का गण्डूप धारण करे।

५. मुखशोथ मे

कपूर, कत्था सफेद, छोटी लाइची और मिश्री का उचित मात्रा मे चूर्ण लेकर मक्खन मिलाकर जब-तब चाटने के लिए प्रयोग करे।

६. पूयसचार मे

पकने की स्थिति मे उपनाह स्वेद से व्रण को पकाकर उसका पाटन कर, व्रणवत् शोधन, प्रक्षालन तथा रोपण आदि करे।

प्रतिषेध

१. रोगाक्रान्त व्यक्ति के सम्पर्क से बचाव करे। रोगी के जलपात्र, भोजनपात्र तथा वस्त्रादि का प्रयोग न करे।

२ रोग-प्रसार के समय प्रतिदिन तुलसीपत्र, कालीमरिच और आदी की चाय का प्रयोग करना चाहिए।

पथ्य

तरल द्रव पथ्य दे। पेया, विलेपी, लाजमण्ड आदि देवे। रोगमुक्ति के बाद बलकारक सुपाच्य तथा पौष्टिक आहार दे। एक सप्ताह तक पूर्ण विश्राम करावे। स्नान, धूप मे जाना, परिश्रम और स्त्री-सम्पर्क से तब तक बचे, जब तक शरीर मे पूर्ण बल न आ जाय।

मसूरिका
(Smallpox)
पर्याय और परिचय

मसूरिका ज्वर, वसन्त, चेचक, शीतला माता, वैरिओला (Variola) और स्मालपाक्स इसके पर्याय हैं।

यह सक्रामक रोग है। इसमे मसूर के आकार की पिडकाये निकलती हैं। ज्वर होने के तीसरे दिन पिडकायें निकलती हैं।

इस रोग का वर्णन सुश्रुतसहिता[1] मे 'क्षुद्ररोगो' मे और चरकसहिता[2] मे 'श्वयथु-चिकित्सा' के अन्तर्गत किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल मे यह रोग आजकल की तरह भयानक नही माना जाता था। यह रोग विशेषकर वसन्त और ग्रीष्म ऋतु मे होता है। यह रोग किसी भी अवस्था मे हो सकता है, किन्तु विशेषत बाल्यावस्था मे स्त्री-पुरुष सभी को हो सकता है।

जिस रोग मे मसूर के समान घन पिडकायें निकलकर समस्त शरीर मे फैल जाती हैं, जिनका पाक होता है और थोडे दिनो में शमन हो जाता है एव जिस व्याधि मे उक्त लक्षण के साथ अन्य उपद्रव और दारुण होते हैं, उसको बडी मसूरिका या शीतला कहते हैं।[3]

---

१ दाहज्वररुजावन्तस्ताम्रा स्फोटा सपीतका ।
गात्रेपु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिका ॥ सु० नि० १३।३७

२ या सर्वगात्रेपु मसूरमात्रा मसूरिका पित्तकफात् प्रदिष्टा ।
वीसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या ता तेपु कुष्ठे च हितां विदध्यात् ॥ च० चि० १२।९३

३ मसूराकारपिडका सान्द्रा गात्रेपु सर्वत ।
भवन्ति पाक गच्छन्ति लीयन्ते च द्रुत यत ॥

यह रोग प्राय जीवन मे एक वार होता है। मसूरिका रोग होने के पश्चात् इसका विप या कीटाणु रोगी के घर मे अनेक दिनो तक रह जाता है और वह दूसरो पर आक्रमण करता है। पहले पिडकायें लालवर्ण की होती हैं और तरलमय होकर पक जाती है।

निदान

कटु, अम्ल, नमकीन और क्षारयुक्त पदार्थों का अतिसेवन, विरुद्ध पदार्थों (दूध-मछली, दूध-खटाई आदि) का सेवन, भोजन पर भोजन, वात आदि को प्रकुपित करनेवाले सेम, मटर, आलू आदि का अधिक प्रयोग, दुष्ट वायु अथवा दुष्ट जल का सेवन आदि, दोप-प्रकोपक कारणो से कुपित दोप रक्त के साथ मिलकर मसूरिका रोग की उत्पत्ति करते हैं। इस रोग मे मसूर जैसी आकृतिवाली पिडकाओ के निकलने से इसे मसूरिका कहा जाता है।[1]

संक्रमण

पृथ्वी, जल और वायु के दूपित होने मे होनेवाला यह रोग दूसरे सक्रामक रोगो की तरह देश मे सर्वत्र फैल जाता है। श्वासोच्छ्वास और वस्त्रादि के स्पर्श से दूसरो को हो जाता है। यह कीटाणुजन्य रोग माना जाता है, किन्तु इसके कीटाणु सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र से अदृश्य हैं। यह रोग वसन्त और ग्रीष्म ऋतु मे फैलता है। मसूरिका का उपसर्ग श्वासपथ से शरीर मे प्रवेश करता है। वाहक या रोगी के खाँसने या छींकने पर बिन्दूत्क्षेपा द्वारा नासिका मे इसका ग्रहण हो जाता है, वहाँ से वह सम्पूर्ण शरीर मे पहुँच जाता है। इसके विप के रक्त मे पहुँचते ही ज्वर आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

संप्राप्ति[2]

मसूरिका का जीवाणु रक्त मे गमन करता हुआ उपचर्म मे आकर रुक जाता है। जिस स्थान पर वह ठहरता है, उस स्थान पर उपचर्म की कोशायें रक्तमय और

नानोपद्रवसंयुक्तो ज्वरो यत्र सुदारुण।
वृहन्मसूरिका नाम शीतला चेति सा स्मृता॥ सि० नि० प्र० ख०

१ कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनै।
दुष्टनिष्पावशाकाद्यै प्रदुष्टपवनोदकै॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषा समुद्धता।
जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गता॥
मसूराकृतिसंस्थाना. पिडकास्ता मसूरिका। भावप्र०

२ वाय्वादिदोषादथवाऽन्यरोगिस्पर्शादथैनत् पिटकात्वचो वा।
नासागलाद्यै प्रविशद् विपं तद् दोषानशेषान् विकरोति सद्य॥
ततो ज्वर स्यादतिघोरलिङ्गो दोषा विष तच्च बहि क्षिपन्ति।
गात्रेषु जाता पिडकास्ततस्ता पक्वा क्षयं यान्ति विषक्षयेण॥
तारतम्येन दोषस्य वा बलाबलात्।
पृथग्वाऽत्यन्तसान्द्रा वा सरक्ता वा भवन्ति ता॥

शोथयुक्त हो जाती हैं। त्वचा पर स्पर्श करने से त्वचा के अधोभाग मे मसूर के आकार की छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ प्रतीत होती हैं, फिर इनमे द्रव भर जाता है। कुछ समय बाद यह द्रव पूयमय हो जाता है और पिडकाये बडी हो जाती हैं। पिडकाओ के फूटने पर पूय जमकर पपडी के रूप मे पिडका के ऊपर कई दिनो तक स्थित रहती है। पपडी निकल जाने पर क्षत के चिह्न प्रतीत होते हैं। सचयकाल १२–१३ दिन होता है। दोषप्रकोप की न्यूनाधिकता और कीटाणु विष के प्रभाव या बलाबल के अनुसार पिडकायें दूर या समीप, एव रक्त से परिपूर्ण निकलती हैं।

प्रकार—इस रोग के तीन प्रकार हैं—१ वृहद् मसूरिका, २. लघु मसूरिका और ३ रोमान्तिका। इनका वर्णन क्रमश. किया जायेगा।

लक्षण[1]

इस रोग मे शीत, कम्प और शिर शूल के साथ ज्वर चढता है और बढता है। कटि और पीठ मे अतिशय वेदना होती है। मोह, प्रलाप, निद्रानाश, मलावरोध, वमन आदि उपद्रवो के होने पर कदाचित् रोगी की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

प्राय तीसरे दिन ज्वर कम हो जाता है और कठोर पिडकायें त्वचा के नीचे स्पष्ट देखने मे आ जाती हैं। मस्तिष्क, ललाट और मणिबन्ध पर उत्पन्न होकर क्रमश मुख पर, गले मे और देह मे हो जाती हैं तथा अन्त मे पैरो पर उतरती हैं। छठे दिन पिडकायें जल से भर जाती हैं। आठवें दिन पूय हो जाता है और फिर विष कम होने पर ताप तथा अन्य उपद्रव शनै शनै कम हो जाते हैं। प्राय बारहवें दिन पिडकायें सूख जाती हैं।

प्राय दो सप्ताह मे पिडकायें नष्ट हो जाती है और तीसरे सप्ताह रोगी स्वस्थ हो जाता है। अतिप्रकोप होने पर जीवन भर त्वचा पर चिह्न बने रह जाते हैं। इस रोग मे प्राय मलावरोध रहता है। जिह्वा शुष्क और मैली रहती है। नाडी तीव्र और स्थूल चलती है। दूसरे-तीसरे दिन तापमान १०३°–१०४° फा० तक हो जाता है। पिडकानिर्गमन के बाद ताप १००°–१०१° फा० तक चला जाता है। पुन पूय बनने के समय सातवें दिन से ताप पूर्ववत् बढ जाता है। पूय सूखने पर ताप धीरे-धीरे कम हो जाता है।

मसूरिका के प्रकार

१ सि० नि० प्र० सु०
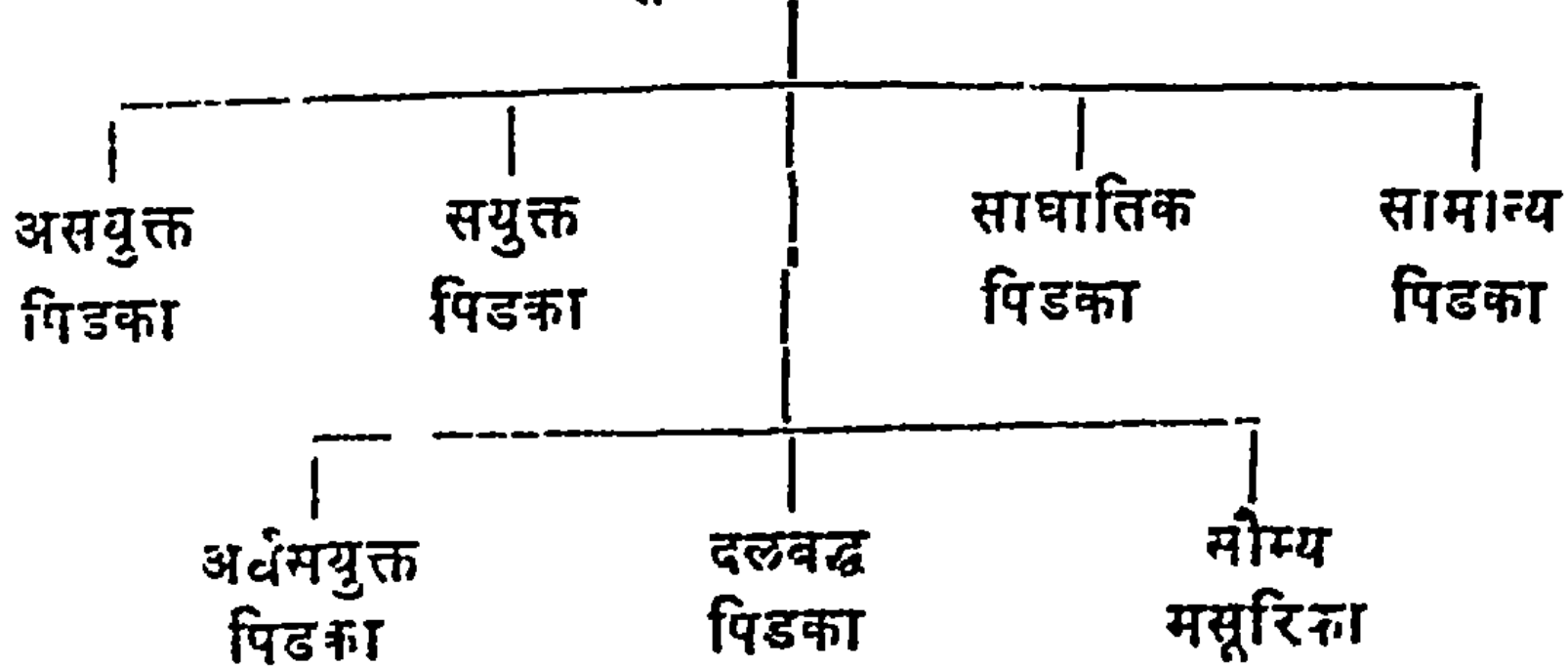
१ असयुक्त पिडका (Discrete)—इसमे पिडकायें विरल और अलग-अलग होती हैं। इसमे ज्वर मृदु होता है। एक सप्ताह बीतते-बीतते पूय बनकर दूसरे सप्ताहान्त तक पूय भर जाता है और तीसरे सप्ताह मे खुरण्ट आ जाता है।

२ सयुक्त पिडका (Confluent)—इसमे पिडकायें एक-दूसरे से सयुक्त रहती हैं। पिडकायें बहुत अधिक और घन निकलती हैं। कटिशूल, लालाग्रन्थिशोथ, नेत्रच्छद तथा ओष्ठशोथ, नाडी क्षीण और तीव्र, प्रलाप तथा मस्तिष्क विकार हो जाता है। इसमे आठवें से तेरहवें दिन के मध्य रोग उग्र होने से रोगी की प्राय मृत्यु हो जाती है।

३ अर्धसयुक्त (Semiconfluent)—इसमे छिटपुट स्थान-स्थान पर पिडकायें सयुक्त मिलती हैं और लक्षण भी अति उग्र नही होते। अत इससे मृत्यु कम होती है।

४ दलवद्ध या गुच्छाकार (Corymbose)—इसमे पिडकायें दलवद्ध गुच्छाकार एक-एक दल मे अनेक स्थानो पर व्याप्त रहती है। यह अधिक घातक नही होता।

५ सौम्य मसूरिका (Modified)—इसमे रोग का आक्रमण क्रमिक होता है। लक्षण कमश वढते हैं। रोग की द्वितीयावस्था मे पिडकायें नियमित निकलती है और उनमे शीघ्र ही पूय पडकर फिर खुरण्ट आ जाता है। यह सौम्य प्रकार है और रोगी अच्छा हो जाता है।

६ साघातिक[1] (Malignant)—इनमे सभी लक्षण वडे ही उग्र होते हैं। पिडकाओ के निकलने समय आक्षेप और वेहोशी होने लगती है। पिडकाओ का रग काला पड जाता है। मुख, गुदा या मूत्रेन्द्रिय से रक्त आने लगता है अथवा मसूरिका मे से या श्लेष्मत्वचा से रक्तस्राव होने लगता है। इसको रक्तस्रावी मसूरिका या हीमोरेजिक (Haemorrragic) भी कहते हैं। इसमे प्राय हृदयावरोध होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

७ सामान्य (Benign)—इसे शीतला कहते है। इसमे सभी लक्षण मृदु होते हैं तथा सम्पूर्ण अगो मे पिडकायें निकलती हैं और पूय उत्पन्न होने के पूर्व ही वे सूख जाती हैं।

उपद्रव

इस रोग मे नेत्रगोलक (Cornea)—की श्लेष्मल त्वचा मे दाह, शोथ और व्रण, नेत्रशुक्र, कर्णदाह, अन्धत्व, फुफ्फुस-दाह, कास, वृषण-दाह, वृक्क-दाह, रक्तस्राव, विसर्प, सन्धिस्थानो मे शोथ, व्रण, विद्रधि और इन्द्रलुप्त आदि उपद्रव होते है।

---

१ घोरे विषाभिषङ्गे तु दोषकोपात् सुदारुणात्।
पिटका अतिसान्द्रा स्यु घोरश्चोपद्रवैर्ज्वर ॥
अष्टाहात् परतस्तेन प्रायश स विपद्यते।
कुप्यन्ते क्वापि पिडका ज्ञेया तत्राप्यसाध्यता ॥
शोणितेऽतिप्रदुष्टे तु रक्तपित्त प्रवर्तते।
रक्तपूर्णाश्च पिटका प्राणास्तत्रापि दुर्लभा ॥ सि० नि० प्र० ख०

बृहन्मसूरिका मे उपद्रवो के हो जाने पर अधिकतर रोगियो की मृत्यु हो जाती है, विशेषकर बच्चो की।

गोमसूरिका तथा वैक्सीनिया

मसूरिका के विष को गाय के स्तनो मे प्रविष्ट कर वहाँ मसूरिका उत्पन्न कर, पुन वहाँ से तरल निकालकर टीका तैयार किया जाता है। मनुष्य के शरीर मे टीका द्वारा मसूरिका विष प्रविष्ट करने पर टीका के स्थान पर पिडका निकल आती है और सब अगो मे मसूरिका के मृदु लक्षण उत्पन्न होते हैं। इससे अर्थात् चेचक का टीका लगवाने से बृहन्मसूरिका के आक्रमण की सभावना क्षीण हो जाती है।

वैक्सीन की उत्पत्ति

बृहन्मसूरिका की पूययुक्त पिडका से जीवाणु लेकर गो, भैस, गदहा आदि पशुओ को टीका लगाकर गोमसूरिका उत्पन्न की जाती है। जब उनमे तरलयुक्त पिडकायें निकल आती हैं, तब उनको खुरचकर जीवाणुओं से युक्त लसीका (तरल पदार्थ) एक शुद्ध पात्र मे एकत्र कर लेते हैं, फिर इसको पूयजनक अन्य कीटाणुओ से सुरक्षित करके कार्बोलिक ग्लिसरीन मे मिश्रित करते हैं और छोटी-छोटी शीशियो मे भर लेते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

१ रोगी को स्वच्छ, हवादार एव प्रकाशयुक्त स्थान मे रखना चाहिए। खिडकियो पर हल्के रग का पर्दा डालना चाहिए, ताकि अधिक प्रकाश न हो।

२ रोगी के बिछाने-ओढने और पहनने के वस्त्रो की प्रतिदिन सफाई करनी चाहिए। कपडे गरम पानी मे धोकर धूप मे सुखावे।

३. शय्या या बिस्तर मृदुल और सुखद हो और ओढना भारी न हो।

४. कमरे को २ बार धोना चाहिए और मच्छरो मे बचने के लिए मच्छरदानी लगानी चाहिए। कमरे को डी० डी० टी, डेटाल या फिनायल से धोना चाहिए।

५ वायु की शुद्धि के लिए गूगल, निम्बपत्र, लोहबान, जटामासी और देवदारु आदि जलाना चाहिए। बिस्तरे पर, खूटियो पर और दरवाजो पर नीम की टहनी टॅगी होनी चाहिए। शय्या के सिरहाने ताजे सुगन्धित फूल रखने चाहिए।

६ आँख, नाक, मुख एव त्वचा की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए। नेत्र मे गुलाबजल मे फिटकरी डालकर निर्मित द्रव की कुछ बूँदे प्रात -साय डालनी चाहिए।

७ नासिका को स्निग्ध रखने के लिए उसमे कपूर मिलाया हुआ मक्खन लगाना चाहिए। मुख-शोधनार्थ पोटाश का घोल प्रयोग करना चाहिए।

८ रोगी के शरीर को गुनगुने १ सेर जल मे २ ड्राम (१५-२० बूँद) कार्बोलिक एसिड डालकर अथवा नीम की पत्ती डालकर उबाले जल से पोछ लेना चाहिए। पानी को ठीक से सुखाने के बाद बोरिकयुक्त डस्टिंग पाउडर समस्त शरीर पर छिडककर रोगी को लिटा देना चाहिए।

९ पूयोत्पत्ति के बाद पूरा शरीर पोछना सभव न होने पर रूई को डेटाल या कार्बोलिक घोल मे डुबोकर विस्फोटो को पोछना चाहिए।

१० यदि रोगी के बाल लम्बे हो, तो छोटे करवा देना चाहिए। छोटे बाल होने पर सफाई करने मे सुविधा होती है। नाखूनो को छोटा करवा देना चाहिए और उनकी सफाई पर भी ध्यान रखना चाहिए।

११ खुजली की शान्ति के लिए सोडाबाईकार्ब को पानी मे घोलकर उससे शरीर पोछने से लाभ होता है।

१२ पूयोत्पत्ति के फलस्वरूप दुर्गन्ध उत्पन्न होती है, उसके शमन के लिए शतधौत घृत मे दशाङ्ग लेप मिलाकर लेप करना चाहिए।

१३ चेहरे पर लगाने के लिए कार्बोलिक एसिड का ग्लिसरीन मे बनाया हुआ २% घोल प्रयोग किया जाता है।

१४. रोगी को शय्या पर ही मलमूत्र कराना चाहिए और इनकी सावधानी से सफाई करनी चाहिए। मल-मूत्रादि मे पर्याप्त मात्रा मे विषाणु होते हैं, अत इनकी स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

१५ आक्रान्त रोगी को सक्रामक रोग चिकित्सालय मे प्रविष्ट कराना उत्तम है।

१६ रोग-प्रतिषेधार्थ सम्पर्क मे रहनेवाले परिचारक आदि को रुद्राक्ष की माला का धारण, इमली के बीज और हलदी उचित मात्रा मे पीना और शाक मे बैंगन का भुर्ता खाना लाभकर है।

औषध-व्यवस्था

१ रुद्राक्ष ½ ग्राम
काली मिर्च ½ ग्राम
१ मात्रा

पीसकर १ कप जल मे घोलकर १ सप्ताह तक प्रतिदिन एक बार पीना। इससे पिडकाओ की उग्रता शीघ्र शान्त होती है।

२ अनन्तमूलचूर्ण ५ ग्राम
१ मात्रा

चावल के धोवन से प्रतिदिन १ बार एक सप्ताह पर्यन्त।

३ पटोलादि क्वाथ—

पटोलपत्र	गुडूची	नागरमोथा	अडूस
चिरायता	नीम की छाल	कुटकी	पित्तपापडा

सब समभाग लेकर भूसा की तरह कूटकर रख ले। २० ग्राम दवा आधा लीटर जल मे चतुर्थाशावशिष्ट क्वाथ कर थोडा-थोडा करके चीनी मिलाकर पीना।

इससे उपद्रवो का शमन तथा पूय का शीघ्र शोधन होता है।

अथवा—

४ गुडूच्यादि क्वाथ का पान करावे।

योग—गुरुच, मुलहठी, मुनक्का तथा गन्ने की जड़ समभाग लेकर पूर्ववत् क्वाथ बनाकर चीनी डालकर थोड़ा-थोड़ा पीना।

इससे पूय की मात्रा कम हो जाती है और मुण्ट शीघ्र आ जाते हैं।

व्यवस्था-पत्र

१ ३-३ घण्टे पर ४ वार

प्रवालपञ्चामृत	५०० मि० ग्रा०
त्रिभुवनकीर्ति	५०० मि० ग्रा०
मुक्तापिष्टी	५०० मि० ग्रा०

योग—४ मात्रा

मधु से। वाद मे पटोलादि क्वाथ पीना।

२. प्रात -साय

पञ्चतिक्तघृत २० ग्राम

२ मात्रा

गोदुग्ध और चीनी के साथ।

३ निम्ब-पत्र जल से

अवसेचन तथा प्रक्षालन।

४ दाह-शमनार्थ

शतधौत घृत मे दशाङ्गलेप मिलाकर लगाना।

५ रात मे सोते समय

वेदनान्तक रस (रसतरङ्गिणी)

१५० मि० ग्रा०

१ मात्रा

गोदुग्ध से।

लाक्षणिक चिकित्सा

तापाधिक्य—१०४° से अधिक ज्वर होने पर षडगपानीय को पर्याप्त मात्रा मे पिलाना चाहिए। सुखोष्ण जल मे कपड़ा भिगोकर शरीर को वार-वार पोछना चाहिए। वकरी के दूध मे रुई भिगोकर मस्तक पर रखना और पैर का तलवा पोछना चाहिए।

पानी मे यूडीकोलन मिलाकर शरीर पोछे। मस्तक पर वर्फ की थैली रखना चाहिए। कच्चे नारियल के जल से वार-वार शरीर पोछना दाह एव ज्वर का शामक है।

प्रलाप—

३-३ घण्टे पर ४ वार

बृहद्वातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०

चतुर्भुज	५०० मि० ग्रा०
ब्राह्मीवटी	५०० मि० ग्रा०
	योग—४ मात्रा

मधु से ।

शिरःशूल, अंगमर्द—

३–३ घण्टे पर ४ वार

गोदन्ती मिश्रण	१ ग्राम
शिर शूलादि वज्ररस	५०० मि० ग्रा०
वेदनान्तक रस	५०० मि० ग्रा०
	योग—४ मात्रा

मधु से ।

पिडकाओ का न निकलना—

४–४ घण्टे पर ४ वार

स्वर्णमाक्षिक भस्म	५०० मि० ग्रा०
सर्वतोभद्र रस	५०० मि० ग्रा०
	योग—४ मात्रा

कचनार की छाल के क्वाथ से ।

प्रात -साय निम्वादि क्वाथ ५० मि० ली० पीना ।

योग—नीम की छाल, पित्तपापडा, पाठा, पटोलपत्र, कुटकी, अरुस, यवा· आँवला, खस, श्वेतचन्दन, लालचन्दन, प्रत्येक समभाग लेकर कूटकर २० ग्राम ले आधा लीटर जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर चीनी डालकर पीना ।

रक्तस्राव—

३–३ घण्टे पर ४ वार

शुद्ध स्वर्णगैरिक	१ ग्राम
रक्तपित्तकुलकण्डन	½ ग्राम
प्रवालपिष्टी	½ ग्राम
लाक्षा चूर्ण	१ ग्राम
दूर्वास्वरस तथा मधु से ।	४ मात्रा

मसूरिकामुक्त होने के बाद बलाधानार्थ व्यवस्थापत्र

४–४ घण्टे पर तीन वार

१ स्वर्णवसन्तमालती	३७५ मि० ग्रा०
प्रवालभस्म	३७५ मि० ग्रा०
गुडूचीसत्त्व	१ ग्राम

सितोपलादि चूर्ण ३ ग्राम

मधु से। योग ३ मात्रा

२. भोजनोत्तर

दशमूलारिष्ट २० मि० लि०

१ मात्रा

समान जल से पीना।

३. दाग दूर करने के लिए

हल्दी

चिरौंजी

मसूर की दाल

मुलेठी

दारुहल्दी

सब समभाग लेकर बकरी या गाय के दूध मे पीसकर उबटन लगाना।

४. उबटन लगाने के बाद

बादाम तेल

तुवरक तेल

चन्दन तेल

गरी का तेल

समभाग मिलाकर सर्वांग मे लगाना।

अथवा

चमेली के पत्ते

अखरोट की छाल

सरसो तथा चिरौंजी

पानी में पीसकर मक्खन मिलाकर पूरे शरीर मे मालिश करना।

पथ्य

मसूरिका पित्तप्रधान व्याधि है। अत शीतल पेय, कच्चे नारियल का जल, यव की पेया, गन्ने का रस, फलो का रस, नीबू की शिकञ्जी पिलाना हितकर है। दूध फाडकर उसका पानी पिलाना चाहिए। रोग-मुक्त होने पर बल्य, सुपाच्य एव पोषक आहार देय है। दूध, मक्खन एव फलो का रस अग्निबल के अनुसार दे। पुराना साठी का चावल, चना, मूग, मसूर, जौ, सहिजन, परवल, मुनक्का, अनार, अगहनी का चावल, घृत, गो-दुग्ध आदि पथ्य हैं।

लघु मसूरिका (Chicken Pox)

पर्याय और परिचय

इसे छोटी माता, मोतिया और वेरीसिला भी कहते हैं। स्वल्प ज्वरयुक्त, तरल भरी पिडकाओं सहित विशेष संक्रामक रोग को लघु मसूरिका कहते हैं।

यह बहुधा बालको को होता है। कभी कभी यह रोग जनपदव्यापी हो जाता है। इसकी मर्यादा ग्यारह से चौबीस दिन तक है।

निदान

वायु, जल तथा भूमि के दोष से या रोगी के सस्पर्श से इस रोग के कीटाणु या विष के सक्रमण से यह रोग हो जाता है।

संप्राप्ति

वायु आदि के दूषित होने से अथवा रोगी के ससर्ग से इस रोग का विष शरीर मे प्रविष्ट होकर दोषो को प्रकुपित कर देता है, जिससे बाह्य त्वचा मे स्वल्प पिडकाओ का निर्गमन होता है। ज्वर का वेग हलका रहता है और थोडे ही समय (५-६ दिन) मे यह रोग शान्त हो जाता है।[1]

लक्षण[2]

इसमे पहले दिन या दूसरे दिन पिडकाये निकलती है। वे थोडे समूह मे छोटे मोती के दाने जैसी रहती हैं। पहले गले मे, फिर छाती पर, फिर अन्य अवयवो मे फैल जाती हैं। लगातार तीन दिन तक पिडकायें निकलती रहती हैं। ज्वर का वेग १००° फा० तक होता है, किसी को १०२° फा० तक हो जाता है। लक्षण सामान्य होने के कारण यह रोग शीघ्र ही दूर हो जाता है। चौथे दिन पिडकायें तरलमय हो जाती हैं, पांच छह दिन मे सूख जाती हैं, उन पर खुरण्ट आ जाता है और आठवें दिन आरोग्य की प्राप्ति हो जाती है। पिडकाओ मे अतिकण्डू होती है।

कभी-कभी विष की अधिकता और रोगी की दुर्बलता के कारण पिडकाओ मे कोथ हो जाता है तथा उनमे रक्त या पूय भर जाता है, जिसके कारण तीव्र ज्वर हो जाता है। ऐसी स्थिति मे रोग कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है।

---

१ वाय्वादे रोगिसगाद् वा सङ्क्रान्तं तद्विषं तनौ।
दोषकोपं विधायाल्प निरेति त्वचि सत्वरम्॥
ततस्ता पिडका स्वल्पा ज्वर. स्वल्पश्च जायते।
शीघ्रमुल्लाघता चापि पिडकानां प्रशोषणात्॥ सि० नि० प्र० ख०

२ नातितीव्रो ज्वर स्वल्पलिङ्ग शीघ्र प्रमुञ्चति।
प्रथमेऽह्नि द्वितीये वा पिडका सम्भवन्ति हि॥
विरला स्वल्पसङ्ख्याका क्षुद्रमौक्तिकसन्निभा।
अमध्यनिम्ना भिन्नास्तु तोयमाश्र स्रवन्ति ता॥
पञ्चषैश्च दिनै प्रायस्ता प्रशुष्यन्ति सर्वत।
प्रायोऽष्टमेऽह्नि नैरुज्य लक्ष्मणाञ्च द्रुत लय॥
कश्चिद् विषस्य बाहुल्याद् दौर्बल्याद्वाथ रोगिण।
कोथ गच्छन्ति पिटका नानारूपा भवन्ति वा॥
रक्तेन वा पूयपूर्यन्ते ज्वरो घोरश्च जायते।
कृच्छ्रसाध्यानसाध्यान् वा प्रकारांस्तान् प्रचक्षते॥ सि० नि० प० ख०

सामान्य चिकित्सा

१. यह पित्तज विकार है, इसमे खुजली होती है। बच्चो मे इस बात का ध्यान रखे कि वे पिडकाओ को रगडे नहीं। खुजली होने पर चन्दन का तेल या नीम का तेल या कर्पूर मिला मक्खन लगावे।

२. ज्वरशमनार्थ लालचन्दन, अरुस, नागरमोथा, गुरुच और मुनक्का, इनका शीतकषाय पिलावे।

३ नीम की छाल, पित्तपापडा, पाठा, परवल की पत्ती, कुटकी, श्वेतचन्दन, लालचन्दन, खश, आँवला, अरुस और धमासा इनका क्वाथ चीनी मिलाकर सवेरे-शाम पिलावे।

४ स्वर्णमाक्षिक भस्म २०० मि० ग्रा० काञ्चनार त्वक् चूर्ण १ ग्राम मधु के साथ ३ बार दे।

५. व्रणो पर पञ्चवल्कल त्वक् की राख का अवचूर्णन करे।

६. मसूरिका चिकित्सा मे कथित उपचार करना चाहिए।

७. रोगी को सुरक्षित एवं स्वच्छ स्थान मे रखना चाहिए।

रोमान्तिका

(Measles)

पर्याय और परिचय

इसे रोमान्तिका, खसरा और मीजल्स कहते हैं। यह रोमो के मूल मे ताम्रवर्ण की सूक्ष्म पिडकाओ वाला रोग है। रोमान्त मे पिडकाओ के निकलने से इसे रोमान्तिका कहते हैं। इसमें पहले ज्वर होता है, फिर कास, अरुचि आदि लक्षण होते हैं। विषाणुजन्य यह रोग तीव्र सक्रामक होता है। प्रधानत यह बच्चो को होनेवाला रोग है।[1]

निदान

इसका कारण विषाणु है। वातावरण के दूषित होने से यह रोग देशव्यापी हो जाता है। इसका सक्रमण बिन्दूत्क्षेप उपसर्ग से होता है। इसमें कफ तथा पित्तसम्बन्धी विकृतियाँ होती हैं तथा श्वासपथ और फुप्फुसो में विकार होता है।

लक्षण[2]

इस रोग मे सहसा ज्वर होता है, नासास्राव होता है और छीकें आने लगती हैं। नेत्रो में लालिमा हो जाती है, खांसी आने लगती है और पलकें भारी हो जाती हैं।

---

१. (क) रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्य कफपित्तजा।
कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विका ॥ मि० नि० प्र० ख०
(ख) क्षुद्रप्रमाणा पिडका शरीरे सर्वाङ्गगा सज्वरदाहतृष्णा।
कण्डूयुता सारुचि सप्रसेका रोमान्तिका पित्तकफात् प्रदिष्टा ॥ च० चि० १२।९२

२. तत्रादित प्रतिश्यायो ज्वरो रागश्च नेत्रयो।
तन्द्राऽरुचि. क्लम. सादो विड्भेदश्चापि कुत्रचित् ॥

आँखो से पानी गिरने लगता है तथा प्रकाश नही सहन होता है। तन्द्रा, अरुचि, ग्लानि, शिर शूल आदि लक्षण हो जाते हैं।

मसूडो के सामने मुख के भीतर बारीक लाल और कुछ उभरी हुई फुन्सियाँ हो जाती हैं। तीसरे-चौथे दिन मस्तक पर या कानो के पास, फिर पूरे शरीर में फुन्सियाँ निकलने लगती हैं। प्रारम्भ मे कान के पास, दाढी और ओठ पर मच्छर काटने के समान धब्बे प्रतीत होते हैं। दो-तीन दिन मे सब पिडकायें निकल जाती हैं। ज्वर कम हो जाता है, तत्पश्चात् पिडकाओ पर की पतली त्वचा निकल जाती है और धब्बे पड जाते हैं। जब तक ऊपर से त्वचा नही निकल जाती, तब तक रोगी रोग फैला सकता है। रोगमुक्ति के १५ दिन बाद तक बच्चो को रोगी से दूर रखना चाहिए।

इस रोग के प्रारम्भ के २–३ दिन मे तापक्रम १०१° फा० तक रहता है। पिडका निकलने के बाद चौथे दिन ताप बढकर १०३°–१०४° फा० तक हो जाता है। सातवें-आठवें दिन ताप पुन कम हो जाता है जब पिडकायें शान्त हो जाती हैं। १५ से १८ दिन मे रोगी स्वस्थ हो जाता है। रोमान्तिका मे मुख के भीतर श्लैष्मिक कला मे उभडे लाल घेरायुक्त दानो का सर्वप्रथम शोध करने वाला 'कोपलिक्स' था, अत उसके ही नाम पर इन चिह्नो को कोपलिक्स स्पॉट्स (Koplik's spots) नाम दिया गया है। इस रोग मे नाडी और श्वास की गति उष्ण की अपेक्षा तीव्र रहती है।

इस रोग के दो प्रकार हैं—१. सौम्य और २ तीव्र। सौम्य प्रकार उपर्युक्त लक्षणो वाला होता है। तीव्र प्रकार मे पिडकाओ का रग जामुन जैसा होता है। तीव्र प्रकार मे भी दो भेद होते हैं—१ रक्तस्रावी, जिसमे त्वचा मे से रक्तस्राव होता है और २ शक्तिनाशक, जिसमे जीवनीय शक्ति की अतिशय क्षीणता होती है तथा उपद्रव भी तीव्र होते हैं, कभी-कभी प्रलाप आदि उपद्रव भी हो जाते हैं।

शोणायनानां ताल्वादौ दर्शनं लक्ष्मणां ध्रुवम्।
अथ तुर्याद् तृतीयाद्वा दिनात्ताम्राभलक्ष्मणाम् ॥
स्तोकोन्नतायतानां स्यान्मुखे गात्रेषु चोद्भव ।
द्वित्रैश्च दिवसैस्तेषां भवेन्नि शेषनिर्गम ॥
ततो ज्वरश्च लघुतां याति नो चेदुपद्रवा ।
त्र्यहाल्लयश्च चिह्नाना तुषाभत्वग्विमोक्षणाद् ॥
अथ चेद् रोगमध्ये वा रोगशेषेऽथ वा क्वचिद्।
तद्विषं श्वासनलिका फुप्फुसौ च प्रसर्पति ॥
तदा श्वासश्च कासश्च ज्वरवेगश्च वर्धते।
मोहस्तन्द्रावसादश्च प्रायश्च प्राणसंशय ॥
म्रियन्ते च ततो बाला विशेषेण सहस्रश ।,
जीवन्त्युपक्रमाद् केचिद् सुचिरं दुर्बलीकृता ॥
गम्भीररक्तचिह्नाना रक्तपित्तस्य चेक्षणाद्।
वृत्ते रक्तातिसारे वा रोमान्त्यां दुर्लभ सुखम् ॥ सि० नि० प्र० ख०

उपद्रव

श्वासप्रणालिका-प्रदाह, स्वरयन्त्र-प्रदाह, नेत्ररोग, कर्णशूल, दाह, वृक्कशोथ, पक्ष-वध एव कोथ आदि उपद्रव होते हैं। कभी प्रबल कास, श्वास और तीव्र ज्वरवेग हो जाता है। ऐसी अवस्था मे ब्राको-न्यूमोनिया के लक्षण मोह, तन्द्रा, हृदयावरोध आदि उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है। उपद्रवग्रस्त कोई बालक समुचित चिकित्सा से आरोग्यलाभ करने पर भी दीर्घकाल तक निर्बल बना रहता है।

इस रोग मे रक्तपित्त का गम्भीर उपद्रव, रक्तष्ठीवन और रक्तातिसार हो जाना प्राणघातक होता है।

चिकित्सा-सूत्र

१. रोगी को पृथक् कमरे मे रखना चाहिए, जो हवादार, स्वच्छ और सुखकर हो। शय्या मृदु और ऋतु के अनुकूल होनी चाहिए।

२ कमरे मे प्रकाश या रोशनी कम हो और ठडी वायु नही लगती हो। ओढना-बिछौना प्रतिदिन धूप मे सुखाना चाहिए और स्वच्छ रखना चाहिए।

३ प्रथमत लघन कराना चाहिए। भोजन मे रुचि होने पर लाजमण्ड, यवपेया, नारिकेल जल, दूध, मुसम्मी आदि द्रव पदार्थ दे। ज्वर का शमन होने पर क्रमश सुपाच्य तथा पोषक आहार देना चाहिए।

४. ज्वरप्रशमनार्थ मृदु किन्तु मोटा तौलिया सुखोष्ण जल मे भिगोकर शरीर को पोछना चाहिए। उष्ण जल, उष्ण निवास और उष्ण जल-परिमार्जन करना सुखपूर्वक पिडकानिर्गमन मे सहायक होता है।

५ इसमे मुखपाक, नेत्राभिष्यन्द और नासा तथा ओष्ठ-शोथ होने की अधिक सभावना होती है। अत इन अगो की स्वच्छता पर ध्यान देना चाहिए।

६. आँखो मे शुद्ध स्फुटिका और रसाञ्जन का गुलाबजल मे बना द्रव डालना चाहिए।

७. मुखशोधनार्थ शिरीषमूल की छाल, जाम, आँवला, मुलेठी और चमेली के पत्ते को डालकर अर्धावशिष्ट पकाया जल कुल्ला करने को देवे।

८ मलशोधनार्थ यष्टयादि चूर्ण ३—४ ग्राम सुखोष्ण जल से १—२ बार देवे अथवा 'अभ्रकञ्चुकी रस' १ वटी देकर उदरशोधन कराना चाहिए।

औषध व्यवस्था

१. **पटोलादि क्वाथ**—परवल की पत्ती, आँवला, हर्रा, बहेडा, नीम की छाल, गुरुच, नागरमोथा, लालचन्दन, मूर्वा, कुटकी, पाठा, हल्दी और धमासा, सभी २०—२० ग्राम लेकर कूटकर १५ खुराक बनावे। १ खुराक दवा को १ गिलास जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ कर मधु के साथ थोडा-थोडा पिलावे। इससे खुजली एव ज्वर का शमन होता है।

२. **खदिराष्टक क्वाथ**—खैर की छाल, आँवला, हर्रा, बहेडा, नीम की छाल, परवल के पत्ते, गुरुच और अरूस, इनका क्वाथ मधु मिलाकर प्राय-साय पिलाना चाहिए।

४–४ घण्टे पर ३ बार

रत्नगिरि रस	३०० मि० ग्राम
त्रिभुवनकीर्ति रस	५०० मि० ग्राम
ब्राह्मीवटी	५०० मि० ग्राम
	योग ३ मात्रा

मधु से। बाद मे षडंग जल पिलाना।

लाक्षणिक चिकित्सा

१. अगमर्द-शिरःशूल मे

४–४ घण्टे पर ३ बार

गोदान्तीभस्म	१ ग्राम
गुडूचीसत्त्व	१ ग्राम
मृत्युञ्जय	आधा ग्राम
	योग ३ मात्रा

मधु से।

२ विस्फोट-निर्गमनार्थ—

२–३ बार

करेले के पत्ते का स्वरस	१० ग्राम
हरिद्रा चूर्ण	१ ग्राम
मधु	३ ग्राम
मिलाकर पिलाना।	१ मात्रा

अथवा

कचनार की छाल २० ग्राम अष्टगुण जल मे चतुर्थांशावशिष्ट पकाकर छानकर स्वर्णमाक्षिक भस्म १२५ मि० ग्राम के साथ २ बार पिलाना।

अथवा

लौंग	सोंठ	ब्राह्मी की पत्ती
गुरुच	पाठा	

समभाग का क्वाथ सवेरे शाम पिलाना।

३. दाह मे—

नीलकमल, लालचन्दन, लोध, खस, श्वेत तथा काली सारिवा को गुलाबजल मे पीसकर ललाट, नाभि तथा हाथ-पैर आदि मे लेप करावे।

४ नाड़ी की क्षीणता मे—

३–३ घण्टे पर ४ बार

वृहत्कस्तूरीभैरव	१५० मि० ग्रा०

योगेन्द्र	१५० मि० ग्रा०
ब्राह्मी वटी	१५० मि० ग्रा०
	योग—३ मात्रा

पान के रस और मधु से।

५ कायफल के चूर्ण की हाथ-पैर मे मालिश करावे।

६. रोगमुक्ति के बाद बल प्राप्ति के लिए। प्रात, सायं, मध्याह्न—

स्वर्ण वसन्तमालती	३०० मि० ग्रा०
शृंगभस्म	३०० मि० ग्रा०
लौह भस्म	३०० मि० ग्रा०
प्रवाल भस्म	३०० मि० ग्रा०
सितोपलादि	३ ग्राम
	योग—३ मात्रा

सवेरे-शाम मधु से।

च्यवनप्राश

१० ग्राम दूध से।

१ मात्रा

प्रतिषेध

१. आक्रान्त व्यक्ति को अलग कमरे मे रखना चाहिए।

२ रोग-प्रतिरोधार्थ निम्न योग का प्रयोग करना चाहिए—

सर्वतोभद्र रस	१५० मि० ग्रा०
ब्राह्मी वटी	१५० मि० ग्रा०
	योग—२ मात्रा

तुलसीपत्र-स्वरस और मधु से।

अथवा—

मजीठ	देवदारु	कूठ
गुरुच	वरुण	मुलहठी

समभाग लेकर २० ग्राम दवा अठगुने जल मे चौथाई शेष पकाकर १ चम्मच मधु डालकर सवेरे-शाम पीना।

अष्टम अध्याय

अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण

अरुचि या अरोचक

(Anorexia)

पर्याय और परिचय

अरुचि, अरोचक, भक्तद्वेष, अभक्तच्छन्द अथवा अन्नानभिनन्दन ये शब्द परस्पर पर्याय हैं। यद्यपि इन शब्दों के अपने अलग-अलग विशिष्ट अर्थ भी हैं, फिर भी इन सबका प्रयोग अरुचि के ही अर्थ में होता है। इसे 'भक्तोपघात' भी कहते हैं।

अरुचि[1]—भूख लगी हो और भोजन भी स्वादिष्ट हो, फिर भी भोजन अच्छा न लगे और गले के नीचे न उतरे, तो इसे अरुचि कहते हैं।

भक्तद्वेष[2]—भोजन का नाम सुनने, स्मरण करने, उसे देखने या स्पर्श करने अथवा भोजन की गन्ध ग्रहण करने मात्र से भोजन के प्रति उद्वेग, अनिच्छा और द्वेष का होना भक्तद्वेष कहलाता है।

अन्नाऽनभिनन्दन (अभक्तच्छन्द)—क्रोध के आवेश में होने से, भय से ग्रस्त होने के कारण अथवा द्वेषवश प्रतिकूल तान्त्रिक प्रयोग किये जाने के कारण मन-पसन्द भोजन रहने पर भी भोजन में इच्छा का न होना 'अन्नाऽनभिनन्दन' या 'अभक्तच्छन्द'[3] कहलाता है।

अभक्तच्छन्द में भोजन की प्रारम्भ इच्छा नहीं होती है। सुश्रुताचार्य ने अरोचक के लिए 'भक्तोपघात'[4] शब्द का प्रयोग किया है। चरकाचार्य[5] ने अरोचक के लिए 'भक्त का अनशन' कहा है।

---

१ (क) सत्याम् अपि बुभुक्षायाम् अभ्यवहारासामर्थ्यम् अरुचिः। (मधुकोश)
(ख) प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः।
अरोचकः स विज्ञेयो (भक्तोपघातं शृणु) ॥ वृद्धभोज (मधुकोश)

२ (क) अन्नस्य श्रवण-स्मरण दर्शन गन्ध स्पर्शनैर्योद्विजते स भक्तद्वेषः। (मधुकोश)
(ख) चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वापि भोजनम्।
द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥ वृद्धभोज (मधुकोश)

३ (क) अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहरति इत्यनन्नाभिनन्दम्। (मधुकोश)
(ख) कुपितस्य भयार्तस्य अभिचारहतस्य च।
यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते ॥ वृद्धभोज (मधुकोश)

४ भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति। सु० उ० अ० ५७

५ पञ्च भक्तस्य अनशन स्थानानि। च० सू० अ० १९।३

निदान

अरोचक के मुख्यरूप से दो कारण होते हैं—

१. शारीरिक और २ मानसिक अथवा आगन्तुक।

१. शारीरिक कारण—१. वात, २ पित्त ३ कफ और ४ सन्निपात भेद से चार प्रकार के होते हैं।[1]

आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि अरुचि की उत्पत्ति का स्थान आमाशय है, उसके द्वारा ही क्षुधानाश और क्षुधावृद्धि होती है। आमाशय मे वात-पित्त-कफ दोपो का प्रकोप या आमाशयिक कलाशोथ (Gastritis), आमाशयिक कर्कटार्बुद (Gastric cancer), आमाशयिक उपाम्लता (Hypochlorhydria) तथा रक्ताल्पता (Anaemia), ये शारीरिक कारण है, जिनके कारण भोजन में अरुचि होती है।

राजयक्ष्मा के आरम्भक पृथक्-पृथक् तथा समस्त दोपो का रसना एव हृदयस्थ मन मे स्थानसश्रय होने से और द्वेपजनक मानस कारणो के होने से भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है।[2]

२. मानसिक कारण[3]—शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध तथा मन के लिए अरुचिकर रूप एव गन्ध के सेवन से भोजन में अरुचि हो जाती है।

यह अन्न खाने की इच्छा का न होना उसी दोष के विकार का सूचक है, जो दोष रुचि उत्पन्न करने का कार्य करता है और उसका स्थान रसना है। ऐसा दोष कफ है और अरुचि रोग कफप्रधान व्याधि है।

---

१ वातादिभि । माधवनिदान
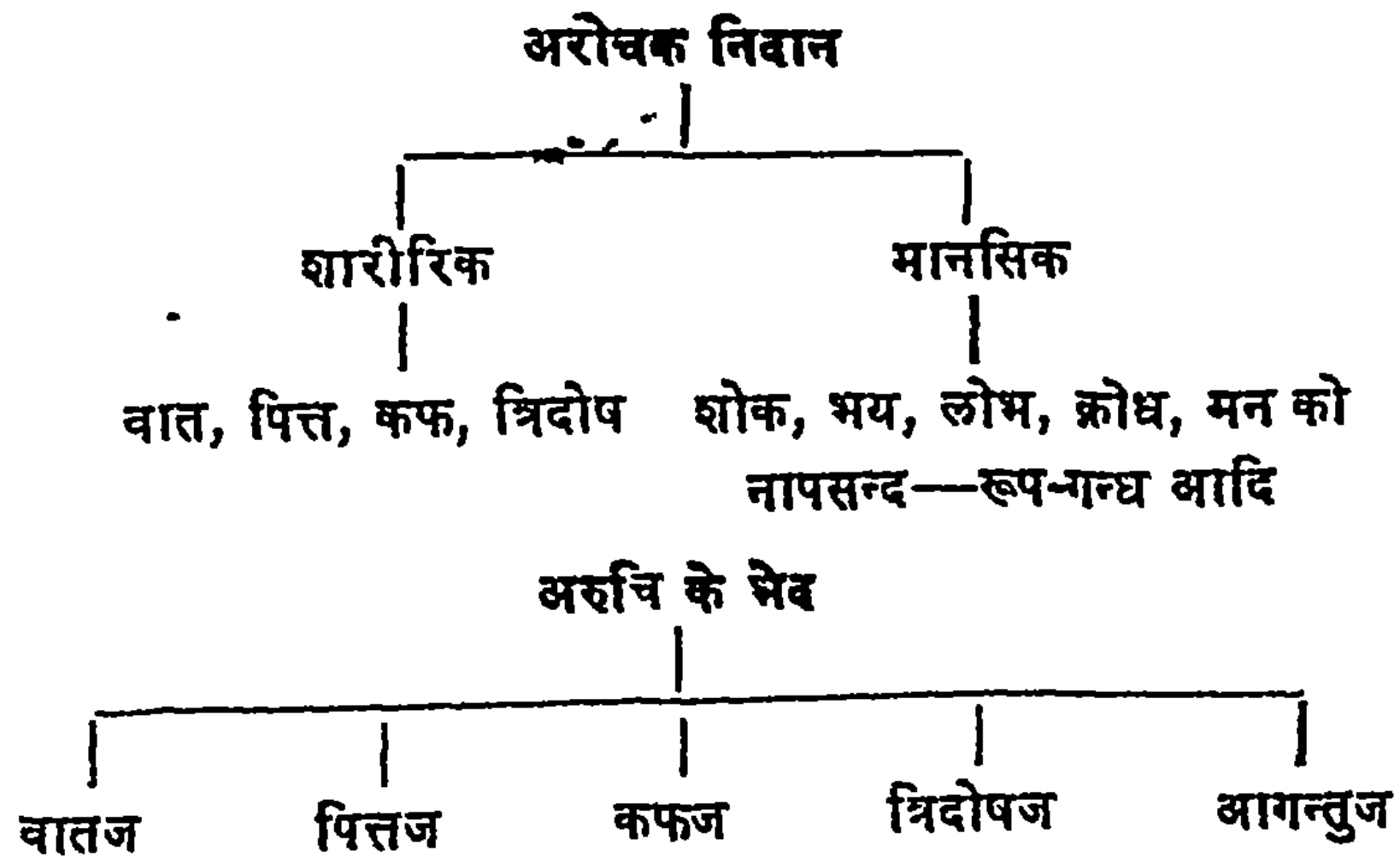
२ पृथग्दोषै समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंश्रितै.।
जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरर्थैश्च मानसै ॥ च० चि० ८।६०

३. शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धै, अरोचका स्यु.। मा० नि०

संप्राप्ति

वातादि शारीरिक दोष तथा शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध एव मन को नापसन्द रूप तथा गन्ध आदि के कारण रसना स्थायीबोधक कफ की विकृति होने से अन्नवह तथा स्रोतस की दुष्टि होने के कारण आमाशय और मनोवह स्रोतस मे अधिष्ठित स्थानसश्रय किये शारीर तथा मानस दोष अरुचि उत्पन्न करते है।

सप्राप्ति—निदान—(क) कफप्रधान वातादि दोष—अन्नवहस्रोतस मे दोषवृद्धि
एव तथा
" (ख) शोक-भय-अतिलोभ-क्रोध
नापसन्द भोजन, रूप-गन्ध आदि—मनोवहस्रोतस मे दोषवृद्धि } अरुचि

दोष-दूष्य आदि

दोष—कफप्रधान वातादि
दूष्य—रस
स्रोतस्—अन्नवह तथा रसवह
अधिष्ठान—आमाशय, जिह्वा एव
मनोवहस्रोतस्
स्रोतोदुष्टि लक्षण—सग

लक्षण

वातज अरुचि

मुख का स्वाद कसैला होना, दाँतो का कोट होना, खट्टापन (अम्लद्रव्य के सेवन से जैसे दाँत हो जाते हैं, उसे दाँत खट्टा होना या दन्तहर्ष कहते हैं। हृदय (छाती) मे शूल तथा पीडा होना वातज अरुचि के लक्षण हैं।[1]

पित्तज अरुचि

मुख का स्वाद कटु (तिक्त), अम्ल, विरस (फीका) होना, मुख मे उष्णता और दुर्गन्ध होना, हृदय के समीप अतिशय दाह और चूषणवत् पीडा होना तथा प्यास मालूम होना, ये पित्तज अरुचि के लक्षण हैं।[2]

कफज अरुचि

मुख का स्वाद विदग्ध कफ के कारण नमकीन और अविदग्ध कफ से मीठा होना, मुख मे पिच्छिलता, कफस्राव और दुर्गन्ध होना, अगो मे स्तब्धता, भारीपन और स्निग्धता होना, कफ की जकडाहट से गलावरोध होने के कारण आहार को गले से नीचे उतारने मे असमर्थता का होना, ये कफज अरुचि के लक्षण हैं।[3]

---

१. (क) परिहृष्टदन्त कषायवक्त्रश्च मनोऽनिलेन। च० चि० २६
(ख) हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन। च० चि० २६
२ (क) कट्वम्लमुष्ण विरसं च पूति पित्तेन विद्यात्। च० चि० २६
(ख) पित्तात्तृड्दाहचोषबहुलम्। च० चि० २६
३ (क) लवण च वक्त्रम्। माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसम्बद्धयुतं कफेन। च० चि० २६
(ख) सकफप्रसेक श्लेष्मात्मकम्। च० चि० २६

त्रिदोषज अरुचि

सन्निपातज अरुचि मे तथा तीनो दोषो मे बतलाये गये मुख का कसैलापन आदि अनेक लक्षणो का प्रादुर्भाव होता है और शरीर मे अनेक प्रकार की पीडाओ का अनुभव होता है।[1]

आगन्तुज अरुचि

इसमे दोष के अनुबन्ध के अनुसार मुख का स्वाद होता है, अन्यथा स्वाभाविक रहता है। शोक-भय आदि जन्य अरुचि मे मन की व्याकुलता और मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं।[2]

चिकित्सा-सूत्र

१ मानसिक अवसाद को दूरकर प्रसन्नता का वातावरण बनाना, रमणीय स्थान में निवास, पुष्पोद्यान मे भ्रमण, भय-शोक-चिन्ता-क्रोध आदि का निराकरण, प्रिय, हम-उम्र मित्रो का साहचर्य, कविगोष्ठी, रेडियो-सगीत, दूरदर्शन आदि द्वारा मनोरञ्जन, आश्वासन, हर्षण तथा इष्ट वस्तु की प्राप्ति कराना श्रेयस्कर है।

२ प्रिय और हितकर विविध प्रकार के हृद्य तथा रुचिकर आहारो की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि अहित पदार्थ भी रोगी को रुचिकर प्रतीत हो, तो उसे अल्प मात्रा में देना चाहिए। 'अन्न ही प्राणियो का प्राण है' इस सिद्धान्त के अनुसार अपथ्य अन्न मे भी यदि रुचि हो तो उसे खिलाना चाहिए।

३. दोषज अरुचि मे प्रधान दोष को लक्ष्य कर शोधन करावे, जैसे—

वातज अरुचि मे—वस्ति का प्रयोग करे।

पित्तज अरुचि मे—विरेचन का प्रयोग करे।

कफज अरुचि मे—वमन कराना चाहिए।

४ कवलग्रह, मुखधावन, मनपसन्द आहार, हर्ष, आश्वासन, पुन -पुन जिह्वा-विशोधन तथा औषधयुक्त धूम्रपान करावे।

५ रुग्ण की परिस्थिति, उसकी प्रकृति तथा देश-काल आदि का विचार कर अनेक प्रकार के पानक, अवलेह, तक्र, षाडव, चूर्ण आदि तथा सुरुचिपूर्ण पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए।[3]

---

१ त्रिदोषजे नेकरस भवेत्तु। बहुरुज बहुभिश्च विधाव। च० चि० २६

२ वैगुण्यमोहजडताभिरथापर च। च० च० २६

३ वस्ति. समीरणे पित्ते विरेको वमन कफे।
सर्वजे सर्वकामार्थं हर्षण स्यादरोचके॥
अरुचौ कवलग्राहो धूम सुमुखधावन।
मनोज्ञमन्नपान वा हर्षणाश्वासनानि च॥
सात्म्यान् स्वदेशरचितान् विविधांश्च भक्ष्यान्
पानानि मूलफलखाण्डवरागलेह्यान्।
सेवेद् रसांश्च विविधान् विविधै' प्रयोगै-
र्भुंञ्जीत चापि लघुरूक्षमन सुखानि॥ यो० र०

१० ग्राम लेकर महीन चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को ५ ग्राम लेकर गाय के १०० ग्राम मट्ठे मे घोलकर पिलावे। इससे रुचि मे वृद्धि होती है।

५ शिखरिणी—अच्छी तरह औटा हुआ दूध और कपडे मे बाँधकर पानी निथारी हुई भैंस की दही, इनको समभाग चीनी मिलाकर किसी मोटे कपडे पर घिसकर छान लें, फिर उसमे छोटी इलायची, लौंग, कपूर, कालीमिर्च उचित मात्रा मे मिलाकर पिलावे। यह परम रुचिवर्धक और तृप्तिकारक पेय है।

६ रसाला—खट्टी दही १½ किलो, सफेद चीनी ७५० ग्राम, गोघृत और मधु ५०-५० ग्राम, कालीमिर्च और सोठ का चूर्ण २५-२५ ग्राम, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात और नागकेशर प्रत्येक ५-५ ग्राम लेकर चूर्ण कर ले। पहले दही को कपडे मे बाँधकर खूँटी मे टाँग दे, जिमसे दही का पानी निथर जावे, फिर किसी स्वच्छ कपडे पर दही को रखकर साफ हाथो से घिसकर छान ले, फिर चूर्ण किये द्रव्यो को मिलाकर किसी पात्र मे सुरक्षित रख दे। यह उत्तम बृहण और रुचिवर्धक पेय है।

अवलेह

१. विडङ्गयोग—वायविडग का चूर्ण १० ग्राम और मधु ४० ग्राम मिलाकर मुख मे धारण करने से असाध्य अरुचि भी ठीक हो जाती है।[1]

२ मातुलुङ्गकेशर—विजौरा नीबू की केशर, सेंधानमक और कालीमिर्च समभाग का चूर्ण मुख मे धारण करने से अरुचि दूर होती है।

अथवा

३. विजौरा नीबू की केशर, सेंधानमक और मधु अथवा घी मिलाकर मुख में धारण करने से रुचि होती है। इसी प्रकार अनारदाना चूसने से भी रुचि उत्पन्न होती है।[2]

४. आर्द्रकयोग[3]—

१. आर्द्रक स्वरस और मधु का सेवन रुचिकारक है।

२ भोजन के पूर्व लवणयुक्त अदरख का सेवन जिह्वा और कण्ठ को शुद्ध करनेवाला, रुचिकर, आह्लादकर तथा अग्निप्रदीपक है।[4]

---

१ विडङ्गचूर्णं कर्षैकं क्षौद्रं कर्षचतुर्मितम्।
असाध्यामपि सहन्यादरुचिं वक्त्रधारणात्॥ यो० र०

२ केशरं मातुलुङ्गस्य सैन्धवं मधुनाऽपि वा।
आस्यवैरस्यशमनं भक्षयेत्कर्षसम्मितम्॥
शमयति केशरमरुचिं सलवणघृतमाशु मातुलुङ्गस्य।
दाडिमचर्वणमथवा चरको रुचिकारि सञ्चयामास॥ यो० र०

३ शृङ्गवेररसं वाऽपि मधुना सह योजयेत्।
अरुचिश्वासकासघ्नं प्रतिश्यायकफापहम्॥ भा० प्र०

४. भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्।
रोचनं दीपनं वह्नेर्जिह्वाकण्ठविशोधनम्॥ भा० प्र०

परवल की सब्जी या लाजमण्ड से यदि रोगी की नापसन्दगी हो जावे, तो मूग का पापड, परवल का भुर्ता और धान का लावा देना चाहिए। इस प्रकार प्रकार-भेद से पथ्य पकाकर उसे रुचिकर बनाना चाहिए।[1]

२ जब रुग्ण को अपने स्वजनो का स्नेह, परिजनो का सद्व्यवहार शुभचिन्तको की सहानुभूति और बडे-बुजुर्गों का आश्वासन तथा घर या अस्पताल का रमणीय मनोऽनुकूल वातावरण उपलब्ध हो, तो ऐसी परिस्थिति मे औषध या आहार के सेवन का परिणाम सुखप्रद होता है, रोगी को सन्तोष, मनोबल, रुचि, शारीरिक बलवृद्धि, आरोग्यलाभ और रोगविनाश की उपलब्धि होती है। अत सर्वात्मना रुग्ण के मन को प्रसन्न रखने का प्रयास करना चाहिए।[2]

३. मन की चचलता से रोगी की रुचि भिन्न-भिन्न वस्तुओ के खाने मे होती है या दोषो के क्षय होने के कारण रुचि मे परिवर्तन हो जाता है अथवा व्याधि के प्रभाववश विचित्र प्रकार की रुचि उत्पन्न हो जाती है, जैसे—पाण्डुरोग में मिट्टी खाने की इच्छा बढ जाती है एव कफज्वर मे अम्ल और कटुरस खाने की इच्छा होती है, रूक्ष पुरुष की स्निग्ध वस्तु के सेवन मे रुचि तथा अम्लद्रव्य के अतिसेवन से मधुर पदार्थ खाने की इच्छा होती है।

इस रुचियो के होने पर भी पथ्य का ही प्रयोग करना उचित होता है। उस पथ्य को स्वादिष्ट बनानेवाले द्रव्यो से सस्कृत कर रोगी को खिलावे।

यदि रोगी की रुचि किसी अपथ्य मे ही होवे, तो उस अपथ्य को, सस्कार द्वारा पथ्य बनाकर खिलाना चाहिए। भोजन, लघु आकर्षक, सुगन्धयुक्त और स्वादिष्ट होने से भोजन की लालसा होती है।[3]

पथ्य

गेहूँ, अगहनी चावल, साठी का चावल, मूग, पतली मूली, बैंगन, केला, अनार, परवल, कमरख, नारगी, चिरौजी, खजूर, गो-दुग्ध, अगूर, आम, घी, लहसुन, सिरका, मद्य, शरबेर, रसाला, तक्र, दही, अदरख, मधुर, अम्ल, तिक्त रस, कालानमक, स्वच्छता, सौम्य एव शान्त वातावरण, ये सब पथ्य है।

अपथ्य

मूत्र पुरीष-क्षुधा-तृष्णा आदि के वेगो का रोकना, अप्रिय पदार्थों का सेवन, भय-शोक-क्रोध-लोभ आदि मनोविकार, रक्तमोक्षण, वीभत्स दृश्य देखना, मन के प्रतिकूल व्यवहार और अशान्त वातावरण आदि अपथ्य हैं।

---

१ सातत्यात्स्वाद्वभावाद् वा पथ्य द्वेष्यत्वमागतम्।
कल्पनाविधिभिस्तैस्तै प्रियत्व गमयेत्पुन ॥ च० चि० ३०।३३१

२ मनसोऽर्थाऽनुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षय ॥ च० चि० ३०।३३२

३ लौल्याद् दोषक्षयाद् व्याधेर्वैधर्म्याच्चाऽपि या रुचि।
तासु पथ्योपचार स्याद् योगेनाथ विकल्पयेत् ॥ चि० चि० ३०।३३३

सभी दोषो के प्रकोप और प्रशमन का कारण जठराग्नि है, अत उसकी समता की रक्षा मे सदैव सावधान रहना चाहिए तथा अग्नि को विकृत करनेवाले कारणो से बचना चाहिए।[1]

तीन या तेरह अग्नियाँ

जठराग्नि १, धात्वग्नि ७ और भूताग्नि ५ कुल मिलकर १+७+५=१३ अग्नियाँ होती है।[2]

जठराग्नि की प्रधानता

जठराग्नि सभी अग्नियों मे प्रधान है, क्योकि जठराग्नि जब प्रदीप्त होती है, तब सभी अग्नियाँ प्रदीप्त होती हैं और जब जठराग्नि क्षीण होती है, तब सभी अग्नियाँ क्षीण होती हैं।[3]

चक्रपाणि[4] और डल्हण[5] ने 'कायचिकित्सा' के 'काय' शब्द का अर्थ जठराग्नि कहा है और उस जठराग्नि की चिकित्सा को कायचिकित्सा माना है। शिवदास सेन[6] ने भी 'काय' का अर्थ जठराग्नि कहा है और अपने कथन के प्रमाण मे भोज के वचन का उद्धरण दिया है। इस प्रकार आयुर्वेद के आठ अगो मे सर्वप्रधान अग, जठराग्नि की चिकित्सा के नाम पर रखा गया है—काय का अर्थ अग्नि और काय-चिकित्सा का अर्थ दुर्बल अग्नि की चिकित्सा है।

धात्वग्नि

धातुएँ सात हैं और प्रत्येक धातु की अपनी-अपनी अग्नि होने से धात्वग्नियाँ सात हैं, जैसे—१ रसाग्नि, २. रक्ताग्नि, ३ मासाग्नि, ४ मेदोऽग्नि, ५. अस्थ्यग्नि,

---

१ शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत् ॥ च० चि० ५।१३६

२ भौतिका· पञ्च, धात्वग्नय सप्त, अन्नपक्ता एक। च० चि० १५।३८ पर चक्रपाणि

३ (क) अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मत।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मका ॥ च० चि० १५।३९

(ख) स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु सस्थिता।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भव ॥ अ० हृ० सू० ११।३४

(ग) तत्रादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्त चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाऽग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। सु० सू० २१।१०

४ कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा। च० सू० ३०।२८ पर चक्रपाणि

५ कायोऽत्राग्निरुच्यते, तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा। सु० सू० १।७ पर डल्हण

६. किं वा कायो जाठराग्नि, उक्त च भोजे—
जाठर प्राणिनामग्निं काय इत्यभिधीयते।
यस्त चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सक ॥ युक्तं चैतत्—यतो ज्वरातिसारादय कायचिकित्साविषया रोगा अग्निदोषादेव भवन्ति।

च० सू० ३०।२८ पर शिवदास सेन

६. मज्जाग्नि, और पुरुषो मे ७ शुक्राग्नि तथा स्त्रियो में ८ आर्तवाग्नि इन सभी का एक नाम धात्वग्नि है ।[1]

पञ्चभूताग्नि

प्रत्येक धात्वग्नि मे अन्नपानगत प्रत्येक भूत के पाचन और पृथक्करण के लिए पृथक् अग्नि होती है । इस प्रकार प्रत्येक धातु मे पाँच भूतो की पाँच अग्नियाँ होती हैं, इन्हे भूताग्नि कहते हैं । इसके अतिरिक्त द्रव्यो मे भी अपने अन्दर स्थित भूतो की पाचक अग्नियाँ होती हैं ।

१ भौम या पार्थिव २ आप्य या जलीय ३ वायव्य ४ आग्नेय और ५ नाभस— ये पाँच भूताग्नियाँ कही जाती हैं ।[2]

पञ्चमहाभूतात्मक देह के पोषणार्थ जब पाञ्चभौतिक आहार किया जाता है, तो वह पञ्चमहाभूताग्नियो से परिपक्व होकर शरीर के पार्थिव आदि गुणो की वृद्धि करता है ।[3]

सजातीय द्रव्यो के गुण सजातीय द्रव्यगुणो का ही पोषण करते हैं, एवञ्च पार्थिव आहारद्रव्य के गुण शरीरगत पार्थिव गुणो का ही पोषण करते हैं ।[4]

अग्निमान्द्य का परिचय

आचार्य चरक ने तीक्ष्ण अग्नि के विपरीत लक्षण होने पर अग्नि को मन्द कहा है ।[5] अत पहले तीक्ष्णाग्नि का परिचय आवश्यक है । तीक्ष्ण अग्नि नियत समय पर किये गये अधिक मात्रावाले आहार को भी शीघ्र पचा देती है । इसके विपरीत अग्नि मन्द हो, तो पुरुष अल्पमात्रा मे ही आहार ले, तो वह बहुत देर से पचता है और साथ ही उदर और शिर मे भारीपन, कास, श्वास, लालास्राव, अगो मे वेदना आदि लक्षण होते हैं ।

अग्निमान्द्य का निदान

परस्पर विरुद्ध आहार, पूर्व मे किये गये भोजन के विना पचे पुन भोजन करना, अजीर्ण होने पर भी भोजन करना, आटे या वेसन की बनी वस्तुओ का अधिकाश

---

१ यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातव ।
सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुन ।
यथास्वमग्निभि पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥ च० चि० १५।१५

२ भौमाप्याग्नेयवायव्या पञ्चोष्माण सनाभसा ।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥ च० चि० १५।१३

३ पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहार पाञ्चभौतिक ।
विपक्व पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत् ॥ सु० सू० ४६।५२६

४ यथा स्वं स्व च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणा पृथक् ।
पार्थिवा पार्थिवानेव शेषा शेषांश्च कृत्स्नश ॥ च० चि० १५।१४

५. तीक्ष्णविपरीतलक्षणस्तु । च० वि० ६।१२

प्रयोग करना, अपक्व भोजन करना, मद्य, दूध, गुरु और अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन, अति उष्ण, अति स्निग्ध, अति रूक्ष, अति अम्ल और अति द्रव पदार्थों का अधिक सेवन करना, फाणित (राब) चीनी के बने पदार्थ तथा चूडा अधिक खाना, दिन में भोजन के बाद नित्य सोना, अति जलावगाहन, भोजन के बीच में जल पीने का अभ्यास और बासी भोजन करना तथा मल-मूत्रादि वेगो को रोकना आदि कारणो से वात आदि दोषो का प्रकोप होता है, फिर उनमे से कोई दोप जठराग्नि को मन्द कर देता है।

वातज अग्निमान्द्य का निदान

कटु, तिक्त, कषाय रसप्रधान अति रूक्ष, सयोग आदि की दृष्टि से विरुद्ध भोजन, अल्पमात्रा मे भोजन, अनशन करना, दूर तक पैदल चलना, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना और अति मैथुन करना इत्यादि कारणो से प्रकुपित हुआ वायु जठराग्नि को दूषित कर मन्द बना देता है, जिससे अग्निमान्द्य होता है और अग्निमान्द्य होने से अनेक प्रकार के अजीर्ण, अतिसार, ग्रहणी आदि रोग जन्म लेते हैं।

पित्तज अग्निमान्द्य का निदान

कटु, विदाही, अम्ल, क्षार आदि द्रव्यो का अधिक सेवन करने से बार बार विदग्धाजीर्ण के होने से तथा पित्तवर्धक पदार्थों के अति सेवन से प्रकुपित हुए पित्त का जलीयाश बढ जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह जठराग्नि की पाचन-क्षमता को मन्द कर देता है या बुझा देता है, जैसे कि उष्ण किया हुआ जल भी अपने द्रवत्व के कारण अग्नि को शान्त कर देता है। पित्त मे जब द्रवता बढ जाती है, तब वह जठराग्नि को मन्द कर देता है।[2]

कफज अग्निमान्द्य का निदान

अति गुरु, अति स्निग्ध, अति शीत, पिच्छिल एवं मधुर भोजन, अधिक भोजन करने तथा दिन में भोजन करके सोने से कफ प्रकुपित होकर जठराग्नि को नष्ट या

---

१ (क) कटुतिक्तकषायातिरूक्षसन्दुष्टभोजनै ।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनै ॥
मारुत कुपितो वह्निं सञ्छाद्य कुरुते गदान् । च० चि० १५।५९–६०

(ख) वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवाय नित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान् वायु प्रकोपमापद्यते पक्ता चोपहन्यते। च० चि० १९।५

(ग) स यदा प्रकुपित प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातु रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य । च० नि० १।२०

२ (क) कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यै पित्तमुल्बणम्।
आप्लावयद्धन्त्यनल जलं तप्तमिवानलम् ॥ च० चि० १५।६५

(ख) पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषेविण पित्त प्रकोपमापद्यते, तत् प्रकुपित द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य । च० चि० १९।६

(ग) उष्णाम्लकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्य पित्त प्रकोपमापद्यते, तद्यदा प्रकुपितम्...... रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय द्रवत्वादग्निमुपहत्य ।
च० नि० १।२१

मन्द कर देता है। कफ प्रकृति से गुरु, मधुर, शीत एवं स्निग्ध होने से अग्नि को मन्द बना देता है।[1]

वक्तव्य—अग्निमान्द्य मे तीन स्थितियाँ हो सकती हैं—१. पित्त का निर्माण अल्प मात्रा मे होना, २ आमाशय और पच्यमानाशय मे उसकी गति मन्द होना और ३. स्रोतस् के अवरुद्ध होने से विविध पाचक रसो का स्राव पूर्णतया न होना। इन परिस्थितियो के कारण अग्नि मन्द हो जाती है।

वातज अग्निमान्द्य मे भी तीन दशायें होती हैं—१ वातप्रकोपक आहार-विहार के अतियोग के कारण पाचक पित्त का पोषण नही होता है। २ वातप्रकोपवश पित्त के वाहक स्रोत के कृश हो जाने से पित्त का सम्यक् वहन नही हो पाता है और ३. स्रोतस् की गति के स्तब्ध हो जाने या स्रोतस् के छिद्र सकुचित होने से पाचक रसो का स्राव समुचित न होने से अग्निमान्द्य होता है।

वातज अग्निमान्द्यकारक कतिपय द्रव्य

चाय—चाय में टैनिन नामक एक पदार्थ रहता है, अतएव चाय का अधिक पीना जठराग्नि को मन्द बनाता है। चाय कषायरसवाला होता है और कषायरस वातप्रकोपक होने से वातप्रकृति के पुरुषो मे चाय पीने से वातज अग्निमान्द्य होता है।

सुपारी[2]—यह कषायरस-प्रधान द्रव्य है और इसके अतिसेवन से वात का प्रकोप होकर अग्नि मन्द पड जाती है, जिससे उदावर्त आदि रोग होते हैं।

जम्बूफल[3]—प्राय मधुमेह मे जामुन के फल और बीज का प्रयोग होता है, किन्तु इसके अतियोग से क्षुधानाश होता है। यह उत्कृष्ट वातजनक होता है, अत यह वात-प्रकोपक द्रव्य है, जो वातज अग्निमान्द्य उत्पन्न करता है। वायु सभी क्रियाओ का सञ्चालक और दोषो का नेता है। इसके प्रकोप से अन्य दोष भी प्रकुपित हो जाते है। अत वात को बढाने वाले द्रव्यो का अतियोग नही करना चाहिए।

भैंस का दूध[4]—यह महा अभिष्यन्दी है अर्थात् अपनी पिच्छिलता, स्निग्धता

---

१ (क) गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपित कफ ॥ च० चि० १५।६७

(ख) श्लेष्मलस्य दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, स स्वभावाद् गुरुमधुरशीतस्निग्ध स्रस्तोऽग्निमुपहत्य । च० चि० १९।७

(ग) स्निग्धगुरु श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। स यदा प्रकुपित स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य । च० नि० १।२६

२ पूग गुरु हिम रूक्षं कषायं कफपित्तजित्।
आर्द्रं तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहर स्मृतम् ॥ भा० प्र० फलवर्ग

३ राजजम्बूफलं स्वादु विष्टम्भि गुरु रोचनम्। भा० प्र० फल०

जाम्बव वातजननानाम्। च० सू० २५।४०

४ महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम्।
निद्राकर शीततरं गव्यात् स्निग्धतर गुरु ॥ सु० सू० ४५।५५
महाभिष्यन्दि—दोषधातुमलस्रोतसाम् अतिशयेन क्लेदप्राप्तिजनकम्।

तथा गुरुता से रसवाही स्रोतों का अवरोधक, कफप्रकोपक तथा अग्नि को मन्द बनाने वाला होता है। यह गौरवोत्पादक, शीत, मधुर और अपनी पिच्छिलता तथा गुरु गुणयुक्त विपाक के कारण स्रोतो को द्रवगुणाधिक कफ से अतिशय लिप्त करनेवाला होता है।

अग्निमान्द्य की संप्राप्ति

जब पुरुष कफप्रकृति का हो अथवा अन्य दोष-प्रधान हो और उसकी जठराग्नि कफ से अभिभूत हो, जिसके परिणामस्वरूप उसकी अग्नि मन्द हो गई हो, फिर भी वह अहितकर आहार-विहार कर रहा हो, तो अग्निमान्द्य की जटिलता बढ जाती है। अग्नि मन्द होने से अन्नपान के पूर्ण परिपाक होने तक उसे धारण करनेवाले अवयव—पच्यमानाशय, पित्तधराकला या ग्रहणी या क्षुद्रान्त्र निर्बल हो जाते हैं। जठराग्नि के मन्द या दुर्बल होने से पाचन-संस्थान के अवयव—आमाशय, क्षुद्रान्त्र आदि हीनबल हो जाते हैं और उनके कार्य अस्त व्यस्त हो जाते हैं। फलस्वरूप ग्रहणी भी दुर्बल हो जाने के कारण अन्नपान के परिपक्व होने के पूर्व जब वह विदग्ध या अर्धपक्व या पक्वापक्व होता है, तभी उसे पक्वाशय मे जाने के लिए छोड देती है। यह ऐसी स्थिति होती है जिसमें अग्निमान्द्य के कारण अन्नरस के रूप मे न परिणत होकर शुक्त (सिरके) के रूप में परिणत होकर विषतुल्य हो जाता है।[1]

अष्टाङ्गसग्रह मे कहा है, कि जठराग्नि द्वारा सम्यक् पक्व अन्न अमृतस्वरूप होता है और अपक्व अन्न विषरूप हो जाता है।[2] मानव-देह के अवयव भी अपने और शरीर के हितचिन्तन मे कितने सजग और सावधान रहते हैं, यह ग्रहणी की विलक्षण क्रिया से परिलक्षित होता है। ग्रहणी मे यह निर्णय करने की बुद्धि है, कि शरीर के लिए क्या हित है और क्या अहित है ? यह निर्णय करके वह हित का सरक्षण और अहित का परित्याग करती है। समाग्नि समयोगयुक्त अन्नपान के सम्यक् परिणत होते हुए अश और अन्नरस का यावद् परिपाचन धारण करती है, किन्तु इसके विपरीत अविधि-सेवित अन्नपान जठराग्नि की दुर्बलता से जब अन्नविष के रूप मे तैयार होने लगता है, तो ग्रहणी अपने लिए तथा शरीर के लिए उसे अहितकर समझकर छोड देने की चेष्टा करती है। इस प्रकार से अग्निमान्द्य तथा तज्जनित अतिसार, ग्रहणी, अर्श, उदावर्त आदि नाना प्रकार के रोगो का जन्म होता है जिसके मूलभूत हेतु के रूप मे अग्निमान्द्य को श्रेय प्राप्त है।[3]

---

१ (क) दुष्यत्यग्नि , स, दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि।
अपच्यमानं शुक्तत्व यात्यन्नं विषरूपताम् ॥
(ख) घोरमन्नविषं च तत्। च० चि० १५।४४, ४६

२ तथाऽन्नमपि तेनैव (अग्निना) पक्वममृततां यात्यपक्व च विषताम्। अ० स० शा० ६

३ (क) अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घा पृथग्विधा। च० चि० १३।९
(ख) अर्शोऽतिसारग्रहणीविकारा प्रायेण चान्योऽन्यनिदानभूता.।
सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम् ॥ अ० हृ० चि० ८।१६४

संप्राप्ति

कफप्रधान त्रिदोषप्रकोपक हेतु
|
कफप्रधान दोषप्रकोप
|
आहार का अविपाक
|
अल्पाहार का भी अपाचन, आमोत्पत्ति, शिरोगौरव,
लालाप्रसेक, शरीर-शैथिल्य आदि सहकृत
|
अग्निमान्द्य

वातज अग्निमान्द्य का लक्षण

वातज अग्निमान्द्य मे उदरशूल, आध्मान, तोद, भेद, मलावरोध, अधोवायु की रुकावट, अगो मे जकडाहट, मूर्च्छा, अगमर्द, अन्न का पाचन कठिनाई से होना, कण्ठ और मुख सूखना, पार्श्व, ऊरु तथा वक्षण मे वेदना, कृशता तथा दुर्बलता आदि लक्षण होते हैं।

पित्तज अग्निमान्द्य का लक्षण

शिर मे चक्कर आना, तृष्णा की अधिकता, खट्टी डकार के साथ मुख से धुंआ जैसा निकलना, पसीना आना, जलन होना और भोजन मे अरुचि होना आदि लक्षण होते हैं।

कफज अग्निमान्द्य का लक्षण

कफज अग्निमान्द्य मे शरीर मे भारीपन, कपोल और नेत्रकूट मे शोथ, मीठा डकार आना, वमन की इच्छा होना या वमन होना, मुख मीठा रहना, अगो मे थकावट, आलस्य, स्तब्धता और मैथुन की अनिच्छा होना आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

१ अग्निमान्द्य के कारण, लक्षण तथा रोगी के अवस्था-विशेष को देखते हुए अग्निमान्द्य के रोगी को स्नेह (घृत) का उपयोग कराना चाहिए तथा विविध प्रकार के आसव, अरिष्ट, अग्निदीपक चूर्ण, क्वाथ एव हितकर आहार-विहार का सेवन कराया जाना चाहिए। इससे शरीर और अग्नि दोनो के बल की वृद्धि होती है।[1]

२ जिस दोष-विशेष से अग्निमान्द्य हुआ हो, उस दोष की शामक औषधो के

---

१ स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः ।
सम्यक् प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्धते ॥ अ० हृ० चि० १०।७८

क्वाथ-कल्क से सिद्ध घृतो का प्रयोग करना चाहिए। ऐसे घृत अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, जिससे गुरु अन्न का भी पाचन हो जाता है।[१]

३. अग्निमान्द्य के कारण अपक्व पुरीप का यदि अतिसरण होता हो, तो दीपन-पाचन द्रव्यो से सिद्ध या उनसे संयुक्त घृत का उचित मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए। इस योजना से जठराग्नि का समीपवर्ती समान वायु प्रसन्न एव सम अवस्था मे होकर स्वमार्गगामी हो जाता है तथा अग्नि को वलवान् बनाता है।[२]

४ जव पुरुप की अग्नि मन्द हो और उसका मल कठिन हो गया हो तथा मल निकालने के लिए शौच के समय प्रवाहण करना (कांखना) पडता हो, तो उसे उचित मात्रा मे पञ्चलवण मिश्रित घृत का पान कराना चाहिए।[३]

इस घृत का प्रयोग दो प्रकार से होता है—१. या तो घृत पिलाकर तुरन्त भोजन करावे अथवा २ आधा भोजन के वाद घृत पिलाकर पुन. शेष भोजन करावे।

५. अग्नि की रक्षा की दृष्टि से सम मात्रा मे आहार कराने से अग्निवल की वृद्धि होती है।

६ अग्निमान्द्य होने पर उचित मात्रा में स्नेह, अन्न, चूर्ण, आसव, अरिष्ट तथा सुरा के प्रयोग से जठराग्नि का वल वढ जाता है। जिस प्रकार सारयुक्त लकडी की अग्नि वहुत देर तक स्थिर और प्रज्वलित होती रहती है, उसी प्रकार स्नेहयुक्त अन्नपान आदि के समुचित प्रयोग से जठराग्नि वहुत दिनों तक स्थिर एव प्रज्वलित रहती है।[४]

७ भोजन के पच जाने पर हितकर और परिमित मात्रा मे आहार करनेवाला व्यक्ति चिरकाल तक स्वस्थ वना रहता है।[५]

८. अग्निमान्द्य मे वातादि दोष तथा रस-रक्तादि धातुओ की विषमता न होने पावे, इस वात का ध्यान रखते हुए अग्नि को वढाने का प्रयत्न करना चाहिए।[६]

---

१. स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानलदीपनम्।
नाऽलं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि॥ च० चि० १५।२०१

२ मन्दाग्निरविपक्वं यो पुरीषमतिसार्यते।
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिवेत्तु स॥
तया समान पवन प्रसन्नो मार्गमास्थित।
अग्ने समीपचारित्वादाशुप्रकुरुते वलम्॥ च० चि० १५।२०२–२०३

३ काठिन्याध पुरीष तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानव।
सघृत लवणैर्युक्त नरोऽन्नावग्रह पिबेत्॥ च० चि० १५।२०४

४ स्नेहान्नविधिभिश्चित्रैश्चूर्णारिष्टसुरासवै।
सम्यक्प्रयुक्तैर्भिषजा बलमग्ने. प्रवर्धते॥
यथा हि सारदार्वग्नि स्थिर सन्तिष्ठते चिरम्॥
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत् स्थिर.। च० चि० १५।२१२–२१४

५ हित जीर्णे मित चाश्नश्चिरमारोग्यमश्नुते। च० चि० १५।२१४

६ अवैषम्येण धातूनामभिवृद्धौ यतेत ना। च० चि० १५।२१५

आवस्थिक चिकित्सा

१. आँतों में रूक्षता के कारण यदि अग्नि मन्द हो जाये, तो दीपन औषधों से सिद्ध किया हुआ घृत या तैल का सेवन करे अथवा दीपन द्रव्यों के चूर्ण घृत या तैल के साथ प्रयोग करे।[1]

२. स्निग्ध पदार्थों के अधिक सेवन करने से यदि अग्नि मन्द हो गयी हो तो चूर्ण, आसव एवं अरिष्ट का प्रयोग हितकर होता है।[2]

३. उदावर्त रोग के कारण यदि अग्नि मन्द हुई हो, तो निरूह और अनुवासन-वस्ति का क्रम से प्रयोग करना चाहिए। वस्ति का प्रयोग विज्ञ वैद्य से ही कराया जाना चाहिए।[3]

४. वातादि दोष के अधिक बढ़ जाने से यदि अग्नि मन्द हो गई हो, तो वमन-विरेचन या वस्ति के द्वारा शरीर का शोधन कर लेने के बाद उस बढ़े हुए दोष के प्रतिकार का प्रयत्न करना चाहिए।[4]

५ रोगमुक्त हो जाने पर यदि अग्नि मन्द हो, तो घृत का सेवन करना ही अग्नि-प्रदीपक होता है।[5]

६. उपवास करने से यदि अग्नि मन्द हो, तो मण्ड, पेया, विलेपी आदि में घृत मिलाकर पिलाना चाहिए। अन्न के साथ मिला हुआ घृत अग्निदीपक, बलवर्धक और बृंहणकारक होता है।[6]

७ दीर्घकाल तक किसी रोग से पीड़ित होने के कारण क्षाम, क्षीण एवं कृश हुए मांसभक्षी व्यक्ति को कच्चा मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांसरस में अनार का रस मिलाकर भोजन के साथ खिलाये। कच्चे मांस को खाने वाले पशु-पक्षियों का मांस लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, शोधन होने के कारण अग्नि को शीघ्र प्रदीप्त करता है तथा उनके शरीर का मांस मांस से सर्वाधित होता है, इसलिए अतिशीघ्र शरीर का बृंहण करता है।[7]

---

१ रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत् सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम्। च० चि० १५।२०५
२ अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिता। च० चि० १५।२०६
३ उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहबस्तय। च० चि० १५।२०७
४ दोषवृद्ध्या तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत्। च० चि० १५।२०७
५ व्याधिमुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनम्। च० चि० १५।२०८
६ उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद् घृतम्।
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत्॥ च० चि० १५।२०८–२०९
७ दीर्घकालप्रसङ्गाच्च क्षामक्षीणकृशान्नरान्।
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत् पिशिताशिनाम्॥
लघु, तीक्ष्णोष्णशोधित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम्।
मांसोपचितमांसत्वात् तथाऽऽशुतरबृंहणा॥ च० चि० १५।२०९–२११

लाक्षणिक चिकित्सा
वातज अग्निमान्द्य चिकित्सा

१ वातज अग्निमान्द्य मे पुरीष और अधोवायु की प्रवृत्ति रुक जाती है। कोष्ठाश्रित दूषित वायु मूत्र और मल का निग्रह करती है[1] और पक्वाशय मे विकृत वायु उदरशूल, गडगडाहट, मूत्रकृच्छ्र, मल का कठिनाई से निकलना, आनाह और त्रिकप्रदेश मे वेदना उत्पन्न करती है।[2]

२ मलप्रवृत्ति को व्यवस्थित करने के लिए लवण का विशेष रूप से प्रयोग करना हितकर है।[3] आहार में और औषध मे नमक की पर्याप्त मात्रा डालकर खाया जाय। इस दृष्टि से लवणभास्कर तथा सामुद्रादि चूर्ण का प्रयोग उपयुक्त है।

३ लवणो मे मल को ढीला कर प्रवृत्त करने का स्वभाव होता है, अत अग्निमान्द्य और उससे होने वाले उदावर्त, मलकाठिन्य, नाभिशूल, आनाह, अन्त्रकूजन आदि के साथ मलावरोध हो तो लवणभास्कर या सामुद्रादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

४. द्रवमल की प्रवृत्ति हो, अधोवायु की रुकावट हो, आध्मान और अन्त्रकूजन आदि हो, तो हिंग्वष्टक चूर्ण का प्रयोग हितकर होता है।

५ आध्मान, उदावर्त आदि युक्त अग्निमान्द्य मे शिवाक्षार पाचन का प्रयोग अद्‌भुत लाभ करता है। चरक के हिंगुद्विरुत्तरादि योग का भी प्रयोग सफलता के साथ होता है। वैद्यसम्राट् श्री प० सत्यनारायण जी शास्त्री (काशी) प्राय 'हिंगुद्विरुत्तरादि' का प्रयोग करते थे।

६ लवण आमाशयगत पाचकपित्त के उद्रेक को बढाता है, जिससे पाचनप्रक्रिया मे सहयोग मिलता है और आमाशयिक पाचन के सुचारु रूप में सम्पन्न होने से पच्यमानाशय या ग्रहणी की भी क्रिया समुचित होती है। अथ च पक्वाशय भी अपना कार्य ठीक से सम्पन्न करने मे समर्थ होता है, जिससे मलविसर्जन मे कठिनाई नही होती।

७ वायु को शोषक स्वभाववाला कहा गया है,[4] अत वातज अग्निमान्द्य मे शोषणजनित रूक्षता एव मलावष्टम्भ को दूर करने के लिए घृत का प्रयोग आवश्यक है,[5] उसी प्रकार लवणप्रधान औषधें भी उपयोगी हैं।

---

१ तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसो। च० चि० २८।२४

२ पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाह त्रिकवेदनाम्॥ च० चि० २८।२८

३ पक्वाशयगते वाते देयं स्नेहविरेचनम्।
वस्तय शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः॥ सु० चि० ४।५

४. दोपमशोषण। च० सू० १७

५ दशमूलादि घृत, त्र्यूषणादि घृत, पञ्चमूलादि घृत का प्रयोग उत्तम है। —च० चि० १५

८. वातज अग्निमान्द्य मे लवण तथा अम्लसहित घृत का व्यवहार करना चाहिए, क्योकि दुर्बल अग्नि को तीव्र करने के लिए घृत उत्तम औषध है।[1]

९. वातदोष को व्यवस्थित करने के लिए वातनाशक रस-गुण-वीर्य-विपाक वाले द्रव्यो का एव मधुर, अम्ल तथा लवण रसयुक्त पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

पित्तज अग्निमान्द्य चिकित्सा

१. पित्तज अग्निमान्द्य मे पित्त के शमन के लिए मधुर द्रव्य सहित तिक्तरस प्रधान अग्निप्रदीपक द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।

२. यदि बढा हुआ पित्त जठराग्नि को नष्ट कर रहा हो, तो पित्त को वमन अथवा विरेचन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। आहार मे विदाह न उत्पन्न करने वाले तिक्तरस युक्त लघु अन्न खाने के लिए देना चाहिए। भोजन के साथ दीपन औषध, घृत तथा खट्टे अनार का रस मिलाकर देना चाहिए।

३. कुष्ठाधिकार मे कथित तिक्तकघृत[2] और दीपनीय द्रव्यो के चूर्ण के प्रयोग से जठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। ग्रहणी अधिकार मे कथित चन्दनादि घृत, नागरादि चूर्ण, भूनिम्बादि चूर्ण, वचादि चूर्ण और किराततादि चूर्ण का प्रयोग करना हितकर होता है।[3]

कफज अग्निमान्द्य चिकित्सा

१ कफज अग्निमान्द्य मे विधिपूर्वक वमन कराने के बाद कटु, अम्ल, लवण क्षार और तिक्त द्रव्यो का प्रयोग कर जठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए।

२. यदि कफ का प्रकोप अधिक हो, परन्तु रोगी व्यक्ति कृशकाय हो, तो कभी रूक्ष तथा कभी स्निग्ध दीपन द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी की कृशता पर ध्यान देकर उसके बृहण के लिए मात्र स्निग्ध द्रव्यो का प्रयोग किया जावे, तो सभव है कि कफ की वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप अग्नि की मन्दता बढ़ जावे। इसी प्रकार रोगी के कफप्रकोप को ध्यान मे रखकर केवल रूक्ष द्रव्यो का सेवन कराया जावे, तो उससे अधिक कर्षण होकर रोगी को कृशतर बना देगा। इसलिए बारी-बारी से कभी स्निग्ध, कभी रूक्ष द्रव्यो का उचित मात्रा मे सेवन कराया जाना चाहिए।

३ यदि कफज अग्निमान्द्य का रोगी कृश और क्षीण हो अथवा रोगी के शरीर मे आमाश की अधिकता हो, तो पीपर, पिपरामूल, चव्य, चित्रक और सोठ के चूर्ण को घृत के साथ सेवन कराना चाहिए।

४ जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए पलाश की छाल, चित्रकमूल, चव्य,

---

१ च० चि० १५।२०१

२ च० चि० ७।१४०–१४३

३ च० चि० अ० १५

विजौरा नीबू, हर्रे, पीपर, पिपरामूल, पाठा, सोठ और धनियाँ, इन सबको १०–१० ग्राम लेकर जौकुट कर १ लीटर जल मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ कर छान ले। प्यास लगने पर इसी जल को पिलावे और इसी जल मे मण्ड, पेया, विलेपी आदि पकाकर खाने के लिए देवे।

५ अग्नि के तीव्र हो जाने के बाद सूखी मूली का यूष अथवा कुलथी के यूष में कटुद्रव्य या अम्लद्रव्य या क्षारद्रव्य या नमक मिलाकर, पुराने चावल का भात बनाकर खिलावे और खाने के बाद खट्टा मट्ठा या तक्रारिष्ट या मदिरा आदि पिलावे।

६ अग्निमान्द्यज रोगो मे मधूकासव, दुरालभासव, मूलासव, पिप्पलासव, मध्वरिष्ट, पिप्पलीमूलादि चूर्ण, क्षारघृत और क्षारगुटिका (सभी च० चि० अ० १५) का प्रयोग लाभकर होता है।

औषध-प्रयोग

१. भोजन करने के पहले आर्द्रक की कतरन सेंधानमक के साथ चबाकर खानी चाहिए, क्योंकि अग्निमान्द्य कफ-प्रधान रोग है और आर्द्रक उष्णवीर्य होने से कटुरसयुक्त तथा रूक्ष होने से कफज विकारनाशक और अग्निसन्दीपन, रुचिकारक, जीभ एव कण्ठ का शोधन करनेवाला होता है[1]।

२. रुचि के अनुसार सिरका और आर्द्रक को समभाग मे मिलाकर खाने से अग्निमान्द्य नष्ट हो जाता है।[2] आर्द्रक के साथ हरी मिर्च, धनिया की पत्ती, पके टमाटर, पतली मूली, नीबू का रस और नमक मिलाकर सलाद बनाकर भोजन के साथ लेना भोजन मे रुचि उत्पन्न करता है।

३ पित्तप्रधान अग्निमान्द्य मे सितोपलादि चूर्ण अथवा यवानीषाडव चूर्ण का प्रयोग करना हितकर होता है।

४ वातप्रधान अग्निमान्द्य मे शिवाक्षारपाचन चूर्ण का प्रयोग उत्तम है। इसी तरह सामुद्रादि चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण एव अग्निमुख चूर्ण और जीरकादि चूर्ण का प्रयोग श्रेयस्कर है।

५. अनुभव के आधार पर हम यह कह सकते है, कि जैसे बन्द ताले मे चाभी लगाकर उसे खोल दिया जाता है, उसी प्रकार बन्द क्षुधा को अग्नितुण्डी वटी की यथोचित मात्रा खिलाकर खोला जा सकता है। दिन मे ३ बार, १२५ मि० ग्रा० से २५० मि० ग्रा० की १ मात्रा मधु से दे।

६ इस अधिकार की प्रसिद्ध औषधो मे चित्रकादि वटी, हिंग्वादि वटी, शखवटी, रसोनादि वटी, सजीवनी वटी, अग्निकुमार रस आदि उल्लेख्य हैं।

---

१ भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्।
अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्॥ भा० प्र०

२. समशुक्तार्द्रकमात्रा मन्दे वह्नौ। अ० ह० उ० ४०।५५

व्यवस्था-पत्र

१ ४–४ घण्टे पर दिन मे ३ बार

अग्नितुण्डी वटी ५०० मि० ग्रा०
शख भस्म १ ग्राम
रामबाण रस ५०० मि० ग्रा०
सजीवनी वटी ५०० मि० ग्रा०

योग—३ मात्रा

मधु से।

२ भोजन के ५ मिनट पूर्व

हिंग्वादि वटी २ गोली

चूसना। १ मात्रा

३ भोजन के साथ

यवानीषाडव चूर्ण ५ ग्राम से १० ग्राम तक

४. भोजनोत्तर २ बार

द्राक्षासव २५ मि० ली० की १ मात्रा

५ रात मे सोते समय

अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम

१ मात्रा

उष्णोदक से।

अथवा

शिवाक्षार पाचन चूर्ण ५ ग्राम

या

वैश्वानर चूर्ण ५ ग्राम
उष्णोदक से।

आहार या पथ्य

अग्निमान्द्य में लघु आहार द्रव्य देने चाहिए, जैसे पुराने लाल अगहनी के चावल का बना मण्ड या भात, धान के लावा का मण्ड, मूग का यूष, बथुआ, कच्ची मूली, लहसुन, सहिजन, परवल, बैंगन, करेला, आँवला, अनार, बिजौरा नीबू, अदरख, नमक, धनियाँ, जीरा, तक्र और कटु तथा तिक्त रसयुक्त द्रव्य पथ्य हैं।

अपथ्य

मल-मूत्रादि के वेगो को रोकना, तीक्ष्ण विरेचन, अध्यशन करना, रात्रिजागरण, विषमाशन, उडद या चावल आदि के आटे से बने पदार्थ, जामुन, आलू, विरुद्ध एव असात्म्य, दुर्जर और भारी पदार्थो का सेवन अपथ्य है।

विहार

अग्निमान्द्य कफप्रधान रोग है, अत इसमे कफ को घटानेवाला ही उपचार करना हितकर होता है। इस दृष्टि से अग्निमान्द्य मे व्यायाम का विशेप महत्त्व है। जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए व्यायाम एक वहुत उपयोगी प्रक्रिया है। जो व्यक्ति आलसी और आरामतलव, सुखी, सम्पन्न और विलासी होते हैं, वे प्राय अग्निमान्द्य से होनेवाले लक्षणो या उपद्रवो के शिकार होते हैं। जो लोग वैठकर काम करनेवाले होते हैं और शारीरिक श्रम नही करते, वे प्राय॰ अग्नि के मन्द होने की शिकायत करते हैं। अत॰ उक्त वातो पर ध्यान देने से श्रम का महत्त्व जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए मान्य है।

वैठे-ठाले लोग अग्निमान्द्य से ग्रस्त होकर अविराम रूप से रुग्ण का जीवन व्यतीत करने के लिए मजवूर हो जाते हैं। जैसा कि आचार्य चरक ने कहा है— १ श्रोत्रिय (वैदिक ब्राह्मण), २ राजा का नौकर, ३. वेश्या और ४ दूकानदार, ये चार सदा रोगी रहते हैं, क्योकि श्रोत्रिय लोग अध्ययन, व्रतपालन, नित्यकर्म, यज्ञ-हवन आदि मे सलग्न रहने के कारण शरीर के हित का चिन्तन नही कर पाते हैं। राजसेवक सदैव राजा या स्वामी के अनुकूल आचरण करने मे संलग्न रहने के कारण स्वय के देह का हित-चिन्तन नही करता है। वेश्यायें दूसरो की इच्छा के अनुकूल अपने को सजाने सवारने मे और उन्हे प्रसन्न करने मे तल्लीन रहने से अपने शरीर के स्वास्थ्य के विपय मे नही सोचती हैं और वणिक विक्री खरीद के लोभ मे लगातार वैठे रह जाते हैं तथा अपने देह के हित की क्रियाओ के प्रति असावधान रहने से रोगी वन जाते हैं। इस प्रकार ये चार तरह के लोग सदा आतुर (रोगी) होते हैं।[1]

अग्नि को समृद्ध वनाने के उपायो मे व्यायाम का स्थान प्रथम है, क्योकि व्यायाम करने से शरीर मे हलकापन होता है, किसी कर्म के करने मे उत्साह और सामर्थ्य होता है, शरीर मे स्थिरता तथा कष्ट सहन की शक्ति आती है। दोषप्रकोप का नाश और अग्नि की वृद्धि होती है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट आदि ने व्यायाम की अनिवार्य उपयोगिता का विशेष वर्णन किया है।[2]

---

१ सदातुरा श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभि ॥
द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधाद्बहुचिन्तनाद्भयात् ॥
नृचित्तवर्तिन्युपचारतत्परा मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना।
सदाऽऽसनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविन ॥ च० सि० ११।२७ २९

२ (क) लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दु खसहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ च० सू० ७।३२

(ख) दीप्ताग्नित्वमनालस्य स्थिरत्व लाघवं मृजा।
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परम व्यायामादुपजायते ॥ सु० चि० २४।३९-४०

(ग) अ० हृ० सू० २।१०

जब भी भूख लगे वही भोजन का काल है, इसलिए भूख लगने पर भोजन कर लेना चाहिए।[1]

अजीर्ण की स्थिति मे भोजन का परित्याग कर देना चाहिए। दुर्बल और अग्निमान्द्य वाले को अग्नि की दीप्ति के लिए चौबीस घण्टे में एक बार अन्न खाने को देना चाहिए।[2]

आचार्य चरक ने भोजन सम्बन्धी विशिष्ट नियमो को 'आहारविधि विशेषायतन'[3] कहा है और भोजन के सम्बन्ध मे उनका विचार करना आवश्यक बतलाया है।

इसके अलावे आहार-विधि-विधान[4] मे यह कहा गया है, कि भोजन गरम होना चाहिए, स्निग्ध होना चाहिए, अपनी पाचनशक्ति के उपयुक्त मात्रा मे होना चाहिए, मनपसन्द स्थान मे मनपसन्द आहार पदार्थ को बहुत जल्दी या बहुत विलम्ब कर नही खाना चाहिए, खाते हुए हँसना या बोलना ठीक नहीं है और सबसे अधिक ध्यान देने की बात है, कि भोजन करते समय मन को खाने मे ही लगाना चाहिए तथा अपनी रुचि आदि के अनुरूप ही भोजन करना चाहिए।

अग्निमान्द्य मे उष्ण जल पीना चाहिए, क्योकि वह अग्नि को प्रदीप्त करता है, तथा कफ, मेदोदोष और वातप्रकोप तथा कास-श्वासनाशक है।[5]

अजीर्ण

(Indigestion)

परिचय

खाये हुए भोजन का ठीक ढग से न पचना 'अजीर्ण' है। जठराग्नि की मन्दता से भोजन का परिपाक नही होता है और इस भोजन की अपरिपक्वता को अजीर्ण कहा जाता है। होता यह है कि भोजन जब नही पचता तो उस अपक्व अन्नपान को आम[6] कहते हैं। एक तरह से अजीर्ण आम का पर्याय है। इस आम (अध-कचरे) आहारपाक से बहुत कम मात्रा मे अन्नरस का निर्माण होता है और अधिक अंश मे किट्ट बन जाता है तथा किट्ट से वायु की वृद्धि होने से पाचन-प्रणाली की

---

१ भोजनस्य कालं मुनयो बुभुक्षां वदन्ति तृष्णामपि पानकालम्। का[illegible]० भो० कल्प [illegible]

२. एककालं भवेद्देयो दुर्बलाग्निविवृद्धये। सु० उ० ६४।६[illegible]

३. अष्टौ खल्विमान्याहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि। च० वि० १।२१

४ उष्ण, स्निग्ध, मात्रावत्, जीर्णे, वीर्याविरुद्धम्, इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरण, नातिद्रुत, नातिविलम्बित, अजल्पन्, अहसन्, तन्मना भुञ्जीत, आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्। च० वि० १।२४

५ श्लेष्ममेदोऽनिलामघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम्।
श्वासकासज्वरहरं पीतमुष्णोदकं सदा॥ सु० सू० ४५।३९

६ [illegible]
[illegible]

अग्रिम गतिविधियाँ भी अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। जब अन्नरस से रसादि धातुओ का निर्माण होता है, तो वहाँ भी आकर वह अन्नरस धातुओ के किट्टस्वरूप कफ तथा पित्त की वृद्धि करता है। इस तरह अजीर्ण अथवा आमदोषो को प्रकुपित कर बढा देते हैं। इसलिए अजीर्ण रोगसमूह का मूल कहा गया है।[1]

अजीर्ण, जीर्ण का अभाव है, उसे जानने के लिए जीर्ण का लक्षण जानना आवश्यक है—

डकार का विकाररहित आना (अर्थात् कच्ची डकार या अम्ल आदि विकृत डकार न आना) शरीर और मन मे सबलता तथा कार्य करने का उत्साह होना, मल-मूत्र का त्याग वेगसहित और यथोचित रूप से होना, शरीर मे और विशेषकर कोष्ठ मे हलकापन प्रतीत होना और भूख-प्यास का यथासमय अनुभव होना, ये जीर्णाहार[2] के लक्षण होते हैं।

जब अजीर्ण होता है, तब मन अप्रसन्न रहता है, मुख मलिन और धूमिल होता है, शरीर तथा कोष्ठ में भारीपन होता है, कोष्ठ मे जकडाहट होती है, चक्कर आता है, वायु की गति अवरुद्ध या विलोम हो जाती है, मल का विबन्ध होना अथवा मल की अति प्रवृत्ति होना, ये सब लक्षण होते हैं।[3]

अजीर्ण का निदान

१. उपवास करना।
२ अजीर्ण होने पर भी भोजन करना।
३. अधिक भोजन करना।
४. कभी अधिक, कभी अल्प तथा अनियमित भोजन करना।
५. प्रकृति देश-काल के विपरीत असात्म्य भोजन करना।
६ अतिगुरु भोजन करना।
७. अतिशीत भोजन करना।
८ अतिरूक्ष भोजन करना।
९ संयोग, मात्रा आदि के विरुद्ध भोजन करना।
१०. वमन का हीन, मिथ्या या अतियोग होना।
११ विरेचन का हीन, मिथ्या या अतियोग होना।
१२ स्नेहपान का सम्यक् योग न होना।
१३ देश-विषम आहार होना।

---

१. अनात्मवन्त पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणत।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥ मा० नि०

२ उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गौ यथोचित।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्॥ मा० नि०

३ ग्लानिर्गौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढता।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम्॥ मा० नि०

१४ कालविषम आहार होना।
१५ ऋतुविषम आहार होना।
१६ मल-मूत्रादि वेगों को रोकना।[१]
१७ [illegible] पदार्थ या जल का अधिक पीना।
१८ [illegible] में सोना।
१९. रात में जागरण करना।
२०. कष्टप्रद शय्या का होना।
२१ ईर्ष्या करना।
२२. भय खाना।
२३ क्रोध करना।
२४ लोभ करना।
२५ रोगपीड़ित होना।
२६ मन में दीनता का भाव होना।
२७ द्वेष होना।[२]
२८ चिन्ताग्रस्त होना।
२९ शोकातुर होना।

इत्यादि शारीरिक तथा मानस कारणों से अजीर्ण हो जाता है और किये हुए भोजन का सम्यक् पाक नहीं हो पाता है।[३]

अजीर्ण के सामान्य लक्षण

१ मल या अन्न का कोष्ठ में रुका रहना।
२ मल-विबन्ध या मल की अतिप्रवृत्ति होना।

८ शिरःशूल होना।
९. मूर्च्छा होना।
१०–११ पृष्ठ और कटि मे जकडन।
१२ जम्भाई आना।
१३. अगो मे वेदना होना।
१४–१५ प्यास लगना तथा ज्वर होना।
१६ वमन होना।
१७ बार-बार शौच लगना।
१८ भोजन मे अरुचि होना।
१९ भोजन का पचना आदि लक्षण अजीर्ण के सूचक होते हैं।[1]

अन्नविष के लक्षण

नही पचे हुए अन्न को अन्नविष कहा गया है। यह भयकर आमविष है। यह अजीर्ण का एक स्वतन्त्र ही प्रकार है। यह जिस धातु या मल या दोष से सयुक्त होता है, उसी के अनुसार लक्षणो को प्रकट करता है। जैसे—

पित्तसंसृष्ट अन्नविष—यह दाह, प्यास, मुख के रोग, अम्लपित्त और अन्य पित्तज रोगो को उत्पन्न करता है।

कफसंसृष्ट अन्नविष—यह राजयक्ष्मा, पीनस, प्रमेह तथा कफज रोगो को उत्पन्न करता है।

वातसंसृष्ट अन्नविष—यह अनेक वातज रोगो को उत्पन्न करता है।

मूत्रसंसृष्ट अन्नविष—यह मूत्राशय मे पहुँच कर मूत्र सम्बन्धी विकार उत्पन्न करता है।

मलसंसृष्ट अन्नविष—यह अनेक प्रकार के उदर रोगो को उत्पन्न करता है।

रस-रक्तादि धातुसंसृष्ट अन्नविष—यह रसादिगत अनेक रोगो को उत्पन्न करता है।[2]

---

१. (क) विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता।
अजीर्णलिङ्गं सामान्यं विष्टम्भो गौरवं भ्रम ॥ अ० हृ० सू० ८

(ख) तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भ सदनं तथा।
शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रम पृष्ठकटिग्रह ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दि प्रवाहणम्।
अरोचकोऽविपाकश्च ॥ च० चि० १५।४५–४६

२ घोरमन्नविषं च तत्।
संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान् ॥
जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान्।
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान् कफसङ्गतम् ॥
करोति वातसंसृष्ट वातजांश्चापरान् गदान्।
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद् गतम् ॥
रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद् रोगान् रसादिजान् ॥ च० चि० १५।४७–४९

अजीर्ण की संप्राप्ति

जब आहार-विहार तथा मानसिक कारणो से जठराग्नि मन्द हो जाती है, तो आहार का सम्यक् पाचन नही होता और अजीर्ण हो जाता है। अजीर्ण रोग का कारण कफ और वातदोष की वृद्धि है। कफ की वृद्धि होने पर पाचक रसो के साथ जलाश की अधिकता के कारण उनकी पाचन-क्षमता घट जाने पर आहार का पाक न होने से अजीर्ण हो जाता है।

अजीर्ण के भेदो की अलग-अलग सप्राप्ति—

१ आमाजीर्ण—कफ के प्रभाव से माधुर्य को प्राप्त आमाशयगत अन्न को आमाजीर्ण कहते है। कफ की अधिकता होने पर आमाजीर्ण होता है। जब कफ की वृद्धि होती है, तो आमाशयिक क्लेदक कफ की भी वृद्धि हो जाती है तथा उसके जलीयाश की वृद्धि से आमाशयिक अम्लरस का स्राव अल्प एव दुर्बल होता है। क्षारीय स्राव भी अल्प तथा दुर्बल होते है। इस प्रकार रसो का सन्तुलन ठीक न होने से अन्न का सम्यक् पाक नही होता। एवञ्च कफ का अधिक मिश्रण होने कारण अन्न के अविपक्व रह जाने मे आमाजीर्ण की उत्पत्ति होती है।

२. विदग्धाजीर्ण—पित्त के कारण अम्लता को प्राप्त आहारभूत अन्न विदग्धाजीर्ण कहलाता है। जब पित्त का सजातीय अम्लरस अधिक स्रवित होता है और क्षारीय नि स्राव अपेक्षाकृत कम होता है। तो आहार का सम्यक् पाक न होने से उसके अर्ध-पक्व होने पर विदग्धाजीर्ण की उत्पत्ति होती है।

३ विष्टब्धाजीर्ण—वायु की वृद्धि होने पर सभी स्रावो की कमी और उनकी अव्यवस्थित मात्रा होने से अन्न का परिपाक कुछ ही अश मे होता है और उदर मे सूई चुभाने जैसी पीडा तथा शूल होता है एव वायु की रुकावट होती है। अन्न कुछ समय रुककर पचता है, जिससे पेट मे आवाज होती है, गैस बनती है और शौच का झूठा वेग अनेकश अनुभूत होता है, इस स्थिति को विष्टब्धाजीर्ण कहते हैं।[1]

४ रसशेषाजीर्ण[2]—आचार्य जेज्जट ने रसशेष का 'रसाय शेष. रसशेष' यह विग्रह किया है। 'रस' शब्द से 'रस का आश्रय द्रव्य' लिया जाता है। जिससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि 'आहारद्रव्य के अधिकाश भाग का पाचन हो जाने पर भी कुछ अश का अपाचित रह जाना 'रसशेषाजीर्ण' है। आचार्य गदाधर ने 'रसे शेष रसशेष' यह विग्रह किया है और उनके अनुसार—आहारजनित रस के अन्दर आहार के अपरिपक्व अश का रह जाना 'रसशेषाजीर्ण' है।

इस अजीर्ण की विशेपता यह है कि डकार शुद्ध आने पर भी भोजन करने की

१ माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञ विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्।
किञ्चिद् विपक्व भृशतोदशूलं विष्टब्धमानद्धनिरुद्धवातम्॥ सु० सू० ४६।५०९

२. उद्गार शुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य।
रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम्॥ सु० सू० ४६।५०३

इच्छा नही होती है, छाती और उदर प्रदेश मे भारीपन मालूम होता है तथा मुख से लार टपकता रहता है।

५ दिनपाकी अजीर्ण—स्वाभाविक स्वस्थता मे भोजन का पूर्ण पाक एक अहोरात्र (२४ घण्टे) मे होता है, किन्तु अधिक मात्रा मे भोजन करने से, असमय मे भोजन करने से अथवा सात्म्य के विपरीत भोजन करने से उसका परिपाक निश्चित समय मे न होकर अगले दिन होता है, उसे 'दिनपाकी अजीर्ण' कहते है।

इस कथन का तात्पर्य यह है, कि जब तक पूर्व का आहार न पच जाये, तब तक पुन भोजन नही करना चाहिए।

६ प्राकृत अजीर्ण—भोजन करने के पश्चात् जब तक वह पच नही जाता है, तब तक अपरिपक्व आहार अजीर्ण की स्थिति मे रहता है, वही 'दिनपाकी अजीर्ण' कहलाता है। यह रोगजनक नही है अपितु स्वाभाविक है, जो सबको ही रहता है। इस प्रकार प्राकृत रूप मे सब मे पाये जाने के कारण इसे 'प्राकृत अजीर्ण' कहते हैं।

इस प्रकार अजीर्ण के आठ भेद कहे गये हैं—

१. आमाजीर्ण २. विदग्धाजीर्ण ३ विष्टब्धाजीर्ण ४ रसशेषाजीर्ण ५ दिनपाकी अजीर्ण ६ प्राकृत अजीर्ण ७. अन्नविष अजीर्ण और ८ लीन आम।
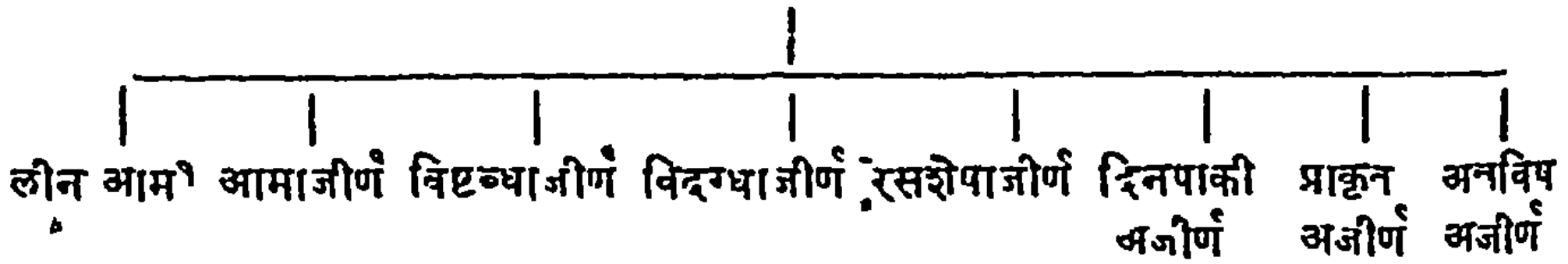
८ लीन आमाजीर्ण—कभी-कभी अजीर्णारम्भक दोष से युक्त आम (अपक्व अन्न) अति अल्प होता है और वह लीन होता है, वह दोषान्वित आम जठराग्नि के मार्ग को आच्छन्न नही कर पाता, तब अजीर्ण होने पर भी (झूठी) भूख लगी रहती है। जिसके परिणामस्वरूप मन्दबुद्धि पुरुष प्रज्ञापराधवश अन्नपान का सेवन करता है, इससे आम की वृद्धि होकर आम विष-सदृश हो जाता है और वह लीन आम विष के समान मारक हो जाता है।

सामान्य संप्राप्ति—

(१) निदान

---
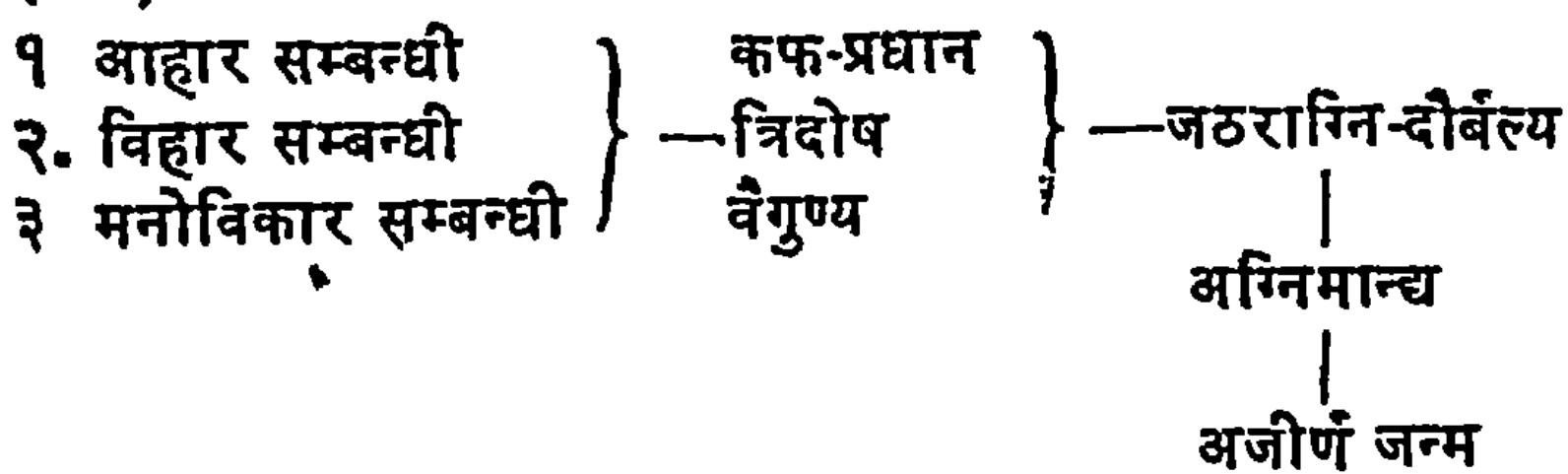
१ स्वल्प यदा दोषविबद्धमाम लीन न तेन पथमावृणोति।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धि विषवन्निहन्ति॥ सु० सू० ४६।५२०

(२) निदान

कफवृद्धि—आमाशयिक पाक का मधुरीभाव
|
अग्निमान्द्य
|
आमाजीर्ण

(३) निदान

पित्तह्रास—क्षुद्रान्त्र या ग्रहणी मे आहार का अम्लविपाक
|
अग्निमान्द्य
|
विदग्धाजीर्ण

(४) निदान

वातवृद्धि—पक्वाशय मे आहार का कटुविपाक
|
अग्निमान्द्य
|
विष्टब्धाजीर्ण

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—
दोष—कफप्रधान त्रिदोष, पित्तोष्मा का ह्रास ।
दूष्य—जठराग्नि, रस ।
अधिष्ठान—अन्नवहस्रोतस, आमाशय, पक्वाशय ।

अजीर्ण के विशेष लक्षण[1]

आमाजीर्ण मे—१ शरीरगुरुता २. वमनेच्छा ३ कपोलशोथ ४ अक्षिकूटशोथ ५ भोजन के अनुसार अविदग्ध डकार आना, ये लक्षण होते हैं ।

विदग्धाजीर्ण मे—१ चक्कर आना २ तृष्णा ३ मूर्च्छा ४ ओष-चोष आदि ५ सधूम अम्ल डकार ६. स्वेद और ७ दाह, ये लक्षण होते हैं ।

विष्टब्धाजीर्ण मे—१ शूल, २ आध्मान ३ विविध वात वेदना ४ मलावरोध ५. अधोवायु न निकला ६ स्तब्धता ७ मूर्च्छा ८ अगो मे पीडा होना, ये लक्षण होते हैं ।

---

[1] तत्रामे गुरुतोत्क्लेद शोथो गण्डाक्षिकूटग. ।
उद्गारश्च यथामुक्तमविदग्ध प्रवर्तते ॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छा पित्ताच्च विविधा रुज ।
उद्गारश्च सधूमाम्ल स्वेदो दाहश्च जायते ॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदना ।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥
रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे । मा० नि० अजीर्ण

रसशेषाजीर्ण में—१ अन्न से द्वेष (अरुचि) २. हृदगौरव और ३. हृदयाशुद्धि ये लक्षण होते हैं।

अजीर्ण के उपद्रव[1]

मूर्च्छा, प्रलाप, मुख से पानी छूटना, वमन की प्रवृत्ति होना, अगों में थकावट होना और शिर मे चक्कर आना, ये अजीर्ण के उपद्रव होते हैं। अतिप्रवृद्ध अजीर्ण में मृत्यु भी हो सकती है।

गणनाथ सेन जी ने भ्रम, मूर्च्छा, ज्वर, वमन, शूल, अलसक और अतिसार होना, इन सातो को अजीर्ण का उपद्रव बतलाया है।

अजीर्ण का दीर्घकालिक उपद्रव[2]

'आमदोष' शरीर के जिस भाग मे रहता है, वहाँ स्थित दोषो के ससर्ग से अनेकविध रोगो से पीडित करता है। आम दो प्रकार का होता है—१ आम अन्न और २. आमरस। आम अन्न से महास्रोतगत 'विसूचिका' आदि रोग होते हैं तथा आमरस से 'आमवात' आदि सर्वशरीरव्यापी रोग होते हैं।

विदग्धाजीर्ण और अम्लपित्त का सापेक्ष निदान

अम्लपित्त[3]	विदग्धाजीर्ण
१ वात-कफानुगत पित्तप्रधान व्याधि	१ केवल पित्तज विकार
२ तिक्त+अम्ल उद्गार	२. सधूम-अम्ल उद्गार
३ हृत्कण्ठदाह	३. सभाव्य है
४. उत्क्लेश	४ हो सकता है
५ अधोग प्रवृत्ति	५ आवश्यक नही
६ अरुचि	६ अरुचि
७. अविपाक	७ अविपाक
८ भ्रम	८ हो सकता है
९. तृष्णा	९. सम्भावित
१० मूर्च्छा	१०. सम्भावित
११ गौरव	११. ×
१२ कम्प आदि	१२. ×

१. मूर्च्छा प्रलापो वमथु प्रसेक सदनं भ्रम।
उपद्रवा भवन्त्येते मरण चाप्यजीर्णत॥ सु० सू० ४६

२ भ्रमो मोहो ज्वरश्छर्दि. शूलश्चालसकस्तथा।
अतीसारश्च सप्तैते अजीर्णोपद्रवा स्मृता॥ सि० नि०

३. अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवै.।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद् भिषक्॥ मा० नि०

चिकित्सा-सूत्र

(१) आमाजीर्ण मे—

१. सामान्यत· आमजन्य सभी विकारो मे अपतर्पण अर्थात् उपवास कराना या लघु भोजन देना उपयुक्त होता है।

२ उक्त अपतर्पण का अच्छी तरह विचार कर तीन प्रकार से प्रयोग करना चाहिए, क्योकि आमदोष—१ अल्प, २ मध्य और ३ तीव्र भेद से तीन तरह का होता है। जैसे—

३ यदि आमदोष स्वल्प हो, तो उपवास पथ्य (हितकर) है।

४ यदि आमदोष मध्य हो, तो उपवास के साथ-साथ पाचन औषध भी खिलानी चाहिए।

५ यदि आमदोष तीव्र हो, तो वमन और विरेचन से सशोधन करना चाहिए। शोधन मलो का मूल से उन्मूलन करता है[1]।

(२) विदग्धाजीर्ण[2] मे—

१ वमन कराकर दोष-शुद्धि करनी चाहिए, अन्यथा विकृत अम्लरस शरीर मे रहकर कुष्ठ आदि उत्पन्न करता है।

२. अपक्व भुक्तान्न के पाचनार्थ कतिपय आचार्यों ने 'लघन' का उपदेश किया है।

३. 'शीतल जल'[3] पिलाना चाहिए। वार-बार थोडी मात्रा मे जल पिलाते रहने से विदग्ध अन्न का परिपाक हो जाता है। जल अपने शीत गुण से उष्णगुणयुक्त पित्त का शमन करता है और द्रव गुण के कारण पित्त के 'सर' गुण मे सहयोग देकर पित्त को नीचे मलमार्ग की ओर ले जाता है।

(३) विष्टब्धाजीर्ण मे—

१. वायु का प्रकोप होता है, अत वायु के अनुलोमन का प्रयत्न करना श्रेयस्कर होता है। जैसे—

२. हाट वाटर वैग मे गरम जल भरकर उदर प्रदेश का स्वेदन करना चाहिए या बोतल मे गरम पानी भरकर मजबूत काग और ढक्कन लगाकर पेट का 'स्वेदन' करना चाहिए।[4]

---

१. शान्तिरामविकाराणां भवति त्वपतर्पणात् ॥
त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत्।
तत्राल्पे लङ्घन पथ्य, मध्ये लङ्घनपाचनम् ॥
प्रभूते शोधनं तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान्। अ० हृ० सू० ८।२०–२२

२ (क) विदग्धे वमन यद्वा लङ्घनं शिशिरोदकम्।
(ख) विदग्धे वमन यद्वा यथावस्थ हितं भुजेत्। अ० हृ० सू० ८।२७

३ अन्नं विदग्धं हि नरस्य शीघ्र शीताम्बुना वै परिपाकमेति।
तद्ध्यस्य शैत्येन निहन्ति पित्तम् आक्लेदिभावाच्च नयत्यधस्तात् ॥ सु० सू० ४६।५१०

४ (क) विष्टब्धे स्वेदन भृशम्। अ० हृ० सू० ८।२७
(ख) विष्टब्धे स्वेदनं वर्त्यो लवणोष्णाम्बु शस्यते। खरनाद

३. दिन मे रोगी को सुलाना चाहिए।
४ अवरुद्ध वायु को प्रवृत्त कराने के लिए गुदवर्ति लगावे।
५. गरम जल मे नमक मिलाकर पिलाना चाहिए।

(४) रसशेषाजीर्ण मे[1]—

१ रोगी को पूर्ण विश्राम के साथ शयन कराना चाहिए।
२ उदर-प्रदेश पर स्वेदन कराना चाहिए।
३. पाचन द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।
४ लघन करावे।

वक्तव्य—जब आमदोष से अग्नि मन्द हो गई होती है तो वह दोष, औषध और भोजन को पचाने मे समर्थ नही होती। इसलिए अजीर्णी को भीषण वेदना होने पर भी शूलघ्न औषध नही देनी चाहिए, क्योकि उसका पाचन तो होता नहीं है, उल्टे वह अपक्व रहकर आम की वृद्धि ही करती है और उसका उपद्रव रोगी को मार सकता है[2]।

चिकित्सा-सूत्र

१ सभी तरह के अजीर्णो मे सोठ, मरिच, पीपर समभाग मे लेकर चटनी की तरह बारीक पीस ले और एक द्रव्य के अष्टमाश हीग तथा सेंधानमक मिलाकर पुन पीसकर सुखोष्ण कर उदर पर लेप कर रोगी को शान्त स्थान में सुखद शय्या पर सुलाना चाहिए।

२. दीपन-पाचन औषधो का प्रयोग करे और हलका भोजन दे।

३ यदि भोजन करना हो, तो भोजन के तुरन्त पूर्व आर्द्रक की पतली कतरन मे जम्बीर रस या कागजी नीबू का रस, सेंधानमक, लहसुन के टुकडे, हरी धनिया की पत्ती, भुनी हीग और भुने जीरे का चूर्ण रुचि के अनुसार मिलाकर खाना चाहिए।

४ यदि लघन करना हो, तब आर्द्रक और नमक चूसना चाहिए। इसी प्रकार यवानीषाडव चूर्ण या लवणभास्कर थोडी मात्रा मे चूसना चाहिए। इससे रुचि, आम-पाचन और अग्नि का दीपन होता है।

५. पीपर, भुनी छोटी हरें और सोठ के समभाग चूर्ण मे पचमाश सेंधानमक मिलाकर खाने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा अपक्व अन्न का पाचन होता है।

६ उपवास के बाद जब भोजन करना अभीष्ट हो तो रोगी की रुचि का ध्यान रखते हुए नमकीन मे मूग का यूष, परवल, करेला, आंवला, आर्द्रक आदि तथा मधुर में मण्ड, पेया, धान के लावा का लाजमण्ड, बार्ली आदि देना चाहिए।

---

१ (क) रसशेषे दिवास्वाप लङ्घन वातवर्जनम्। यो० र०
(ख) रसशेषे शयीत च। भा० प्र०

२ आमदोषदुर्बलो हि अग्नि नयुगपद् दोषमौषधमाहारजात च शक्त पक्तुम्। अपि च आमप्रदोष आहार-औषधविभ्रमोऽतिबलत्वात् उपरतकायाग्नि सहसा ग्वातुरमबलमतिपातयेत्।
च० वि० अ० २

७ यदि प्रातःकाल में अजीर्ण की आशंका हो, तो कुछ देर और सोना चाहिए अथवा भुनी छोटी हर्रे का चूर्ण और सोंठ का चूर्ण २-२ ग्राम तथा १ ग्राम सेंधानमक मिलाकर ठण्डे जल से खाना चाहिए।

अजीर्णनाशक प्रमुख औषधयोग

चूर्ण—पथ्यादि चूर्ण, सामुद्रादि चूर्ण, हिंग्वादि चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, वैश्वानर चूर्ण, अग्निमुख चूर्ण, लवणभास्कर, हिंगुत्रिगुणादि चूर्ण, समशर्कर चूर्ण, अविपत्तिकर चूर्ण, शिवाक्षार-पाचन चूर्ण।

वटी—अग्नितुण्डी वटी, आरोग्यवर्धिनी वटी, चित्रकादि वटी, हिंग्वादि वटी शंख वटी, संजीवनी वटी, भक्तविपाक वटी, लशुनादि वटी।

रस-रसायन—अग्निकुमार रस, पाशुपत रस, क्रव्याद रस, हुताशन रस, अजीर्णारि रस, आदित्य रस, अजीर्ण कण्टक रस, क्षुधासागर रस।

घृत—अग्नि घृत, मस्तुषट्पल घृत, बृहद् अग्नि घृत।

आसव-अरिष्ट—कुमार्यासव, लोहासव, द्राक्षासव, कर्पूरासव।

लाक्षणिक चिकित्सा

(१) आमाजीर्ण में औषध-प्रयोग—

१. वच का चूर्ण और सेंधानमक उचित मात्रा में घोलकर पिलाकर वमन कराना चाहिए। अथवा—

२ पीपर, वच और सेंधानमक का चूर्ण यथायोग्य मात्रा में शीतल जल में मिलाकर पिलाना चाहिए।

३. धनिया और सोंठ १५-१५ ग्राम, १ लीटर जल में पकावे, जब आधा बचे तो छानकर थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिए।

४. यदि प्रातःकाल सोकर उठने पर अजीर्ण का अनुभव हो, तो हरीतकी चूर्ण ३ ग्राम, सोंठ का चूर्ण २ ग्राम और सेन्धानमक १ ग्राम मिश्रित कर ठंडे जल से पिला देना चाहिए। फिर भोजनकाल में हल्का और अल्पमात्रा में भोजन देना चाहिए।

व्यवस्था-पत्र

१. प्रातः-सायं

अजीर्णकण्टक रस	३०० मि० ग्रा०
शंखभस्म	३०० मि० ग्रा०
अग्नितुण्डी वटी	३०० मि० ग्रा०
सितोपलादि चूर्ण	२ ग्राम

योग—२ मात्रा

मधु से।

२ भोजन के तुरन्त पूर्व २ वार
हिंग्वादि या
रसोनादि वटी २ गोली
चूसकर खाना।
३. भोजन के वाद २ वार
चित्रकादि वटी २ गोली अथवा
विडलवणादि वटी २ गोली या भास्करलवण २ ग्राम
जल से।
४ रात मे सोते समय
वैश्वानर चूर्ण ५ ग्राम
१ मात्रा
उष्णोदक से।

(२) विदग्धाजीर्ण चिकित्सा—

१ वार-वार, थोडी थोडी मात्रा मे शीतल जल पीने से अर्धपक्व भोजन का शीघ्र ही पाक हो जाता है। क्योकि जल के योग से पित्त की द्रवता की वृद्धि होती है, जिससे अन्न की गति क्षुद्रान्त्र एव पक्वाशय की ओर हो जाती है।

२ यदि रोगी को भोजन के वाद उदर मे विदाह हो रहा हो, तो हरीतकी चूर्ण, मुनक्का और मिश्री समभाग लेकर मधु मिलाकर चाटना चाहिए।

३. यवानीषाडव चूर्ण ३—३ ग्राम चूसकर खाने से विदाह शान्त हो जाता है।

व्यवस्था-पत्र

१ प्रात, सायं, मध्याह्न
अविपत्तिकर चूर्ण ६ ग्राम अथवा—
शतपत्र्यादि चूर्ण ६ ग्राम
प्रवाल भस्म ३०० मि० ग्रा०
मुक्ताशुक्ति ३०० मि० ग्रा०
योग—३ मात्रा
चीनी मिले नीबू के जल से।
२ भोजनोत्तर २ बार
महाशख वटी ४ गोली
अष्टाङ्ग लवण २ ग्राम
जल से। योग—२ मात्रा
३ रात मे सोते समय
यष्टयादि चूर्ण ३ ग्राम
उष्णोदक से। १ मात्रा

(३) विष्टब्धाजीर्ण चिकित्सा—

१ प्रातः, सायं, मध्याह्न

अग्निमुख चूर्ण ४ ग्राम
हिंग्वादि वटी ४ वटी

उष्णोदक से। योग—३ मात्रा

२. भोजन के पूर्व

गन्धक वटी अथवा—४ गोली
रसोनादि अथवा—४ वटी
हिंग्वष्टक चूर्ण ४ ग्राम

जल से। योग—२ मात्रा

३. भोजनोत्तर

सामुद्रादि चूर्ण ६ ग्राम
अथवा—
चित्रकादि वटी ४ गो०

जल से। योग २ मात्रा

४ रात में सोते समय

आरोग्यवर्धिनी १ ग्राम

गरम जल से। १ मात्रा

(४) रसशेषाजीर्ण चिकित्सा—

१ रोगी उदर पर हींग, सोंठ, पीपर, मरिच और सेंधानमक पीसकर प्रलेपकर, दिन में शयन करे।

२ आहार में थोड़ी मात्रा में दूध और रोटी खाने को देना चाहिए।

३ रोगी को पूर्ण विश्राम की सलाह देनी चाहिए।

व्यवस्था-पत्र

१. प्रातः-सायं

मण्डूर भस्म १ ग्राम
शंखभस्म ४०० मि० ग्रा०
त्रिफला चूर्ण ४ ग्राम

मधु से। योग—२ मात्रा

२ भोजनोत्तर

गन्धक वटी ४ गोली

जल से। २ मात्रा

३ भोजन के पूर्व
यवानीषाडव ६ ग्राम
२ मात्रा
बिना अनुपान।

अजीर्ण मे पथ्य

अनेक प्रकार के व्यायाम, अग्निदीपक लघु आहार तथा कटु एव तिक्त द्रव्यो का सेवन करना चाहिए। पुराना अगहनी चावल, मूग का यूष, लाजमण्ड, बथुआ, कच्ची मूली, सहिजन, परवर, आँवला, आर्द्रक, अजवाइन, कालीमिर्च, मेथी, धनिया, जीरा, गरम जल, सुरा, हिरण, मोर, शशक, लवा, छोटी मछली, घी, नीबू, बिजौरा नीबू आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

तीक्ष्ण विरेचन, मल-मूत्र एव अपानवायु का रोकना, अध्यशन, समशन, विषमाशन, रक्तनिर्हरण, सेम, मटर, मास, अधिक जल पीना, आलू, जामुन, असात्म्य अन्नपान, गुरुद्रव्य, विष्टम्भी द्रव्य, दूषित जल और विरुद्ध आहार आदि अपथ्य हैं।

नवम अध्याय

विसूचिका, अलसक, विलम्बिका, आनाह, आध्मान, प्रत्याध्मान तथा आटोप

विसूचिका
(Cholera)

परिचय

इसे विसूची, विसूचिका, कालातिसार, हैजा और कॉलरा कहते हैं। इसमे चावल के धोवन के रग का सफेद पतला दस्त बिना किसी आयास के आने लगता है और हाथ-पैर की पेशियो मे ऐठन, पिपासा, भ्रम तथा मूत्राघात आदि लक्षण होते हैं।

चरकाचार्य ने ऊपर की ओर मुखमार्ग से वमन के रूप मे और नीचे गुदामार्ग से विरेचन (अतिसार) के रूप मे प्रवृत्त आमदोष को 'विसूचिका' कहा है और उसे वात-पित्त-कफ इन तीनो दोषो के लक्षणो से युक्त बतलाया है।

निदान

जिन-जिन कारणो से अजीर्ण होता है, वे सभी कारण विसूचिका के भी जनक होते हैं। जो व्यक्ति अपने ऊपर नियन्त्रण नही रखते हैं और मूर्खतावश अधिक मात्रा मे भोजन करते हैं, वे विसूचिका से ग्रस्त होते है, क्योकि उनका भोजन नही पचता है, जो आम रहकर वातादि तीनो दोषो को प्रकुपित करता है।[1] इसी प्रकार गुरु, रूक्ष, शीत, शुष्क, अप्रिय, कब्जकारक, विदाही, अपवित्र एव विरुद्ध अन्नपान का अकाल मे सेवन करना भी आमदोष को उत्पन्न करता है। एवञ्च काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-लज्जा शोक-अभिमान-उद्वेग और भय से विह्वल मन या दुःखी मन होकर जो अन्नपान का सेवन किया जाता है, वह भी आमदोषोत्पादक होता है तथा चिन्ता-शोक-दुःखद शयन और जागरण के कारण हितकर अन्न भी खाने पर नही पचता है।[2] सुश्रुत ने भी 'आम' को विसूचिका का जनक कहा है।[3]

---

१ (क) अनात्मवन्तः पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ मा० नि०

(ख) न ताः परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥ सु० उ० ५६

२ न च खलु केवलमतिमात्रमेवाहारराशिमामदोषकरमिच्छन्ति, अपि तु खलु गुरुरूक्षशीत-शुष्कद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धानामन्नपानानामकाले चोपसेवनं, काम क्रोध लोभ-मोहेर्ष्या ह्री शोक मानोद्वेग भयोपतप्तमनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्यामभेव प्रदूषयति।

तथा च—मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥ च० वि० २।८-९

३ अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम्।
विसूच्यलसकौ तस्माद् भवेच्चापि विलम्बिका ॥ मा० नि०

पचन-सस्थान के जीर्ण विकारो से पीडित व्यक्ति का अनशन, अध्यशन, गुरु भोजन आदि एव आहार का हीनयोग, मिथ्यायोग एव अतियोग करना, मद्यपान करना, बार-बार विरेचनकारक औषधो का प्रयोग करना आदि कारण भी विसूचिका के निदान वन जाते हैं।

आर्द्र जलवायु, उष्णता, आनूपदेश, अपर्याप्त वर्षा आदि भी सहकारी कारण है।

सम्प्राप्ति

जब कोई भोजन-लोलुप पुरुष ठोस आहार को भरपेट खाकर, तुरन्त किसी द्रव आहार या पेयद्रव्य को भी आकण्ठ तृप्तिपर्यन्त पी लेता है, तब उस पुरुष के आमाशय मे स्थित वात-पित्त-कफ ये सभी दोष अधिक किये गये भोजन के कारण पीडित होकर एक साथ ही प्रकुपित हो जाते हैं। प्रकुपित हुए दोष कुक्षि (आमाशय) के एकदेश मे जाकर उस आहार के आश्रित होकर, उस अपक्व आहारराशि को विष्टम्भित करते (रोकते) हुए अथवा सहसा उस आहार को मुख और गुदा मार्ग से बाहर निकालते हुए विसूचिका रोग को उत्पन्न करते है।

नव्यमतानुसार निदान-सम्प्राप्ति

१. इस रोग का प्रमुख कारण एक जीवाणु है, जो अर्धविराम चिह्न (कॉमा ,) के समान होता है, अत इसे कॉमा वैसिलस (Coma Bacillus) कहते हैं। जो आहार जीवाणुओ से दूषित एव सक्रमित होता है, उस आहार के खाने से विसूचिका की उत्पत्ति होती है। मेलो या भीड-भाडवाले विविध भोज के अवसरो पर खाद्य-पेय सामग्रियो का उचित प्रकार से सरक्षण न करने से मक्खियो के वैठने से वे पदार्थ दूषित हो जाते है। ये जीवाणु रोगी के मल एव वमन मे पर्याप्त सख्या मे रहते हैं और मक्खियाँ मल एव वमन पर वैठकर फिर खाद्यान्नो पर भी बैठती है, तो उनके द्वारा जीवाणुओ का खाद्यान्न पर भी सक्रमण हो जाता है तथा उस आहार को ग्रहण करनेवाले व्यक्ति भी रोगाक्रान्त हो जाते हैं।

२ यह रोग अशुद्ध जल वाले स्थान मे फैलता है, क्योकि उन दूषित जलाशयो मे इस रोग के कीटाणु शरण पाते हैं। जिन देशो, प्रदेशो या भूभागो मे नदी, तालाव, पोखरा एव कुँआ आदि खुले स्थानो का जल पीने के उपयोग मे लिया जाता है, वहाँ पर इस रोग के होने की अधिक सभावना होती है।

३ मेला, युद्ध या भीड भी इस रोग को फैलाने मे कारण हैं। जनसमूह वाले स्थान के मल-मूत्रादि के नाशन की उचित व्यवस्था और स्वच्छता न होने से तथा इस रोग के रोगियो के आ जाने से यह रोग फैलता है।

४ वातावरण की आर्द्रता, जल की अवृष्टि या अल्पवृष्टि भी इसके प्रसारक हैं। ग्रीष्म ऋतु के अन्त और वर्षा के आरम्भ और अन्त मे, वगाल, विहार आदि मे अधिकतर विसूचिका हो जाती है।

तत्र मधुकोप 'आमविष्टब्धविदग्धेषु त्रिषु विसूच्यलसकविलम्बिका यथा सङ्ख्यं भवन्ति' इति कार्तिककुण्ड।

५ सक्रमण—रोगी के मल-मूत्र तथा वमन मे असख्य जीवाणु होते हैं। मल और वमन के ससर्ग से दूषित खाद्य-पेय पदार्थों द्वारा रोग का प्रसार होता है। मक्खियाँ मल आदि पर बैठती हैं, जिससे उनके अगो मे जीवाणु लिपट जाते हैं और वही मक्खियाँ फिर भोजन, जल, दूध, शाक, भाजी आदि खाने-पीने की वस्तुओ पर बैठकर जीवाणुओ को सक्रमित कर देती हैं। इस प्रकार स्वच्छता न रखनेवाले नीरोग मनुष्यो पर इस रोग का सहसा आक्रमण हो जाता है।

यात्रियो द्वारा यह रोग एक शहर से दूसरे शहर में पहुँचाया जाता है। इसके जीवाणु वस्त्र पर भी जीवित रह जाते हैं। रोगी के परिचारक मल-मूत्रादि का स्पर्श कर यदि अच्छी तरह हाथ नही साफ करते और गन्दे हाथो से भोजन करने लगते हैं, तो जीवाणु उनके उदर मे पहुँचकर रोग की उत्पत्ति करते है। ये जीवाणु क्वचित् पित्ताशय, उदर्याकला और उदर के अन्य अवयवो मे भी प्रवेश कर जाते हैं।

भारतवर्ष मे पर्वों पर तीर्थस्थानो मे जब लाखो लोग अस्वास्थ्यकर यात्री स्थानो मे इकट्ठा होते हैं, तब वहाँ पर प्राय हैजा उत्पन्न हो जाता है और जब प्रवासी यात्री वहाँ से अपने-अपने गाँव जाते है, तो वे वहाँ रोग का प्रसार करते हैं।

नव्यमतानुसार संप्राप्ति

विसूचिका के जीवाणु अम्ल मे मर जाते हैं और क्षार मे जीवित रहते हैं, इसलिए खाद्य एव पेय पदार्थो के साथ जो जीवाणु आमाशय मे प्रविष्ट होते हैं, वे जठराम्ल से मर जाते है। जब आमाशय मे भोजन रहता है, तो आमाशयिक रस का अम्लस्राव होता रहता हैं, इसीलिए विसूचिका की महामारी के फैलने के दिनो मे भूखा नही रहना चाहिए, अपितु आमाशय मे भोजन का अश रहना चाहिए, जिससे अम्लरस का स्राव होता रहे और वहाँ पहुँचे हुए जीवाणुओ का सहार हो जाया करे।

जब जठराम्ल कम होना है या बहुत पतला होता है, तब जीवाणु आमाशय से क्षुद्रान्त्र मे पहुँचकर वहाँ अपनी सख्यावृद्धि करते हैं, जिससे इनका विष भी बढता जाता है और रक्त मे चूषित होकर पूरे शरीर मे फैल जाता है। अन्त्र मे असख्य जीवाणु मर जाते हैं, जिनके गल जाने से अन्तर्विष बनता है। इस विष के स्थानिक प्रभाव से अन्त्र मे प्रसेक उत्पन्न होकर बहुत अधिक मात्रा मे लसीका का स्राव होने लगता है, जो मल के साथ बाहर निकल जाता है। इससे द्रवापहरण होकर रक्त मे तथा शरीर की अन्य धातुओ मे जलीयाश की कमी हो जाती है। इस विष का प्रभाव अन्त्र के अलावे वृक्क, यकृत्, रक्तवाहिनियो एव हृदय आदि पर पडता है। अतएव विसूचिका मे हाथ-पैर मे ऐंठन, तृषा, अल्पमूत्रता या मूत्राघात, नाडी की क्षीणता और श्वासाधिक्य आदि लक्षण होते हैं। क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग मे रक्ताधिक्य के कारण उसके ऊपर की पर्त छिल जाती है। इस छिली हुई श्लेष्मलकला से शरीर का द्रवाश और लवण अन्त्रो के भीतर आकर मलद्वार से बाहर चले जाते हैं तथा अन्त्र मे स्थित विष का रक्त मे शोषण होता है। यकृत् मे रक्ताधिक्य होता है। पित्ताशय मे गाढे काले रग का जमा हुआ पित्त रहता है। पित्त के गाढेपन और पित्तवाहिनी

के शोथ के कारण अन्त्र मे पित्त का उत्सर्ग नही होता और पित्ताभाव के कारण विसूचिका मे मल का रग सफेद होता है ।

वृक्को मे रक्ताधिक्य होता है तथा शोथ होता है । गुच्छ और नलिकाओ में कुछ स्राव भी होता है, नलिकाओ मे टूटी हुई कोशायें इकट्ठी हो जाती हैं । इस विकृति के कारण वृक्को मे रक्त का सचार ठीक से न होने पर पहले मूत्राघात और बाद मे मूत्रविषमयता (Uremia) उत्पन्न होती है । वमन और अतिसार के होते रहने से रक्त का तरल भाग कम हो जाता है । साधारण विसूचिका में एक तिहाई, तीव्र मे आधा और अतितीव्र प्रकार में दो-तिहाई शरीर का जलीयाश नष्ट हो जाता है, जिससे रक्त की गुरुता (Sp Gravity) स्वाभाविक १०५६ से बढकर १०७८ तक हो जाती है । विष के कारण दुर्बल बना हृदय गाढे रक्त को वृक्क तथा अन्य अगो मे सचालित करने मे असमर्थ होता है, जिससे मूत्राघात और अन्त मे हृद्भेद (Cardiac Failure) भी हो जाता है । रोगी के शरीर मे जलापूर्ति के लिए लवण-जल तथा क्षारीयता को बढाने के लिए सोडा-बाइ-कार्ब सिरा द्वारा प्रविष्ट किया जाता है ।

जलहीनता के कारण फुफ्फुस हलके और शुष्क होते हैं । उनकी रक्तवाहिनियो मे गाढा काला रक्त भरा रहता है । जो रोगी इस रोग से मरते हैं उनके शरीर का ताप मरणोत्तर बढता है । मृत्यु होते ही प्रेतकाठिन्य प्रारम्भ होकर अधिक देर तक रहता है । मृत्यु होने पर भी प्रेत की आँखो मे और हाथ-पैरो मे कुछ हलचल हुआ करती है । विसूचिका की सारी विकृतियाँ उग्र विषमयता के कारण हुआ करती हैं । मृत्यूत्तर परीक्षण करने पर रोगी के अन्त्र, पेशी आदि सभी अग शुष्क एव सकुचित मिलते हैं ।

लक्षण

मूर्च्छा, अतिसार, वमन, पिपासा, शूल, भ्रम, उद्वेष्टन (ऐंठन, जानु से गुल्फ-पर्यन्त सक्थिप्रदेश मे मरोड होना), जम्भाई आना, दाह, विवर्णता, कम्पन होना और शिर मे फटने जैसी वेदना होना, ये विसूचिका के लक्षण हैं ।[1]

चरक ने आमदोष के प्रकोप से त्रिदोषप्रकोप पूर्वक वमन और विरेचन की प्रवृत्ति को विसूचिका कहा है । जिसमे प्रकुपित वात के कारण उदर तथा सर्वाङ्ग मे शूल, आनाह, अङ्गमर्द, मुखशोष, मूर्च्छा, चक्कर आना, अग्नि की विषमता, पसली, पीठ तथा कमर मे जकडन, सिराओ मे आकुञ्चन (सिराओ का टेढी मेढी-कुटिल तथा शोथयुक्त होना, वेरीकोसिस होना) और जकडन होना, ये लक्षण होते हैं ।

पित्त के प्रकोप से ज्वर, अतिसार, उदर के आन्तरिक अवयवो मे दाह, प्यास, मद, भ्रम और प्रलाप होता है ।

---

१ मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः ।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥ सु० उ० ५६।६

कफ के प्रकोप से वमन, भोजन मे अरुचि, अपचन, शीतज्वर, आलस्य और शरीर के सर्वाङ्ग मे भारीपन होता है।[1]

इसमे तीनो दोषो का प्रकोप होने से विविध वेदनाएँ हुआ करती हैं, फिर भी वायु का विशेष प्रकोप शरीर मे अनेक सूइयो के चुभाने जैसी पीडा उत्पन्न करता है, इसलिए इस रोग को विसूचिका कहा जाता है।[2]

अरुणदत्त[3] ने इस व्याधि को विविध विकारो की सूचिका होने के कारण विसूचिका नाम रखना सार्थक बतलाया है।

नव्यमतानुसार लक्षण

इस रोग का सचयकाल कुछ घण्टो से ६ दिनो तक का, प्राय ३ दिनो का और अधिक से अधिक १० दिनो का होता है। महामारी फैलने के दिनो मे ३ दिन से अधिक का सचयकाल नही होता।

सौम्य स्वरूप का आक्रमण होने पर मुख्य लक्षणो के प्रकट होने के पूर्व पित्तयुक्त हरित् वर्ण के पतले दस्त, वमन, मुख से पानी छूटना, थकावट, मूत्राल्पता आदि लक्षण होते हैं। विसूचिका के कारण अकस्मात् पीडारहित अतिसार, मण्ड के समान श्वेत मल, अनायास जलसदृश वमन, दौर्बल्य, नाडी की क्षीणता, पेशियो मे ऐंठन, अगुलियो मे सिकुडन, आँखो का नेत्र-कोटरो मे धँस जाना, वेदनायुक्त आकृति, नखो और ओठो का श्याव वर्ण हो जाना, दाह, बेचैनी, प्यास की अधिकता और मूत्राल्पता आदि लक्षण होते हैं।

इस रोग की तीन अवस्थायें व्यक्त की जा सकती हैं—१. आक्रमणावस्था २ पतनावस्था और ३ प्रतिक्रियावस्था।

१ आक्रमणावस्था—इस रोग का आरम्भ अतिसार से होता है और पानी के समान पतले दस्त आने लगते हैं। पहले पीले रग के, फिर सफेद रग के दस्त बारम्बार होते हैं। मल मे श्लैष्मिककला के परमाणु एपिथेलिया (Epithelia), म्यूकस, असख्य जीवाणु, लालकण और श्वेतकण होते हैं। यह सफेदी लिया हुआ दस्त १०–१५ मिनट के अन्तर से होने लगता है।

---

१ (क) तत्र वात शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषमूर्च्छाभ्रमाग्निवैषम्यपार्श्वपृष्ठकटिग्रहसिराकुञ्चन-स्तम्भनानि करोति।

(ख) पित्तं पुनर्ज्वरातीसारान्तर्दाहतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि (करोति)।

(ग) श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाणि (करोति)। च० वि० २।७

२ सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिल।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते॥ सु० उ० ५६।४

३ (क) विविधाना विकाराणां सूचिका विसूचिका।

(ख) विविधैर्वेदनाभेदैर्वाय्वादिभृशकोपत।
सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति विसूचिका॥ (तन्त्रान्तर वचन)
अ० हृ० सू० ८।७ की टीका

कुछ समय बाद वमन भी होने लगता है। वमन में पहले अन्न का अंश, आमाशयिक रस, फिर क्षुद्रान्त्र के पित्त आदि द्रव निकलते हैं। बाद मे वमन भी पानी की तरह पतला और सफेद निकलने लगता है। नाड़ी दुर्बल किन्तु गति तेज, श्वास-प्रश्वास तीव्र, तृषा, बलक्षय, मूत्राल्पता या मूत्राघात और बाहर मे ठडक तथा भीतर मे उष्णता मालूम होती है। हाथ पैर मे ऐंठन होकर जंघा की पिण्डलियो मे ऐंठन और तीव्र पीडा होने लगती है।

२ **पतनावस्था**—यह अवस्था विरेचन शुरू होने के ४ से ८ घण्टा बाद आरम्भ होती है। क्वचित् २४ घण्टे बाद शुरू होती है। इस अवस्था मे वमन और अतिसार जारी रहते हैं। शरीर मे जलांश की कमी होने से हाथ-पैर तथा अन्य अगो मे ऐंठन वढ जाती है। त्वचा ठडी रहती है, पसीना ठडा आता है और रोगी शक्तिहीन हो जाता है। उसके ओठ-दांत और नख नीले पड जाते हैं, आँखें भीतर की ओर धँस जाती हैं, कपोल पिचक जाते हैं तथा त्वचा नीली और शुष्क हो जाती है। आवाज क्षीण और नाडी मन्द हो जाती है, जो अनियमित और अस्पष्ट होती है। रोगी को बेचैनी होती है। अन्त मे वमन और अतिसार कुछ कम हो जाते हैं। रोग की तीव्रावस्था मे हृदय की क्रिया क्षीण और अनियमित हो जाती है। रक्त गाढा होने के कारण रक्त का सचार ठीक नही होता, जिससे मूत्राघात और मूत्रविषमयता हो जाती है। इस अवस्था मे मूर्च्छा होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

३ **प्रतिक्रियावस्था**—वमन और अतिसार कम होने लगते हैं। इनका वर्ण भी बदल जाता है, मूत्र आने लगता है, शरीर उष्ण हो जाता है, रोगी की स्थिति सुधरने लगती है और निद्रा आने लगती है। हृदय का बल बढने लगता है। शौच गाढा और पित्त की उपस्थिति से पीले रग का होता है। इस प्रकार शनैं शनैः रोगी स्वस्थ हो जाता है।

शुष्क विसूचिका

(Dry Cholera)

यह विसूचिका का अतितीव्र प्रकार है। प्रारम्भ से ही अधिक विषमयता होने के कारण दस्त और वमन की सख्या नगण्य होते हुए भी गम्भीर निपात के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उदर कुछ आध्मानयुक्त होता है। हाथ-पैर की पेशियो में ऐंठन तथा शरीर में द्रव धातु की कमी के लक्षण अल्प मात्रा में ही होते हैं। प्रायः ३-४ घण्टे के भीतर ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।

विसूचिका के उपद्रव

१ निद्रानाश २. अरति (बेचैनी) ३. कम्प ४. मूत्राघात और ५. बेहोशी, ये पाँच विसूचिका के दारुण उपद्रव होते हैं।[1]

---

१. निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः॥ मा० नि०

इनके अतिरिक्त मूत्रविषमयता, हृदयातिपात, कर्णमूलिक शोथ, आन्त्रशोथ और जलीयाश की कमी आदि भीषण उपद्रव होते हैं ।

असाध्य लक्षण

दन्त, ओष्ठ और नख का नीला पडना, वेहोश होना, लगातार वमन होना, आंखो का भीतर धँस जाना, स्वर का क्षीण हो जाना और सभी सन्धियो का ढीला या शिथिल हो जाना विसूचिका का असाध्य लक्षण है ।[1]

कम आयुवाले बालको, अधिक अवस्था के वृद्धो, गर्भिणी स्त्रियो तथा अहिफेन-मद्य आदि मादक द्रव्यो का प्रयोग करनेवालो तथा चिरकालीन वृक्कशोथ से पीडित रोगियो को होनेवाली विसूचिका अधिक घातक होती है । रोग का आरम्भ होते ही हिक्का, अत्यन्त बेचैनी, असह्य उद्वेष्टन, उदर मे तीव्र पीडा, नखो और ओष्ठो मे श्यावता, श्वास की वृद्धि, शीताधिक्ययुक्त प्रस्वेद निकलना, गुदा के ताप का वहुत अधिक या कम होना, रक्तनिपीड का ७०–८० से कम होना, रक्त की गुरुता का १०६६ से अधिक होना आदि लक्षण असाध्यता के सूचक हैं ।

साध्य लक्षण

असाध्य लक्षणो की अनुपस्थिति, नाडी का स्पर्शलभ्य होना, पूर्ण मूत्राघात का अभाव, प्रतिक्रिया की अवस्था का शीघ्र प्रारम्भ, शाखाओ मे उद्वेष्टन की कमी आदि लक्षणो के होने पर विसूचिका को साध्य जानना चाहिए ।

चिकित्सा-सूत्र

१. विसूचिका के रोगी को अकेले मे या सक्रामक रोग चिकित्सालय मे स्वच्छ हवादार कमरे मे मृदुशय्या पर सुलाना चाहिए ।

२ रोगी को विस्तर पर ही वमन-विरेचन की सुविधा उपलब्ध करानी चाहिए और वस्त्र तथा विस्तर को गन्दा होने से बचाना चाहिए ।

३. रोगी के मल-मूत्रादि को गड्ढे मे गडवा देना चाहिए या जला देना चाहिए ।

४. कमरे के फर्श को फिनायल के घोल से धुलवाते रहना चाहिए और मक्खियों के निवारण का प्रयत्न करना चाहिए ।

५. रोगी के वस्त्रो की सफाई फार्मेलीन के घोल मे धोकर तथा उबालकर करनी चाहिए ।

६ खाद्य-पेय पदार्थों को मक्खियो से बचाकर रखना चाहिए ।

७ मल-मूत्र के पात्र और स्थान की अच्छी सफाई व्यवस्था रखनी चाहिए तथा विसक्रामक द्रव्यो के घोल से धुलवाना चाहिए ।

८ रोगी को कम्बल या चादर से ढँककर रखना चाहिए । रोगी का सिरहाना पैंताने की अपेक्षा नीचा रखना चाहिए ।

---

१ य. श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥ सु० उ० ५६।११

९. परिचारक को चाहिए कि वह रोगी की काँख एव गुदा का ताप, मलविसर्जन एवं वमन की सख्या, मात्रा, स्वरूप, मूत्र की राशि और नाडी की गति आदि का प्रति घण्टे का चार्ट तैयार करे।

१०. रोगी की प्यास के शमनार्थ उसे बरफ के टुकडे चूसने के लिए दे।

११ तृषाशमन के लिए सौंफ या पित्तपापडे का अर्क अथवा लौंग, इलायची डालकर उबाला हुआ जल थोडा-थोडा पिलाना चाहिए।

१२. कच्चे नारियल का पानी या अजवायन का अर्क प्यास को रोकते हैं।

१३ इमली का पानी (५० ग्राम पकी इमली को ४ लीटर पानी मे अर्धावशिष्ट पकाया हुआ जल) या नीबू का पानी (१ बोतल जल में १ कागजी नीबू का रस डालकर निर्मित) अथवा निम्बजल (२ लीटर स्वच्छ जल मे नीम की बारीक पिसी पत्ती १०० ग्राम घोलकर, पुन छानकर बोतलो मे भरा जल) थोडा-थोडा पिलाते रहने से वमन, प्यास और दाह का शीघ्र शमन होता है।

१४ आचार्य चरक[1] ने कहा है, कि विसूचिका मे सर्वप्रथम लङ्घन कराना चाहिए। क्योकि आमप्रदोषज रोगो की निवृत्ति लघन (अपतर्पण) से ही होती है। लघन युक्तियुक्त उपचार है। यह हेतुविपरीत उपचार है, जो कुशल चिकित्सको द्वारा मान्यता-प्राप्त है। यदि फिर भी रोगशमन न हो, तो व्याधिविपरीत उपचार करना चाहिए।

१५ आचार्य सुश्रुत[2] ने साध्य लक्षण युक्त विसूचिका मे दोनो पैरो की एडियो में दाह (अग्निकर्म) करना प्रशस्त माना है। इससे सज्ञाप्रबोधन हो जाता है और अतिविरेचन मे भी लाभ होता है। आमदोप के पाचन के लिए उदर पर गरम पानी से भरी रबर की थैली से सेंक करना चाहिए तथा आमाशयस्थ दूषित अन्नशल्य को निकालने के लिए मदनफल आदि तीक्ष्ण वामक द्रव्यो को पिलाकर वमन कराना चाहिए। यह आमावस्था का चिकित्सा-क्रम है; किन्तु दोष के अथवा अन्न के पाकाभिमुख होने पर लघन कराना चाहिए तथा स्वेदनादि कर्म से सम्यक् पाचन और विरेचन कर्म करना चाहिए। विष्टम्भ की स्थिति होने पर आस्थापन (निरूह) वस्ति का प्रयोग करना हितकारक होता है।

---

१ विसूचिकाया तु लङ्घनमेवाग्रे विरिक्तवच्चानुपूर्वी। आमप्रदोषजाना पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति, सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणाना व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्कविपरीतमेवावचारयेद्यथास्वम्। सर्वविकाराणा च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशला, तदर्थकारि वा। च० वि० २।१३

२ साध्यासु पार्ष्ण्योर्दहन प्रशस्तमग्निप्रतापो वमनञ्च तीक्ष्णम्।
पक्वे ततोऽन्ने तु विलङ्घनं स्यात् सम्पाचनं चापि विरेचन च॥
विशुद्धदेहस्य हि सद्य एव मूर्च्छातिसारादिरुपैति शान्तिम्।
आस्थापनं चापि वदन्ति पथ्य सर्वाङ्ग (योगानपरांश्चिबोध)॥ सु० उ० ५६।१२-१३

औषध-प्रयोग

१. पत्थरचूर के पत्ते का स्वरस १ चम्मच १५–१५ मिनट पर देते रहने से वमन रुक जाता है। यह अनुभूत और सिद्ध प्रयोग है।

२ प्याज का स्वरस २–३ चम्मच १०–१० मिनट पर देने से विसूचिका की आरम्भिक अवस्था मे लाभ होता है।

३. आम की गुठली की मज्जा और बेलफल की कच्ची मज्जा समभाग का क्वाथ ४–४ चम्मच बार-बार देने से वमन और अतिसार दोनो का शमन होता है।

४. मदार की जड की छाल, कालीमिर्च और सेंधानमक समभाग लेकर पीसकर नीबू के रस मे घोटकर २–२ रत्ती की गोली बनावे, इसे १–१ घण्टे पर देना चाहिए। यह अर्कवटी है।

५ अपामार्ग (चिचिडा) के मूल को जल मे पीसकर पिलाना लाभप्रद है।

६ लालमिर्च १० नग पीसकर १०० ग्राम चीनी के शर्बत मे घोलकर थोडा-थोडा पिलाने से आश्चर्यजनक लाभ होता है।

७ सफेद या काले धतूरे के पत्तो का स्वरस १ चम्मच और ताजा दही २५–३० ग्राम की १ मात्रा, आधे-आधे घण्टे पर ३ बार देना चाहिए। यदि इतने से लाभ न हो, तो असाध्य समझना चाहिए और इसे फिर अधिक न देवे।

८ एक योग—लालमिर्च, शुद्ध हीग, कपूर, लहसुन प्रत्येक १ भाग शुद्ध वत्सनाभ ½ भाग, मदार के फूल २ भाग, पिपरामेण्ट ½ भाग—इनको नीबू के रस तथा आर्द्रक स्वरस की ३–३ भावना देकर २५० मि० ग्राम की गोली बनाकर प्रयोग करे। प्रति १५ मिनट पर २–२ गोली तब तक देवे जब तक वमन या अतिसार के वेग का शमन न हो।

९ हिंग्वादि वटी—शुद्ध तलाव हीग १० ग्राम, कपूर १ ग्राम, शुद्ध अफीम २ ग्राम, लालमिर्च ८ ग्राम, चन्द्रोदय १ ग्राम लेवे। पहले लालमिर्च का कपडछन चूर्ण करे, फिर अन्य औषधें मिलाकर प्याज के स्वरस से २ दिन मर्दनकर, मूँग के बराबर वटी बनाकर छाया मे सुखा ले। १५–१५ मिनट के बाद १–१ गोली प्याज के रस अथवा अर्क पुदीना से देवे।

१०. अमृतबिन्दु—यह औषध नही है, बल्कि औषधालय है। इसके विविध प्रयोग हैं और विसूचिका मे तो बहुत ही प्रसिद्ध और लाभप्रद योग है। इसे १५–१५ मिनट पर ५–५ बूँद छोटे बतासे मे गिराकर मुख मे चूसने के लिए देते रहें। इसमे कपूर १० ग्राम, अजवायन का सत्त्व १० ग्राम, पिपरामेण्ट सत्त्व १० ग्राम, लवग का तेल ३ ग्राम, इलायची का तेल ३ ग्राम और सौफ का तेल ३ ग्राम लेकर १ सीसी मे डाल देते हैं और सब मिलाकर पानी जैसा हो जाता है। इसका ३–४ बार से अधिक प्रयोग न करे अन्यथा वृक्क की क्रिया मे बाधा होकर मूत्राघात हो सकता है।

११ सञ्जीवनी वटी—विसूचिका के लिए यह बहुप्रचलित है। इसे २ गोली की मात्रा मे जल से या आदी के रस से आधे-आधे घण्टे पर ४–५ बार दे।

१२ चूसने के लिए हिंग्वादि वटी, गन्धक वटी अथवा लशुनादि वटी १–१ गोली देते रहना चाहिये।

१३ व्यवस्थापत्र—

१. अग्नितुण्डी वटी १०० मि० ग्राम
सजीवनी वटी ३०० मि० ग्रा०
रामबाणरस ३०० मि० ग्रा०
कपर्दभस्म २०० मि० ग्रा०
योग १ मात्रा
पलाण्डुस्वरस या मधु से।
इसे आधे-आधे घण्टे पर ६–७ बार देवे।

२ प्रति १५ मिनट पर
अमृतबिन्दु ५ बूँद
छोटे बतासे मे चूसने को देवे।

३ २०-२० मिनट पर
गन्धक वटी, रसोन वटी या हिंग्वादि वटी
१–१ गोली चूसने को दें।

४ प्यास लगने पर
सौंफ का या पित्तपापडे का या जवायन का
अर्क २–४ चम्मच दे।

५. वमन अतिसार के कुछ वेग निकल जाने पर ग्राही
एव दीपनपाचन योग दे, जैसे—
२–२ घण्टे पर—५–६ बार
कर्पूररस १२५ मि० ग्रा०
पीयूषवल्ली १२५ मि० ग्रा०
रामबाण १२५ मि० ग्रा०
अजीर्णकण्टक १२५ मि० ग्रा०
१ मात्रा
भुना जीरा १ ग्राम और पलाण्डु स्वरस १ चम्मच के साथ।

६ मुख मे चूसने के लिए आलूबुखारा या बरफ का टुकडा, भुनी सौंफ या भुनी बडी लाइची व मधु के साथ चटाना चाहिए।

लाक्षणिक चिकित्सा

तृष्णा मे

१. पीपल वृक्ष की मोटी छाल को आग पर जलावें, अङ्गार हो जाने पर उसे पानी में डालें और ठडा होने पर पानी छानकर मिट्टी के पात्र मे रखें तथा थोडा-थोडा पीने को देवे।

२. १५ नग लवंग को कूट कर २ लीटर जल मे डालकर २-३ उबाल आने तक औटायें, फिर छानकर मृत्पात्र मे रखकर पिलावे। अथवा—

३ सौंफ, पित्तपापडा, पुदीना, गुलाब या केवडे का अर्क थोडा-थोडा पिलावे।

४ बरफ या आलूबुखारा चूसने के लिए देवे।

५. उबाल कर शीतल किये हुए जल मे ताजा नीबू का रस निचोडकर थोडा-थोडा करके पिलाते रहने से तृषा का शमन होता है।

प्रस्वेद में

१. अरहर या कुलथी की दाल को भूनकर सूक्ष्म चूर्ण कर उसमे चौथाई हिस्सा कायफल तथा सोंठ का (मिलित) चूर्ण मिलाकर अगो पर मलना चाहिए।

२ गरम पानी मे नमक मिलाकर उसमे कपडा भिगोकर हाथ-पैर, जघा-पिण्डली आदि पर सेंक करना चाहिए।

३ बोतलो मे या रबर की थैली मे गरम पानी रखकर पैरो के पास रखना चाहिए।

खल्ली मे

('खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी'—मा० नि०)।

१ दालचीनी, तेजपात, अगरु, रास्ना, सहिजन की छाल, कूठ, बच और सोवा का बीज, समभाग लेकर काञ्जी या ईंख के सिरका मे पीसकर उबटन लगाना चाहिए। अथवा—

२ महानारायण तैल और सिरका समभाग मिलाकर मालिश करनी चाहिए।

अथवा—

३ तिलतैल में कपूर मिलाकर पैर, जघा और हाथ में मालिश करनी चाहिए।

वमन और अतिसार

जब वमन और अतिसार लगातार जारी हो, तो नेत्र में अञ्जन लगाने से उनका क्रम रुक जाता है।

व्योषादि अञ्जन—

सोंठ, मरिच, पीपर, करंज के फल की गुद्दी, हल्दी और बिजौरा नीबू की जड की छाल को पीसकर गोली बनाकर छाया मे सुखाकर रख ले। इसके अजन से विशेष लाभ होता है।

मूत्राघात मे

१ पेडू पर गरम पानी की बोतल से सेंक करना चाहिए।

२ कपडे को ५–६ पर्त कर तवे पर सुखोष्ण गरम कर उससे उदर और मूत्राशय पर शुष्क स्वेद करना चाहिए।

३ चूहे की लेंडी, चूहे के बिल की मिट्टी, केले की जड और कलमीसोरा को ठडे पानी मे पीसकर पेडू पर लेप करने से मूत्र का निकलना आरम्भ हो जाता है।

४. कलमीसोरा ५० ग्राम और नौसादर ५० ग्राम लेकर पीसकर १ गिलास पानी मे घोल दे और उसमे ४ तह कपडे का टुकडा भिगोकर बार-बार पेडू पर रखना चाहिए।

हृदयावसाव और नाड़ी-शैथिल्य मे

स्वर्णसिन्दूर १०० मि० ग्रा० और सजीवनी वटी ३०० मि० ग्रा० की एकमात्रा, प्रति २–२ घण्टे पर मधु से देना चाहिए और २ चम्मच सौंफ के अर्क मे १५–२० बूँद मृतसजीवनी सुरा मिलाकर ३–३ घण्टे पर ४ बार देना चाहिए।

विषमयता के प्रतिकारार्थ

१ सुखोष्ण जल मे तौलिया भिगोकर रोगी के शरीर को पोछना चाहिए।

२. मल के शोधन का प्रयत्न करना चाहिए।

३. कच्चे नारियल का जल १–२ चम्मच देते रहना चाहिए।

४. ३० ग्राम ग्लूकोज और १ चम्मच सोडा-बाई-कार्ब मिलाकर मधु या चीनी मिलाकर थोडा-थोडा पिलाना चाहिए।

५ पुनर्नवार्क और मकोय का अर्क पिलाना चाहिए।

छर्दि में

यदि अन्य उपचारो से वमन न रुक रहा हो, तो राई को पानी मे पीसकर आमाशय पर लेप करना चाहिए।

जलाल्पता

विसूचिका मे वमन तथा अतिसार की अधिकता से द्रवधातु का नाश होता है। द्रवनाश के परिणामस्वरूप रोगी मे उदर मे दाह, तृषाधिक्य, हाथ-पैर मे ऐंठन, मूत्रावसाद, नाडी और हृदय की दुर्बलता, त्वचा की रूक्षता, नेत्रो का भीतर की ओर धँस जाना, ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इनके शमनार्थ सिरामार्ग से लवण-जल निक्षेप करना एकमात्र कारगार उपाय है, जिसके प्रयोग से उक्त घातक उपद्रवों से प्राणरक्षा की सभावना हो सकती है। ईस लवण-जल के निक्षेप (Saline Infusion) का सिद्धान्त यह है, कि शरीर से जिन धातुओं का अत्यधिक सरण हो जाता है, उनकी पूर्ति करना। द्रवनाश से जल, लवण तथा क्षार की कमी हो जाती है और इन्ही द्रव्यो का सिरा द्वारा अन्त भरण करने से स्थिति मे सुधार होता है।

प्राय जलाल्पता का शिकार और तज्जन्य उपद्रवो के हो जाने के बाद ही कोई रोगी चिकित्सक के यहाँ पहुँचता है, क्योकि ४-६ बार मे ही वमन और अतिसार से अत्यधिक जलीयाश निकल जाता है। जलाल्पता[1] का सही ज्ञान करने के लिए रक्त के सापेक्ष गुरुत्व (Sp Gravity) का ज्ञान आवश्यक है—

१. कायचिकित्सा—गंगासहाय पाण्डेय, पृ० ८६१-६५

कांच की साफ शीशी, परखनली या गिलासो मे ग्लिसरीन तथा जल का घोल भिन्न-भिन्न अनुपातो मे रखकर उनकी गुरुता का मापन कर ले। १०५७ से १०६५ सापेक्ष गुरुता का घोल परखनली मे अलग-अलग रखकर सिरावेध द्वारा पिचकारी मे रक्त निकालकर १ १ बूंद रक्त जल-ग्लिसरीन के मिश्रणो मे डालना चाहिए। रक्तविन्दु के तैरने, घुलने या नीचे बैठ जाने से गुरुता की अल्पता या हीनता का निर्णय होता है। जिस सीसी मे रक्तविन्दु डालने पर १-२ सेकेण्ड तक स्थिर रहकर घुल जाय, उस सीसी के ग्लिसरीन के घोल की गुरुता के समकक्ष समझनी चाहिए। विशिष्ट गुरुता १०६० होने पर १ पाइण्ट लवणजल तथा १०६१ होने पर २ पाइण्ट, १०६२ होने पर ३ पाइण्ट—इसी क्रम से १०६६ होने पर ७ पाइण्ट लवणजल की अपेक्षा हो सकती है। जलीयाश की पूर्ति के लिए लवणजल-ग्लूकोज का क्षारीय घोल, रक्तरस आदि का प्रयोग किया जाता है। लवण जल का प्रयोग हीन, सम या अतिबल घोल के रूप मे विशिष्ट अवस्थाओ मे किया जाता है। नीचे उनका विवरण पृथक् पृथक् दिया जा रहा है—

समलवण (Normal Saline)

Sodium Chloride	gr.	90
Aqua Dist water	pint	1

अतिवल लवणजल (Hypertonic Saline)

Sodium Chloride	gr	120
Cal Chloride	gr	4
Sterilised dist water	pint	1

क्षारीय लवण जल (Alkaline Saline)

Sodium Chloride	gr.	90
Sodi Bicarb	gr	160
Sterilised dist water	pint	1

रक्त की विशिष्ट गुरुता के बढ जाने, सकोचिक रक्तभार के ८० मि० मा० से कम होने तथा नाडी की क्षीणता तथा मूत्राघात के लक्षण होने पर अतिवल लवणजल उपयोगी होता है।

सिराद्वारा प्रयोग सम्भव न होने पर अधस्त्वक् मार्ग से समबल लवण जल का प्रयोग किया जाता है। क्वचित् मलमार्ग (Rectal drip) के द्वारा भी ५% ग्लूकोज मिलाकर बूद-बूद की मात्रा मे प्रयोग करते हैं।

क्षारीय लवणजल—वमन तथा अतिसार होने के कारण शरीर के क्षरीय द्रव्य भी उत्सर्जित हो जाते हैं, उनकी पूर्ति के लिए जल के साथ क्षारतत्त्वो का प्रयोग आवश्यक है।

व्याधि की तीव्रता के आधार पर प्रदेय लवणजल की मात्रा निर्धारित कर लेनी चाहिए। सामान्यतया मात्रा के निर्धारण का आधार रक्त की विशिष्ट गुरुता

होती है। ४ पाइण्ट द्रव के प्रयोग की अपेक्षा होने पर प्रारम्भ मे एक पाइण्ट क्षारीय लवणजल देने के उपरान्त दो पाइण्ट अतिबल लवणजल तथा अन्तिम में एक पाइण्ट मे अतिबल लवणजल तथा ग्लूकोज मिलाकर देना चाहिए।

लवणजल के प्रयोग की विधि—रोगी की गम्भीरता तथा निपात की स्थिति के आधार पर सिरामार्ग से लवणजल के प्रयोग के दो साधन होते हैं—

१ सूचीवेध द्वारा या बन्द विधि (Closed method), २. कैनुला द्वारा या खुली विधि (Open method)।

विसूचिका का उचित उपचार आरम्भ से ही करने पर तथा जलाल्पता के लक्षण उत्पन्न होते ही लवणजल का प्रयोग करने पर सिरा के खोलने की अपेक्षा नही होती। अन्यथा अत्यधिक जलाल्पता हो जाने पर हीन रक्तनिपीड (साकोचिक रक्तभार ५० से नीचे) होने पर सिरावेध के लिए चेष्टा करने पर भी सिरा नही मिल पाती। ऐसी अवस्था मे शस्त्रकर्म द्वारा कूर्परसन्धि के पास सिरा को खोलकर विशेष विधि से सिरा के भीतर कैनुला प्रविष्ट कराकर लवणजल का प्रयोग किया जाता है, किन्तु रोगी की अत्यधिक दुबलता एव हीन क्षमता के कारण शस्त्रकर्म के बाद स्थानीय शोथ-पाक आदि के उपद्रव गम्भीर स्वरूप ले सकते हैं। इसलिए यथासम्भव बन्द विधि से ही रोगारम्भ काल से लवणजल देना चाहिए।

लवणजल-प्रयोग के सामान्य नियम

ताप—लवणजल का ताप रोगी की गुदा के ताप पर नियन्त्रित किया जाता है। गुदा का ताप १०१° फा० तक होने पर लवणजल को गरम करने की अपेक्षा नही होती। सामान्यतया जल का ताप ८०° फा० होता है। गुदा का ताप हीन प्राकृत होने पर लवणजल के घोल को १००° फा० तक गरम कर लेना चाहिए। गुदा का ताप १०४ या अधिक होने पर पहले सन्ताप की चिकित्सा द्वारा ताप कम कर लवणजल का प्रयोग करना चाहिए।

गति—आरम्भ मे ४ औंस प्रति मिनट लवणजल के देने की मात्रा रखी जाती है। इस क्रम में ५ मिनट मे १ पाइण्ट जल पहुँचता है। किन्तु बाद मे गति की तीव्रता कम कर देनी चाहिए। अन्यथा हृदय एव फुफ्फुस पर अधिक भार पडने के कारण अनेक अनुगामी उपद्रवो की सम्भावना हो सकती है। इसलिए कुछ समय बाद लवण जल की मात्रा १ औंस प्रति मिनट के आस-पास रखनी चाहिए। इस क्रम से २-३ पाइण्ट देने के बाद आखिरी पाइण्ट बिन्दु-बिन्दु (Drip) क्रम से ४०-५० बूँद प्रति मिनट के हिसाब से देने की व्यवस्था करनी चाहिए। तीव्रगति से लवणजल के प्रयोग करने पर जलीयांश शरीरकोषाओ मे व्याप्त नही हो पाता, अपितु वमन और अतिसार के माध्यम से तुरन्त उत्सर्गित हो जाता है।

मात्रा—रक्त की विशिष्ट गुरुता के आधार पर लवणजल की मात्रा का निर्धारण करने का सिद्धान्त पूर्वकथनानुसार जानना चाहिए। एक बार मे बहुत अधिक जल देने से रक्त की स्वाभाविक क्षारमर्यादा असन्तुलित हो जाती है, जिसके कारण

कोषाओं का समवर्त (Tissue metabolism) तथा हृदय-मस्तिष्क-वृक्क आदि अगो की क्रियाशीलता पर हानिकर परिणाम होता है ।

निषेध—हृदय की विकृति, फुफ्फुसशोथ, अत्यधिक आध्मान, परिसरीय रक्त-वाहिनी निपात (Peripheral vascular failure) के कारण उत्पन्न हीन रक्त-निपीड तथा रक्त की विशिष्ट गुरुता की स्वाभाविक मर्यादा के निकट रहने तथा गर्भिणी, अतिवृद्ध एव बालक मे सिरा द्वारा लवण जल का प्रयोग नही करना चाहिए।

पथ्य

जब विचूचिका के रोगी का रोगवशात् अथवा चिकित्सा द्वारा सम्यक् वमन और अतिसार के माध्यम से दोषनिर्हरण हो जावे तथा लघन के द्वारा उन लक्षणो का प्रशमन हो जावे एव रोगी को भूख लगने लगे, तो दीपन-पाचन औषधो के योग से पकायी गयी पेया आदि के क्रम से पथ्य देने का विधान आचार्य सुश्रुत ने बतलाया है।

अत: रोगमुक्ति के पश्चात् पहले मूग या मसूर के यूष को जीरा, मरिच, हीग और लहसुन से छौंककर सेंधानमक डालकर अल्पमात्रा मे देना चाहिए। फिर रोगी की रुचि तथा पाचन-क्षमता के अनुसार नीबू का शरबत, फलो का रस, दही की लस्सी बरफ डालकर, मट्ठा, बार्ली, साबूदाना या लाजमण्ड देवे। क्रमश पुराने चावल और मूग की खिचडी, करेला, परवल, नेनुआ, तरोई, आदी, सिरका, नीबू आदि से युक्त हलका और अल्प मात्रा मे भोजन देवे।

अपथ्य

विरुद्ध, प्रतिकूल, विबन्धकर, गुरु अन्न, नया चावल या गेहूँ, पूडी, हलवा, उडद, चना, आलू, अरुई, कोहडा, कटहर, गरिष्ट और दुर्जर पदार्थ, चिकने पदार्थ नही खाना चाहिए।

प्रतिषेध

१ विसूचिका फैलने के पूर्व डी० डी० टी० या फिनायल आदि से मक्खियो का विनाश या दूरीकरण करना चाहिए।

२ जल के शोधन के लिए पोटास परमैंगनेट या ब्लीचिंग पाउडर का प्रयोग करना चाहिए।

३ जल-वितरण प्रणाली का विसक्रमण (Sterilization of water supply)।

४. खाद्य पदार्थों की सुरक्षा और उचित देखभाल।

५ मल-मूत्र के विसर्जन की समुचित व्यवस्था और सफाई।

६. जनता मे हैजा से बचाव के तरीको को बुलेटिन, समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा, दूरदर्शन, सभा, व्याख्यान आदि के द्वारा प्रसारित करना। मेला आदि के समय मेला-क्षेत्र की स्वच्छता, उचित जलापूर्ति और मेला में जाने वालो के लिए टीके की अनिवार्यता आवश्यक है।

७ एण्टीकॉलरा इनाक्युलेशन (Anti-cholera Inaculation)—यह पहले ० ५ मि० ली० की मात्रा फिर एक सप्ताह बाद १० मि० ली० की द्वितीय मात्रा दी जाती है। इससे छह मास तक के लिए व्याधिक्षमता प्राप्त होती है।

८. बाजार की मिठाई, लस्सी, कुल्फी और आइसक्रीम का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। फलो को पोटाम के जल से परिमार्जित कर लेना चाहिए।

रोग-मुक्ति के पश्चात् बलवर्धक योग

१ प्रात -साय

प्रवालपञ्चामृत	२५० मि० ग्रा०
बृहत् लोकनाथ	२५० मि० ग्रा०
नवायस लोह	१ ग्राम
रससिन्दूर	२५० मि० ग्रा०
सितोपलादि	२ ग्राम
मधु से।	योग २ मात्रा

२ भोजन के १० मिनट पूर्व

यवानीषाडव या महाषाडव	१० ग्राम
बिना अनुपान चूसना।	२ मात्रा

३ भोजन के बाद

द्राक्षासव	४ चम्मच
	१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४. ९ बजे तथा २ बजे दिन

हिंग्वादि वटी या रसोनादि वटी २–२ गोली चूसना।

अलसक

जब खाया हुआ आहार आमाशय मे जाकर सुस्त और आलसी पुरुष की तरह ज्यो का त्यो पडा रहता है, न तो उसका पाचन होता है, न ऊपर से वमन की प्रवृत्ति होती है और न वह नीचे सरकता है, तो इस स्थिति को 'अलसक'[1] रोग की सज्ञा दी गयी है। इस दशा को नव्य दृष्टि से पूर्णत अन्त्रावरोध (Acute Intestinal Obstruction) सदृश माना जाता है।

निदान और सम्प्राप्ति[2]

जब कोई दुर्बल, मन्दाग्निग्रस्त, श्लेष्माधिक तथा अधोवायु, मल एव मूत्र के वेगो

१. प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसक स्मृत ॥ मा० नि० अजीर्ण २० (मधुकोष)

२ दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिण स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविन-स्तदन्नपानमनिलप्रपीडित श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखी भवति, ततश्छर्दतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि। च० वि० २।१२

को रोकने के स्वभाववाला व्यक्ति स्थिर-गुरु-अतिरूक्ष-शीतल बासी और सूखे अन्न का सेवन करता है, तो उसका खाया हुआ अन्न-पान वायु द्वारा धकेला जाता हुआ, किन्तु कफ के द्वारा मार्ग के बन्द होने से भीतर की ओर लीन होकर रुका हुआ रह जाता है, तो अतिमात्रा में लीन होकर अलसीभूत हो जाने से उस आहार को बाहर निकलने का अवसर नहीं मिलता। जिसके कारण उसमें आमदोष के बहुत अधिक लक्षण दिखलाई देने लगते हैं, केवल वमन और अतिसार नहीं होते हैं। इस रोग में वात और कफ की प्रधानता होती है और इनकी रस्साकशी में रोगी की आँखों के सामने दिन में भी तारे नजर आने लगते हैं।

संप्राप्ति—→

दुर्बल, मन्दाग्निग्रस्त, वेगावरोधक,
बहुश्लेष्मा, गुरु-शीत रूक्षभोजी-
रोगी + शुष्कान्नसेवन— कफ-वात प्रकोप

|

वायुपीडित एवं कफ से अवरुद्धमार्ग अन्नपान

|

लीन अन्नपान का अलसभाव

|

अलसक रोग

दण्डालसक

अजीर्णजनक निदान के सेवन से जब तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं, तो वे अधिक मात्रा में दूषित दोष, फिर सचयवश अतिदुष्ट आम के कारण मार्ग के रुक जाने से, शरीर में तिर्यक् चलते हुए, रोगी के सम्पूर्ण शरीर को दण्ड के समान जकड़ लेते हैं और शरीर में स्तब्धता होने से अंगों का आकुञ्चन-प्रसारण बाधित हो जाता है, तो इसे 'दण्डालसक'[1] कहते हैं। यह असाध्य कहा गया है।

डल्हण और आतङ्कदर्पणकार का मानना है, कि चरक ने जिस रोग को दण्डालसक कहा है, उसी को सुश्रुत ने विलम्बिका नाम दिया है—'इयमेव विलम्बिका तन्त्रान्तरे दण्डालसक इति नाम्ना पठ्यते' (मा० नि० अजीर्ण २१ पर आतङ्कदर्पण टीका) तथा—"इयमेव' 'विलम्बिका' तन्त्रान्तरे 'दण्डालसक' इति नाम्ना कथ्यते"। (सु० उ० ५६।९ पर डल्हण टीका)।

अलसक के लक्षण

१ कुक्षिप्रदेश में कसकर बँधे होने जैसा प्रतीत होना, २ रोगी का मूर्च्छित हो जाना, ३ कहरना (पीडा के कारण कराहते रहना), ४ अवरुद्ध एवं प्रतिलोमगति

---

१ अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति, ततस्तं दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते। च० वि० २।१२

वायु का कुक्षि के ऊपरी भाग (हृदय, कण्ठ आदि) में भ्रमण करना, ५. अधोवायु और मल का पूर्णत: अवरोध होना, ६. बहुत प्यास लगना, ७. डकार आते रहना और ८ शल्य की तरह शूल का उग्ररूप में होना, ये सब अलसक के लक्षण[1] हैं।

असाध्य लक्षण[2]

१. दन्त, ओष्ठ तथा नख का नीला पड जाना, २. बेहोशी होना, ३ वमन की प्रवृत्ति होना, ४. नेत्रो का भीतर धँस जाना, ५ स्वर का क्षीण होना और ६. सभी सन्धि-बन्धनो का ढीला पड जाना, ये असाध्यता के सूचक लक्षण हैं।

विलम्बिका का लक्षण[3]

जिस रोग में कफ और वायु से दुष्ट अन्न ऊपर या नीचे किसी भी मार्ग से नही निकलता हो, उस अत्यन्त दुश्चिकित्स्य रोग को शास्त्रवेत्ताओ ने विलम्बिका कहा है।

वक्तव्य—यद्यपि वातकफारब्ध होने से और नीचे या ऊपर के किसी मार्ग से अन्न या दोष के न निकलने से अलसक और विलम्बिका मे अन्तर नहीं प्रतीत होता, तथापि दोनो मे कुछ अन्तर है, जिससे दोनों का अलग-अलग पाठ और लक्षण कहा गया है। निम्नलिखित तालिका से दोनो का सापेक्ष लक्षण व्यक्त किया जा रहा है—

सापेक्ष निदान

अलसक	विलम्बिका
१ अजीर्ण	१ अजीर्ण
२. कफ + वायु	२. कफ + वायु
३ पित्त का संसर्ग नही	३. पित्त का संसर्ग और अन्न की विदग्धता
४ मल एवं अधोवायु का अवरोध	४ मल एवं अधोवायु का अवरोध

---

१. (क) कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यति विकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षौ विपरिधावति॥
वातवर्चो निरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥ मा० नि०

(ख) पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा।
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्॥
शूलादीन् कुरुते तीव्राश्छर्द्यतीसारवर्जितान्॥

२. यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्र।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय॥ सु० उ० ५६।११

३ (क) दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥ सु० उ० ५६।९

(ख) गरीयसी भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका।
कफवातानुबद्धाऽऽमलिङ्गा तत्समसाधना॥ अ० हृ० सू० ८।२८

(ग) यदा भुक्तं विदग्धं च नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते।
तां विलम्बीं विगर्हन्ति विषतुल्यां विसूचिकाम्॥ भेडसं० चि० ११

५. उदरशूल,[1] आर्तनाद	५ शूल नही या अल्प
६ सद्य उत्पत्ति	६ विलम्ब से उत्पत्ति
७. प्राय साध्य	७ कृच्छ्रसाध्य या असाध्य
८. पूर्ण अन्त्रावरोध	८ पेरालिटिक इलियस रोग
९ अविलम्बित	९. दीर्घकाल तक अनुबन्ध[2]
१०. प्रारम्भिक रोग	१० अलसक ही विलम्ब तक बने रहने पर विलम्बिका[3]
११ दण्डालसक एक भेद	११ दण्डालक पर्याय[4]

अलसक और विलम्बिका चिकित्सा-सूत्र

१ दूषित और अलसीभूत साध्य आमदोष को गरम जल में सेंधानमक मिलाकर वमन करावे।

२ सुश्रुताचार्य[5] ने पार्ष्णिदाह, अग्नितापं, तीक्ष्ण वमन, लंघन, सम्पाचन, विरेचन और आस्थापनवस्ति का प्रयोग करने को कहा है।

३ चरकाचार्य[6] ने वमन, स्वेदन, गुदवर्ति तथा उपवास कराने का निर्देश दिया है।

औषध प्रयोग

१ अलसक और विलम्बिका की चिकित्सा एक ही समान की जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए, कि अलसक की अपेक्षा विलम्बिका अधिक घातक रोग है। अलसक तथा विलम्बिका में स्वयमेव न तो वमन होता है न विरेचन और रोगी वेदना से त्रस्त होकर रोता-चिल्लाता है। अतः इसमें सर्वप्रथम वमन[7] कराना चाहिये। एतदर्थ—

२. सेंधानमक का गरम जल में घोल तैयार कर रोगी को आकण्ठ पिलाना चाहिए। अथवा—

३. काशीश (शुद्ध) और सेंधानमक २–२ रत्ती मिलाकर जल से खिलावे।

अथवा—

४. कंकुष्ठ (उशारेरेवन्द) को १–२ ग्राम की मात्रा में उष्णजल के साथ देवे।

---

१ अलसके तीव्रा शूलादयो भवन्ति। मा० नि० (मधुकोष)

२ तदनुबन्धेन दीर्घकालविलम्बनात् विलम्बिकेत्युच्यते। हेमाद्रि

३. लीनमेव चिरमवतिष्ठते। हेमाद्रि

४ इयमेव विलम्बिका तन्त्रान्तरे दण्डालसकमंशयोक्ता। सु० उ० ५६।९ पर डल्हण टीका

५. साध्यास्तु पार्ष्ण्योर्दहनं प्रशस्तमग्निप्रतापो वमनञ्च तीक्ष्णम्।
पक्वे ततोऽन्ने तु विलङ्घनं स्यात् सम्पाचनं चापि विरेचनं च॥ सु० उ० ५६।१०

६. तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि, ततः स्वेदनवर्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम्। च० वि० २।१३

७ विलम्बिकालसकयोरूर्ध्वाधःशोधनं हितम्। नाकेन फलवर्त्या च तथा शोधनभेषजैः॥
बो० र०

५ रबर के बैग या बोतल मे गरम पानी भरकर उससे उदर का स्वेदन करे।

६. पाचनार्थ पथ्यादि चूर्ण[1] (सु० उ० ५६) ३–३ ग्राम, आधा-आधा घण्टे पर ५–६ वार गरम पानी से खिलावे।

७ विरेचनार्थ फलवर्ति का विधान है। इसके प्रयोग से मल और अधोवायु का अनुलोमन होता है। योग इस प्रकार हैं—

फलवर्ति —पीपर, गृहधूम (रसोईघर का झाला), मदनफल, सरसो, निशोथ, स्वर्णक्षीरी, वच, किण्व, कूठ, दन्ती तथा यवक्षार को पीसकर उसमे नमक और गोमूत्र मिलाकर हाथ के अगूठे जितनी मोटी वर्ती वनायें, फिर इसे घी या तेल चुपडकर प्रयोग करे। अथवा—

८. इच्छाभेदी रस ५०० मि० ग्रा० की मात्रा मे शर्बत के साथ पिलाकर विरेचन करावे। इससे वमन और विरेचन दोनो काम हो जाता है।

९ उदरशूल की अधिकता हो, तो दारुषट्क लेप उदर पर लगाना चाहिए।

दारुषट्क—देवदारु, वच, कूठ, सोवा का बीज, हींग और सेंधानमक समान भाग लेकर कूट पीसकर सुखोष्ण लेप करे। अथवा—

१० जौ का आटा मट्ठा मे पीसकर, यवाक्षार मिलाकर गरम कर उदर पर लेप करे।

११ दीपन-पाचन के लिए हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण (चरक) रसोनवटी (वैद्य-जीवन) गन्धकवटी, हिंग्वादि वटी आदि का प्रयोग करे।

अन्य पाचन औषधो मे काकायनवटी, कुबेराक्षवटी, धनञ्जयवटी, अजीर्णकण्टक-रस, क्रव्यादरस, नाराचरस, नारायण चूर्ण आदि का प्रयोग करे।

पथ्य

अग्निमान्द्य के समान पथ्य देवे। उष्ण जल दे। सारक तथा मूत्रल पथ्य देवे। घी डालकर खिचडी खिलावे। नीबू, आदी, लहसुन की चटनी या सलाद दे।

अपथ्य

अध्यशन, विरुद्धाशन, असात्म्य आहार, गुरु आहार और अप्रिय, रूक्ष, कठिन आहार नही देना चाहिए।

आनाह, आध्मान और आटोप

परिचय—आनाह शब्द से सामान्य कब्ज (Simple Constipation[2]) जाना

---

१ पथ्यावचाहिङ्गुकलिङ्गगृञ्जसौवर्चलै सातिविषैश्च चूर्णम्।
सुखाम्बुपीत विनिहन्त्यजीर्णं शूलं विसूचीमरुचिञ्च सद्य ॥ सु० उ० ५६।२४

2 Constipation means an undue delay in the evacuation of faeces This may be due to abnormal retention of faecal matter or delay in the discharge of excreta from the rectum Other symptoms, such as abdominal discomfort or fullness and flatulence, may be associated with constipation.

८. अर्श के मस्से होना, महास्रोत की गतिशीलता का अभाव आदि कारणो से आनाह रोग हो जाता है।

निर्वचन

जिस रोग मे ऊर्ध्व और अध. या उभय मार्ग में वायु की विकृति से अवरोध हो जाने के कारण मल एव वायु की प्रवृत्ति न हो तथा उदर भीतर से कसा हुआ एव बँधा हुआ-सा प्रतीत होवे, उसे आनाह कहते हैं। आङ् उपसर्ग पूर्वक णहबन्धने धातु से आनाह शब्द बनता है—'आ समन्तान्नह्यते बध्यतेऽवरुध्यते वा मलस्य वायोश्च मार्गो यस्मिन् रोगे स आनाह'।

आनाह के भेद

दूष्य तथा अधिष्ठान-भेद से आनाह दो प्रकार का होता है—

१. आमरस (अपक्व अन्न) जन्य तथा आमाशयोत्थ और

२. पुरीषजन्य तथा पक्वाशयोत्थ।

संप्राप्ति—
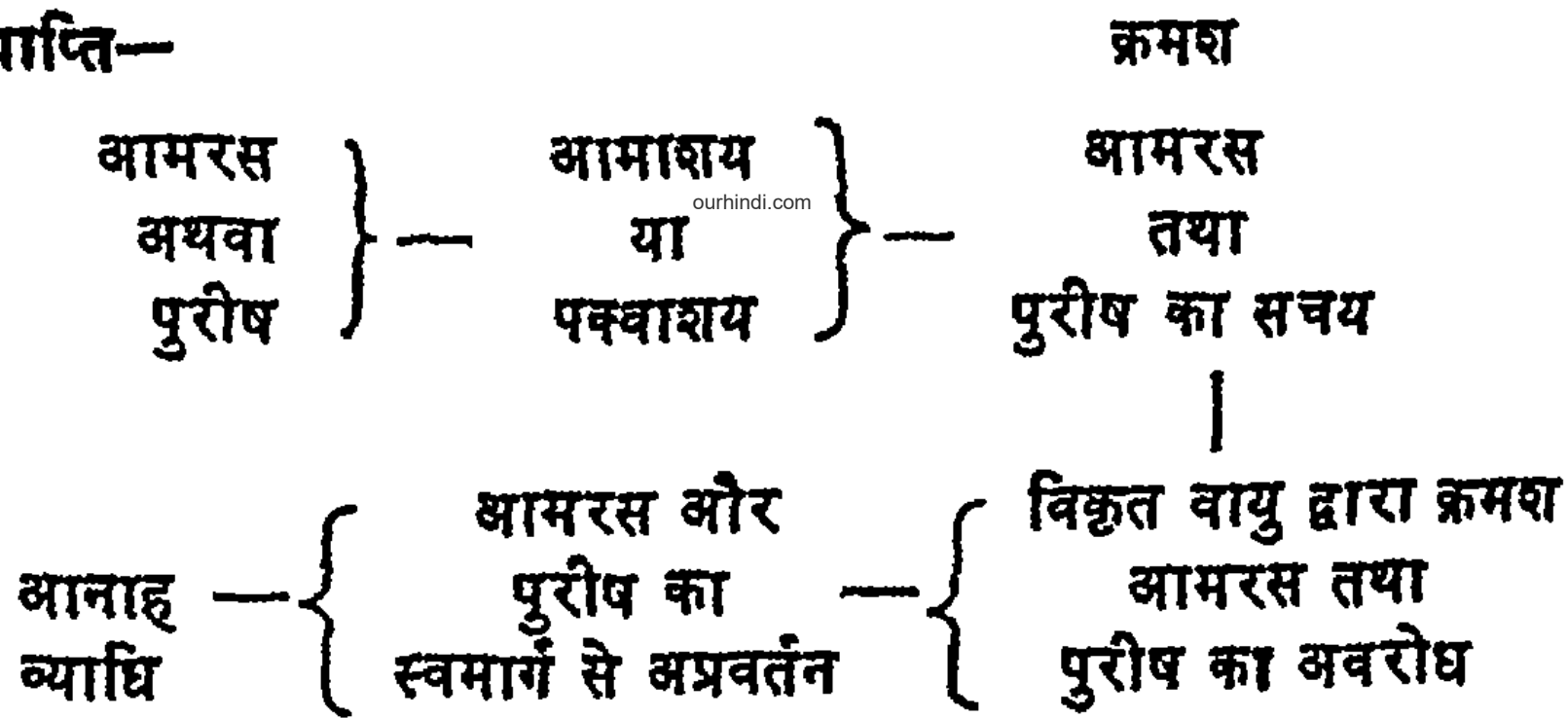
संप्राप्ति

आमदोष (अपक्व अन्न) और पुरीष, क्रमश आमाशय तथा पक्वाशय मे धीरे-धीरे सचित होते हुए, विकृत वायु से अवरुद्ध होकर अपने यथोचित मार्ग से जब नही निकल पाते हैं, तो ऐसी स्थिति मे महास्रोत की गतिविधि का अवरुद्ध हो जाना आनाह रोग कहा जाता है।[1]

आमज आनाह का लक्षण

आमरस से उत्पन्न हुए आनाह मे प्यास, प्रतिश्याय, शिर में जलन, आमाशय मे शूल तथा भारीपन, वमन की इच्छा होना और डकार न आना, ये लक्षण होते हैं।[2] इसका पाइलोरिक आब्स्ट्रक्शन (Pyloric obstruction) से साम्य है।

---

१ आम शकृद्वा निचित क्रमेण भूयो विबद्ध विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेन विकारमानाहमुदाहरन्ति॥ सु० उ० ५६।२०

२ तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरो विदाहा.।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृल्लास उद्गारविघातनञ्च॥ सु० उ० ५६।२१

पुरीषज आनाह लक्षण

पुरीषजन्य एवञ्च पक्वाशय मे उत्पन्न हुए आनाह मे कटि और पीठ जकड जाते हैं और शूल होता है, मूत्र तथा मल का अवरोध हो जाता है, रोगी मूर्च्छित हो जाता है, कभी-कभी वमन मे पुरीप आता है, कभी श्वास उमड जाता है और अलसक रोग के भी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।[1]

आमज आनाह चिकित्सासूत्र[2]

१ आमदोपजन्य अथवा अविपक्व अन्नरसजन्य आनाह रोग मे रोगी को सर्वप्रथम वमन कराना चाहिए।

२ वमनान्तर रोगी को जब भूख मालूम हो, तो उसे भोजन-विधि के अनुसार पिप्पल्यादि गण (सुश्रुतोक्त) की दीपनीय औपधो को डालकर पकाये गये जल से सिद्ध पेया, विलेपी, यवागू खाने को देना चाहिए।

आमज आनाह मे औषध-प्रयोग

१ औपध-प्रयोग के पूर्व रोगी का स्नेहन, स्वेदन, नस्य, अभ्यग आदि का प्रयोग कर वायु तथा आमदोष को गतिशील बनाने का प्रयास करना चाहिए।

२. व्यवस्थापत्र—

१. प्रति आधा घण्टे पर ६–७ वार

हिंग्वष्टक चूर्ण	२ ग्राम
शखभस्म	२५० मि० ग्रा०
सर्जिकाक्षार	½ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

२ चूसने के लिए प्रति १५ मिनट पर
हिंग्वादि वटी या रसोनादि वटी
२–२ गोली

३. आहार देने के वाद

द्राक्षासव (उत्तम कोटि का)	२५ मि० ग्रा०
समान जल मिलाकर पीना।	१ मात्रा

४ रात मे—

आरोग्यवर्धिनी वटी	१ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	

---

१ स्तम्भ कटीपृष्ठपुरीपमूत्रे शूलोऽथमूर्च्छा सशकृद्वमेच्च।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि॥ सु० उ० ५६।२२

२ आमोद्भवे वान्तमुपक्रमेत संसर्गभक्तक्रमदीपनीयैः। सु० उ० ५६।२४

आहार

जौ की रोटी, मूग की दाल, अदरख, लहसुन, नीबू, मूली पतली, हरी मिर्च, सेंधानमक आदि वातानुलोमन डकार के प्रवर्तन एव दीपन-पाचन पदार्थ का प्रयोग करना चाहिए।

पुरीषज आनाह चिकित्सासूत्र

१ वायु के अवरोध को दूरकर स्वाभाविक मलदोष को प्रवृत्त कराने का प्रयत्न करना चाहिए।

२ यदि रोगी के मुखमार्ग से पुरीष निकल रहा हो, तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। यदि रोगी के अभिभावक विशेष आग्रह करें, तो उसकी यथोचित चिकित्सा करके वायु की गति को अनुलोम बनाना चाहिए।

३. पुरीषज आनाह मे स्वेदन, अभ्यग, अजन, नस्य, पाचन औषध-प्रयोग, फलवर्ति एव विरेचन देना चाहिए।

४. रोगी के उदर का स्वेदन कर आस्थापनवस्ति देनी चाहिए।

५. उदर पर तैलाभ्यग, लेप तथा गुदवर्ति लगाकर मलावरोध को दूर करना चाहिए।

पुरीषज आनाह मे औषध

१ आसव-अरिष्ट, एरण्डस्नेह, अमलतास की गुद्दी,, निशोथ, शुद्ध जयपाल बीज तथा गोमूत्र का प्रयोग सुविधानुसार करे।

२. विरेचन के लिए राजरेचन (रसायनसार) का प्रयोग करे। योग—अमलतास का गूदा ५०० ग्राम लेकर, कूटकर १ लीटर नीबू के रस मे २ दिन तक भिगोवे। फिर मसलकर रस छान ले। उसमे दालचीनी चूर्ण २५ ग्राम, सोठ चूर्ण २५ ग्राम, कालीमिर्च चूर्ण २५ ग्राम, पीपर चूर्ण २५ ग्राम, भुनी हींग २५ ग्राम, बडी इलायची बीज चूर्ण ६ ग्राम, सेंधानमक का चूर्ण ६० ग्राम, कालानमक चूर्ण ६० ग्राम, हलका भुना कालादाना चूर्ण ६० ग्राम और सफेदजीरा भुना चूर्ण ६० ग्राम लेकर सबको घोटकर मिला देवे। फिर बीज निकाला हुआ ६० ग्राम मुनक्का चटनी की तरह पीसकर उक्त चूर्ण मे मिला दे। इसे रात मे सोते समय १० ग्राम की मात्रा मे कुनकुने पानी से खिलावे। यह सुखविरेचन और वातानुलोमन है।

३ आस्थापन वस्ति मे निशोथ, बिल्व, पीपर, कूठ, सरसो, वच, इन्द्रयव, सौंफ और मुलहठी का प्रयोग करना चाहिए।

४. गुदवर्ति के रूप मे—१ फलवर्ति २. हिंग्वादि वर्ति ३ आगारधूमादि वर्ति अथवा ४ रामठादि वर्ति का प्रयोग करना चाहिए।

५. खाने की औषधो मे—हिंग्वादि चूर्ण, वचादि चूर्ण, नारायण चूर्ण, नाराच चूर्ण, पचसकार चूर्ण, षट्सकार चूर्ण, नाराच रस एव इच्छाभेदी रस का प्रयोग करे।

६. उदर पर दारुपट्क लेप (देवदारु, घोडवच, कूठ, सोवा का बीज, हींग और सेधानमक) लगाना चाहिए। अथवा—हींग और अजवाइन समभाग मे लेकर पीसकर

गरम कर लेप करे। अथवा—जौ के आटे मे यवाखार मिलाकर मट्ठे मे पीसकर गरम कर के उदर पर लेप करना चाहिए।

७. रेचन औषधो मे—कम्पिल्लक, करज, स्वर्णक्षीरी, अमलतास, कालादाना, निशोथ आदि का यथालाभ प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१ ३—३ घण्टे पर ४ वार

हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण (चरक) १२ ग्राम
हरीतक्यादि चूर्ण (च० द०) ८ ग्राम
सुखोष्ण जल से। योग—४ मात्रा

२ भोजन के प्रथम ग्रास मे २ वार

हिंग्वष्टक चूर्ण ६ ग्राम
घीके साथ। योग—२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ वार

अभयारिष्ट २५ मि० ली०
समान जल से पीना। १ मात्रा

४ रात में सोते समय—

नाराच चूर्ण १० ग्राम अथवा
इच्छाभेदी रस २५० मि० ग्रा०
जल से।

५ १—१ घण्टे पर चूसना

चित्रकादि, हिंग्वादि अथवा
रसोनादि वटी १—१ गोली

पथ्य

जौ की दलिया या जौ की रोटी, मूँग की दाल, पुराना अगहनी चावल, खिचडी पतली, पतली मूली, अमलतास का फूल, निशोथ, वथुआ, कच्चा पपीता, सहिजन की फली, नेनुआ, ताड या ख़जूर की ताडी, मुनक्का, लौंग, हीग, नीबू, अदरख आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

आलस्य, उपेक्षा, गुरु पदार्थ, विष्टम्भी पदार्थ, विरुद्ध आहार, मटर, चना, सेम आदि, कोदो, मडुआ, आलू, कोहडा, कटहल, जामुन, उडद या चावल के आटे से या मैदे से बने आहार और वेगो का अवरोध अपथ्य है।

आध्मान[1]

(Tympanitis, Flatulence)

निदान, संप्राप्ति लक्षण

पित्त की न्यूनता के कारण आहार का ठीक से पाचन न होने तथा प्रकुपित वायु के निरोध से भयकर रूप मे उत्पन्न हुए आटोप (गुडगुडाहट) के सहित अत्यधिक पीडायुक्त पक्वाशय मे शोथमय वायु का सचय होना आध्मान कहलाता है।

वक्तव्य—यह रोग पुरीषज आनाह से साम्य रखता है। इसमे भी पुरीष का अप्रवर्तन और वायु का सचय होता है, किन्तु मुख्य रूप से वायु का अत्यधिक सचय होने से इस रोग का पाठ वातव्याधि के प्रकरण मे किया गया है। इसे जनरेलाइज्ड टेम्पनाइटिस (Generalised Tynpanitis) कहते हैं।

चिकित्सासूत्र

१ सञ्चित हुए दूषित मल और वायुसञ्चय को वातानुलोमन औषधो के प्रयोग से बाहर निकालना चाहिए।

२. शिथिल हुए पक्वाशय को सक्रिय बनाने के लिए आन्दोलित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

३ उदर का स्वेदन, अभ्यग, लेप, गुदवर्ति और आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

४ दारुषट्क लेप को गरम करके लेप करना चाहिए।

५ हॉट वाटर वैग से गरम-गरम स्वेदन करना चाहिए।

औषध-प्रयोग

हिंग्वादि चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, नारायण चूर्ण आदि का प्रयोग करना उत्तम है।

व्यवस्था-पत्र

१ ३–३ घण्टे पर दिन मे ४ बार
हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण — १२ ग्राम
उष्णोदक से। — योग ४ मात्रा

२ भोजन के पूर्व ३ बार
लशुनादि या हिंग्वादि वटी २–२ गोली चूसना।

३ भोजनोत्तर २ बार
कुमार्यासव — ३० मि० ली०
समान जल से।

---

१ साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति जानीयाद् घोरं वातनिरोधजम्॥ सु० नि १।८८

४ रात मे सोते समय
पथ्यादि चूर्ण (सुश्रुत) ५ ग्राम
पचसकार ५ ग्राम
उष्णोदक से । १ मात्रा

प्रत्याध्मान

निदान एवं लक्षण

यदि कफ और वायु के विकार से उदर के ऊपरी भाग आमाशय मे गुड़गुड़ाहट, अत्यधिक पीडायुक्त वायु का सचय हो तथा पार्श्व एव हृदय मे पीडा का अभाव हो, तो उसे प्रत्याध्मान कहते हैं[1] ।

वक्तव्य—यह आमाशय मे वायुसचय होने का रोग है। इसका साम्य आमज आनाह के साथ है। इसमे आमदोष तथा कफावृत वात होता है। इसे गैस्ट्रो टेम्प-नाइटिस (Gastro Tympanitis) कहते है। इस प्रकार आध्मान और प्रत्याध्मान क्रमश पुरीषज आनाह तथा आमज आनाह सदृश रोग हैं और इनकी चिकित्सा प्रक्रिया भी पूर्वकथित आनाह के दोनो प्रकारो के ही समान है।

व्यवस्था-पत्र

१. प्रात -साय २ वार
अग्नितुण्डीवटी २५० मि० ग्रा०
रससिन्दूर २५० मि० ग्रा०
त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु २ ग्राम
चित्रकादि वटी २ गोली
२ मात्रा
भुनी अजवायन का चूर्ण २ ग्राम मिलाकर जल से।

२ भोजन के पूर्व २ वार प्रथम ग्रास मे
हिंग्वष्टक चूर्ण ६ ग्राम
घी मिलाकर खाना। २ मात्रा

३ भोजन के वाद
लशुनादि वटी २ ग्राम
हिंगूग्रगन्धादि ४ ग्राम
जल से। २ मात्रा

४. रात मे सोते समय
पचसकार चूर्ण ६ ग्राम
गरम जल से। १ मात्रा

---

१ विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मान विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम्॥ सु० नि० १।८९

५ उदर पर लेप
दारुषट्क लेप लगाना ।

सापेक्ष निदान (१)

आमज आनाह	प्रत्याध्मान
१ आमाशयोत्थ	१. आमाशयोत्थ
२ दोष—आम, वात दूष्य—मल, मलवायु	२. दोष—कफावृत वात दूष्य—मलवायु, मल
३ तृष्णा, प्रतिश्याय, शिरोविदाह, हृत्स्तम्भ	३ आवश्यक नही ।
४ आमाशयशूल, गुरुत्व, उद्गार विघात	४. आमाशयशूल, गुरुत्व, उद्गार-विघात
५ आम, अनिवार्य मलसचय	५. मलसचय अनिवार्य नही ।
६ ×	६. उदर मे आटोप, अत्यधिक पीडा उदर का आध्मान
७ वातनिरोध अनिवार्य नही	७ वातनिरोध
८ पाइलोरिक आब्स्ट्रक्शन (Pyloric obstruction)	८ गैस्ट्रो टिम्पेनाइटिस (Gastro Tympanitis)

सापेक्ष निदान (२)

पुरीषज आनाह	आध्मान
१. पक्वाशयोत्थ	१ पक्वाशयोत्थ
२. दोष—वात दूष्य—मल, मलवायु	२ दोष—वात दूष्य—मलवायु, मल
३ कटिपृष्ठस्तम्भ, मल-मूत्रस्तम्भ, कटिपृष्ठ शूल, मूर्च्छा, पुरीष-वमन श्वास तथा अलसक के लक्षण	३ कटिपृष्ठस्तम्भ आदि आवश्यक नहीं ।
४. मलसचय अनिवार्य	४. मलसचय अनिवार्य नही ।
५ इन्टेस्टिनल आब्स्ट्रक्सन (Intestinal Obstruction)	५. जनरल टिम्पेनाइटिस (General Tympanitis)

आटोप

आटोप शब्द का प्रयोग 'आध्मान रोग' के लक्षण मे किया गया है । 'साटोप-मत्युग्ररुजमाध्मातमुदर भृशम् । आध्मानमिति त विद्याद् घोर वातनिरोधजम् ॥' (सु० नि० १।८८)

१ यहाँ पर सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने साटोप का निर्वचन करते हुए कहा है—'आटोप सञ्चलन तेन सह वर्तते, इति साटोपम्' ।

२ विजयरक्षित ने माधवनिदान की मधुकोष टीका मे आटोप का अर्थ दो आचार्यों के मत से दिया है—

३ 'ओटोपश्चलचलनम्' इति गयदास । } मा० नि० (मधुकोष)
४ 'आटोप गुडगुडा शब्द ', इति कार्तिक. । } वातव्याधि, आध्मान

५ भावमिश्र ने उदर मे होनेवाले गुड-गुड की ध्वनि को आटोप कहा है—'आटोपो गुडगुडाशब्द प्रोक्तो जठरसम्भव '।

इस प्रकार 'आटोप' एक लक्षण या व्याधि है, जिसमे उदर मे वायु की गतिशीलता के कारण गडगडाहट होती है और जैसे आसमान को बादल आच्छादित कर देते हैं अथवा जैसे सर्प अपने फन को चौडा करके एक आच्छादन या मेहराव बना देता है, उसी तरह उदर को आच्छादित करनेवाला तथा ध्वनि उत्पन्न करनेवाला और वायु के विकार से उत्पन्न होनेवाला यह आटोप रोग है। इस रोग मे उदावर्त, आनाह, आध्मान, प्रत्याध्मान, अष्ठीला, प्रत्यष्ठीला प्रभृति वातप्रधान व्याधियो के लक्षणो के सदृश समधिक लक्षण होते हैं।

इसके जनक कारणो मे वातव्याधि के सभी निदान हैं, विशेषकर कोहडा, कटहल, वडहल, उडद का वडा अथवा कलाय (मटर) का सत्तू आटोप का घटाटोप उत्पन्न करते हैं।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा मे वातानुलोमन उपचार प्रमुख है। स्नेहन, स्वेदन, दीपन-पाचन, मद्य, आसव, अरिष्ट, हीग, लहसुन, अदरख का प्रयोग करना श्रेयस्कर है।

इसमे अजीर्णाधिकार की औषधो का प्रयोग करना चाहिए। हिंग्वादि चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, भास्करलवण, हिंग्वादि वटी तथा रसोनवटी का प्रयोग बारी-बारी से करते रहना चाहिए।

दशम अध्याय

छर्दि एवं अम्लपित्त

छर्दि

पर्याय और परिचय

वमन, वमि, वान्ति, छर्दि, उल्टी और कै ये सभी पर्याय शब्द है। आमाशय पर अन्त्र एव महाप्राचीरा पेशी के दबाव से उत्पन्न क्षोभ के कारण अन्ननलिका तथा मुख से आमाशय स्थित वस्तु का वेगपूर्वक बाहर निकलना 'छर्दि' है।[1]

छर्दि शब्द का निर्वचन

जिस व्याधि मे प्रकुपित उदान वायु मुखगह्वर को आच्छादित करता (भरता) हुआ और अगो को अनेक तरह की वेदनाओ से पीडित करता हुआ एव आमाशयगत पदार्थों को वेगपूर्वक बाहर निकालता हुआ स्वय बाहर निकलने के लिए मुखमार्ग की ओर दौड पडता है, उसे छर्दि कहते हैं।

निरुक्ति[2]—जो मुखगुहा को आच्छादित या भरपूर कर दे और अगो को पीडित करे, उसे 'छर्दि' कहते हैं। छर्दि शब्द का निर्माण दो धातुओ से हुआ है। 'छद अपवारणे' और 'अर्द हिंसायाम्' इन दो धातुओ से अक्षर लोप और आगम होकर 'पृषोदरादिगण' से छर्दि शब्द बनता है।[3]

---

1 By vomiting is meant a forceful expulsion of stomach contents through the mouth, as the result of increased intra-abdominal pressure, produced by abdominal and diaphragmatic contractions The act of vomiting is frequantly preceded or accompanied by nausea or a peculiar feeling of impeding vomiting, usually experienced in throat or epigastrium Due to a sudden rise of intra-abdominal pressure, secondary to simultaneous, vigorous and rhythmic contractions of the diaphragm and abdominal muscles, the gastro-intestinal contents are forcefully expelled through the mouth, in vomiting. The act of vomiting is highly complex and involves descent and contraction of the diaphragm, spasm of abdominal muscles, pyloric spasm with relaxation of the cardia, forward and upward movement of the larynx and hyoid bone, elevation of the soft palate, closure of glottis and rise of intra-abdominal and intra-pulmonary pressures

—क्लिनिकल डायग्नोसिस, पृ० ५८ से साभार।

२ छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्राद् बहिश्चरन् ॥ सु० उ० अ० ४९

३ छादयति मुखं, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दि । 'छद अपवारणे' 'अद हिंसायाम्' अनयो ोदरादित्वेन रूपसिद्धि । मा० नि० छर्दि० ४ पर मधुकोष।

छर्दि का सामान्य निदान[1]

१ भोजन से सम्बन्धित—

१. अत्यन्त द्रव (जलीय) आहार का सेवन ।
२ अत्यधिक चिकने पदार्थ खाना ।
३ मन की पसन्द के प्रतिकूल आहार करना ।
४ नमकीन पदार्थों का बहुतायत मे सेवन करना ।
५ भोजन के नियमित समय के पूर्व या बाद मे (असमय) भोजन करना ।
६ जठराग्नि की पाचन-क्षमता से अधिक भोजन करना ।
७ असात्म्य (अहितकर) भोजन करना ।
८ अजीर्ण होना ।

२. विहार से सम्बन्धित—

९ शीघ्रता से भोजन करना ।
१०. अधिक श्रम करना ।
११ भयग्रस्त होना ।
१२. उद्वेग होना ।

३ अन्य—

१३ उदर मे कृमियो की उत्पत्ति होना ।
१४ स्त्री का सगर्भा (आपन्नसत्त्व) होना ।
१५ शरीर मे आमज विकारो का बढ जाना ।
१६ वीभत्स घृणाजनक दृश्यो का देखना ।
१७ मन को पसन्द न आने वाले विविध कारण छर्दि रोग को उत्पन्न करते हैं ।

वक्तव्य—उक्त निदान किस प्रकार की प्रतिक्रिया करके छर्दिरोग उत्पन्न करते हैं ? इसकी व्याख्या निम्न पक्तियो मे निर्दिष्ट है[2]—

अतिद्रव—आमाशय मे अतिद्रव की उपस्थिति, वहाँ अत्यधिक तनाव (Over distention) उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन द्वारा छर्दि उत्पन्न करती है ।

अतिस्निग्ध—अतिस्निग्ध भोजन दुष्पाच्य एव कफवर्धक होता है । वह विकृत होकर स्रोतोरोध तथा आमाशयिक श्लैष्मिककला मे क्षोभ उत्पन्न करके वमन कराता है ।

---

१ अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनै ॥
श्रमाद् क्षयात्तथोद्वेगादजीर्णाद् कृमिदोषत ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुत[illegible]श्नत ॥
अत्यन्ताशुपरीतस्य छर्देर्वै सम्भवो ध्रुवम् ।
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैद्रु तमुत्क्लेशितो बलात् ॥ सु० उ० ४९।३–५

२ मा० नि० की श्रीसुदर्शनशास्त्री की टीका (विमर्श) से साभार उद्धृत ।

अहृद्य—खाने मे अरुचिकर एवं आमाशयिक श्लैष्मिककला मे सक्षोभ उत्पन्न करनेवाले सभी पदार्थ अहृद्य कहलाते हैं। मुख द्वारा ग्रहण करने पर आमाशय मे क्षोभ उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन करानेवाले वामक या अन्य असात्म्य 'पदार्थ इस वर्ग मे आते हैं।

अतिलवण—लवण श्लेष्म-पित्तवर्धक होने से स्रोतोरोध एव विदग्ध पित्त का आधिक्य उत्पन्न करके वमन कराता है। इसके अतिरिक्त लवण मे आस्रुतीय पीडन (Osmotic pressure) बढाकर अपनी ओर द्रवाश को खीच लेने की अद्भुत शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण वह आमाशयस्थ केशिकाओ की दीवारो से अत्यधिक मात्रा मे द्रवाश का स्राव कराकर उदर को फुला देता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि की उत्पत्ति होती है। इसी दृष्टिकोण से लवण का सतृप्त घोल वमनार्थ प्रयुक्त होता है।

अकाल तथा अतिमात्र भोजन—भोजन का परिपाक करने के लिए निश्चित समय एव निश्चित प्रमाण मे पाचक रस का स्राव होता है। असमय मे भोजन करने से आमाशयिक रस का स्राव न होने से भोजन का परिपाक नही होता, एव वह विकृत होकर अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा छर्दि को उत्पन्न करता है। ठीक यही परिणाम अधिक भोजन करने पर भी होता है।

असात्म्य भोजन—आमाशय मे क्षोभ उत्पन्न करनेवाले सखिया सदृश विष तथा अन्य वामक और अनिष्ट पदार्थ असात्म्य कहलाते हैं। इनमे से कुछ केन्द्र पर साक्षात् प्रभाव द्वारा एव कुछ प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा और कुछ उभय (दोनो) विधि से वमन कराते हैं।

श्रम, भय तथा उद्वेग—ये मानसिक कारण है एव इनके द्वारा होनेवाली छर्दि केन्द्रीय छर्दि (Central vomiting) कहलाती है। इसमे मिचली नही होती।

अजीर्ण—अजीर्ण के कारण आमाशयस्थ पदार्थ विकृत होकर आमविषोत्पत्ति तथा वायु की उत्पत्ति (Gas formation) के द्वारा प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि को उत्पन्न करता है।

कृमिदोष—आमाशय मे गण्डूपद कृमि की उपस्थिति से प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन होता है। इसके अतिरिक्त कभी ये कुण्डलित होकर अन्त्रावरोध एव उदावर्त उत्पन्न करके भी वमन के प्रवर्तक होते हैं।

सगर्भावस्था—गर्भ के पीडन से उत्पन्न वायु की विकृति से छर्दि की उत्पत्ति होती है ('गर्भोत्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दि'—मधुकोष टीका) गर्भ के प्रथम तीन मासो मे प्राय वमन होता है। इसका कारण प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) के अतिरिक्त कुछ नही है। चरक ने भी तृतीय मास मे होनेवाले दौहृंद तथा गर्भ-धारण के सामान्य लक्षणो का वर्णन करते हुए छर्दि का वर्णन किया है, तद्यथा—'आर्तवादर्शनमास्यसस्रवणमनन्नाभिलाप छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण' इत्यादि।

अतिशीघ्र भोजन करना—अतिशीघ्रतापूर्वक भोजन करने से भी आमाशय के शीघ्र भरने एवं क्षोभ होने पर प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि होती है।

बीभत्स आदि हेतु—इन हेतुओं को मानसिक कारणों के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। ये मस्तिष्कगत वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करके वमन कराते हैं।

अन्य कारण—इन बाह्य कारणों के अतिरिक्त आमाशय के कुछ रोगों (आमाशयिक कलाशोथ, आमाशय व्रण तथा घातक अर्बुद, आमाशय का तीव्र विस्फार) में भी आमाशयिक क्षोभ तथा तज्जन्य प्रत्यावर्तन क्रिया के द्वारा भी छर्दि होती है। क्षोभ द्वारा होने वाले सभी वमन प्राणदा (Vagus) नाडी की सक्रियता पर निर्भर हैं।

छर्दि की आधुनिक परिभाषा

अन्ननलिका एवं मुख द्वारा आमाशयिक पदार्थों को वेगपूर्वक बाहर निकालने की क्रिया को छर्दि कहते हैं—'Vomiting is forcible expulsion of the gastric contents through the oesophagus and mouth'

पाश्चात्य वैद्यक के आधार पर छर्दि को तीन बड़े भागों में विभक्त किया जाता है—

१ केन्द्रीय छर्दि (Central Vomiting)—वामक केन्द्र मस्तिष्क में प्राणगुहातल (Floor of the fourth ventricle) में अवस्थित है। किसी वस्तु के प्रति स्वाभाविक घृणा या भय आदि कारणों से वामक केन्द्र की उत्तेजना के फलस्वरूप होनेवाली छर्दि केन्द्रीय छर्दि कहलाती है। इस प्रकार की छर्दि अधिकतर असहिष्णु व्यक्तियों में पायी जाती है। जिनको भय, घृणा या भीड़ आदि कारणों से पहले कभी वमन हो चुका है, उनको स्मृति तथा अनुभव से भी पुनः वमन हो जाता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कार्बुद (Cerebral tumour) एवं मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) सदृश मस्तिष्क के रोगों में भी छर्दि होती है। इसका प्रधान कारण शीर्षान्तर्गत निपीड (Intracrenial pressure) की वृद्धि तथा वामक केन्द्र की उत्तेजना है। केन्द्रीय छर्दि की यह विशेषता है, कि इसमें अन्य छर्दि के समान छर्दि के पूर्व मिचली तथा उदरशूल या उदर के अन्य विकार नहीं पाये जाते, किन्तु इसमें शिरोवेदना हो सकती है।

२ प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि (Reflex vomiting)—यह आमाशयस्थ विकृत खाद्य पदार्थ तथा विभिन्न ऐन्द्रियक एवं अनैन्द्रियक विषों से आमाशयिक श्लेष्मल कला के क्षोभ तथा भोजनादि से आमाशय के अधिक तन जाने में होती है। इसके अतिरिक्त किसी सावेदनिक नाडी की पीडायुक्त उत्तेजना के फलस्वरूप भी प्रत्यावर्तित छर्दि हो सकती है।

३ विषजन्य छर्दि—(Toxic vomiting)—एपोमार्फीन सदृश वामक पदार्थ वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा वमन कराते हैं। इसके अतिरिक्त ताम्र तथा लवणजल आमाशय में पहुँच कर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन कराते हैं। मूत्रविषमयता तथा परमावटुकग्रन्थिता (Hyperthyroidism) के द्वारा उत्पन्न विष

अहृद्य—खाने मे अरुचिकर एव आमाशयिक श्लैष्मिककला मे सक्षोभ उत्पन्न करनेवाले सभी पदार्थ अहृद्य कहलाते हैं। मुख द्वारा ग्रहण करने पर आमाशय मे क्षोभ उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन करानेवाले वामक या अन्य असात्म्य पदार्थ इस वर्ग मे आते हैं।

अतिलवण—लवण श्लेष्म-पित्तवर्धक होने से स्रोतोरोध एव विदग्ध पित्त का आधिक्य उत्पन्न करके वमन कराता है। इसके अतिरिक्त लवण मे आस्रुतीय पीडन (Osmotic pressure) बढाकर अपनी ओर द्रवाश को खीच लेने की अद्भुत शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण वह आमाशयस्थ केशिकाओ की दीवारो से अत्यधिक मात्रा मे द्रवाश का स्राव कराकर उदर को फुला देता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि की उत्पत्ति होती है। इसी दृष्टिकोण से लवण का सतृप्त घोल वमनार्थ प्रयुक्त होता है।

अकाल तथा अतिमात्र भोजन—भोजन का परिपाक करने के लिए निश्चित समय एव निश्चित प्रमाण मे पाचक रस का स्राव होता है। असमय मे भोजन करने से आमाशयिक रस का स्राव न होने से भोजन का परिपाक नही होता, एव वह विकृत होकर अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा छर्दि को उत्पन्न करता है। ठीक यही परिणाम अधिक भोजन करने पर भी होता है।

असात्म्य भोजन—आमाशय मे क्षोभ उत्पन्न करनेवाले सखिया सदृश विष तथा अन्य वामक और अनिष्ट पदार्थ असात्म्य कहलाते हैं। इनमें से कुछ केन्द्र पर साक्षात् प्रभाव द्वारा एव कुछ प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा और कुछ उभय (दोनो) विधि से वमन कराते हैं।

श्रम, भय तथा उद्वेग—ये मानसिक कारण है एव इनके द्वारा होनेवाली छर्दि केन्द्रीय छर्दि (Central vomiting) कहलाती है। इसमें मिचली नही होती।

अजीर्ण—अजीर्ण के कारण आमाशयस्थ पदार्थ विकृत होकर आमविषोत्पत्ति तथा वायु की उत्पत्ति (Gas formation) के द्वारा प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि को उत्पन्न करता है।

कृमिदोष—आमाशय मे गण्डूपद कृमि की उपस्थिति से प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन होता है। इसके अतिरिक्त कभी ये कुण्डलित होकर अन्त्रावरोध एव उदावर्त उत्पन्न करके भी वमन के प्रवर्तक होते हैं।

सगर्भावस्था—गर्भ के पीडन से उत्पन्न वायु की विकृति से छर्दि की उत्पत्ति होती है ('गर्भोत्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दि'—मधुकोष टीका) गर्भ के प्रथम तीन मासो मे प्राय वमन होता है। इसका कारण प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) के अतिरिक्त कुछ नही है। चरक ने भी तृतीय मास मे होनेवाले दौहृद तथा गर्भधारण के सामान्य लक्षणो का वर्णन करते हुए छर्दि का वर्णन किया है, तद्यथा—'आर्तवादर्शनमास्यसस्रवणमनन्नाभिलाप छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण' इत्यादि।

अतिशीघ्र भोजन करना—अतिशीघ्रतापूर्वक भोजन करने से भी आमाशय के शीघ्र भरने एव क्षोभ होने पर प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि होती है।

बीभत्स आदि हेतु—इन हेतुओ को मानसिक कारणो के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। ये मस्तिष्कगत वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करके वमन कराते हैं।

अन्य कारण—इन बाह्य कारणो के अतिरिक्त आमाशय के कुछ रोगो (आमाशयिक कलाशोथ, आमाशय व्रण तथा घातक अर्बुद, आमाशय का तीव्र विस्फार) मे भी आमाशयिक क्षोभ तथा तज्जन्य प्रत्यावर्तन क्रिया के द्वारा भी छर्दि होती है। सक्षोभ द्वारा होने वाले सभी वमन प्राणदा (Vagus) नाडी की सक्रियता पर निर्भर हैं।

छर्दि की आधुनिक परिभाषा

अन्ननलिका एव मुख द्वारा आमाशयिक पदार्थों को वेगपूर्वक बाहर निकालने की क्रिया को छर्दि कहते हैं—'Vomiting is forcible expulsion of the gastric contents through the oesophagus and mouth'

पाश्चात्य वैद्यक के आधार पर छर्दि को तीन बडे भागो मे विभक्त किया जाता है—

१. केन्द्रीय छर्दि (Central Vomiting)—वामक केन्द्र मस्तिष्क मे प्राण-गुहातल (Floor of the fourth ventricle) मे अवस्थित है। किसी वस्तु के प्रति स्वाभाविक घृणा या भय आदि कारणो से वामक केन्द्र की उत्तेजना के फलस्वरूप होनेवाली छर्दि केन्द्रीय छर्दि कहलाती है। इस प्रकार की छर्दि अधिकतर असहिष्णु व्यक्तियो मे पायी जाती है। जिनको भय, घृणा या भीड आदि कारणो से पहले कभी वमन हो चुका है, उनकी स्मृति तथा अनुभव से भी पुन वमन हो जाता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कार्बुद (Cerebral tumour) एव मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) सदृश मस्तिष्क के रोगो मे भी छर्दि होती है। इसका प्रधान कारण शीर्षान्तरीय निपीड (Intracrenial pressure) की वृद्धि तथा वामक केन्द्र की उत्तेजना है। केन्द्रीय छर्दि की यह विशेषता है, कि इसमे अन्य छर्दि के समान छर्दि के पूर्व मितली तथा उदरशूल या उदर के अन्य विकार नही पाये जाते, किन्तु इसमे शिरोवेदना हो सकती है।

२ प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि (Reflex vomiting)—यह आमाशयस्थ विकृत खाद्य पदार्थ तथा विभिन्न ऐन्द्रियक एव अनैन्द्रियक विषो से आमाशयिक श्लेष्मल कला के क्षोभ तथा भोजनादि से आमाशय के अधिक तन जाने मे होती है। इसके अतिरिक्त किसी सावेदनिक नाडी की पीडायुक्त उत्तेजना के फलस्वरूप भी प्रत्यावर्तित छर्दि हो सकती है।

३ विषजन्य छर्दि—(Toxic vomiting)—एपोमार्फीन सदृश वामक पदार्थ वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा वमन कराते हैं। इसके अतिरिक्त ताम्र तथा लवणजल आमाशय मे पहुँच कर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन कराते हैं। मूत्र-विषमयता तथा परमावटुकग्रन्थिता (Hyperthyroidism) के द्वारा उत्पन्न विष

वामक केन्द्र पर साक्षात् प्रभाव करके छर्दि को उत्पन्न करते हैं। इस छर्दि मे हृल्लास अधिक, किन्तु वास्तविक वमन कम रहता है। केन्द्रीय तथा प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि से पृथक् करने के लिये यह विशिष्ट लक्षण है।

वातनाडियों के कारण जो वमन होता है, उनमे अपतन्त्रकजन्य (Hysterial), अर्धावभेदक जन्य, पित्तज (Bilious) तथा मस्तिष्क के विकार तथा प्रत्यावर्तन-क्रियाजन्य, जैसे—पहाड या समुद्रयात्रा काल मे या किसी विशेष यान पर सवारी करने से छर्दि होती है।

सम्प्राप्ति

(१) व्यान के साथ मिला हुआ उदान वायु (जिसका एक कर्म ऊर्ध्वगमन है) विरुद्ध आहार के सेवन से प्रवृद्ध हुए (पित्त एव कफ) दोषो को प्रेरित करता हुआ वेगपूर्वक आमाशयस्थ पदार्थों को और कभी-कभी (अन्त्रावरोध होने पर) अन्त्रस्थ पदार्थों को भी मुखद्वारा वाहर निकाल देता है, तो छर्दि रोग की उत्पत्ति होती है।[1]

(२) जब लवणरसयुक्त लालास्राव अधिक मात्रा मे आमाशय मे पहुँच जाता है तो तुरन्त छर्दि उत्पन्न करता है। प्रथमत हृद्-उत्क्लेश होता है अर्थात् हृदय के समीपस्थ आमाशयिक छिद्र (हार्दिकद्वार—Cardiac orifice) के समीपस्थ भाग में आमाशयस्थ पदार्थ को वाहर निकालने की विशेष प्रवृत्ति होती है। आमाशय मे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की अधिकता होने पर दुग्धिक, घृतिक इत्यादि सेन्द्रिय अम्लों की उत्पत्ति होती है। ये अम्ल हृदय-प्रदेश मे उत्क्लेश करते हैं और ये अम्ल आमाशय के हार्दिक द्वार को खोलकर ऊपर आ जाते हैं।

(३) तीसरी अवस्था यह है, कि महाप्राचीरा (Diaphragm) पेशी के कडी हो जाने से आमाशय पर दवाव पडता है तथा ग्रहणी छिद्र (Pylorus) वन्द रहता है, साथ ही औदर्य पेशियाँ सकुचित होती हैं, जिससे हृदय-द्वार की पेशियाँ स्वभावत ढीली पड जाती है। इस प्रकार हार्दिक-द्वार के खुल जाने पर वेग के द्वारा आमाशयिक पदार्थ मुखद्वारा वाहर निकल जाता है।

सप्राप्ति-सारणी

अतिद्रव आदि निदान—व्यान-उदान प्रकोप—कफ-पित्त का प्रेरण
|
उत्क्लेश
|
मुख का आच्छादन
(पूरण)

दोष-दूष्य-अधिष्ठान आदि—

१ दोष—उदान वायु प्रधान तीनो दोष।

२ दूष्य—अन्न एव आहाररस।

३ स्रोतस—अन्नवह, मनोवह।

---

१ दोषानुदीरयन् वृद्धानुदानो व्यानसङ्गत।
ऊर्ध्वमागच्छति भृश विरुद्धाहारसेवनात्॥ सु० उ० ४९।७
तथा
उदानो विकृतो दोषान् सर्वास्वप्यूर्ध्वमस्यति। वाग्भट

४. अधिष्ठान—आमाशय ।

छर्दि का पूर्वरूप

१ मिचली होना, २. डकार निकलने मे रुकावट होना, ३. मुख से पतले और नमकीन स्राव का होना और ४. खाने-पीने मे सर्वथा अरुचि (अनिच्छा Anorexia) का होना, ये छर्दिरोग के पूर्वरूप है ।[1]

छर्दि के भेद[2]

कारण-भेद से छर्दि के पाँच भेद होते हैं—१. वातजा, २ पित्तजा, ३ कफजा, ४. सन्निपातजा और ५ आगन्तुजा ।

आगन्तुज छर्दि के पुन पाँच भेद होते हैं—१. बीभत्सजा द्विष्टार्थसयोगजा अर्थात् जिन वस्तुओ के देखने से, स्पर्श करने से, गन्धग्रहण करने से, नाम सुनने से या खाने से घृणा होती है, उनके दर्शन-स्पर्शन-गन्धग्रहण-श्रवण एव भक्षण से उत्पन्न, २. दौहृदजा अर्थात् गर्भावस्था मे होनेवाली, ३ आमजा, ४ असात्म्यजा और ५ कृमिजा ।

छर्दि-भेद-सारणी
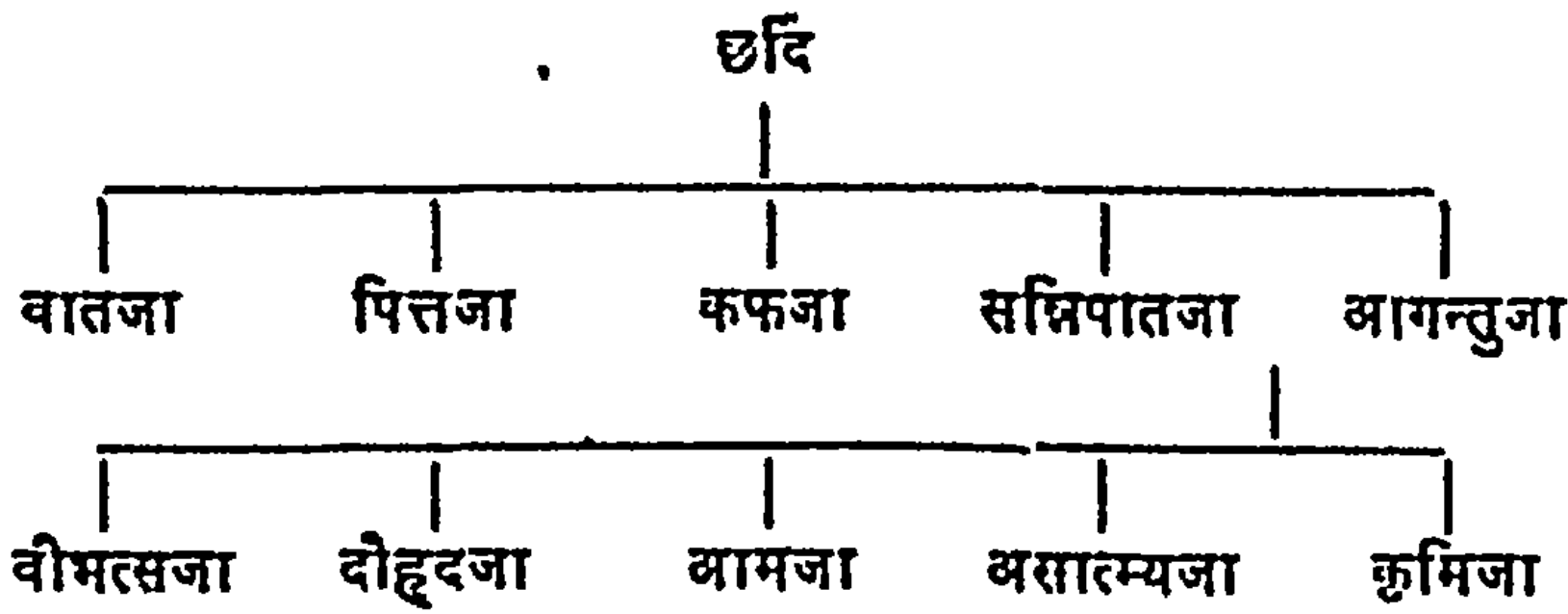
छर्दि के भेदो मे पृथक्-पृथक् निदान, संप्राप्ति और लक्षण

वातज छर्दि का निदान और संप्राप्ति[3]

१ व्यायाम, २. तीक्ष्ण औपध-सेवन, ३ शोक, ४ जीर्ण रोग, ५ भय तथा ६ उपवास आदि के कारण व्यक्ति का क्षीण हो जाना, वातज छर्दि का निदान है ।

---

१ (क) हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनु ।
द्वेषोऽन्नपाने च भृश वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥ सु० उ० ४९
(ख) तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् । च० चि० २०।६

२ दोषै पृथक् त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात् । च० चि० २०।६

३ व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्शितस्य ।
वायुर्महास्रोतसि सम्प्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन् ॥
आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत्तु । च० चि० २०।७-८

ऐसे व्यक्ति के महास्रोत (अन्नवहस्रोत) मे कुपित वायु उस स्रोत मे रहनेवाले दोषो को उभाडकर ऊपर फेंकती है तथा फेंकते समय आमाशय मे उत्क्लेश (क्षोभ) हो जाने से मर्मस्थान (हृदय) मे पीडा उत्पन्न करती हुई छर्दि रोग को उत्पन्न करती है ।

वातज छर्दि का लक्षण[1]

इसमे कुपित हुई वायु हृदय और पार्श्व प्रदेश मे वेदना, मुख का सूखना, मस्तक एवं नाभि में पीडा के साथ खाँसी, स्वरभेद और अङ्गो में सूई चुभाने जैसी पीडा उत्पन्न करती है । इसमे डकार का शब्द वडे वेग से निकलता है, वमन पदार्थ फेनयुक्त होता है और टुकडे-टुकडे के रूप मे निकलता है, उसका वर्ण काला होता है, वह पतला होता है एव उसका रस (स्वाद) कसैला होता है । वान्त द्रव्य का प्रमाण अल्प होता है और उसे निकालने के लिए वडा जोर लगाना पडता है, जिससे वेग का प्रवाहण एव उदीरण होकर समस्त शरीर मे क्षोभ तथा पीडा के साथ वमन होता है । यह वातज छर्दि कष्ट के साथ प्रवृत्त होती है तथा भोजन के पच जाने पर वढती है ।

पित्तज छर्दि का निदान और संप्राप्ति[2]

१ अजीर्ण भोजन, २. कटुरस सेवनाधिक्य, ३ अम्लरस-सेवनाधिक्य, ४ विदाही पदार्थ सेवन और ५ उष्ण आहार सेवन से वढा हुआ पित्त आमाशय मे संचित होकर पित्तज छर्दि का निदान होता है ।

वह वढा हुआ पित्त प्रवल वेगयुक्त होने से रसायनियो मे फैल जाता है और ऊपर आकर मर्म (हृदय) में पीडा उत्पन्न कर वमन उत्पन्न करता है ।

पित्तज छर्दि का लक्षण[3]

मूर्च्छा, प्यास की अधिकता, मुख का सूखना, शिर, तालु एव नेत्रो मे जलन होना, आँखो के सामने अँधेरा होना, चक्कर आना, वान्त पदार्थ का पीले या हरे वर्ण का होना, उष्ण होना और तिक्तरस का होना, वमन करते समय मुख से धुँआ निकलने जैसा अनुभव होना तथा गले मे दाह होना, ये पित्तज छर्दि के लक्षण हैं ।

---

१ (क) हृत्पार्श्वपीडामुखशोपमूर्धनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदै ।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्ण तनुक कषायम् ॥
कृच्छ्रेण चाल्प महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दु खम् । च० चि० २०।८-९
(ख) प्रच्छर्दयेत फेनिलमल्पमल्पं शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठ ॥
श्रान्त सघोष बहुश कषाय जीर्णेऽधिकं साऽनिलजा वमिस्तु । सु० उ० ४९।९
२ अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम् ।
रसायनीभिर्विसृत प्रपीड्य मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति ॥ च० चि० २०।१०
३ (क) तृष्णापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तं ।
पीत भृशोष्णं हरितं सतिक्त धूम्र च पित्तेन वमेत सदाहम् ॥ च० चि० २०।११
(ख) सोऽम्लं भृशं वा कटुतिक्तवक्त्र पीत सरक्त हरितं वमेद् वा ।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषो मूर्च्छाऽन्वित पित्तनिमित्तजा सा ॥ सु० उ० ४९।१०

कफज छर्दि का निदान और संप्राप्ति[1]

जो व्यक्ति अधिक स्निग्ध, अधिक गुरु, आम और विदाही आहारो का सेवन करता है तथा जो अधिक सोता है, उसके शरीर मे कफ की वृद्धि हो जाती है, यह छर्दि रोग का निदान है।

वह बढ़ा हुआ कफ उर प्रदेश, शिर, मर्म (हृदय) और सपूर्ण रसायनियो मे फैलकर छर्दि रोग को उत्पन्न करता है।

कफज छर्दि का लक्षण[2]

तन्द्रा, मुख का मधुर होना, बार-बार मुख से कफ निकलना, बिना खाये पेट भरा मालूम होना, नीद अधिक आना, क्षुधा होने पर भी भोजन मे अरुचि होना, शरीर मे भारीपन बना रहना, वान्त पदार्थ का स्निग्ध, घना, मधुररस तथा शुद्ध कफ रूप का होना, रोगी के शरीर मे रोमाञ्च होना, विना कष्ट के वमन होना या अल्प कष्ट के साथ वमन होना, ये कफज छर्दि के लक्षण हैं।

सन्निपातज छर्दि का निदान और संप्राप्ति[3]

जो व्यक्ति उचित-अनुचित आहार द्रव्यो का विचार न करते हुए सभी रसो का अनुचित रूप मे सेवन करता है, जिसके कारण तथा आमदोष के कुपित होने से एव ऋतु का विपर्यय होने से, वात-पित्त-कफ तीनो दोष एक साथ कुपित होकर वमन रोग को उत्पन्न करते हैं।

सन्निपातज छर्दि का लक्षण[4]

उदर मे शूल होना, आहार का सम्यक् पाक न होना, भोजन मे अरुचि, उदर या गले में दाह, प्यास की अधिकता, श्वास और मूर्च्छा होना, ये लक्षण सन्निपातज छर्दि मे प्रवल रूप से होते हैं। वमन से निकला हुआ पदार्थ नमकीन और अम्ल रस का, नीलवर्ण का, उष्ण और रक्त मिला हुआ होता है।

---

१. स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यै स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्ध ।
उर शिरो मर्मरमायनीश्च सर्वा समावृत्य वमिं करोति ॥ च० चि० २०।१२

२ (क) तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोपनिद्राऽरुचिगौरवार्त ।
स्निग्ध घन स्वादु कफाद् विशुद्ध सलोमहर्षोऽल्परुज वमेत्तु ॥ च० चि० २०।१३

(ख) यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं शुक्ल हिन सान्द्रकफानुविद्धम् ।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो वमेद् वमी सा कफकोपजा स्यात ॥ सु० उ० ४९।११

३ समश्नत सर्वरसान् प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च ।
सर्वे प्रकोपं युगपत् प्रपन्नाश्छर्दि त्रिदोषा जनयन्ति दोषा. ॥ च० चि० २०।१४

४[1] (क) शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम् ।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात ॥ च० चि० २०।१५

(ख) सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्यां सा सर्वदोषप्रभवा मता तु । सु० उ० ४९।१२

आगन्तुजा द्विष्टार्थसंयोगजा छर्दि[1]

जिसके प्रति मन मे द्वेष हो, जो मन के विपरीत हो, जो अपवित्र हो, जो सडा हुआ हो, जो बुद्धि को कुठित करनेवाला हो, जो घृणास्पद हो या मानसिक क्रिया को नष्ट करनेवाला हो, ऐसे गन्धयुक्त पदार्थ, आहार या दृश्य के दर्शन से जिस व्यक्ति का मन सतप्त हो जाता है, वह वमन करने लग जाता है, उस वमन को द्विष्ट वस्तु के सयोग से उत्पन्न हुआ माना जाता है।

वक्तव्य—आचार्य चरक वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और द्विष्टार्थसंयोगज भेद से छर्दि रोग को पाँच प्रकार का मानते हैं। सुश्रुताचार्य ने पाँचवीं छर्दि को आगन्तुजा माना है और उसके पाँच प्रकार कहे हैं—१ वीभत्सजा, २. दौहृदजा, ३ आमजा, ४. असात्म्यजा और ५ कृमिजा।

चरक ने स्वतन्त्र रूप से होनेवाले छर्दि रोग का वर्णन किया है, इसलिए कृमिजा का वर्णन नहीं किया है, क्योकि कृमिजन्य छर्दि स्वतन्त्र छर्दि नही है। आमजा को सन्निपातज में गतार्थ माना है। सगर्भा स्त्री स्वभावत· अन्नपान से द्वेष करती है और वीभत्सजा तथा असात्म्यजा ये दोनो भी द्विष्ट अर्थ सयोग से ही होती हैं, इस प्रकार वीभत्सजा, दौहृदजा एव असात्म्यजा, इन तीनो का अन्तर्भाव चरक के द्विष्टार्थ-सयोगजा मे हो जाने से कोई मतभेद नही है।

आगन्तुज छर्दि का लक्षण[2]

घृणित वस्तुओ के दर्शन-स्पर्शन-चिन्तन या सम्पर्क से, स्त्रियों मे सगर्भावस्था से, आमदोष या आमाजीर्ण से, असात्म्य (प्रतिकूल) आहार के सेवन से और अन्त्र मे कृमियो की उपस्थिति से—१ वीभत्सजा, २ दौहृदजा, ३ आमजा, ४. असात्म्यजा और ५ कृमिजा के रूप मे छर्दि के ये पाँच प्रकार होते हैं। इनमें भी दोषो के अनुबन्ध का विचार करना चाहिए।

कृमिज छर्दि लक्षण[3]

उदर मे शूल होना, मिचली होना तथा कृमिज हृद्रोग के लक्षणो का छर्दि के साथ होना, कृमिज छर्दि का लक्षण है।

छर्दि के उपद्रव[4]

खाँसी आना, दम फूलना, ज्वर होना, हिचकी आना, प्यास लगना, बेहोशी होना, हृदय रोग होना और तमकश्वास होना, ये छर्दिरोग के उपद्रव हैं।

---

१. द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यवीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च ।
यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नैर्द्विष्टार्थसयोगभवा मता सा ॥ च० चि० २०।१८

२ वीभत्सजा दौहृदजाऽऽमजा च सात्म्यप्रकोपाद्व कृमिजा च या हि।
सा पञ्चमी ताञ्च विभावयेत्तु दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥ सु० उ० ४९।१२

३ शूलहृल्लासबहुला कृमिजा च विशेषत ।
कृमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥ सु० उ० ४९।१४

४ कास श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवा ॥

असाध्य छर्दि के लक्षण[1]

जब प्रकुपित वायु मलवह-स्वेदवह-मूत्रवह और अम्बुवह स्रोतो को अवरुद्ध कर ऊपरी भाग मे आती है, तब जिन व्यक्तियो के शरीर में एकत्र दोष उभडे हुए होते हैं, उन दोषो को कोष्ठ से बाहर निकाल कर ऊपर ले आती है, ऐसी अवस्था मे वमन से निकले पदार्थ मे मल-मूत्र के समान वर्ण और गन्ध होती है। वह रोगी प्यास, श्वास, हिचकी से लगातार कष्ट पाता रहता है। जब वमन होता है, तब उसका वेग बहुत जोरो का होता है और जो पदार्थ वमन से निकलता है वह अत्यन्त दूषित होता है। इस प्रकार के लक्षणो से युक्त सन्निपातज छर्दि रोग से पीडित व्यक्ति की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

वमन-रोगी यदि क्षीण हो, वमन का वेग तीव्र हो, वमन के सभी उपद्रव विद्यमान हो, वमन से निकले पदार्थ मे रक्त और पूय का मिश्रण हो और उसमे मोर की पाँख की तरह चकमकाहट हो, तो उसे असाध्य कहा जाता है। जो छर्दि रोग उपद्रवरहित हो, वह साध्य होता है, उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्सासूत्र

१ सभी प्रकार के छर्दिरोग आमाशय मे उत्क्लेश या क्षोभ होने से होते हैं और आमाशयोत्थ रोगो का सर्वप्रथम उपचार लघन कराना है, इसलिए छर्दिरोग मे सबसे पहले लघन कराना चाहिए।[2]

२ वातज छर्दि मे लघन नही कराना चाहिए। क्योकि लंघन से रसादि धातुओ का क्षय होने के परिणामस्वरूप वायु का प्रकोप बढ जाता है।

३ जब दोप अल्पमात्रा मे हो और रोगी दुर्बल हो, तो लघन करावे और यदि दोष अधिक कुपित हो, तो सशोधन का प्रयोग करना चाहिए।[3]

४ कफ दोप की प्रधानता मे वमन तथा पित्त दोष की प्रधानता मे विरेचन के द्वारा शोधन कराना चाहिए।

५ छर्दि मे वायु की विलोमगति होने से दोप की ऊर्ध्वमार्ग मे प्रवृत्ति होती है। विरेचन देने से अधोमार्ग से दोप की गति होने से शोधन तो होता ही है, साथ ही

---

१. विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायु स्रोतासि सरुध्य यदोर्ध्वमेति ।
उत्सन्नदोपस्य समाचित त दोप- समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥
विण्मूत्रयोस्तत् समवर्णगन्ध तृट्श्वासहिक्कार्नियुतं प्रसक्तम् ।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥
क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रवृद्धा सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।
सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्या साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवा च ॥ च० चि० ४१।१६-१७,१९

२ आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् ।
प्राक् कारयेन्मारुतजा विहाय सशोधनं वा कफपित्तहारि ॥

३ लङ्घनमल्पदोषविषयं शोधनं च बहुदोषविषयमिति व्यवस्था ।
च० चि० २०।२० पर चक्रपाणि

वायु का विलोमभाव भी नष्ट हो जाता है, अत विरेचन के रूप मे सशोधन का प्रयोग छर्दि मे हितकारक सिद्ध होता है ।

६ विरेचन कराने के लिए ५ ग्राम बडी हर्रे का चूर्ण मधु या चीनी से खिलावे।

७. मनपसन्द रुचिकर विरेचन द्रव्य—मुनक्का, इसबगोल की भूसी, निशोथचूर्ण या अविपत्तिकर चूर्ण आदि को उचित मात्रा मे मदिरा या दूध मे मिलाकर थोडा-थोडा करके पिलाना चाहिए ।

८. वमनार्थ सबल रोगी को तितलौकी या कडवा नेनुआ के बीज को दूध आदि के साथ पीसकर पिलाना चाहिए ।

९. उपद्रव की चिकित्सा—यदि छर्दि रोग की चिकित्सा करने पर भी छर्दि के उपद्रव—कास-श्वास-हिक्का आदि उपस्थित हो जायें तो उन-उन उपद्रवो की, जो उनके चिकित्साधिकार मे औषधियाँ बतलायी गयी हैं, प्रयोग करना चाहिए ।

१०. दीर्घकालीन छर्दि—लगातार अधिक दिनो तक छर्दि होने से धातुओ का क्षय हो जाता है, जिससे वायु की वृद्धि हो जाती है । इसलिए बहुत दिनो से होने वाले छर्दिरोग मे वायुनाशक, स्तम्भन और बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए ।

११ चिरकालीन छर्दि मे क्षतक्षीण चिकित्सा मे कथित सर्पिर्गुड, दुग्धपाक विधि से पकायी गयी औषधियाँ, उन्मादाधिकार में कथित कल्याणघृत, त्र्यूषणघृत (कासाधिकार), जीवनीयघृत (वातरक्ताधिकार) तथा वृष्ययोग, मासरस और अवलेह (कूष्माण्डावलेह आदि), आँवले या सेव के मुरब्बे आदि खिलाने चाहिए । इससे जीर्ण छर्दिरोग शान्त हो जाता है ।

१२. जीर्ण छर्दिरोग प्राय मानसिक या वातिक होता है और उसमें वायु के विलोमगति का होना प्रमुख कारण होता है, अत वायु को अनुलोमन तथा निम्न-मार्गगामी बनाने के लिए एरण्डतैल की 'मात्रावस्ति' देनी चाहिए । मात्रावस्ति—स्नेहवस्ति की जो मात्रा निर्दिष्ट है उसकी चौथाई मात्रा में स्नेह का प्रयोग करना मात्रावस्ति कहलाती है । जैसे—एरण्ड तैल २५ ग्राम, तारपीन तैल (श्रीवास तैल) १५ बूँद, सोचर नमक ५०० मि० ग्रा०, गोमूत्र इतना ले कि रेक्टल सिरिन्ज की खाली जगह भर जावे । इन द्रव्यो की वस्ति धीरे-धीरे चढावे ।

१३ कफ दोष की प्रबलतावाले छर्दिरोग में वमनकर्म करना हितकर होता है अथवा जिस दोष की अधिकता हो, तदनुसार चिकित्सा करे ।[१]

१४ संसर्जनक्रम[२]—सशोधन करने के पश्चात् पेया, विलेपी, अकृतयूष तथा कृतयूष आदि के क्रम से दोषनाशक औषध चूर्ण के साथ पथ्य देना चाहिए ।

१५. पेया आदि के क्रम के बाद, स्वभाव तथा मात्रा से लघु द्रव्य धान का लावा आदि तथा ऋतुविपरीत एव व्याधिविपरीत शुष्क और सात्म्य आहार देना चाहिए ।

---

१ कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः ।
पिण्डीतकैः सैन्धवसम्प्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम् ॥ च० चि० २०।२४

२ संसर्गभक्तानुपूर्वेण यथास्वं भेषजायुत. । सु० उ० ४९।१८

१६. यात्राछर्दि—विमान, रेल, वस या मोटर की यात्रा, झूला झूलना या नृत्य करना, इनके कारण भी छर्दि होती है, ऐसी दशा मे लघन करना और कागजी नीबू चूसना लाभप्रद है।

१७. कचूर (कपूरकचरी) का चूर्ण ½ ग्राम मधु से देना चाहिए या इसके साथ मयूरपिच्छ-भस्म, जहरमोहरापिष्टी ¼ ग्राम प्रत्येक का योग कर पुदीना के अर्क से दे।

१८ वडी लाइची का ठडा किया हुआ काढा उत्तम छर्दिनाशक है।

१९ वैर के फल की मज्जा का चूर्ण चूसने को दें या मधु से चटावें।

२० वालको को होनेवाली छर्दि मे आमाशय पर राई का लेप लगाना चाहिए। इसे १५ मिनट से अधिक नही लगा रहने दें।

सभी छर्दि भेदों में प्रयोज्य औषधें

२१ सूतशेखर	(योगरत्नाकर)
२२ रसादि चूर्ण	(योगरत्नाकर)
२३. रसादि वटी	(योगरत्नाकर)
२४ स्रोतोऽञ्जन वटी	(चिकित्सादर्श)
२५ पारदादि चूर्ण	(योगरत्नाकर)
२६ छर्द्यन्तक रस	(योगरत्नाकर)
२७ छर्दिसहार	(चिकित्सादर्श)
२८ द्राक्षादि पानक	(चिकित्सादर्श)
२९ वमनामृत योग	(भिषक्कर्मसिद्धि)
३० छर्दिरिपु	(सिद्धयोगसग्रह)

व्यवस्थापत्र

१ ३–३ घण्टे पर ४ वार

लीलाविलास रस	५०० मि० ग्रा०
सूतशेखर	५०० मि० ग्रा०
मयूरपिच्छभस्म	१ ग्राम
मुक्तापिष्टी	२५० मि० ग्रा०
पिप्पलीचूर्ण	१ ग्राम
	योग—४ मात्रा

भुनी बडी लाइची का चूर्ण १ ग्राम एव कचूर चूर्ण ५०० मि० ग्राम मधु मिलाकर चटाना।

२. प्रति आधा घण्टे पर
यवानीषाडव चूर्ण १–२ ग्राम
विना अनुपान चूसकर खाना।

३. १–१ घण्टे पर

सर्जिकाक्षार	२ ग्राम
अमृतविन्दु	५ बूँद
जल	२० ग्राम

१ मात्रा बना लें और थोडा-थोडा पीने को दें।

४ नम्बर १ की दवा के अन्तराल मे अर्थात् उसके देने के १½ घण्टे पर—

वृहद्वातचिन्तामणि	५०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	५०० मि० ग्रा०
सितोपलादि चूर्ण	४ ग्राम
	योग—४ मात्रा

नीवू की शिकञ्जी के साथ।

५ दाडिम शार्कर (चिकित्सादर्श)

१–१ तोला दिन मे ४–५ वार चाटकर खाना चाहिए।

योग—अनार, नीवू, आदी और पुदीना के स्वरस को वरावर-वरावर लेकर, उसमें स्वरस की चौगुनी चीनी देकर चासनी बना ले और चासनी उतारकर उसमे भुना जीरा, छोटी इलायची और कालीमिर्च का वारीक चूर्ण मिलाकर रख देवे। इन चूर्णो की मात्रा अन्दाज से डालनी चाहिए।

दोषानुसार चिकित्सा

वातज छर्दि चिकित्सा

१ १० ग्राम गाय के घी मे १ ग्राम सेंधानमक मिलाकर २–२ घण्टे पर ५ वार देना चाहिए।

२ तीतर, मोर और लावा पक्षी के मास को पकाकर, खट्टे अनार के रस और मरिच चूर्ण से मिश्रित कर खाने को दे।

३. खट्टे वेर, कुल्थी, धनियाँ, वृहत्पचमूल, खट्टे अनार और यव से पकाकर वनाये गये यूष का प्रयोग करे।

४ भुना हुआ मूँग २० ग्राम और आँवला १० ग्राम लेकर ३०० मि० ली० जल मे पकावे तथा चौथाई वचने पर १० ग्राम घी और १ ग्राम सेंधानमक मिलाकर पिलाने से वातज छर्दि का शमन हो जाता है।

५. सशमनार्थ धनियाँ, शखपुष्पी, त्रिकटु और दशमूल के एक साथ वने क्वाथ को दिलाना लाभप्रद है।

६. एरण्डतैल १५–२० ग्राम मे सेंधानमक मिलाकर सुखोष्ण कर धीरे-धीरे पिलाने से विरेचन हो जाता है।

७. दुर्बल व्यक्ति को शमन चिकित्सा करे। उसके मन के अनुकूल सूखे फल, भक्ष्य-भोज्य एव पेय पदार्थ खिलाना चाहिए।

८ यदि वातज छर्दि के रोगी को हृत्कम्प हो, तो उसे क्रमसंख्या १ के अनुसार सेंधानमक मिला घी पिलाना चाहिए। अथवा—

९. धनियाँ, सोठ, दही और अनार के रस से विधिपूर्वक पकाये गये घृत का पान कराना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१. ४–४ घण्टे पर ३ बार

बृहद्वातचिन्तामणि	५०० मि० ग्रा०
शृंगभस्म	५०० मि० ग्रा०
सितोपलादि	३ ग्राम
नीबू के रस के साथ।	योग ३ मात्रा

अथवा—

३–३ घण्टे पर ४ बार

रससिन्दूर	५०० मि० ग्रा०
त्रिकटु चूर्ण	३ ग्राम
जीरा चूर्ण	३ ग्राम
धनियाँ चूर्ण	३ ग्राम
हरीतकी चूर्ण	३ ग्राम
मधु से।	४ मात्रा

२. आधे-आधे घण्टे पर ५–६ बार

अमृतबिन्दु ४–५ बूँद

छोटे बताशे मे दे।

पित्तज छर्दि चिकित्सा

१ पित्तज छर्दि मे दोष के अनुलोमन तथा मृदु विरेचन कराने के लिए निशोथ (काला) का चूर्ण ३–४ ग्राम खिलाकर, ऊपर से मुनक्का और विदारीकन्द के क्वाथ मे गन्ने का रस मिलाकर पिलाना चाहिए।

२ यदि आमाशय के अधोभाग मे पित्त अधिक बढ गया हो, तो मधुर द्रव्यों के अनुपान के साथ वमनकारक द्रव्य पिलाकर पित्त का शोधन करना चाहिए।

३ जब पूर्णत सशोधन हो जावे, तो भोजन के समय धान के लावा का सत्तू या उसकी ही पेया बनाकर मधु और चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए। अथवा—

४. मूँग के यूष के साथ या रोगी मासार्थी हो, तो जागल पशु-पक्षियो के मासरस के साथ अगहनी चावल का भात खिलाना चाहिए।

५. जौ के सत्तू में या खजूर के फल की मज्जा में या नारियल के कच्चे फल या मुनक्का या खट्टे बेर के गूदे में मिश्री, मधु और थोड़ी मात्रा में पीपर का चूर्ण मिलाकर चाटने को दें।

६ शुद्ध सौवीराञ्जन का चूर्ण, धान का लावा, नीलकमल और खट्टे बेर के फल का गूदा का चूर्ण बनाकर मिश्रित कर मधु में चटावे।

७ बड़ी हरें के चूर्ण को २–३ ग्राम की मात्रा में मधु के साथ देवें।

८ मुनक्के का शरबत शीतल कर पीने को दें।

९ जामुन और आम के नवांकुरों का क्वाथ बना, शीतल कर मधु मिलाकर पिलाना चाहिए।

१०. [illegible] के चूर्ण को मधु मिलाकर चटावें।

११. शुद्ध स्वर्णगैरिक के २ ग्राम चूर्ण को तण्डुलोदक में मधु मिलाकर उसके साथ दे।

१२ मलयचन्दन को घिसकर ताजे आँवले के रस और मधु से दे।

१३ श्वेतचन्दन, खस, जटामांसी, [illegible] मुनक्का, [illegible], स्वर्णगैरिक, इनको समान मात्रा में लेकर २ ग्राम की मात्रा में ठंडे जल से सेवन कराना चाहिए।

१४. चन्दनादि योग—श्वेतचन्दन पिसा हुआ, खस, सुगन्धबाला, सोंठ, सोनागेरू, आंवला और अमरूद के पत्ते, सब समान भाग लेकर बारीक पीसकर, तण्डुलोदक और मधु मिलाकर पानक बना ले और थोड़ा थोड़ा पीने को दे।

१५. पित्तपापड़े का अर्क या काढ़ा पैत्तिक वमन को शान्त करता है।

१६ आँवले या कैथ के फल का रस मधु मिलाकर पीने को देवे।

१७. चन्दनादि अर्क उत्तम पित्तज छर्दिनाशक है। योग—श्वेतचन्दन का बुरादा, मौसमी गुलाब के फूल, केवड़ा, बेदमुश्क और कमल के फूल, इन सबको एकत्र कर आठ गुना पानी डालकर भभके से आधा अर्क खींच ले। इसे थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिए।

१८. सूतशेखर ५०० मि० ग्रा० तथा प्रवालपिष्टी ५०० मि० ग्रा० के साथ मधु से ३–४ बार देवे।

कफज छर्दि चिकित्सा

१ कफज छर्दि में आमाशय के शोधनार्थ पीपर-सरसों तथा निम्बपत्र का क्वाथ पिलाकर अथवा मदनफल और सेंधानमक पिलाकर वमन कराना चाहिए।

२ शोधन के बाद शमन औषध एवं आहार का प्रयोग करे।

३. त्रिफलाचूर्ण २ ग्राम, विडङ्ग चूर्ण १ ग्राम और सोंठ का चूर्ण ½ ग्राम मिलाकर मधु से चटाना चाहिए।

४. जामुन के बीज का चूर्ण खट्टे बेर के चूर्ण के साथ मधु से दे।

५ काकड़ासिंगी, नागरमोथा और जवासा के समभाग का चूर्ण २–२ ग्राम की मात्रा में मधु के साथ ४–५ बार, १–१ घण्टे पर दे।

६. आहार मे जंगली पशु-पक्षियो का मांसरस, आसव, अरिष्ट, मुनक्का और कैथ का प्रयोग करना चाहिए।

७. कफज छर्दि के बढ़े हुए वेग मे शुद्ध मैनसिल १ रत्ती नीबू के रस और मधु से ३–४ बार दे। अथवा—

८. पीपर और मरिच का समभाग चूर्ण १ ग्राम कैथ के रस और मधु से दे।

९. गुडूचीसत्त्व, हरीतकी चूर्ण, कालीमिर्च और पीपर के समभाग चूर्ण को २–२ ग्राम की मात्रा मे ४–५ बार मधु से दे।

१० मयूरपिच्छ भस्म	१ ग्राम
सूतशेखर रस	२ ग्राम
शृंगभस्म	१ ग्राम
योग—	४ मात्रा

२–२ घण्टे पर आदी के रस और मधु से दे।

त्रिदोषज छर्दि चिकित्सा

१ सन्निपातज छर्दि रोग मे चिकित्सक को चाहिए कि ऋतु, रोगबल तथा रोगी के अग्निबल आदि का विचार कर, पूर्व मे जो अलग-अलग दोषो की चिकित्सा कही गयी है, उनका अपने विवेक के अनुसार योग कर प्रयोग करे।

२ आँवला और मुनक्का निर्बीज कर १०–१० ग्राम लेकर पीसकर १०० ग्राम पानी, २५ ग्राम चीनी और १० ग्राम मधु मिलाकर पिलावे, ऐसा कई बार करे।

द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि चिकित्सा

१ मानसिक या आगन्तुक छर्दिरोग मे मन के अनुकूल वचन, आश्वासन और मन प्रसादकर उपचार करना चाहिए।

२ लोकप्रसिद्ध कथाओ का श्रवण कराना, समान शील और आचार वाले मित्रो का साहचर्य, शृंगाररस की वार्ता, मनोरम स्थान में टहलना-घूमना लाभदायक है।

३ विचित्र गन्ध सुंघाना, जैसे—मिट्टी की, पुष्प की, शुक्त की या अम्ल फलों की गन्ध सुँघाना चाहिए।

४. खाने मे मनोऽनुकूल साग, भोज्य पदार्थ, राग, षाडव, अवलेह, मांसरस इत्यादि देना चाहिए।

५. रोगी को जो-जो गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और रूप पसन्द हो, यदि वह असात्म्य भी हो, किन्तु प्रिय हो, तो उसका प्रयोग करना हानिकर नही होता।

६ मन को प्रसन्न करने वाले आहार-विहार आदि का सेवन करना द्विष्टार्थ-संयोगज छर्दि को नष्ट करता है।

७ सगर्भा की छर्दि मे गर्भपाल ४०० मि० ग्रा०, स्वर्णमाक्षिक ४०० मि० ग्रा०, प्रवालपिष्टी ४०० मि० ग्रा०, गुरुचसत्त्व २ ग्राम की ४ मात्रा बनाकर मधु से ३–३ घण्टे पर दे।

कृमिज छर्दि चिकित्सा

वायविडंग, निर्बीज आँवला-हर्रा-बहेड़ा, सोंठ, मरिच तथा पीपर के समभाग चूर्ण को २–२ घण्टे पर २–२ ग्राम की मात्रा में मधु से दें।

पथ्य

वमन, विरेचन, लंघन, लाजमण्ड, साठी और अगहनी चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, नारियल, जम्बीर, आँवला, आम, बेर, अंगूर, बेल, अनार, बिजौरा नीबू, नीम, अडूसा एवं स्वादिष्ट हितकर भक्ष्य पदार्थ पथ्य हैं।

विहार—भोजन के बाद मुख पर शीतल जल का परिषेक, कस्तूरी, चन्दन एवं मनोहर सुगन्ध का अनुलेपन, मनोरम शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का सेवन, चाँदनी रात, उद्यान आदि का सेवन पथ्य है।

अपथ्य

नस्य, वस्ति, स्वेदन, स्नेहपान, रक्तस्राव, द्रव भोजन, बीभत्स रूपों का देखना, असात्म्य एवं विरुद्ध भोजन, कड़वी तरोई, तोरी, महुआ का सेवन, व्यायाम और अंजन, ये सब अपथ्य हैं।

अम्लपित्त

पर्याय और परिचय

अम्लपित्त, हाइपर एसिडिटी (Hyper acidity), एसिड डिस्पेप्सिया (Acid dyspepsia), गैस्ट्रोक्सिया (Gastroxia) आदि नामों से इसे जाना जाता है।

जब विदाही आदि पदार्थों के सेवन से पित्त में अम्ल गुण की अतिवृद्धि हो जाती है, तो उसे अम्लपित्त रोग कहते हैं।[1]

निदान[2]

विरुद्ध अन्न (अर्थात् १ देश, २ काल, ३ अग्नि, ४ मात्रा, ५ सात्म्य, ६. वायु आदि दोष, ७ संस्कार, ८ वीर्य, ९ कोष्ठ, १०. अवस्था, ११ क्रम, १२ परिहार, १३. उपचार, १४. पाक, १५ संयोगविरुद्ध, १६ हृदय (रुचि) विरुद्ध, १७ सम्पद् विरुद्ध और १८. विधि विरुद्ध आहार करना), दूषित अन्न, खट्टे पदार्थ, विदाही पदार्थ और पित्त को प्रकुपित करनेवाले (तक्र, सुरा, आसव, अरिष्ट, नया चावल, उड़द आदि) भोजन तथा पेय पदार्थों के सेवन से प्रकुपित हुआ पित्त वर्षा आदि ऋतुओं में एवं प्राय आनूपदेश में अम्लविपाकी जलों के प्रयोग करने से अधिक अम्ल होकर अम्लपित्त रोग उत्पन्न करता है।

---

१ (क) अम्लं च तद् पित्तम्। विदाह्याद्यम्लगुणोद्रिक्तं पित्तमम्लपित्तम्। मधुकोष।
(ख) अम्लाख्य पित्तमम्लपित्तम्। वाचस्पत्यम्।

२ विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्त ॥ माधवनि०

अजीर्ण रहने पर पुन. भोजन करने से, मैदा या उडद पीसकर बनाये पदार्थ के खाने से, गुरु एव अभिष्यन्दी भोजन से,[1] मल-मूत्रादि वेगों के रोकने से, अत्युष्ण, अति स्निग्ध, अति रूक्ष, अत्यम्ल और अतिद्रव पदार्थों के सेवन से, राव, गुड, कुलथी के सेवन से, भुने हुए अन्न-भूसी सहित अन्न और चूडा के अधिकांश खाने से, भोजन के बाद दिन मे अधिक सोने से, अत्यधिक स्नान तथा जलावगाहन से भोजन के बीच मे अधिक जल पीने से, बासी भोजन तथा विदाही अन्न के खाने से वातादि दोष प्रकुपित हो जाते हैं। उनमे से प्रकुपित पित्त अग्नि को मन्द बना देता है, जिससे खाया-पिया आहार ठीक से नही पचता और विदग्ध हो जाता है। एवञ्च भुक्तान्न तथा पित्त की अम्लता बढ जाती है और यही अम्लपित्त रोग है। इसी अभिप्राय से मधुकोष मे कहा गया है—'विदाहाद्यम्लगुणोद्रिक्त पित्तमम्लपित्तम्'।

वक्तव्य—पित्त के दो भेद होते हैं—१ प्राकृत या अविकृत, इसका रस कटु होता है और २. विदग्ध या विकृत, इसका रस अम्ल होता है। जब विदग्ध पित्त की वृद्धि हो जाती है, तो वह अम्लपित्त कहलाता है। इसे हाइपर एसिडिटी (Hyper acidity) कहते हैं। आधुनिक चिकित्साविज्ञान की दृष्टि से इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१ आमाशय और पच्यमानाशय के व्रण (Gastro-duodenal ulcer)।

२ अत्यधिक धूम्रपान (Excessive smoking)।

३. किण्वीकरणजन्य अम्ल प्रोङ्गोदीय (Carbohydrate) का ठीक से पाचन न होने से शर्करा का किण्वीकरण (Fermentation) हो जाता है, इससे अम्ल उत्पन्न होकर अम्लपित्त उत्पन्न होता है।

४. पित्ताश्मरी, जीर्ण उपान्त्र प्रदाह, आमाशयिक व्रण और ग्रहणी मे अवरोध आदि रोगो से आमाशय के भीतर आमाशयिक रस मे अम्लता (Hydrochloric acid) की वृद्धि हो जाती है। यही अम्लपित्त है।

संप्राप्ति

विरुद्ध, दुष्ट एव पित्तप्रकोपक आहार-विहार से वातादि दोषो का प्रकोप होता है और विशेषकर पित्त की अम्लता तथा भुक्तान्न की अविपाकजन्य विदग्धता बढ जाती है। वर्षा ऋतु भी अम्लपित्त रोग का सवाहक है।[2] वर्षा ऋतु मे गेहूँ, चावल आदि धान्य अल्पवीर्य होते हैं। वर्षा का नवीन जल अपरिपक्व, मलिन एव पृथ्वी के मलों से पूर्ण होता है। आकाश के मेघाच्छन्न होने तथा जलाधिक्य से पृथ्वी के वातावरण मे आर्द्रता होती है। मनुष्यो के शरीर भी पानी से भीगते रहने से एव वातावरण की शीतता के कारण वायु का प्रकोप होने से मन्दाग्नियुक्त हो जाता है,

---

१. काश्यप, खिल० १६

२ भूबाष्पान्मेघनिस्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च।
वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादय.॥ च० सू० ६।३४

जिसके परिणामस्वरूप खाये हुए अन्न का विदाह एव अम्लपाक होता है, पित्त की अम्लता बढ जाती है और अम्लपित्त रोग की सप्राप्ति हो जाती है।

वर्षा ऋतु का जो प्रभाव होता है, वह स्थिति, आनूपदेश मे जलप्रायता तथा नमी के कारण वातावरण और भूमि मे बारहो महीने बनी रहती है, इसलिए वर्षा ऋतु की तरह आनूपदेश भी अम्लपित्त के उत्पादन मे विशिष्ट कारण है, क्योकि पित्त का सचय, विदाह एव प्रकोप होने की सभावना सतत बनी रहती है। अतएव अम्लपित्त रोग की उत्पत्ति मे वर्षाऋतु और आनूपदेश ये दोनो ही कारण उतना ही महत्त्व रखते हैं, जितना विरुद्ध, दुष्ट आहार आदि। इस प्रकार अम्लपित्त की सप्राप्ति मे पित्त-प्रकोपक आहार विहार, वर्षाऋतु और आनूपदेश, ये समान रूप से प्रभावी होते हैं और अम्लपित्त की सप्राप्ति कराते हैं।

संप्राप्ति सारणी—
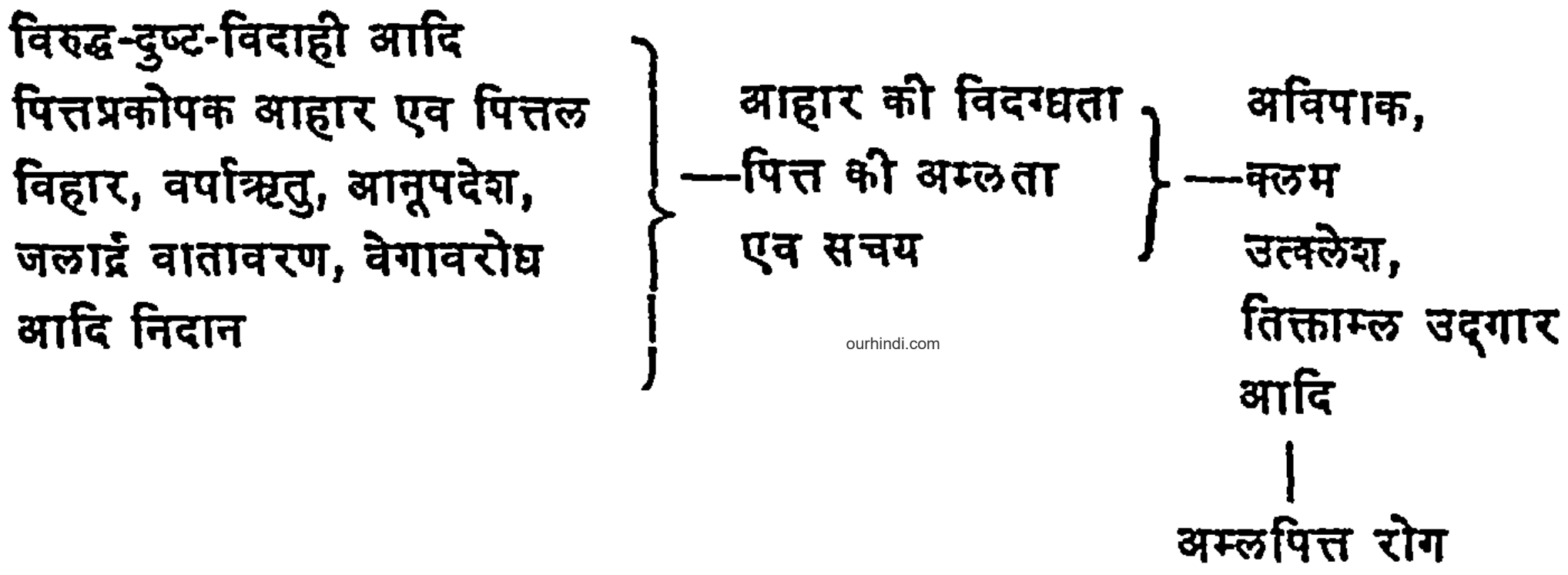
सामान्य लक्षण

आहार का विपाक न होना, क्लम (परिश्रम के बिना ही थकावट) होना, मिचली आना, कडवी और खट्टी डकारें आना, शरीर मे भारीपन, हृदयप्रदेश और गले मे जलन होना, अरुचि होना, आध्मान, अन्त्रकूजन, विड्भेद, कुक्षिशूल, अङ्गो मे शक्ति का ह्रास और शिर मे व्यथा होना, ये सब लक्षण अम्लपित्त को सूचित करते हैं।[1]

भेद

अम्लपित्त के भेद दो प्रकार से किये जाते हैं—१ गतिभेद से और २. दोषससर्ग भेद से। गतिभेद से २ प्रकार होते हैं—

१ ऊर्ध्वग अम्लपित्त।
२. अधोग अम्लपित्त।

दोषससर्ग भेद से ३ प्रकार होते हैं—

१. वाताधिक अम्लपित्त।

---

१ अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः ।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद् भिषक् ॥ मा० नि० तथा का० सं० खिल० १६

२ कफाधिक अम्लपित्त ।
३ वातकफाधिक अम्लपित्त ।
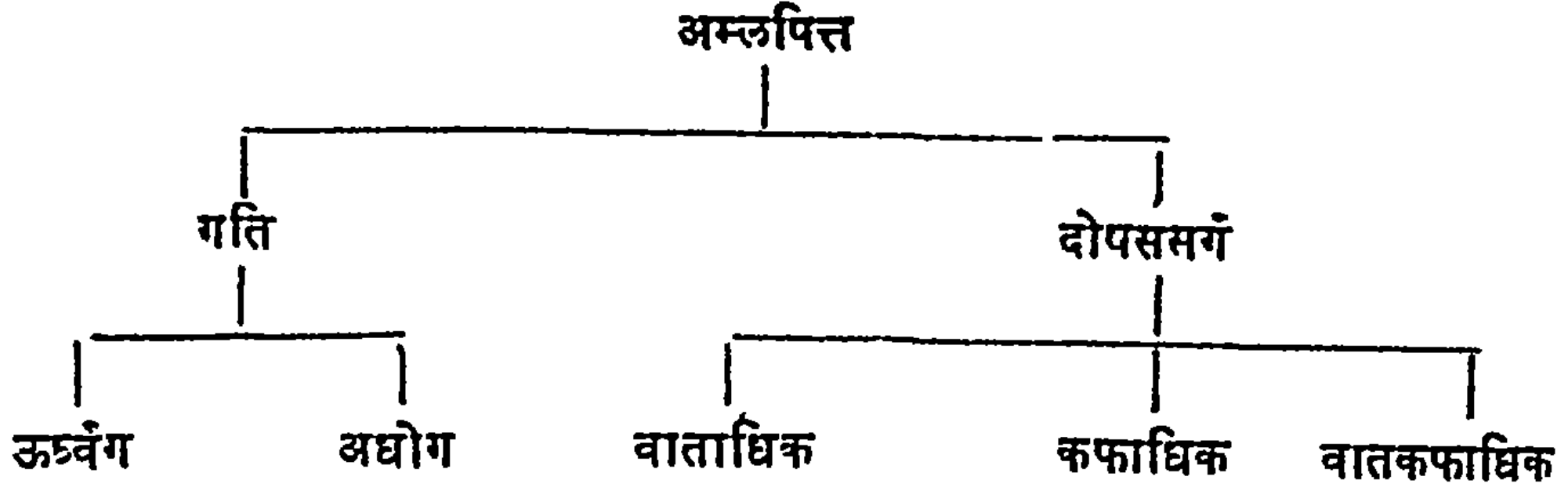
ऊर्ध्वग अम्लपित्त के लक्षण

कफ के अनुबन्धवाले अम्लपित्त का वमन हरे-पीले-नीले-काले, हल्के या गहरे लाल रग का, बहुत खट्टा, मास के धोवन के समान, अत्यधिक चिपचिपा, स्वच्छ, कफयुक्त और लवण, कटु तथा तिक्त भेद से रस मे अनेक प्रकार का होता है। भोजन का विकृत पाक होने पर या कभी भोजन न करने पर भी रोगी कडवा और खट्टा वमन करता है। रोगी को इन्ही की डकारें आती हैं और गले मे, हृदयप्रदेश मे तथा उदर मे जलन होती है और शिरोवेदना से रोगी पीडित रहता है।[1]

कफानुबन्धी अम्लपित्त हाथ-पैर मे जलन तथा उष्णता, भोजन मे भयकर अरुचि तथा ज्वर को उत्पन्न करता है। रोगी के शरीर मे खुजली, चकत्ते, पिडकाओ का समूह, आहार का अविपाक और उत्क्लेश आदि लक्षणो को उत्पन्न करता है।[2]

अधोग अम्लपित्त के लक्षण

प्यास लगना, जलन, मूर्च्छा, चक्कर आना, बेहोशी होना, हरे-पीले-काले या रक्त वर्ण के दुर्गन्धयुक्त अम्लपित्त का गुदामार्ग से निकलना, मिचली होना, शरीर पर चकत्ते निकलना, अग्निमान्द्य, रोमहर्ष, स्वेदनिर्गम और अगो का पीला पड जाना, ये सब लक्षण अधोग अम्लपित्त के होते हैं।[3]

अधोग अम्लपित्त और पैत्तिक ग्रहणी[4]

इन दोनो रोगियो मे अनेकश समानता है। दोनो मे ही दाह, अरुचि, तृष्णा आदि

---

१ वान्त हरित्पीतकनीलकृष्णमाऽऽरक्ताभमतीव चाम्लम्।
मासोदकाभ त्वतिपिच्छिलाच्छ श्लेष्मानुजात विविध रसेन॥
भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित्।
उद्गारमेवविधमेव कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुज च॥ मा० नि०

२ करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरं च कफपित्तम्।
जनयति कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितगात्ररोगचयम्॥ मा० नि०

३ तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम्।
हृल्लासकोठानलसादहर्षस्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित्॥ मा० नि०

४ सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभ सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दित॥ च० चि० १५।६५

पित्तजनित लक्षण एक समान होते हैं। दोनो मे रोगी पीला पड जाता है। रोगी के मलद्वार से द्रव का सरण होता है। विशेष अन्तर यह है कि ग्रहणी मे दूष्य पुरीष होता है और नीले-पीले वर्ण के द्रवमल का नि सरण होता है तथा अधोग अम्लपित्त मे विविध वर्ण तथा रसवाले स्वच्छ द्रव द्रव्य का नि सरण होता है। दोनो मे यह भेद है।

वाताधिक अम्लपित्त के लक्षण

वाताधिक अम्लपित्त मे कम्पन, प्रलाप, मूर्च्छा, शरीर मे चिमचिमाहट, अगो मे शिथिलता, शूल, आँखो के सामने अँधेरा, चक्कर आना, अतिमोह होना और रोमाञ्च होना, ये लक्षण होते हैं।[१]

कफाधिक अम्लपित्त के लक्षण

कफाधिक अम्लपित्त मे मुख से कफ निकलना, शरीर मे भारीपन, निष्क्रियता, अरुचि, शीत लगना, शिथिलता, वमन होना, मुख का कफ से लिप्त रहना, खुजली होना और नीद आना, ये लक्षण होते हैं।[२]

वात-कफाधिक अम्लपित्त के लक्षण

इसमें ऊपर कहे गये वाताधिक तथा कफाधिक इन दोनो तरह के अम्लपित्त के लक्षण मिलते हैं।[३]

साध्यासाध्यता

यह अम्लपित्त रोग नवीन हो तो यत्न करने पर साध्य होता है, पुराना होने पर याप्य होता है अर्थात् जब तक पथ्य, परहेज और औषध का समुचित सेवन किया जाता है, तब तक शान्त रहता है एव थोडा भी असयम या अपथ्य करने से रोग उभड जाता है। किसी किसी नियमित आहार-विहार तथा औषध-सेवन करनेवाले रोगी का अम्लपित्त रोग कष्टसाध्य होता है तथा कदाचित् दीर्घकाल तक चिकित्सा करने से ठीक भी हो जाता है।[४]

चिकित्सासूत्र

१ निदान-परिवर्जन प्रथम चिकित्सा है[५] अर्थात् जिस रोग के जो कारण हो, ऐसे आहार-विहार-औषध देश आदि का परित्याग करना तथा निदान के विपरीत

---

१ कम्पप्रलापमूर्च्छाचिमिगात्रावसादशूलानि।
तमसो दर्शनविभ्रमविमोहहर्षाण्यनिलकोपात् ॥ मा० नि०

२ कफनिष्ठीवनगौरवजडतारुचिशीतसादवमिलेपा।
दहनबलसादकण्डूनिद्राश्चिह्न कफानुगते ॥ मा० नि०

३ उभयमिदमेव चिह्न मारुतकफसम्भवे भवत्यम्ले। मा० नि०

४ रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् समाध्यते नव।
चिरोत्थितो भवेद् याप्य कृच्छ्रसाध्य स कस्यचित् ॥ मा० नि०

५ सङ्क्षेपत क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् ॥ सु० उ०

हितकारक अन्न-औषध-आहार-विहार का सेवन करना यह चिकित्सा का संक्षिप्त रूप है।

२. अम्लपित्त मे पित्त की अम्लता बढती है, अत इसमे अम्ल द्रव्यो का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। अम्लशब्द से अम्लरस, अम्लपाकी और अम्लविपाकी इन तीनो तरह के द्रव्यो का त्याग करना चाहिए। जैसे—टमाटर, चावल, साठी या अगहनी का नया चावल, अम्ल या अम्लविपाकी होने से वर्जनीय हैं।

३. उपचार के क्रम मे १ निदानपरिवर्जन के साथ, २ सशोधन और ३ संशमन भी निर्दिष्ट हैं।[1] अत अवसर के अनुसार उनका भी प्रयोग किया जाता है।

४. यदि रोगी सशोधन से होनेवाली हलचल को सहन करने योग्य हो, तो उस दोष और रोग के अनुसार वमन-विरेचन कराना चाहिए, अन्यथा शमन उपचार करना चाहिए।

५ अम्लपित्त रोग आमाशय को आश्रय बनाकर होता है, जो कफ एव पित्त का स्थान है, अत इस रोग को समूल नष्ट करने के लिए अक्षीण बल मासवाले रोगी को सबसे पहले वमन द्वारा शोधन कराना चाहिए। वमन कराने से आमाशय एवं पच्यमानाशय मे स्थित विकृत अम्लपित्त बाहर निकल जाता है, जिससे रोग के विकार शान्त होते हैं।

६. पटोलपत्र, निम्बपत्र और मदनफल समभाग ५-५ ग्राम लेकर क्वाथ बनाकर मधु मिलाकर पिलाने से वमन हो जाता है और कफदोष का निर्हरण हो जाता है।

७ वमनानन्तर विरेचन कराकर पित्तदोष को निकालना चाहिए। विरेचनार्थ निशोथ का चूर्ण ४ ग्राम चीनी मिलाकर दे या त्रिफलाचूर्ण ६ ग्राम दे या अविपत्तिकर चूर्ण ३-४ ग्राम दे।

८ नवीन रोग मे वमन-विरेचन से पर्याप्त लाभ होता है और यदि रोग पुराना हो तो निरूह और अनुवासनवस्ति भी देनी चाहिए।

९ यदि वमन-विरेचन कराने के बाद भी अनुबन्ध रूप दोष शेष रह जाय, तो लघन, लघुभोजन एव पाचन योगो के प्रयोग द्वारा उनका शमन करना चाहिए।

१० दोषशेष के शमनार्थ सोंठ, अतीस और नागरमोथा के समभाग का २० ग्राम क्वाथ बनाकर दे। अथवा—

११ त्रायमाणा, पटोलपत्र और कुटकी इन तीनो को मिश्रित २० ग्राम लेकर क्वाथ बनाकर पिलावे। इसी प्रकार चिरायता का क्वाथ भी पिलाना हितकर है।

१२. कुटकी का क्वाथ रोगी मे बलानुसार उचित मात्रा मे देना चाहिए।

औषध-प्रयोग

१३ सशोधन के पश्चात् लघु, रुचिकर मधुर आहार की योजना करनी चाहिए

---

१. संशोधनं सशमनं निदानस्य च वर्जनम्।
एतावद् भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥ च० वि० ७।३०

और अग्नि के सवर्धनार्थं भोजन के समय यवानीषाडव चूर्ण या सितोपलादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

१४ चन्दन, लालचन्दन, नेत्रबाला, खश, विदारीकन्द, शतावर, पित्तपापडा, फालसा और सन्तरा ये सब पित्त की उग्रता का शमन करते हैं।

१५. भोजन के पूर्व शीतल जलपान, नौसादर, सज्जीखार, मुक्ता, प्रवाल, शुक्तिभस्म, वराटभस्म, शखभस्म, चूने का पानी और चाक मिट्टी, ये आमाशय की अम्लता शान्त करते हैं।

१६ कुटकी, आँवला, अजीर, त्रिफला, अमलतास की फलमज्जा, मुलहठी और मुनक्का, ये पित्तशामक और सारक हैं।

१७ पिप्पली चूर्ण १ ग्राम मधु से ४ बार देना चाहिए।

१८ भृ गराज चूर्ण २ ग्राम हरीतकी चूर्ण २ ग्राम मिला कर ४ बार मधु से दे।

१९ मधुयष्टी ४ ग्राम मधु से ३ बार दे।

२० निशोथ चूर्ण रोगी के बलानुसार ३ से ६ ग्राम तक दे।

२१. त्रिफला चूर्ण ३ ग्राम २–३ बार मधु से दे।

२२. आँवले का स्वरस १० ग्राम या चूर्ण ४ ग्राम मधु से दे।

२३ कागजी नीबू को शर्बत मे डालकर अपराह्ण मे दे।

२४. मुनक्का को मिश्री के साथ खाना चाहिए।

२५ पकी लाल बेर की चटनी मिश्री या नमक मिलाकर दे।

२६ सर्जिकाक्षार (सोडा बाईकार्ब) २ ग्राम आधा गिलास जल मे घोलकर १ कागजी नीबू का रस निचोडकर ३ बजे दिन मे १ बार दे।

२७. नारियल की गिरी मिश्री के साथ चूसना या नारियल का पानी पीना लाभदायक है।

२८ भूनिम्बादि क्वाथ[१]—चिरायता, नीम की गीली छाल, बीज निकाले हुए आँवला-हर्रा-बहेडा, परवल के पत्ते, अरुस के पत्ते, गुरुच, पित्तपापडा और भृङ्गराज समभाग लेकर भूसा की तरह कूट ले। २० ग्राम द्रव्य को ३०० ग्राम जल मे पकावे, चौथाई बचे तो छानकर शीतल होने पर मधु मिलाकर पिलावे। इसे दिन मे २ बार सवेरे-शाम देना चाहिए।

व्यवस्था-पत्र

१ ४–४ घण्टे पर ३ बार

प्रवालपञ्चामृत	३०० मि० ग्रा०
अम्लपित्तान्तक रस	५०० मि० ग्रा०
सूतशेखर	३०० मि० ग्रा०
लीलाविलास	५०० मि० ग्रा०

---

१ भूनिम्बनिम्बत्रिफलापटोलवासामृतापर्पटमार्कवाणाम्।
क्वाथो हरेत् क्षौद्रयुतोऽम्लपित्तं चित्तं यथा वारवधूविलासः॥ वैद्यजीवन

मुक्ताशुक्ति ५०० मि० ग्रा०
सितोपलादि ३ ग्राम

योग—३ मात्रा

आँवला चूर्ण १ ग्राम और मधु से।
बाद मे—भूनिम्बादि क्वाथ २५० ग्राम पिलावे।

२ ८ बजे प्रात और ४ बजे शाम
नारिकेलखण्ड अथवा—
कूष्माण्डखण्ड या आँवले का मुरब्बा २० ग्राम
गोदुग्ध १०० मि० ली० के साथ दे।

३. भोजन के १० मिनट पूर्व
यवानीखाडव ३ ग्राम
चबाकर खाना।

४ भोजन के बाद २ बार
अविपत्तिकर चूर्ण ६ ग्राम
जल से। २ मात्रा

अम्लपित्तनाशक योग

अम्लपित्त मे क्षारवर्ग की औषधें लाभप्रद होती हैं, जैसे—सर्जिकाक्षार (सोडा बाइकार्ब), शखभस्म, शुक्तिभस्म, कपर्दभस्म, मुक्ताभस्म, प्रवालभस्म, चूने का पानी आदि प्रयोग योग्य हैं।

अम्लपित्त मे पित्त की अम्लता उग्र होती है और उसके शमन के लिए क्षार का प्रयोग सफल होता है, क्योकि क्षार अम्ल से मिलकर मधुर (न्यूट्रल) हो जाता है, न तो वह क्षार होता है न अम्ल होता है। इसी अभिप्राय से विदग्धाजीर्ण मे सर्जिकाक्षार का प्रयोग प्रचलित है।

सहिता-ग्रन्थो मे अम्ल और क्षार के सयोग का माधुर्य संपन्न होना उल्लिखित है। सुश्रुत[1] मे दग्ध मे दाह होने पर कांजी की तलछट, तिलकल्क, मुलेठी, इन्हें पीसकर घी मिलाकर लेप करने का विधान बतलाया गया है और कहा गया है कि अम्ल रस के साथ तीक्ष्ण लवण रस वाले क्षार का सयोग होने पर वह माधुर्य को प्राप्त हो जाता है और उसकी तीक्ष्णता समाप्त हो जाती है।

चरक[2] ने कहा है, कि मद्य के अतियोग से दाह आदि क्षारीय लक्षण हों तो मद्याम्लातियोगजन्य क्षारीय लक्षण के शमनार्थ पुन मद्यपान कराना चाहिए, जिससे अम्ल के सयोग से क्षार का मधुरीकरण हो जाता है।

---

१ अम्लेन सह सयुक्त- स तीक्ष्णलवणो रस । माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभाव विमुञ्चति।
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुत.॥ सु० सू० ११।२४–२५

२. क्षारो हि याति माधुर्यमम्लद्रव्योपसंहित । च० चि० २४

पटोलादि क्वाथ (भै० र०)
द्राक्षादि चूर्ण (यो० र०)
अविपत्तिकर चूर्ण (भै० र०)
धात्रीलोह (रसयोगसागर)
वलादि मण्डूर (रसयोगसागर)
सूतशेखर रस (यो० र०)
लीलाविलास रस (रसेन्द्रसारस०)
कल्याणवटक (गदनिग्रह)
द्राक्षादि गुटिका (सि० यो० स०)
क्षारपर्पटी (सि० यो० स)
नारिकेल लवण (रसत०)
नारिकेल खण्ड (भै० र०)
कूष्माण्ड खण्ड (आ० सा० स०)
अम्लपित्तान्तक (भै० र०)
कामधेनु रस (र० त० सा०)
द्राक्षावलेह (र० त० सा०)
जीरकादि मोदक (र० त० सा०)
मुक्तापिष्टी
प्रवालपिष्टी
प्रवालपचामृत

इत्यादि अम्लपित्त मे निश्चित लाभकर औषधें हैं ।

पथ्य

पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूंग, धान के लावा का सत्तू, जांगल पशु-पक्षियो का मास, चीनी, मिश्री, पेठा, आँवले या सेव का मुरब्बा, गुलकन्द, मुनक्का, किशमिस, अनार, वेर तथा इसी तरह के कफ व पित्तशामक तिक्त, कषाय एवं मधुर रस प्रधान द्रव्यों का सेवन उत्तम है। परवल, करेला, वथुआ, पालक, चौलाई, लौकी, तरोई, नेनुआ आदि तिक्तरस-भूयिष्ठ शाक उपयुक्त हैं।

गाय या भैंस का दूध, ताजा मक्खन या घी, धनियाँ, जीरा, सेंधानमक और कागजी नीबू देना उचित है। मीठी मोसम्मी, केला, मीठा आम, छेने की मिठाई, खीरमलाई, रसगुल्ला, उत्तम, वर्फी (गरीयुक्त) और पेडा लिया जा सकता है।

अपथ्य

नया चावल, विरोधी आहार, पित्तप्रकोपक आहार, तिल, उडद की दाल, वैगन, मछली, कुलथी, दही, काँजी, अम्लद्रव्य, गरिष्ट भोजन, मदिरा आदि अपथ्य हैं। धूम्रपान, चाय, गरम भोजन, सूर्यताप-सेवन, अग्नि-सेवन तथा क्रोध आदि मनोविकार हानिकारक होते हैं।

एकादश अध्याय

शूलरोग

परिचय—'शूल रुजायाम्' (भ्वा० प० से०) धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'शूल' शब्द बना है। इसलिये सामान्य तौर पर किसी भी प्रकार की वेदना को शूल कहा जाता है। जैसे—सिर के दर्द को शिर शूल, कान के दर्द को कर्णशूल, नेत्र के दर्द को नेत्रशूल, दांत के दर्द को दन्तशूल, पसली के दर्द को पार्श्वशूल, पीठ के दर्द को पृष्ठ-शूल, वस्ति के शूल को वस्तिशूल, हृदय के दर्द को हृदयशूल और उदर के शूल या दर्द को उदरशूल कहा जाता है।

शूल बहुत से रोगो के लक्षण के रूप मे अथवा उपद्रव के रूप में भी वर्णित है। रोग और शूल, इन दोनो शब्दो का समान अर्थ है, क्योंकि रोग का अर्थ पीडादायक है और शूल का भी पीडा देने वाला अर्थ है। इसलिए इन दोनो शब्दो का व्यवहार किसी भी रोग के नाम से किया जाता है। इसी अभिप्राय से—१ स्वतन्त्र और २ परतन्त्र भेद से दो प्रकार का शूल माना जाता है। परतन्त्र वह है जो किसी रोग के साथ अनुगामी अथवा उपद्रव स्वरूप होता है। कतिपय आचार्य स्वतन्त्र रूप से शूल का वर्णन नही किया है। जैसे चरकसहिता एव अष्टागहृदय मे शूलरोग का स्वतन्त्र वर्णन नही है। यहां उदरशूल के अर्थ मे शूल शब्द का प्रयोग है।

सन्दर्भ—(१) सुश्रुतसहिता उत्तरतन्त्र (अ० ४२) मे गुल्म के उपद्रव रूप मे एव स्वतन्त्र रूप मे शूलरोग का वर्णन किया गया है।

(२) माधवनिदान मे शूल का निदान विस्तार से वर्णित है।

(३) काश्यपसहिता खिलस्थान अ० १८ मे शूल का वर्णन है।

निरुक्ति[१]—(क) जिस रोग से रुग्ण व्यक्ति के शरीर मे (उदर मे) कील-खूंटा-वाण की नोक या किसी नोकदार हथियार के धँसने के समान तीव्र वेदना उत्पन्न होती है, उस रोग को शूल कहा जाता है।

(ख) शूलविद्ध व्यक्ति की तरह जिस रोग मे वेदना की तीव्रता होती है, उस रोग को शूल कहते हैं।

(ग) इस रोग की उत्पत्ति शूल से हुई है, अत इसे शूल कहते हैं।

(घ) शूल धँसाने जैसी पीडा के कारण इस रोग को शूल कहा जाता है।

---

१ (क) शङ्कुस्फोटनवत् तस्य यस्मात् तीव्राश्च वेदना।
शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते ॥ सु० उ० ४२

(ख) यतश्च तस्मिन् शूलविद्ध इव व्यथते तीव्रवेदनार्दित तस्माच्छूलमित्युच्यते।
अ० स० नि० ११

(ग) शूलसम्भवत्वादस्य शूलमिति सज्ञा। मधुकोष

(घ) शूलनिखातवद् वेदनाजनकत्वाच्च। मधुकोष

वक्तव्य—'हारीतसंहिता'[1] में ज्वर की ही तरह शूलरोग की उत्पत्ति की पौराणिक कथा है—"जब भगवान् शिव समाधिस्थ थे और उनकी समाधि भंग करने के लिये कामदेव ने प्रयास किया, तो वे क्रुद्ध होकर उन पर त्रिशूल फेंक दिया और भयभीत कामदेव विष्णु की शरण में जाकर छिप गये। विष्णु भगवान् ने अपनी हुंकार से उस त्रिशूल को लौटा दिया और वह पृथ्वी पर गिर पड़ा तथा उसी से शूलरोग की उत्पत्ति हुई"।

इस कथा से यह अभिव्यक्ति निकलती है कि जो लोग बड़ों का अपमान करते हैं, उन्हें भयंकर कष्ट का सामना करना पड़ता है।

शूल के प्रकार

माधवकर[2] ने आठ प्रकार के शूलरोगों का वर्णन किया है—१. वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ वातपित्तज, ५. वातकफज, ६ पित्तकफज, ७. सन्निपातज और ८ आमज।

पुनश्च आठ शूलों का वर्णन इस प्रकार है—१ वातज परिणामशूल, २. पित्तज परिणामशूल, ३. कफज परिणामशूल, ४. वातपित्तज परिणामशूल, ५ वातकफज परिणामशूल, ६ पित्तकफज परिणामशूल, ७ सन्निपातज परिणामशूल और ८. अन्नद्रवशूल।

सुश्रुताचार्य ने[3] पहले दोषज चार शूलों का वर्णन किया है—१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज और ४. सन्निपातज।

पुनश्च[4] सात प्रकार के शूलरोगों का वर्णन किया है, जैसे—पार्श्वशूल, २. कुक्षिशूल, ३. हृच्छूल, ४. वस्तिशूल, ५. मूत्रशूल, ६. विट्शूल और ७. अविपाकज शूल।

इस प्रकार माधवकर के १६ प्रकार के शूल।
अतिरिक्त सुश्रुत के ७ प्रकार के शूल।
योग—२३

इस प्रकार कुल २३ तरह के शूलों का वर्णन मिलता है।

---

१ अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपा- ·[illegible]रध्वजश्च।
तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो वि[illegible]त[illegible] प्रविष्टः॥
स विष्णुहुङ्कारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्र[illegible]त. स शूल।
स पञ्चभूतानुगत शरीरं प्रदूषयत्यस्य ह[illegible] पूर्वसृष्टि.॥ मधुकोश

२ दोषै पृथक् समस्तामद्वन्द्वै. शूलोऽष्टधा भवेत्
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवन. प्रभु॥ मा० नि०

३. सुश्रुत, उत्तर० ४२।

४. यद्यपि चत्वार. शूला, तथापि दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषा विकल्प इति कृत्वा पार्श्वादिशूलमाह। सु० उ० ४२।१७

इस प्रकार—	
१. एकदोषज	३
२ द्विदोषज	३
३ त्रिदोषज	१
४. आमज	१
५. परिणामशूल	७
६ अन्नद्रव	१
७. स्थानविशेषज	४
८. निमित्तविशेषज	३
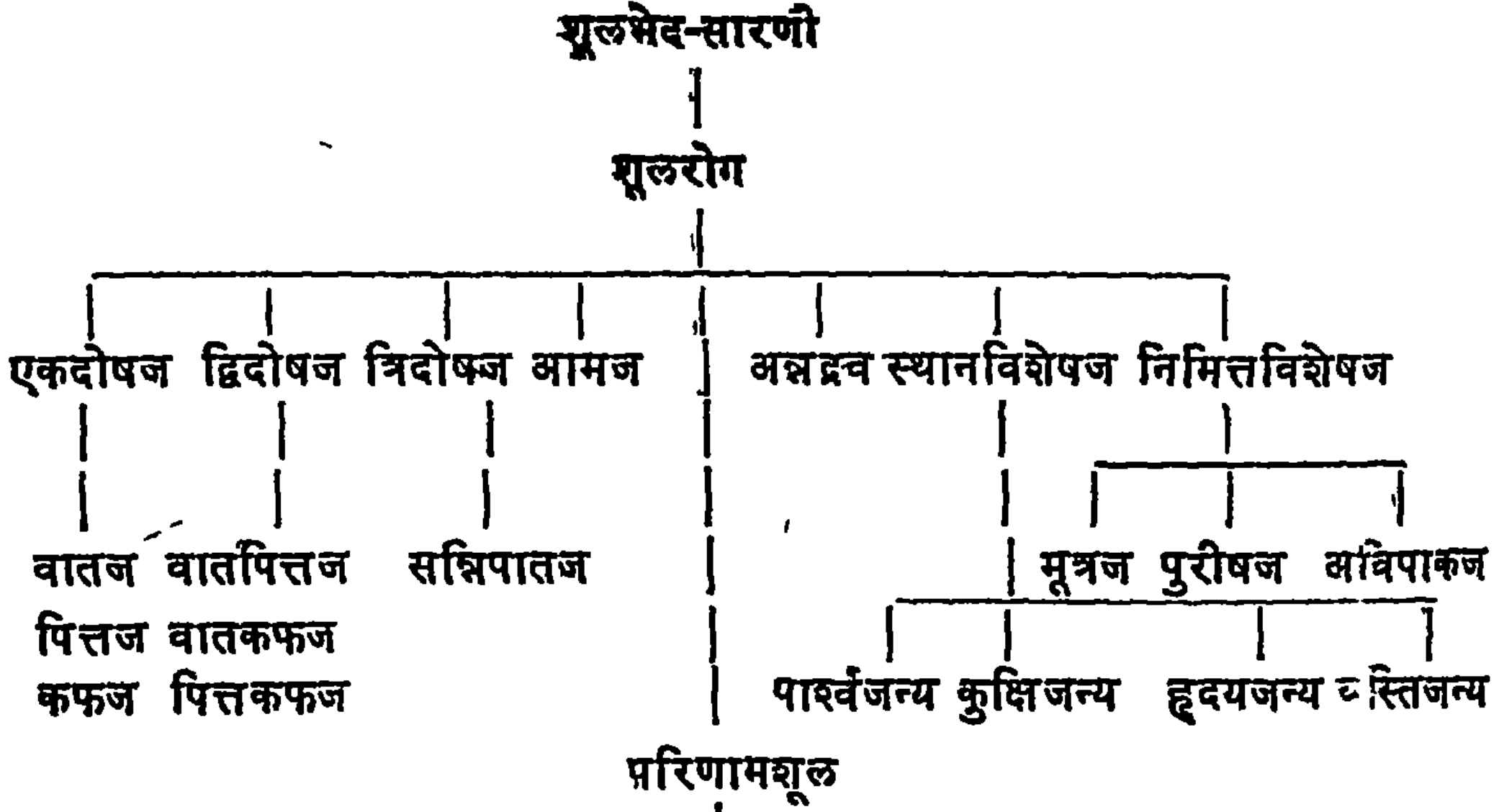
योग—२३ प्रकार के शूल होते हैं।

वातज शूल का निदान और संप्राप्ति[1]

अधोवायु के वेग, मूत्र के वेग और मल के वेग को रोकने से, अधिक भोजन करने से, अजीर्ण होने से, भोजन के बिना पचे पुनः भोजन करने से, विरुद्ध भोजन करने से, भूख लगने पर अन्न न खाकर मात्र पानी पी लेने से, अंकुरित अन्न खाने से, उड़द, चावल आदि के आटे से बने पदार्थों के खाने से, सूखे मांस का सेवन करने से

१ वातमूत्रपुरीषाणां निग्रहादतिभोजनात् ।
अजीर्णाध्यशनायासविरुद्धान्नोपसेवनात् ॥
पानीयपानात् क्षुत्काले विरूढान्नाच्च सेवनात् ।
पिष्टान्नशुष्कमांसानामुपयोगात् तथैव च ॥
एवंविधानां द्रव्याणामन्येषाञ्चोपसेवनात् ।
वायुः प्रकुपितः कोष्ठे शूलं सञ्जनयेद् भृशम् ॥
निरुच्छ्वासो भवेत्तेन वेदनापीडितो नरः । सु० उ० ४२।७८-८०

और इसी प्रकार के अन्य वातप्रकोपक द्रव्यो के सेवन से वायु प्रकुपित होकर तीव्र शूल उत्पन्न करता है।

माधव के अनुसार अधिक व्यायाम, सवारी पर अधिक चढना, अधिक मैथुन करना, रात्रि-जागरण, अतिशीतल जलपान, मटर-मूग-अरहर-कोदो तथा अन्य अत्यधिक रूक्ष पदार्थ खाना, अध्यशन करना, चोट लगना, कपाय तथा तिक्तरस-प्रधान द्रव्यो का अधिक सेवन करना, अकुरित चना आदि अन्न खाना, विरुद्ध भोजन, शुष्क मास तथा शुष्क शाक खाना, मल-मूत्र-शुक्र तथा अधोवायु का वेग धारण करना, शोक, उपवास, अत्यधिक हँसना तथा बोलना आदि कारणो से प्रकुपित हुई वायु हृदय, दोनो पार्श्व, पीठ, त्रिक तथा वस्ति-प्रदेश मे शूल उत्पन्न करती है।[1]

वातज शूल का लक्षण

वातज शूल भोजन के पच जाने पर, सायकाल के समय, वर्षा ऋतु और शीत के समय विशेष रूप से वढ जाता है। यह शूल बार-बार घटता वढता रहता है। इसमे मल तथा वायु की रुकावट हो जाती है और सूई चुभाने जैसी व्यथा और काटे जाने जैसी पीडा होती है।[2]

पित्तज शूल का निदान और संप्राप्ति[3]

क्षार, अति तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही पदार्थ, सेम, तेल, तिल की खली तथा कुलथी का यूप अधिक खाने से, कटु-अम्ल-कांजी तथा मद्य का सेवन करने से, क्रोध करने से, अधिक अग्नि तापने से, अधिक परिश्रम करने से, धूप का अधिक सेवन करने एव अधिक मैथुन करने से भोजन का विदग्ध पाक हो जाता है, जिससे पित्त प्रकुपित होकर नाभि-प्रदेश में शूल उत्पन्न करता है।

पित्तज शूल का लक्षण

पित्तज शूल मे तृषा, दाह, मोह, पीडा, पसीना आना, मूर्च्छा, चक्कर आना

---

१ व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात्।
कलायमुद्गाढकिकोरदूपादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात्॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्नविरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकात्।
विट्शुक्रमूत्रानिलवेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्यभाष्यात्॥
वायु प्रवृद्धो जनयेद्धिशूलं हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकवस्तिदेशे। मा० नि०

२ (क) जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम्॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी विड्वातसस्तम्भनतोदभेदैः।
(ख) निराहारस्य यस्यैव तीव्र शूलमुदीर्यते।
प्रस्तब्धगात्रो भवति कृच्छ्रेणोच्छ्वसितीव च॥
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नर।
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूल वातसमुद्भवम्॥ सु० उ० ४२।८२-८३

३ क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैलनिष्पावपिण्याककुलत्थयूषै।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारै क्रोधानलायासरविप्रतापै॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धै पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम्। मा० नि०

और शूल स्थान मे चूसने जैसी पीडा का होना, ये सब लक्षण होते हैं। यह शूल मध्याह्न मे, आधी रात मे, भोजन पचते समय और शरद् ऋतु मे बढता है।

कफज शूल का निदान और संप्राप्ति[1]

आनूपदेश के पशु-पक्षियों का तथा जलचर जीवो का मास खाने से, खोवा, छेना अथवा दूध के बने हुए पदार्थों के खाने से, मास का अधिक सेवन करने से, गन्ने का रस, उडद आदि की पिठी से बने पदार्थ, खिचडी, तिल और पूडी के अधिकाश सेवन से तथा अन्य कफकारक पदार्थों के सेवन से प्रकुपित हुआ कफ आमाशय में शूल उत्पन्न करता है।

कफज शूल का लक्षण[2]

कफज शूल मे मिचली आना, खाँसी, अगो में थकावट, अरुचि, मुख से लार टपकना, कोष्ठबद्धता होना और शिर मे भारीपन होना, ये लक्षण होते हैं। यह शूल भोजन करने के तुरत बाद, प्रात काल, शिशिर और वसन्त ऋतु मे विशेष रूप से होता है।

वक्तव्य—वातज शूल का मुख्य स्थान वस्ति, पित्त का नाभि तथा कफज शूल का मुख्य स्थान हृदय, पार्श्व एव कुक्षि है, क्योकि उक्त स्थान उन दोषो के मुख्य स्थान हैं।[3]

द्वन्द्वज शूल के लक्षण[4]

वातकफज शूल

यह शूल हृदय, पार्श्व तथा पीठ मे होता है।

कफपित्तज शूल

यह शूल कुक्षि, हृदय और नाभि के मध्य मे होता है।

वातपित्तज शूल

यह शूल वस्ति और नाभि मे भयकर रूप से होता है और इसमे दाह तथा ज्वर भी होता है।

---

१ आनूपवारिजकिलाटपयोविकारैर्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभि ।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥ मा० नि०

२ हृल्लासकाससदनारुचिसम्प्रसेकैरामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वै ।
भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्र सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥ मा० नि०

३ वातात्मकं वस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम्।
हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टं सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात् ॥ मधुकोष

४. वस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु सशूल. कफवातिकः।
कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु सशूल· कफपैत्तिक· ॥
दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयः वातपैत्तिकः। मा० नि०

शूल की साध्यासाध्यता[1]

एकदोषज शूल साध्य होता है, द्विदोषज शूल याप्य होता है और अनेक उपद्रवो से युक्त भयानक त्रिदोषज शूल असाध्य होता है।

शूल के उपद्रव[2]

पीडा होना, प्यास लगना, मूर्च्छा, आनाह (कोष्ठबद्धता), शरीर मे भारीपन, अरुचि, खाँसी, श्वास और हिचकी, ये शूल के उपद्रव कहे गये हैं।

सन्निपातज शूल का लक्षण[3]

तीनो दोषो से होनेवाले सन्निपातज शूल मे सभी दोषो के लक्षण पाये जाते हैं। यह शूल अत्यन्त कष्टप्रद होता है। विद्वान् लोग इस शूल को विष और बिजली (वज्र) के समान असाध्य मानते हैं।

आमज शूल का लक्षण[4]

इसमे आवाज के साथ पेट फूलना, मिचली, वमन, शरीर मे भारीपन, शरीर को जैसे भीगे चमडे मे लपेट दिया गया हो ऐसा लगना, विवन्ध और लार टपकना, ये सब लक्षण होते हैं। इसके लक्षण कफज शूल के समान ही होते है और यह आमाशय मे होता है।

परिणामशूल

रूक्ष आदि स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित वायु स्थानविशेष मे स्थित होने से भोजन के परिणाम काल (पच्यमानावस्था) मे प्रवल होकर कफ और पित्त को आवृत कर शूल उत्पन्न करता है। यह शूल भोजन के पचने के समय होता है, अत इसे **परिणामशूल** कहते हैं।[5]

तन्त्रान्तर के वचनानुसार परिणामशूल

अपने स्थान (आमाशय) से च्युत कफ विकृत पित्त से मिलकर वायु को भी प्रकुपित कर, भोजन के पचते समय कुक्षि-उदरपार्श्व-नाभि-वस्तिप्रदेश तथा दोनो

---

१. एकदोषोत्थित. साध्य· कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषज ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः। मा० नि०

२. वेदना च तृषा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवारुची।
कास श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्रवा. स्मृता ॥

३. सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम्।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्प विवर्जनीय प्रवदन्ति तज्ज्ञा ॥

४. आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकै।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥ मा० नि०

५. स्वैर्निदानै· प्रकुपितो वायु सन्निहितस्तदा ॥
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ मा० नि०

स्तनो के बीच के प्रदेश अर्थात् छाती के बीच पृष्ठमूल (कटि) मे से किसी एक या अनेक या सभी प्रदेशो मे शूल को उत्पन्न करता है। यह शूल भोजन कर लेने से या वमन हो जाने से या आहार का पूर्णत पाक हो जाने पर शान्त हो जाता है। यह साठी या अगहनी का चावल खाने मे बढनेवाला शूल है। इसे दुर्विज्ञेय महारोग परिणामशूल कहा गया है। यह रसवहस्रोतो के विकार से होता है। इसे कुछ लोग अन्नद्रव शूल कहते हैं, साथ ही पक्तिदोष, पक्तिशूल या अन्नविदाहज शूल भी कहते हैं।'[1]

वक्तव्य—उक्त तन्त्रान्तर-वचन में परिणामशूल को ही अन्नद्रवशूल कहा गया है, जब कि ये दोनो अलग-अलग रोग हैं, अतएव माधवनिदान मे इन दोनो के लक्षणो का पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है। लक्षण की भिन्नता के कारण दोनो को दो रोग मानना ही उचित है। परिणामशूल का सादृश्य ड्यूओडिनल अल्सर (Duodenal ulcer) के साथ है, जब कि अन्नद्रव की तुलना गैस्ट्रिक अल्सर (Gastric ulcer आमाशयिक व्रण) के साथ की जाती है। अन्नद्रवशूल का वर्णन आगे किया जायेगा।

परिणामशूल का दोषभेदानुसार लक्षण[2]

वातिक परिणामशूल

उदर का फूलना, उदर मे गुडगुडाहट, मल-मूत्र का अवरोध होना, बेचैनी होना और शरीर मे कँपकँपी होना, ये वातिक परिणामशूल के लक्षण हैं। यह शूल प्राय स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थों के सेवन से शान्त होता है।

पैत्तिक परिणामशूल

प्यास की अधिकता, दाह, बेचैनी तथा अधिक पसीना होना और कटु-अम्ल एवं लवणरसयुक्त पदार्थों के सेवन से शूल की वृद्धि तथा शीतल उपचार से शूल का शमन होना, ये पैत्तिक परिणामशूल के लक्षण हैं।

कफज परिणामशूल

वमन, मिचली, मूर्च्छा, अधिक काल तक थोडी-थोडी पीडा का बना रहना तथा कटु एव तिक्त पदार्थों के सेवन से शूल का शान्त होना, ये कफज परिणामशूल के लक्षण हैं।

---

१. मलास प्रच्युत स्थानात् पित्तेन सह मूर्च्छित.। वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने॥
कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ वस्तौ स्तनान्तरे। पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुन.॥
भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णेऽन्ने च प्रशाम्यति। षष्टिकव्रीहिशालीनामोदनेन च वर्धते॥
तत्परिणामज शूलं दुर्विज्ञेय महागदम्। तस्माद् रसवाहानां स्रोतसां दुष्टिहेतुकम्॥
केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषज। पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्॥
—मधुकोष में उद्धृत तन्त्रान्तर-वचन।

२ माधवनिदान।

द्वन्द्वज तथा सन्निपातज परिणामशूल

किन्ही दो दोषो के मिलने पर द्वन्द्वज और तीनो दोषो के लक्षण मिलने पर त्रिदोषज परिणामशूल जानना चाहिए।

परिणामशूल की असाध्यता

जब त्रिदोषज परिणामशूल हो अथवा जिस किसी तरह का परिणामशूल हो गया हो तथा रोगी के शरीर का मास तथा बल एव उसकी जठराग्नि नष्ट हो गई हो, तो उसे असाध्य समझना चाहिए।

पित्तज शूल और परिणामशूल का सापेक्ष निदान

पित्तज शूल	परिणाम शूल
१. इसके प्रकोप व शमन का सम्बन्ध पित्तकारक तथा पित्तशामक दिन, रात्रि एवं ऋतु से होता है।	१ परिणामशूल के घटने-बढने मे दिन, रात या ऋतु का सम्बन्ध आवश्यक नही।
२ पित्तज शूल का आहार परिणाम काल में होना स्पष्ट नही।	२ इसके होने का समय आहार का परिणाम काल निश्चित है।
३. यह एकदोपज तथा सुखसाध्य है।	३. यह पित्तोल्वण त्रिदोषज रोग है।

अन्नद्रवशूल

जो शूल भोजन के पच जाने पर या भोजन के पचते समय या भोजन के पचने से पूर्व अर्थात् भोजन के बाद एव अजीर्ण स्थिति मे होता है और पथ्य या अपथ्य के सेवन से तथा भोजन कर लेने पर या खाली पेट रहने पर नियम से शान्त नही होता है, उस शूल को अन्नद्रवशूल कहते हैं। इस शूल मे रोगी को आराम नही मिलता और लगातार शूल बना रहता है। जब वमन द्वारा पित्त निकल जाता है, तब शीघ्र ही शूल बन्द हो जाता है।[1]

वक्तव्य—वमन होने पर शूल का शमन होना देखकर यह धारणा बलवती होती है, कि इस शूल मे विकृति आमाशय मे होती है। इस शूल के समय तथा परिस्थिति का निर्धारण न हो पाने से यह त्रिदोषज शूल जाना जाता है। इस शूल का मुख्य कारण जीर्ण आमाशयशोथ (Chronic Gastritis) या आमाशयिक व्रण (Gastric ulcer) है। इसके कारण नाभि के ऊपर के प्रदेश मे दबाव नही बर्दाश्त होता। अन्न जब तक आमाशय मे होता है, तब तक शूल शान्त नही होता है। वमन द्वारा आहार द्रव्य के बाहर निकल जाने पर या ग्रहणी मे चले जाने पर कुछ समय के लिए शूल शान्त हो जाता है।

---

१. जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च।
न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृत ॥
अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत् स्वास्थ्यमश्नुते।
वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति।' मा० नि०

जब भोजन आमाशय मे पहुँचता है, तो उसके पाचन के लिए आमाशयिक रस का स्राव होने लगता है और तभी शूल प्रारम्भ हो जाता है। यह शूल तब शान्त होता है जब आहार ग्रहणी मे चला जाता है। आमाशयिक पाचन के समय अम्ल के प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) के कारण रोगी को हृत्प्रदेश मे जलन (Heart burn) का अनुभव होता है। क्षारयुक्त औषध अथवा द्रव पदार्थ के सेवन से अम्ल का प्रभाव नष्ट होने पर कदाचित् शूल का शमन हो जाता है।

पार्श्वशूल की सप्राप्ति और लक्षण

मिथ्या आहार-विहारो से प्रकुपित कफ कुक्षि तथा पार्श्व मे स्थित होकर वायु को रोक देता है तथा वह रुकी हुई वायु शीघ्र ही कुक्षि मे आध्मान और गुडगुडाहट पैदा कर देती है एव पार्श्व-प्रदेश मे सूई चुभाने जैसी पीडा उत्पन्न करती है। उस समय वह रोगी शूल के कारण कठिनाई से श्वास लेता है तथा खाने की इच्छा नही करता और शूल की पीडा के कारण सोता भी नही है। इस प्रकार का कफ और वायु से उत्पन्न शूल पार्श्वशूल कहलाता है।[1]

वक्तव्य—पार्श्व शब्द से उदर और वक्ष दोनो का पार्श्व जाना जाता है और दोनो मे शूल होता है। अन्त्र की विकृति से अर्थात् कुक्षि-स्थित श्लेष्मा के द्वारा अन्त्रगत वायु का अवरोध होने पर उदरपार्श्वशूल उत्पन्न होता है। यह कभी एक पार्श्व मे तथा कभी दोनो पार्श्वों में भी होता है।

वक्षगत पार्श्वशूल का कारण परिफुप्फुसशोथ (Dry pleurisy) है। यह शूल विकृत पार्श्व के अनुसार कभी एक पार्श्व मे तथा कभी दोनो पार्श्वों मे हो सकता है। इस शूल में विकृत वक्षपार्श्व की गति कम होती है तथा श्वास के समय उदर की गति बढ जाती है।

कुक्षिशूल का निदान और लक्षण

मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित वायु जठराग्नि को मन्द कर देती है, जिससे खाया हुआ भोजन ज्यो का त्यो जकडा हुआ-सा उदर मे पडा रहता है और उसका उचित रूप से पाचन नही होता। जिससे रोगी कठिनाई से साँस लेता है तथा आम मल के कारण उत्पन्न हुए शूल से पीडित रहता है। रोगी को बैठने, सोने या खडे होने मे कष्ट होता है। इस प्रकार प्रकुपित वात तथा आमदोष से उत्पन्न इस शूल को कुक्षिशूल कहते हैं।[2]

---

१ रुणद्धि मारुत श्लेष्मा कुक्षिपार्श्वव्यवस्थित ।
स संरुद्ध. करोत्याशु साध्मानं गुडगुडायनम् ॥
सूचीभिरिव निस्तोदं कृच्छ्रोच्छ्वासी तदा नर. ॥
नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यर्तिनिपीडित ।
पार्श्वशूल स विज्ञेय कफानिलसमुद्भव. ॥ सु० उ० ४२।११८–११९

२. सु० उ० ४२।१२४–१२५

हृदयशूल का निदान और लक्षण

मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित कफ तथा पित्त से अवरुद्ध हुआ वायु रसधातु से मिलकर हृदय मे अवस्थित होकर वहाँ शूल उत्पन्न करता है, जिसके कारण रोगी का श्वास रुकने लगता है। इस स्थिति को हृदयशूल कहते हैं। यह शूल आहार रस और वायु के मिलने से होता है।[1]

वक्तव्य—इस शूल का प्रारम्भ उर फलक के उपरितन तथा पृष्ठभाग से होता है। परिश्रम करने से इसका दौरा होता है। यह शूल वक्ष के वाम बाहु के भीतरी भाग से होता हुआ अँगुलियो के अन्तिम छोर तक पहुँच जाता है। कभी-कभी ग्रीवा के वामपार्श्व मे भी इस वेदना का अनुभव होता है। प्राय हृदय की रक्तवाहिनियो मे विकृति होने के बाद प्राणवायु की कमी होने के परिणामस्वरूप हृदयशूल होता है। **श्वासावरोध होना हृच्छूल का प्रधान लक्षण है।**

वस्तिशूल का निदान, संप्राप्ति और लक्षण

मल-मूत्र आदि के वेगो को रोकने से प्रकुपित वायु वस्ति मे जाकर उसमे चारो ओर घेर कर रुक जाती है, जिससे रोगी के वस्ति, वक्षण और नाभि मे शूल होता है तथा पुरीष, मूत्र एव अधोवायु का अवरोध हो जाता है। इसे **वस्तिशूल** कहते हैं। यह प्रधानरूप से वातजन्य होता है।[2]

मूत्रशूल का निदान और लक्षण

मिथ्या आहार विहार से प्रकुपित वायु मूत्रेन्द्रिय तथा अन्त्र मे पीडा उत्पन्न कर मूत्र के निर्गमन को अवरुद्ध कर देती है, तब नाभि, वक्षण-प्रदेश, दोनो पार्श्व और समस्त कुक्षि (उदर) मे शूल होता है। इसे **मूत्रशूल** कहते हैं। यह वात से उत्पन्न होता है।[3]

विट्शूल का निदान, संप्राप्ति और लक्षण

रूक्ष आहार-विहार करने से प्रकुपित वायु मल का अवरोध कर देता है और जठराग्नि को मन्द कर देता है, फिर स्रोतसो को घेर कर कुक्षि या उदर के वाम या दक्षिण पार्श्व मे तीव्र शूल उत्पन्न करती है। पुन वह प्रकुपित वायु आवाज के साथ घूमती हुई पूरे उदर मे फैल जाती है। तब रोगी की प्यास बढ जाती है,

---

१ कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छित ।
हृदिस्थ कुरुते शूलमुच्छ्वासारोधकं परम् ॥
स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसम्भव ॥ मा० नि०

२. सरोधात् कुपितो वायुर्वस्तिमावृत्य तिष्ठति ।
वस्तिवङ्क्षणनाभीषु तत शूलोऽस्य जायते ॥
विण्मूत्रवातसंरोधी वस्तिशूल स मारुतात् ॥

३ नाभ्यां वङ्क्षणपार्श्वेषु कुक्षौ मेढ्रान्त्रमर्दक ।
मूत्रमावृत्य शूलानि मूत्रशूल. स मारुतात् ॥

उसे चक्कर आता है और बेहोशी भी होती है। मलत्याग या पेशाब करने पर भी उसकी बेचैनी नहीं मिटती। इसे विट्शूल कहते हैं। यह भयंकर कष्टप्रद होता है।[1]

अविपाकशूल का निदान, संप्राप्ति और लक्षण

जब मन्दाग्निवाला व्यक्ति अधिक मात्रा मे भोजन कर लेता है, तब वह पक्वाशय में जाकर स्थिर बैठ जाता है और उसका पाचन नही होता तथा प्रकुपित वायु उसे घेर लेती है, जिससे वह अपक्व आहार उदर में तीव्र शूल उत्पन्न करता है। फिर रोगी को मूर्च्छा, आध्मान, विदाह, मिचली या विलम्बिका रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त कभी विरेचन होने लगता है कभी वमन होता है और रोगी काँपने लगता है तथा बेहोश हो जाता है। इस अविपाक से होनेवाले शूल को अन्न-दोष (अजीर्ण) से उत्पन्न शूल कहते हैं।[2]

शूलरोग का चिकित्सा-सूत्र

१. शूलरोग मे यदि कफ के कारण उत्क्लेश आदि हो, तो पहले वमन कराना चाहिए।

२. कफप्रधान आमाशयगत विकार मे अनशन अथवा लघुभोजन देना चाहिए।

३. उष्ण, दीपन तथा लेखन एवं क्षार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

४. आम की अधिकता होने पर लघन उत्तम उपचार है।

५. किसी भी दोष या कारण से शूल उत्पन्न हुआ हो, तो उसमे वायु की प्रधानता अवश्यम्भावी है। शूल मे आध्मान, तोद, आयाम आदि लक्षणो को वायु ही उत्पन्न करता है।[3] अतएव शूलमात्र मे विविध प्रकार के स्वेद लाभकारक होते हैं।[4]

---

१. वायु प्रकुपितो यस्य रूक्षाहारस्य देहिन ।
मल रुणद्धि कोष्ठस्थं मन्दीकृत्य तु पावकम् ॥
शूल सञ्जनयस्तीव्र स्रोतास्यावृत्य तस्य हि ।
दक्षिणं यदि वा वाम कुक्षिमादाय जायते ॥
सर्वत्र वर्धते क्षिप्र भ्रमन्नथ सघोषवान् ।
पिपासा वर्धते तीव्रा भ्रमो मूर्च्छा च जायते ॥
उच्चारिणो मूत्रितश्च न शान्तिमधिगच्छति ।
विट्शूलमेतज्जानीयाद् भिषक् परमदारुणम् ॥ सु० उ० ४२।१३६–१३९

२ अतिमात्र यदा भुक्त पावके मृदुता गते ।
स्थिरीभूत तु तत्कोष्ठे वायुरावृत्य तिष्ठति ॥
अविपाकगतं ह्यन्न शूलं तीव्रं करोत्यति ।
मूर्च्छाऽऽध्मानं विदाहश्च हृदुत्क्लेशो विलम्बिका ॥
विरिच्यते छर्दयति कम्पतेऽथ विमुह्यति ।
अविपाकाद् भवेच्छूलस्त्वन्नदोषसमुद्भव ॥ सु० उ० ४२।१४२–१४४

३ (क) सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवन प्रभु । मा० नि०
(ख) क्रुद्धो वायु कर्तनायामतोदै कम्पाध्मानैराविशन् कुक्षिदेशे ।
शूल पित्तेनान्वित श्लेष्मणा वा द्वाभ्या वापि प्रेर्यमाण करोति ॥ काश्यप०

४ सुस. शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावह ।

६. **आमज** शूल मे कफशूलघ्न, अग्निप्रदीपक और आमपाचक चिकित्सा करनी चाहिए। रोगी की शक्ति के अनुसार वमन और लंघन कराना चाहिए।

७ आमाशय ५५ पक्वाशयगत शूलो की दृष्टि से तथा मल और वायु के अनुलोमन के लिए वमन-लघन एव स्वेदन के साथ पाचन द्रव्यो का प्रयोग, गुदद्वार मे मल-अघोवायु के प्रवर्तनार्थ गुदवर्ति (फलवर्ति) का प्रयोग, क्षार, चूर्ण तथा गुटिका-वटी आदि का प्रयोग करना चाहिए।[1]

८. सभी प्रकार के शूलो मे पहले वात को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। तीव्र शूल होने पर तलाव हीग को २ रत्ती भर पानी से निगलवा दे या हिंग्वष्टक चूर्ण या शिवाक्षारपाचन चूर्ण तथा सज्जीखार (सोडा बाई कार्ब) १ ग्राम मिलाकर आधा-आधा घण्टे पर ३–४ बार जल के साथ खिलावे।

९ आनाह या मलावरोधजन्य शूल होने पर निरूहवस्ति के रूप में साबुन के पानी की वस्ति देनी चाहिए।

१०. मलवातानुलोमन, शूलघ्न एव स्निग्ध वस्ति देने की उपयोगिता प्रतीत हो, तो—

एरण्डतेल	३० ग्राम
तारपीन का तेल	१५ बूँद
सोचरनमक	½ ग्राम
जल आवश्यकतानुसार।	

इस योग के अनुसार वस्ति वनाकर वस्ति के ज्ञाता चिकित्सक द्वारा वस्ति देने की योजना करे।

११. **पैत्तिक शूल** में मैनफल चूर्ण को परवल के पत्ते और नीम की गीली छाल के क्वाथ या दूध अथवा गन्ने के रस मे मिलाकर एवं पिलाकर वमन कराना लाभदायक है।

१२ पैत्तिक शूल में उष्ण आहार-विहार तथा उष्ण औषध त्याज्य हैं।

२३. **परिणामशूल** में कडवी और मीठी औषधियो से वमन, विरेचन, निरूह-वस्ति और मधु मिली तैल की वस्ति देनी चाहिए।

१४ **अन्नद्रव शूल** मे प्राय पित्त की अधिकता होती है, अत वमन-विरेचन कराकर उसका शोधन करना चाहिए।

अन्नद्रवशूल (आमाशयिक व्रण) होने पर रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिए। आमाशय पर आघात न हो, यह सावधानी बरतनी चाहिए। व्रणस्थान पर भोजन का दबाव जितना ही कम होगा, उतना ही कम कष्ट होगा। जिस आसन से बैठने या सोने मे आराम हो, उसी आसन से बैठना और सोना चाहिए।

---

१ वमन लङ्घनं स्वेद पाचन फलवर्तय।
क्षाराश्चूर्णानि गुटिका शस्यन्ते शूलशान्तये॥ यो० र०

१५. प्याज, लहसुन, चावल, गरममसाला, खटाई, गुरु पदार्थ भोजन और उग्र पदार्थों का सेवन वर्जित है।

विशिष्ट चिकित्सा

वातज शूल-चिकित्सा

१. वायु बहुत शीघ्र आत्ययिक स्थिति उत्पन्न कर देता है, इसलिए उसका शमन शीघ्रता से करना चाहिए। वातज शूल मे स्नेहन और स्वेदन सद्य फलप्रद उपचार है।[1]

२. स्वेदन—उदर का वातघ्न तैल से अभ्यङ्ग करने के पश्चात् खीर, मास-पिण्ड, स्निग्ध पिट्ठी, हलवा या तिल-चावल-मूँग और उडद की खिचडी से सेंक करना चाहिए।

३ शूलजनक कारणो का परित्याग करना चाहिए।

४ नारायण तैल, महाविषगर्भ तैल या महामाष तैल की सुखोष्ण मालिश करने से वेदना दूर होती है।

५ तारपीन के तेल की मालिश कर सुखोष्ण जल से सेंकना शीघ्र शूलशामक होता है।

६ गरम जल मे तारपीन का तेल डालकर उसमे छोटी तौलिया भिगोकर, निचोडकर उदर को सेंकना लाभदायक है।

७ लम्बी बोतल मे गरम जल भरकर अथवा रबर की थैली (Hot water bag) मे गरम जल भरकर उदर का सुखोष्ण सेंक करना दर्द को दूर करता है।

८. लेप—देवदारु बुरादा, वच, कूठ, सौंफ, हीग और सेंधानमक को कांजी मे पीसकर गरमकर उदर पर मोटा लेप करने से शूल शान्त होता है।

९ मल और वात के अनुलोमनार्थ गुदवर्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार 'ग्लिसरीन सपोजिटरी' की योजना करे अथवा साबुन की बनाई वर्ति का प्रयोग करे। उत्तम मुलायम साबुन को चाकू से शङ्कु-सदृश उतार-चढावयुक्त कनिष्ठिका जितनी मोटी वर्ति बनाकर उसे एरण्ड तैल मे लिप्त करके गुदद्वार मे भीतर तक प्रविष्ट करे और रोगी को देर तक उसे धारण करने को कहे।

१० दीपन-पाचन-स्निग्ध-उष्ण एव वातानुलोमन द्रव्यो का आभ्यन्तर प्रयोग करना लाभप्रद होता है, जैसे—हीग, कालानमक, अजवायन, सोठ, सौंफ, वच, सेंधा-नमक, पोहकरमूल, अम्लवेत, हरीतकी और निशोथ आदि का उचित रूप मे प्रयोग करना वातनाशक होता है।

११ वातजशूल में सुरा, कांजी, सिरका, दही का पानी, मट्ठा अथवा दही मे

---

१ आशुकारी हि पवनस्तस्मात् तं त्वरया जयेत्।
तस्य शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावहः॥ सु० उ० ४२।८८

से रोगी की प्रकृति, रुचि, दोष तथा काल के अनुसार किसी एक मे कालानमक डालकर पिलाना चाहिए।[1]

१२ सुश्रुतोक्त विडङ्गादि चूर्ण या पृथ्वीकादि चूर्ण को उचित मात्रा मे मद्य या कांजी के साथ लेना शूलनाशक है।

१३ **बलादि क्वाथ**—वरियार, पुनर्नवा, एरण्डमूल, छोटी कटेरी और गोखरू की जड इनको समभाग मे लेकर २० ग्राम का यथाविधि क्वाथ बनाकर, भुनी हीग तथा कालानमक का प्रक्षेप डालकर पिलाना चाहिए।

१४ **दशमूलक्वाथ** मे एरण्डतैल २० ग्राम, हीग और कालानमक मिलाकर पीना वातशूलनाशक है।

१५ **करञ्जादि चूर्ण**—भुने करज फल का गूदा, कालानमक, वैतरा सोठ और घी मे भुनी हीग, सब समभाग लेकर वारीक चूर्ण बना ले। ३ ग्राम की मात्रा दिन मे ३ बार एरण्डमूल और सोठ के क्वाथ से दे।

१६ **कुबेराक्ष वटी**—वालू मे भुना करज वीज, मट्ठें मे भिगोकर घी मे तला लहसुन और सोठ प्रत्येक १०-१० ग्राम, घी मे भुनी हीग और सुहागे का लावा ५-५ ग्राम लेकर सहिजन के पत्ते या छाल के रस मे घोटकर आधा ग्राम की गोली बना ले। १-२ गोली गरम जल से ३ बार दे। यह सर्व शूलनाशक है।

१७ **मलविबन्धयुक्त** वातज शूल मे ३ बार **शिवाक्षारपाचन चूर्ण** ४ ग्राम और सोचरनमक आधा ग्राम मिलाकर सुखोष्ण जल से देना चाहिए।

१८ वातज शूल मे १५-१५ मिनट के अन्तर पर **सर्जिकाक्षार** (सोडा बाइ-कार्ब) ४-४ ग्राम की मात्रा मे ५० ग्राम पानी मे घोलकर २-३ खुराक पिलाने से शूल शान्त हो जाता है।

१९ **सामुद्रादि चूर्ण** रोगी के बलानुसार ३-३ ग्राम की मात्रा मे सुखोष्ण जल से खिलाने से सभी शूल शान्त होते हैं।

२०. वातिक शूल मे **शखवटी, लवणभास्कर चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण,**[2] **द्विरुत्तर-हिंग्वादि चूर्ण,**[3] **हिगूग्रगन्धादि चूर्ण**[4] आदि विशिष्ट औषधें है। इनको उचित मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए।

---

१ सुरा सौवीरकं चुक्रं मस्तूदश्वित्तथा दधि।
सकाललवण पेयं शूले वातसमुद्भवे ॥ सु० उ० ४२।९२

२ त्रिकटुकमजमोदा सैन्धवं जीरके द्वे समधरणघृतानामष्टमो हिङ्गुभाग ।
प्रथमकवलभुक्त चूर्णमेतन्नराणा जनयति जठराग्नि वातरोगाश्च हन्ति ॥

३ द्विरुत्तर हिङ्गुवचाग्निकुष्ठ सुवर्चिका चैव विटङ्गचूर्णम्।
सुखाम्बुनाऽऽनाहविसूचिकार्तिहृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥ च० चि० २६।२०

४ हिङ्गूग्रगन्धाविडशुण्ठ्यजाजीहरीतकीपुष्करमूलकुष्ठम्।
यथोत्तर भागविवृद्धमेतत् प्लीहोदराजीर्णविसूचिकासु ॥ च० चि० २१।?२

व्यवस्थापत्र

१. ३–३ घण्टे पर ४ बार
सामुद्रादि चूर्ण १–२ ग्राम
सर्जिकाक्षार १ ग्राम
सुखोष्ण जल से। ४ मात्रा

२. भोजन के प्रथम ग्रास मे दोनो समय
हिंग्वष्टक चूर्ण ६ ग्राम
घी मिलाकर खाना २ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार
कुमार्यासव २० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना। २ मात्रा

४. ४–५ बार
शूलवज्रिणी वटी २–२ गोली
या
महाशखवटी १–१ गोली
या
लवणभास्कर चूर्ण १–१ ग्राम
या
हिंगूग्रगन्धादि वटी १–१ ग्राम
चूसकर खाना।

५ विबन्ध होने पर रात मे सोते समय
पंचसकार चूर्ण ६ ग्राम
गरम जल से। १ मात्रा

पथ्य

रूक्ष रोगी को स्निग्ध भोजन कराना चाहिए। विशेषकर सोठ, मरिच आ। से युक्त घी मे तले हुए मालपूए खिलाकर ऊपर से सुरा को अनुपान रूप मे पिला मे शूलरोगी को आरोग्यलाभ होता है।

स्निग्ध, उष्ण, द्रव तथा मलवातानुलोमन आहार देना चाहिए।

अपथ्य

चावल, दाल, मटर, उडद, अरहर, ज्वर, कटहर, कोहडा आदि एव शीत तथ गरिष्ट आहार वर्जित है।

पैत्तिक शूल-चिकित्सा

१. पित्तज शूल मे शोधन और शमन दोनो प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिए।

२ यदि दोष आमाशयस्थ हो, तो परवल की पत्ती और नीम की पत्ती को रोगी के बलानुसार उचित मात्रा मे लेकर दूध, पानी या गन्ने के रस के साथ पीसकर, पिलाकर वमन कराना चाहिए।[1]

३. यदि दोष अन्त्रस्थ हो, तो गोदुग्ध १ गिलास लेकर उसमे २५ मि० लीटर एरण्ड तैल मिलाकर विरेचन करावे अथवा ईसबगोल की भूसी १०-१५ ग्राम की मात्रा मे दूध मे पिलावे या निशोथ चूर्ण ३-४ ग्राम खिलाकर विरेचन करावे।

४ सन्तर्पणार्थ धान के लावा का मण्ड चीनी मिलाकर पिलावे।

५ पित्तज शूल मे शमन उपचार की दृष्टि से शीतजलावगाहन, शीतल मन्द पवन से युक्त नदी के पेटे मे ऊभरी हुई रेत पर रोगी को रखे तथा कांसे के जलपात्र मे शीतल जल भरकर उसे शूलस्थान पर रखे।[2]

६ बार्ली (जौ का मण्ड) बनाकर थोडा-थोडा पिलाना चाहिए।

७ **परूषकादि योग**—फालसा, मुनक्का, किसमिस, खजूर और जलकमल के कन्द को जल से पीसकर चीनी मिलाकर पिलाने से पित्तज शूल शान्त हो जाता है।

८ पित्तज शूल मे पुराना गुड, शालि (अगहनी) चावल, जौ, दूध, घृत और जाङ्गल मास का सेवन आरोग्यप्रद होता है।[3]

९ आँवले का चूर्ण ४ ग्राम मधु के साथ दिन में ३-४ बार चाटना पित्तज शूलशामक होता है।

१० हर्रा, वहेडा, आँवला, नीम की अन्तर छाल, मुलहठी, कुटकी और अमलतास के फल का गूदा, इनका क्वाथ पैत्तिक शूल, दाह तथा विबन्ध को दूर करता है।

११ मुलहठी का क्वाथ ऐरण्ड तैल मिलाकर पिलाना पित्तज शूलनाशक है।

१२ शतावरी स्वरस मधु से एव द्राक्षा का कल्क या क्वाथ लाभप्रद है।

व्यवस्थापत्र

१. ३–३ घण्टे पर ४ बार

शूलवज्रिणी वटी	१ ग्राम
शखवटी	१ ग्राम
धात्रीलौह	२ ग्राम
क्षारराज	४ ग्राम
योग—	४ मात्रा

नीबू का रस निचोडकर चीनी के शर्बत के साथ दे।

२ भोजन के पूर्व २ बार

यवानीखाडव चूर्ण	४ ग्राम
बिना अनुपान	२ मात्रा

---

१ पित्ते तु शूले वमनं पयोऽम्बुरसैस्तथेक्षो मपटोलनिम्बै। भै० र०

२ शीतावगाहा पुलिना सवाता कांस्यादिपात्राणि जलप्लुतानि। भै० र०

३ गुड शालिर्यवा क्षीरं सर्पिष्पानं विरेचनम्।
जाङ्गलानि च मांसानि भेषजं पित्तशूलिनाम्॥ सु० उ० ४२।१०६

३ भोजनोत्तर २ बार

द्राक्ष्यरिष्ट २ चम्मच

समान जल से पीना।

४ रात मे सोते समय

अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम

दूध से। १ मात्रा

पथ्य

पुराना शालि चावल, जौ, चीनी, पुराना गुड, मधुर एव तिक्त रसवाले आहार, गोदुग्ध, घृत, जगली पशु-पक्षियो का मास, खरगोश और लवा का मासरस, धान के लावा का सत्तू, जौ के सत्तू मे घी-चीनी मिलाकर खाना, सेव का मुरब्बा और आंवले का मुरब्बा खाना पथ्य है। मुनक्का, किसमिस, गुलकन्द, नारिकेलखण्ड आदि मधुर पदार्थ तथा परवल, आँवला आदि तिक्त एव कषाय रसवाले पदार्थ पथ्य हैं।

अपथ्य

पित्तवर्धक अम्ल, लवण, कटुरस युक्त पदार्थ, उष्ण द्रव्य तथा विदाही द्रव्य, इनका परित्याग करना चाहिए।

लवण को धीरे-धीरे छोडना चाहिए। मद्य, गाजा आदि तीक्ष्ण द्रव्यो का सेवन त्याज्य है।

कफज शूल-चिकित्सा

१. भोजन करने के तुरन्त बाद कफज शूल का प्रकोप होता है। अत मदनफल-पिप्पली का चूर्ण खिलाकर आकण्ठ जल पिलाकर वमन कराना चाहिए।

२. कफज शूल मे ईंट की सुर्खी या बालू की पोटली को गरम कर उससे रूक्ष स्वेदन करना चाहिए।

३. पीपर और सोठ का चूर्ण अथवा इनका क्वाथ पीना कफज शूलनाशक है।

४ **वचादि चूर्ण**—पाठा, बच, सोठ, मरिच, पीपर और कुटकी इन्हें समभाग मे लेकर चूर्ण बना ले और ३ ग्राम की मात्रा मे चित्रकमूल के क्वाथ के अनुपान से सवेरे-शाम देवे।

५ दशमूलक्वाथ मे २ ग्राम सेंधानमक, ½ ग्राम जवाखार मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

६ **त्रिलवणादि चूर्ण**—सेंधानमक, कालानमक, विडनमक, पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोठ और शुद्ध हीग, इन्हे समभाग लेकर बारीक चूर्ण कर छानकर रख ले। प्रात, साय, मध्याह्न ३–३ ग्राम की मात्रा मे उष्णोदक से देवे।

७ **चित्रकादि क्वाथ**—चीता, पिपरामूल एरण्ड की जड की छाल, सोठ और धनिया समभाग लेकर आठ गुने जल मे पकावे, चौथाई बचे तो छान कर शुद्ध हीग, कालानमक और सेंधानमक मिलाकर पीने के लिये देना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१. ४-४ घण्टे पर ३ बार
शूलवज्रिणी वटी — $\frac{1\frac{1}{2} \text{ ग्राम}}{\text{३ मात्रा}}$
चित्रकादि क्वाथ से।

२. भोजन के पूर्व २ बार
हिंग्वादि वटी २-२ गोली
चूसकर खाना।

३. भोजनोत्तर २ बार
नागरादि चूर्ण — $\frac{\text{८ ग्राम}}{\text{२ मात्रा}}$
जल से।

४. रात में सोते समय
पट्सकार चूर्ण — ६ ग्राम
गरम जल से।

पथ्य

गेहूँ या जौ की रोटी, रूक्ष एवं कटु पदार्थ, मधु, नींबू, जौ का मण्ड, जंगली पशु-पक्षियों का मांसरस, पेया, आसव, अरिष्ट, पुराना मद्य आदि का सेवन करना चाहिए। रूक्ष स्वेदन और उष्ण उपचार हितकर हैं।

अपथ्य

कफकारक मधुर-अम्ल लवण रस युक्त पदार्थ, दही, कूष्माण्ड, कटहल, गरिष्ठ और शीतल पदार्थ नहीं खाना चाहिए।

द्वन्द्वज शूल-चिकित्सा

१. वातपित्तज शूल में पृथक् पृथक् वातज तथा पित्तज शूल की जो चिकित्सा कही गयी है, उसका युक्तियुक्त ढंग से प्रयोग करना चाहिए।

बृहत्यादि क्वाथ—वातपित्तज शूल में छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, कुश की जड़, कास (गाँडी) की जड़, गन्ने की जड़, गोखरू, एरण्ड की जड़, इनको समभाग में लेकर क्वाथ बनाकर शीतल कर चीनी मिलाकर पीना चाहिए।

२. कफपित्तज शूल में पित्त और कफ दोनों दोषों की सम्मिलित चिकित्सा करनी चाहिए। वमन और विरेचन कराकर द्राक्षा-पटोलादि क्वाथ पिलावे।

योग—मुनक्का, अडूस की पत्ती, परवल की पत्ती, आँवला, हर्रा, बहेड़ा और गुरुच समभाग लेकर क्वाथ बनाकर ठण्डाकर मधु मिलाकर पिलाना चाहिए।

नाराच चूर्ण—पीपर १० ग्राम, निशोथ ४० ग्राम, चीनी ४० ग्राम, सब कूट-पीसकर मिला ले। इसे ५ ग्राम की मात्रा में मधु से खिलाने से कफपित्तज शूल तथा विबन्ध दूर होता है।

३ वातकफज शूल मे छिलका उतार कर पिसा हुआ लहसुन ५ ग्राम मद्य अथवा आसवारिष्ट के साथ खिलाना चाहिए।

रुचकादि चूर्ण—कालानमक, शुद्ध हींग और सोठ के समभाग चूर्ण को ३ ग्राम की मात्रा में सोंठ के काढ़े के अनुपान से देना चाहिए।

वक्तव्य—सभी प्रकार के द्वन्द्वज शूलो मे शूलवज्रिणी लाभप्रद है। वातपित्तज शूल मे सूतशेखर, प्रवालपञ्चामृत और कामदुघा का प्रयोग प्रशस्त है। कफपित्तज शूल मे शखभस्म, मडूरभस्म या माक्षिकभस्म घृत से दे। वातकफज शूल मे शखवटी और करञ्जादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

त्रिदोषज शूल-चिकित्सा

१ इसमे तीनो दोषो की दृष्टि से त्रिदोषहर चिकित्सा करनी चाहिए।

२ शखभस्म योग—शखभस्म, कालानमक, शुद्ध हीग, सोठ, मरिच और पीपर इनको समभाग लेकर चूर्ण बना ले। १–२ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३ बार सुखोष्ण जल से प्रयोग करे।

३. मण्डूरावलेह—गोमूत्र मे शुद्ध किये गये पुराने मण्डूर की भस्म के बराबर त्रिफला का चूर्ण मिलावे। १ ग्राम की मात्रा लेकर विषम मात्रा मे मधु और घी मिलाकर खिलाना चाहिए।

४ एरण्डद्वादशक क्वाथ—एरण्ड बीज की (अन्तर्जिह्वा निकाली हुई) गिरी, एरण्डमूल, छोटीकटेरी, बडीकटेरी, गोखरू, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी (२ भाग) और गन्ने की जड, इनका क्वाथ बनाकर जवाखार पिलाने से त्रिदोषज शूल शान्त हो जाता है।

५. शुद्ध वच्छनाग, वच, सोठ, भुनी हीग और सेंधानमक, इन सबको समभाग में मिलाकर चूर्ण करे, फिर चूर्ण के समान गुड मिलाकर १–१ रत्ती की गोली बना ले, इनमे से १–१ गोली ३ बार देने से सब प्रकार के शूल शान्त होते हैं।

आमज शूल-चिकित्सा

१. आमज शूल मे कफज शूल के समान[1] वमन कराना चाहिए।

२. रुग्ण की स्थिति के अनुसार उसे उपवास करावे अथवा लघु भोजन दे।

३ आमपाचनार्थ—(चतु सम चूर्ण) अजवायन, सेंधानमक, भुनी छोटी हर्र और सोठ के समभाग का चूर्ण ४–४ ग्राम, ३–३ घण्टे पर ४ बार सुखोष्ण जल से दे। अथवा—

४. चित्रकमूल, पिपरामूल, एरण्डमूल, सोठ और धनियाँ के समभाग का विधिवत् क्वाथ बनाकर उसमें भुनी हींग, विडनमक तथा अनार का रस मिलाकर पिलाने से आमशूल नष्ट होता है।

---

१. आमशूले क्रियाकार्या कफशूलविनाशिनी।
शेषमामहरं सर्वं यच्चदग्निविवर्धनम्॥ भै० र०

५ आमविरेचनार्थ—एरण्डतैल, पञ्चसकार या नारायण चूर्ण रोगी के कोष्ठ के बलानुसार मात्रा में सुखोष्ण जल से दें।

६. सौम्य प्रकृति के रोगी को अधिक तीक्ष्ण औषध न देकर नीबू की शिकञ्जी, संजीवनी वटी, अश्विनीकुमार या आनन्दभैरव रस दें।

७. तीव्रावस्था में शंखद्राव, क्रव्याद या अग्निकुमार का प्रयोग करें।

८ हिंगुतुम्बुर्वादि चूर्ण—शुद्ध हींग, तुम्बुरु, सोंठ, मरिच, पीपर, भुनी अजवायन, चीता की जड़, भुनी छोटी हर्रें, यवक्षार, सज्जीक्षार, सेंधानमक सभी का समभाग में बारीक चूर्ण कर छान लें। ३ ग्राम की मात्रा सुखोष्ण जल से ३–४ बार प्रतिदिन दें।

९ एरण्डतैल ६० ग्राम, लहसुन का स्वरस ६० ग्राम, शुद्ध हींग १० ग्राम और सेंधानमक ३० ग्राम लेकर सभी को मिला लें। ५ ग्राम की मात्रा में उष्णोदक के अनुपान से प्रयोग करें।

१०. क्षुद्बोधक रस, वज्रक्षार, शूलगजकेसरी, गन्धक वटी, रसोनादि वटी, ये उत्तम आमपाचन औषधें हैं।

व्यवस्थापत्र

१ प्रातःकाल ७ बजे
शूलवज्रिणी वटी २ गोली / १ मात्रा
एरण्डस्नेहादि योग ६ ग्राम के साथ गरम जल से।

२. प्रात ८ बजे
चित्रकादि क्वाथ ५० मि० ली०

३. भोजनोत्तर २ बार
हिंगुतुम्बुर्वादि चूर्ण ६ ग्राम / २ मात्रा
गरम जल से।

४ २ बजे दिन और ६ बजे शाम
शंखवटी ४ गोली / २ मात्रा
चतुःसम चूर्ण ३–३ ग्राम के साथ गरम जल से।

५ रात में सोते वक्त
पञ्चसकार ६ ग्राम / १ मात्रा
गरम जल से।

पथ्यापथ्य

कफज शूल के समान पथ्यापथ्य जानें।

परिणामशूल-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र[1]

१ परिणामशूल के शमन के लिए सबसे पहले लंघन करावे।

२ रोगी के बल आदि का विचार कर वमन कराना चाहिए।

३. तिक्त एव मधुररसात्मक रेचन द्रव्य खिलाकर विरेचन करावे।

४. तत्पश्चात् कोष्ठ की शुद्धि के लिए निरूहवस्ति का प्रयोग करे।

५ वातोल्बण मे स्नेहमय उपचार करे।

६. पित्तोल्बण मे विरेचन करावे एव शीतोपचार करे।

७ कफोल्वण मे वमन करावे और उष्ण तथा तिक्त आदि रसो से युक्त द्रव्यो के प्रयोग से चिकित्सा करे।

८ द्वन्द्वज मे दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

९. त्रिदोषज मे तीनो दोषो की मिश्रित चिकित्सा करे।

१०. शारीरिक और मानसिक दृष्टि से विश्राम कराना चाहिए।

११. आमाशयगत दोष मे वमन तथा लघन, पच्यमानाशयगत दोष मे विरेचन तथा निरूहवस्ति और पक्वाशयगत दोष मे अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।[2]

औषध-चिकित्सा

१. आमाशय की अम्लता और उग्रता के शमनार्थ शम्बूक भस्म, शख भस्म या वराट भस्म का प्रयोग करना चाहिए।

२ स्निग्ध द्रव्यो का प्रयोग करना उत्तम है एवं औषधों के अनुपान के रूप मे तथा जौ के सत्तू मे घी मिलाकर सेवन करना लाभकर है।

३. इसमे शूलवज्रिणी वटी, सूतशेखर रस, धात्री लौह, सप्तामृत लौह, नारिकेल खण्ड, तिलादि मोदक, विडगादि मोदक, तारामण्डूर और विद्याधराभ्र रस का प्रयोग लाभप्रद होता है।

४. शम्बूक (घोघा) भस्म १ ग्राम को १ तोला घी मे मिलाकर खिलाने के बाद गरम जल पिलाने से शूल मे तत्काल लाभ होता है।

५ शख भस्म, सेंधानमक, सोठ, मरिच, पीपर और घी मे भुनी हींग, इन्हे समभाग लेकर खूब घोटकर मिला ले। २–३ ग्राम की मात्रा मे आधे-आधे घण्टे पर २–३ बार देने से शीघ्र लाभ होता है। अनुपान के रूप मे गरम जल देवे।

---

१. वमन लङ्घन तिक्तमधुरैश्च विरेचनम्।
वस्तिकर्म पर चात्र पक्तिशूलोपशान्तये॥
वातर्ज स्नेहयोगेन पित्तज रेचनादिना।
कफज वमनाद्यैश्च पक्तिशूलमुपाचरेत् ॥ यो० र०

२. वमनं तिक्तमधुरै विरेकश्चात्र शस्यते।
वस्तयश्च हिता. शूले परिणामसमुद्भवे ॥ भै० र०

६ शुण्ठी क्षीरपाक—सोंठ, काली तिल और गुड़ समभाग में (कुल मिश्रण १५ ग्राम) लेकर कूट कर २०० ग्राम दूध तथा ३०० ग्राम जल मिलाकर पकावें। जब दूध मात्र शेष बचे तो उतार छानकर पिलावें।

इसे लगातार ८–१० दिन तक प्रति दिन २ बार पिलाने से भयंकर परिणामशूल भी शान्त हो जाता है।

७ पटोलादि क्वाथ—परवल, आंवला, हर्रे, बहेड़ा, नीम की गीली छाल, इनका काढ़ा मधु मिलाकर पीने से परिणामशूल शान्त हो जाता है।

व्यवस्थापत्र

१. प्रातःकाल

धात्रीलौह	२ ग्राम
शूलवज्रिणी वटी	१ ग्राम
शम्बूकभस्म	१ ग्राम

नींबू के शर्बत से। योग—२ मात्रा

२ अपराह्न ३ बजे दिन

नारिकेलखण्ड	२० ग्राम
	१ मात्रा

या

आंवले का मुरब्बा २ अदद
दूध या जल से।

३ भोजनोत्तर २ बार

अविपत्तिकर चूर्ण	६ ग्राम

सुखोष्ण जल से। योग—२ मात्रा

४. रात में सोते समय

त्रिफला चूर्ण	५ ग्राम
जल से।	१ मात्रा

५ दिन में ४–५ बार
यवानीषाडव चूर्ण २–२ ग्राम बिना अनुपान चूसना।

पथ्य

१ गेहूँ, जौ या पुराने चावल का मण्ड बनाकर घी-चीनी मिलाकर थोड़ा-थोड़ा कई बार पिलाना चाहिए।

२ घी, मिश्री और दूध का प्रयोग, औषध या आहार के साथ करते रहना लाभकारक है।

३ गेहूँ-जौ के मिले आटे की रोटी और दूध उत्तम पथ्य है।

४ मलाईदार दही के साथ जो तथा मटर का सत्तू खिलाने से और एकमात्र यही पथ्य देने से परिणामशूल शीघ्र शान्त होता है।

५. जौ का सत्तू मटर की पतली दाल मे मिलाकर पीने से शूल शीघ्र शान्त हो जाता है।

६. पीने के लिए गर्म करके ठंडा किया जल अथवा नारियल का पानी देना चाहिए।

७. रोग मे सन्तोषप्रद लाभ होने पर दो सप्ताह तक रोटी-दूध खिलाकर तब फिर शाकों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—परवल, सहिजन, करेला, मूली, चौराई, बथुआ, चने का शाक और बैंगन खाना लाभकर है।

८. आँवले का मुरब्बा या चूर्ण किसी भी रूप मे खाना हितकर है।

९. पका आम, मुनक्का, चिरौंजी, सेव, कागजी नीबू आदि फल उत्तम हैं।

१० मासार्थी रोगी को जगली पशु-पक्षियो का मासरस देना चाहिए।

अपथ्य

व्यायाम, मैथुन, मद्य, उडद, चना, कटु पदार्थ (तेल, मिर्चा, गरम मसाला, अचार, चटनी आदि) का सेवन नही करना चाहिए। मल-मूत्र, निद्रा, वमन, छीक आदि के वेगो को नही रोकना चाहिए। विरुद्ध भोजन, अजीर्ण भोजन, विषम और गरिष्ठ भोजन निषिद्ध है। चिन्ता-शोक-क्रोध आदि का वातावरण नही बनने देना चाहिए। रात्रि-जागरण, रूक्ष एव कषाय पदार्थ, शीतल भोजन और सूर्य के ताप मे घूमना मना है।

अन्नद्रवशूल-चिकित्सा[1]

अन्नद्रवशूल में पित्त आने तक वमन और कफ आने तक विधिवत् विरेचन कराना चाहिए। आमाशय तथा पक्वाशय के शुद्ध हो जाने पर यह शूल शान्त हो जाता है। इसमे परिणामशूल की तरह चिकित्सा और पथ्य-व्यवस्था करे। दुग्धाहार पर रखे।

पार्श्वशूल-चिकित्सा

१ इस शूल मे कफ और वात का सम्बन्ध रहता है, अत कफवातहर चिकित्सा करनी चाहिए।

२ पुष्करमूलादि चूर्ण—पोहकरमूल, शुद्ध हीग, सोचरनमक, विडनमक, सेंधानमक, तुम्बुरु और हर्रे का वक्कल समभाग लेकर चूर्ण कर छानकर ३ ग्राम की मात्रा मे सुखोष्ण जल से दिन मे ३ बार देने से पार्श्व, हृदय तथा वस्तिशूल मे लाभ होता है।

---

१. पित्तान्त वमनं कृत्वा कफान्तञ्च विरेचनम्।
आमपक्वाशये शुद्धे गच्छत्यन्नद्रव शमम्॥
अन्नद्रवे च तत्कार्यं पक्तिशूले यदीरितम्।
क्षीरमेवात्र संसेव्यं नित्यमन्नविवर्जितम्॥ च० द०

३. प्लीहोदर अधिकार का षट्पलघृत अथवा मेगल घृत २० ग्राम लेकर उसमें ½ ग्राम शुद्ध हींग मिलाकर पिलाना चाहिए। अनुपान में सुखोष्ण दुग्ध देना चाहिए।

४. बिजौरा नीबू के बीज का चूर्ण २ ग्राम की मात्रा में दूध से दें।

५. एरण्डतैल २० ग्राम की मात्रा में मद्य, दही के तोड़ अथवा दूध या मांसरस के साथ पिलाना चाहिए।

६. जीवन्ती की जड़ का कल्क १० ग्राम लेकर तिलतैल मिलाकर गरमकर पसलियों पर लेप करने से पार्श्वशूल नष्ट होता है।

७. हिंगुत्रिगुण चूर्ण ३ ग्राम उष्णोदक से दिन में ३ बार देवें।

८. कागजी नीबू के १ बड़े चम्मच रस के साथ ५ ग्राम घी एवं १ ग्राम सेंधानमक मिलाकर गरमकर पिलाना चाहिए।

९. महिंजन की छाल के ५० ग्राम क्वाथ में ३ ग्राम यवक्षार और १० ग्राम मधु मिलाकर पीना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१. ३–३ घण्टे पर ४ बार

[illegible] रस	½ ग्राम
शृंगाराभ्र	½ ग्राम
शंखभस्म	१ ग्राम
	योग—४ मात्रा

आर्द्रक स्वरस और मधु से।

२. भोजनोत्तर २ बार

दशमूलारिष्ट	३० ग्राम
	२ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

३. अभ्यंग पीड़ित स्थान पर

शूलगजेन्द्र तैल लगाना।

कुक्षिशूल-चिकित्सा

१. रोगी के बल का विचारकर वमन अथवा लंघन कराना चाहिए। उसके बाद पेया-विलेपी आदि के क्रम से पथ्य देना चाहिए।

२. धान के लावा की पेया बनाकर उसमें अनार का रस, मट्ठा, हींग और सेंधानमक मिलाकर पिलाना चाहिए।

३. नीबू आदि अम्ल द्रव्य एवं पञ्चकोल का चूर्ण मिलाकर पेया पिलाने से अग्नि प्रदीप्त होती है।

४. नागरादि क्वाथ—सोंठ, अजवायन, चव्य, बिजौरा नीबू के बीज, हींग, सोंचरनमक, विटनमक, विधारा, एरण्डमूल की छाल, बड़ी कटेरी और छोटी कटेरी

समभाग लेवे। हीग और दोनो नमक अलग रखें, इनके अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का मिलित २५ ग्राम लेकर विधिवत् क्वाथ बनाकर आधा ग्राम शुद्ध हीग और सौवर्चल नमक १ ग्राम तथा विडनमक १ ग्राम डालकर पीने से कुक्षिशूल नष्ट हो जाता है।

५. **विरेचनार्थ**—रुग्ण व्यक्ति के बल तथा दोष आदि का विचारकर वचादि चूर्ण ४–५ ग्राम की मात्रा में सुखोष्ण जल से देना चाहिए।

वचादि चूर्ण—बच, कूठ, अतीस, हर्रे का छिलका और इन्द्रजौ प्रत्येक १०–१० ग्राम लेकर चूर्ण करें, फिर उसमे सोचरनमक ५ ग्राम तथा हीग ३ ग्राम मिला लें।

६. कुक्षिशूल होने पर शाल्वण आदि उपनाहस्वेद, स्नेहसेक, धान्याम्ल से परिसेचन एव वातनाशक क्वाथ से भरे टब मे अवगाहन करावे तथा अन्य शूलनाशक उपाय भी करे।

व्यवस्थापत्र

१ ३–३ घण्टे पर ४ बार

शिवाक्षारपाचन चूर्ण	८ ग्राम
शखभस्म	१ ग्राम
सज्जीखार (सोडा बाईकार्ब)	४ ग्राम
	योग—४ मात्रा

सुखोष्ण जल से।

२ भोजन के ५ मिनट पूर्व

हिंग्वादि वटी २ गोली चूसना।

३ भोजनोत्तर २ बार

कुमार्यासव २५ मि० ली०

समान जल मिलाकर पीना।

हृदयशूल-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१ हृदयशूलजनक कारणो का परित्याग करना चाहिए। जैसे—व्यायाम, परिश्रम, साहस, अत्युष्ण-गुरु-कटु-तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन, वेगविधारण तथा चिन्ता-शोक-भय आदि को छोडना इसका प्रथम उपचार है।

२ रोगी को विश्राम, ब्रह्मचर्य, धैर्य और शान्ति का पालन करना चाहिए।

३ भोजन नियन्त्रित होना चाहिए। खट्टे पदार्थ, कषाय रसवाले द्रव्य और अति भोजन त्याज्य हैं।

४ सशोधन कराना चाहिए। रोगी के शरीर-बल, दोष आदि का विचार कर यथोचित सशोधन करे।

५ सशमन उपचार दोष और प्रकृति का विचार कर करना चाहिए।

३. वायु का अनुलोमन, फलवर्ति का प्रयोग और स्वेदन करे।

४. मलप्रवर्तक आहार-विहार, द्रवप्रधान भोजन, जैसे—दूध की लस्सी पिलाना उत्तम है।

५ पीडित स्थान का मर्दन, स्नेहन, स्वेदन करना लाभदायक है।

चिकित्सा

१ पचतृणमूल ३० ग्राम को कूटकर १२० मि० ली० दूध और ५०० मि० ली० पानी डालकर दुग्धावशिष्ट पाक करे, फिर चुटकी भर छोटी लाइची का चूर्ण डालकर पिलावे। अथवा—

२ पलाश के फूल, कलमी सोरा और चूहे की मेंगनी पीसकर वस्ति स्थान पर लेप करना चाहिए।

३ जवाखार और मिश्री १–१ ग्राम पीसकर पिलाना चाहिए।

४. ककडी के बीज की ठण्डई बनाकर पिलाना चाहिए।

५. वायु के अनुलोमनार्थ—हिंगुद्विरुत्तर चूर्ण, शिवाक्षारपाचन चूर्ण, नारायण चूर्ण, हिंग्वादि चूर्ण, नाराच चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण मे से सुविधानुसार प्रयोग करना चाहिए।

६ क्रूरकोष्ठ होने पर इच्छाभेदी रस का प्रयोग करे।

पथ्य

स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, मूत्रविरेचन, वस्ति, फलवर्ति, अभ्यग, पाचन, मूत्रल तथा वातानुलोमन आहार-विहार का सेवन हितकर है। घी, एरण्ड तैल, हीग, अनार, सतरा, मुसम्मी, मुनक्का, परवल, बथुआ, छोटी मूली, सेंधानमक, पुराना चावल, जौ की दलिया आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

मल मूत्र का वेग रोकना, रूक्ष भोजन, रात्रि-जागरण, मैदे के पदार्थ, चाय, तेज शराब, मास, अधिक खट्टे-तीखे पदार्थ, दालो का प्रयोग और क्रोध, चिन्ता आदि मनोविकार का त्याग करना चाहिए।

मूत्रज शूल-चिकित्सा

१ वस्ति मे मूत्र के सचित होने से मूत्रशूल होता है। इसमे वायु का प्रकोप होता है, अत वातानुलोमन तथा मूत्रप्रवर्तन उपचार करना चाहिए।

२ इसमे वस्तिशूल मे कहे गये उपचार करने से लाभ होता है।

३. स्नेहन, स्वेदन, स्नेहविरेचन और उत्तरवस्ति का प्रयोग करे।

४ वातहर एव मूत्र-विरेचन के सभी उपाय करने चाहिए।

५ गोक्षुरादि गुग्गुलु, पुनर्नवादि क्वाथ, वरुणादि क्वाथ, तृणपचमूल क्वाथ, चन्दनासव, चन्द्रप्रभा वटी, इनका प्रयोग लाभप्रद होता है।

विट्शूल-चिकित्सा

१ विट्शूल मे रोगजनक कारणो का परित्याग कर दोष-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

२. स्नेहन, स्वेदन, वमन तथा विरेचन के द्वारा सशोधन करे।

३ निरूह और अनुवासनवस्ति का प्रयोग कर कोष्ठ का शोधन करे।

४. आहार-विहार और औषध की ऐसी योजना करनी चाहिए, जिससे मल-मूत्र तथा अधोवायु का प्रवर्तन हो जावे।

५ फलवर्ति, हिंग्वादि वर्ति या आगारधूमादि वर्ति का प्रयोग करना चाहिए। हिंग्वादि चूर्ण, नाराच रस या इच्छाभेदी रस का प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए।

अविपाकज शूल-चिकित्सा

मन्दाग्निवाला व्यक्ति जब अधिक भोजन कर लेता है, तो वह भोजन स्थिर हो जाता है तथा प्रकुपित वायु उसे घेर लेती है, जिससे वह अपक्व अन्न तीव्र शूल उत्पन्न करता है। अतएव इसे अन्नदोषसमुद्भव शूल कहते हैं।

इसमे वमन कराना चाहिए तथा फलवर्ति आदि के प्रयोग से कोष्ठ का शोधन करना चाहिए। अपक्व अन्न के पाचनार्थ दीपन-पाचन औषध दे। नीबूद्राव, शंखद्राव, अग्निकुमार रस, सजीवनी वटी, हिंग्वादि चूर्ण, शिवाक्षारपाचन चूर्ण, काकायन वटी, हिंग्वादि वटी, रसोनादि वटी, सर्जिकाक्षार आदि का प्रयोग करना चाहिए। सद्य शूलशमनार्थ गरम जल की थैली से या बोतल से स्वेदन करना चाहिए। आमज शूल की चिकित्सा मे कहे गये उपचार लाभप्रद होते हैं।

द्वादश अध्याय

गुल्मरोग

परिचय—गुल्म शब्द का अर्थ गुच्छा या गोलाकार पदार्थ होता है। जैसे झरबेर की छोटी-छोटी झाडी होती है, कटवाँसी मे छोटे-छोटे वाँस के वृक्ष परस्पर एक-दूसरे से जकडे होते हैं, गन्ने के पौधे एक-दूसरे के साथ जुडे होते हैं, मूज या सरकडे झुरमुट के रूप मे होते हैं, वृक्षो मे वाझी लग जाती है और उसका गुच्छा बन जाता है तथा लताओ की कई जातियाँ एक-दूसरे की शाखा से लिपटी रहती हैं, उसी प्रकार उदरगत महास्रोत के भीतर की वायु अर्थात् भोजन के परिपाक से उत्पन्न वायवीय पदार्थ पित्त अर्थात् विभिन्न अम्ल का क्षारप्रधान पाचकरस एव विदग्ध अन्न और कफ अर्थात् आम तथा अन्य पिच्छिल एव सान्द्र पदार्थ आदि का अनुचित रूप से किसी स्थान पर सञ्चित होकर एक गोले के आकार मे प्रतीत होना गुल्म है। पूर्वोक्त सञ्चित पदार्थों के कारण वायु क्षुभित होकर अन्त्र की स्वाभाविक गति मे अनियमितता उत्पन्न कर देती है तथा सञ्चय स्थान के पास सकोच उत्पन्न कर विशिष्ट पदार्थ को और अधिक सञ्चित होने मे सहायक होती है।

अपने-अपने प्रकोपक कारणो से प्रकुपित हुए दोष हृदय और वस्ति के मध्यप्रदेश अर्थात समस्त उदरगुहा मे स्थानसश्रय कर वायु की अधिकता से सञ्चरणशील तथा वायु की अल्पता होने पर अचल (एक स्थान मे स्थित) एव वायु के विषम स्वभाव से कभी बढने और कभी घटने वाली गोल ग्रन्थि को गुल्म कहते हैं, जिसमे उदर का वाह्य भाग रूक्ष तथा कृष्ण-अरुणवर्ण शिराओ के तन्तुओ के जाल से सर्वत व्याप्त होता है।[1]

गुल्म शब्द सघात या समूह या झुरमुट या जकडी हुई पत्तियो के झोझ (जैसे माटे (पीले चीटे) बहुत सी पत्तियो को एक साथ उलझाकर एक गोल गुच्छ बनाकर उसमे रहते हैं) के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, उसी आकृति सादृश्य के आधार पर इस रोग का गुल्म नामकरण किया गया है।

गुल्म की निरुक्ति

गुड्यते। 'गुड वेष्टने' रक्षणे (तु० प० से०) बाहुलकान्मक्। डलयोरेकत्वम्। (अमरकोष ३।४२ 'गुल्मा रुक्स्तम्बसेनाश्च' पर रामाश्रमी टीका) 'गुडवेष्टने' धातु से मक् प्रत्यय करके और ड के स्थान मे म रखकर गुल्म शब्द बनता है, जिसका अर्थ बाँधना होता है। गुल्मरोग पिण्डाकार होने के ही कारण गुल्म कहा जाता है—

---

१ हृद्बस्त्योरन्तरे ग्रन्थि सञ्चारी यदि वाऽचल।
चयापचयवान् वृत्त स गुल्म इति कीर्तित ॥ सु० उ० ४२।४
तथा—रूक्षकृष्णारुणसिरातन्तुजालगवाक्षित। अ० हृ० नि० ११।३२

'स पिण्डितत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते'—च० नि० ३।७।

गुल्म शब्द की निरुक्ति तीन प्रकार से की जाती है—

(१) प्रकोपग्रस्त होने से क्षुब्ध हुआ वायु गुल्मरोग का मूल कारण होता है, इसलिए इस रोग को गुल्म कहते है। गुल्म शब्द की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति का आधार सुश्रुत का यह श्लोक है—

> गुपितानिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि।
> गुल्मवद् वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ सु० उ० ४२।५

उक्त श्लोक के गुपित शब्द से 'गु' अनिल मे 'ल' और मूल से 'म' अक्षर ग्रहण करके गुल्म वना है। इस कथन से यह सूचित किया गया है, कि गुल्म का मूल गुपित या कुपित वायु है।

(२) दूसरी निरुक्ति—गूढमूल अर्थात् पृथ्वी के भीतर जिनके मूल या कन्द छिपे होते हैं, ऐसे भूमि के भीतर वैठनेवाले कन्दो की तरह जिसकी उत्पत्ति है, उसे गुल्म कहा जाता है। इस निरुक्ति मे गूढ शब्द का 'गु' ह्रस्व मात्रा करके मूल शब्द से क्रम को विपरीत का हलन्त 'ल्' और 'म' का अध्याहार कर गुल्म शब्द वनता है।

(३) गुल्म शब्द का अर्थ है—मनुष्यो का झुण्ड, वनस्पतियो की परस्पर शाखाओ की सम्बद्धता का होना, जैसे—बांस या झरवेरा आदि। इसके समान यह रोग जकडन से होता है और पिण्डित एव विशाल होता है, अत इसकी सज्ञा 'गुल्म' है।[१]

गुल्म का स्थान

१ गुल्म का प्रधान स्थान उदर है।

२ वस्ति-समीपस्थ उदर का भाग तथा स्वय वस्ति भी गुल्म का स्थान है।

३. स्त्रियो का गर्भाशय भी गुल्म का स्थान है।

४ चरक तथा सुश्रुत ने गुल्म की उत्पत्ति के पाँच स्थान वतलाये हैं[२]—

१ हृदय-प्रदेश, २ नाभि-प्रदेश, ३ वस्ति-प्रदेश, ४ उदर का दक्षिण पार्श्व और ५ उदर का वाम पार्श्व।

वक्तव्य—(१) यहाँ हृदयप्रदेश से उदर के हृदय-समीपस्थ ऊर्ध्वप्रदेश का ग्रहण करना चाहिए। (२) नाभि मे उदर का मध्यप्रदेश समझना चाहिए। (३) वस्ति से उदर के अधोभाग का ग्रहण करना चाहिए। (४-५) पार्श्व शब्द से फुफ्फुस के वाम उदर पार्श्विक प्रदेश और दक्षिण उदर पार्श्विक प्रदेश का ग्रहण करना चाहिए।

---

१ गुल्म इति लतादिगिहितस्थानविशेषे गुल्मव्यपदेश।
तत्सादृश्याद् सञ्चितपरिपिण्डितदोषेऽपि गुल्मसज्ञेत्याहु ॥
अ० हृ० नि० ११।३८ पर टिप्पणी में उद्धृत

२ (क) वस्तौ च नाभ्या हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च। च० चि० ५
(ख) पञ्च गुल्माश्रया नृणा पार्श्वहृन्नाभिवस्तय ॥ सु० उ० ४२

प्राचीन आचार्यों ने उदर के ऊर्ध्व, मध्य, अध और दो पार्श्व यह पाँच विभाग कर उनकी क्रमश हृदय, नाभि, वस्ति और पार्श्व (वाम तथा दक्षिण) सज्ञा स्थिर कर दी है ।

आधुनिक विद्वान् उदर को नव भागो मे विभक्त करते हैं ऊर्ध्व उदरप्रदेश को—१ दक्षिण आनुपार्श्विक प्रदेश, २ हृदयाधरिक प्रदेश, ३ वाम आनुपार्श्विक प्रदेश, मध्य उदर प्रदेश को—४ दक्षिण कटिपार्श्विक प्रदेश, ५. पारिनाभिक प्रदेश, ६. वाम कटिपार्श्विक प्रदेश एव अध उदर प्रदेश को—७. दक्षिण वक्षणोत्तरिक प्रदेश, ८. अधिवस्तिक प्रदेश, ९. वाम वक्षणोत्तरिक प्रदेश, इस प्रकार नव भाग मानते हैं। अतएव सम्पूर्ण उदर गुल्म का स्थान है ।

गुल्म के प्रकार और संख्या

गुल्म पाँच प्रकार का होता है—१. वातज गुल्म २. पित्तज गुल्म ३ कफज गुल्म ४ त्रिदोषज (निचय) गुल्म और ५ रक्तज गुल्म ।

इनमे प्रथम चार स्त्री और पुरुष दोनो मे होते है, किन्तु रक्तज गुल्म केवल स्त्रियो मे ही होता है ।

वक्तव्य—आचार्य चरक ने निदानस्थान मे गुल्म के ५ भेद कहे हैं,[1] किन्तु चिकित्सास्थान मे ३ द्वन्द्वज गुल्मो का भी उल्लेख किया है ।[2]

द्वन्द्वज गुल्मो का भेद-कथन मे पाठ न करने का कारण यह है, कि इनका ससर्ग (दो दोषो का सयोग होना) सम्मिलित दोषो के अनुरूप (प्रकृतिसमसमवेत) होता है और दोषानुसार ही उनके लक्षण तथा उनकी चिकित्सा होती है । अत द्वन्द्वज गुल्मो मे कोई लक्षण एव चिकित्सा का अन्तर न होकर दोषानुकूल लक्षण और चिकित्सा होने के कारण उनका पृथक् उल्लेख नही किया गया है ।

रक्तज गुल्म के दो प्रकार[3]

१ रक्तज गुल्म कहने से स्त्रियो को होने वाला गुल्म ही समझा जाता है, परन्तु इससे भिन्न धातुरूप रक्तज गुल्म भी होता है, जो स्त्रियो और पुरुषो दोनो मे होता है ।

२ आघातादि कारणो से शरीर के बाह्य अथवा आभ्यन्तर भागो मे रक्तस्राव होकर जो त्वचा आदि के आवरण मे रक्तसंचय होता है, सभवत. प्राचीनो ने उसे धातुज रक्तगुल्म माना है ।

---

१. (क) इह खलु पञ्च गुल्मा भवन्ति, तद्यथा—वातगुल्म , पित्तगुल्म , श्लेष्मगुल्म , निचयगुल्म , शोणितगुल्म इति । च० नि० गुल्मनि०

(ख) स व्यस्तैर्जायते दोषै समस्तैरपि चोच्छ्रितै ।
पुरुषाणा तथा स्त्रीणा ज्ञेयो रक्तेन चापर ॥ सु० उ० ४२

२ निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबल च ।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मास्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ च० चि० ५

३ स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुसामुपजायते ।
अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्म स्त्रीणा पुसा च जायते ॥ मा० नि० गुल्म ३ पर मधुकोश

इस धातुरूप रक्तज गुल्म का पित्तज गुल्म मे समावेश हो जाता है, सम्भवत इसी रक्तज गुल्म मे आचार्य चरक ने रक्तावसेचन का विधान किया है ।[1]

गुल्म का सामान्य निदान

मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित हुए वात आदि दोष कोष्ठ के अन्दर (उदर के विभिन्न प्रदेशो मे) ग्रन्थि के समान पाँच प्रकार के गुल्मो को उत्पन्न करते हैं ।[2]

गुल्म का पूर्वरूप

अधिक डकार आना, मलावरोध होना, पेट भरा मालूम पडना, शक्ति का ह्रास होना, आँतो मे आवाज होते रहना, उदर मे गुडगुडाहट, उदर मे वायु भर जाना, अपच होना, ये लक्षण गुल्म के पूर्वरूप हैं ।[3]

गुल्म का सामान्य लक्षण

भोजन मे अरुचि, मल-मूत्र तथा अपान वायु का कठिनाई मे निकलना, आँतो मे गुडगुडाहट होना, उदर मे आनाह होना और ऊपर की ओर डकारो का आते रहना, ये लक्षण सभी गुल्मो मे सामान्य रूप से पाये जाते हैं ।[4]

वक्तव्य—आचार्य वाग्भट ने अन्तर्गुल्म तथा वाह्य गुल्म के नाम से दो विशेष गुल्म भेदो का वर्णन किया है ।

अन्तर्गुल्म का लक्षण

जव गुल्म अन्दर मे गहराई तक होता है, तब उसे अन्तर्गुल्म कहते हैं । इसमे वस्ति मे, कुक्षि मे, हृदय-प्रदेश मे और प्लीह-प्रदेश मे वेदना होती है तथा जठराग्नि मन्द हो जाती है एवं शारीरिक वल और वर्ण का ह्रास हो जाता है । इसमे मल-मूत्र आदि के वेग भी कम हो जाते हैं ।[5]

बाह्य गुल्म का लक्षण

जब वाहर के अगो मे त्वचा आदि के नीचे गुल्म होता है, तो उसे वाह्य गुल्म कहते हैं । इसमे कोष्ठ के अवयवो मे अधिक पीडा नही होती है । गुल्मस्थान की त्वचा विवर्ण हो जाती है तथा वाहर के भाग मे उभार (ऊँचाई) दिखलाई देती है ।[6]

---

१ तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे. ।
गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥ च० चि० ५

२ दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारत ।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्म कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ॥ मा० नि०

३ उद्गारवाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।
आटोपमाध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥ अ० ह० नि० ११

४. अरुचि कृच्छ्रविण्मूत्रवातताऽन्त्रविकूजनम् ।
आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥ मा० नि०

५ गुल्मेऽन्तराश्रये वस्तिकुक्षिहृत्प्लीहवेदना ।
अग्निवर्णवलभ्रंशो वेगाना चाप्रवर्तनम् ॥ अ० सं० नि० ११

६ अतो विपर्ययो वाह्ये कोष्ठाङ्गेषु तु नातिरुक् ।
वैवर्ण्यमवकाशस्य बहिरुन्नतताऽधिकम् ॥ अ० सं० नि० ११

गुल्म की सामान्य सम्प्राप्ति

रक्तगुल्म को छोडकर बाकी चार गुल्मो की सम्प्राप्ति सामान्यत निम्न प्रकार से है—

गुल्म एक वातदोष-प्रधान रोग है। कफज एव पित्तज गुल्मो मे भी प्रकुपित हुए वात के साथ स्वतन्त्रतया प्रकुपित कफ तथा पित्त का अनुबन्ध हुआ करता है।

जब प्रकुपित हुआ वायु पित्त और कफ तथा मल से आवृत होता है, तब वह कोष्ठ मे आश्रय करके और रूक्षता के कारण पिण्डित होकर अपने स्थान (पक्वाशय) मे स्वतन्त्र (केवल) तथा अन्य (कफ-पित्त) के स्थान (आमाशय और पच्यमानाशय) मे परतन्त्र (तत्स्थानीय दोष कफ तथा पित्त से मिला हुआ) अमूर्त होते हुए भी पिण्डाकार को प्राप्त होकर मूर्तरूप धारण कर 'गुल्म' उत्पन्न करता है।[1]

सम्प्राप्ति

प्रधानत वातप्रकोपक आहार-विहार—वात का स्वतन्त्र या परतन्त्र प्रकोप

पक्वाशय मे | आमाशय या पच्यमानाशय में

उदर के ऊर्ध्व, मध्य, अधः या दोनो पार्श्व मे पिण्डित होकर व्याप्त प्रदेश को पीडित करना

गुल्म की उत्पत्ति
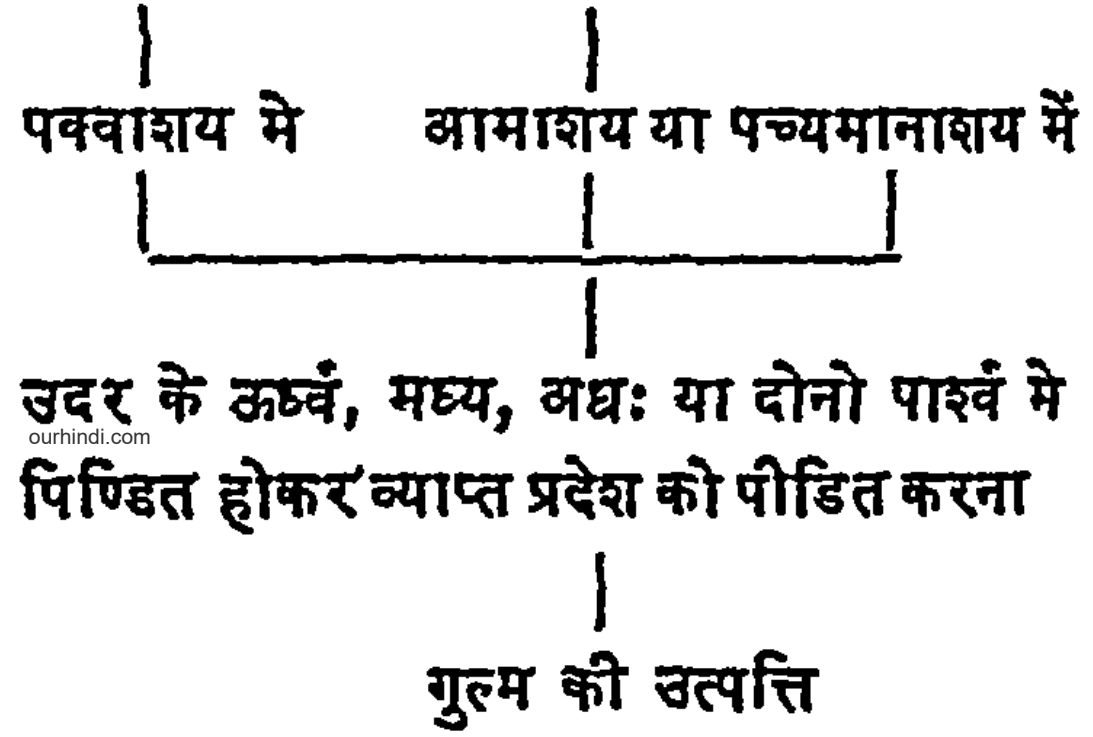
वातज गुल्म का निदान

खाने-पीने मे रूक्ष पदार्थ का अनियमित अथवा अधिक मात्रा मे सेवन करना, विरुद्ध चेष्टा करना (जैसे अपने से बलवान् व्यक्ति के साथ कुश्ती लडना या ऊँचे-नीचे स्थान से कूदना आदि), अपानवायु या मल-मूत्रादि के वेगो को रोकना, अत्यधिक शोक करना, चोट लग जाना, विरेचन आदि कर्मो मे मल का अत्यधिक क्षय हो जाना एव अधिक उपवास करना, ये सब वातज गुल्म के कारण होते हैं।[2]

---

१ (क) स प्रकुपितो वायुर्महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात्कठिनीभूतमाप्लुत्य पिण्डितोऽवस्थानं करोति, हृदि बस्तौ पार्श्वयोर्नाभ्या वा स शूलमुपजनयति ग्रन्थींश्चानेकविधान्, पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वाद् 'गुल्म' इत्यभिधीयते। च० नि० ३।७

(ख) कर्शनात् कफविट्पित्तैर्मार्गस्यावरणेन वा।
वायु कृताश्रय कोष्ठे रौक्ष्यात् काठिन्यमागत ॥
स्वतन्त्र स्वाश्रये दुष्ट परतन्त्र पराश्रये ॥
पिण्डितत्वादमूर्तोऽपि मूर्तत्वामिव संश्रित ।
गुल्म इत्युच्यते वस्तिनाभिहृत्पार्श्वसंश्रय ॥ अ० हृ० नि० ११

२ रूक्षान्नपान विषमातिमात्र विचेष्टित वेगविनिग्रहश्च।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतु ॥ च० चि० ५।९

(Abdominal abscess) का रूप धारण कर सकता है। एवञ्च पैत्तिक गुल्म के कारणभूत अम्ल, उष्ण, विदाही आदि पदार्थ एव पित्त चिरकाल तक के सपर्क से अन्त्रकला मे क्षोभ तथा व्रणोत्पत्ति भी कर सकत हैं और मास-शोणित दुष्टि से उस क्षत मे तथा समीपस्थ भागो मे व्रणशोथ या विद्रधि के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

कफज गुल्म का निदान

शीतल, भारी और चिकने पदार्थों का अधिक सेवन करना, शारीरिक श्रम के कार्यों का न करना, अधिक मात्रा मे छककर खाना-पीना और दिन मे शयन करना, ये सब कफज गुल्म के कारण हैं।[1]

कफज गुल्म के लक्षण

कफज गुल्म मे शरीर गीले वस्त्र सें, ढँका हुआ सा सकुचित रहता है, शीत लगकर ज्वर होता है अगो मे थकावट होती है, मिचली आती है, खाँसी, भोजन में अरुचि और शरीर मे भारीपन होता है। रोगी का शरीर शीतल रहता है, गुल्म स्थान मे पीडा कम होती है, गुल्म का आकार कठिन और उभरा हुआ होता है। ये सब कफज गुल्म के लक्षण हैं।[2]

वक्तव्य—कफज गुल्म मे सञ्चित पदार्थ के चिरकाल तक एक स्थान पर रुकने से अधिक सान्द्र या कठोर तथा समीपस्थ अवयव से ससक्त होने से ग्रन्थि या अर्बुद का रूप हो सकता है। इसी अभिप्राय से आचार्य चरक ने इसमे विम्लापन, अग्निकर्म आदि द्वारा चिकित्सा करने का आदेश दिया है।

त्रिदोषज गुल्म के निदान और लक्षण

जब तीनो दोष प्रकुपित हो जाते हैं, तो वे त्रिदोषज गुल्म के कारण होते हैं।

लक्षण—जिस गुल्म मे भयकर पीडा, अधिक जलन, पत्थर के समान कठिनता और उभार होता है, जिसमे शीघ्र ही पाक होता है और दारुणता होती है, जो मनोबल, शरीरबल तथा अग्निबल का ह्रास कर देता है, उसे त्रिदोषज गुल्म कहा जाता है। यह गुल्म असाध्य होता है।[3]

वक्तव्य—त्रिदोषज गुल्म दो प्रकार का होता है—

१. प्रकृतिसमसमवेत और २. विकृतिविषमसमवेत। इनमे प्रथम प्रकृतिसमसमवेत साध्य होता है। उसी की चिकित्सा के लिये सुश्रुत ने कहा है—'सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हित।' अर्थात् सन्निपातज गुल्म मे त्रिदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। दूसरा विकृतिविषमसमवेत सदैव असाध्य होता है।

---

१ शीतं गुरुस्निग्धमचेष्टन च सम्पूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतु कफसम्भवस्य ॥ च० चि० ५।१४

२ स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥ च० चि० ५।१५

३ महारुजं दाहपरीतमश्मवद् घनोन्नत शीघ्रविदाहि दारुणम्।
मन शरीराग्निबलापहारिण त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥ च० चि० ५।१७

रक्तज गुल्म का निदान

नवीन प्रसव होने पर, गर्भस्राव या गर्भपात होने पर अथवा आर्तवप्रवृत्तिकाल में जो स्त्री मिथ्या आहार-विहार करती है, उसका गर्भाशयगत प्रकुपित वायु रक्त को अवरुद्ध कर पीड़ा और दाह से युक्त गुल्म को उत्पन्न करता है।

आचार्य चरक ने कहा है, कि ऋतुकाल में भोजन न करने से, भय से, रूक्ष आहार विहार से, मल-मूत्रादि वेगों के रोकने से, रक्तस्तम्भक आहार-विहार या औषधों के सेवन से, वमन करने से और योनिदोष के कारण स्त्रियों को रक्तज गुल्म होता है।[1]

रक्तज गुल्म के लक्षण

जो गुल्म पिण्ड के रूप में ही देर से स्पन्दन करता है अर्थात् गतिमान होता है, उसमें हाथ पैर आदि अंगों का स्पन्दन नहीं प्रतीत होता। स्पन्दनकाल में पीड़ा होती है, जिसमें गर्भ के समान सभी लक्षण होते हैं। जैसे—

रजोऽवरोध, मुख की पाण्डुता, ओठों तथा स्तनमण्डलों की कृष्णता, स्तनों में स्तन्य का प्रादुर्भाव, नेत्रों में ग्लानता, मूर्च्छा, हृल्लास, शरीर की कृशता, अंगों में थकावट, दोहृद (रोगप्रभाववश विविध प्रकार के आहार-विहार की इच्छा) पाद-शोथ, योनि का विस्तार, वस्तिप्रदेश में रोमराजि का उद्गम आदि लक्षण होते हैं।

यह आर्तवदोषजन्य रक्तज गुल्म स्त्रियों में ही होता है। इसकी चिकित्सा दसवाँ महीना बीतने पर ही करनी चाहिए।[2]

वक्तव्य—प्रसव के बाद चालीस या पैंतालीस दिन का समय नव प्रसवकाल (Involution period) कहलाता है। इस अवधि में गर्भाशय अपनी प्रकृत अवस्था को प्राप्त कर लेता है, इसलिए प्रसूता स्त्री को इतने दिनों तक बड़ी देखभाल करनी पड़ती है। पथ्य आहार-विहार का ही सेवन कराया जाता है। यदि प्रसूता स्त्री गर्भाशय के अपने प्राकृतिक रूप में होने के पूर्व ही अपथ्य सेवन करने लगे, तो उसकी गर्भाशय स्थित वायु प्रकुपित होकर गर्भाशय के मुख को बन्द कर देती है, जिससे गर्भाशय भलीभाँति स्वच्छ नहीं हो पाता और गर्भाशयिक कला से स्रुत रक्त वहीं एकत्र होकर पिण्डित होने लगता है और प्रति मास उसकी वृद्धि होनी आरम्भ हो जाती है। आचार्य डल्हण के अनुसार ६ मास पर्यन्त का गर्भ आमगर्भ कहलाता है, तीन मास तक के गर्भ के गिरने को गर्भस्राव (Abortion) और तीसरे तथा सातवें महीने के

---

१. (क) नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्॥
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं ॥ सु० उ० ४२

(ख) ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियां रक्तभवोऽभ्युपैति॥ च० चि० ५।१८

२ यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात् सशूलः समगर्भलिङ्गः।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः॥ च० चि० ५।१९

मध्य मे गर्भ के गिरने को गर्भपात (Miscarriage) कहते हैं। गर्भ की उक्त दोनो अवस्थाएँ आम ही हैं। गर्भाशय की दृष्टि से नवप्रसव, आमगर्भपात तथा आर्तव का निर्हरण, इन तीनो अवस्थाओ मे बहुत साम्य है। अत इन तीनो अवस्थाओ मे अपथ्य सेवन के परिणामस्वरूप रक्तज गुल्म हो सकता है।

असाध्य गुल्म के लक्षण[1]

जो गुल्म क्रमश बढते हुए सम्पूर्ण उदर-प्रदेश मे व्याप्त हो जावे, जो धातुगत होकर अपनी जड जमा ले, जो सिराजाल से आबद्ध हो, जो कछुआ की पीठ की तरह समुन्नत हो, जिसमे रोगी दुर्बलता, अरुचि, मिचली, खाँसी, वमन, बेचैनी, ज्वर, प्यास, तन्द्रा तथा प्रतिश्याय से पीडित हो, वह गुल्म असाध्य होता है।

जिस रोगी को ज्वर हो, वमन एव अतिसार हो तथा जिसके हृदय-प्रदेश, नाभि-प्रदेश हाथ तथा पैरो मे सूजन आ गई हो, ऐसे गुल्म के रोगी का गुल्म असाध्य होता है।

श्वास, उदरशूल, तृष्णा, भोजन मे अरुचि, गुल्म की ग्रन्थि का सहसा लुप्त हो जाना और अत्यधिक दुर्बलता होना, इन लक्षणो के होने पर रुग्ण का गुल्म असाध्य हो जाता है।

पक्व गुल्म के लक्षण

गुल्म जब पक जाता है, तब दबाने पर दबता है और छोडने पर ऊँचा हो जाता है। शूल आदि वेदना कम हो जाती है। त्वचा का रग काला हो जाता है। गुल्म को दबाने पर पानी से भरे मशक को दबाने जैसा प्रतीत होता है।[2]

ऐसे गुल्म की चिकित्सा पक्व विद्रधि के समान तत्काल करनी चाहिए तथा उसमे से रक्त और पूय को निकाल कर शोधन-रोपण आदि व्रणोपचार करना चाहिए।

अपक्व गुल्म के लक्षण

कठिन आकारवाला, भारी, मास के भीतर आश्रयवाला, मूल वर्णवाला और जो स्थिर गुल्म हो, उसे अपक्व जानना चाहिए।[3]

पच्यमान या विदह्यमान गुल्म के लक्षण

दाह होना, शूल होना, अग्नि से जलाने के समान वेदना होना, निद्रानाश, बेचैनी

---

१. (क) च० चि० ५।१६९–१७१
(ख) श्वास शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषी ग्रन्थिमूढता।
जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥ सु० उ० ४२

२. विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्तुङ्गे समुन्नते।
श्यावे सरक्तपर्यन्ते सस्पर्शे वस्तिसन्निभे ॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात्।
तत्रैव पिण्डिते शूले सम्पक्वं गुल्ममादिशेत् ॥ च० चि० ५।४२–४३

३ गुरु कठिनसस्थानो गूढमांसान्तराश्रय.।
अविवर्ण. स्थिरश्चैव ह्यपक्वो गुल्म उच्यते ॥ च० चि० ५।४०

और ताप, इन लक्षणों से युक्त गुल्म को पच्यमान या विदह्यमान जानना चाहिए। उसे पकाने के लिए सेक आदि उपचार करना चाहिए।[1]

आभ्यन्तर पच्यमान गुल्म के लक्षण

यदि गुल्म का पाक भीतरी भाग में हो रहा हो, तो बाहरी भाग में पच्यमान गुल्म के लक्षण के अनुरूप ही इसमें भी वही लक्षण होता है। विशेष रूप से अन्तर्भाग में पच्यमान गुल्म में हृदयप्रदेश और उदरप्रदेश में शोथ एवं बाह्य भाग के पच्यमान गुल्म में शोथ बाहर पार्श्व में निकला होता है।[2]

आभ्यन्तर पक्व गुल्म के रूप

जब भीतरी भाग में गुल्म पक जाता है, तब अन्तःस्थ स्रोतों में क्लेद उत्पन्न कर पूय को ऊपर की ओर से वमन द्वारा तथा अधोभाग से मल द्वारा बाहर निकालने लगता है।[3]

रक्तगुल्म और गर्भ का सापेक्ष (भेदक, डिफरेन्शियल) निदान[4]

रक्तज गुल्म	गर्भ
१. यह पिण्ड-सदृश वृत्ताकार होता है।	१. यह अंग-प्रत्यंगवान् होता है। स्पर्श परीक्षा करने पर गर्भ के शिर, पृष्ठ, उदर, सक्थि, बाहु आदि अवयव स्पर्शगम्य होते हैं।
२. इसमें सम्पूर्ण पिण्डाकार गुल्म का स्पदन होता है।	२. इसमें हस्त-पाद आदि पृथक्-पृथक् अवयवों में भी स्पन्दन होता है।
३. यह अवयवरहित नाभि के नीचे सचालन करता है।	३. यह एक स्थान से अन्य स्थान में समस्त अवयवों के साथ संचरण करता है।
४. गुल्म की वृद्धि मन्द-मन्द होती है।	४. गर्भ की वृद्धि क्रम-विशेष से प्रतिदिन होती रहती है।
५. गुल्म-वृद्धि की कोई अवस्था नहीं है।	५. गर्भ प्रत्येक मास में एक निर्धारित अवस्था विशेष को प्राप्त करता रहता है।
६. इसमें अकारण ज्वर-दाह आदि होते हैं।	६. गर्भिणी के ज्वर, दाह आदि उत्पन्न होने के कुछ कारण होते हैं।

---

१ दाहशूलार्तिसंक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः ।
विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत् ॥ च० चि० ५।४१

२ अन्तर्भागस्य चाप्येतद् पच्यमानस्य लक्षणम् ।
हृत्क्रोडशूलताऽन्तःस्थे बहिःस्थे पार्श्वनिर्गतिः ॥ च० चि० ५।४५

३ पक्व. स्रोतांसि संक्लेद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा । च० चि० ५।४६

४. काश्यपसंहिता ।

७. इसमें देर से कदाचित् गुल्म के स्थान परिवर्तन के कारण स्पन्दन होता है।	७ गर्भ मे शीघ्र शीघ्र जीवन-लक्षण रूप स्पन्दन होता रहता है।
८ इसमे सशूल स्पन्दन होता है।	८. इसके स्पन्दन में शूल का अभाव होता है।
९. इसमे केवल गुल्म की ही अभिवृद्धि होती है।	९. गर्भ की स्थिति में गर्भवृद्धि के साथ समस्त उदर मे वृद्धि होती है।
१० यह दस मास के बाद भी बना रह सकता है।	१०. प्राय दसवें मास मे प्रसव हो जाने पर यह समाप्त हो जाता है।

गुल्म और अन्तर्विद्रधि का सापेक्ष निदान

ये दोनो रोग परस्पर बहुत अश मे समान हैं। दोनो के स्थान एक हैं, दोष समान हैं और कारण समान हैं। गुल्म मे देर से पाक होता है या नही होता है, किन्तु विद्रधि मे शीघ्र विदाह या पाक होता है। विद्रधि का आश्रयभूत रक्तधातु है और रक्तधातु के दूषित होने पर विद्रधि शीघ्र पक जाती है।

गुल्म के अन्तराश्रित होने से वस्ति, कुक्षि, हृदय और प्लीहा आदि मे वेदना बनी रहती है। जठराग्नि, वर्ण और बल का ह्रास हो जाता है तथा अधोवायु, मल-मूत्र आदि वेगो की सम्यक् प्रवृत्ति नही होती।

विद्रधि के रक्तधातु के आश्रित बाह्य परिवेश मे होने से जठराग्नि, वर्ण और बल का अधिक ह्रास नही होता। वेगो की प्रवृत्ति मे बाधा नही होती और वस्ति, उदर एव हृदय आदि प्रदेशो मे अतिशूल नही होता।

यद्यपि गुल्म और विद्रधि इन दोनो के लक्षण अनेक अशो मे विपरीत हैं, तथापि 'पाक हो जाना' इस लक्षण के दोनो मे प्रविष्ट होने से अनेक आचार्यों ने अन्तर्विद्रधि को गुल्म से पृथक् नही माना है। उनके अनुसार गुल्म जब पकने लगता है, तब विरेचन, लेप, विम्लापन आदि और पक जाने पर पाटन-शोधन-रोपण आदि उपचार करने चाहिए।

सुश्रुत ने गुल्म को न पकनेवाला और विद्रधि को पकनेवाला बतलाया है, और यही इन दोनो का प्रधान भेदक लक्षण माना है।

गुल्म और विद्रधि के भेदक लक्षण[1]

गुल्म	विद्रधि
१ गुल्म का मूल नही होता।	१ विद्रधि मे रस-रक्तादि मूल होते हैं।
२. इसमे दोष ही स्वय गुल्मवत् होकर रोग उत्पन्न करते हैं।	२. विद्रधि का आश्रय मास एव रक्त होता है।
३. गुल्म का पाक नही होता।	३ विद्रधि का पाक होता है।

१ न निबन्धोऽस्ति गुल्मस्य विद्रधि॰ सनिबन्धन ।
गुल्माकारा स्वय दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते ॥

गुल्म का सामान्य चिकित्सासूत्र

गुल्मरोग वातप्रधान होता है। इसमे अन्य दोष स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित होकर वातप्रकोप सहकृत होकर ही गुल्मरोगजनक होते हैं। अत. सभी गुल्मो मे वात की चिकित्सा प्रमुख रूप से करनी चाहिए। वात के प्रकोप पर विजय प्राप्त कर लेने पर अन्य दोषो की चिकित्सा आसान हो जाती है।

गुल्म की चिकित्सा के एकादश सूत्र

१ स्नेहन, २. स्वेदन, ३. निरूह, ४. अनुवासन, ५ विरेचन, ६ वमन, ७ लघन, ८ बृहण, ९ शमन, १०. रक्तमोक्षण और ११ अग्निकर्म, ये गुल्म के ११ प्रकार के उपचार साधन हैं।[1]

१ स्नेहन और स्वेदन[2]—सर्वप्रथम वातनाशक औषधो से पकाये गये (नारायण आदि) तैल का पान करावे। वातहर क्वाथ या दूध मे डालकर तैल का पान कराना चाहिए। स्नेहयुक्त भोजन, स्नेह का अभ्यङ्ग एव स्नेहवस्ति के प्रयोग से स्नेहन करे। स्नेहन से रोगी का महास्रोत कोमल होता है। स्नेहन से महास्रोतस्थ गुल्म या विवद्ध मल की गाँठें भी कोमल हो जाती हैं। स्नेहन के लिए दूध मे एरण्डतैल मिलाकर दें। एरण्डतैल मे हरीतकी चूर्ण, सर्जिकाक्षार (सोडा-बाईकार्ब) या कूठ का चूर्ण मिलाया जा सकता है।

तैलपान, तैलाभ्यग एव स्निग्ध अन्नाहार द्वारा रोगी का स्नेहन करके कुम्भी-स्वेद (बोतल या रबर की थैली मे क्वाथ भरकर स्वेदन करना), पिण्डस्वेद (गरम भात को कपड़े मे बाँधकर सेंकना), इष्टिकास्वेद या शाल्वणस्वेद की औषधो को पीसकर गरमकर बाँध कर उपनाह स्वेद करना चाहिए। गेहूँ के आटे की या तीसी की पुल्टिस बाँधकर सेंकना भी लाभकर है।

इस प्रकार के स्वेद से वायु के उग्र प्रकोप का शमन तथा महास्रोत की मृदुता होने एव विवन्ध के टूट जाने से गुल्मरोग दूर हो जाता है।[3]

विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बद्बुदको यथा। एवम्प्रकारो गुल्मस्तु तस्माद् पाक न गच्छति॥
मांसशोणितबाहुल्याद् पाकं गच्छति विद्रधि। मांसशोणितहीनत्वाद् गुल्म पाक न गच्छति॥
गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते।
विद्रधि पच्यते तस्मात् गुल्मश्चापि न पच्यते॥ सु० नि० ९

१ स्नेहनं स्वेदनं चैव निरूहमनुवासनम्। विरेकवमने चोभे लङ्घनं बृंहण तथा।
शमनं चावसेकं च शोणितस्याग्निकर्म च। कारयेदिति गुल्मानां यथारम्भ चिकित्सितम्॥ भै० र०

२ गुल्मेष्वात्ययिके कर्मणि वातचिकित्सित प्रणयेत्—स्नेहस्वेदौ वातहरौ स्नेहसहितं च मृदु-विरेचनं वस्तींश्च। अम्ललवणमधुरांश्च रसान् युक्त्याऽवचारयेत्। मारुते ह्युपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्योऽन्यो दोषो नियन्तु गुल्मेष्विति।
भवति चात्र—गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायै सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्॥ च० नि० ३

३ स्रोतसा मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्।
भित्वा विवन्ध गुल्मस्य स्वेदो गुल्ममपोहति॥ च० चि० ५।२३

२ नाभि से ऊर्ध्व आमाशयस्थ गुल्मो मे स्नेहपान कराना, पक्वाशयगत गुल्म मे वस्ति देना तथा उदर के अन्य (जठराश्रित) गुल्मो मे स्नेहपान एव वस्तिप्रयोग उत्तम है।[1]

३. लघन, दीपन, उष्ण, वातानुलोमन और बृहण औषध तथा अन्नपान सर्वविध गुल्मरोगियो के लिए हितकर है।[2]

४ गुल्मरोग को नष्ट करने के लिए स्नेहन और स्वेदन के वाद वस्ति देना सर्वोत्तम उपाय है, क्योकि वस्तिकर्म वायु को उसके प्रधान स्थान (पक्वाशय) मे जीतकर शीघ्र ही गुल्म को दूर कर देता है। इसलिए बारम्बार निरूह तथा अनुवासन वस्ति का विधिवत् प्रयोग करने से वातज, पित्तज और कफज गुल्म शान्त हो जाते हैं।[3]

५ **रक्तमोक्षण**—गुल्मपीडित स्थान पर जलौका आदि द्वारा रक्तमोक्षण, बाहु के मध्य मे सिराव्यध द्वारा रक्तमोक्षण और स्वेदन तथा वात का अनुलोमन उपचार करना, सभी प्रकार के गुल्मो मे प्रशस्त है।[4]

६ **जठराग्नि-सन्धुक्षण**—जठराग्नि के मन्द होने पर गुल्मरोग बढता है और उसके तीव्र होने पर शान्त होता है, अत पाचन की क्षमता के अनुसार स्निग्ध तथा उष्णगुण-प्रधान एव लघु भोजन करना चाहिए। भोजन न तो पूरा भरपेट खाना चाहिए और न ही उपवास करना चाहिए।[5]

वातज गुल्म का चिकित्सासूत्र

१ आचार्य चरक ने वातज गुल्म के चिकित्सासूत्र के रूप मे स्नेहन, स्वेदन, घृतपान, वस्तिप्रयोग, चूर्ण, बृहण गुटिका का प्रयोग, वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण करने का निर्देश दिया है।[6]

---

१ स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे।
पक्वाशयगते वस्तिरुभयं जठराश्रये ॥ अ० हृ० चि० १४

२. लङ्घन दीपन स्निग्धमुष्णं वातानुलोमनम्।
बृहण च भवेद्यन्नं तद्धित सर्वगुल्मिनाम् ॥ यो० र०

३ वस्तिकर्म पर विद्याद् गुल्मघ्न तद्धि मारुतम्।
स्वस्थाने प्रथम जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति ॥
तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहै सानुवासनै ।
प्रयुज्यमानै शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मका ॥ च० चि० ५।१००-१०१

४. (क) गुल्मस्थाने रक्तमोक्षो बाहुमध्ये सिराव्यध ।
स्वेदानुलोमनं चैव प्रशस्तं सर्वगुल्मिनाम् ॥
(ख) गुल्मो यद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते।
न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति ॥ च० चि० ५।३२

५ मन्देऽग्नौ वर्धते दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति।
तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्यान्नाति विलङ्घनम् ॥ च० चि० ५।१९२

६ स्नेह स्वेदो सर्पिर्वस्तिश्चूर्णानि बृहणं गुटिका ।
वमनविरेकौ मोक्ष क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ॥ च० चि० ५।१८३

२ वातज गुल्म मे रूक्ष अन्न (चना-मक्का-जौ आदि) का सेवन एक प्रमुख कारण होता है, अत रुग्ण को स्नेहपान कराना चाहिए। स्नेहयुक्त भोजन (चने-जौ के सत्तू मे पर्याप्त घी-चीनी मिलाकर) देना चाहिए। स्नेह का अभ्यग, निरूह तथा अनुवासनवस्ति द्वारा स्नेहन कराना चाहिए, तदनन्तर स्वेदन करना चाहिए।[1]

३ गुल्म नाभि के ऊर्ध्वभाग मे हो, तो स्नेह का पान के रूप मे प्रयोग, नाभि के नीचे पक्वाशय मे हो तो वस्ति के रूप मे स्नेह का प्रयोग और यदि दोनो स्थानो मे हो तो स्नेहपान तथा वस्ति, इन दोनो का प्रयोग करना चाहिए।[2]

४ बार बार स्नेहपान और वस्ति के परिणामस्वरूप अग्नि के प्रदीप्त होने पर जब पुरीष (मल) और वायु की रुकावट दूर हो जावे तो पुन विबन्ध न हो एतदर्थ उसे स्निग्ध, उष्ण एवं बृहण अन्नपान देना चाहिए।[3]

५ स्नेहन और स्वेदन से यदि कफ या पित्त के लक्षण उत्पन्न हो जायें, तो वमन-विरेचन कराकर उन्हे शान्त करना चाहिए।[4]

६ वस्तिकर्म वातज गुल्म को सद्य नष्ट करता है, क्योकि वह वात के मूल स्थान मे पक्वाशयगत वात का सशोधन कर देता है।[5]

वातज गुल्म में औषध

१. घृत — त्र्यूषणादि घृत, षट्पल घृत, हिङ्गुसौवर्चलादि घृत, हपुषादि घृत, पिप्पल्यादि घृत, नीलिन्यादि घृत—इन घृतो को १०–२० ग्राम की मात्रा मे मण्ड या वार्ली आदि में मिलाकर प्रयोग करना चाहिए या अनार के रस, बिजौरानीबू के रस से बनी पेया आदि मे रोगी की रुचि के अनुसार प्रयोग करे।

२ दुग्ध — छिलका रहित लहसुन के २५ ग्राम कल्क को ४०० ग्राम दूध और १६०० ग्राम जल मे पकावे तथा दूधमात्र शेष रहने पर छानकर पिलावे।

---

१. भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः।
स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये ॥ च० चि० ५।२२

२ स्नेहपानं हित गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे।
पक्वाशयगते वस्तिरुभयं जठराश्रये ॥ अ० हृ० चि० १४

३ पुन पुन स्नेहपान निरूहा सानुवासना।
प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ॥ च० चि० ५।२६

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसो।
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत् ॥ च० चि० ५।२५

४ (क) वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि।
हृल्लास गौरव तन्द्रा जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥ च० चि० ५।२०

(ख) पित्त वा यदि संवृद्धं सन्ताप वातगुल्मिन।
कुर्याद्विरेच्य स भवेत् सस्नेहैरानुलोमिकै ॥ च० चि० ५।३२

५ वस्तिकर्म परं विद्यात् गुल्मघ्न। च० चि० ५।१००

३. तैलपञ्चक	१. एरण्डतैल, २. मद्य का ऊपरी स्वच्छ भाग, ३ गोमूत्र, ४. काञ्जी और ५ जवाखार इन पाँचो को रोगी के बल के अनुसार मात्रा मे मिलाकर प्रयोग करे।
४. स्निग्धवाट्य	जौ के आटे का घी मे बना हलवा या घी मिला जौ का सत्तू खिलाकर, पिप्पली चूर्ण डालकर निर्मित मूग का यूष या मूली का स्वरस पिलाना चाहिए।
५ शिलाजतु-प्रयोग	जवाखार मिले लघुपचमूल के क्वाथ मे शिलाजीत मिलाकर प्रयोग करे।
६ सुरामण्ड योग	बिजौरा नीबू का रस, घृतभृष्ट हीग, खट्टे अनार का रस, कालानमक और संधानमक को सुरामण्ड मे डालकर पीने से वातज गुल्म पीडा का शमन होता है।
७ चूर्ण	पूर्वोक्त घृतो के योग चरक० चि० ५ मे हैं, उन योगो मे कथित औषधो का मिलित चूर्ण बनाकर प्रयोग करना गुल्मनाशक है। हिंग्वादिचूर्ण, शट्यादि चूर्ण और नागरादि योग का प्रयोग करे।
८. मासरस	मुर्गा, मोर, तीतर, क्रौञ्च, बटेर का यथोपलब्ध मासरस, अगहनी का भात, मदिरा और घृत, ये पथ्य हैं।
९ अन्य योग	काकायनवटी, शूलवज्रिणी, महायोगराज गुग्गुलु, गुल्मकालानल, अग्निकुमार रस, क्रव्याद रस, वज्रक्षार, हिंग्वष्टक चूर्ण, लवण-भास्कर चूर्ण, नारायण चूर्ण आदि का यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए।

वातज गुल्म की आवस्थिकी चिकित्सा

१ यदि वातज गुल्म मे कफ और वात प्राय शान्त किये जा चुके हो, परन्तु पित्त तथा रक्त प्रकुपित हो गये हो, तो उनमे से जो अधिक प्रकुपित हो, उसकी चिकित्सा करे, किन्तु इस बात की सावधानी रखे, कि वायु के प्रकोप की वृद्धि किसी भी प्रकार न हो।

२ **कफप्रकोप**—यदि वातज गुल्म मे कफ बढकर अग्निमान्द्य, अरुचि, मिचली, भारीपन और तन्द्रा उत्पन्न करे, तो वमन कराकर कफ को निकाल देना चाहिए।

३. **पित्तप्रकोप**—यदि वातज गुल्म मे पित्त बढकर सन्ताप उत्पन्न करे, तो उसे विरेचनकारक घृत या तैल को पिलाकर विरेचन करावे।

४ **रक्तमोक्षण**—यदि वातज गुल्मरोग समुचित चिकित्सा करने पर भी ठीक न हो रहा हो, तो वह गुल्म शृग, जोक आदि द्वारा रक्तमोक्षण करने से शान्त हो जाता है।

५ **घृत का अभ्यास**—रक्षमोक्षण करने से मुरझाये हुए रोगी को जागल पशु-पक्षियो का मासरस खिलाकर तृप्त और आश्वस्त करे, तदनन्तर शेष दोष या कष्ट को दूर करने के लिए प्रतिदिन उचित मात्रा मे घृतपान करावे।

वातज गुल्म मे व्यवस्थापत्र

१ प्रात काल ७ बजे

हिंगुसौवर्चलादि घृत २० ग्राम

५० ग्राम गरम दूध मे मिलाकर पीना।

२. प्रात ८ बजे व सायं ५ बजे

शूलवज्रिणी वटी	४ गोली
गुल्मकालानल	½ ग्राम
सर्जिकाक्षार	१ ग्राम
जल से।	योग—२ मात्रा

३ भोजन के प्रथम ग्रास मे दोनो समय

हिंग्वष्टक चूर्ण ६ ग्राम

योग—२ मात्रा

घी मिलाकर खाना।

४. भोजनोत्तर दोनो समय

कुमार्यासव ५० ग्राम

योग—२ मात्रा

बरावर जल से पीना।

५ रात मे सोते समय

पचसकार चूर्ण ५ ग्राम

गरम जल से। १ मात्रा

पित्तज गुल्म का चिकित्सासूत्र

१ पित्तज गुल्म मे तिक्तरसवाले द्रव्यो के कल्क एव क्वाथ से पकाया हुआ घृत और दूध पिलावे।

२ विरेचनकारक औषध का प्रयोग करे तथा निरूहवस्ति दे।

३. यदि गुल्म पक गया हो तो शस्त्रकर्म करे।

४ आभ्यन्तर गुल्म पककर फूट गया हो, तो उसका शोधन करे और शमन प्रयोग करे।

५ रोगी को आश्वासन दे और धैर्य बँधावे।

६ आवश्यकतानुसार उपनाह स्वेद और रक्तमोक्षण करे।[1]

---

१ सर्पि सतिक्तसिद्धं क्षीरं प्रस्रंसनं निरूहाश्च।
रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसशमनयोगा॥
उपनाहन मशस्त्रं पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य।
संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य॥ च० चि० ५।१८४-१८५

७ पक्वाशयस्थ पित्तज गुल्म मे तिक्त द्रव्यो के कल्क से युक्त दूध की वस्ति देकर उसका निर्हरण करे।[1]

८ चरक के उदररोगाधिकार मे वर्णित तिल्वक घृत का पान कराकर विरेचन करावे।[2]

९. तृष्णा, ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, मन्दाग्नि और अरुचि होने पर पित्तज गुल्म मे रक्तमोक्षण कराना चाहिए।[3]

१० यदि रक्त और पित्त के अधिक मात्रा मे बढ जाने के कारण अथवा उचित चिकित्सा न होने के कारण गुल्म मे विदाह (पाकोन्मुखता) हो, तो ऐसी स्थिति मे शस्त्रकर्म करना चाहिए।[4]

पित्तज गुल्म मे औषध

१ स्निग्ध तथा उष्ण द्रव्यो के सेवन से उत्पन्न गुल्म मे स्रसन कराना चाहिए। जैसे—अमलतास के फल के गूदे का क्वाथ स्रसन है।

२ रूक्ष एव उष्ण द्रव्यो के सेवन से उत्पन्न गुल्मरोग मे पित्तशामक औषधो से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए।[5]

३ घीकुवार का स्वरस (गूदा) २० ग्राम, गोघृत ५ ग्राम, त्रिकटु चूर्ण १ ग्राम और सेंधानमक १ ग्राम मिलाकर पीने से पित्तज गुल्म नष्ट हो जाता है।

४. घृत—रोहिण्यादि घृत, त्रायमाणादि घृत, आमलकादि घृत, द्राक्षादि घृत, वासादि घृत।

इन घृतो को रोगी के जठराग्नि बल के अनुसार उचित मात्रा मे दूध में मिलाकर सेवन करावे।

५ क्वाथ—२० ग्राम त्रायमाणा को १०० ग्राम जल मे अष्टमाशावशिष्ट क्वाथ कर छानकर ५० ग्राम दूध मिलाकर पीने के लिए देवे।

६. विरेचनार्थ—मुनक्का और हर्रे को उचित मात्रा मे लेकर क्वाथ बनाकर उसमे गुड मिलाकर पिलाना चाहिए।

७ कंबीला का चूर्ण ३ ग्राम मे मधु मिलाकर चटाना चाहिए।

---

१ पित्त वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम्।
कालविन्निर्हरेत् सद्य. सतिक्तै क्षीरबस्तिभि ॥ च० चि० ५।३४

२ भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा। च० चि० ५।३५

३. तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे।
गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥ च० चि० ५।३६

४ रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च।
यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥ च० चि० ५।३९
तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकार क्रियाविधौ।
वैद्याना कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ॥ च० चि० ५।४४

५ स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रसनं हितम्।
रूक्षोष्णेन तु सम्भूते सर्पि प्रशमनं परम् ॥ च० चि० ५।३३

८. अभ्यङ्ग—पित्तज गुल्म मे दाह के शमनार्थ घृत का या चन्दनादि तेल का या मुलहठी के क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत का अभ्यग करना चाहिए।

९ पित्तज गुल्म मे यदि आमदोष का अनुबन्ध हो अथवा आम, कफ और वात का सम्बन्ध हो, तो लघन कराने के बाद यवागू और खडयूष के प्रयोग से जठराग्नि को प्रज्वलित करे।[1]

१०. भोज्य द्रव्य—शालि चावल, जागल पशु-पक्षियो का मासरस, गाय और बकरी का दूध, खजूर, आँवला, मुनक्का एव फालसा का प्रयोग जब चाहे करे। पीने के लिए वरियार या लघुपचमूल को डालकर षडगपरिभाषा के अनुसार सिद्ध किये गये जल का प्रयोग करना चाहिए।

११ सिद्धयोग—दन्ती हरीतकी, गुल्मकुठार रस, प्रवालपचामृत, लवगादि चूर्ण अविपत्तिकर चूर्ण, कुमार्यासव, रोहीतकारिष्ट आदि का प्रयोग रोगी की प्रकृति आदि का विचार कर उचित मात्रा मे करना चाहिए।

पित्तज गुल्म मे व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय

गुल्मकालानल	½ ग्राम
मुक्ताशुक्ति भस्म	½ ग्राम
	२ मात्रा

त्रिफला चूर्ण २ ग्राम के साथ जल से।

२ ९ बजे व २ बजे दिन

लवगादि चूर्ण	६ ग्राम
जल से।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ बार

कुमार्यासव

२५ मि० ली० १ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४. रात मे सोते समय

अविपत्तिकर चूर्ण	३ ग्राम
उष्णोदक से।	१ मात्रा

५ दाह-शमनार्थ

शीतल जल का सस्पर्श

या

शतधौत घृत का अभ्यग

या

चन्दनादि तैल का अनुलेपन

---

१ आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके।
यवागूभि खडैर्यूषै. सन्धुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते ॥ च० चि० ५।१३५

कफज गुल्म का चिकित्सासूत्र

कफज गुल्म मे स्नेहन, स्वेदन, भेदन, लघन, वमन, विरेचन, घृतपान, वस्ति-प्रयोग, गुटिका, चूर्ण, अरिष्ट और क्षार का प्रयोग करना चाहिए। इनसे लाभ न होने पर अन्त मे रक्तमोक्षण करने के बाद अग्नि से दाह करना चाहिए।[1]

कफज गुल्म की आवस्यिक चिकित्सा

१. यदि रोगी की जठराग्नि मन्द हो, उदर मे मन्द-मन्द पीडा हो, कोष्ठ में भारीपन और जकडाहट हो, अरुचि तथा ऊबकाई आती हो, तो ऐसे रोगी को वमन करावे। यदि रोगी वमन के योग्य न हो, तो लंघन कराना चाहिए।[2]

२ लघन, वमन और स्वेदन द्वारा अग्नि के समृद्ध हो जाने पर यवक्षार, सोठ, मरिच, पीपर डालकर विधिवत् निर्मित घृत का सेवन कराना चाहिए।[3]

३ वमन या उपवास कराने के बाद आहार-विहार मे उष्ण द्रव्यो का ही प्रयोग कराना चाहिए। साथ ही लघु गुण और तिक्त रस वाली औषधो से सिद्ध जल मे पकाये गये आहार का सेवन कराना चाहिए।[4]

४ यदि कफज गुल्म आनाह और विबन्ध के साथ कठिन और उठा हुआ हो, तो युक्तिपूर्वक स्वेदन करने के पश्चात् गुल्म के विलयन का प्रयास करे।[5]

५. जब स्वेदन आदि उपचारो से कफज गुल्म अपने स्थान से विचलित हो गया हो, तो विरेचन द्वारा अथवा दशमूल क्वाथ मे स्नेह मिलाकर उसकी वस्ति देकर शोधन करे।[6]

६. जब कफज गुल्म मे मन्दाग्नि, अधोवायु की रुकावट और आमाशय मे स्निग्धता हो, तो गुल्मनाशक वटी, चूर्ण और क्वाथो का प्रयोग करे।[7]

७ जब कफज गुल्म का मूल दृढ और गम्भीर हो, उसका अधिक प्रदेश में

---

१ स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखन विरेकश्च ।
सर्पिर्वस्तिर्गुटिकाचूर्णमरिष्टाश्च सक्षारा ॥
गुल्मस्यान्ते दाह कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य । च० चि० ५।१८६-१८७

२ मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता ।
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपग ॥ च० चि० ५।४९-५०

३ लङ्घनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ सम्प्रधुक्षिते ॥
कफगुल्मी पिबेत् काले सक्षारकटुक घृतम् । च० चि० ५।५२

४ उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलङ्घने ॥
योज्यश्चाहारसंसर्गो भेषजै कटुतिक्तकै । च० चि० ५।५०

५. सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम् ।
दृष्ट्वादौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्न च विलयेद्भिषक् ॥ च० चि० ५।५१

६ स्थानादपसृत ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनै ।
सस्नेहैर्वस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद् दाशमूलिकै ॥ च० चि० ५।५३

७. मन्देऽग्नावनिले मूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ।
गुटिकाचूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्या कफगुल्मिनाम् ॥ च० चि० ५।५४

विस्तार हो, कठोर, जकडाहटयुक्त तथा भारी हो, तो उसे क्षार-प्रयोग, अरिष्ट-पान एव दाह-कर्म से शान्त करे।[1]

८ कफज गुल्म मे कफदोष की प्रधानता, कफप्रकृति गुल्म की स्थिरता और ऋतु—हेमन्त या शिशिर एव रोगी के बल तथा दोष-प्रमाण का विचार कर क्षार का प्रयोग करना चाहिए।[2]

९ शरीर, वल और दोषो की वृद्धि तथा ह्रास को जाननेवाला चिकित्सक कफज गुल्म मे एक-दो या तीन दिन का अन्तर देकर वार-वार क्षार का प्रयोग करे। क्योकि मास, दूध और घृत का सेवन करने वाले कफज गुल्म के रोगियो के लिए किया गया क्षार का प्रयोग अपने क्षरणकारक स्वभाव से मधुर और स्निग्ध कफ को छाँट-छाँट कर अधोमार्ग से वाहर निकाल देता है।[3]

१०. कफज गुल्म का जो रोगी स्निग्ध आहार करता हो, अग्नि मन्द हो, अरुचि हो, मद्यपान उसके अनुकूल पडता हो, तो उसके ऊर्ध्व-अध -मार्ग की शुद्धि के लिए अरिष्ट पिलाना चाहिए।[4]

कफज गुल्म में विशिष्ट उपचार

शस्त्रकर्म—वमन के योग्य कफज गुल्म के रोगी को स्नेहन-स्वेदन करने के बाद वमन करावे। इन कर्मों से जव गुल्म मे शिथिलता आ जाय, तो एक छोटे घडे मे सूखी घास या पुआल डालकर उसे जला दे और जल जाने के वाद उसे निकाल कर गुल्म के स्थान पर घडे को औंधा रख दे। जव गुल्म घडे के मुख के भीतर सगृहीत हो जाय तो घडे को हटा दे। फिर गुल्म के मूलभाग मे एक छोटा वस्त्र कसकर बाँध दे और गुल्म के प्रमाण को जानने वाला वैद्य उसका भेदन कर देवे। उसके वाद गुल्म की लम्वाई-चौडाई के अनुसार लगाये गये चीरे से विमार्ग, अजपद और आदर्श इनमे से जो उपलब्ध हो, उससे दवा-दवाकर गुल्मस्थल के कफ-रक्त आदि विकार को हटा दे। तदनन्तर व्रणोपचार करना चाहिए।

इस शस्त्रकर्म को करते समय यह सावधानी रखनी चाहिए, कि अन्त्र और हृदय

---

१ कृतमूलं महावास्तु कठिनं स्तिमितं गुरुम्।
जयेत्कफकृत गुल्म क्षारारिष्टाग्निकर्मभि ॥ च० चि० ५।५५

२ दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोग बुद्ध्वा कफोल्वणे।
वलदोषप्रमाणज्ञ क्षार गुल्मे प्रयोजयेत् ॥ च० चि० ५।५६

३ एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यह विश्रम्य वा पुन ।
शरीरवलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविद ।
श्लेष्माण मधुरं स्निग्धं मासक्षीरघृताशिन ।
छित्वा छित्वाऽऽशयात् क्षार क्षरत्वात् क्षारयत्यध ॥ च० चि० ५।५७–५८

४ मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम्।
प्रयोज्या मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टा कफगुल्मिनाम् ॥ च० चि० ५।५९

का शस्त्र से स्पर्श न हो, क्योकि ये मर्मस्थान हैं और इन पर शस्त्राघात होने से प्राण जाने का खतरा उत्पन्न हो सकता है।[1] अथवा—

पेंदीदार लोहपात्र से स्वेदन—कफगुल्म के रोगी के गुल्म के स्थान पर काला तिल, एरण्ड की गुद्दी, तीसी का बीज और सरसो पीसकर लेप कर देने के बाद उस पर गरम किये हुए लोहे के पात्र की पेंदी से स्वेदन करना चाहिए। यह ध्यान रहे, कि त्वचा न जलने पाये।[2]

कफज गुल्म में औषध

१ बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ अथवा मुनक्का से निर्मित सुरा के पान से कफज गुल्म मे लाभ होता है।

२. अजवायन ३ ग्राम और कालानमक ३ ग्राम मिलाकर तक्र ३००–४०० मि० ली० पिलाने से मल-मूत्र की शुद्धि एव जठराग्नि के प्रदीप्त होने से गुल्म का नाश होता है।

३. अजवायन, भुनी हीग, सेंधानमक, जवाखार और कालानमक तथा हर्रे के समभाग का चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में मद्य के साथ देना लाभकर होता है। इसे आवश्यतानुसार प्रतिदिन ३–४ बार देना चाहिए।

४ सोठ का चूर्ण ३ ग्राम और कलमीसोरा १ ग्राम मिलाकर सेवन करने से गुल्म नष्ट होता है।

५ सर्जिकाक्षार २ ग्राम मे ६ ग्राम गुड मिलाकर गरम जल से दिन में ३–४ बार देने से कफज गुल्म नष्ट हो जाता है।

सिद्ध योग

दशमूलीघृत, भल्लातकादि घृत, क्षीरषट्पलघृत, मिश्रक स्नेह, दन्तीहरीतकी, गुल्मकुठार, शूलवज्रिणी, जम्बीरद्राव, वज्रक्षार, बडवानल रस, कुमार्यासव, क्रव्याद रस और अग्निकुमार रस आदि का प्रयोग रुग्ण की रोगावस्था के अनुसार करना चाहिए।

---

१ वमन वमनार्हाय प्रदद्यात् कफगुल्मिने।
स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते॥
परिवेष्ट्य प्रदीप्तास्तु बल्वजानथवा कुशान्।
भिषक् कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे न्यसेत्॥
सङ्गृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्।
वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा भिन्द्याद् गुल्मं प्रमाणवित्।
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत्।
मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत्॥ च० चि० ५।१३७ १४०

२ तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च।
श्लेष्मगुल्ममयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद् भिषक्॥ च० चि० ५।१४१

व्यवस्था-पत्र

१ प्रातः-सायं
   क्षीरषट्पल घृत 20 ग्राम
   त्रिकटु चूर्ण 2 ग्राम
   1 मात्रा

लवणायन के यवाष या गरम दूध के साथ।

२ ९ बजे प्रात व २ बजे अपराह्न
   शिवाक्षारपाचन चूर्ण 6 ग्राम
   जल से। 2 मात्रा

३ भोजन के बाद २ बार
   कुमार्यासव 25 ग्राम
   1 मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४ रात में सोते समय
   नारायण चूर्ण ४ ग्राम
   गरम जल से।

द्वन्द्वज गुल्म चिकित्सा

१ द्वन्द्वज गुल्म प्रकृतिसम-समवायारब्ध होते हैं। अतः उनमें दो सम्मिलित दोषों की चिकित्सा की जाती है।[1] जैसे—

२. वात-पित्तज गुल्म में वातज तथा पित्तज गुल्म की सम्मिलित चिकित्सा की जाती है। इसमें त्वक्क्षीर्यादि चूर्ण का प्रयोग विशेष उपयोगी है।

३. वात-कफज गुल्म में वातज एवं कफज गुल्म की मिश्रित चिकित्सा की जाती है। इसमें हिंग्वादि चूर्ण या हिंग्वादि वटी का विशेष रूप से प्रयोग होता है। गुल्मकालानल रस हरें के चूर्ण के साथ देना चाहिए।

४ पित्त-कफज गुल्म में पित्तज और कफज गुल्म की संयुक्त चिकित्सा की जाती है। इसमें प्रवालपंचामृत विशेष लाभकर है।

सन्निपातज गुल्म चिकित्सा

१ यद्यपि सन्निपातज गुल्म असाध्य कहा गया है, फिर भी रोगी जब तक जीवित रहे, चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए।[2]

---

१. (क) व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्। च० चि० ५
   (ख) व्यामिश्रदोषे व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रम। च० चि० ५।६४
२. (क) यावदुच्छ्वसिति प्राणी यावद् भेषजमस्ति च।
       तावच्चिकित्सा कर्तव्या दैवस्य कुटिला गति॥
   (ख) सन्निपातोद्भवे गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हित। भे० १०

सिद्ध योग—काकायन वटी २–२ गोली ४ बार ऊँटनी के दूध के साथ देने से लाभ होता है।

वज्रक्षार या गुल्मकालानल का उचित मात्रा मे प्रयोग करना फलप्रद होता है।

वचादि चूर्ण, अभयादि वटी और दन्तीहरीतकी का प्रयोग उपयोगी है। इसी प्रकार नागेश्वर रस, गुल्मशार्दूल रस, प्राणवल्लभ रस का प्रयोग उपयुक्त है। त्रिदोषज गुल्म मे उक्त औषधो के साथ वरुणादि क्वाथ (शा० स०) पिलाना अधिक कल्याण-कारक है।

रक्तज गुल्म का चिकित्सासूत्र

१. रक्तज गुल्म की चिकित्सा १० महीने के बाद करे, जिससे गर्भ होने का सन्देह मिट जाय और रक्तगुल्म पुराना होने पर ही सुखसाध्य होता है—'रक्तगुल्मे पुराणत्व सुखसाध्यस्य लक्षणम्'—इस उक्ति का अनुसरण भी हो जाय।

२ रुग्णा का स्नेहन-स्वेदन कराकर एरण्ड तैल या चरकोक्त मिश्रकस्नेह का स्निग्ध विरेचन देवे।

३. गुल्म को शिथिल करने के लिए उपयुक्त मात्रा मे पलाशक्षारघृत का प्रयोग करे।

४ लहसुन, त्रिकटु, यवक्षार युक्त तीक्ष्ण मद्य और मछली आदि का प्रयोग करावे।

५. योनि-विशोधनार्थ पलाशक्षार और सेंहुड के दूध की भावना देकर योनि मे सिधरी मछली रखे।

६. गुल्मभेदनार्थ दूध, गोमूत्र और क्षार से युक्त दशमूल क्वाथ की उत्तरवस्ति देनी चाहिए।

७ रक्त के प्रवृत्त हो जाने पर पथ्य मे भात और मासरस देना चाहिए। पीने के लिए नई सुरा देनी चाहिए।

८ अधिक रक्तस्राव होने लगे तो रक्तपित्तनाशक उपचार करना चाहिए।

९. रक्त की अतिप्रवृत्ति से उत्पन्न वातप्रकोप मे वातनाशक घृत-तैल का अभ्यग करे। भोजन मे मासरस का प्रयोग करे और भोजन के पूर्व अम्लद्रव्य से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए।

१० रक्तप्रवाह अधिक हो, तो उसे तुरन्त बन्द करने का उपाय करे।

११ हृदय-बलवर्धक औषधो का प्रयोग करे।

१२ रक्तवरोधार्थ तिक्तद्रव्य-साधित जीवनीयघृत की उत्तरवस्ति दे।

१३ रूक्ष, विदाही अन्नपान, व्यायाम, मैथुन और चिन्ता से रोगी को मुक्त रखे।

१४ यदि ज्वर, अरुचि, श्वास, कास, शोथ, कृशता आदि, जो रक्तज गुल्म के उपद्रव हैं, इनमे से कोई हो जावे, तो उसके अधिकार की औषधो का प्रयोग करे।

रक्तज गुल्म की चिकित्सा

१ चित्रकमूल, पिपरामूल, करंज की छाल, देवदारु बुरादा और भारंगी के समभाग का ३ ग्राम चूर्ण काले तिल के २५ ग्राम चूर्ण और गुड के साथ प्रतिदिन प्रात, साय, मध्याह्न खाने से रक्तज गुल्म नष्ट हो जाता है।

२ रज प्रवर्तक क्वाथ—५० ग्राम काला तिल लेकर क्वाथ बनाकर, उसमे २५ ग्राम पुराना गुड, २ ग्राम त्रिकटु चूर्ण, ½ ग्राम भुनी हीग और ३ ग्राम भारगी चूर्ण मिलाकर प्रतिदिन प्रात काल सेवन करने से रक्तगुल्म का रक्त योनिद्वार से बाहर निकल जाता है।

इसके सेवन से रुका मासिक खुल जाता है और कटिशूल एव गर्भाशयशूल समाप्त हो जाता है।

३ गोरखमुण्डी के फूल ३ ग्राम, वशलोचन ३ ग्राम और मिश्री का चूर्ण ३ ग्राम तथा मधु ३ ग्राम मिलाकर प्रात-साय देते रहने से रक्तज गुल्म एवं गर्भाशय विकार दूर होते हैं।

सिद्ध औषध योग

१. स्नुहीक्षीर गुटिका (रसतन्त्रसार) २–२ गोली सवेरे, दोपहर, शाम जल से दे। रोगिणी को पका पपीता प्रतिदिन १ किलो २–३ बार मे खिलावे। इस प्रयोग के लगातार ३–४ माह करने से रक्तज गुल्म नष्ट हो जाता है।

२ पञ्चानन रस (चिकित्सातत्त्वप्रदीप भाग २) १ गोली प्रतिदिन प्रात आंवले के रस या इमली के पत्ते के रस के साथ दें। भोजन के साथ दही-मट्ठा देना आवश्यक है।

३ प्राणवल्लभ रस (चि० त० प्र०) १–२ गोली रुग्णा के शरीर-बल के अनुसार मधु से दे।

४. दन्त्यादि गुटिका, पलाशघृत, गुल्मकुठार और कुमार्यासव का प्रयोग रक्तगुल्मनाशक है।

बाह्य उपचार

१. रज प्रवर्तनी वर्ति (र० त० सा०) को योनि मे धारण करने से रज स्राव होकर रक्तज गुल्म नष्ट हो जाता है।

२ भुने हुए तिल को थूहर के दूध मे ३ घण्टे खरलकर वर्ति बनाकर या भुने हुए तिल और पलाश की राख को गुड की चासनी मे मिला वर्ति बनाकर योनि मे धारण करने से रक्तगुल्म फूटकर रक्तस्राव होने लगता है।

३ सूअर या मछली के पित्त मे छोटे कपडे के टुकडे को भिगोकर योनिमुख मे धारण करने से रक्तस्राव होकर गुल्म दूर होता है।

अधिक रक्तस्राव होने पर

१ नागकेसर, कमलकेसर और खूनखराबा का चूर्ण १–१ ग्राम, २० ग्राम मक्खन और मिश्री १० ग्राम मिलाकर देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

२ सिंघाड़े का चूर्ण १० ग्राम और मिश्री मिलाकर गोदुग्ध से दिन में ३–४ बार देना चाहिए।

सिद्ध औषध

बोलबद्धरस, प्रवालपिष्टी, शखभस्म, शुक्तिभस्म, चन्द्रकला रस, दूर्वादि घृत, सूतशेखर रस, इनका उचित मात्रा मे मिश्री-मक्खन या दूध के साथ प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्था-पत्र

१. प्रात , साय, मध्याह्न
स्नुहीक्षीर गुटिका २–२ गोली
जल से।
अथवा

रज प्रवर्तनी वटी	३ गोली
काकायन वटी	६ गोली
शूलवज्रिणी वटी	६ गोली
	३ मात्रा

रज प्रवर्तक क्वाथ से।

२ भोजन के पूर्व २ बार

हिंग्वादि चूर्ण	६ ग्राम
	२ मात्रा

उष्णोदक से।

३. भोजनोत्तर २ बार

कुमार्यासव	२५ ग्राम
	१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४. रात में सोते समय
वैश्वानर चूर्ण ५ ग्राम
उष्णोदक से।

सामान्य पथ्य

एक वर्ष का पुराना अगहनी चावल, जौ, गेहूँ की दलिया, अरहर या मूगकी दाल का यूष, कुलथी का यूष, पपीता पका यदि कच्चा हो तो सब्जी, बथुआ, पतली मूली, बैंगन, सहिजन की फली, सूरण, जागल पशु-पक्षियो का मास, लहसुन, अदरक, कागजी नीबू, हीग, सोठ, मरिच, पीपर, अजवायन, जीरा, मगरैला, आँवला, पोदीना, गाय या बकरी का दूध या मट्ठा, उष्ण, लघु, अग्निप्रदीपक और वातानुलोमन आहार गुल्मो में पथ्य है।

विशिष्ट पथ्य

वातज गुल्म मे पुराना जौ, गेहूँ और अगहनी का चावल, जगली तीतर, मोर, मुर्गा और बटेर का मांस, घृत, गुड, स्निग्ध तथा उष्ण आहार पथ्य है।

पित्तज गुल्म मे पुराना अगहनी चावल, मूग की दाल, परवल, अगूर, मुनक्का, किसमिस, खजूर, अनार, बकरी या गाय का दूध, गन्ने का रस, आँवले का मुरब्बा, हर्रे का मुरब्बा, गरम करके शीतल किया हुआ जल और मधुर पदार्थ पथ्य है।

कफज गुल्म मे पुराना अगहनी चावल, पुराना साठी चावल, पुराना जौ, गेहूँ, कुलथी या मूग का यूष, पतली मूली, जगली पशु पक्षियो का मांस, तक्र, अदरक, क्षार, कटु एव तिक्त रस वाले पदार्थ पथ्य हैं। अजवायन, बिजौरा नीबू, पुरानी सुरा, ये सब हितकर हैं।

रक्तज गुल्म में पित्त के समान इसका पथ्य है। तिल, क्षार, मद्य (तीक्ष्ण), गुड, तैल, मछली, मिर्च, जांगल मांस एव उष्ण आहार पथ्य हैं। रक्तस्राव मे रक्त-पित्तवत् उपचार पथ्य है।

अपथ्य

वातप्रकोपक आहार, विरुद्ध भोजन, शुष्क मांस, मटर, सेम, रूक्ष अन्न, अरवी आदि कन्दशाक, शुष्क शाक, अधिक शीतल जल पीना, मल-मूत्र तथा अधो वायु के वेग को रोकना, रात्रिजागरण, अधिक परिश्रम, अधिक मैथुन, वमन कराना और अधारणीय वेगों को धारण करना आदि अपथ्य हैं।

त्रयोदश अध्याय

कृमिरोग, अर्शरोग एवं रक्तार्श

कृमि शब्द का निर्वचन

'क्रीणाति हिनस्ति इति कृमि'। कृमि शब्द की उत्पत्ति 'कृञ् हिंसायाम्' (क्रयादिगण—सिद्धान्तकौमुदी) धातु से है, जिसका अर्थ मारना या घातक प्रभाव डालना है।

आचार्य यास्क[1] ने कृमि शब्द का निर्वचन ३ प्रकार से किया है—

(१) क्रव्ये मेद्यति (इति कृमि) अर्थात् कच्चे मास (क्रव्य) में पुष्ट (मेदन) होने वाला।

(२) क्रमतेर्वा स्यात् सरणकर्मण, अर्थात् सरक कर चलने वाला। 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वादिगण—सिद्धान्तकौमुदी) धातु से कृमि शब्द बना है।

(३) कामतेर्वा, अर्थात् इच्छा करने वाला। 'कमु कान्तौ' (भ्वादिगण) धातु से कृमि शब्द बना है। यहाँ कान्ति का अर्थ इच्छा है।

अथर्ववेद मे कृमि-वर्णन

अथर्ववेद मे कृमियो के पचासो नाम ऐसे हैं, जिनसे कृमियो के कार्य, रूप-रग आदि का ज्ञान होता है। जैसे—

अत्रिण	अथर्ववेद ६।३२।३	भक्षण करने वाले कृमि।
अन्वान्त्र्य	,, २।३१।४	आँतो मे रहने वाले।
असृक्पावा	,, २।२५।३	रक्त पीने वाला।
उदुम्बल	,, ८।६।१७	मारक।
एजत्क	,, ५।२३।७	कँपाने वाला।
यातुमान्	,, १।७।४	पीडा देने वाला।
शीर्षण्य	,, २।३१।४	शिर मे रहने वाला आदि।

ऐसे और भी अनेक कृमियो का वर्णन है, जो जल, दूध, भोज्य पदार्थ आदि में निवास करते हैं एव मानव-देह मे रोग की उत्पत्ति करते हैं। इन कृमियो का सूर्यकिरण, अग्नि, गुग्गुलु, पीलु, धातकी, जटामासी, कूठ, पीपर, वट आदि से विनाश होना बतलाया गया है। यह वर्णन ८० ऋचाओ मे किया गया है।[2]

---

१ निरुक्त ६।१२

२. (क) यो मा पिशाचो अशने ददम्भ—अथर्व० ५।२९।६

(ख) क्षारे मा मन्थे यतमो ददम्भ— ,, ५।२९।७

(ग) ये अन्नेषु विविध्यति पात्रेषु पिबतो जनान्—यजु० १६।६२

(घ) अथो संतीन कङ्कत —ऋग्वेद १।१९१।१

(ङ) श्रृङ्गाद् कुल्मलान्निखोचमह विषम्—अथर्व० ४।६।५

कृमि-विषयक आप्तोपदेश

अथर्ववेद मे कृमियो के लिए राक्षस, रक्ष, पिशाच, यातु, यातुधान, किमिदी, गन्धर्व, अप्सरा आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। इन शब्दो के व्याख्यान से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये शब्द कृमि के पर्याय हैं। जैसे—

रक्ष या राक्षस : 'रक्षो रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षणोति इति वा रात्रौ नक्षत इति वा' (निरुक्त ४।१८) अर्थात् इससे बचना चाहिए। यह एकान्त मे मारता है और रात्रि मे चलता है।

पिशाच : 'पिशित मांसमाचामति इति पिशाच' (वाचस्पत्य कोष) अर्थात् कच्चे मांस को खाता है।

यातु : 'यातु गन्ता गमनशील' अर्थात् चलनेवाला कृमि।

यातुधान : 'यातु वेदना दधति इति यातुधाना' यातना या पीडा पहुँचानेवाले कृमि।

किमिदी : 'किम् इदानीमिति चरते' (निरुक्त ६।११) छिद्रान्वेषण करनेवाला—मौकापरस्त पिशुन कृमि।

गन्धर्व : 'अथो गन्धेन वा रूपेण वा गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति' (शतपथब्राह्मण ९।४।१।४) गन्ध पर या सुन्दर रूप पर लुब्ध होनेवाले कृमि।

अप्सरा : 'अप्सु सरन्तीति अप्सरस' (शतपथ० १०।५।२।२०) 'अप्सरा अप्सारिणी भवति' (निरुक्त ५।१३) जल मे सञ्चरण करनेवाले कृमि।

उक्त सन्दर्भों पर विचार करने से यह विश्वास होता है, कि सहस्रो वर्ष पूर्व प्राचीन महर्षियो को कृमिज रोगों का पूर्ण ज्ञान था। वे दृश्य और सूक्ष्म होने से अदृश्य इन दोनों कृमियो को जानते रहे हैं। वर्तमान में अणुवीक्षण यन्त्र से सूक्ष्म कृमि भी दृश्य हो गये हैं। रक्त के अन्तर्गत पाये जानेवाले कृमियो को माइक्रोस्कोप से देखकर मलेरिया, फाइलेरिया आदि अनेक प्रकार के सक्रामक रोगो के जनक जीवाणु या विषाणु पहचाने जाते हैं।

सहिता-ग्रन्थो मे स्वतन्त्र रूप से कृमिज रोगो के निदान और चिकित्सा के अध्याय हैं। प्रकीर्ण (बिखरे हुए) कृमिजन्य रोगो का भी वर्णन उपलब्ध होता है। विस्तृत अध्ययन के इच्छुक जिज्ञासुओ को अधोलिखित ग्रन्थो के सन्दर्भों को देखना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसहिता सूत्रस्थान	अध्याय १७ मे	कृमिज शिर शूल एव कृमिज हृदयरोग।
,, ,,	,, १९ मे	बीस कृमि जातियाँ।
,, विमानस्थान	,, ७ मे	विस्तृत कृमिवर्णन।
,, चिकित्सास्थान	,, २६ मे	कृमिज हृदयरोग एव शिरोरोग का वणन।
सुश्रुतसहिता उत्तरतन्त्र	,, ५४ मे	कृमिरोग निदान-चिकित्सा है।

अष्टाङ्गहृदय निदानस्थान ,, १४ मे कृमिरोग का निदान है।
,, चिकित्सास्थान ,, २० मे कृमि चिकित्सा है।
,, उत्तरतन्त्र ,, २४ मे कृमिज शिरोरोग चिकित्सा है।

माधवनिदान के कृमिनिदानप्र० मे हृदयरोग निदान और शिरोरोग निदान मे कृमिज हृद्रोग एव कृमिज शिरोरोग वर्णन।

कृमियों के प्रकार

चरक[1]	सुश्रुत	वाग्भट
(क) कर्मभेद से—२	(क) कारणभेद से—३	(क) स्थानभेद से—२
१ सहज (प्रकृत)	१. कफज	१ वाह्य
२ वैकारिक	२ पुरीषज	२ आभ्यन्तर
(ख) स्थानभेद से—२	३. रक्तज	(ख) निदानभेद से—४
१ वाह्य	(ख) नामभेद से—२०	१ मलज (वाह्यमलज)
२ आभ्यन्तर	बीस प्रकार	२. कफज
(ग) कारणभेद से—४	नोट—सुश्रुत ने बाह्य-	३. रक्तज
१. पुरीषज	आभ्यन्तर भेद नही	४. पुरीषज
२ कफज	माना है।	(ग) नामभेद से—२०
३. रक्तज		बीस प्रकार
४. मलज		
(घ) नामभेद से—२०		
बीस प्रकार		

संहिता-ग्रन्थों मे कृमियो के नाम और उनकी संख्या

चरकसहिता[2] सूत्र १९	सुश्रुतसहिता उ० त० ५४	अष्टाङ्गहृदय निदान १४
बाह्यकृमि	बाह्यकृमि	बाह्यकृमि
यूका	—	यूका
पिपीलिका २	—	लिक्षा २
रक्तज कृमि	रक्तजकृमि	रक्तज कृमि
केशाद	केशाद	केशाद

१ इह खल्वग्निवेश ! विंशतिविधा॰ क्रिमय पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेन अन्यत्र सहजेभ्य। ते पुन प्रकृतिभिर्विभज्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति, तद्यथा—पुरीषजा, श्लेष्मजा., शोणितजा, मलजाश्चेति। चरक० विमान० अ० ७

अत्र चक्रपाणि, अन्यत्र सहजेभ्य इत्यनेन शरीरसहजास्त्ववैकारिका विंशतेरप्यधिका भवन्तीति दर्शयति।

२. 'विंशति कृमिजातय इति यूका पिपीलिकाश्चेति द्विविधा बहिर्मलजा, केशादा लोमादा लोमद्वीपा सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति षट् शोणितजा, अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादाश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदाश्चेति सप्त कफजा., ककेरुका मकेरुका लेलिहाः सशूलका. सौसुरादाश्चेति पञ्च पुरीषजा।-चरक० सूत्र० १९

लोमाद		रोमाद		लोमविध्वंस	
लोमद्वीप		नखाद		उदुम्बर	
सौरस		दन्ताद		लोमद्वीप	
औदुम्बर		किकिकश		सौरस	
जन्तुमाता	६	कुष्ठज और परिसर्प	७	जन्तुमाता	६
कफज कृमि		कफज कृमि		कफज कृमि	
अन्त्राद		दर्भपुष्प		अन्त्राद	
उदरावेष्ट		महापुष्प		उदरावेष्ट	
हृदयाद		प्रलून		हृदयाद	
चुरु		चिपिट		महागुद	
दर्भपुष्प		पिपीलिका		चुरु	
सौगन्धिक		दारुण	६	दर्भकुसुम	
महागुद	७	—		सुगन्ध	७
पुरीषज कृमि		पुरीषज कृमि		पुरीषज कृमि	
ककेरुक		अजवा		ककेरुक	
मकेरुक		विजवा		मकेरुक	
लेलिह		किप्य		सौसुराद	
सशूलक		चिप्य		सलून	
सौसुराद	५	गण्डूपद		लेलिह	५
	२०	चुरु			२०
		द्विमुख	७		
			२०		

आचार्य चरक[1] ने कहा है, कि जिन २० प्रकार के विभिन्न कारणो से उत्पन्न कृमियो का वर्णन (चरक० सूत्र० अ० १९ मे) किया गया है, वे कृमियाँ सहज कृमियों के अतिरिक्त हैं (अन्यत्र सहजेभ्य)। चक्रपाणि ने कहा है, कि शरीर के साथ उत्पन्न कृमियाँ रोगोत्पादक नही होतीं, वे अवैकारिक होती हैं। ये कृमियाँ शरीरधारक होती है, अतएव रोगाधिकार मे सहज कृमियो का उल्लेख नही किया गया है। मधुकोषकार ने भी यही मत व्यक्त किया है, कि चूंकि वे अवैकारिक हैं इसलिए कृमिज रोग-वर्णन के प्रसङ्ग मे उनका नाम नही लिया गया—'ते चावैकारिकत्वेन रोगाधिकारे नोच्यन्ते'। इस प्रकार मूलरूप से कृमियो का वर्गीकरण निम्नाङ्कित है—

---

१ 'इह खल्वग्निवेश ! विंशतिविधा क्रिमय पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्य ते पुन प्रकृतिभिर्भिद्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति'। च० वि० ७

बाह्यकृमि
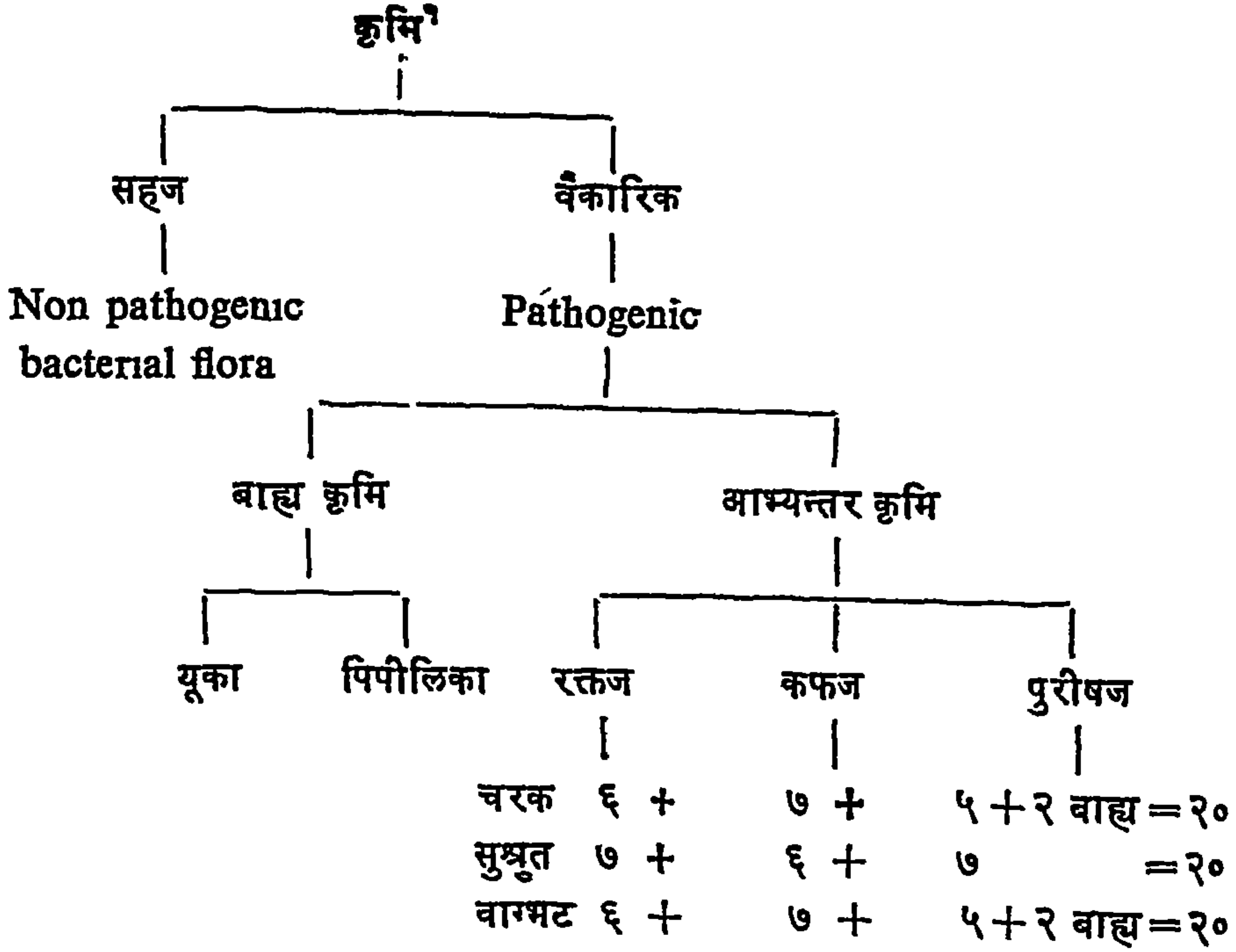
परिचय—शरीर के बाहरी मल से एवं स्वेद आदि से उत्पन्न होनेवाले कृमियो को वाह्य (मलज) कृमि कहते हैं।

निदान—शरीर की त्वचा को स्वच्छ न करने से, स्नान नही करने से, उवटन या साबुन आदि लगाकर अगो को रगडकर साफ न रखने से या मलिन वस्त्र धारण करने से त्वचा मे या वालो मे कृमियो की उत्पत्ति होती है। स्वच्छता का अभाव इसका प्रमुख निदान है।

स्थान—शिर के वाल, दाढी-मूँछ के वाल, रोम या रोमकूप, पलक या बरौनी के वाल, काँख के बाल और गन्दे पहने गये वस्त्र इन वाह्य कृमियो के निवास-स्थान हैं।

संस्थान या आकृति—ये वहुत छोटे होते हैं। कोई तिल के आकार के और अनेक पैरवाले कृमि होते हैं।

वर्ण—ये कृमि कोई काले और कोई श्वेत वर्ण के होते है।

नाम—इनका नाम यूका (जूएँ) और पिपीलिका या लीख है।

प्रभाव या लक्षण—खुजली होना, चकत्ते होना, ददोरे पड जाना, गाँठें होना या फुन्सी निकलना कृमियो का प्रभाव है। दाँतो मे कृमि होने से दन्तपूय, शूल और

---

१ क्रिमयस्तु द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदत ।
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधा ॥
नामतो विंशतिविधा बाह्यास्तत्र मलोद्भवा ॥ अष्टाङ्गहृ० निदान १४

सडन होकर दाँत खोखले हो जाते है। गुदाप्रदेश मे होने से गुदा मे खुजली, पिडका और दाह होता है। बालो के मूल मे कृमि होने से वहाँ के बाल झड जाते हैं और इन्द्रलुप्त (टुनकी) हो जाता है।

बाह्यकृमि-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१. अपकर्षण अर्थात् त्वचा, बाल या आक्रान्त स्थान से खीचकर कृमियो को निकालना चाहिए।

२ प्रकृतिविघात अर्थात् आहार-विहार, जो कृमियो के अनुकूल पडते हैं—जैसे मधुर एवं अम्ल पदार्थों का खाना, गुड और मिठाई खाना, शर्बत-लस्सी आदि पीना, मालपूआ या पकौडी आदि खाना, स्नान न करना, मलिन वस्त्र धारण करना और दिन मे सोना इत्यादि—इन सबके विपरीत रस-गुण वाले कटु, तिक्त और कषायरस-प्रधान भोज्य तथा पेय का प्रयोग करना, शरीर पर इन्ही रसोवाले द्रव्यो का लेप करना, अभ्यग करना और कटु-तिक्त-कषाय द्रव्यो के क्वाथ से शरीर का परिमार्जन या स्नान करना चाहिए।

३ निदान परिवर्जन अर्थात् जिन कारणो से बाह्यकृमि उत्पन्न होते हैं, उन कारणो का परित्याग करना चाहिए। मृजा-परिवर्जन (स्वच्छता न रखना) बाह्यकृमि का प्रमुख निदान है, इसलिए इसे छोडकर शरीर की त्वचा, रोम, बाल और धारण किये जानेवाले वस्त्रो की सावधानी से सफाई करनी चाहिए। स्नान नियमित रूप से करना चाहिए। शिर के बाल, कक्षा, दाँत, कान आदि को स्वच्छ रखना चाहिए।

चिकित्सा

१ धतूरे के पत्तो के रस अथवा पान के पत्तो के रस को पारा या कपूर मिलाकर एक कपडे के टुकडे पर लेप करे और उस कपडे को शिर पर बाँधकर रात मे सो जावे। प्रात काल बालो को धोने पर सब यूका या लीख मरकर निकल जाते हैं।

२. पलासबीज, इन्द्रजौ, वायविडग, चिरायता और नीम के सूखे पत्ते समभाग लेकर धतूरे के पत्रस्वरस के साथ पीसकर अभ्यग या लेप करने से त्वचा या बालो के कृमि नष्ट हो जाते हैं।

३ विडङ्ग तैल—कडवा तेल २५० ग्राम, गोमूत्र ४ लीटर और वायविडग, गन्धक तथा मन शिला प्रत्येक २५ ग्राम का कल्क डालकर विधिवत् पकाये गये तेल को शिर मे लगाने से यूका और लीख नष्ट हो जाते हैं।

४ धुस्तूर तैल—धतूरे के पचाङ्ग का कल्क २५० ग्राम, सरसो का तेल १ लीटर और धतूरे के पत्ते का रस ४ लीटर डालकर पकाये हुए तेल की मालिश से बालो के जुँए, लीख तथा त्वचा के कृमि नष्ट हो जाते हैं।

५ राल का धुँआ देने से घर मे मक्खियाँ नही रहती है।

६ करञ्जतैल, निम्बतैल और कडवी तरोई का कल्क एक में मिलाकर लेप करने से शिर या त्वचा के क्रुमि नष्ट हो जाते हैं।

७ वच को पीसकर वालो मे लेप करने से यूका या लीख नष्ट होते हैं। इसी दृष्टि से जटा-जूट रखनेवाले साधुजन अपनी जटा मे वच का टुकडा बांधते हैं।

८ निम्बबीज पीसकर अभ्यग करने से क्रुमि नष्ट हो जाते हैं।

९ दन्तक्रुमि मे कटकारी (रेंगनी) अथवा इन्द्रवारुणी के फल को घी में पीसकर निर्धूम अग्नि पर डालकर नली द्वारा दांत मे धुंआ लगाने से दांतो के क्रुमि नष्ट हो जाते हैं।

१०. इन्द्रवारुणी (इन्द्रायन) की जड या कडवी तरोई के फल को चन्दन की तरह पीसकर गुदा के बाहर लेप करने से गुदा की खुजली, सूजन और पीडा नष्ट होती है।

११. वालको की गुदा मे क्रुमिज कण्डू होने पर धुस्तूर तेल, विडंग तेल या जैतून का तेल लगाना चाहिए।

१२. वायविडग को पीसकर लेप करने गुदा की कण्डू मिटती है।

१३ क्रुमिघ्न माहेश्वर धूप—राई, सरसो, नमक, गूगल, कुदरू, वच, वायविडंग और नीम के पत्ते समभाग लेकर कूटकर रख ले। १०-१० ग्राम लेकर अग्नि मे डालने से वातावरण शुद्ध हो जाता है और सूक्ष्म क्रुमियां भाग जाती हैं।

१ अपराजित धूप—गूगल, अगरु, रोहिसघास, नीम के पत्ते, मदार के पत्ते, वच और राल तथा दारुहल्दी के समभाग चूर्ण को आग पर रखकर धुंआ देने से क्रुमि नष्ट हो जाते हैं।

१५. लाक्षादि धूप—लाक्षा, भिलावा, श्वेतचन्दन, सफेद अपराजिता, अर्जुन का फूल, वायविडग, राल और गूगल इनको समभाग लेकर कूटकर रख लेवे। इसका धुंआ देने से सांप, चूहे, मच्छर, खटमल, जुंए, लीख आदि नष्ट हो जाते हैं या स्थान छोडकर भाग जाते हैं।

आभ्यन्तर क्रुमि

आभ्यन्तर क्रुमियो मे—१ रक्तज, २ कफज और ३ पुरीषज इन तीन प्रकार की क्रुमियो की गणना की जाती है।

रक्तज क्रुमि

निदान—रक्तज क्रुमियो के उत्पन्न होने का कारण कुष्ठ के ही समान है।[1] वात-पित्त-कफ, ये तीनो दोप और त्वचा, लसीका, रक्त और मास, ये चार दूष्य—ये सात सामूहिक रूप से कुष्ठ के जनक सन्निकृष्ट निदान हैं।[2]

---

१ शोणितजानां तु खलु कुष्ठै समान समुत्थानम्। च० वि० ७।११

२ सप्त द्रव्याणि कुष्ठानां प्रकृतिविकृतिमापन्नानि भवन्ति। तद्यथा—त्रयो दोषा वातपित्त श्लेष्माण प्रकोपणविकृता, दूष्याश्च शरीरधातवस्त्वङ्मासशोणितचतुर्थां दोषोपघातविकृता इति। च० नि० ५।३

विरुद्ध आहार[1] रक्तज कृमियो का प्रमुख कारण होता है। शरीर की धातुओ के विपरीत गुण वाले द्रव्य शरीर की धातुओ के विरुद्ध हो जाते हैं। ऐसे द्रव्यो मे कुछ द्रव्य परस्पर गुणविरुद्ध होते हैं, जैसे—दूध के साथ मछली को नही खाना चाहिए। क्योकि ये दोनो मधुर रस, मधुर विपाक और महा-अभिष्यन्दी हैं। दोनो क्रमश शीत और उष्णवीर्य होने से विरुद्धवीर्य हैं, अतएव ये रक्त को दूषित करने वाले होते हैं और महा-अभिष्यन्दी होने के कारण दोष, धातु और मल के मार्गों को अवरुद्ध करने वाले होते हैं।

इसी प्रकार संयोगविरुद्ध, संस्कारविरुद्ध, देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, मात्राविरुद्ध, प्रकृतिविरुद्ध, सात्म्यविरुद्ध और स्वभावविरुद्ध (उडद, सर्षपशाक, भेड का दूध) आहार का सेवन रक्तज कृमि का जनक होता है।

अजीर्ण की स्थिति मे भोजन करने से और पत्ते वाले शाको के अधिक सेवन से रक्तज कृमि उत्पन्न होते हैं।[2]

स्थान—इनका स्थान रक्तवाहिनी सिरा-धमनियाँ हैं।

संस्थान या आकृति—ये सूक्ष्म, गोल और पाद रहित होते हैं। कुछ कृमि ऐसे होते हैं, जो अति सूक्ष्म होने से अदृश्य होते है।

वर्ण—ये ताम्र जैसे लाल रग के होते है और कुछ कृमि कृष्ण वर्ण के चिकने और चपटे होते हैं।

नाम—नामत ये सख्या मे छह होते हैं—१. केशाद—केशो को खा जाने वाले, २ लोमाद—रोमो को खा जाने वाले, ३ लोमद्वीप—रोमो के मूल मे आश्रय लेने वाले, ४ औदुम्बर—गूलर जैसी गाँठ मे पैदा होने वाले तथा ५ तन्तुमाता—एक विशेष जाति के जन्तु (मक्षिका) के बैठने से उत्पन्न होने वाले।[3]

प्रभाव—केश, श्मश्रु (दाढ़ी), लोम, पक्ष्म (बरौनी) और नख का गिराना कृमियो का प्रभाव है। जब ये कृमि व्रण मे होते हैं, तो रोमाञ्च, खुजली, सूई चुभाने जैसी वेदना और आक्रान्त स्थान मे रेंगने जैसा अनुभव होता है। जब ये अधिक बढ जाते हैं, तब त्वचा, सिरा, स्नायु, मास और तरुणास्थियो (Cartilage) को खा जाते हैं। ये कुष्ठ उत्पन्न करते हैं तथा रक्त को आश्रय बनाकर होने वाले विसर्प, पिडका, कोठ, चर्मदल आदि रोगों को पैदा करते हैं।[4]

---

१ वैरोधिक आहार परिभाषा—'देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते, परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित्, कानिचित् सयोगात्, संस्कारादपराणि, देशकालमात्रादिभिश्चा पराणि तथा स्वभावादपराणि'। चरक० सूत्र० २६।८१

२ विरुद्धाजीर्णशाकाद्यै शोणितोत्था भवन्ति हि। सुश्रुत० उ० त० १४।१८

३ स्थान—रक्तवाहिन्यो धमन्य, संस्थानम्—अणवो वृत्ताश्चापादाश्च, सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्या, वर्णं—ताम्र, नामानि—केशादा, लोमादा, लोमद्वीपा, सौरसा, औदुम्बरा, जन्तुमातरश्चेति। च० वि० ७।११

४ "प्रभाव—केशश्मश्रुनखलोमपक्ष्मापध्वस, व्रणगतानां च हर्षकण्डूतोदसंसर्पणानि, अतिवृद्धानां च त्वक्सिरास्नायुमांसतरुणास्थिभक्षणमिति। चरक० वि० ७।११

चिकित्सा—रक्तज कृमियो की चिकित्सा कुष्ठरोग के समान करनी चाहिए। चरकसहिता मे चिकित्सास्थान के सातवें अध्याय मे कुष्ठ-चिकित्सा का वर्णन है।

सुश्रुताचार्य ने भी रक्तज कृमियो तथा तज्जन्य रोगो की कुष्ठवत् चिकित्सा बतलायी है। विशेषकर कृमियो तथा तज्जन्य रोगो को नष्ट करने के लिए सुरसादिगण की औषधियो के कल्क, स्वरस और क्वाथ का अभ्यग, पान, भोज्य पदार्थ का निर्माण और स्नान मे प्रयोग करने का उपदेश किया है।[1]

१. अपकर्षण २ प्रकृति-विघात और ३ निदानपरिवर्जन करना चाहिए। यथावश्यक सशोधन और सशमन उपचार भी करणीय है।

कफज कृमि[2]

निदान—कफज कृमि दूध, गुड, तिल, मछली, आनूप मास, पिसे हुए चने या उडद के बने पकौडे या वडे, खीर, बर्रे के तेल मे बने पदार्थ खाने से, अजीर्ण रहने पर भोजन करने से, सडे-गले भोजन, दूषित पदार्थ युक्त भोजन, विरुद्ध भोजन और असात्म्य भोजन से उत्पन्न होते हैं। दही, सिरका आदि खाने से भी कफज कृमि उत्पन्न होते हैं।[3]

स्थान—इनका स्थान आमाशय है। ये कृमि बढ कर आमाशय से ऊपर की ओर सरक कर चले जाते हैं। कदाचित् ऊपर-नीचे दोनो तरफ चलने लगते हैं।[4]

संस्थान या आकृति—इनमे से कोई मोटे चमडे की डोरी के आकार के, कोई गोलाकार लम्बे केंचुए के समान सफेद या ताम्रवर्ण के होते हैं और कोई सूक्ष्मकृमि पतले लम्बे डोरे की तरह श्वेतवर्ण के होते हैं।

वर्ण—कोई श्वेतवर्ण के और कोई तांबे जैसी लाली लिये होते हैं।

नाम—१. अन्त्राद—अन्त्रो को खा जाने वाले, जो अन्त्रो मे क्षत कर देते हैं, जैसा कि आन्त्रिक ज्वर और अन्त्रक्षय मे क्षत हो जाता है।

२. उदराद—उदर (आमाशय) को खाने वाले।

'षट् ते कुष्ठैककर्माण.'। अष्टाङ्गहृ० नि० १४।५२

'रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकारान् जनयन्ति ते'। सु० चि० ५४

१ (क) 'चिकित्सितमप्येषां कुष्ठै. समानम्'। चरक० वि० ७।११

(ख) रक्तजानां प्रतीकारं कुर्यात् कुष्ठचिकित्सितात्।

सुरसादिन्तु सर्वेषु सर्वथैवोपयोजयेत् ॥ सु० चि० ५४।२८ एव अ० हृ० चि० २०

सुरसादिगण—काली व सफेद तुलसी, मरुवा, अजंक (तुकमरियान), रोहिषघास, सुगन्ध घास, वनतुलसी, दवना, कसौंदी, नकछिकनी, चिचिडा, वायविडग, कट्फल, काली व श्वेत निर्गुण्डी (मेउड), गोरखमुण्डी, मूषाकर्णी, भारगी, जलपिप्पली, काकमाची और कुचला।

सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदन । सुश्रुत० सू० ७।३८

२. चरक० विमान० ७।१२

३ मांसमत्स्यगुडक्षीरदधिशुक्तै कफोद्भवा । सु० उ० ५४।१७

४ (क) कफादामाशये जाता वृद्धा सर्पन्ति सर्वत.। अ० हृ० नि० १४।४७

(ख) ते प्रवर्धमानास्तूर्ध्वमधो वा विसर्पन्त्युभयतो वा। च० वि० ७।१२

३. हृदयचर—हृदय को खा जाने वाले, जैसे कि कृमिज हृद्रोग मे ।
४. महागुद ।
५ चुरु—आहार रस को चुराने वाले ।
६ दर्भपुष्प—कुश के फूल जैसे ।
७ सौगन्धिक—ये नासागत या शिरोगत होते हैं ।

प्रभाव या लक्षण—जी मिचलाना, मुख से पानी छूटना, अरुचि, अपच, ज्वर, मूर्च्छा, जम्भाई आना, पीनस होना, बार-बार छीक आना, उदर मे वायु या मलावरोध के कारण तनाव होना, अगो मे जकडन होना, वमन होना, शरीर का दुबला होना और शरीर का रूक्ष होना, ये कफज कृमि के लक्षण हैं ।[1]

पुरीषज कृमि

निदान—आचार्य चरक ने इनका निदान कफज कृमियो के समान बतलाया है ।

उडद के बने पदार्थ—दही-बडा आदि खाने से, पीसकर या पिट्ठी बनाकर बेसन आदि से निर्मित आहार खाने से, दालो के अधिक खाने से और पत्तें वाले शाक अधिक खाने से पुरीषज कृमि उत्पन्न होते हैं ।[2]

अम्लरस वाले पदार्थ, नमकीन पदार्थ और गुड डालकर बने पदार्थ या गुड के खाने से भी पुरीषज कृमि होते हैं ।[3]

स्थान—इनका स्थान पक्वाशय है । जब ये अधिक बढे हुए होते हैं तो नीचे गुदा की ओर रेंगते हैं, परन्तु जब ये कृमि आमाशय की ओर आ जाते हैं, तब उस आक्रान्त व्यक्ति के डकार और नि श्वास मे पुरीष की-सी गन्ध आती है ।

सस्थान या आकृति और वर्ण—कुछ कृमि सूक्ष्म और गोलाकार श्वेतवर्ण के ऊन जैसे होते हैं, कुछ कृमि मोटे, गोलाकार और काले, नीले, हरे या पीले वर्ण के होते हैं ।

नाम—१. ककेरुक और २. मकेरुक—ये आहार रस को चुराने व खाने वाले होते हैं । ३ सौसुराद, ४ लेलिह (चाटने वाले) और ५ सशूलक (शूल-जनक)—ये पाँच नाम पुरीषज कृमियो के हैं ।

प्रभाव या लक्षण—पतले दस्त होना, शरीर का दुबला होना, त्वचा का रूखा होना और रोमाञ्च होना इनका लक्षण है । ये उदर मे शूल, विष्टम्भ, पाण्डुरोग, मन्दाग्नि और गुदा मे खुजली उत्पन्न करते हैं । ये कृमि रोगी की गुदा मे सूई चुभाने जैसी पीडा और खुजली उत्पन्न करते हुए वहाँ स्थिर हो जाते हैं । जब उनमे हर्ष होता है, तो वे बार बार गुदा से बाहर निकलते हैं ।[4]

---

१ हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ।
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यंक्षवथुपीनसान् ॥ अ० हृ० नि० १४।५०

२ माषपिष्टान्नविदलपर्णशाके पुरीषजा । सु० उ० अ० ५४।१७

३. मधुरान्नगुडक्षीरदधिसक्तुनवौदनै ।
शकृज्जा बहुविड्धान्यपर्णशाकोल्कादिभि । अ० नि० १४।५६

४ (क) शूलाग्निमान्द्यपाण्डुत्वविष्टम्भबलसङ्क्षय ।
प्रसेकारुचिहृद्रोगविड्भेदास्तु पुरीषजे ॥ सु० उ० ५४।१०

वक्तव्य

पुरीषज तथा कफज कृमि को आन्त्रिक कृमि (Intestinal worms) कह सकते हैं। इस श्रेणी मे चार प्रकार की कृमियाँ आ सकती हैं—१. अकुशमुख कृमि (Hook worm), २. गण्डूपद कृमि (Round worm), ३ स्फीत कृमि (Tape worm) और ४ सूत्र कृमि (Thread worm)। इन सबका निवास-स्थान महास्रोत है।

१. अंकुशमुख कृमि—इसे ही अन्त्राद कृमि कहते हैं और इनसे आक्रान्त व्यक्ति के मल मे इसके अण्डे पाये जाते हैं। ये अण्डे गीली भूमि मे पडे रहकर दो-तीन दिन मे लार्वा का रूप पकड लेते हैं। बाद मे इनका और भी रूपान्तर होता है। इस अवस्था मे वे तीन-चार मास तक जीवित रह सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसे स्थान पर नगे पैर जाता है, तो ये लार्वे या इल्लियाँ उसकी पैर की त्वचा के द्वारा अन्दर प्रविष्ट होकर लसीकावाहिनियो या सिराओ द्वारा हृदय के दक्षिण निलय मे पहुँच जाती हैं। वहाँ से रक्त द्वारा फुफ्फुस तथा फुफ्फुस से कण्ठनाडी (Trachea), अन्नप्रणाली (Oesophagus) तथा अन्ततोगत्वा अपने निर्दिष्ट स्थान पच्यमानाशय (Duodenum) मे आकर ठहर जाती हैं। दो सप्ताह मे इनके आकार मे वृद्धि हो जाती है एव लगभग चार सप्ताह मे पूर्ण पुष्ट हो जाती हैं। यहाँ रहकर स्त्रीकृमि गर्भवती होकर अण्डे देती है, जो कि मल द्वारा निकलकर पुन पूर्वोक्त प्रकार से अपना स्वरूप धारण करके उपसर्ग या संक्रमण मे सहायता करती हैं। इन कृमियो का मुख अकुश के समान होता है और इन अकुशो के द्वारा ये अन्त्र की दीवार में चिपकी रहती हैं तथा रक्त का पान भी करती रहती हैं। जिसके फलस्वरूप रक्तक्षय होकर पाण्डुता हो जाती है। तब रक्त मे शोणाश (Haemoglobin) की अत्यधिक कमी हो जाती है एव रक्तकणों की सख्या बहुत कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त हृदयप्रदेश मे पीडा, श्वासकृच्छ्रता, विवर्णता तथा मुख और शरीर मे रूक्षता हो जाती है।[1]

(२) गण्डूपद कृमि (Round work)—इसे महागुद भी कहते हैं। इसका उपसर्ग रहने पर रोगी को ज्वर रहता है, जो अनियत या सन्तत स्वरूप का भी हो सकता है। यह प्राय बच्चो मे होता है। रात्रि मे सोते समय दाँत कीरना (बजाना) इसका मुख्य लक्षण है। रोगी व्यक्ति के मल से निकले हुए अण्डों से युक्त खाद्य पदार्थ के सेवन से स्वस्थ व्यक्ति के अन्त्र मे ये पहुँच जाती हैं। आमाशय के अम्लरस से उनके ऊपर का आवरण गल जाता है, तब ये स्वतन्त्र होकर यकृत में होते हुए सिरा द्वारा हृदय में और वहाँ से अकुशमुख कृमि की ही भाँति फुफ्फुस मे जाकर पुष्ट होती हैं। वहाँ से पुन आमाशय मे आकर वे अन्त्र मे प्रविष्ट होती हैं। वहाँ

(ख) विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुता ।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगा ॥ अ० हृ० नि० १४।५६

१. च० उ० त० अ० ५४।६ पर आयुर्वेदतत्त्वदीपिका टीका का विमर्श।

इनकी वृद्धि होती है और वृद्धि प्राप्त कर ये परिपक्वावस्था को प्राप्त होती हैं। ये अत्यन्त चञ्चल और गतिशील होती हैं। प्राय अन्त्र मे कुण्डली मारकर रहती हैं। ये पतले दस्त होना, उदरशूल, अतिसार, वमन आदि अनेक लक्षणो को उत्पन्न करती हैं। कभी-कभी मल के साथ गुदमार्ग से बाहर निकल आती है। कभी-कभी आमाशय मे पहुँचकर उत्क्लेश और वमन उत्पन्न करती हैं और कभी वमन के साथ बाहर भी निकलती हैं। ये अन्त्र के भीतर अण्डे देकर नवीन कृमियो को जन्म देती हैं। ये अण्डे मल के साथ बाहर निकलकर दूसरे व्यक्ति मे उपसर्ग का कारण बनती हैं। कभी-कभी ये कुण्डलित होकर अन्त्र-छिद्र को ही पूर्णतया बन्द कर देती हैं, जिससे बद्धगुदोदर या अन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) हो सकता है। कदाचित् पित्तवाहिनी मे अवरोध उत्पन्न करके ये कामला रोग (Jaundice) की भी उत्पत्ति करती हैं।

(३) स्फीतकृमि (Tape worm) या उदरावेष्ट—यह कृमि ८–१० फीट लम्बी तथा फीते के समान चौडी और चिपटी होती है। यह अपने गोल शिर मे स्थित वडिशो (अकुशो) द्वारा अन्त्र मे चिपकी रहती हैं। इसके शरीर मे छोटे-छोटे अनेक पर्व होते हैं। इसके परिपक्व होने पर जब अन्तिम ४–६ पर्व मल द्वारा बाहर निकलते हैं, तो उनके आकार कद्दू (लौकी) के बीज के समान होते हैं। इस कृमि की उपस्थिति से पेट में दर्द, वमन, मन्दाग्नि या भस्मक रोग तथा पाण्डु आदि रोगो के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका उपसर्ग दूषित शूकर-मास खानेवालो मे होता है।

(४) सूत्र या तन्तुकृमि (Thread worm) या चुन्न—ये कृमि बीजाकुर या सूत्र की भाँति श्वेत होती हैं। ये बहुत छोटी लगभग आधे जौ के बराबर लम्बी होती हैं। ये प्राय बच्चो में होती हैं तथा रात्रि मे गुदा से बाहर निकलती हैं। इनके प्रकोप से गुदा मे खुजली होती है। कभी-कभी प्रवाहिका, गुदभ्रश, शय्यामूत्र और प्रतिश्याय आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

कृमिरोग का सामान्य निदान

अजीर्ण रहने पर भोजन करना, नित्यप्रति मीठे एव खट्टे पदार्थों को खाते रहना, लस्सी-शर्बत आदि का अधिक प्रेम के साथ सेवन करना, उडद आदि के आटे से बने पदार्थ खाना, मीठे मालपूआ आदि खाना, गुड का ज्यादे खाना, व्यायाम न करना, दिन मे सोना, सयोगविरुद्ध, मात्राविरुद्ध, देश-काल आदि के विरुद्ध भोजन करना, ये कारण कृमियो को उत्पन्न करते हैं।[1]

विशिष्ट निदान

१ पुरीषज—उडद तथा उडद के बने पदार्थ, पिष्टमय पदार्थ, दाल और पत्ते वाले शाको के अधिक सेवन से पुरीषज कृमि उत्पन्न होती हैं।

---

१ अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रिय पिष्टगुडोपभोक्ता।
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते कृमींस्तु॥ माधवनि०

२. कफज—मास, उडद, गुड, दूध-दही और तेल के अधिक सेवन से कफज कृमि उत्पन्न होती हैं।

३. रक्तज कृमि—विरुद्ध भोजन, अजीर्ण होना या अजीर्ण रहने पर पुन भोजन करना और शाक आदि का अधिक सेवन करना रक्तज कृमियो को उत्पन्न करता है।[1]

सामान्य लक्षण

ज्वर, शरीर के रग का फीका पड जाना, विवर्णता, शूल, हृदय के रोग, अगों मे शिथिलता, भ्रम (चक्कर आना), भोजन मे अरुचि और अतिसार होना (बार-बार पतले दस्त होना) ये लक्षण आभ्यन्तर कृमियो के उत्पन्न होने के सूचक हैं।[2]

सामान्य सम्प्राप्ति

दोष—कफप्रधान (त्रिदोष)।

दूष्य—रस, रक्त।

स्रोतस्—अन्नवह, पुरीषवह, रक्तवह।

अधिष्ठान—आमाशय, पक्वाशय, सिरा + धमनी।

१ कफज—आमाशय।

२. पुरीषज—पक्वाशय।

३. रक्तज—सिरा एव धमनी।

चिकित्सासूत्र

(१) रक्तज कृमियो का चिकित्सासूत्र कुष्ठरोग के चिकित्सासूत्र की तरह जानना चाहिए। जैसे कुष्ठरोग त्रिदोषज होता है, उसी तरह रक्तज कृमिरोग भी त्रिदोषज होता है। अत लक्षणो के आधार पर दोषो का वलाबल जानकर चिकित्सा करनी चाहिए।

वात की प्रधानता मे घृतपान, कफ की प्रधानता मे वमन और पित्त की प्रधानता में विरेचन देना चाहिए।

(२) कफज कृमियो मे विशेष रूप से शिरोविरेचन, नस्य, वमन और निदान-परिवर्जन पूर्वक शमन चिकित्सा करे।

(३) पुरीषज कृमियो मे विशेषकर वस्ति तथा विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।[3]

---

१. माषपिष्टान्नविदलपर्णशाकै पुरीषजा।
मांसमाषगुडक्षीरदधितैलै कफोद्भवा॥
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यै शोणितोत्था भवन्ति हि॥ सुश्रुत० उ० ५४।१७–१८

२. ज्वरो विवर्णता शूल हृद्रोग सदन भ्रम।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सञ्जातकृमिलक्षणम्॥ सुश्रुत० उ० ५४।१९

३ (क) रक्तजानां प्रतीकारं कुर्यात् कुष्ठचिकित्सितात्।
(ख) शिरोविरेकं वमनं शमनं कफजन्मसु।
(ग) पुरीषजेषु सुतरां दद्याद् वस्तिविरेचने। अ० हृ० उ० ५४

आचार्य चरक[1] ने सामान्यत सभी कृमियो की चिकित्सा मे त्रिसूत्री सिद्धान्त अपनाने का निर्देश किया है—१. अपकर्षण, २ प्रकृति-विघात और ३ निदान-परिवर्जन।

१. अपकर्षण—आभ्यन्तर कृमियो का अपकर्षण चार प्रकार से किया जाता है। कृमिघ्न औषधो के प्रयोग से कृमियो को निर्जीव अथवा वेहोश करने के पश्चात् सशोधन उपचार करके बाहर निकाला जाता है।

अपकर्षण के चार प्रकार[2]—१ शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग शिरोगत कृमिज रोगो मे किया जाता है। २ वमन का प्रयोग आमाशयगत कफज कृमिरोग मे किया जाता है। ३. विरेचन का प्रयोग पुरीषज कृमिरोग मे मलाशय-शोधनार्थ किया जाता है। एवञ्च ४. आस्थापन (निरूहवस्ति) का भी प्रयोग मलज कृमियो को निकालने के लिए होता है।

इन चारो प्रयोगो मे कृमिघ्न और शोधनकारक द्रव्यो का प्रयोग किया जाता है। इन सबके प्रयोग का उद्देश्य कृमियो का उन-उन स्थानो से अपकर्षण करना है।

२ प्रकृतिविघात[3]—कृमि जिस तरह के आहार-विहार या परिस्थिति या वातावरण से पलते हैं, उस परिस्थिति या वातावरण को नष्ट कर देना चाहिए। जिससे वर्तमानकाल मे रहने वाले कृमि तो नष्ट ही हो जायें और साथ ही भविष्य मे उनके पुन उत्पन्न होने की सभावना न रहे। एतदर्थ कटु-तिक्त-कषाय रस वाले द्रव्यो का खाने, पीने, स्नान, उवटन आदि मे प्रयोग करना चाहिए तथा कफ-विकार नाशक और पुरीषकृमि-प्रतिषेधक औषध एव कर्म करने चाहिए, जो कृमिजनन की प्रकृति को ही विनष्ट कर दे। क्षारीय द्रव्य और उष्ण उपचार प्रकृतिविघात करते हैं।

३ निदानपरिवर्जन[4]—कृमिरोग के जो कारण वतलाये गये हैं, जैसे—मधुर-अम्ल-द्रव-गुड-वडा-पकौडा आदि का आहार और दिवाशयन, व्यायाम न करना-आदि विहार—इन सवका परित्याग करना चाहिए।

छोटे वच्चे और सगर्भा औरतें भी मिट्टी खाती हैं, जिससे कृमि होते हैं, उन्हें भी फुसला-समझाकर इस कृमिजनक आदत को छुडवा देवे।

---

१ सर्वक्रमीणामपकर्षणमेवादित कार्यं, तत प्रकृतिविघात, अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति। स्थानगतानां तु क्रमीणां भेषजेनापकर्षणं न्यायत, तच्चतुर्विधं तद्यथा—शिरोविरेचनं, वमनं, विरेचनम् आस्थापन च, इत्यपकर्षणविधि। चरक० विमान० ७।१५

२ तच्चतुर्विधं, तद्यथा—शिरोविरेचनं, वमनं विरेचनम् आस्थापनम् इति अपकर्षणविधि। च० वि० ७

३ प्रकृतिविघातस्तु एषां कटु तिक्त कषाय क्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगो यच्चान्यदपि किञ्चित् श्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तद (सेवनीयं) स्यात। चरक० वि० ७

४ अनन्तरं निदानोक्तानां भावानाम् अनुपसेवनमिति यदुक्तं निदानविधौ तस्य विवर्जनं तथाप्रायाणां चान्येषां चापरेषां द्रव्याणामिति। च० वि० ७

चिकित्सा (शिर, हृदय, नासिका आदि के क्रृमियो की)

१. आचार्य चरक ने कफज क्रृमियो की चिकित्सा करने मे अधिक मात्रा मे नस्य (शिरोविरेचन), वमन तथा शमन के लिए औषध-प्रयोग करना बतलाया है।[1]

२. शीर्षाद क्रृमि—शिर को खाने वाले क्रृमि जब बढ जायें और शिर के भीतर चलते हुए जान पडें तो शिर का स्नेहन-स्वेदन करके (चरक० सूत्र० अ० २ मे कथित) 'अपामार्गतण्डुलादि शिरोविरेचन' का प्रधमन नस्य देकर शिरोविरेचन कराना चाहिए।[2]

३. प्रधमन नस्य—अश्व के पुरीष का रस निचोडकर उसे ठीक से सुखाकर, उसमे वायविडग के क्वाथ की तीन बार भावना देकर सुखाकर रख ले। इस चूर्ण का नासिका मे प्रधमन नस्य देने से शिरोगत क्रृमि तथा क्रृमिज शिरोरोग नष्ट होते हैं। प्रधमन का अर्थ नस्य को नासिका मे फूँकना है।[3]

४ अञ्जन आदि—शिर, हृदय, नासिका, कान और नेत्र आदि मे स्थित क्रृमियो को नष्ट करने के लिए विशेषरूप से निर्मित नेत्राञ्जन, नस्य, अवपीड नस्य (किसी द्रव को नाक मे टपकाना), गण्डूष और कवल का प्रयोग करना चाहिए।[4]

५. रोमाद या केशाद एवं दन्ताद क्रृमि—रोम या केश को खाने वाले क्रृमियो की चिकित्सा इन्द्रलुप्तरोग-नाशक उपचार से करे। जैसे—हाथीदाँत के बुरादे को निर्धूम अग्नि युक्त चूल्हे पर तवे के ऊपर रखकर मिट्टी के सकोरे से ढँक दे और जब वह जल कर कोयला बन जाय तो उसे समभाग रसौत के साथ रगड कर मिला दे। इसके लेप से झडे हुए बाल पुन उग आते हैं।[5]

६. आचार्य वाग्भट ने कहा है, कि क्रृमिज शिरोरोग मे रोगी को रक्त का नस्य देवे, क्योकि रक्त की गन्ध से मदोन्मत्त होकर क्रृमि मूर्च्छित हो जाते हैं। जब रुग्ण को कट्फल चूर्ण या मरिच चूर्ण का क्रमश नस्य और धूप दिया जाता है, तो क्रृमियाँ नाक से या मुखमार्ग से बाहर निकल जाती हैं। उसके बाद कडवे तेल का या नीम के तेल का अथवा हिंगोट के तेल का अलग-अलग नस्य देते रहे।[6]

---

१ मात्राधिकं पुन शिरोविरेचवमनोपशमनभूयिष्ठं तेष्वौषधेषु श्लेष्मजानां कृमीणां चिकित्सितं कार्यम्। चरक० विमान० ७।२७

२ यदि पुनरस्यातिप्रवृद्धान् शीर्षादीन् क्रृमीन् मन्येत शिरस्येवाभिसर्पत कदाचित्, तत स्नेहस्वेदाभ्यामस्य शिर उपपाद्य विरेचयेदपामार्गतण्डुलादिना शिरोविरेचनेन। च० वि० ७।२०

३. शकृद्रसं तुरङ्गस्य सुशुष्कं भावयेदिति।
निष्क्वाथेन विडङ्गानां चूर्णं प्रधमनन्तु तत्॥ सु० उ० ५४।३५

४. शिरोहृद्घ्राणकर्णाक्षिसंश्रितांश्च पृथग् विधान्।
विशेषेणाञ्जनैर्नस्यैरवपीडैश्च साधयेत्। सु० उ० ५४।३४

५ इन्द्रलुप्तविधिश्चापि विधेयो रोमभोजिषु।
दन्तादीनां समुद्दिष्टं विधानं मुखरोगिकम्॥ सु० उ० ५४।३८

६. क्रृमिजे शोणित नस्य तेन मूर्च्छन्ति जन्तव।
मत्ता शोणितगन्धेन निर्यान्ति घ्राणवक्त्रयो॥

कफज एवं पुरीषज कृमियो की सामान्य चिकित्सा

१ कफज या पुरीषज कृमियो को नष्ट करने की इच्छा से रोगी को ६–७ दिन तक सुरसादि गण की औषधो के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत का पान कराकर स्नेहन कराना चाहिए। फिर रोगी का स्वेदन करना चाहिए। यदि अगले दिन रोगी का सशोधन (वमन-विरेचन या वस्ति) अभीष्ट हो तो, पूर्व दिन को प्रात तथा सायकाल उसे दूध, दही, गुड, तिल, मछली, खीर आदि से युक्त भोजन कराना चाहिए। इससे कृमियो का उभाड हो जाता है और वे चलायमान होकर कोष्ठ के मध्य मे आ जाती हैं। दूसरे दिन रोगी की शारीरिक एव मानसिक स्थिति को देखकर यदि वह सशोधन योग्य हो, तो उसे तीक्ष्ण औषध पान कराकर वमन करावे।[1]

वमन कराने के पूर्व स्नेहपान, अभ्यग तथा वाष्पस्वेदन करने से दोषो का क्लेदन, द्रवीकरण और कोष्ठाभिगमन होता है। गन्ने का रस, मासरस या दूध आकण्ठ पिला करके रोगी के बलाबल का विचार कर, वमनकारक औषध (यष्टीमधु के क्वाथ मे १०–१५ ग्राम मदनफल का वारीक चूर्ण या यह चूर्ण मधु के साथ) देना चाहिए। यदि वमन न हो, तो रोगी अपनी अँगुली से गले के भीतर स्पर्श कर वेग प्रवृत्त करे अथवा परिचारक अपनी अगुलियो मे मदनफल चूर्ण और मधु का प्रलेप कर रोगी के गले में भीतर स्पर्श करे। वस्तुत यह कार्य पचकर्म-दक्ष चिकित्सक की देख-रेख मे ही करना उचित है।

(२) वमन कराने के बाद, अतितीक्ष्ण विरेचनकारक औषध—इच्छाभेदी रस आदि देकर विरेचन कराना चाहिए।[2]

(३) विरेचन के वाद जौ, वेर का फल, कुलथी और सुरसादि गण की औषधो को समान प्रमाण मे लेकर क्वाथ बनावें, क्वाथ का चतुर्थांश तैल और तैल का चतुर्थांश विडग एव सुरसादि गण का कल्क डालकर तैल पकावे और उसमे सेंधानमक मिलाकर आस्थापनवस्ति दें। इस तैल के साथ कृमिघ्न औषधो का क्वाथ एवं कल्क मिला लें।

(४) आस्थापनवस्ति के बाहर निकल जाने पर रोगी को सुखोष्ण जल से स्नान कराकर, विडग-पलाशबीज-इन्द्रजौ-नागरमोथा आदि कृमिघ्न औषधो के क्वाथ मे यवागू या कृशरा बनाकर खिलाना चाहिए।[3]

सुतीक्ष्णनस्यधूमाभ्यां कुर्यान्निर्हरणं तत ।
कटुनिम्बेङ्गुदीपीलुतैलं नस्यं पृथक्-पृथक् ॥ अ० हृ० उ० २४।२५–२७

१ एषामन्यतमं ज्ञात्वा जिघांसुः स्निग्धमातुरम् ।
सुरसादिविपक्वेन सर्पिषा वान्तमादित ॥
विरेचयेत् तीक्ष्णतरैर्योगैरास्थापयेच्च तम् ॥ सुश्रुत० उ० ५४।२१

२. विरेचयेत् तीक्ष्णतरै । सु० उ० ५४।२१

३ आस्थापयेच्च तम् ।
(क) यवकोलकुलत्थानां सुरसादेर्गणस्य च ।
विडङ्गस्नेहयुक्तेन क्वाथेन लवणेन च ॥ सु० उ० ५४।२१–२२

(५) उसके अनन्तर यव-कोल (बेर)-कुलथी-विडग और सुरसादिगण की औषधो के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध तैल की अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।[1]

आचार्य चरक[2] ने एक ही दिन मे वमन, विरेचन और आस्थापन वस्ति देने के लिए कहा है, जब कि रोगी यह सब सहन करने के योग्य प्रतीत हो।

कृमिनाशक योग

(१) **कृमिघ्न चूर्ण**—१ करञ्ज की गिरी, २ पलाश के बीज, ३. देशी अजवायन, ४ कबीला और ५. विडग सब बराबर लेकर महीन चूर्ण बना ले।

मात्रा तथा प्रयोग—३ ग्राम, दिन मे ३ बार समान गुड मिलाकर सुखोष्ण जल से ३ दिन तक देकर, तीसरे दिन रात मे सोते वक्त १ कप दूध में १०० ग्राम एरण्ड मिलाकर पिलावे।

वक्तव्य—कृमियो को गुड अत्यन्त प्रिय होता है। जब गुड उदर मे जाता है तो आमाशय या अन्त्र की कृमियाँ उस पर टूट पड़ती हैं, आँतो की दीवार छोडकर बीच मे चली आती हैं और कटु-तिक्त-कषायरस प्रधान औषध के सपर्क से वे मृत या मूर्च्छित हो जाती हैं तथा दस्तावर दवा देने पर उदर से बाहर निकल जाती हैं।

(२) **पारसीयादि चूर्ण**—१ पारसीक अजवायान, २. नागरमोथा, ३ पीपर, ४ काकडासिंगी, ५ वायविडग और ६ अतीस सभी का समभाग मे चूर्ण। मात्रा ३ ग्राम दिन मे ३ बार गुड के साथ जल से।

(३) **विडगादि चूर्ण**—१ वायविडग, २. सेंधानमक, ३ जवाखार, ४. कबीला, ५ पलाशबीज, ६ अजवायन और ७. हर्रा सभी का समभाग मे चूर्ण। मात्रा ४–६ ग्राम दिन मे ३ बार गुड के साथ जल से।

(४) **भद्रमुस्तादि क्वाथ**—१ नागरमोथा, २ मूषाकर्णी, ३ पलाशबीज, ४. वायविडग, ५. अनार की छाल, ६ खुरासानी अजवायन, ७ सुपारी, ८. देवदारु, ९ सहिजन के बीज, १० हर्रा, ११ बहेडा, १२. आँवला, १३ खैरसार, १४ नीम की छाल और १५ इन्द्रजौ, सब समभाग लेकर भूसा की तरह कूटें। २५ ग्राम दवा आधा लीटर जल मे औंटायें, जब चौथाई बचे तो छानकर गुड डालकर रोज सबेरे पिलावें।

(५) **कृमिमुद्गर रस**—१ शुद्ध पारद १० ग्राम, २ शुद्ध गन्धक २० ग्राम, ३ अजवायन ३० ग्राम, ४ वायविडग ४० ग्राम, ५. शुद्ध कुचला ५० ग्राम और ६ पलाशबीज ६० ग्राम लेकर खरल कर २५० मिलीग्राम की गोली बना ले। मात्रा—१–२ गोली नागरमोथा के क्वाथ से दिन मे ३ बार। इसे ३ दिन तक देकर चौथे दिन जुलाव दे। यह सभी प्रकार की कृमियो के विकार मे लाभप्रद है।

(ख) प्रत्यागते निरूहे तु नरं स्नातं सुखाम्बुना।
भुञ्ज्यात् कृमिघ्नैरशने ॥ सु० उ० ५४।२३

१ तत शीघ्र भिषग्वर । स्नेहेनोक्तेन चैनन्तु योजयेत्स्नेहवस्तिना ॥ सु० उ० ५४।२४

२. चरक० वि० ७।१६

(६) **कृमिकुठार रस**—१ कपूर ८ भाग, २ इन्द्रजौ, ३ त्रायमाणा, ४. अजवायन, ५. वायविडग, ६. शुद्ध हिंगुल, ७. शुद्ध वच्छनाग और ८. नागकेशर १–१ भाग लेकर सबको मिलाकर भृगराज के रस मे ६ घण्टे खरल कर सुखा ले। फिर सबके बराबर, ९ पलाश बीज का चूर्ण मिलाकर, मूषाकर्णी और ब्राह्मी के रस की १–१ भावना देकर २–२ रत्ती की गोली बना ले। दिन मे ३ बार १–१ गोली ३ दिन तक मधु से देकर चौथे दिन जुलाब देने से कृमि गिर जाते हैं।

(७) **अकुशमुख कृमि** (Hook worm)—स्वर्णक्षीरी (भडभाड) के जड की छाल का कल्क ३ ग्राम और ५ दाने काली मिर्च का चूर्ण समान गुड मिलाकर, दिन मे ऐसी ३ मात्रा, तीन दिन तक देकर चौथे दिन प्रात इच्छाभेदी रस २ रत्ती शर्वत के साथ पिलाने से विरेचन होकर कृमियां बाहर निकल जाती हैं।

(८) **गण्डूपद कृमि . महागुवा** (Round worm)—१ पलाशबीज चूर्ण ४ ग्राम गुड के शर्वत मे घोलकर सवेरे-शाम पिलाना चाहिए अथवा २ देशी अजवायन का ३ ग्राम चूर्ण समान गुड के साथ १–२ सप्ताह तक देने से कृमियो की परम्परा समाप्त हो जाती है। तीसरे दिन रात मे कोई दस्तावर दवा भी देते रहना चाहिए।

(९) **स्फीतकृमि : उदरावेष्टा** (Tape worm)—वायविडग चूर्ण ३ ग्राम समान भाग गुड से दिन मे ३ वार अथवा २ अनारदाने के बीज का चूर्ण और गुड प्रत्येक ३–३ ग्राम दिन मे ३ बार कुछ दिनो तक देने से ये नष्ट हो जाती हैं।

(१०) **तन्तुकृमि : चुन्न** (Thread worm)—कबीला का चूर्ण २–३ ग्राम बराबर गुड के साथ दिन मे ३ वार तक देते रहने से ये कृमि बाहर निकल जाती हैं।

(११) **कृमिघ्न और रेचक द्रव्य**—उदर की कृमियो को मारकर बाहर निकालने वाली औषधो मे तीन द्रव्य प्रमुख हैं—१ **कबीला**—यह कृमिघ्न और रेचक है। इसे ४–५ ग्राम की मात्रा मे बराबर गुड के साथ मिलाकर दिया जाता है। २ **इन्द्रायण**—यह अतिविरेचक और कृमिघ्न है। जलोदर और शोथ मे इसके प्रयोग से जलाश निकलकर रोग का शमन होता है। इसका चूर्ण ३–४ ग्राम देना चाहिए। ३. **उशारेरेवन्द**—यह तीव्र विरेचक और कृमिघ्न है। इसकी मात्रा १००–२०० मि० ग्रा० है। इसे शर्वत मे देना चाहिए। इनको खिलाने-पिलाने के बाद मुख मे लाइची रखवावे।

(१२) **कफज और पुरीषज कृमिनाशक एकल द्रव्य**—१. करञ्ज, २ अजवायन, ३ पलाशबीज, ४ वायविडग, ५ सहिजनबीज, ६ कबीला, ७. कचूर, ८. भिलावा, ९. कुचला, १० डीकामाली, ११. नीमबीज, १२. सिन्दुवार, १३ मूषाकर्णी, १४ अपामार्ग, १५ धतूरा, १६ इन्द्रजौ, १७ सुपारी, १८ कालीमिर्च, १९. माल-कागनी, २०. अनारदानाबीज इत्यादि। इन औषधियो का प्रयोग कृमियो को नष्ट करने और गिराने के लिए किया जाता है। मात्रा और अनुपान रोगी की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का विचार कर देवे।

(१३) **रक्त, त्वचा, श्लैष्मिककला और लसीका ग्रन्थियों मे स्थित कृमियों की औषधें**—१ रसकपूर, २ पारद, ३. गन्धक, ४ हिंगुल, ५ हरताल, ६. स्वर्ण,

७ ताम्र, ८ कासीस, ९ बाकुची, १० दालचीनी, ११ छितवन, १२ सरफोका, १३ खदिर, १४. गुग्गुल, १५ चित्रकमूल, १६ नीम इत्यादि। इनका प्रयोग करते समय रसौषधियो का शोधन करना आवश्यक है। मात्रा का निर्धारण रोग और रोगी के अनुसार करें।

(१४) **कृमिघ्न तथा कृमिविकार-नाशक औषधें**—१. स्वर्णभस्म, २ कासीस-भस्म, ३ शुक्तिभस्म, ४. शखभस्म, ५ मुक्ताभस्म, ६ प्रवालभस्म, ७ वराटभस्म, ८ टकण, ९ निम्ब, १० रसोन, ११ छितवन, १२ इन्द्रजौ, इत्यादि द्रव्य कृमियो को तथा कृमिज विकारो को दूर करते हैं।

(१५) **प्रसिद्ध सिद्ध औषधयोग**—१ भद्रमुस्तादि क्वाथ, २ पारसीयादि चूर्ण, ३ विडगादि चूर्ण, ४ कृमिमुद्गर रस, ५ कृमिकालानल, ६. कीटारि रस, ७ कृमिकुठार रस, ८ विडगारिष्ट, ९ मुस्तकारिष्ट इत्यादि। इनकी मात्रा रोगी के अनुसार निश्चित करें।

(१६) **कृमिज पचन विकार (अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि में)**—पारद-घटित पर्पटीयोग, हिंगुलभस्म, शखभस्म, इन्द्रजौ आदि औषध रोगानुसार प्रयोग करें।

(१७) **कोष्ठबद्धता**—हरीतकीचूर्ण, निशोथ, नीलगिरी तैल, एलुआ, सप्तपर्ण, शिवाक्षारपाचन चूर्ण आदि देवें।

(१८) **कृमिज ज्वर**—वगभस्म २ रत्ती तथा विडग चूर्ण २ ग्राम को मधु से दें। ज्वरकेशरी या अग्नितुण्डी अथवा सुदर्शन चूर्ण का प्रयोग हितकर है।

(१९) **विबन्ध**—इच्छाभेदी रस, अश्वकचुकी रस या नारायण चूर्ण उचित मात्रा मे देवें।

(२०) **कृमिज पाण्डु**—नवायस लौह १–१ ग्राम सवेरे-शाम अथवा ताप्यादि लौह उचित मात्रा मे विडग चूर्ण २ ग्राम के साथ दें। एक महीने तक बिना व्यवधान के यह देते रहें।

(२१) **कृमि-उत्पत्ति एव विकार-शमनार्थ**—बृहद् योगराजगुग्गुलु, अग्नितुण्डी-वटी, सजीवनीवटी और वंग भस्म का यथायोग्य मात्रा और अनुपान से प्रयोग करें।

(२२) **कृमिज जीर्णज्वर**—लघुवसन्तमालती, सुदर्शन चूर्ण या नारायण चूर्ण का प्रयोग दीर्घकाल तक करना चाहिए।

(२३) **संक्रमणनिरोधार्थ औषधें**—सक्रामक रोग से ग्रस्त रोगी के थूक, कफ, मल-मूत्र और वस्त्र आदि से निकले हुए कीटाणु, श्वासोच्छ्वास-क्रिया द्वारा बाहर आये हुए कीटाणु और वातावरण मे घूमनेवाले कीटाणुओ को नष्ट करने तथा गृह के वायुमण्डल को शुद्ध बनाने के लिए औषधें—१. पारद, २ गन्धक, ३. लोहुवान, ४ गूगल, ५ धतूर, ६. निम्बपत्र, ७ कपूर, ८ नीलगिरी-तैल, ९. तारपीन, १० पिपरामेण्ट, ११. नमक, १२ कासीस, १३ कार्बोलिक एसिड और १४ मिट्टी का तेल आदि।

(२४) **दुर्गन्धनाशक औषधें**—१. तारपीन का तेल, २ फिनायल, ३ कार्बोलिक एसिड, ४. सूर्य का ताप, ५ अग्नि, ६. गूगल और ७ राल आदि की धूप दे।

(२५) पुनराक्रमण-निवारणार्थ औषधें—१. सप्तपर्ण का सत्त्व, २ सोमल, ३ हरताल, ४ रसकपूर, ५ सुवर्णभस्म, ६ हिंगुल, ७ गूगल आदि औषधें कीटाणु के बीज को नष्ट कर रोगो का निर्मूलन करती हैं।

(२६) रक्तज कृमिनाशक विशिष्ट औषधें—१ गन्धक, २ मजीठ ३. चोप-चीनी, ४. सत्यानाशी, ५ खैरछाल, ६ सप्तपर्ण, ७ त्रिफला, ८ मुण्डी, ९ सारिवा, १० उशवा, ११ अमलतास, १२ अनन्तमूल आदि।

(२७) बाह्यकृमिनाशक औषधें—१. मुर्दाशख, २ रसकपूर, ३. कपूर, ४ सोहागा, ५ तूतिया, ६. गन्धक, ७ कत्था, ८ गोमूत्र, ९ नीलगिरि तैल, १०. चकवड, ११ कासमर्द, १२ निम्बपचाग, १३ वायविडग, १४ चमेली के पत्ते, १५ स्वर्णक्षीरी आदि।

व्यवस्था-पत्र

१. ३–३ घण्टे पर ४ बार

कृमिमुद्गर रस	१ ग्राम
कृमिघ्न चूर्ण	१ ग्राम
समान गुड के साथ।	योग ४ मात्रा

२ भोजन के पूर्व २ बार

यवानीषाडव चूर्ण	६ ग्राम
विना अनुपान।	योग २ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार

विडगारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल से।	योग २ मात्रा

४ रात्रि मे

आरोग्यवर्धनी वटी	१ ग्राम
उष्णोदक से	१ मात्रा

पथ्य—पुराना गेहूँ, जौ, चावल, मूग, अरहर, परवल, करेला, बथुआ, जवायन, लहसुन, हीग, सरसो का तेल, कच्चा केला, निम्बपत्र, हरीतकी, सिरका, गोमूत्र, कटु-तिक्त एव कषाय रस वाले पदार्थ पथ्य हैं।[1]

अपथ्य—दूध, मास, घृत, दही, पत्तेवाले शाक, खट्टे-मीठे पदार्थ, मिठाई, उडद, लस्सी आदि द्रव पदार्थ, शीतल जल और दिन मे सोना अपथ्य है।[2]

अर्श-बवासीर : हीमोराइड्स अथवा पाइल्स

परिचय—गुदा की सिरायें फूल जाती हैं और उस सूजन को अर्श[3] कहते हैं।

१ प्रत्यह कटुकं तिक्तं भोजनं कफनाशनम्। कृमीणां नाशनं रुच्यमग्निसन्दीपनं परम्॥ मै र

२ क्षीराणि मांसानि घृतानि चैव दधीनि शाकानि च पर्णवन्ति। समासतोऽम्लान् मधुरान् हिमाश्च कृमीन् जिघांसुः परिवर्जयेत्तु॥ सुश्रुत उ० ५४

३. गुदवलिजानां स्वर्शांसि इति संज्ञातन्त्रेऽस्मिन्। चरक० चि० १४।६

सिराओ की मध्य दीवार मासतन्तुओ से बनी होती है। मल को जब बाहर निकालने के लिए प्रवाहण की क्रिया से जोर लगाना पडता है या मल शुष्क होता है तो दबाव पडने पर मासतन्तुओ से बनी दीवार के कमजोर होने कारण सिराओ के अग्रभाग मे रक्त का सञ्चय होने से वह फूल जाता है, वही अर्श है।

आचार्य चरक ने गुदवलियो मे होनवाले मस्से या अकुर को अर्श माना है। कुछ विद्वान् गुदवलि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र को भी अर्श का स्थान मानते हैं, जैसे—शिश्न (मूत्रेन्द्रिय), योनि, गला, मुख, नासिका, कान, नेत्रो के वर्त्म (पल्ले) और त्वचा मे उत्पन्न होने वाले मासाकुर भी अर्श कहलाते हैं।[१]

सहज अर्श के स्वरूप—कोई छोटे या बडे, लम्बे या कम लम्बे, कोई गोल या ऊँचे नीचे, या भीतर मे टेढे या बाहर मे टेढे, या जटा की तरह परस्पर मिले हुए, कोई भीतर की ओर मुखवाले और इन अर्शों का वर्ण वातादि दोषो के सम्बन्ध के अनुसार होता है।[२]

दोषज अर्शों के स्वरूप : वातज अर्श—इसके मस्से सूखे, मलिन, साँवले या लाल वर्ण के, कडे, खुरदरे, कर्कोटक (खेखसा) के फल के समान सूक्ष्म कटको से ढके हुए वक्र, तीखे, विभिन्न आकृतिवाले, बिम्बीफल (शिवलिङ्गी के फल), खजूर, बेर या कपास के फल जैसे, कोई-कोई कदम्ब के फूल के समान कण्टकवाले या कोई सरसो से बीज जैसे होते हैं।[३]

पित्तज अर्श—इसके मस्से नीले मुखाग्रवाले, लाल, पीले या काले रग के होते हैं। इनसे तरल अल्प रक्तस्राव होता है। ये मस्से दुर्गन्धयुक्त, पतले, मुलायम और लटके हुए होते हैं। ये बनावट मे सुग्गे की जीभ के समान और वर्ण मे यकृत्खण्ड या जोक के मुख के समान होते हैं।[४]

कफज अर्श—ये मस्से मोटे मूलवाले, घने, मन्द पीडावाले, श्वेत वर्ण के, उठे हुए, स्थूल, चिकने, कठोर, गोल, वजनी, स्थिर, पिच्छिल (चिपचिपे), निश्चल, श्लक्ष्ण और प्रियस्पर्शी होते हैं। इनकी रचना करीर, कटहल की गुठली या गौ के स्तन के समान होती है।[५]

अर्श शब्द का निर्वचन—यह रोग रोगाक्रान्त व्यक्ति को शत्रु की तरह सताता है, उसे पीडा पहुँचाता है या घातक होता है, इसलिए इसे अर्श कहते हैं—'अरिवत्

---

१ केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां—शिश्नमपत्यपथ गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षि वर्त्मानि त्वक् चेति। चरक० चि० १४।६

२ चरक० चि० १४।७।   ३ अ० हृ० नि० अ० ७।

४ पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभा। तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदव श्लथा॥
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसंनिभा ॥ अ० हृ० नि० अ० ७

५ श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुज सिता।
उत्सन्नोपचित स्निग्ध स्तब्ध वृत्त-गुरु स्थिरा ॥
पिच्छिला स्तिमिता श्लक्ष्णा कण्ड्वाढ्या स्पर्शनप्रिया।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभा ॥ अ० हृ० नि० ७।३७ ३८

(शत्रुवत्) प्राणान् शृणाति हिनस्ति इति अर्श ।' 'पृशोदरादिगणपाठात्सिद्धिरुक्तिमाहु' (मधुकोष टीका)। यह शब्द 'अरि' और हिंसार्थक 'शृ' (क्र्यादिगण) धातु के योग से बना है।

अर्श : एक महागद—आचार्य वाग्भट[1] ने कहा है कि गुदवलि मे होनेवाले मास-कील (कॉंटी के-से मासाकुर) गुदमार्ग का अवरोध (रुकावट) करके प्राणियो को शत्रु के समान पीडित करते हैं, इसीलिए ये अर्श कहलाते हैं। इसी से वाग्भट एव सुश्रुत ने अर्श की गणना आठ दुश्चिकित्स्य महारोगो मे की है[2]। इसका एक नाम दुर्नाम भी है। इसकी कसक और पीडा की दुरूहता के कारण ही इसका अन्वर्थक नाम पडा है। अर्श को महागद कहने का तात्पर्य यह है, कि यह बडा ही कष्टसाध्य (दुश्चिकित्स्य) होता है और जैसे कोई हिंसक बडी क्रूरता तथा निर्दयता के साथ किसी को सताता है, उसी तरह यह अति तीव्र पीडादायक महारोग है।

अर्श का अधिष्ठान—गुदा की तीन वलियो को अर्श का अधिष्ठान कहा गया है, जहां अर्श की स्थिति रहती है।[3] बृहदन्त्र के अन्तिम भाग को गुद (Rectum) कहते हैं। इसकी लम्बाई साढे चार (४½) अगुल होती है। इसमे ऊपर से नीचे की ओर क्रमश प्रवाहणी, विसर्जनी और सवरणी नाम की तीन वलियां होती हैं। इन तीनों के नाम इनके काम के आधार पर दिये गये हैं, जैसे—१ जिसके शिथिल होने से मल का प्रवाहण होता है, उसका नाम प्रवाहणी है—'प्रवाहयति इति प्रवाहणी'। २. जो गुदभाग गुदनलिका को चौडा करके मल को बाहर निकालने वाला होता है, उसका नाम विसर्जनी है—'विसृजति इति विसर्जनी'। ३ गुदनलिका का वह भाग जो सकुचित रहकर मल को रोके रहता है, उसका नाम सवरणी है—'सवृणोति इति सवरणी'।[4]

इनकी लम्बाई का प्रमाण इस प्रकार है—

१ प्रवाहणी १½ अगुल, २ विसर्जनी १½ अगुल, ३ सवरणी १ अगुल, ४ इन वलियो के अतिरिक्त गुदौष्ठ होता है, जिसकी लम्बाई ½ अगुल है। इस प्रकार सपूर्ण गुदा की लम्बाई साढे चार अगुल हो जाती है।

सुश्रुताचार्य ने इन वलियों का वर्णन करते हुए बतलाया है, कि उक्त तीनो वलियां मिलकर चार अगुल लम्बी, एक अगुल टेढी उभरी हुई एव शख के घुमावदार

---

१ अरिवत् प्राणिनो मासकीलका विशसन्ति यत्।
अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधत ॥ अ० हृ० नि० ७।१

२ (क) वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दरा ।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगा सुदुस्तरा ॥ अ० हृ० नि० ८।३०

(ख) वातव्याधि प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्।
अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदा ॥ सु० सू० ३३।४-५

३ अर्शांसि षट् प्रकाराणि विद्याद् गुदवलित्रये। मा० नि० तथा च० नि० १४।६

४ तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहु । तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तर-सम्भूता प्रवाहणी विसर्जनी सवरणी चेति। सु० नि० २।५

४. सिरायें गुदा की लम्बाई मे स्थित रहती हैं, जब कि आन्त्र के अन्य भागों में सिराओ की दिशा अनुप्रस्थ रहती है। इस प्रकार गुदा की सिराओ मे रक्त के रुकने का प्रश्न ही नही है।

अर्श का पूर्वरूप

मन्दाग्नि, विष्टम्भ, रानो मे थकावट, पिण्डलियो मे ऐंठन, चक्कर आना, अग-शैथिल्य; नेत्रो पर शोथ, पुरीषभेद या पुरीषरोध, अधोवायु-नि सरण या अपानवायु का प्रतिलोम होना, अपानवायु का मलाशय मे घूमकर पीडा पैदा करना और गुदा में कैंची से काटने जैसी वेदना उत्पन्न कर आवाज के साथ निकलना, अन्त्र मे गुडगुडाहट, अन्त्रकूजन, कृशता, डकार अधिक आना, वहुमूत्र, पुरीषाल्पता, अरोचक, धुँआसी डकार, खट्टी डकार, शिर शूल, पृष्ठशूल, उर शूल, आलस्य, त्वचा मे वर्ण-भिन्नता, तन्द्रा, इन्द्रिय-दौर्वल्य, क्रोध होना, रोगी की कष्टसाध्यता और ग्रहणी-रोग, पाण्डुरोग, गुल्मरोग तथा उदररोग की आशका होना। ये सभी अर्शरोग के पूर्वरूप हैं।[1]

अर्श का सामान्य लक्षण

अर्श के उत्पन्न होने पर पूर्वरूप में कहे गये लक्षण जब व्यक्त हो जाते हैं, तो वे अर्श के रूप या लक्षण हो जाते हैं।[2] जब गुदा में अर्श उत्पन्न हो जाता है, तब अपानवायु अर्श के होने पर गुदा का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण बाहर नही निकल पाती है और ऊपर की ओर लौट जाती है।

वह पूरे शरीर में फैले हुए तथा सभी इन्द्रियो मे व्याप्त वात-पित्त-कफ के पन्द्रह भेदो को प्रकुपित और क्षुब्ध कर देती है। वह मूत्र, पुरीष, रस-रक्त आदि धातुओ और आमाशय आदि आशयो को भी क्षुब्ध कर देती है, जिससे पाचन-संस्थान की समस्त क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप आक्रान्त व्यक्ति की जठराग्नि मन्द हो जाती है।

पाचकाग्नि के मन्द होने से रोगी व्यक्ति के आहार का समुचित पाचन नही होता और वह आहार रोगी का पोषण नहीं कर पाता है, जिसके परिणामस्वरूप अर्श का रोगी अतिकृश हो जाता है।

रोगी उत्साहहीन, दीन, क्षीण, कान्तिहीन, त्वचा-रक्त-मास-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र और सत्त्व इन आठ सारो से हीन, छायाहीन, कृमिभक्षित (दीमक से चाट

---

१. (क) अ० हृ० नि० ७।१५–२०

(ख) विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
कार्श्यमुद्गारवाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये॥ च० चि० १४।२१–२२

२. एतान्येव विवर्धन्ते जातेषु हृतनामसु। अ० हृ० ७।२०

जाती है, जो कदाचित् पूर्णरूप से गुदा के आभ्यन्तरिक भाग मे और कभी बाह्य-आभ्यन्तर दोनो भागो मे होती है।[1]

नवीन चिकित्साशास्त्रियों ने कतिपय विशेष कारण बतलाये हैं—

१ आन्त्र का अधिकाश रक्त प्रतिहारिणी महासिरा के द्वारा यकृत् मे जाता है। उदर मे अर्बुद आदि के दबाव या यकृत् मे शोथ होने से इसमे अवरोध होने पर अर्श की उत्पत्ति होती है।[2]

२. मलावरोध का निरन्तर बना रहना अर्श का एक विशेष कारण है। यह शिकायत औरतो में विशेष पायी जाती है, क्योंकि वे लज्जाशील होने के कारण या व्यस्तता के कारण अथवा शौचालय की सुविधा न होने से मल-प्रवृत्ति के वेग को रोकती रहती हैं।[3]

३ अत्यधिक मद्यपान करने से परम्परया प्रतिहारिणी सिरा मे अवरोध होने से अर्श की उत्पत्ति होती है।[4]

४ एक स्थान पर अधिक समय तक बैठना या आलस्यवश कोई श्रम न करना भी अर्श का कारण होता है।[5]

५ शीतल आसन पर बैठना, मुलायम गद्दा, सगर्भता, श्रोणिगत अर्बुद आदि भी अर्श को उत्पन्न करने मे कारण हैं।[6]

६. पहले बतलाये गये कारणो से इन सिराओ पर दबाव क्यों पडता है, इसमें अधोलिखित ४ हेतु हैं—

१ इन सिराओ को आश्रय देने के लिए इनके चारो ओर कोई कठिन धातु नही होती।

२. इन सिराओ मे कपाट नही होते, जो रक्त को आगे जाने से रोके।

३ ये सिरायें उपश्लेष्मल त्वचा के शिथिल तन्तुओ मे रहती हैं, अत सर्वप्रथम दबाव इन्हीं पर पडता है।

---

1 Haemorrhoids or piles are varicose rectal veins This varicosity forms a swelling of variable size which may be altogether within the anus (internal piles) or partly internal and partly external
(Savill's Medicine)

2 Portal obstruction is itself a cause of piles

3 Habitual constipation is undoubtedly the most common cause of haemorrhoids particulary in women

4 Alchohol causes portal congestion and thus becomes a cause of piles

5 Sedentary occupation and dificient exercise.

6 Various local conditions such as sitting on a cold or soft cushions which constrict the inferior haemorrhoidal veins, utern displacement, pregnancy, carcinoma and other tumours of the rectum or pelvis may cause piles
(Savill's Medicine)

४. सिरायें गुदा की लम्बाई मे स्थित रहती हैं, जब कि आन्त्र के अन्य भागों मे सिराओ की दिशा अनुप्रस्थ रहती है। इस प्रकार गुदा की सिराओ मे रक्त के रुकने का प्रश्न ही नही है।

अर्श का पूर्वरूप

मन्दाग्नि, विष्टम्भ, रानो मे थकावट, पिण्डलियो मे ऐंठन, चक्कर आना, अग-शैथिल्य; नेत्रो पर शोथ, पुरीषभेद या पुरीषरोध, अधोवायु-नि सरण या अपानवायु का प्रतिलोम होना, अपानवायु का मलाशय मे घूमकर पीडा पैदा करना और गुदा में कैंची से काटने जैसी वेदना उत्पन्न कर आवाज के साथ निकलना, अन्त्र मे गुडगुडाहट, अन्त्रकूजन, कृशता, डकार अधिक आना, बहुमूत्र, पुरीषाल्पता, अरोचक, धुँआसी डकार, खट्टी डकार, शिर शूल, पृष्ठशूल, उर शूल, आलस्य, त्वचा मे वर्ण-भिन्नता, तन्द्रा, इन्द्रिय-दौर्बल्य, क्रोध होना, रोगो की कष्टसाध्यता और ग्रहणी-रोग, पाण्डुरोग, गुल्मरोग तथा उदररोग की आशका होना। ये सभी अर्शरोग के पूर्वरूप हैं।[1]

अर्श का सामान्य लक्षण

अर्श के उत्पन्न होने पर पूर्वरूप में कहे गये लक्षण जब व्यक्त हो जाते हैं, तो वे अर्श के रूप या लक्षण हो जाते हैं।[2] जब गुदा में अर्श उत्पन्न हो जाता है, तब अपानवायु अर्श के होने पर गुदा का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण बाहर नही निकल पाती है और ऊपर की ओर लौट जाती है।

वह पूरे शरीर में फैले हुए तथा सभी इन्द्रियो मे व्याप्त वात-पित्त-कफ के पन्द्रह भेदो को प्रकुपित और क्षुब्ध कर देती है। वह मूत्र, पुरीष, रस-रक्त आदि धातुओ और आमाशय आदि आशयो को भी क्षुब्ध कर देती है, जिससे पाचन-संस्थान की समस्त क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप आक्रान्त व्यक्ति की जठराग्नि मन्द हो जाती है।

पाचकाग्नि के मन्द होने से रोगी व्यक्ति के आहार का समुचित पाचन नही होता और वह आहार रोगी का पोषण नहीं कर पाता है, जिसके परिणामस्वरूप अर्श का रोगी अतिकृश हो जाता है।

रोगी उत्साहहीन, दीन, क्षीण, कान्तिहीन, त्वचा-रक्त-मास-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र और सत्त्व इन आठ सारो से हीन, छायाहीन, कृमिभक्षित (दीमक से चाट

---

१. (क) अ० हृ० नि० ७।१५–२०

(ख) विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
काश्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये॥ च० चि० १४।२१–२२

२. एतान्येव विवर्धन्ते जातेषु हतनामसु। अ० हृ० ७।२०

लिये गये) वृक्ष की तरह नि सार तथा मर्मो को पीडित करनेवाले उपद्रवो से ग्रस्त हो जाता है ।

रुग्ण व्यक्ति कास-प्यास-मुखवैरस्य-श्वास-पीनस तथा इन्द्रियो की शक्ति से हीनता, अगमर्द–वमन–छीक–शोथ–ज्वर–नपुसकता–बधिरता-तिमिररोग-शर्करा-अश्मरी-स्वर-क्षीणता-स्वरभग और चिन्ता से ग्रस्त होता है । उसे बार-बार थूक आता है, भोजन मे रुचि नहीं होती, उसके सभी पोरो मे, अस्थियो मे, हृदय मे, नाभि मे, (अन्त्र मे) गुद मे तथा वक्षण मे वेदना होती है ।

रोगी की गुदा से चावल के धोवन जैसी पिच्छा (लुआबदार आँव) आती है, पुरीष कभी बँधा, कभी ढीला, कभी सूखा, कभी गीला, कभी पका और कभी कच्चा आता है । पुरीष का वर्ण कभी श्वेत, कभी पीला, कभी हरा, कभी लाल और पिच्छिल (चिपचिपा) होता है ।[1]

आधुनिक चिकित्सा-वैज्ञानिको ने अर्श के निम्नाकित लक्षण बतलाये हैं—

१. मल के अन्दर रक्त की उपस्थिति ।

२ मलत्याग के समय पीडा, जो मलत्याग के बाद भी कुछ देर तक बनी रहती है ।

३. कोष्ठबद्धता या कब्जियत—यह अर्श का स्वाभाविक प्रतीक लक्षण है ।

४. गुदा के चारो ओर लालिमा होना ।

५ अन्य सार्वदैहिक लक्षण—जैसे शिरोवेदना, मूर्च्छा, शरीर का क्षीण होना तथा मल के साथ रक्त अधिक निकल जाने से अतिशय रक्ताल्पता होना आदि ।

निदानार्थंकर रोग—जिस प्रकार निदान रोग की उत्पत्ति करता है, उसी प्रकार एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करने के कारण निदानार्थंकर कहलाता है । वैसे ही अतिसार और ग्रहणीरोग अर्श को उत्पन्न करते हैं । इसलिए ये दोनो रोग अर्श के प्रति निदानार्थंकर हैं ।[2]

वातज अर्श का निदान

कसैले, कड़वे या तिक्त एवं रूक्ष, शीत, लघु गुणयुक्त पदार्थों का आहार, अत्यल्प या समय बीत जाने पर या अल्प मात्रा मे भोजन करना, तीक्ष्ण मद्य का सेवन, अति मैथुन, उपवास करना, शीतल प्रदेश में रहना, काल का शीतल होना, अधिक व्यायाम करना, शोक करना, वायु का सीधे स्पर्श होना और धूप लगना, ये वातज अर्श के कारण होते हैं ।

यद्यपि धूप में उष्णगुण होता है, फिर भी अपनी विलक्षण रूक्षता के कारण वायु की वृद्धि करने से वातार्श का कारण होता है ।[3]

---

१. अ० हृ० नि० ७।२१–२८ तथा च० चि० १४।८

२ अर्शोऽतिसारग्रहणीविकारा प्रायेण चान्योन्यनिदानभूता । अ० हृ० चि० ८।१६४

३. च० चि० १४।१२–१३

वातज अर्श का लक्षण

सार्वदैहिक लक्षण—शिर-पार्श्व-अंस-कटि-ऊरु और वक्षण मे अधिक पीडा, छीक-डकार-विष्टम्भ-हृदयरोग-अरुचि-कास-श्वास-विषमाग्नि-कर्णनाद और भ्रम होना, गुल्म-प्लीहोदर तथा अष्ठीला (Recto-vascicular tumour) होने की सभावना होना और त्वचा-नख-मुख-नेत्र-मूत्र एव मल मे कालापन।

मल—गाँठदार-अल्प-फेनिल-पिच्छिल एव बँधा हुआ होता है, जो पीडा के साथ जोर से प्रवाहण करने (कुथन या काँखने) पर निकल पाता है।[1]

पित्तज अर्श का निदान

कटु-अम्ल-लवण एवं उष्ण पदार्थों का सेवन, व्यायाम-अग्नि-धूप का सेवन, उष्ण देश-ऋतु, क्रोध-मद्यपान-ईर्ष्या, विदाही-तीक्ष्ण-उष्णगुण युक्त अन्न-पान और औषध का सेवन, ये पित्तज अर्श के कारण हैं।[2]

पित्तज अर्श के लक्षण

सार्वदैहिक लक्षण—दाह-पाक-ज्वर-स्वेद-तृष्णा-मूर्च्छा-अरुचि और मोह (इन्द्रिय-शक्तिशैथिल्य) ये लक्षण होते हैं। त्वचा-नख-मुख-मूत्र और पुरीष हरे, पीले या हरिद्रा वर्ण के होते हे।

मल—द्रव-उष्ण एव नील-पीत या रक्त वर्ण का आमयुक्त निकलता है।[3]

कफज अर्श का निदान

मधुर-स्निग्ध-शीतल-नमकीन-अम्ल और गुरु गुणयुक्त पदार्थों का सेवन, व्यायाम का त्याग, दिवाशयन, मुलायम आसन या विस्तर पर बैठना-सोना, पूर्वी वायु का सेवन, शीतल देश-काल और चिन्ता से रहित होना, ये सब कफज अर्श के कारण हैं।[4]

कफज अर्श का लक्षण

सार्वदैहिक लक्षण—वक्षण-प्रदेश मे जकडन, गुदा-मूत्राशय-नाभि मे पीडा, श्वास-कास-मिचली-लालाप्रसेक-अरुचि-पीनस-मूत्रकृच्छ्र, शिर मे भारीपन, शीतज्वर, नपुसकता, अग्निमान्द्य, वमन एव आमबहुल रोगो (अतीसार-ग्रहणी आदि) का होना, ये कफज अर्श के लक्षण हैं। इसमे त्वचा-नख-मुख-मूत्र और मल, ये पाण्डुवर्ण तथा स्निग्ध (चिकने) होते हैं।

मल—वसा (चर्वी) और कफ जैसा मल प्रवाहण करने पर निकलता है।[5]

त्रिदोषज अर्श का निदान और लक्षण

निदान—त्रिदोषज अर्श को उत्पन्न करने वाले वे ही कारण हैं, जो तीनो दोषो से होने वाले अर्श के अलग-अलग कहे गये हैं।

---

१ अ० हृ० नि० ७।३१–३४
२ च० चि० १४।१५–१६।
३ अ० हृ० नि० ७।३६–३७।
४ च० चि० १४।१८-१९।
५ अ० हृ० नि० ७।३९-४२।

लक्षण—इसमे त्रिदोषज अर्शों के लक्षण होते हैं ।[1]

द्वन्द्वज अर्श के निदान और लक्षण

निदान—इसमे जो दो दोष मिले होते हैं, उनके उत्पादक कारण ही इसके भी निदान होते हैं ।

लक्षण—जिन दो दोषो की अधिकता से यह होता है, उसमे उन्ही दोनो दोषो के अनुसार पूर्वोक्त लक्षण होते है ।[2]

सहज अर्श का निदान

कुछ व्यक्तियो मे जन्म से ही अर्श की प्रवृत्ति पायी जाती है । इसका कारण गुदवलि का निर्माण करने वाले गर्भोत्पादक बीज के एकदेश की विकृति है । उत्तर गुद और अधर गुद की उत्पत्ति मातृबीज से होती है, अत मातृबीज के गुदनिर्मापक अश की विकृति ही सहज अर्श का निदान है ।[3]

सहज अर्श के लक्षण

सहज अर्श का रोगी कृशकाय होता है । वह अल्पाहारी, उभरी हुई सिराओ वाला, अल्प सन्तान वाला, क्षीणवीर्य, क्षीणस्वर, क्रोधी, मन्दाग्नि वाला, अल्प प्राण (निर्बल) और परम आलसी होता है । वह नासिका-शिर-नेत्र और कान के रोगो से पीडित रहता है । उसकी आँतो मे अव्यक्त शब्द और गुडगुडाहट होती है । वह हृदयरोग तथा अरुचि से ग्रस्त रहता है ।[4]

रक्तार्श का निदान और लक्षण

निदान—पित्तार्श में बतलाये गये निदान ही इसके उत्पादक कारण होते हैं । अत इसका निदान अलग वर्णित नही है ।

मस्से—रक्तार्श के मस्से पित्तार्श के मस्सो की आकृति के समान होते हैं । ये मस्से वट की जटा के प्ररोहो जैसे लाल अथवा गुञ्जा (रत्ती फल) जैसे या मूँगा जैसे लाल होते हैं । जब उन मस्सो पर कठोर पुरीष का दबाव पडता है तब उनसे दूषित उष्ण रक्त निकलता है ।

दैहिक लक्षण—रक्त के अधिक निकल जाने से रोगी का वर्ण मेढक जैसा पीला हो जाता है । वह रक्तक्षयजनित कष्टो से पीडित हो जाता है । आँखे फीकी पड जाती हैं । कभी-कभी सर्वाङ्गशोथ हो जाता है । श्वासकष्ट होता है, हृदय की गति तीव्र होती है, मूर्च्छा होने का भय रहता है, तन्द्रा, भ्रम, बेचैनी, चिडचिडापन, निद्रानाश, मानसिक अवसाद, निर्बलता, उत्साहहीनता और ओज क्षय हो जाता है एव रोगी की सभी इन्द्रियाँ व्याकुल हो जाती हैं ।

---

१ माधवनिदान । २ अ० हृ० नि० ७।४२ ।

३ तत्र हेतु सहोत्थानां वलिबीजोपतप्तता । अ० हृ० नि० ७।६; च० चि० १४।५ एवं च० शा० ३।६ ।

४ सु० नि० २।१६ ।

वक्तव्य—पित्तार्श मे पुरीष पतला हो जाता है और रक्तार्श मे पुरीष गाढा होता है। यही दोनो का भेदक लक्षण है।[1]

अर्श एक सर्वशरीर कष्टकर त्रिदोषज रोग[2]

अर्श के उत्पत्तिकाल मे पञ्चात्मा वायु (१ प्राण २ उदान ३. समान ४. व्यान ५. अपान), पञ्चात्मा पित्त (१. पाचक २. रजक ३ भ्राजक ४ आलोचक ५. साधक) तथा पञ्चात्मा कफ (१ क्लेदक २ अवलम्बक ३. बोधक ४ तर्पक ५ श्लेषक) ये सभी तथा गुदा की तीनो वलियाँ (१ प्रवाहणी २. विसर्जनी ३ सवरणी) प्रकुपित हो जाती हैं, इसलिये अर्श के मस्से परम दु खदायी, अनेक रोगों के जनक तथा सपूर्ण शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले और अतीव कष्टसाध्य होते हैं।

सम्प्राप्ति

अपने प्रकोपक कारणो से प्रकुपित हुए वात आदि दोष त्वचा, मास, मेद और रक्त को दूषित कर शरीर की प्रधान धमनियो का आश्रय लेकर उनके द्वारा नीचे जाकर गुदा मे आकर गुदा की वलियो को दूषित कर उनमे मास के अकुर उत्पन्न कर देते हैं। उन मासाकुरो को अर्श कहते हैं।

मन्दाग्नि वाले व्यक्ति मे यह रोग विशेष रूप से उत्पन्न होता है। ये मासाकुर (मस्से) तृण, काष्ठ, पत्थर, ढेला, वस्त्र इत्यादि की रगड से अथवा शीतल जल के अधिक स्पर्श से बढ जाते हैं।[3]

सम्प्राप्ति-चक्र

त्रिदोष-प्रकोपक आहार-विहार
|
त्रिदोष-प्रकोप
|
त्वचा-रक्त-मास-मेद दूषण
|
दोषो का गुदा मे स्थानसश्रय
|
गुदवलि मे मासाकुर की उत्पत्ति
|
अर्श रोग

बवासीर, हीमोराइड्स या पाइल्स (Haemorroids or piles)

---

१. अ० हृ० नि० ७।४३–४५

२. पञ्चात्मा मारुत पित्त कफो गुदवलित्रयम्। सर्वं एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥
तस्मादर्शांसि दु खानि बहुव्याधिकराणि च। सर्वदेहोपतापीनि प्राय कृच्छ्रतमानि च ॥
च० चि० १४।२४–२५

३ (क) दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगु ॥ अ० हृ० नि० ७।२
(ख) सुश्रुत निदानस्थान २।४

दोष-दूष्य-अधिष्ठान आदि—

१ दोष—वातप्रधान त्रिदोष ।
२ दूष्य—त्वचा, रक्त, मास, मेद ।
३. अधिष्ठान—गुदवलि-त्रय ।
४ स्रोतस—रक्तवह, मासवह ।
५. स्रोतोदुष्टि लक्षण—सग, विबन्ध ।
६ आशय—आमपक्वाशयोत्थ रोग ।
७. रोग प्रकार—चिरकारी रोग ।

अर्श का दारुण उपद्रव—उदावर्त

रूक्ष एव सग्राही पदार्थों के सेवन से मलाशय में प्रकुपित प्रबल अपान वायु अधोवाही स्रोतस् (गुद) मे अवरोध उत्पन्न कर पुरीष को सुखा देता है और मूत्र तथा पुरीष की प्रवृत्ति मे भीषण रुकावट पैदा कर देता है। जिससे उदर, हृदय, पार्श्व एव पीठ मे तीव्र वेदना, आध्मान, उदर मे ऐंठन, मिचली और गुदा मे कैंची से काटने जैसी पीडा होती है। वस्ति मे अधिक शूल होता है, कपोल पर शोथ होता है और डकार आने लगती है। तत्पश्चात् छर्दि, अरुचि, ज्वर, हृद्रोग, ग्रहणी विकार आदि तथा नाना प्रकार के वातज आक्षेप-प्रभृति रोग भीषण रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। यह 'उदावर्त' रोग अर्शरोग का बडा दारुण उपद्रव है।[१]

साध्यासाध्यता

सुखसाध्य अर्श—जो अर्श बाहर की (सवरणी) वलि मे आश्रित होते हैं, किसी एक दोष की प्रधानता से उत्पन्न हुए होते हैं और एक वर्ष से अधिक पुराने नही होते, वे सुखसाध्य होते हैं।[२]

कृच्छ्रसाध्य अर्श—जो अर्श दो दोषो की प्रधानता से होते हैं, दूसरी (विसर्जनी) वलि मे आश्रित होते हैं और एक वर्ष से अधिक पुराने होते हैं, वे अर्श कृच्छ्रसाध्य होते हैं।[3]

असाध्य अर्श—जो अर्श सहज होते हैं, तीनो दोषो से उत्पन्न होते हैं और भीतर की (प्रवाहणी) वलि मे उत्पन्न हुए होते हैं, वे अर्श असाध्य होते हैं।[४]

---

१ अ० हृ० नि० ७।४६–५२

२. बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ अ० हृ० नि० ७।५५

३ द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहु परिसवत्सराणि च ॥ अ० हृ० नि० ७।५४

४ सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरे वलौ ।
स्थितानि तान्यसाध्यानि ॥ अ० हृ० नि० ७।५३ तथा च० चि० १४।२८

उपद्रवजनित असाध्यता—(१) जिस रोगी के हाथ-पैर-मुख-नाभि-गुदा और अण्डकोषों में शोथ हो और हृदय तथा पार्श्व में शूल हो, उसे असाध्य मानें। (२) हृदय एवं पार्श्व में शूल, इन्द्रियशक्ति-क्षीणता, वमन, अंगों में पीड़ा, ज्वर, तृष्णा तथा गुदा का पक जाना, ये मारक लक्षण हैं। (३) जिस अर्श के रोगी को तृष्णा की अधिकता, भोजन में अरुचि तथा शूल से व्याकुलता हो, जिसकी गुदा से अधिक रक्तस्राव हुआ हो और जो शोथ तथा अतिसार से पीड़ित हो, ऐसे रोगी का अर्श रोगी के लिए मारक होता है।[1]

याप्य अर्श—(१) असाध्य लक्षणों से युक्त होने पर भी यदि रोगी का मनोबल उत्तम हो, जठराग्नि प्रदीप्त हो और शारीरिक बल आदि उत्तम हो, तो अर्श रोग याप्य होता है।[2]

(२) यदि रोगी की आयु अवशिष्ट है और चिकित्सा के चतुष्पाद (१. वैद्य २. औषधद्रव्य ३. परिचारक तथा ४. रोगी) अपने अपने गुणों से सम्पन्न हों तथा रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो, तो ऐसी स्थिति में असाध्य अर्श भी याप्य हो जाता है।[3]

सापेक्ष निदान

रक्तार्श	रक्तातिसार
१. अर्श का इतिहास मिलेगा।	१. अर्श का इतिहास नहीं मिलेगा।
२. अंगुलि एवं गुदवीक्षण से मस्से उपस्थित मिलेंगे।	२. मस्से उपस्थित नहीं रहेंगे।
३. मलत्याग के पूर्व या पश्चात् रक्तप्रवृत्ति होती है।	३. मल में मिश्रित हुआ रक्त आता है।
४. मलत्याग के समय गुदा में पीड़ा होती है।	४. मलत्याग के समय गुदा में प्रायः पीड़ा नहीं होती है।
५. मल बँधा हुआ एवं प्रायः कड़ा होता है।	५. मल पतला निकलता है।

रक्तार्श	रक्तपित्त
१. रोग का पुराना इतिहास मिलेगा।	१. पुराना इतिहास नहीं मिलेगा।
२. रक्तप्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है।	२. गुदा, मुख, नासिका आदि से भी रक्त निकल सकता है।

१. हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः॥
हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम्॥ च० चि० १४/२६-२७

२. . . . याप्यः शेषोऽग्निबलादिति ॥ अ० हृ० नि० ७/५६

३. शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा॥ च० चि० १४/२८

३. अंगुलि व गुदपरीक्षा से मस्से मिलेंगे।	३. मस्से नही मिलेंगे।
४. रक्तप्रवृत्ति मलत्याग के पूर्व या पश्चात् होगी।	४. मलत्याग के विना भी रक्तप्रवृत्ति हो सकती है।
५ मलत्याग मे अत्यधिक पीडा होती है।	५ इसमें पीडा नही होती।
६ रोगी को प्राय विवन्ध रहता है।	६ इसमे विवन्ध का सम्बन्ध नही है।
७ रक्तमिश्रित अन्न को कुत्ता या कौआ खा सकता है, रक्त शुद्ध होता है।	७. रक्तमिश्रित अन्न को कौआ या कुत्ता नही खाता है, रक्त दूषित होता है।
८ इसके रक्त से रगा हुआ वस्त्र धोने पर स्वच्छ हो जायेगा।	८ इसके रक्त का दाग नही धुलेगा।
९ रक्त की मात्रा कम निकलती है।	९ रक्त की मात्रा अधिक निकलती है।

दोषनिरपेक्ष अर्श के लक्षणों के दो प्रकार

१. स्थानिक—इसमे मलावरोध, विष्टम्भ, आटोप, मन्दाग्नि, उद्गारवाहुल्य, गुदपरिकर्तन, रक्तस्राव और वेदना आदि लक्षण होते हैं।

२ सार्वदैहिक—रक्तस्रावजन्य रक्ताल्पता, पाण्डुरोग का प्रादुर्भाव, आँतो मे मल का सडना, मलप्रभावज तन्द्रा, कास, श्वास, हृदयद्रव और दुर्वलता आदि लक्षण होते हैं।

अर्शरोग की चिकित्सा

अर्श की चिकित्सा के चार प्रकार हैं—१. औषध से, २. शस्त्र से काटना, ३. क्षार से जलाना और ४. अग्नि से जलाना। इनमे तीन कर्म शस्त्र, क्षार एव अग्नि का प्रयोग शल्य-चिकित्सक का क्षेत्र है। आचार्य चरक (जो आयुर्वेदीय कायचिकित्सा के सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता हैं) उक्त तीनो कर्मों को उत्तम नही मानते। क्योकि उनसे अनेक प्रकार के उपद्रव होने का भयङ्कर अवसर होता है और अर्शों के पुन उत्पन्न होने की सभावना वनी रहती है।

शस्त्रकर्म-क्षारकर्म, या अग्निकर्म से भ्रश होने से पुस्त्वशक्ति का नाश, गुदा मे शोथ, पुरीष के वेग की रुकावट, आध्मान, दारुण शूल, अगो में व्यथा, रक्त का अतिस्राव होना, मासाकुर का पुन निकलना, अर्श के छेदन मे हुए व्रण के भर जाने पर गुदा मे क्लेद, गुदभ्रश अथवा शस्त्र-क्षार-अग्नि के विभ्रम से मृत्यु भी सभावित है। अतः चरकाचार्य ने अर्श के समूल नाश के लिए सुखपूर्वक किये जाने योग्य अदारुण औषध-चिकित्सा का उपदेश किया है।[1]

चिकित्सासूत्र

सभी अर्शों मे— १ अर्शजनक कारण (आहार-विहार) का परित्याग।

---

१ च० चि० १४।३३–३७

२. पुरीष, वायु, पित्त और कफ का अनुलोमन अर्थात् स्वमार्ग-गमन का प्रयत्न करना।
३. वायु का अनुलोमन करना।
४ विबन्ध को दूर करना।
५. जठराग्नि को प्रदीप्त करना।
६ उक्त कार्यों मे सहायक औषध, अन्नपान और आहार-विहार का सेवन करना।[1]
७. शीघ्रता और सावधानी पूर्वक चिकित्सा[2]।
८ दोषानुसार औषध-सिद्ध दूध का प्रयोग।

वातज अर्श में—	१. स्नेहन-स्वेदन।
	२. वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन वस्ति का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना।
पित्तज अर्श मे—	१. विरेचन देना।
कफज अर्श मे—	१. वमन कराना।
	२ आर्द्रक और कुल्थी का विविध प्रयोग।
रक्तज अर्श में—	१ शमन चिकित्सा करना।
द्वन्द्वज अर्श मे—	१ दोषानुसार मिश्रित चिकित्सा करना।
त्रिदोषज अर्श मे—	१ त्रिदोषशामक चिकित्सा करना।
	२. त्रिदोषहर औषधसिद्ध अजाक्षीर का प्रयोग।[3]
उदावर्त[4] होने पर—	१ अनुवासनवस्ति का प्रयोग, अथवा—
	२. निरूहवस्ति का प्रयोग।
रक्तस्राव में—	१ रक्तपित्त के समान उपचार व औषध आदि।

१ (क) यद् वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये।
अन्नपानौषधद्रव्यं तत् सेव्यं नित्यमर्शसै.॥
(ख) यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यच्च दर्शितम्।
गुदजाभिपरीतेन तद् सेव्यं न कदाचन॥ चरक चि० १४।२४७–४८
(ग) भित्वा विबन्धानानुलोमनाय यन्मारुतस्याऽग्निबलाय यच्च।
तदन्नपानौषधमर्शसेन सेव्य विवर्ज्यं विपरीतमस्माद्॥
(घ) सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम्।
अ० हृ० चि० ८।१६३–६४

२ सर्वेषां प्रशमे यत्नमाशु कुर्याद् विचक्षण·।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम्॥ च० चि० १४।३२

३ सुश्रुत० चि० ६।१६

४ उदावर्तपरीताये ये चात्यर्थं विरूक्षिता।
विलोमवाता शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम्॥
निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं पाञ्चमूलिकम्।
समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभि॥ अ० हृ० चि० ८।८९ तथा ९३

मलावरोध मे—	१ विबन्धनाशक चिकित्सा।
वात-कफ की प्रधानता वाले अर्श मे—	१ तक्र का प्रयोग या तक्रकल्प करना।

चिकित्साकर्म की सुगमता के लिए अर्श को दो प्रकार का माना गया है—१ शुष्कार्श और २ आर्द्रार्श (रक्तार्श)

शुष्कार्श में—	१ अभ्यङ्ग, स्वेदन, धूपन, अवगाहन, प्रलेप। २. रक्तस्रावण, दीपन और पाचन प्रयोग। ३. अपानवायु और पुरीष का अनुलोमन। ४ औषधसिद्ध घृत का प्रयोग, तक्र-प्रयोग, उत्तम अरिष्ट तथा सिद्ध औषध प्रयोग।
रक्तार्श मे—	१ रक्तस्राव का अवरोध करना, एतदर्थं क्वाथ-कल्क-स्नेह का प्रयोग। २. प्रतिसारण, अवगाहन, प्रदेह, परिषेचन एव रक्तरोधक औषध तथा आहार।

शुष्कार्श-चिकित्सा

बाह्य उपचार

(१) अभ्यङ्ग—जब अर्श मे स्तब्धता, शोथ और शूल हो, तो चित्रक-जवाखार और बेल की छाल के कल्क से सिद्ध तेल की मालिश करे और इस तेल का अवसेचन करे—रूई चुभोकर मस्से पर रखे। इसी प्रकार सर्प की, बिलार की, ऊँट की या सूअर की चर्बी का अभ्यग और अवसेचन करना चाहिए।

(२) स्वेदन : पिण्डस्वेद—१ जौ के सत्तू मे पिण्डी बनने लायक मात्रा मे तेल-घी मिलाकर पोटली बनाकर उससे स्वेदन करे या २ घोडवच और सौंफ को पीसकर तेल मिलाकर, पोटली बनाकर स्वेदन करे अथवा ३. तिल का कल्क और धान की भूसी मिलाकर बनाये गये पिण्ड से स्वेदन करे अथवा ४. कूठ के कल्क एव क्वाथ से सिद्ध तैल का अभ्यग कर, ईंट गरम कर के या अजवायन की पोटली से या गाजर पीसकर बनायी गयी पोटली से स्वेदन करे। ५. गोबर के पिण्ड से या गदहे या घोडे की लीद के पिण्ड से स्वेदन करे।

(३) अवसेचन—अरुस, मदार, एरण्ड और बेल की पत्तियो का क्वाथ बनाकर, कुछ-कुछ गरम रहने पर उससे मस्सो को धोना चाहिए या उसका आबदस्त लेना चाहिए।

(४) अवगाहन—यदि रोगी को शूल होता हो, तो तैल की मालिश करके, उसे बेर की पत्ती या बेल की पत्ती के सुखोष्ण क्वाथ को या मट्ठे को या गोमूत्र को टब मे भर कर उसमे बैठावे, जिसमें रोगी का गुदद्वार डूबा रहे।

(५) धूपन—रोगी के गुद-प्रदेश मे सूअर की चर्बी या सांप की चर्बी की मालिश कर अर्श पर धूपन करना चाहिए। धूपनार्थ देवदाली (बन्दाल) का प्रयोग उत्तम है।

धूपन द्रव्य—अर्क मूल की छाल, शमी के पत्ते, मनुष्य के केश, सर्प की केंचुली और विलार का चाम, इन सबको कूटकर घी मिला ले।

प्रयोग—रोगी को एक ऐसी कुर्सी या स्टूल पर बैठावे जिसके बीच मे गुदद्वार से कुछ बडा छिद्र हो। स्टूल छोटे पाये का हो और चारो ओर से ढंका हो, एक ओर कुछ खुला हो। स्टूल के नीचे एक कडाही या परई मे जलते हुए अगारे पर थोडा-थोडा धूपन द्रव्य डालते रहे। इस बात की सावधानी वर्तनी चाहिए, कि धुंआ मस्से पर लगे। हाथी की लीद, घी और राल को मिलाकर धूपन करना उत्तम है।

(६) लेप—१ हल्दी के चूर्ण को सेंहुड के दूध मे मिलाकर मस्से पर लेप करे या २ पीपर, चित्रकमूल, कालीनिशोथ, तूतिया, कबूतर की विष्ठा, हल्दी का चूर्ण और गुड, इन सबको पीसकर मस्से पर लेप करे या ३. शिरीष बीज, कूठ, पीपर, सेंधानमक, गुड, मदार का दूध, सेंहुड का दूध और हर्रा-बहेडा-आंवला का चूर्ण एक में पीसकर मस्से पर लेप करे।

(७) उपनाह (पुल्टिस)—१ भांग, कुकुरौंधा की पत्ती और महुआ के फूल को पानी मे पीसकर टिकिया बनाकर गरम कर मस्से पर बांधना चाहिए या २ काले तिल को पीसकर पोटली बनाकर हल्का गरम कर सेंक कर मस्से पर बांधे अथवा ३. एरण्डमूल, देवदारु बुरादा, रास्ना और मुलहठी सब समभाग और गेहूँ की दलिया सबके बराबर मिला दूध मे पकाकर गाढा कर ले, फिर पोटली बनाकर सुखोष्ण सेंक कर पुल्टिस बांधे।

(८) वर्तिधारण—देवदाली (बन्दाल) के जाल और मूल को पीसकर उसमे समभाग जवाखार, गुञ्जाबीज, सूरण और नया पेठा (कूष्माण्ड) का बीजचूर्ण मिलाकर वत्ती बनाकर, गुदा मे घी या तेल लगाकर भीतर प्रवेश करावे।

(९) पिचुधारण—कासीसादि तैल अथवा पिप्पल्यादि तैल को रूई मे डाल फ़ाहा बनाकर गुदा मे धारण करावे।

वक्तव्य—उक्त बाह्य उपचार जो अभ्यग से लेकर पिचुधारण-पर्यन्त कहे गये हैं, वे अर्श मे होनेवाली स्तब्धता, शोथ, खुजली और वेदना को शान्त करते हैं। इनके प्रयोग से अर्श मे रक्त निकल जाता है, जिससे अर्श रोग ठीक हो जाता है, किन्तु यदि रक्त दुष्ट हुआ रहता है, तब उक्त उपचारो से रोगशमन नही होता। ऐसी स्थिति मे शुष्कार्श से रक्त निकाल देना चाहिए।

(१०) रक्तमोक्षण—रक्तमोक्षण-कर्म जलौकाओ द्वारा तथा शस्त्रो द्वारा वेधन आदि करके एव सूई प्रविष्ट करके करना चाहिए। रक्तमोक्षण बार-बार करना चाहिए। यह कार्य शल्यविद् चिकित्सक द्वारा कराना चाहिए और उनके प्रयोग के साथ निर्धारित पूर्वकर्म, प्रधानकर्म तथा पश्चात् कर्म का पालन करना चाहिए।

शुष्काशं में आभ्यन्तर प्रयोग

१ **कोष्ठशुद्धि के लिए**—प्रात काल नारायण चूर्ण अथवा त्रिफला चूर्ण या गुलकन्द ८–१० ग्राम की मात्रा में सुखोष्ण जल से सेवन करे।

२. एरण्डतैल अथवा अलसी तैल २५–५० ग्राम सुखोष्ण दूध के साथ रात मे पीने से अन्त्र मे स्निग्धता होने से मलावरोध दूर हो जाता है।

३ रात्रि में सोते समय निशोथ का चूर्ण ६–८ ग्राम समभाग में त्रिफला चूर्ण के साथ सुखोष्ण जल से ले।

४. भोजन के पूर्व भुनी हुई छोटी हर्रे का चूर्ण ६ ग्राम, १० ग्राम गुड के साथ लेना चाहिए।

५. **पाचनार्थ**—त्र्यूषणादि चूर्ण (च० चि० १४) की ४ ग्राम की मात्रा गरम जल से प्रात -साय लेवे।

६ **विजय चूर्ण**—६ ग्राम की मात्रा मे प्रातः-सायं गरम जल से या एरण्डतैल से लेना चाहिए।

७. **लवणभास्कर चूर्ण**—४ ग्राम की मात्रा मे मट्ठे के साथ प्रात -साय लेते रहना चाहिए।

८ काला तिल ५० ग्राम और ५० ग्राम मक्खन या दही की साढी को चबाकर २१ दिन तक खाने से मस्से नष्ट हो जाते हैं।

९. चित्रकमूल, हाऊबेर और घी मे भुनी हींग के समभाग चूर्ण को १–२ ग्राम की मात्रा में प्रात -साय लेवे।

१० **पंचकोल**—(चाभ-चीता-सोठ-पीपर-पिपरामूल समभाग) चूर्ण ३–४ ग्राम प्रतिदिन प्रात-सायं मट्ठे से सेवन करे।

११ भोजन के प्रथम ग्रास के साथ हिंग्वष्टक या हिंग्वादि चूर्ण ३ ग्राम घी मिलाकर सेवन करे।

१२ काला तिल २५ ग्राम और १ नग भिलावा को कूटकर समभाग मे गुड मिलाकर खिलाना चाहिए। स्मरण रहे कि इस योग को खाते समय पहले और बाद मे ६–६ ग्राम घी चाट लेना चाहिए।

१३ सोंठ और चित्रकमूल का चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा मे प्रातः-साय सुखोष्ण जल से लेना चाहिए।

१४ सूरण को पुटपाक (ऊपर २ अगुल मोटी मिट्टी का लेप कर अग्नि मे पकाकार) विधि से भर्ता बनाकर नीबू, तेल और सेंधानमक मिलाकर खाना चाहिए। यह हितकर है।

१५. *बैंगन का भर्ता बनाकर तेल-नमक डालकर खाना चाहिए।*

१६. **तक्रप्रयोग**[१]—चित्रक के मूल की छाल को पीसकर मिट्टी के बडे पात्र

---

१ (क) त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत्।
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत्॥

(कडाही, नदिया या तौला) के भीतरी भाग मे लेप करे और उसमे दूध डालकर दही जमावे। उस दही को मथकर मट्ठा बनाकर पीने से अर्श नष्ट हो जाता है।

१७ जिस रोगी की जठराग्नि अत्यन्त मन्द हो, उसे केवल तक्र का ही सेवन करावे। रोगी एव रोग तथा शीत-उष्ण काल का विचारकर १ सप्ताह, १० दिन, १५ दिन या १ माह तक तक्र पिलावे अथवा दिन मे तक्र दे और रात मे धान के लावा के सत्तू को तक्र मे लेई की तरह बनाकर सेंधा या कालानमक मिलाकर खिलावे।

१८ त्रिविध तक्र—(१) रूक्ष—जिसमे से मक्खन निकाल लिया गया हो। (२) अर्धोद्धृत स्नेह—जिसमे से आधा मक्खन निकाला गया हो। (३) सस्नेह—जिसमें से मक्खन न निकाला गया हो। इनका प्रयोग वातादि दोष और रोगी की अग्नि तथा बल का विचार कर करना चाहिए।

१९ तक्र-सेवन से विलक्षण फल—तक्र के लगातार सेवन के फलस्वरूप नष्ट हो गये अर्श के अकुर पुन नही उत्पन्न होते।

२०. आचार्य चरक ने तक्र और चित्रक को श्रेष्ठतम अर्शनाशक माना है—(१) वे कहते हैं, कि 'निरन्तर तक्र का सेवन ग्रहणीविकार, सर्वाङ्गशोथ, अर्श तथा घृतव्यापत्ति (अजीर्ण आदि) का प्रशमन करनेवाले उपचारों में श्रेष्ठ है।' (२) 'जो द्रव्य दीपन, पाचन एव गुदशोथ, अर्श और शूल को शान्त करनेवाले हैं, उनमें चित्रकमूल श्रेष्ठ है।'[1]

२१ तक्रारिष्ट (च० चि० १४।७२–७५)—यह अग्नि को प्रदीप्त करता है, भोजन मे रुचि उत्पन्न करता है, शरीर का वर्ण निखारता है एव कफ तथा वात का अनुलोमन करता है। गुदशोथ, खुजली और पीड़ा को शान्त करता है और बल को बढाता है।

प्रयोग—इसे जब भी सेवन किया जाय, तब शरीर-बल, अग्नि और दोष के अनुसार उचित मात्रा मे पीना चाहिए या अकेले ही प्रात -मध्याह्न-सायं पीना चाहिए।

(ख) अत्यर्थमृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत् ।
सायं वा लाजसक्तूनां दद्यात् तक्रावलेहिकाम् ॥
(ग) रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम् ।
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत् प्रयोजयेत् ॥
(घ) हतानि न प्ररोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु ।
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्तते ।
नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे ॥
च० चि० १४।७६–७७, ७९, ८४–८५, ८८

१ (क) तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानाम् ।
(ख) चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोफार्शःशूलहराणाम् । च० सू० २५।४०
(ग) न तक्रसेवी व्यथते कदाचित् न तक्रदग्धा प्रभवन्ति रोगाः ।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ॥ भावप्रकाश
(घ) वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम् । च० चि० १४।७७

२२ भल्लातक—वाग्भटाचार्य ने अर्श के शमनार्थ (शुष्कार्श में) भिलावे को श्रेष्ठतम[1] द्रव्य कहा है। इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। १–१ अदद भिलावा सवेरे-शाम खिलावे। भिलावे को सरौते से ४–६ टुकड़ा काट कर पान के बीड़े मे रखकर चूसे। इसके पहले मुख के भीतर ६ ग्राम घी लगा ले और चूसने के बाद भी मुख मे घी लगा ले। चूसते समय मुख को बन्द रखे। एक सप्ताह तक १–१ और बाद मे २–२-भिलावे लेते रहे, जब तक कि लाभ न हो जावे। भिलावे को सरौते से काटते समय हाथो मे घी लगा ले। एक-डेढ महीने तक भिलावा खिलाना चाहिए।

२३. पेया, यूष, यवागू और पेय जल—पीपर, पिपरामूल, चित्रकमूल, गजपीपर, सोठ, जीरा, धनियाँ, तुम्बुरु, बेल की गुद्दी, काकडासिंगी और पाठा, इनके कल्क से सिद्ध पेया, यूष और जल का प्रयोग करे।

२४. अनुलोमन योग (१)—अजवायन, सोठ, पाठा, खट्टे अनार का रस, गुड, मट्ठा और सेंधानमक एक में मिलाकर पिलाने से वायु एव मल की प्रवृत्ति होती है। (२) वायु एव मल के विबन्ध को दूर करने के लिए—पिप्पल्यादि घृत, चव्यादि घृत या नागरादि घृत (सभी च० चि० १४) का २०–२५ ग्राम की मात्रा आहार में या पेय पदार्थ मे प्रयोग करना चाहिए।

२५. अनुपान—रोगी की प्रकृति के अनुसार मदिरा, गन्ने के रस से बनाया सीधु, मट्ठा, तुषोदक, दही का पानी, गरम या शीतल जल या धनियाँ व सोठ डालकर पकाया गया जल देना चाहिए।

२६ भोजनोत्तर पीने के लिए—अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, द्राक्षासव या फलारिष्ट २०-२५ मि० ली० समान जल के साथ देना चाहिए।

२७ प्रक्षालन—भाग की पत्तियो को जल मे पकाकर आधा जल बचने पर छान ले और इस सुखोष्ण जल से मस्से और गुद को प्रक्षालित करना चाहिए।

सिद्ध योग

१. व्योषादिचूर्ण[2]	३–६	ग्राम या
लवणोत्तमादि चूर्ण[3]	३–६	ग्राम या
विजय चूर्ण[4]	३–६	ग्राम सुखोष्ण जल से दिन मे ३ बार दे।

---

१ भल्लातकोऽर्शःसु (गरेषु हेम)। अ० हृ० उ० ४०।४९
भल्लातक प्रयोग—देखें च० चि० १ (पाद २ में)
शुष्केषु भल्लातकमग्र्यमुक्तं भैषज्यमार्द्रेषु तु वत्सकत्वक्।
सर्वेषु सर्वर्तुषु कालशेयमर्शःसु बल्यं च मलापहं च ॥ अ० हृ० चि० ८।१६२

२ व्योषाग्न्यरुष्करविडङ्गतिलाभयानां चूर्णं गुडेन सहितं तु सदोपयोज्यम्।
दुर्नामकुष्ठगरशोथशकृद्विबन्धानग्नेर्जयत्यबलतां क्रिमिपाण्डुतां च ॥ भै० र०

३ लवणोत्तमवह्निकलिङ्गयवान् चिरबिल्वमहापिचुमर्दयुतान्।
पिब सप्तदिनं मथितालुलितान् यदि मर्दितुमिच्छसि पायुरुहान् ॥ भै० र०

४ हन्यात्तथाशोथमर्शांसि च भगन्दरम्। भै० र०

औषधि	मात्रा	अनुपान	समय	
२. वृहद् सूरणमोदक[1]	१०–१५ ग्राम	सुखोष्ण जल से	दिन मे ३ वार	या
वाहुशाल गुड[2]	६–१२ ग्राम	सुखोष्ण जल से	दिन मे ३ वार	या
काकायन मोदक[3]	६–१२ ग्राम	सुखोष्ण जल से	दिन मे ३ वार	दें।
३ प्राणदा गुटिका[4]	५ ग्राम	सुखोष्ण जल से	प्रात -साय	या
काकायन वटी[5]	½–१ ग्राम	"	"	या
अर्शोघ्नी वटी (आयु० सा० स)	३०० मि० ग्रा०	"	"	दें।
४. चव्यादि घृत[6]	१०–२० ग्राम	दूध मे	"	या
नागरादि घृत[7]	१०–२० "	"	"	या
पिप्पल्यादि घृत[8]	१०–२० "	"	"	दें।
५. अर्श कुठार रस[9]	३०० मि० ग्रा०	गरम जल से	"	या
अगस्तिमोदक[10]	५ ग्राम	"	"	या
भल्लातकादि मोदक	२–३ ग्राम	दूध से	"	देवे।

नोट—आवश्यकतानुसार एक या अनेक योगो का प्रयोग करें।

व्यवस्थापत्र

१ दिन मे ३ वार

वाहुशाल गुड $\frac{\text{१० ग्राम}}{\text{१ मात्रा}}$

सुखोष्ण जल से।

२ भोजन के तुरन्त पूर्व

काकायन वटी १–२ गोली जल से।

या

भोजन के प्रथम ग्रास मे

हिग्वष्टक चूर्ण $\frac{\text{३ ग्राम}}{\text{१ मात्रा}}$

घी मिलाकर।

---

१ प्रभवति शस्त्रक्षाराग्निभिर्विनाप्यर्शसामेष.। भै० र०
२ दुर्नामारियक्षाशु दृष्टो वारसहस्रश । भै० र०
३ मिषग्जितमिति प्रोक्त श्रेष्ठमर्शोविकारिणाम् । भै० र०
४ हन्यादर्शांसि सर्वाणि सहजान्यस्त्रजान्यपि । भै० र०
५ अर्शोहृद्रोगशमनी । भै० र०
६ शकृद्वातानुलोम्यार्थम् । च० चि० १४
७ अर्शांसि ग्रहणीदोषं । च० चि० १४
८ ग्रहण्यर्शोविकारघ्नम् । च० चि० १४
९ सर्वरोगकुलान्तक । भै० र०
१०. शोफार्शोग्रहणीदोषकासोदावर्तनाशनान् । भै० र०

३. भोजनोत्तर २ बार

अभयारिष्ट[1] २५ मि० ली० / १ मात्रा

समान जल के साथ पीना।

४ रात मे सोते समय

आरोग्यवर्धनी वटी १ ग्राम

सुखोष्ण दूध से।

या

वैश्वानर अथवा—

शिवादशक चूर्ण ६ ग्राम

उष्णोदक से।

५. मस्से पर—

कासीसादि तैल की मालिश।

पथ्य

पुराना अगहनी चावल, साठी का चावल, गेहूँ, जौ, कुलथी, अरहर, मूग की दाल, परवल, करेला, नेनुआ, मूली, लोनी, मकोय की पत्ती, बथुआ, तिनपतिया, कचूर की पत्ती, गाजर, आँवला, अजीर, मुनक्का, गुलकन्द, अजवायन, जीरा, धनिया, हीग, लहसुन, बैंगन का भर्ता, मट्ठा, किशमिश, पपीता और घी का सेवन करना हितकर है।

अपथ्य

मटर, चना, मक्का, बाजरा, सावाँ, कोदो, मडुआ, सेम, वडा, कोहडा, आलू, अरुई, भिण्डी, अचार, भरवा मरचा, गरम मसाला तथा गरिष्ठ भोजन करना अहितकर है। घोडा, ऊँट या हाथी की सवारी, घोडजक वाला इक्का और वैलगाडी पर यात्रा करना अहितकर है। आरामतलवी और मल-मूत्र आदि के वेगो को रोकना हानिकर है।

रक्तार्श-चिकित्सा

विशिष्ट चिकित्सासूत्र

१ पूर्वोक्त चिकित्सासूत्र के निर्देशानुसार उपचार करे।
२ पित्त तथा कफ की अधिकता वाले रक्तार्श मे वमन एव विरेचन करावे।
३. रोगी के वल के अनुसार उसे उपवास करावे।
४. जब तक दुष्ट मलिन रक्त का स्राव हो, तब तक उसे न रोके।
५ दुष्ट रक्त के निकल जाने पर रक्तस्राव को रोकने का उपाय करे।

---

१ अर्शांसि नाशयेच्छीघ्रं तथाष्ठाइुदराणि च।
वर्चोमूत्रविबन्धघ्नो वह्निं सन्दीपयेत् परम्॥ भै० र०

६. रक्तावरोध, अग्निदीपन और दोष-पाचनार्थ तिक्त द्रव्यो का प्रयोग करे।

७ क्षीणदोष एव वातप्रधान रक्तार्श मे पान, अभ्यग तथा वस्ति मे स्नेह का प्रयोग करे।

८. रोगी के अग्निबल की अपेक्षा कर बारी-बारी से मधुर-अम्ल एव शीत-उष्ण द्रव्य देवे।

९ यदि रक्तार्श मे वात या कफ का अनुबन्ध न हो, तो पित्त की प्रधानता से ग्रीष्म ऋतु मे होने वाले अर्श के रक्तस्राव को निश्चय ही बन्द करे।

१० रोगी ऐसे आहार-विहार, पेय पदार्थ और औषध का सेवन करे, जो मलावरोध तोडकर, वायु का अनुलोमन कर अग्नि के बल को बढावे।[१]

११. यदि रक्तार्श मे वात का अनुबन्ध हो, तो स्निग्ध और शीतल आहार-विहार, पान एव औषध का सेवन करावे।

१२. यदि कफ का अनुबन्ध हो, तो रूक्ष एव शीतल आहार-विहार, पान और औषध का सेवन करावे।

रक्तार्श मे बाह्य उपचार

१ दाहशमन—शतधौत घृत या जात्यादि घृत को गुदा मे और मस्से पर लगावे।

२ धूपन—राल के चूर्ण में सरसो का तेल मिलाकर, आग पर छोडकर, मस्से पर धुंआ लगावे।

३ लेप—तीता नेनुआ को पीसकर मस्से पर लेप करना चाहिए।

४ परिषेचन—मुलहठी, बट, पीपर, पाकड, गूलर और महुआ की छाल, बेर की छाल, अरुस की पत्ती, धाय का फूल, यवासा, अर्जुन की छाल और नीम की छाल का क्वाथ बनाकर मस्सो पर सुखोष्ण धारा गिरावे और इस क्वाथ से आबदस्त लेवे।

५ अवगाहन—रक्तस्राव अधिक होता हो, तो मुलहठी, खश, पदुमकाठ, लाल-चन्दन, कुश और काश के समभाग के क्वाथ को टब मे रख कर उसमे रोगी को बैठावे, जिसमे गुद-प्रदेश क्वाथ मे डूबा रहे।

६ धाराऽवसेचन—रक्तस्राव यदि बन्द न हो रहा हो, तो रोगी को औंधे मुँह लिटाकर गुदा पर शतधौत घृत का लेप कर बर्फ का पानी या ठडे जल की धारा गिरावे। फिर गुदा को केले के पत्ते से ढँककर पखे से ठण्डी हवा देवे।

७ प्रतिसारण—गुदा मे दाह और क्लेद हो, तो १ राल और घृत या २ लाल तथा सफेद चन्दन घिसकर या ३. रसौत और घृत अथवा ४ कालातिल और मुलहठी अथवा ५ निम्बपत्रफेन और घृत मिलाकर गुदा तथा मस्से पर धीरे-धीरे मालिश करनी चाहिए।

८ कल्कधारण—नीलकमल, लाजवन्ती, मोचरस, श्वेतचन्दन, बेल की गुद्दी और लोध्र की छाल तथा गूलर की छाल को समभाग लेकर, बहुत बारीक पीसकर

---

१ भित्वा विबन्धानुलोमनाय यन्मारुतस्याग्निबलाय यच्च।
तदन्नपानौषधमर्शसेन सेव्यं विवर्ज्यं विपरीतमस्मात्॥ अ० हृ० चि० ८।१६३

बर्फ के पानी से तर कर महीन कपडे मे रखकर लुगदी बनाकर, औंधे मुँह लेटे हुए रोगी की गुदा में धारण करावे।

आभ्यन्तर चिकित्सा

१. **तर्पण**—यदि बाह्य शीतल उपचारो से रक्तस्राव न रुके, तो स्निग्ध एव उष्ण पेया, यवागू अथवा मासरस का आहार देकर रोगी को संतृप्त करना चाहिए।

२. रक्तस्राव से उत्पन्न दुर्बलता को दूर करने के लिए रोगी को भोजन के पूर्व तथा पश्चात् अधिक से अधिक जितना वह खा-पी सके, उतनी मात्रा में मिश्री मिलाकर घी खिलावे या पिलावे।

३ **वातप्रधान रक्तार्श** मे सुखोष्ण घी से अनुवासन वस्ति देनी चाहिए अथवा सफल **पिच्छावस्ति**[१] का प्रयोग करना चाहिए।

४. **पिच्छावस्ति**—यह पिच्छायुक्त (लसदार) द्रव्यो से दी जाती है। इसका उद्देश्य शरीर से निकलने वाले पिच्छास्राव को तथा शुद्ध रक्त के स्राव को रोकना है। यह सग्राही वस्ति है।

५. अर्शरोगी के पिच्छास्राव में **ह्रीबेरादि घृत** और **सुनिषण्णक घृत** का भोज्य पदार्थों के साथ या दूध मे प्रयोग करना अतिशय लाभकारी होता है। (इनका पाठ चरकसहिता-चिकित्सास्थान के चौदहवें अध्याय मे है)।

६. **कफप्रधान रक्तार्श** मे चिरायता, सोठ, जवासा, लालचन्दन, दारुहल्दी, नीम की छाल और खश का क्वाथ पिलाना चाहिए।

७. **चूर्ण**—कोरया की छाल, इन्द्रजौ, रसौत और अतीस के समभाग का चूर्ण २–२ ग्राम की तीन मात्रा चावल के धोवन से देवे।

८. लोध, तिल, मोचरस, मजीठ, लालचन्दन तथा कमलगट्टा, इनके समभाग का चूर्ण ३–३ ग्राम की तीन मात्रा शीतल जल से दे।

९ **चन्दनादि क्वाथ**—लालचन्दन-बुरादा, चिरायता, जवासा, सोठ, इन्द्रजौ, कोरया की छाल, खश, अनार के फल का छिलका, नीम की छाल, दारुहल्दी, लजैनी, अतीस और रसौत, सबको समभाग लेकर भूसा की तरह कूट ले। ५० ग्राम दवा को १ लीटर जल मे पकावे, चतुर्थांश बचे तो छान ले। इसे ३ भाग कर प्रात , साय तथा मध्याह्न चीनी मिलाकर पीना चाहिए। यह शीघ्र लाभ करता है।

१० **मञ्जिष्ठादि चूर्ण**—मजीठ, कमलगट्टा, मोचरस, लोध, कालीतिल, श्वेत-चन्दन, लज्जावन्ती, राल, धावा का फूल, फूलप्रियगु और बेल की गिरी, सभी का

---

१ जवासा, कुश और कास (राढ़ी) के मूल, सेमल के फूल, वट-गूलर-पीपर के नये कोमल पत्ते १००–१०० ग्राम लेकर कुचलकर १ लीटर दूध तथा ३ लीटर जल में पकावे, जब मात्र दूध बचे तो छान ले। फिर मोचरस, मजीठ, लालचन्दन, कमलगट्टा, फूलप्रियंगु, इन्द्रजौ और कमल की केशर १०–१० ग्राम बारीक पीसकर मिला लेवे तथा मधु, घी और चीनी उचित मात्रा में मिलाकर वस्ति देवे। यह पिच्छावस्ति प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव और ज्वर को नष्ट करती है। च० ह० चि० ८।१२५–१२९

समभाग में चूर्ण ३—३ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३ बार शीतल जल से या बकरी के दूध से देवे।

११ १ कोरया की छाल, २ बेलफल, ३. चित्रकमूल छाल, ४ सोंठ, ५ अतीस, ६ धमासा, ७. दारुहल्दी, ८ बच, ९. हर्रा और १० चव्य—इन दश द्रव्यों को आचार्य चरक ने अर्शोघ्न कहा है। इन सबके समभाग का चूर्ण ३—३ ग्राम, दिन में ३ बार जल से देवे अथवा इनका क्वाथ बनाकर सबेरे शाम पिलावे। (च० सू० ४)।

१२ कोरया (वत्सक) की छाल का चूर्ण या क्वाथ का प्रयोग रक्तार्श की श्रेष्ठ औषध है। इसी प्रकार तक्र का सेवन भी रक्तार्श की उत्तम औषध है। वह बलकारक और दोषनाशक होता है। वाग्भटाचार्य ने इनकी प्रशसा की है।[1]

१३. कुटजादि रसक्रिया और कुटजावलेह—ये दोनों रक्तार्श मे निश्चित लाभकर हैं। इनका योग वाग्भट (अ० हृ० चि० ८) का है। इनमे से किसी एक का १०—१० ग्राम की मात्रा मे दूध के साथ दिन मे ३ बार प्रयोग करना चाहिए।

१४ रक्तस्राव में क्षीरपाक[2] विधि से मोचरस[3] का प्रयोग उत्तम है।

१५ बकरी का दूध या पञ्चगुणजल-सिद्ध गोदुग्ध[4] उत्तम पथ्य है।

१६ १. कालातिल २० ग्राम और मक्खन २० ग्राम या २. नागकेशर (असली) ३ ग्राम, मक्खन २० ग्राम, मिश्री १० ग्राम अथवा ३. दही की साढी से मथकर बनाये गये मट्ठे को इच्छानुसार पीने के निरन्तर अभ्यास से रक्तार्श ठीक हो जाता है।[5]

१७ मोचरस १ ग्राम, नागकेशर असली १ ग्राम, स्वर्णगैरिक १ ग्राम और चीनी ३ ग्राम लेकर मिलावे एवं इसकी ३ मात्रा बनाकर प्रातः-सायं-मध्याह्न दूध या जल से देवे।

१८. कुकुरौंधा का स्वरस या अनार के कोमल पत्तों का स्वरस या गेंदा के पत्तों का रस १५ ग्राम की मात्रा में चीनी मिलाकर दिन में ३ बार पिलाने से रक्तार्श में लाभ होता है।

१९. रीठा के फल के वक्कल को तवे पर रखकर जलाई गयी काली राख, सफेद कत्था, स्वर्णगैरिक, रसौंत और संगजराहत की भस्म या पिष्टी, इन सबको समभाग में लेकर मिला लें। ½ ग्राम की मात्रा मे चीनी मिलाकर मलाई या मक्खन के साथ दिन में ३ बार दें।

---

१. शुष्केषु मल्लातकमग्र्यमुक्तं भैषज्यमार्द्रेषु तु वत्सकत्वक्।
सर्वेषु सर्वर्तुषु कालशेयमर्शःसु बल्यं च मलापहं च ॥ अ० हृ० चि० ८

२ द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥ परिभाषा-प्रदीप

३ विशेषतो विट्पथसम्प्रवृत्ते पयो मतं मोचरसेन सिद्धम्। च० चि० ४

४. छागं पयः स्यात् परमं प्रयोगे गव्यं शृतं पञ्चगुणे जले वा। च० चि० ४

५ नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासात् अर्शांस्यपयान्ति रक्तानि ॥ च० चि० १४।२१०

२० **अर्शोघ्नी वटी**—नीम के बीज की गुद्दी, बकायन के बीज की गुद्दी और खूनखराबा—तीनो २-२ भाग, तृणकान्त मणि (कहरवा) पिष्टी १ भाग तथा शुद्ध रसौंत ६ भाग लेकर पीसकर ५०० मि० ग्रा० की गोलियाँ बनावे। १-२ गोली दिन मे ३ बार शीतल जल से देवे।

२१ **शोणितार्गल रस**—अभ्रक भस्म ५ ग्राम, रसौंत ५ ग्राम, शुद्ध खर्पर ५ ग्राम, शुद्ध फिटकरी २½ ग्राम, रक्तचन्दन चूर्ण १० ग्राम, स्वर्णगैरिक १० ग्राम, रस-सिन्दूर १० ग्राम और वेर या पीपल की लाक्षा १० ग्राम लेकर घोटकर रसौंत के जल की भावना देकर ३०० मि० ग्रा० की गोली बनावे। दिन मे ३ बार २-२ गोली जल से खिलाना चाहिए।

२२. **पृथक्-पृथक् प्रयोग-योग्य द्रव्यो मे**—१. कोरया की छाल, २ वेल सोठ ३ मोचरस, ४ कालातिल, ५ कुकुरौंधा, ६ मोलसरी, ७. नागकेशर, ८ सोनागेरू, ९ लाक्षा, १० फिटकरी, ११. खूनखराबा (दम्मुल अखवैन), १२. लोध्र और १३. रसौत—ये उत्तम लाभदायक औषध हैं।

२३ **पलाण्डु**[1]—पेया मे, यूष में, शाक मे या किसी भी खाद्य पदार्थ मे या अकेले ही सहन योग्य मात्रा मे प्याज का दीर्घकाल तक सेवन करते रहने से रक्तस्राव तथा उदरवायु-विकार शान्त हो जाता है।

२४ **रक्तार्श मे शूल होने पर**[2]—इन्द्रजौ, कोरया की छाल, नागकेशर, नील-कमल, पठानीलोध्र और धाय के फूल समभाग के कल्क से सिद्ध किये हुए घृत का खाने-पीने मे प्रयोग करना अतीव हितकर है।

सिद्धयोग

१ नित्योदित रस	½ ग्राम की १-२ गोली घी लगाकर	प्रात -साय
	या	
अर्शकुठार रस	½ ग्राम की १-२ गोली गुलकन्द के साथ	प्रात -साय
	या	
जातीफलादि वटी	२५० मि० ग्रा० ५ ग्राम तिल और १० ग्राम मक्खन के साथ	प्रात -साय
२. बोलवद्ध रस	५०० मि० ग्रा० ,,	प्रात -साय
	या	
बोलपर्पटी	५०० मि० ग्रा० गुलकन्द से	प्रात -साय
शखोदर रस	२०० मि० ग्रा० मक्खन-मिश्री से	दिन मे ३ बार

१ रसखडयूपयवागूसयोगत. केवलोऽथवा जयति।
रक्तमतिवर्तमान वार्तं च पलाण्डुरुपयुक्त ॥ च० चि० १४।२०८

२ कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कै।
सिद्ध घृतं विधेय शूले रक्तार्शसां भिषजा ॥ च० चि० १४।१९७

३ समशर्कर चूर्ण	४ ग्राम जल से	दिन में ३ बार
	या	
लवणोत्तमादि चूर्ण	४ ग्राम जल से	दिन मे ३ बार
	या	
पुष्यानुग चूर्ण	२ ग्राम जल से	दिन मे ३ बार
४. चन्द्रप्रभावटी	१ ग्राम दूध से	दिन मे ३ बार
	या	
वृहद् योगराजगुग्गुलु	१ ग्राम दूध से	दिन मे ३ बार
	या	
योगराज रस	१ ग्राम दूध से	दिन मे ३ बार
५ चन्द्रकला रस	२०० मि० ग्रा० गुलकन्द से	दिन में ३ बार
	या	
कामदुधा रस	३०० मि० ग्रा० गुलकन्द से	दिन मे ३ बार
	या	
नवायस लौह	५०० मि० ग्रा० मधु से	दिन मे ३ बार

नोट—उपयोगिता का विचार कर एक या अनेक योगो का प्रयोग करें।

व्यवस्थापत्र

१. दिन मे ३ बार

शखोदर रस ६०० मि० ग्रा०
तृणकान्त पिष्टी ५०० मि० ग्रा०
अर्शोघ्नी वटी १ ग्राम

योग—३ मात्रा

नागकेशर चूर्ण १ ग्राम और मधु से।

२ भोजन के पूर्व २ बार

समशर्कर चूर्ण ४ ग्राम

जल से। २ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार

उशीरासव ४० मि० ग्रा०

२ मात्रा

समान जल के साथ पीना।

४. रात मे सोते समय

तालीशादि चूर्ण ४ ग्राम

जल से। १ मात्रा

अथवा

विजय चूर्ण	२ ग्राम
जल से ।	१ मात्रा।

अर्शरोग का संक्षिप्त उपक्रम

रोगावस्था	कर्म	प्रयोगविधि
शोथ-शूल स्तब्धता	अभ्यग	चित्रक तैल, शूकरवसा, तिलतैल आदि
	स्वेदन	यव-माष-कुलथी की पोटली से या वच-सौंफ-महुआ की पोटली से
	परिषेचन	अरुस-अर्क-विल्वपत्र के क्वाथ से स्वेदन व परिषेचन
	अवगाहन	गनियार—सहिजन के क्वाथ या गोमूत्र में
शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, अभ्यग लेप आदि से शमन न होने पर	रक्तमोक्षण	जोक लगाकर, शस्त्र या सुई से
उदावर्त, विबन्ध एव प्रतिलोम वायु में	अनुवासन	पिप्पल्यादि तैल ४ औंस से
गुदशोथ और शूल एव पिच्छास्राव मे	निरूहवस्ति	दशमूल क्वाथ मे तैल एव नमक मिलाकर
स्रावी अर्श पित्त-कफ-प्रधानदोष	शोधन	हरीतकी या निशोथ से विरेचन
रक्त और वात की प्रधानता हो तो	अभ्यग, आभ्यन्तर-स्नेहन अनुवासन	पूर्वोक्त के अनुसार
रक्त और पित्त की प्रबलता में	परिषेचन	मुलहठी, पंचवल्कल, बेर, पटोल, वच, अरुस, अर्जुन या नीम की छाल के क्वाथ से
रक्तस्रावाधिक्य मे	अवगाहन	पचतृणमूल क्वाथ, कमल, मुलहठी, पद्मकाठ, चन्दन के क्वाथ में ।
रक्तस्राव-निरोधार्थ	पिच्छावस्ति	जवासा, कुश, कास, आँवला के क्वाथ से या वट, गूलर, पीपल के कोमलपत्रो से वने क्वाथ से या मोचरस के क्वाथ में तैल मिलाकर ।

ाह में	लेपन	शतधौत घृत लेपन, बर्फ के पानी की धारा गिराना।
ोथ-शूल-जकडन मे	स्वेदन परिषेचन	भाँग की पत्ती की पोटली से सेंकना या उसके पत्ते के क्वाथ से सुखोष्ण प्रक्षालन।
ुष्कार्श एवं रक्तार्श मे	औषध-सेवन	भल्लातक के योग, कोरया के बने योग तथा कुटजादि रसक्रिया आदि।

पथ्य

पुराना वासमती चावल, साठी का चावल, गेहूँ की दलिया, मूग, अरहर मसूर ी दालो का यूष, बकरी या गाय का दूध, दही की साढ़ी, मक्खन, मलाई, गोघृत, ाथुआ, चौलाई, कचमार का फूल, सेमर का फूल, पतली मूली, प्याज, दुद्धी, ितनपतिया, कच्ची गूलर, कच्चा केला, मधुर और अम्ल रसवाले द्रव्यो का बारी-ारी से सेवन, अनार, सन्तरा, मुसम्मी, सिघाडा, मुनक्का, किसमिश, आँवला तथा ीतवीर्य सौम्य आहार-विहार पथ्य हैं।

अपथ्य

मल-मूत्रादि वेगो का धारण, घोडे आदि की सवारी करना, स्त्री-समागम, पका आम, पका केला, पका बेल, गरम मसाले, कन्दशाक, उकडू बैठना, अरवी, बंडा, कोहडा, बोडा, सेम, अचार, मरचा, भारी और विबन्धकारक पदार्थ खाना, सरसों का शाक, विरुद्ध भोजन, कटु-अम्ल और लवण रसवाले पदार्थों का अतिसेवन तथा मद्यपान आदि वर्जित है।

चतुर्दश अध्याय

मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात तथा अश्मरी

मूत्रकृच्छ्र

(Painful Micturation of Dysurea)

परिचय—अत्यन्त कष्ट के साथ मूत्रत्याग होने को **मूत्रकृच्छ्र**[1] कहते हैं। इस रोग मे वस्ति मे मूत्र रहता है और रोगी मूत्रत्याग भी करना चाहता है, किन्तु मूत्रमार्ग मे कही रुकावट होने के कारण पेशाव करने में तकलीफ होती है।

मूत्रकृच्छ्र शब्द का निर्वचन—'मूत्रप्रस्रवणे' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'मूत्र' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—प्रस्राव होना[2] या धार से चूना। 'कृती छेदने' धातु से 'रक्' प्रत्यय तथा 'छ' आदेश होने पर कृच्छ्र[3] शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—शरीर मे पीडा होना। कष्ट, कृच्छ्र और आभील, ये तीनो शब्द शरीर की पीडा के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार 'मूत्र का अत्यन्त पीडा के साथ निकलना मूत्रकृच्छ्र है'।[4] 'यत्र रोगे कृच्छ्रेण (पीडापूर्वक) मूत्र्यते, तत् मूत्रकृच्छ्रम्' यह निरुक्ति है।

अथर्ववेद के प्रथमकाण्ड के दूसरे और तीसरे सूक्त मे मूत्रकृच्छ्र या मूत्रावरोध का वर्णन है, जिसमे कहा गया है—हे रोगार्त ! तेरा जो मूत्र दोनो गवीनियो मे, आँतो मे और वस्ति (मूत्राशय) मे सचित है, वह सब बाहर निकल जावे'।[5]

औषध—अथर्ववेद के (१।२।१–४ तथा १।३।१–५) मन्त्रो मे मूत्रकृच्छ्रनाशक औषध के रूप मे शरकाण्ड (सरकण्ड–मूज या राडी) का उल्लेख है। भावप्रकाश-निघण्टु मे शरकाण्ड को मूत्रकृच्छ्र-नाशक—'मूत्रकृच्छ्राक्षिरोगनुत्' कहा गया है। पचतृणमूल मूत्रकृच्छ्र की प्रसिद्ध दवा है, जिसका क्वाथ पिलाने से मूत्र होता है। उसमे भी 'शर' का पाठ है।[6]

---

१. मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्ति —मूत्रकृच्छ्रम्। (मधुकोष)

२ मूत्र्यते इति मूत्रम्। 'मूत्रप्रस्रवणे' (चु० उ० से०) घञ् (३।३।१९)। अमरकोष रामाश्रमी २।६।६७

३ कृन्तति इति कृच्छ्रम्। 'कृती छेदने' (तुदादि प० से०) कृतेश्छ क्रूच (उ० सू० २।२१) इति रक् छश्च। अमरकोष-रामाश्रमीटीका १।९।२

४ मूत्रे कृच्छ्रमत्र, इति मूत्रकृच्छ्रम्। अमर० रामाश्रमी २।६।५६

५ यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधिसंश्रितम्।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां वहिर्बालिति॥

६. कुश काश. शरो दर्भ इक्षुश्चेव तृणोद्भवम्।
पञ्चतृणमिति ख्यातम् ॥

एक मन्त्र मे यह कहा गया है—'हम शरकाण्ड के पिता (मेघ) को जानते हैं और उसकी माता पृथिवी को भी जानते है'[1] । ज्ञातव्य है कि वर्षाऋतु मे शरकाण्ड (मूंज-राडी) अधिक फैलता तथा वढता है । अत मेघ को पिता और पृथिवी को माता कहा गया है ।

सामान्य निदान

१ अधिक व्यायाम, २ तीक्ष्ण औषध, ३. रूक्ष पदार्थ, ४. अति मद्यपान, ५. तेज चलनेवाले घोडे आदि की पीठ पर नित्य सवारी करना, ६. जलेचर पशु-पक्षियो के मास का सेवन करना, ७ पहले किये गये भोजन के विना पचे पुन भोजन करना और ८ अजीर्ण होना—इन सव कारणो से आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र होते हैं ।
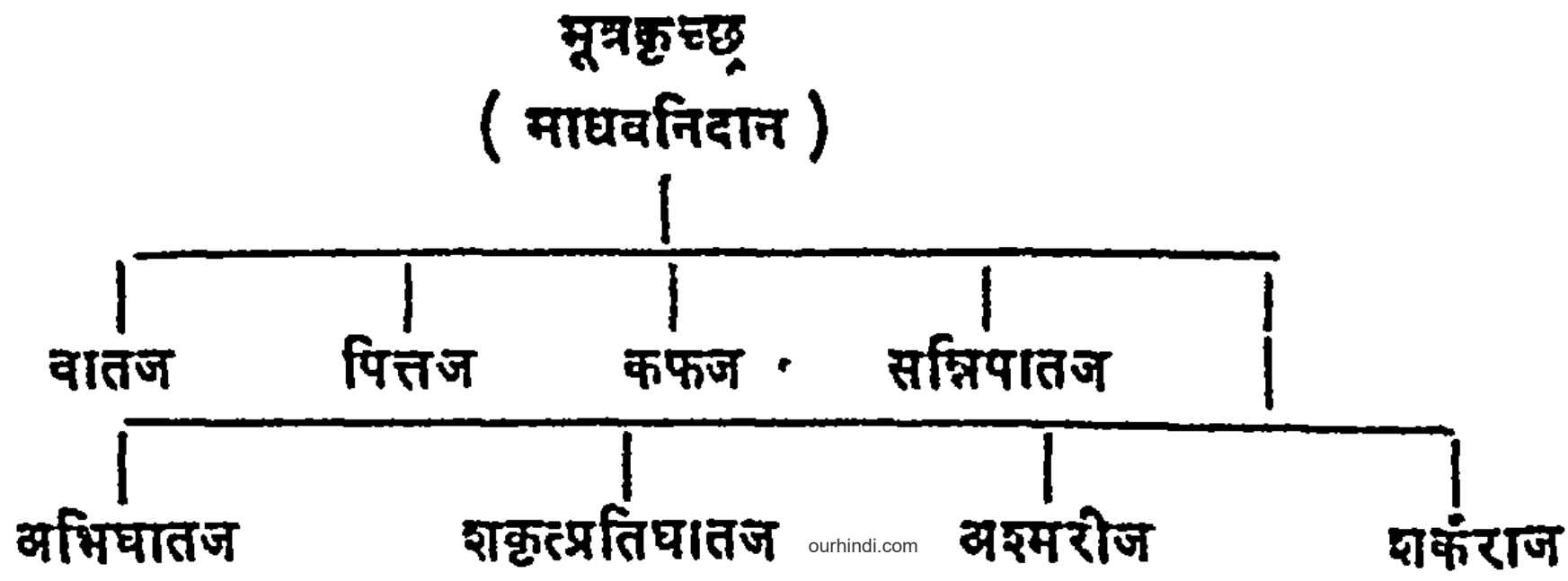
वक्तव्य—चरक ने शकृत्ज मूत्रकृच्छ्र के वदले शुक्रज मूत्रकृच्छ्र कहा है । सुश्रुत ने अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र मे शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का समावेश किया है । चरक ने शकृत्ज मूत्रकृच्छ्र का वातज मूत्रकृच्छ्र मे समावेश किया है । माधव ने शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र मे समावेश किया है ।

मूत्रकृच्छ्र के कारणो को तीन श्रेणियों मे विभक्त कर सकते हैं—

१ **मूत्राशयगत कारण**—इस श्रेणी में मूत्राशयगत अश्मरी, अर्वुद, तीव्र या जीर्ण मूत्राशयकलाशोथ (Actute or chronic chystitis), फिरङ्गी खञ्जता (Tabes dorsalis), योषापस्मार (Hysteria) या सूत्रकृमियो (Thread worms) का उपसर्ग, ये कारण आते हैं ।

२ **मूत्रप्रणालीगत कारण**—मूत्रप्रसेकशोथ (Urethritis), औपसर्गिक मेह (Gonorrhoea) तथा शिश्नगत मूत्रमार्ग मे उपसंकोच (Urethral stricture) इन कारणो से मूत्रमार्ग मे अवरोध हो जाता है ।

३ **अन्य कारण**—पौरुष-ग्रन्थि (Prostate gland) की वृद्धि तथा अर्श से भी मूत्रकृच्छ्र होता है । जिन तीक्ष्ण खाद्य-पेय या औषधो का द्रव मूत्रमार्ग से निकलता है, वे सभी मूत्रकृच्छ्रजनक कारण होते हैं । दाहकारक पदार्थ या तीक्ष्ण मद्य का पान करना भी मूत्रकृच्छ्र के कारणो मे समाविष्ट है ।

---

१ विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥

सम्प्राप्ति

अपने-अपने प्रकोपक कारणो से प्रकुपित वात आदि दोष पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ जब वस्ति में पहुँचकर मूत्रमार्ग में सकोच, दवाव या क्षोभ आदि उत्पन्न करते हैं, तब मूत्रत्याग करते समय रोगी को कष्ट होता है और इसी परिस्थिति को मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

१ व्यायाम, तीव्रगतिपशुपृष्ठयान आदि विहार
२ तीक्ष्ण, रूक्ष अन्न, आनूपमास, अति मद्यपान
३. अध्यशन और अजीर्ण
४. अभिघात आदि आगन्तुक कारण
५ वातवर्धक आहार-विहार

} निदान—वातादि दोषप्रकोप
|
वस्ति में स्थानसंश्रय
|
मूत्राशय एवं मूत्रमार्ग मे सक्षोभ
|
मूत्रकृच्छ्र रोग
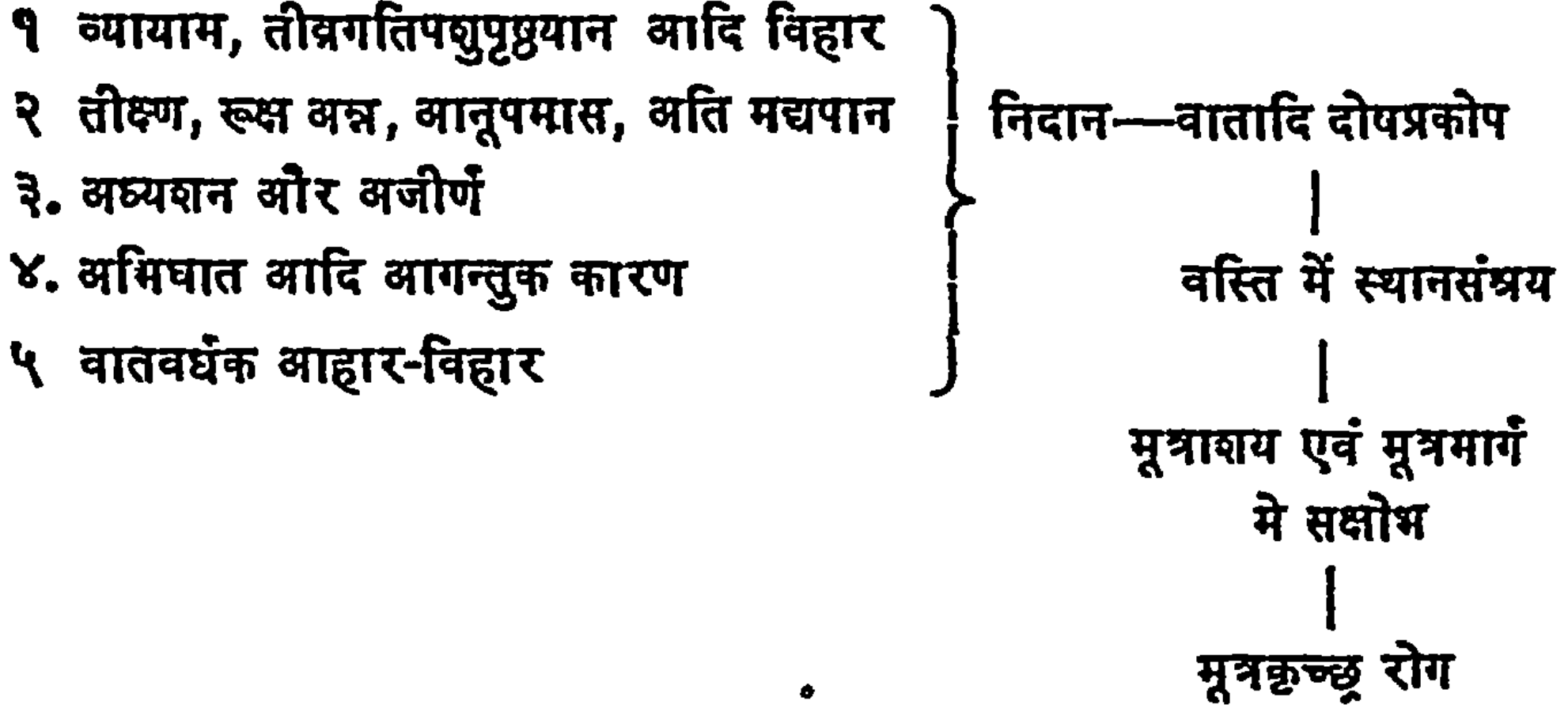
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१ दोष—वातप्रधान त्रिदोष ।
२ दूष्य—मूत्र, जल ।
३. अधिष्ठान—वस्ति एवं मूत्रमार्ग ।

सामान्य लक्षण

कष्ट के साथ रुक-रुक कर, थोडा-थोड़ा और बार-बार पेशाब होता है।

विशिष्ट लक्षण

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र—

१. वंक्षण, वस्ति और मूत्रेन्द्रिय मे तीव्र वेदना ।
२. बार-बार और थोडा-थोडा मूत्रत्याग होना ।
३. रोगी पीडित प्रदेशो को मलता या दबाता है ।

(२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र—

१ मुष्क, मूत्रेन्द्रिय तथा वस्ति में दाह ।
२. बार-बार, पीला या लाल और थोडा मूत्रत्याग ।
३. पीडा एवं दाहयुक्त अत्युष्ण मूत्र ।

(३) कफज मूत्रकृच्छ्र—

१ वस्ति, अण्डकोष और मूत्रेन्द्रिय मे भारीपन ।
२. वस्ति, अण्डकोष और मूत्रेन्द्रिय में शोथ ।
३ पिच्छिल, स्निग्ध, शुक्लवर्ण तथा शीत मूत्र ।

(४) सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र—

१ इसमे सभी दोषों के लक्षण मिलते हैं।

२ यह प्रकृतिसमवायारब्ध होता है, अत लक्षणो मे वैचित्र्य नहीं।

३ मूत्रप्रवृत्ति अतिकष्टमय होती है और यह कष्टसाध्य होता है।

(५) अभिघातज मूत्रकृच्छ्र—

मूत्रवाही स्रोतो में आभ्यन्तर[1] शल्य से अथवा बाह्य आघात लगने से क्षत होने पर भयकर मूत्रकृच्छ्ररोग उत्पन्न होता है। आघात से वस्ति मे क्षत हो जाता है और उससे रक्त निकलता है। जब रक्त वहाँ जम जाता है और वह मूत्रमार्ग से बाहर निकलता है, तब अतिशय पीडा होती है, वस्ति फूल जाती है और उसमे भारीपन मालूम पडता है। जब रक्त बाहर निकल जाता है, तो हलकापन मालूम होता है। इसमे वातज मूत्रकृच्छ्र के समान लक्षण होते हैं।

(६) शकृद्विघातज मूत्रकृच्छ्र—

पुरीष के वेग को रोकने से अपानवायु विलोमगति होकर उदर मे आध्मान, वातज शूल तथा मूत्रावरोध कर देता है।

(७) अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र—

अश्मरी जब मूत्रमार्ग मे गति करती है, तब बहुत वेदना होती है। वायु जब अश्मरी को तोड देता है, तो उसके टुकडे शर्करा कहलाते हैं। जब यह शर्करा मूत्रमार्ग से बाहर निकलती है, तो उसकी गतिशीलता से बहुत शूल होता है। हृदयशूल, हस्त-पादकम्प, कुक्षि एव वस्ति में शूल, मूर्च्छा और दारुण मूत्रकृच्छ्र होता है।

(८) शुक्रज मूत्रकृच्छ्र—

अपने स्थान से च्युत हुआ शुक्र जब दोषो के प्रकोप से मूत्रमार्ग मे अवरुद्ध हो जाता है, तो उस समय वंक्षणसन्धि, वस्ति तथा शिश्न मे वेदना होती है। रोगी शुक्रसहित मूत्रत्याग करता है और मूत्र निकलने में बडा कष्ट होता है।

अश्मरी और शर्करा की समानता और भेद

अश्मरी और शर्करा के निदान तथा लक्षण समान हैं, किन्तु इन दोनो मे यह विशेषता है कि अश्मरी को ही पित्त से परिपाचित और वायु से शुष्क हो जाने के कारण तथा कफरूपी जोडनेवाली वस्तु के नष्ट हो जाने पर (जो छोटे-छोटे कणो के रूप मे बाहर निकलती है) शर्करा कहते हैं।

मूत्र के वेग के साथ शर्करा के बाहर निकल जाने पर वेदना तब तक शान्त रहती है, जब तक कि अन्य शर्करा मूत्रवहस्रोत के मुख को फिर से अवरुद्ध न कर दे।

---

१ शरीर के अन्दर पीडा पहुँचानेवाली बाह्य या आभ्यन्तर वस्तु को शल्य कहा जाता है—

अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्।
यत् किञ्चिदाबाधकरं शरीरे तत्सवमेव प्रवदन्ति शल्यम्॥ (डल्हण)

मूत्रकृच्छ्र की सामान्य चिकित्सा

१. व्यायाम, तीक्ष्ण वस्तु सेवन आदि सभी तरह के निदान का त्याग करे।

२ अभ्यंग, स्नेहन, निरूहवस्ति, उपनाहस्वेद, उत्तरवस्ति, परिषेक आदि दोषानुसार करना चाहिए।

३. मूत्रल औषध—तालमखाना, गोखरू, शतावर, सेमलपुष्प, पञ्चतृण, श्वेतचन्दन, शीतलमिर्च, कुलथी, गुग्गुलु आदि एव समभाग दूध और जल, लस्सी, शर्बत, ईसबगोल की भूसी आदि पिलावे।

४ निवाये जल के टब मे बैठावे या वृक्कस्थान पर हीग का लेप या पलासपुष्प का लेप या कलमी सोरा और नौसादर के समभाग को जल मे विलीन कर उसकी कपडे की पट्टी नाभि के ऊपर बार-बार रखें। वृक्को पर नारायण तैल की मालिश करे।

५ मूत्रविरजनीय (चरक० सू० ४)—१. श्वेताभ, २ श्वेत, ३ नील और ४. सौगन्धिक कमल, ५. मुलहठी, ६. पियङ्गु ७ धाय के फूल, ८ कुमुद, ९. रक्त-कमल, इनका क्वाथ दिन मे ३ बार पिलावे।

६. मूत्रविरेचनीय (चरक० सू० ४)—१. वृक्षा, २ गोखरू, ३ अगस्त्यपुष्प, ४ अपामार्गमूल, ५ पाषाणभेद, ६. दर्भ, ७ कुश, ८ काश, ९. शर और १०. इत्कट (वनजयन्ती), इनका क्वाथ दिन मे ४-५ बार पिलावे।

७ दुरालभादि क्वाथ, पुनर्नवादिगण क्वाथ, स्थिरादिगण क्वाथ, एलादिचूर्ण,[1] गोक्षुरादि गुग्गुलु, चन्द्रकलारस, तारकेश्वर, चन्दनासव, सारिवाद्यासव और उशीरासव आदि का आवश्यकतानुसार प्रयोग करे।

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१ वातज मूत्रकृच्छ्र मे महानारायण तैल, महामाष तैल, सैन्धवादि तैल अथवा महामरिचादि तैल का अभ्यग करना चाहिए।

२ महानारायण तैल को २० मि० ली० दूध मे सवेरे-शाम पिलावे।

३ वातघ्न द्रव्यो से सिद्ध तैलो की अनुवासनवस्ति देवे।

४ वातघ्न तैलो की उत्तरवस्ति देनी चाहिए।

५ कटि-प्रदेश, वक्षण-प्रदेश मे एव नाभि के नीचे वातघ्न तैलो या क्वाथो से परिषेक करना चाहिए।

चिकित्सा

१ पुनर्नवादि मिश्रक स्नेह—गदहपुर्ना, एरण्डमूल, शतावर, पत्तूर (चन्दन का भेद), काली गदहपुर्ना, वरिआर का मूल, पाषाणभेद, दोनो पञ्चमूल, कुलथी,

---

१ एलाश्मभेदकशिलाजतुपिप्पलीना चूर्णानि तण्डुलजलैर्लुलितानि पीत्वा।
यद्वा गुडेन सहितानवलिह्य चैतान् आसन्नमृत्युरपि जीवति मूत्रकृच्छ्री॥ भै० र०

खट्टी वेर और जौ, इनके क्वाथ और कल्क से सेंधानमक डालकर, तिलतैल, शूकरवसा, ऋक्षवसा और घृत मिलाकर स्नेहपाक करे। इसे रोगी और रोग के वल के अनुसार १०–२० ग्राम की मात्रा मे प्रात-साय दूध मे पिलाना चाहिए।

२. गोखरू का क्वाथ १०० मि० ली० की मात्रा मे २ ग्राम जवाखार मिलाकर दिन में ३ बार पिलावे।

३. जवाखार १ ग्राम और चीनी १ ग्राम मिलाकर ३ बार जल से दे।

४. अमृतादि क्वाथ—गुरुच, सोठ, आँवला, असगन्ध और गोखरू का क्वाथ १०० मि० ली० पिलाना चाहिए।

५ पाषाणभेदादि क्वाथ तथा त्रिकण्टकादि क्वाथ पिलाना चाहिए।

६ एलादि चूर्ण—१–२ ग्राम तण्डुलोदक से दिन मे ३ वार दे।

७ श्वेतपर्पटी—१–२ ग्राम की मात्रा चीनी मिलाकर दिन मे ३–४ वार जल से दे।

८ दाडिमयोग—खट्टा अनारदाना, सोठ, भुना सफेद जीरा और सेंधानमक, इनके समभाग का चूर्ण २–२ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३ वार दे।

९ सुकुमारकुमार घृत या त्रिकण्टकादि घृत ५–१० ग्राम की मात्रा दूध मे मिलाकर प्रात-साय देवे।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात॰-सायम्
मूत्रकृच्छ्रान्तक रस — २०० मि० ग्रा० / २ मात्रा
मधु से।

२ ८ वजे प्रात
अमृतादि क्वाथ — १०० मि० ली० / १ मात्रा
पीना।

३. अपराह्न
त्रिकण्टकादि घृत — १५ ग्राम / १ मात्रा
दूध मे पीना।

४ ९ वजे तथा ४ वजे दिन
श्वेतपर्पटी — ६ ग्राम / २ मात्रा
चीनी के शर्वत से पीना।

(२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१ शीतल द्रव्यो के क्वाथ से परिषेक और किसी टव मे भरकर रोगी का अवगाहन करावे।

२. श्वेतचन्दन आदि शीतल द्रव्यो का वस्ति-स्थान मे प्रदेह लगावे।
३. शीतल वस्ति दे तथा विरेचन करावे।
४. शतावर-गोखरू से सिद्ध दूध पिलावे।
५. ग्रीष्म ऋतुचर्या के अनुसार आहार-विहार की योजना करे।

चिकित्सा

१ अगूर का रस या मुनक्के का क्वाथ पिलावे अथवा विदारीकन्द का स्वरस या गन्ने का रस पिलावे। इसे दिन मे ३–४ बार पिलावे।

२. **वासाघृत** अथवा **शतावर्यादि घृत** (रक्तपित्ताधिकार) १०–१५ ग्राम की मात्रा मे दूध मे मिलाकर २ बार पिलावे।

३ **शतावर्यादि क्वाथ**—शतावर, काश, कुश, गोखरू, विदारीकन्द, शालिधान का मूल, ईख का मूल और कशेरू, इन सबको समभाग लेकर क्वाथ बना शीतल कर चीनी मिलाकर पिलावे।

४. **एर्वारुबीजादि चूर्ण**—ककडी का बीज, मुलहठी, देवदारु, इन्हें चावल के पानी से पीसकर पिलावे या चूर्ण बनाकर तण्डुलोदक से देवे।

५ **एर्वारुबीजादि पेय**—ककडी-खीरा-कुसुम्भ का बीज, नागकेशर और अरुस की पत्ती, इनका १०० मि० ली० शीतल क्वाथ चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए।

६ **बृहद् धान्यादि क्वाथ**—१०० मि० ली० मे २० ग्राम चीनी मिलाकर सवेरे-शाम पीने को देवे।

७ आँवले का चूर्ण ३ ग्राम ठडे जल से दिन मे ३–४ बार दे।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात-साय

चन्द्रकलारस — ५०० मि० ग्रा० / २ मात्रा

आँवले का चूर्ण ३ ग्राम के साथ दे।

२ ९ बजे पूर्वाह्न

शतावर्यादि क्वाथ १०० मि० ली० पिलावे।

३ अपराह्न ३ बजे

शतावर्यादि घृत १०–२० ग्राम
चीनी मिले दूध से दे।

४, १२ बजे और ६ बजे

श्वेतपर्पटी — ६ ग्राम / २ मात्रा

चीनी मिलाकर जल से।

(३) कफज मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१. क्षार, उष्ण और तीक्ष्ण औषध तथा अन्नपान का सेवन करावे ।

२ स्वेदन कराना चाहिए ।

३ वमन और निरूहवस्ति का प्रयोग करे ।

४. तक्र डालकर तिक्त औषधो से सिद्ध तैल का अभ्यग और पान कराना चाहिए ।

चिकित्सा

१. व्योषादि चूर्ण—२-२ ग्राम की मात्रा सवेरे-शाम मधु से चटाकर गोमूत्र पिलाना चाहिए ।

२ छोटी इलायची का चूर्ण ५०० मि० ग्रा० खिलाकर केले के मूल का पानी या गोमूत्र या मद्य पिलावे ।

३ प्रवाल भस्म २५० मि० ग्रा० चावल के धोवन से प्रतिदिन ३ बार दे ।

४ शितिवार (सुलवारी) के बीज का चूर्ण २ ग्राम की मात्रा मे मट्ठे के साथ प्रात -साय दे ।

५ सप्तच्छदादि क्वाथ—छितवन, अमलतास गूदा, करमीशाक, धव, करञ्ज और कोरया की छाल तथा गुरुच, इनका १०० मि० ली० क्वाथ सवेरे-शाम पिलावे ।

६. सप्तच्छदादि गण की औषधो से अर्धावशिष्ट जल पकाकर, उसमे यवागू बनाकर खिलावे ।

७ 'बृहद् गोक्षुराद्यवलेह—५-१० ग्राम सवेरे-शाम खिलावे ।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय

मूत्रकृच्छ्रान्तक रस	५०० मि० ग्रा० / २ मात्रा
अथवा—	
त्रिनेत्र रस	५०० मि० ग्रा० / २ मात्रा

अपामार्गपत्र-कल्क मिश्रित तक्र से ।

२. ९ बजे प्रात

व्योषादि चूर्ण	५ ग्राम / १ मात्रा

गोमूत्र या पाषाणभेदादि क्वाथ से ।

३. २ बजे व ५ बजे दिन

श्वेतपर्पटी	६ ग्राम
चीनी मिलाकर जल मे ।	२ मात्रा

त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र

१. वातप्रधान में वस्ति देनी चाहिए ।

२. पित्तप्रधान मे विरेचन दें ।

३ कफप्रधान मे वमन करावें ।

४ **बृहत्यादि क्वाथ** ५० मि० ली० मे २५० मि० ग्रा० की मात्रा मे शिलाजीत मिलाकर प्रात -साय पिलावे ।

५ गन्ने के रस मे आंवले का स्वरस या चूर्ण मिलाकर सबेरे-शाम पिलावे ।

६ **वरुणादि क्वाथ**—वरुण की छाल, गोखरू बीज, मुलहठी, कुलथी, कुश, काश, शर, दर्भ और गन्ने का मूल, इन सबको समभाग लेकर २५ ग्राम दवा को १ लीटर जल मे पकावे, चौथाई बचने पर छानकर २५ ग्राम चीनी और १ ग्राम जवाखार मिलाकर सबेरे-शाम पिलाना चाहिए । यह उत्तम योग है ।

७ वरुण या सहिजन की छाल का क्वाथ गुड मिलाकर प्रात -साय पिलावे ।

व्यवस्थापत्र

१ दिन मे ३ बार

तारकेश्वर रस	१ ग्राम
	३ मात्रा

गूलर के फल के ५ ग्राम चूर्ण और मधु से ।

२ भोजन के बाद

उशीरासव या चन्दनासव	२० मि० ली०
समान जल से पीना ।	१ मात्रा

३. बजे दिन और रात मे

गोक्षुरादि गुग्गुलु	२ ग्राम
जल से ।	२ मात्रा

(५) शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र

१. सद्योव्रण की तरह उपचार-व्यवस्था करनी चाहिए ।

२ शुद्ध स्फुटिका २५० मि० ग्रा० और शुद्ध शिलाजीत २५० मि० ग्रा० मिलाकर अमृतादि क्वाथ देवे ।

३. **जीवनीयगण**[१]—अष्टवर्ग, मुलहठी, जीवन्ती, मुगपर्णी, माषपर्णी, इनका कल्क या चूर्ण दूध मे मिलाकर प्रयोग करे ।

---

१ अष्टवर्गं सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका ।
माषपर्णी गणोऽयन्तु जीवनीय इति स्मृत ॥ परिभाषा-प्रदीप

४ विदारीकन्द का स्वरस या चूर्ण २ ग्राम गन्ने के रस से २ बार दे।

५ नीलकमल और कशेरू प्रत्येक २–२ ग्राम पीसकर चीनी मिलाकर पिलावे।

६. त्रवष्ट्रादि घृत ५–१० ग्राम दूध मे प्रात -सायं दे।

७ यदि रक्त निकलता हो, तो शतावर और गोखरू १०–१० ग्राम का कल्क डालकर क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध सवेरे-शाम पिलावे।[1]

८ शोणितस्थापनकषाय[2]—मधु, मुलहठी, नागकेसर, सेमर की गोंद, मिट्टी का ठिकडा, लोध, गेरू, प्रियगु, शक्कर और धान का लावा, इन सबका चूर्ण बनाकर २ ग्राम की मात्रा तण्डुलोदक से दिन मे ३ बार दे।

९ चमेली के पत्ते का क्वाथ मधु मिलाकर सवेरे-शाम पिलावे।

(६) शकृद् विघातज मूत्रकृच्छ्र

१. अभ्यंग, स्वेदन तथा वातानुलोमन उपचार करे।

२. विरेचनार्थं फलवर्ति एव वस्ति का प्रयोग करे।

३. एरण्डतैल आदि का स्निग्ध विरेचन देना चाहिए।

४. उपनाह स्वेदन करना हितकर है।

५ वातज मूत्रकृच्छ्र की तरह वातानुलोमन चिकित्सा करे।

६ हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण—हींग १ भाग, वच २ भाग, चित्रकमूल छाल ४ भाग, कूठ ८ भाग, सज्जीखार १६ भाग, वायविडंग ३२ भाग—इन सबका कपडछन चूर्ण बनाकर ३ ग्राम की मात्रा दिन मे २ बार सुखोष्ण जल से दे।

७ यवादि चूर्ण—जव, हर्रे, चित्रकमूल की छाल, जवाखार, पीपर और अतीस, इनका समभाग का चूर्ण ३–३ ग्राम की मात्रा मे ४ बार तक सुखोष्ण जल से दे।

(७) अश्मरी-शर्कराज मूत्रकृच्छ्र

इसकी चिकित्सा आगे अश्मरी रोग मे देखें।

(८) शुक्रज मूत्रकृच्छ्र

१ शुद्ध शिलाजीत ५०० मि० ग्रा० तथा चीनी ५ ग्राम मिलाकर दशमूल के क्वाथ से सवेरे-शाम दे।

२. शतावर्यादि क्वाथ १०० मि० ली० चीनी मिलाकर २ बार पिलावे।

३ स्त्री समीग करने से लाभ होता है।

४. एलादि क्वाथ—छोटी इलायची, पीपल, मुलहठी, पाषाणभेद, रेणुका, गोखरू और एरण्डमूल, इनका क्वाथ १०० मि० ली० सवेरे-शाम पिलावे।

(९) रक्तज मूत्रकृच्छ्र

१ इसकी चिकित्सा पूर्वोक्त पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र की तरह करे।

---

१ शतावरीगोक्षुरकै श्रृतं वा श्रृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभि । च० चि० ४ (रक्तपित्तचि०)

२ शोणितस्थापनो दशको महाकषाय —मधु मधुक-रुधिर-मोचरस-मृत्कपाल-लोध्र-गैरिक-प्रियङ्गु शर्करा-लाजा इति दशेमानि शोणितस्थापनानि भवन्ति । च० सू० ४

२. गन्ने का रस पिलाना और खीरा खिलाना लाभकर है।

३. दुरालभादि क्वाथ—धमासा, पाषाणभेद, हर्रे, छोटी कटेरी, मुलहठी और धनियाँ के समभाग का क्वाथ १०० मि० ली० चीनी मिलाकर प्रात-साय पिलावे।

४. आँवला और रसौत का क्वाथ पिलावे।

५ शतावर और गोखरू से क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध पिलावे।

६. उत्पलादि चूर्ण, पुष्यानुग चूर्ण या मधुकाद्यवलेह (सभी स्त्री-रोगाधिकार—भै० र०) का प्रयोग उत्तम लाभकर है।

७. भोजनोत्तर उशीरासव या लोध्रासव २० मि० ली० समान जल के साथ पीने के लिए देवे।

पथ्य

पुराना अगहनी चावल, जागल पशु-पक्षियो का मास, मूग का यूष, शक्कर, मट्ठा, गोदुग्ध, पेठा, परवल, खरबूजा, ककडी, खीरा, खजूर, नारियल, चौलाई, आँवला, घी, कपूर—ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य

मद्यपान, परिश्रम, मैथुन, हाथी-घोडे की सवारी, ऊँट की सवारी, विरुद्ध भोजन, विषम भोजन, ताम्बूल, मछली, नमक, अदरक, तेल मे पकाये गये पदार्थ जैसे पकौडी आदि, तिल का तिलकुट, उडद, लालमिर्च, विदाही और रूक्ष द्रव्य तथा खटाई खाना अपथ्य है।

मूत्राघात

परिचय और निर्वचन

जिस रोग मे मूत्रत्याग करने मे रुकावट अथवा अवरोध उत्पन्न होता है, उसे मूत्राघात कहते हैं। आचार्य डल्हण ने मूत्राघात का अर्थ मूत्रावरोध किया है—'मूत्राघातो मूत्रावरोध'। मधुकोष टीका मे मूत्रनिर्गमन मे अतिशय विबन्ध होना मूत्राघात का विशेष लक्षण बतलाया गया है।

मूत्र + आघात = मूत्राघात। प्रस्रवण (पतली धार से बहना) अर्थ की 'मूत्र' धातु से मूत्र शब्द बना है और आ–उपसर्गपूर्वक हिंसार्थक 'हन्' धातु से आघात शब्द बना है। इस प्रकार मूत्राघात का अर्थ है—मूत्रस्राव का रुक जाना, अवरोध होना अथवा विबन्ध होना।

यहाँ मूत्राघात और मूत्रकृच्छ्र के विभेदक लक्षण[1] द्रष्टव्य हैं—

१. मूत्रकृच्छ्र में मूत्रत्याग करने मे अत्यधिक कष्ट होता है, किन्तु विबन्ध (रुकावट) अल्प रहता है अर्थात् मूत्रत्याग बूँद-बूँद और अधिक कष्ट से होता है।

---

१. मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोश्चायं विशेष—मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितम्, ईषद्विबन्ध, मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान्, कृच्छ्रत्वमल्पमिति। मधुकोष।

२. मूत्राघात मे मूत्र का विबन्ध अधिक होता है, किन्तु कृच्छ्रता (कष्ट) अल्प होती है।

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिको ने मूत्राघात और मूत्रावरोध के लिए अलग-अलग नामकरण किये हैं और इन दोनो से अलग तीसरा मूत्रकृच्छ्र है—

१ मूत्राघात Suppression of the urine—इसमे मूत्र कम बनता है।
२ मूत्रावरोध · Retention of the urine—इसमे मूत्र रुक जाता है।
३ मूत्रकृच्छ्र . Dysurea—इसमे बूँद-बूँद कर कष्ट के साथ मूत्र निकलता है।

मूत्राघात का सामान्य निदान

मल-मूत्र-अपानवायु आदि के वेगो को रोकने से, पुरीष शुक्र के वेग रोकने से, तीक्ष्ण औषध या अन्न-पान के सेवन से तथा रूक्ष पदार्थों के सेवन से कुपित हुए वात-प्रधान तीनो दोष वातकुण्डलिका आदि तेरह प्रकार के मूत्राघातो को उत्पन्न करते हैं।[1]

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता—सिद्धिस्थान अ० ९।
२ सुश्रुतसहिता—उत्तरतन्त्र अ० ५८।
३. अष्टाङ्गहृदय—निदानस्थान अ० ९।
४. ,, चिकित्सास्थान अ० ११।
५. माधवनिदान—मूत्राघातनिदान।

मूत्रघात के तेरह प्रकार या भेद

१ वातकुण्डलिका—Spasmodic stricture
२ अष्ठीला—Inlarged prostate
३ वातवस्ति—Retention of urine
४ मूत्रातीत—Incontinence of urine
५. मूत्रजठर—Distended bladder.
६. मूत्रोत्सङ्ग—Stricture of urethra
७ मूत्रक्षय—Anurea or suppression of urine
८ मूत्रग्रन्थि—Inlarged prostate or tumour of the bladder or stone obstructing the bladder neck.
९ मूत्रशुक्र—Stagnation of semen
१०. उष्णवात—Urinary infection
११ विड्विघात—Retention of urine due to severe constipation or rectovesical fistulla

---

१ जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादय ॥

१२ मूत्रसाद—Scanty urination, oliguria
१३ वस्तिकुण्डल—Atonic condition of the bladder

वक्तव्य—चरकाचार्य और माधवकर ने १३ प्रकार के मूत्राघातो का वर्णन किया है, किन्तु सुश्रुत तथा वाग्भट ने वस्तिकुण्डल को नहीं माना है। इस प्रकार वे १२ मूत्राघात मानते हैं।

सम्प्राप्ति

यह एक दारुण व्याधि है, जो दो अवस्थाओ मे होती है—१ मूत्र का निर्माण न होना और २ मूत्र की प्रवृत्ति न हो पाना। इसके तीन मुख्य कारण हैं—

१ वृक्को की विकृति के कारण मूत्र का निर्माण न होना—वृक्क की विभिन्न विकृतियो मे मूत्र बन ही नही पाता। वृक्को से मूत्र छनता ही नही है, परिणाम-स्वरूप मूत्राघात हो जाता है। इस अवस्था मे रोगी के मुख तथा पैरो में शोथ मिलता है।

२. वस्ति की मासपेशियो मे सकोचशक्ति का अभाव होना—यदि मूत्र-निर्माण हो भी रहा हो तो भी और वस्ति मे सकोचन शक्ति अल्प हो गई हो तब भी मूत्र-त्याग नही होता। वस्ति की मासपेशी शिथिल हो जाती है, फलत मूत्र वस्ति मे एकत्रित हो जाता है, जिससे वस्ति फूल जाती है। वस्ति-प्रदेश मे सगर्भा के जैसा उभार दीखता है। वस्ति तथा कटि मे वेदना होती है।

३ गवीनियो अथवा मूत्रमार्ग मे किसी भी प्रकार का अवरोध होना—यदि अश्मरी गवीनियो मे फँस जाय तो वृक्को मे बना हुआ मूत्र गवीनियो से वस्ति में नही आ सकता। जिससे ऊपर की ओर मूत्र का दबाव बढ जाता है और वेदना होती है। आघात से या अन्य कारणो से मूत्रपथ मे शोथ हो जाने से तथा पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि से दबाव पडने के कारण भी मूत्रत्याग नही हो पाता। ऐसी स्थिति मे वस्ति-प्रदेश मे शूल होता है।

सम्प्राप्ति-चक्र

वृक्को की विकृति—वृक्कशोथ
वस्ति की विकृति—वस्तिशैथिल्य
गवीनियो और मूत्रमार्ग मे
  अवरोध—शोथ, अश्मरी
पौरुषग्रन्थि का दवाव—पौरुषग्रन्थिवृद्धि
वात-विड्-मूत्राद्यवरोध
रूक्ष, तीक्ष्ण पदार्थ-सेवन

} —निदान—वातप्रधान-दोषप्रकोप
|
मूत्राघात रोग

दोष-दूष्य अधिष्ठान—

दोष—वातप्रधान त्रिदोष।
दूष्य—मूत्र।
अधिष्ठान—वस्ति (Urinary tract)।
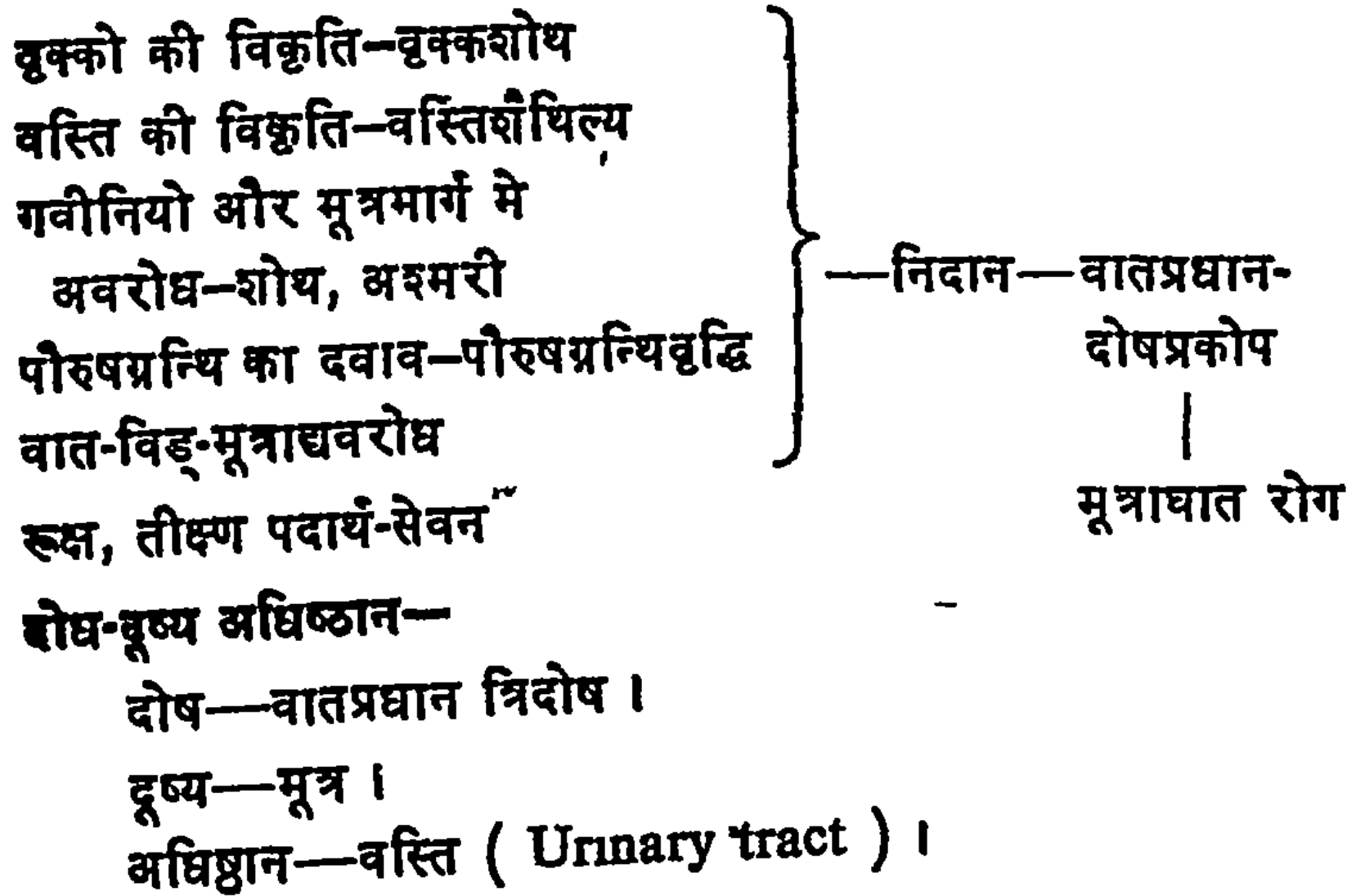
वक्तव्य—विकृति की दृष्टि से १३ मूत्राघातो मे ११ मूत्राघात ऐसे हैं, जिनमें मूत्र का अभाव तो नही होता, अपितु अवरोध हो जाता है; जब कि २ मूत्राघात ऐसे हैं, जिनमे मूत्र का अभाव हो जाता है, जैसे—१. मूत्रसाद और २. मूत्रक्षय। बाकी जो ग्यारह हैं, उनमे मूत्र का अवरोध होने से ये मूत्राघात कहलाते हैं।

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने मूत्रवह-संस्थान की विकृतियों के कारणो का विशेष व्यापक अध्ययन किया है। उनमें से मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात और मूत्रक्षय के विषय मे जिज्ञासुओं को ज्ञानसवर्धन करना चाहिए।

(१) वातकुण्डलिका—रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन तथा मूत्र-वेग को रोकने से विगुण हुआ वायु मूत्र को रोकते हुए कुण्डलाकार सचार करता है। इससे पीड़ा के साथ थोड़ी मात्रा मे मूत्रत्याग होता है। इस भयङ्कर रूप में कष्टदायक व्याधि को वातकुण्डलिका कहते हैं।

वक्तव्य—इस स्थिति को उद्वेष्टनात्मक सकोच (Spasmodic stricture) कहते हैं।

Dysuria

(Painful micturition)

1 Urethral · Acute urethritis, gonorrhoea, balanitis
2 Prostatic Acute gonococcal prostatitis, carcinoma
3 Bladder diseasas . Acute cystitis, bladder-stone.
4 Gynecological and rectal . Fibroids, carcinoma.

Retention of urine

1. Urethral causes Stricture of calculus
2 Prostatic Congestion or inflammation
3 Bladder Atony due to over distension
4 Post-operative
5 Post-anaesthetic After spinal anaesthesia
6 Neurological Spinal cord lesion.
7 Psychogenic Nervousness

Oliguria

(Diminished output of urine)

1 Physiological Humidity, environment, work
2 Poor intake of fluids
3 Loss of fluids Dehydration.
4 Excess of sugar and salt in diet.
5 Cardiac Congestive failure, left ventricular failure.
6 Renal Acute nephritis, collagen disease, uraemia, blackwater fever
7 Drugs Sulfonamides, mercury.
8 Vascular Thrombosis of renal artery or of inferior vena cava.

(२) अष्ठीला—वस्ति-प्रदेश मे कुपित हुआ वायु वस्ति तथा गुदा मे आध्मान उत्पन्न करता हुआ अष्ठीला (पत्थर का लोढ़ा) के समान चल और उभरी हुई ग्रन्थि को उत्पन्न करता है, इसे अष्ठीला कहते हैं। इससे मल तथा मूत्र के मार्ग मे अवरोध तथा तीव्र पीडा होती है।

(३) वातवस्ति—जब कोई बुद्धिहीन व्यक्ति मूत्र के वेग को रोकता है, तब वस्ति-स्थित वायु प्रकुपित होकर वस्ति के मुख मे अवरोध पैदा कर देती है। इससे मूत्रत्याग पूर्णरूपेण रुक जाता है और वस्ति तथा कुक्षि-प्रदेश मे पीडा होती है। इस कृच्छ्रसाध्य रोग को वातवस्ति कहते हैं।

(४) मूत्रातीत—यदि कोई व्यक्ति अधिक समय तक मूत्र-प्रवृत्ति के वेग को रोकता है, तो मूत्रत्याग करने पर उसका मूत्र जल्दी नही उतरता है। यदि उतरता भी है, तो बहुत धीरे-धीरे मूत्रस्राव होता है। इसे मूत्रातीत कहते हैं।

(५) मूत्रजठर—मूत्र-त्याग करने का वेग होने पर जो व्यक्ति उस वेग को रोक देता है, उसे उदावर्त हो जाने के कारण वस्ति-स्थित अपानवायु प्रकुपित होकर उसके उदर को वायु से भर देती है और नाभि के नीचे तीव्र वेदना युक्त आध्मान उत्पन्न कर देती है। वस्ति के अधोभाग (वस्तिमुख) मे अवरोध उत्पन्न करने वाले इस रोग को मूत्रजठर कहते हैं।

(६) मूत्रोत्सङ्ग—मूत्रत्याग करते हुए मनुष्य का मूत्र प्रवृत्त होकर भी वस्ति, शिश्ननाल या शिश्नमणि मे रुक जाता है अथवा जोर लगाने पर रक्तयुक्त आता है या धीरे-धीरे अत्यल्प मात्रा मे पीडा या विना पीडा के ही निकलता है। विगुण वायु से उत्पन्न इस रोग को मूत्रोत्सङ्ग कहते हैं।

(७) मूत्रक्षय—रूक्ष प्रकृति एव क्षीण शरीर वाले व्यक्ति के वस्ति मे पित्त और वायु प्रकुपित होकर मूत्र का क्षय, पीडा और दाह उत्पन्न कर देते हैं। इस रोग को मूत्रक्षय कहते हैं।

(८) मूत्रग्रन्थि—जब कोई गोल, स्थिर तथा छोटी ग्रन्थि वस्तिमुख के अन्दर अकस्मात् अश्मरी के समान पीडा देने वाली हो जाती है, तब उसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं।

(९) मूत्रशुक्र—मूत्र-प्रवृत्ति का वेग उठने पर (विना मूत्रत्याग किये) स्त्री के साथ सभोग करने वाले पुरुष की वायु प्रकुपित हो जाती है। अपने स्थान से च्युत किन्तु अवरुद्ध हुआ शुक्र मूत्रत्याग के पूर्व अथवा बाद मे निकलता है, जिससे मूत्र चूने के पानी के समान होता है। इसे मूत्रशुक्र रोग कहते हैं।

(१०) उष्णवात—अधिक व्यायाम, अधिक पैदल चलने तथा तेज धूप लगने से प्रकुपित हुआ वायु पित्त सहित वस्ति मे स्थित होकर वस्ति, मेढ़ू तथा गुद-प्रदेश मे दाह उत्पन्न करता है। जिससे हरिद्रावर्ण या रक्तमिश्रित मूत्र या केवल रक्त का ही स्राव होता है। मूत्र का त्याग कष्ट के साथ और बार-बार करना पडता है। इस रोग को उष्णवात कहते हैं।

वक्तव्य—यह अवस्था सामान्यत मूत्राशयकलाशोथ (Cystitis) अथवा मूत्रप्रसेकशोथ (Urethritis) के कारण होती है। यह शोथ पूयमेह के गोलाणु

(Gonococci) या दूसरे उपसर्गों से हो सकता है। यह शोथ प्राय. पूयमेह गोलाणु से ही होता है या दूसरे उपसर्गों से भी हो सकता है। उष्णवात शब्द से चिकित्सक पूयमेह (Gonorrhoea) का ही ग्रहण करते है।

(११) मूत्रसाद—यदि पित्त अथवा कफ पृथक् पृथक् या दोनो सम्मिलित रूप मे प्रकुपित वायु द्वारा गाढे हो जाते हैं, तो रोगी कठिनता से पीत-रक्त या श्वेत एव घना दाहयुक्त शुष्क (अल्प जल युक्त) मूत्र का त्याग करता है। वह मूत्र शखचूर्ण या गोरोचन के वर्ण सदृश तथा सपूर्ण दोषो के वर्णो के समान होता है। इसे मूत्रसाद कहते हैं।

(१२) विड्विघात—रूक्ष तथा दुर्वल व्यक्ति का मल जब वायु से उदावृत (विलोम) होकर मूत्रमार्ग मे पहुँच जाता है, तो रोगी मल से युक्त अथवा मल की गन्ध वाले मूत्र का पीडा के साथ त्याग करता है। ऐसी स्थिति को विड्विघात कहते हैं।

(१३) वस्तिकुण्डल—जल्दी-जल्दी चलने से, कूदने से, अधिक परिश्रम करने से तथा चोट लगने से दवाव के कारण वस्ति अपने स्थान से उलट कर या ऊपर उठ कर गर्भ के समान स्थूल प्रतीत होती है। इस अवस्था मे वस्ति मे शूल, स्पन्दन तथा दाह होता है, मूत्र बूँद बूँद करके निकलता है, किन्तु वस्ति के दवाने पर मूत्र की धारा निकल पडती है। शरीर जकड जाता है और ऐंठन सदृश पीडा होती है। इस रोग को वस्तिकुण्डल कहते हैं। यह रोग शस्त्र व विप अथवा विप मे बुझे हुए शस्त्र के समान भयङ्कर होता है। इसमे वायु की प्रवलता रहती है और साधारण बुद्धि का व्यक्ति इसकी चिकित्सा नही कर सकता।

वस्तिकुण्डल रोग मे पित्त का अनुबन्ध होने पर दाह, शूल तथा मूत्र मे विवर्णता आ जाती है। कफ का अनुवन्ध होने पर शरीर मे भारीपन और शोथ होता है एव मूत्र चिकना, गाढा तथा सफेद आता है।

वक्तव्य—इसे एटॉनिक कण्डीशन आफ दी ब्लैडर (Atonic condition of the bladder) कह सकते हैं।

वस्तिकुण्डल की साध्यासाध्यता

पित्त की प्रवलता होने पर तथा कफ के द्वारा मूत्रमार्ग मे अवरोध होने पर यह रोग असाध्य होता है।

जब मूत्रमार्ग बन्द न हो अथवा वस्ति कुण्डलीकृत (ऐंठन या सकोच के कारण बन्द) न हो, रोगी को तृष्णा, मूर्च्छा तथा श्वास के लक्षण न हो, तो वस्तिकुण्डल रोग साध्य होता है।

सर्वविध मूत्राघात का चिकित्सा-सूत्र

१ मूत्राघात के रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके एरण्ड तैल आदि का स्निग्ध विरेचन देना चाहिए।

२. मूत्राघात मे आस्थापनवस्ति, अनुवासनवस्ति और उत्तरवस्ति का प्रयोग करना विशेष हितकर है।

३ जिन औषधो का प्रयोग मूत्रकृच्छ्र मे किया जाता है, उन्ही औषधो को अधिक शक्तिशाली बनाकर दोषानुसार प्रयोग करना चाहिए।

४. रोगी की प्रकृति और बल तथा रोगबल एव दोष का विचार कर मूत्रल कषाय, कल्क, घृत, दुग्ध, अवलेह आदि का प्रयोग करे।

५. रोगजनक सभी कारणों का परित्याग करना चाहिए।

६ क्षार, मद्य और आसव आदि मूत्रल औषधो का प्रयोग करे।

७ यह वातप्रधान रोग है, इसलिए वातानुलोमन और उदावर्तहर औषधयोगो का प्रयोग करना चाहिए।

८. वातज मूत्राघातो (१. वातकुण्डलिका, २. अष्ठीला, ३ वातवस्ति, ४. मूत्र-जठर, ५ मूत्रोत्सग, ६ विड्विघात, ७ वस्तिकुण्डल और ८ मूत्रशुक्र) मे वातनाशक बलातैल एव नारायण तैल का अभ्यग करके नाभि के निचले भाग पर पिण्डस्वेद करे, परिषेचन करे तथा वातघ्न सुखोष्ण क्वाथ भरे टब में अवगाहन करावे।

९. मिश्रकस्नेह (च० चि० २६) का पीने, भोजन के साथ खाने एव उपनाह-स्वेद आदि मे प्रयोग करना अति हितकर है।

१० सुरा मे पर्याप्त कालानमक मिलाकर पिलाना चाहिए। मात्रा का निर्धारण रोगी के बलानुसार करे।

११. पित्तप्रधान मूत्राघातो (१ उष्णवात, २ मूत्रसाद एव ३ मूत्रक्षय) में शीतल पित्तघ्न क्वाथ का अवसेचन, शीतल द्रव्यो का नाभि पर लेपन तथा शीतल क्वाथ मे अवगाहन करावे।

१२ शतावर, गोखरू, विदारीकन्द, कशेरू और पंचतृणमूल के क्वाथ मे चीनी मिलाकर १०० मि० ली० की मात्रा दिन मे ३–४ बार पिलावे।

१३ अरुस के पत्ते, खीरा-ककडी और कुसुम्भ के बीज और केशर का शर्बत अंगूर के रस के साथ पिलावे।

१४ ककडी बीज, मुलहठी और दारुहल्दी का चूर्ण या क्वाथ पिलावे।

१५ कफज मूत्राघातो (१ मूत्रग्रन्थि, २. मूत्रातीत) मे वमन एव् स्वेदन करावे। भोजन मे तीक्ष्ण, उष्ण और कटु पदार्थों का प्रयोग करे।

१६ जौ की दलिया या रोटी, जवाखार तथा तक्र का सेवन करावे।

१७ छोटी इलायची का चूर्ण आधा ग्राम, आंवले के रस या मद्य के सा सेवन करावे।

१८ प्रवालपिष्टी २५० मि० ग्रा० तण्डुलोदक से ३ बार दे।

१९ धव, छितवन की छाल, कोरया की छाल, अमलतास, गुरुच, कुटकी, छो इलायची और करञ्ज का क्वाथ मधु मिलाकर पिलावे तथा इसी क्वाथ मे व पेया पिलावे।

२०. सभी मूत्राघातो मे मूत्रविरजनीय, मूत्रशोधनीय और मूत्रविरेचनीय द्रव्यो का प्रयोग चूर्ण या क्वाथ के रूप मे करना चाहिए।

२१. मूत्राशय और पेडू पर लेप, अवसेचन आदि बाह्य उपचार करे।

सामान्य चिकित्सा

बाह्य उपचार

१. वस्तिस्थान पर राई, पलाश के फूल और चूहे की मेंगनी को पीसकर लेप करना चाहिए।

२ कुन्दरू लता की जड को पानी मे पीसकर पेडू पर लेप करे।

३ बनचौलाई को पीसकर गरम कर लेप करना चाहिए।

४. खेखसा का लेप लगाना या गरम करके सेंकना लाभकर है।

५. केवल गरम जल या सुखोष्ण तैल की धारा पेडू पर गिराना लाभकर है।

६. लिङ्ग के छिद्र मे पिसा हुआ कपूर ३०० मि० ग्रा० रखना चाहिए।

७ यदि उक्त कषाय सफल न हो तो मूत्रशलाका (कैथेटर) लगाकर मूत्र निकालना चाहिए।

आभ्यन्तर उपचार

१. ककडी के वीज २५ ग्राम तथा सेंधानमक २५ ग्राम मिलाकर २०० मि० ली० काञ्जी के साथ पीने से मूलविवन्ध दूर होता है।

२ पेठे के २५ ग्राम स्वरस मे ½ ग्राम जवाखार और १० ग्राम गुड मिलाकर पिलावे।

३. पाषाणभेद के पत्ते २५ ग्राम पीसकर मट्ठे के साथ पिलाना चाहिए।

४ अशोक के वीज का २० ग्राम चूर्ण शीतल जल के साथ सेवन करावे।

५ छोटी इलायची का चूर्ण ½ ग्राम और सोठ का चूर्ण ½ ग्राम मिलाकर अनार का रस १ चम्मच तथा मधु के साथ दिन मे ३ बार देना चाहिए।

६ शुद्ध शिलाजीत ½ ग्राम, शक्कर १ ग्राम मिलाकर दशमूल क्वाथ से पिलावे।

७ **वरुणादि क्वाथ** या **तृणपंचमूल क्वाथ** या **पुनर्नवाष्टक क्वाथ** पिलावे।

८ **उशीरादि चूर्ण** (योगरत्नाकर) ५ ग्राम दिन मे ३ बार मधु से देवे।

९ **शतावर्यादि योग** (यो० र०)—शतावर, गोखरू पचाग, भुँई आँवला पचाग समभाग का क्वाथ ५० मि० ली०, यवक्षार १ ग्राम, कलमीसोरा २ ग्राम और भुना चौकिया सुहागा ३०० मि० ग्रा० एकत्र कर पीने से प्रबल मूत्राघात मे शीघ्र लाभ होता है।

१० **वीरतर्वादि क्वाथ** (शा० स०)—वीरतरु (सरपत की जड), बांदा (बाँझी), अरुस के पत्ते, पीले और नीले फूल की कटसरैया, कुश, दर्भ (बडा कुश), नरसल, मौलिश्री का फूल, अरणी की छाल, मूर्वा, पाषाणभेद, सोनापाठा, गोखरू, चिचिडे की जड, कमलपुष्प और ब्राह्मी, इनके समभाग का क्वाथ मूत्रकृच्छ्, मूत्राघात तथा अश्मरी-नाशक है।

सिद्ध योग

१. गोक्षुरादि गुग्गुलु १–१ ग्राम दिन मे ३ बार दूध या जल से देवे ।

२ चन्द्रप्रभा वटी १ ग्राम, शीतल मिर्च चूर्ण १ ग्राम और गोक्षुरादि क्वाथ से २ बार ।

३ गोक्षुराद्यवलेह २५ ग्राम, दूध से प्रात -साय देना चाहिए ।

४. शिवा गुटिका १–२ ग्राम, दूध या शीतल जल से दिन मे २ बार देवे ।

५ चन्द्रकला रस २५० मि० ग्रा०, शीतल जल से सवेरे-शाम देना चाहिए ।

६. तारकेश्वर रस २५०–५०० मि० ग्रा०, गूलरफल चूर्ण ५ ग्राम और मधु से ।

७ वरुणादि लौह १–२ ग्राम, प्रात काल जल से प्रयोग करे ।

८ वृहद् वगेश्वर रस २००–३०० मि० ग्रा०, दिन में २ बार दूध के साथ देवे ।

९. सुवर्णवग—४००–५०० मि० ग्रा०, दिन मे २ बार मक्खन-मिश्री के साथ ।

१०. भोजनोत्तर उशीरासव या चन्दनासव या सारिवाद्यासव २५ मि०ली० मे छोटी इलायची का चूर्ण ५०० मि० ग्रा० और आसव से दूना जल मिलाकर पिलाना चाहिए ।

विशिष्ट चिकित्सा

१ वातकुण्डलिका, अष्ठीला और वातवस्ति मे शुद्ध शिलाजीत १ ग्राम, चीनी २० ग्राम और दशमूल क्वाथ १०० मि० ली० प्रात -सायं पीने से सन्तोषप्रद लाभ होता है ।

२. मूत्रशुक्र और मूत्रोत्सग मे शुद्ध शिलाजतु १ ग्राम, शुद्ध गुग्गुलु १ ग्राम, चीनी २० ग्राम और गोखरू क्वाथ १०० मि० ली० मिलाकर दिन मे २ बार पिलावे ।

३ मूत्रातीत और मूत्रजठर मे शुद्ध शिलाजीत १ ग्राम और चीनी २० ग्राम खिलावे ।

४ सभी मूत्राघातो मे शुद्धशिलाजीत १ ग्राम, मधु २५ ग्राम और वीरतर्वादि क्वाथ १०० मि० ली० मिलाकर पिलाने से मूत्रावरोध दूर होता है ।

५ मूत्रग्रन्थि मे—१ प्रातः-साय चन्द्रप्रभावटी १–१ ग्राम ताजा गोमूत्र १०० मि० ली० से । २. २ बजे और ५ बजे गोक्षुरादि गुग्गुलु १–१ ग्राम पुनर्नवाष्ट क्वाथ १०० मि० ली० से ।

६. उष्णवात (Gonorrhoea) या सुजाक में—

१. उष्णवात के रोगी को पूर्ण आरोग्यप्राप्ति-पर्यन्त स्त्री-सभोग की तृष्णा सर्वथा छोड देनी चाहिए । जीने की अभिलाषा रखनेवाले रोगी को वाराङ्गना और पुंश्चली स्त्री का सग छोड देना चाहिए ।

२. इस रोग मे शोथघ्न, व्रणघ्न और मूत्रल उपचार करना चाहिए ।

३. वातानुलोमन औषध एव अन्नपान का प्रयोग करना चाहिए ।

४ चमेली के पत्ते के अथवा त्रिफला के सुखोष्ण क्वाथ मे मूत्रेन्द्रिय को डुबोकर १–१ घण्टा प्रतिदिन रखना चाहिए ।

५ पिप्पली, बबूल की छाल और त्रिफला के क्वाथ मे कच्ची फिटकरी का चूर्ण मिलाकर उत्तरवस्ति देनी चाहिए।

६. शुद्ध फिटकरी २ ग्राम और देशी चीनी ४ ग्राम खाकर बाद मे सौंफ का चूर्ण ३ ग्राम और छोटी लाइची का चूर्ण १ ग्राम मिलाकर बनायी गयी दूध की मीठी लस्सी ½ लीटर दिन मे २ बार पिलावे।

७ उष्णवातारि चूर्ण—शीतल चीनी १०० ग्राम, सगजराहृतभस्म २५ ग्राम, कलमीसोरा २० ग्राम, शुद्ध फिटकरी ५ ग्राम, शुद्ध स्वर्णगैरिक ५ ग्राम और राल ३०० ग्राम, सब मिलाकर चूर्ण बनावे। दिन मे ३–४ बार ४–४ ग्राम की मात्रा मे बराबर चीनी मिलाकर १ गिलास शीतल जल से पिलावे।

व्यवस्थापत्र

१. प्रात तथा साय ६ बजे

कन्दर्प रस	५०० मि० ग्रा० / २ मात्रा

शीतलचीनी चूर्ण १ ग्राम और मधु से।

२ ९ बजे व २ बजे दिन

व्रणमेहहर चूर्ण	४ ग्राम / २ मात्रा
दूध की लस्सी के साथ।	

३ भोजनोत्तर २ बार

चन्दनासव	४० मि० ली० / २ मात्रा
समान जल मिलाकर पीना।	

४ ८ बजे व ४ बजे

श्वेतपर्पटी	४ ग्राम / २ मात्रा
समान मिश्री और श्वेतचन्दन	

चूर्ण ३ ग्राम १ गिलास शीतल जल से।

५. रात मे सोते समय

हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण	६ ग्राम / १ मात्रा
सुखोष्ण जल से।	

पथ्य

मट्ठा, दूध, यूष, पेठा, अनार, नारियल, पुराना चावल, मूंग, ककडी, खीरा, लौकी, नेनुआ, परवल, आंवला, कचनार का फूल, हर्रे, खजूर, पुरानी सुरा, मिश्री तथा मूत्रकृच्छ्र मे जो पथ्य कहे गये हैं, वे सब मूत्राघात मे भी पथ्य हैं।

अपथ्य

विरुद्ध भोजन, व्यायाम, मार्ग चलना, परिश्रम करना, रूक्ष, विदाही और तीक्ष्ण पदार्थ, विबन्धकारक और दुर्जर पदार्थ, मूत्र-पुरीष-अपानवायु आदि का अवरोध और मैथुन, करीर खाना और वमन, ये सब अपथ्य हैं।

अश्मरी रोग

परिचय—अश्मरी अत्यन्त भयङ्कर रोग है, जो यम के समान मारक है। जब वस्ति, वृक्क या गवीनि मे पत्थर के टुकडे जैसी कोई वस्तु अटक जाती है, जिससे मूत्रावरोध होने लगता है, मूत्र गरम-गरम निकलता है, रोगाक्रान्त स्थल और उसके अगल-बगल वस्ति, गवीनि या वृक्क मे भयङ्कर पीडा होती है, तो उसे **अश्मरी रोग** कहते हैं। जब पित्ताशय मे पित्त रुककर कठोर पत्थर जैसा कडा स्वरूप धारण कर लेता है, तब उसे पित्ताश्मरी कहते हैं। जैसे गाय के पित्ताशय मे पित्त के सूखने से गोरोचन बन जाता है, उसी तरह अश्मरी भी बन जाती है।

निर्वचन—अश्मरी शब्द की निरुक्ति या निर्वचन इस प्रकार है—'अश्मान राति, इति अश्मरी' [अश्मान राति। 'आतोऽनुप' (३।१।३) इति क। 'गौरादि' (४।१।४१)। अमरकोष, रामाश्रमी-टीका २।६।५६] जो पत्थर जैसा स्वरूप धारण करे वह अश्मरी है या जिसकी पत्थर जैसी रचना हो, उसे अश्मरी कहते हैं।

निदान[1]

(१) वमन विरेचन आदि पञ्चकर्मों के द्वारा शरीर का शोधन न करना।
(२) मिथ्या आहार-विहार, कडी धूप मे रहना, अधिक परिश्रम करना।
(३) मदिरा, चाय और मिठाई का अधिक सेवन करना।
(४) दूध, साग-सब्जी, नमक तथा क्षारीय पदार्थों का कम प्रयोग करना।
(५) कुपथ्य और मल-मूत्रादि वेगो को रोकना आदि।

भेद[2]

वात, पित्त, कफ से तीन तथा शुक्र से एक कुल चार प्रकार की अश्मरियाँ होती हैं। प्राय सभी मे कफ समवायिकारण (आधारभूत उपादान) होता है। प्राय सभी अश्मरियाँ त्रिदोषज होती हैं। दोष की अधिकता के अनुसार उसके वातज आदि भेद किये जाते हैं।

वक्तव्य—चरक ने अश्मरी को एक प्रकार का कहा है, किन्तु सुश्रुत और वाग्भट ने वात-पित्त-कफ तथा शुक्र भेद से ४ प्रकार का मानकर चारो का अलग-अलग लक्षण एव चिकित्सा का निर्देश किया है।
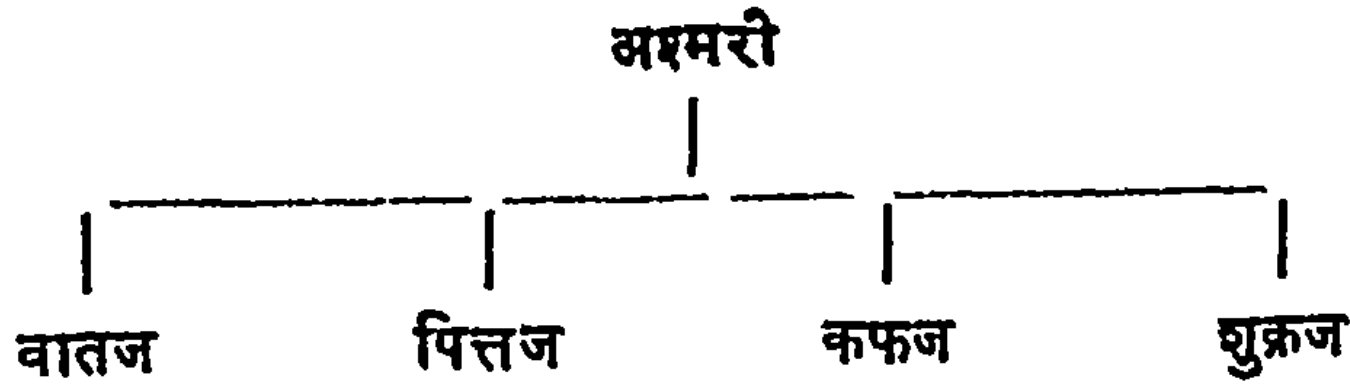
सन्दर्भ ग्रन्थ—१ चरक० चिकित्सा० २६, २ सुश्रुत० निदान ३ और चिकित्सा ७, ३ अष्टाङ्गहृ० निदान ९ और चिकित्सा ११।

---

१ सुश्रुत० निदान० ३।४

२ माधवनिदान।

सम्प्राप्ति[1]

१ जब वायु वस्तिगत शुक्र, मूत्र, पित्त अथवा कफ को सुखा देती है, तो गाय के पित्ताशय मे पित्त के सूखने से बने गोरोचन के समान क्रम से अश्मरी बन जाती है।

२ स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित हुआ श्लेष्मा मूत्र के साथ मिलकर वस्ति मे प्रवेश करके अश्मरी को उत्पन्न करता है।

३. जिस प्रकार नये घडे मे अति स्वच्छ जल भरने पर भी कुछ समय बाद उसमें अवक्षेप (Precipitate) या कीचड या तलछट बैठ जाता है, उसी तरह वस्तिस्थ मूत्र में भी अश्मरी उत्पन्न हो जाती है।

४. जिस प्रकार वायु और विद्युत् की अग्नि आकाश के जल को बाँधकर ओले बनाती है, उसी प्रकार वायु के सहित अग्नि (पित्त) मूत्र के साथ आये हुए कफ को बाँधकर अश्मरी बना देती है।

सम्प्राप्ति-चक्र
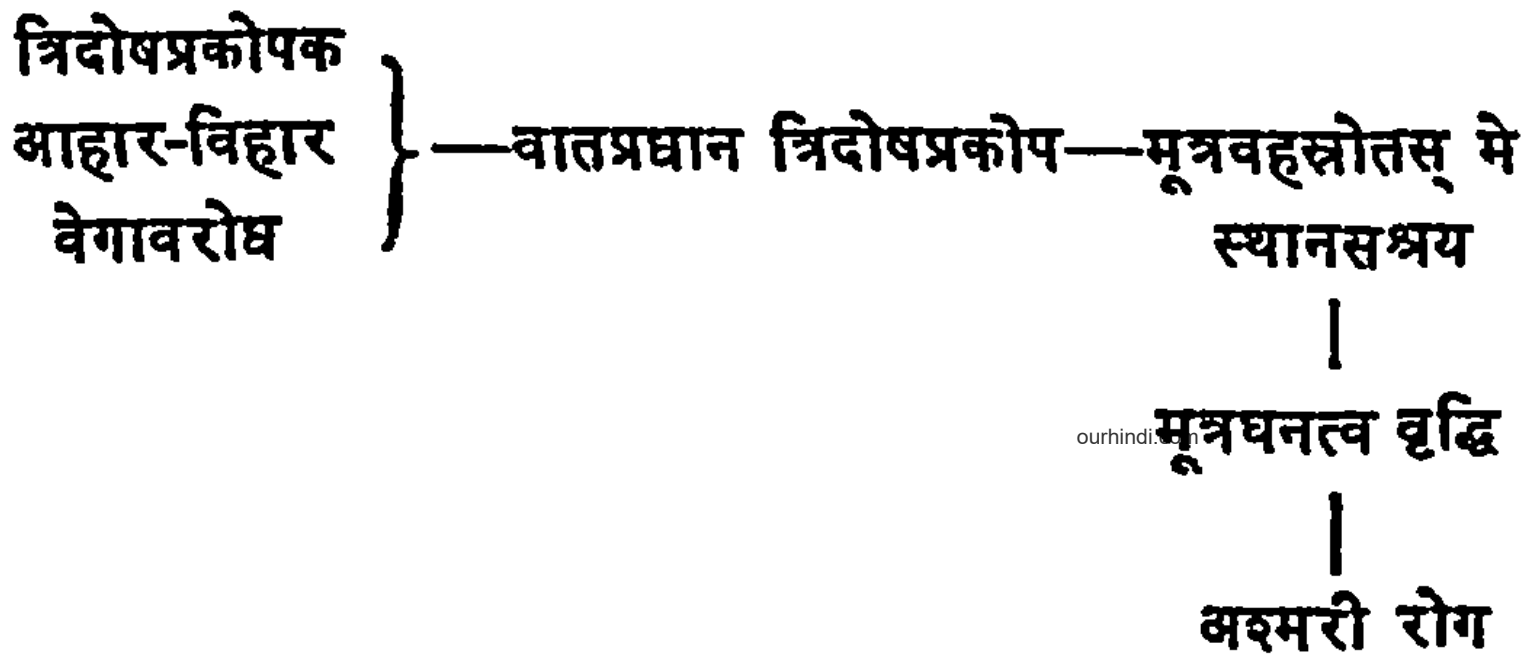
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१. दोष—वातप्रधान त्रिदोष।
२. दूष्य—मूत्र।
३. स्रोतस्—मूत्रवहस्रोतस्
४ अधिष्ठान—वस्ति, वृक्क, गवीनि।
५ पक्वाशयोत्थ रोग।

पूर्व रूप[2]—मूत्राशय का फूला होना, उसमे तथा उसके समीपस्थ प्रदेशों मे तीव्र वेदना, मूत्र में बकरे के सदृश गन्ध आना, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर तथा अरुचि होना, ये अश्मरी के पूर्व रूप हैं।

अश्मरी का स्वरूप और सामान्य लक्षण[3]

अश्मरी कदम्ब के फूल के आकार की, पत्थर की तरह कडी या कदाचित् कोमल, चिकनी और तिकोनी होती है। जब वह मूत्र के मार्ग मे आती है, तो मूत्र-

---

१ चरक० चि० २६।३६ तथा सुश्रुत निदान० ३।२५-२६
२ अ० हृ० नि० ९।
३. चरक० चि० २६।३७-३८ तथा अ० हृ० नि० ९।

निर्गमन को रोक देती है या मूत्र की अनेक धारा कर देती है और वस्ति मे पीडा उत्पन्न करती है तथा सिवनी तथा लिङ्ग आदि मे शूल पैदा करती है। वेदना से पीडित होकर रुग्ण व्यक्ति अपनी मूत्रेन्द्रिय को हाथो से मलने लगता है। उसे वार-वार मूत्र तथा मल का वेग उठता है। मूत्र-मार्ग से अश्मरी के हट जाने पर रोगी स्वच्छ या गोमेद के समान रक्ताभ मूत्रत्याग करता है और उसे कोई कष्ट नही होता। यदि अश्मरी की रगड से वस्ति मे क्षत हो जाय, तो मूत्र में रक्त भी आने लग जाता है। अश्मरी के मूत्रमार्ग मे रहने पर यदि जोर लगाकर मूत्रत्याग किया जाय, तो भयङ्कर पीडा होती है।

शर्करा का स्वरूप और लक्षण[1]

वायु के द्वारा शुष्क हो जाने से, पित्त के द्वारा परिपाचित हो जाने से और सगठित करने वाले कफ द्वारा सगठन न करने से अश्मरी वालू के कण की तरह टुकडे-टुकडे हो जाती है, तो उसे शर्करा कहते हैं। वह शर्करा मूत्रत्याग के समय वाहर निकलती है।[2]

लक्षण—हृदय मे पीडा होना, कम्पन, कुक्षि मे शूल, मन्दाग्नि, मूर्च्छा और भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र होना, इसके लक्षण हैं। मूत्र के वेग के साथ शर्करा के वाहर निकल जाने पर वेदना तव तक शान्त रहती है, जब तक कि अन्य शर्करा मूत्र के मार्ग को पुन अवरुद्ध न कर दे।

वाताश्मरी का लक्षण

वातज अश्मरी मे रोगी को इतनी अधिक पीडा होती है, कि वह ओठो को दांतों से काटने लगता है और कांपता है। अपने मूत्रेन्द्रिय को हाथ से पकडता है और कराहता हुआ नाभि को दवाता है। वह जब अपानवायु छोडता है, तो साथ-साथ मलोत्सर्ग भी कर देता है। उसे वार-वार बूंद बूंद पेशाव होती है। वातज अश्मरी रक्ताभ श्यामवर्ण की होती है और उसके ऊपर कांटे उगे होते हैं जो घने होते हैं।[3]

पित्ताश्मरी का लक्षण

पित्तज अश्मरी होने पर वस्ति मे जलन होती है और पच्यमान व्रण के समान उष्णता रहती है। वह भिलावे की गुठली के आकार की होती है। उसका वर्ण लाल, पीला या काला होता है।[4]

कफज अश्मरी का लक्षण

कफज अश्मरी के कारण वस्ति मे सूई चुभाने जैसी वेदना होती है। उसमे शीतलता और भारीपन मालूम होता है। यह अन्यो की अपेक्षा वडी और चिकनी होती है। इसका वर्ण मधु के समान अथवा श्वेत होता है।

---

१ माधवनिदान।
२ एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्ति. स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती। च० चि० २६
३ मा० नि०।
४. मा० नि०।

उक्त दोषज अश्मरियों की साध्यता

ये दोषज अश्मरियाँ प्राय बालको को ही होती हैं। ये अश्मरियाँ आश्रग (वस्ति स्थान) और अपने आकार के लघु होने के कारण आसानी से पकडकर निकाली जा सकती हैं।

शुक्राश्मरी का लक्षण

शुक्राश्मरी वयस्क पुरुषो को ही होती है, यदि वे शुक्र का वेग धारण करते हैं। कामवासना की इच्छा या मैथुन करने से शुक्र अपने स्थान से चलित हो जाता है, फिर भी यदि कोई व्यक्ति उस चलित शुक्र के वेग को रोकता है, तो वह दोनो अण्ड-कोषो के मध्य (मूत्र-प्रणाली) मे ठहर जाता है। इसको वायु सुखा देती है जिससे वह शुक्र अश्मरी के तुल्य हो जाता है, जिससे वस्ति-प्रदेश मे पीडा, मूत्रकृच्छ्र तथा अण्डकोषो मे शोथ हो जाता है। शुक्राश्मरी के उत्पन्न होते ही अश्मरी के स्थान पर दवाने से ही अश्मरी विलीन हो जाती है और शुक्र मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाता है।

अश्मरी की असाध्यता[1]

जिस रोगी के अण्डकोष और नाभि मे शोथ हो गया हो, जिसका मूत्र रुक गया हो तथा वह पीडा की अधिकता से वेचैन हो एवं जिसे अश्मरी के साथ-साथ सिकता और शर्करा का भी अनुवन्ध हो, उसे असाध्य समझना चाहिए।

अश्मरी के उपद्रव[2]

वायु के प्रतिलोम होने पर जब शर्करा मूत्रमार्ग मे आकर अटक जाती है, तब मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ्र, दुर्बलता, पीडा, कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डु, उष्णवात, तृष्णा, हृदय पीडा और छर्दि आदि उपद्रव होते हैं।

चिकित्सा-सूत्र

१. अश्मरी में सामान्यत त्रिदोषशामक और शोधन चिकित्सा करनी चाहिए।
२ स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति और उत्तरवस्ति का प्रयोग करे।
३ लघन, जलावगाहन, वस्ति पर प्रलेप या वस्ति पर जलधारा गिरावे।
४ वाताश्मरी मे वस्ति का प्रयोग करे तथा पूर्वरूप में घृतपान करावे।
५. पित्ताश्मरी में विरेचन करावे तथा पाषाणभेदादिगण का प्रयोग करे।
६ कफाश्मरी मे वमन और क्षार का प्रयोग करे।
७ अश्मरी रोग मे पाषाणभेद और कुलथी के योगों का प्रयोग करे।

---

१ प्रशूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम्।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता॥

२ मूत्रस्रोत प्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान्।
दौर्बल्य सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमथारुचिम्॥
पाण्डुत्वमुष्णवात च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम्। सु० नि० ३।२६-२७

८ रोगी को निगद नामक मद्य पिलाकर रथ या घोड़े पर या तेज चलनेवाली सवारी पर बैठाकर दौड़ाना चाहिए।

९ यदि उक्त क्रियाओ से लाभ न हो, अश्मरी का भेदन न हो, वह बाहर न निकले और यदि अश्मरी बडी हो, तो शल्यविद् से शल्यकर्म कराना चाहिए।

१० घृतपान, क्षारप्रयोग, कषायपान, दुग्धपान एवं उत्तरवस्ति के प्रयोग सफल न हो, तो ऐसी स्थिति मे शल्यविद् से शल्यकर्म कराना चाहिए।

सामान्य चिकित्सा

१. **वीततर्वादिगण** (शा० स०) का उल्लेख मूत्राघात चिकित्सा में किया गया है। उसकी औषधो का क्वाथ या चूर्ण बनाकर या दूध मे पकाकर या उससे सिद्ध जल मे यवागू पकाकर या भोजन बनाकर खिलाना चाहिए।

२ **अश्मरीहर कषाय**—पाषाणभेद, सागौन के फल, पपीते की जड, शतावर, गोखरू बीज, वरुण की छाल, कुशमूल, कासमूल, धान की जड, गदहपुर्ना की जड, गुरुच, चिचिडे की जड और खीरा का बीज १–१ भाग, जटामासी और खुरासानी अजवायन २–२ भाग लेकर, सबको जौकुट करके रख ले। इसमे से ५० ग्राम दवा को १ लीटर जल मे चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ बना ले। इसे ४ खुराक बनावे और दिन में ४ बार ३–३ घण्टे पर पिलावे। इसके साथ प्रत्येक बार ३०० मि० ग्रा० शिलाजीत, ३०० मि० ग्रा० श्वेतपर्पटी और ½ ग्राम जवाखार भी मिलाकर पिलावे।

३ **ऊषकादि गण**—क्षारयुक्त मिट्टी (रेह), सेंधानमक, हीग, शुद्ध कासीस, पुष्प कासीस, शुद्ध गुग्गुलु, शुद्ध शिलाजीत और शुद्ध तुत्थ, इनका मिलित चूर्ण १ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३ बार देना चाहिए।

४ **वरुणादि क्वाथ**—वरुण की छाल, सोठ, गोखरू बीज, मुसली, कुलथी और पचतृणमूल का क्वाथ १०० मि० ली० १ ग्राम जवाखार मिलाकर २ बार रोज पिलावे।

५ **एलादि क्वाथ**—छोटी इलायची, पीपर, मुलहठी, पाषाणभेद, रेणुका, गोखरू, अरूस और एरण्डमूल के समभाग के १०० मि० ली० क्वाथ में शुद्ध शिलाजीत ½ ग्राम, मधु ६ ग्राम और चीनी १५ ग्राम मिलाकर २ बार पिलावे।

६. **शिग्रु-प्रयोग**—सहिजन के मूल की छाल ५० ग्राम लेकर पीसकर, उसे घी और तेल मे भून ले। फिर उसमे आधा लीटर पानी डालकर यूष बनावे और दही का पानी उतना ही मिलावे और उसे शीतल करके सेंधानमक का चूर्ण डालकर इच्छानुसार पीने को दे।

७ **त्रुटयादि चूर्ण**—छोटी इलायची, देवदारु, सेंधा-सोचर-विड-सामुद्र और औद्भिद् ये पाँचो नमक, जवाखार, कुन्दरू, पाषाणभेद, कत्रीला, गोखरू, ककड़ीबीज, खीराबीज, चित्रकमूल की छाल, हीग, जटामासी और अजवाइन, प्रत्येक १–१ भाग, आँवला-हर्रा-बहेडा इनका निर्बीज फल २–२ भाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर छान ले। इसे ३–४ ग्राम की मात्रा मे अनार के रस, मद्य या यूष के साथ सबेरे-शाम दे। इसके सेवन से अश्मरी का भेदन हो जाता है।

८ पाषाणभेदादि चूर्ण (च० चि० २६)—इस चूर्ण को ३–३ ग्राम दिन मे ३ बार देवे अथवा इस चूर्ण से चतुर्गुण घृत और घृत से चतुर्गुण गोमूत्र डालकर घृत-पाक कर उसका प्रयोग करने से अश्मरी का भेदन और पातन हो जाता है।

९. अश्मरीभेदन योग—गोखरूमूल, तालमखानामूल, एरण्डमूल, छोटी कटेरी और बडी कटेरी का मूल को समान भाग मे लेकर चूर्णकर दूध मे पीसकर मीठी दही के साथ पिलाना चाहिए। मात्रा—५ ग्राम।

१०. गोखरू का बीज चूर्ण ५ ग्राम और मधु १० ग्राम बकरी या भेंड के दूध के साथ प्रात -सायं ८–१० दिनो तक सेवन करे।

११ बाकुची बीज ३ ग्राम और वरुण की छाल ३ ग्राम जौकुट कर किसी मिट्टी के पात्र मे १ कप पानी डाल भिगोकर सवेरे मसलकर छानकर पीना चाहिए।

१२ एकल या संयुक्त रूप से चूर्ण या क्वाथ मे निम्नलिखित द्रव्यो का प्रयोग उत्तम है—बन्दाल (पेड की बाँझी), गोखरू, पाषाणभेद, अपामार्ग, कलमीसोरा, जवाखार, पचतृणमूल, सहिजन, पुनर्नवा, कुसुम्भबीज, पलाशपुष्प, लोहबान, तालमखाना, अनन्तमूल, शीतलमिर्च, कुलथी, शिलाजीत, हजरलजहूदभस्म, वरुणादि गण, ऊषकादि गण आदि।

सिद्धयोग

१ त्रिविक्रम रस ६०–१०० मि० ग्रा० तथा बिजौरानीबू के जड का चूर्ण १ ग्राम दोनो साथ मे जल से दिन में २–३ बार देना चाहिए।

२ पाषाणवज्र रस २५० मि० ग्रा० प्रात -साय कुलथी के क्वाथ से दे।

३. वरुणादि लौह १–२ ग्राम, कुलथी के क्वाथ से सवेरे-शाम दे।

४ त्रिनेत्र रस २५० मि० ग्रा० शीतल जल अथवा दूव, मुलहठी और सेमर के मूल से क्षीरपाक-विधि से पकाये दूध मे बनी खीर के साथ २ बार।

५ हजरलजहूदभस्म ३०० मि० ग्रा०, यवक्षार ३०० मि० ग्रा०, चूहे की मेंगनी १ ग्राम और पुनर्नवामूल चूर्ण १ ग्राम के साथ मधु से २ बार दे।

६ श्वेतपर्पटी ½–१ ग्राम द्विगुण चीनी के साथ ३ बार देवे।

७ पाषाणभेद का चूर्ण २० ग्राम दिन मे ३ बार वरुणादि क्वाथ से।

८ चन्द्रप्रभावटी, गोक्षुरादि गुग्गुलु, गोक्षुराद्यवलेह का दीर्घकाल तक प्रयोग करना हितकर है। रोगी के बलानुसार मात्रा देवे।

विशिष्ट चिकित्सा

वाताश्मरी

प्रात -साय पाषाणभेदादि घृत की ३–४ ग्राम मात्रा वरुणादि क्वाथ मे देवे। पाषाणभेदादि गण की ओषधो से सिद्ध जल मे यवागू, पेया आदि आहार सिद्ध कर खिलावे।

व्यवस्थापत्र

१. प्रात: पाषाणभेदाद्य घृत	२–४ ग्राम
वरुणादि क्वाथ से।	१ मात्रा
२. ९ बजे दिन	
ऊषकादि चूर्ण	१ ग्राम
कुलत्थ क्वाथ से।	१ मात्रा
३. भोजनोत्तर—	
रोहीतकारिष्ट	२० मि० ली०
समान जल से २ बार।	१ मात्रा
४ साय ६ बजे	
एलादि चूर्ण	३ ग्राम
कुलत्थ यूष से।	१ मात्रा
५. सोते समय	
वैश्वानर चूर्ण	६ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

पित्ताश्मरी

प्रात-सायं कुशादि घृत ५–१० ग्राम को एलादि क्वाथ ५० ग्राम में मिलाकर पीना एव पाषाणभेद के १०० ग्राम क्वाथ मे ५०० मि० ग्रा० शिलाजीत और २० ग्राम चीनी मिलाकर दो बार पीना।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात-साय	
कुशादि घृत	२०–४० ग्राम / २ मात्रा
पाषाणभेद के क्वाथ के साथ।	
२ ९ बजे व २ बजे	
पाषाणवज्रक	१ ग्राम
यवक्षार	१ ग्राम
जल से।	२ मात्रा
३ भोजनोत्तर २ बार	
अरोग्यवर्धनी वटी	२ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	२ मात्रा
४ रात मे सोते समय	
अविपत्तिकर चूर्ण	४ ग्राम
जल से।	१ मात्रा

कफाश्मरी

१ प्रातः-सायं

वरुणादि घृत	७–१५ ग्राम / २ मात्रा

वरुण की छाल के क्वाथ से।

२ ९ बजे व २ बजे

वरुणादि लौह	१ ग्राम / २ मात्रा

सहिजन की छाल के क्वाथ से।

३. ७ बजे शाम

त्रिविक्रम रस	२५० मि० ग्रा०
त्रुटयादि चूर्ण	३ ग्राम
कुलथी के क्वाथ से।	१ मात्रा

४. सोते समय

हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण	३ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

शुक्राश्मरी

१ प्रातः-सायं

पाषाणभिन्न रस	६०० मि० ग्रा०
त्रुटयादि चूर्ण	४ ग्राम / २ मात्रा

वरुण की छाल के क्वाथ से।

२ ९ बजे व २ बजे

पाषाणभेदादि चूर्ण	६ ग्राम
जल से।	२ मात्रा

३. रात में

चन्द्रप्रभावटी	१ ग्राम
दूध से।	१ मात्रा

वक्तव्य—आचार्य चरक ने कहा है कि शुक्राश्मरी मे या तज्जन्य मूत्रकृच्छ्र मे दोषों का विचारकर तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

कार्पासमूलादि योग—कपास का मूल, पाषाणभेद, वरियार का मूल, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, गोखरू, सरिवन, पिठवन, बडी जोन्हरी का मूल, श्वेत पुनर्नवा, इन्द्रायण की जड, काली पुनर्नवा, शतावर, गुरुच और अपराजिता, इन सब को कूट कर रख ले।

वाताश्मरी मे इनका क्वाथ बनाकर पिलावे। पित्ताश्मरी मे इन्ही औषधो से सिद्ध घृत का पान करावे। कफाश्मरी मे इन्ही औषधो से षडङ्गपानीय परिभाषा से जल पकाकर वही जल पीने को दे और उसी जल से सिद्ध यवागू आदि का आहार देना चाहिए।

उपर्युक्त औषधो से यदि शुक्राश्मरी शान्त न हो, तो रोगी को पुरानी मदिरा अथवा मधूकासव पिलाना चाहिए। पक्षियो का मास खिलावे और शुक्राशय के शोधन के लिये वस्तियाँ देनी चाहिए। यहाँ वस्ति से उत्तरवस्ति समझना चाहिए। तदनन्तर वृष्य आहार एव औषध का प्रयोग कर रोगी को तृप्त करे, फिर रोगी को प्रिय तथा अनुकूल स्त्रियो के साथ सभोग करने की प्रेरणा देनी चाहिए।

पथ्य

कुलथी, मूंग, गेहूँ, पुराना चावल तथा जौ, जागल पशुओ का मास, चौलाई, कूष्माण्डस्वरस, अदरक, यवक्षार, कुलथी का यूष, वरुण वृक्ष के पत्तो का शाक, पाषाणभेद, गोखरू, रेणुका और शालिपर्णी आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

मूत्र या शुक्र के वेगो को रोकना, खटाई, विष्टम्भी द्रव्य, रूक्ष और गुरु भोजन तथा विरुद्ध भोजन आदि अपथ्य हैं।

पञ्चदश अध्याय

कासरोग, श्वासरोग तथा हिक्कारोग

कासरोग

परिचय—'कास' खाँसी को कहते हैं। जब प्राणवायु भी उदानवायु के साथ मिलकर वेग के साथ कण्ठ से बाहर निकलती है, तब गले की खराबी से सर्दी-जुकाम होने या खर-सेवर होने से खाँय खाँय की ध्वनि निकलती है। कभी सूखी आवाज वाली खाँसी होती है तो कभी कफ लिये हुए गीली खाँसी होती है और खखारने पर कफ बाहर निकलता है। खाँसी सूखी और गीली इन दोनो ही रूपो मे होती है।

खाँसी जब पूर्व मे उत्पन्न किसी दूसरे रोग के बिना हो अर्थात् स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हो, तो वह 'कासरोग' कही जाती है। खाँसी बहुत बदनाम लक्षण के रूप मे कुख्यात है, क्योकि यह २३ रोगो मे लक्षण के रूप मे पायी जाती है। किसी को खाँसते हुए देखकर जनसामान्य उसे क्षय (टी० बी) का मरीज समझ बैठते हैं और दूर बैठने लगते हैं। जैसे हँसी-हँसी मे झगडा बढकर मारपीट होने लगती है, वैसे ही यदि खाँसी की रोकथाम न की जाय, तो वह बढकर दमा, हिचकी, शोष, राज-यक्ष्मा, उर क्षत, रक्तपित्त आदि दारुण रोगो को निमन्त्रित करती है। इसीलिये यह लोकोक्ति बहुप्रचलित है—'रोग की जड खाँसी और झगडे की जड हाँसी'। रोग भी निदान के समान रोगोत्पत्ति करने वाला (निदानार्थकर) होता है। इसका उदाहरण खाँसी है, क्योकि इससे टी० बी० जैसे प्राणहर रोग हो सकते है—

दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते।
प्रतिश्यायादथो कास कासात् सञ्जायते क्षय॰ ॥

कास शब्द का निर्वचन

(१) जिस रोग के होने पर गले से कुत्सित (निन्दित–विकृत) शब्द निकलता है, उसे 'कास' कहते हैं।

कासतेऽनेन। 'कासृ शब्द कुत्सायाम्' (भ्वा० आ० से०) हलश्च (३।३।१२१) इति घञ्। (अमरकोष-रामाश्रमी २।६।५२)

सुश्रुताचार्य[1] ने कहा है कि प्रकुपित वायु (प्राणवायु) मुख से बाहर निकलते समय फूटे हुए काँसे के बर्तन के गिरने जैसी कुत्सित ध्वनि के साथ निकलती है, तो उसे 'कास' रोग कहते हैं। इसमे खाँसने के साथ कफ या पित्त बाहर निकलता है।

---

१ प्राणो ह्युदानानुगत प्रदुष्ट स भिन्नकास्यस्वनतुल्यघोष।
निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषो मनीषिभि कास इति प्रदिष्ट ॥ सु० उ० ५२।५

(२) जिस रोग मे वायु शिर के स्रोतो, यथा—कण्ठ, स्वरयन्त्र आदि मे गतिशील होकर बाहर निकलती है, उसे 'कास' कहते हैं।

कसनात् कासः। 'कस गतौ' (भ्वादि०) धातु से कास शब्द बना है। कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः।

'शुष्को वा सकफो वापि कसनात् कास उच्यते।' (च० चि० १८।८)

वेग से गमन करनेवाली वायु को जिन-जिन स्थानो मे रुकावट का सामना करना पडता है, उस स्थान-विशेष के अनुसार विभिन्न प्रकार की आवाज वाली खाँसी होती है।

सामान्य निदान[1]

१ अधिक धुंआ उठने वाले वातावरण मे रहना—मुख, नाक और गले में धुंए के सहसा प्रवेश करने से उन स्थानो मे फैली हुई वातवाहिनियों मे क्षोभ के फलस्वरूप केन्द्र द्वारा उत्तेजना मिलने पर कासरोग उत्पन्न होता है और खांसी आने लगती है।

२. मुख, नाक एव कण्ठ में धूल के प्रवेश से भी क्षोभ होकर धुंआ लगने पर जैसे कास रोग होता है, उसी तरह कास हो जाता है।

३. शक्ति से अधिक व्यायाम करने से वायु की वृद्धि होने पर कास होता है।

४ रूक्ष अन्न या पेय के प्रयोग से ,, ,, ,,

५. मल-मूत्र आदि के वेगो को रोकने से ,, ,, ,,

६. छीक के वेग को रोकने से ,, ,, ,,

७ भोजन के किसी अश के श्वासमार्ग मे चले जाने से कास होता है।

८. गलशोथ आदि आभ्यन्तर कारणो से भी कास होता है।

ग्रन्थ-सन्दर्भ

(१) चरकसहिता चिकित्सास्थान अ० १८।
(२) सुश्रुतसहिता उत्तरतन्त्र अ० ५२।
(३) अष्टाङ्गहृदय निदानस्थान अ० ३।
(४) ,, ,, चिकित्सास्थान अ० ३।

सामान्य संप्राप्ति

नीचे से अवरुद्ध या ऊपर की ओर धकेली गयी प्राणवायु प्राणवहस्रोतस् के ऊर्ध्वभाग मे जाकर उदानवायु से मिलकर शिरस्थ सभी स्रोतो को पूरित करते हुए, हनु, मन्या, नेत्र, पृष्ठ, उरःपार्श्व को पीडित करते हुए, शरीर मे आक्षेप, टूटन और वक्रता लाते हुए स्तब्धता लाकर शुष्क अथवा कफयुक्त 'कास' को उत्पन्न करती है। चूंकि इस रोग मे वायु वेगपूर्वक पीडा के साथ निकलती है, अत इसे कास कहते हैं।[2]

---

१ सुश्रुत० उ० ५२।४
२ चरक० चि० १८।६–८

संप्राप्ति-चक्र

बाह्य निदान धूमोपघात आदि
आभ्यन्तर निदान प्राणवहस्रोत मे खवैगुण्य
गलशोथादि } —वातप्रकोप
|
उदानानुगत दुष्ट प्राणवायु का
|
मुख से सहसा वहिर्गमन
| |
शुष्ककास कफयुक्त
|
आर्द्रकास
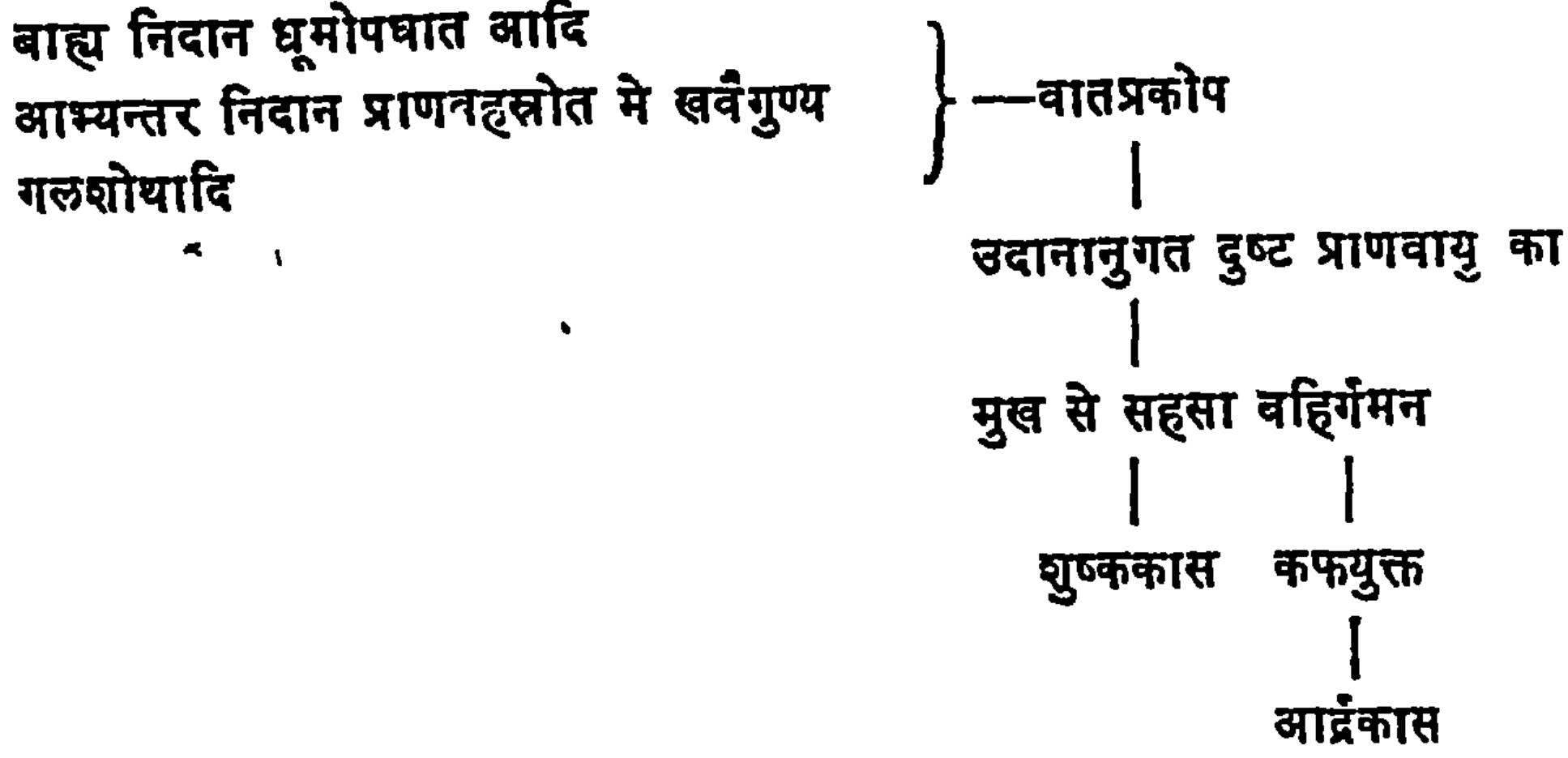
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१. दोष—वातप्रधान कफ।
२ दूष्य—रस, स्वरयन्त्र।
३. स्रोतस्—रसवह, प्राणवह।
४. अधिष्ठान—प्राणवहस्रोतस् उर कण्ठ, श्वासपथ।
५ स्रोतोविकार—शोथ, सग।

सामान्य पूर्वरूप

सभी कासो के पूर्वरूप मे मुख और गले मे शूक गड जाने के समान वेदना का होना, कण्ठ मे खुजली होना और भोजन का गले मे रुक जाना (अटकना) गले और तालु मे लेप लगा हुआ-सा मालूम होना, आवाज या स्वर का फटकर निकलना (वैषम्य), अरुचि और अग्निमान्द्य, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—होता यह है कि मुखगह्वर और गलविल मे जौ-गेहूँ के टूड (शूक) गडने की तरह वेदना होती है। तालु और अन्ननलिका के ऊपरी भाग ग्रसनिका मे दोषो के प्रकोप से कण्टक की तरह अकुर बन जाते हैं। अत एव शूक के गडने जैसी वेदना होती है। कास की उत्पत्ति मे कफ भी भागीदार होता है, जिसके सूखने से कण्ठ मे खराश या खुजली होती है। दोषो के प्रकाप से गलशुण्डिका तथा ग्रसनिका ग्रन्थि मे शोथ हो जाने के कारण अन्नमार्ग सकुचित हो जाता है। इस कारण से अन्न के निगलने मे कठिनाई होती है।

कास के भेद

वातज, पित्तज, कफज, क्षतज और क्षयज भेद से कास पांच प्रकार का होता है। ये कास पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं। यदि इनकी समुचित चिकित्सा न की जाय, तो ये क्षयज कास का रूप धारण कर लेते हैं।
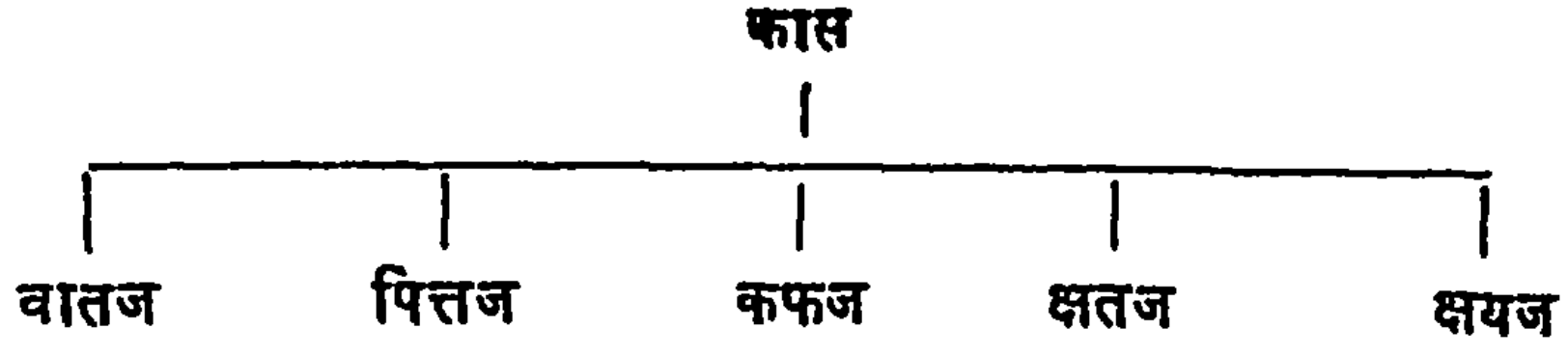
वक्तव्य—इन पाँचो प्रकार के कास मे एक जराकास का भी समावेश जानना चाहिए, क्योकि वह भी दोषप्रकोपज ही होता है, किन्तु यदि वृद्धावस्था के कारण शरीर धातुओ के क्षय की स्थिति होती है, तव वह याप्य होता है जब कि सामान्य मनुष्य का दोषज कास साध्य होता है—'स्थविराणा जराकास सर्वो याप्य प्रकीर्तित'।

वातज कास के लक्षणो वाला एक विशेष कासरोग १० वर्ष से कम आयु के वच्चो मे सक्रामक रूप मे होता है, जिसे कुक्कुरखाँसी (Whooping cough) कहा जाता है। इसमे रोगी को धीमा-धीमा ज्वर रहने लगता है और सूखी तीव्र खाँसी आती है। वच्चा कुत्ते की तरह ठाँय-ठाँय खाँसता है और कभी-कभी कास के वेग के साथ वमन भी कर देता है। वेग आने पर खाँसी रुकती ही नही, मुख खुला ही रह जाता है, जीभ वाहर निकल आती है, आँखो से पानी आने लगता है, चेहरा नीला पड जाता है, साँस रुकने लगती है, श्वास लेने मे कष्ट होता है। जब कुछ कफ वाहर निकल जाता है, तव थोडी राहत मिलती है। कभी-कभी खाँसी का दौरा पडने पर मुख या नासिका से रक्त भी आने लगता है।

मन्थर ज्वर (मियादी बुखार) की तरह यह भी शीघ्र शान्त नही होती। ठीक होने मे प्राय दो सप्ताह लग जाते हैं। सावधानी से उपचार करने पर ८–१० दिन में भी यह साध्य होती दीख पडती है। यदि समुचित चिकित्सा और सयम-परहेज न किया जाय तो यह महीनो तक पिण्ड नही छोडती। इसलिए इसमे कफ-नि सारक औषधो का प्रयोग और उष्ण वातावरण नितान्त अपेक्षित है।

विशिष्ट निदान एवं लक्षण

वातज कास का निदान

(१) रूक्ष-शीत एव कषाय द्रव्यो का सेवन, (२) अल्पाहार या किसी एक रसवाले पदार्थ का सेवन, (३) उपवास, (४) अतिमैथुन, (५) अधारणीय वेगो का धारण और (६) थका देनेवाला परिश्रम।

वातज कास का लक्षण

(१) हृदयप्रदेश-शखप्रदेश-शिर-उदर तथा पार्श्व मे वेदना, (२) मुख का सूखना, (३) बल स्वर एव ओज का क्षय, (४) कास का निरन्तर वेग आना, (५) स्वरभेद और सूखी खाँसी आना।

पित्तज कास का निदान

(१) कटु-उष्ण-विदाही-अम्ल और क्षार पदार्थों का अधिक सेवन, (२) क्रोध, (३) अग्नि या सूर्य का सताप।

पित्तज कास का लक्षण

(१) छाती मे जलन, (२) ज्वर, (३) मुखशोष, (४) मुख का स्वाद तिक्त होना एव तृष्णा, (५) पाण्डुता, (६) दाह और (७) कटुरस युक्त पीले रग का वमन।

कफज कास का निदान

(१) गुरु-अभिष्यन्दी-मधुर एव स्निग्ध पदार्थों का सेवन, (२) दिवाशयन और (३) परिश्रम न करना।

कफज कास का लक्षण

(१) मुख की कफलिप्तता, (२) अवसाद, (३) देह मे कफाधिक्य, (४) शिर शूल, (५) अरोचक, (६) शरीरगौरव, (७) कण्ठकण्डू, (८) गाढे कफ का नि सरण।

क्षतज कास का निदान

(१) अति मैथुन, (२) अति भारवहन, (३) अति पैदल यात्रा, (४) हाथी, घोडा या अपने से अधिक वलवाले से भिडना।

क्षतज कास का लक्षण

(१) प्रथम शुष्क कास पश्चात् सरक्त कफष्ठीवन, (२) कण्ठ तथा छाती मे पीडा, (३) छाती मे तीक्ष्ण सूचीभेदनवत् दु सह शूल का दौरा पडना, (४) अगो मे टूटन, (५) ज्वर, (६) श्वास, (७) तृष्णा, (८) स्वरभेद और कवूतर की आवाज की तरह घुर्घुराहट की ध्वनि निकलना।

क्षयज कास का निदान

(१) विषम भोजन, (२) असात्म्य भोजन, (३) अति मैथुन, (४) मल-मूत्रादि वेगावरोध, (५) अतिघृणा एव अति शोकजन्य मन्दाग्नि और (६) त्रिदोष प्रकोप।

क्षयज कास का लक्षण

(१) अग-अग मे शूल, (२) ज्वर, (३) दाह, (४) शरीरशोष, (५) निर्वलता, (६) मासक्षीणता और (७) पूययुक्त रसक्तष्ठीवन।

साध्यासाध्यता

वातज, पित्तज और कफज कास साध्य होते हैं। क्षतज तथा क्षयज कास यदि नये होते हैं और चिकित्सा के चतुष्पाद अपने सोलह गुणो से सम्पन्न होकर तत्परता से चिकित्सा मे सलग्न हो तो कदाचित् साध्य भी होते हैं। क्षीण व्यक्तियो का क्षयज कास असाध्य होता है और उनका क्षयज कास भी असाध्य होता है। वलवान् रोगियो का क्षतज या क्षयज कास कभी साध्य होता है और कभी याप्य होता है। वृद्धावस्था मे होनेवाला जराकास याप्य कहा गया है।

वातज कास-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१. वातज कास मे स्नेहन, स्वेदन, अनुवासन और विरेचन कराना चाहिए।

२ स्नेहनार्थ वातघ्न द्रव्यो से सिद्ध घृत, पेय, यूष, क्षीर और मासरस का आहार देना चाहिए तथा वस्ति-प्रयोग करना चाहिए।

३ वातहर द्रव्यो से सिद्ध स्नेह, स्निग्ध धूम और आँवले का प्रयोग करे।

४ वातहर अभ्यग, परिषेक और स्निग्ध स्वेदन करना चाहिए।

५ जिन रोगियो का मल सूख गया हो और कठिन हो गया हो तथा अपानवायु की गति ऊपर हो गयी हो, उन्हें भोजनोत्तर घृतपान करावे।

६ जिनको मल और अपानवायु के निकलने मे विवन्ध हो, उन्हे अनुवासन देवे।

७. यदि वातज कास के साथ पित्त या कफ का अनुवन्ध हो, तो स्नेहो से युक्त विरेचन द्रव्यो का प्रयोग कर विरेचन कराना चाहिए।

चिकित्सा

१. चरकोक्त कण्टकारी घृत, पिप्पल्यादि घृत, त्र्यूषणादि घृत या रास्ना घृत का १०–१२ ग्राम तक यथायोग्य अनुपान से प्रयोग करे।

२ विडगादि चूर्ण, द्विक्षारादि चूर्ण या शट्यादि चूर्ण को ३ ग्राम की मात्रा में मधु या घृत के साथ दिन मे ३–४ वार चटाना चाहिए।

३. दुरालभादि लेह, विडगादि लेह, चित्रकादि लेह ५–१० ग्राम की मात्रा में ३ वार देवे।

४ कासरोग मे वहुत प्रसिद्ध और लाभकर औषध रूप मे अगस्त्य हरीतकी का योग है। इसे ५ ग्राम की मात्रा दिन मे ३ वार देवे।

५ वातज कास के रोगी को जव शिर.शूल, प्रतिश्याय और मूर्च्छा मालूम हो, तो मन शिलादि धूम या प्रपौण्डरीकादि धूम का पान करावे।

६ पेया—यवान्यादि पेया अथवा दशमूलादि पेया पिलानी चाहिए।

७ भाङ्गर्यादि लेह—भारगी, मुनक्का, कचूर, काकडासिंगी, पीपर और सोठ के समभाग का चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा मे ६ ग्राम गुड और ६ ग्राम तिलतैल मिलाकर दिन मे ३ वार खिलावे।

८. पचमूली क्वाथ—वृहत् पचमूल (वेल, गनियार, गम्भार, पाढल, सोना-पाठा) के १०० मि० ली० क्वाथ मे काकडासिंगी का ३ ग्राम चूर्ण मिलाकर सवेरे-शाम पिलाना चाहिए।

९ सिद्धयोग—चन्द्रामृत रस, लघुमालिनी वसन्त, वसन्ततिलक, ताप्यादि लोह, अभ्रक भस्म, प्रवाल भस्म, भागोत्तर वटी, लवगादि वटी, सितोपलादि चूर्ण, ताली-सादि चूर्ण, च्यवनप्राश आदि का उचित मात्रा और अनुपान से प्रयोग श्रेयस्कर है।

१०. शृग्यादि चूर्ण—काकडासिंगी, अतीस, नागरमोथा, सोठ, कालीमरिच, पीपर, हर्रा-वहेडा-आँवला का वक्कल, वडी कटेरी, पोहकरमूल, समुद्रनमक, काला-

नमक, सेंधानमक, नौसादर, जवाखार, इन सबको बराबर लेकर चूर्ण बनावे। मात्रा—बच्चो को २००–५०० मि० ग्रा० और बडो को १–२ ग्राम जल या मधु से दिन में ३–४ देने से जमा हुआ कफ निकलकर खाँसी, श्वास, हिचकी, प्रतिश्याय आदि रोग ठीक हो जाते हैं।

व्यवस्था-पत्र

१. दिन मे ३ बार

शृग्यादि चूर्ण	६ ग्राम
अर्कलवण	२ ग्राम
टकण	१ ग्राम
जल या मधु से।	३ मात्रा

अथवा

चन्द्रामृत रस	१ ग्राम
अभ्रकभस्म	४०० मि० ग्रा०
यवक्षार	४०० मि० ग्रा०
	३ मात्रा

मुलहठी चूर्ण २ ग्राम और मधु से।

२. प्रात -साय

च्यवनप्राश	३० ग्राम
प्रवाल भस्म	३०० मि० ग्रा०
सुखोष्ण दूध से।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ वार

कनकासव	५० मि० ली०
समान जल से पीना।	२ मात्रा

४ चूसना ५–६ वार

एलादि वट	१–१ गोली

पित्तज कास-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१ वमन—यदि पैत्तिक कास मे कफ का अनुवन्ध हो, तो वमनकारक (मुलहठी, कचनार, हिज्जल, शणपुष्पी, अपामार्ग) द्रव्यो से सिद्ध घृत पिलाकर वमन कराना चाहिए। अथवा—

२. मदनफल ५ ग्राम, गम्भार ५ ग्राम और मुलहठी ५ ग्राम लेकर विधिवत् क्वाथ बनाकर पिलाकर वमन करावे। अथवा—

३ मदनफल २ ग्राम और मुलहठी २ ग्राम का चूर्ण बनाकर गन्ने के रस मे मिलाकर पिलाकर वमन कराना चाहिए।

४ कफ के निर्हरण के बाद शीतल एव मधुर पेया-विलेपी के क्रम से पथ्य दे।

५ **विरेचन**—जब पित्तज कास मे कफ पतला हो, तो निशोथ के ४ ग्राम चूर्ण मे चीनी मिलाकर, खिलाकर विरेचन करावे और विरेचन के पश्चात् स्निग्ध और शीतल आहार एव स्निग्ध अवलेह आदि का प्रयोग कराना चाहिए।

६ यदि पित्तज कास मे कफ गाढा हो, तो कुटकी आदि तिक्त द्रव्यो के साथ निशोथ चूर्ण ४ ग्राम खिलाकर विरेचन करावे। पथ्य में रूक्ष तथा शीतल पेया आदि क्रमश देना चाहिए।

चिकित्सा

७ **पित्तज कास-नाशक अवलेह**—

१. सिंघाडा, कमलगट्टा, नील, प्रसारिणी और पीपल।

२. पीपल, नागरमोथा, मुलहठी, मुनक्का, मूर्वा और सोंठ।

३ धान का लावा, आंवला, मुनक्का, वंशलोचन, पीपल और मिश्री।

४ पीपल, पदुमकाठ, मुनक्का और बडी कटेरी का फलस्वरस।

५ खजूर, पीपल, वशलोचन और गोखरू।

इनके समभाग चूर्ण में विषम मात्रा मे घी-मधु मिलाकर चटावे।

८ **त्वगादि लेह**—दालचीनी, छोटी इलायची, सोंठ, मरिच, पीपर, मुनक्का, पिपरामूल, पुष्करमूल, धान का लावा, नागरमोथा, कचूर, रास्ना, आंवला, बहेडा, इनके समभाग के चूर्ण में चीनी एवं विषम मात्रा मे घी-मधु मिलाकर चाटने योग्य अवलेह बना ले।

इसकी ३–४ ग्राम की मात्रा दिन में ३–४ बार सुखोष्ण जल से दे।

९ **क्षीरपाक**—काकोली, बडी कटेरी, मेदा, महामेदा, अरूस और सोंठ से यथाविधि सिद्ध दूध पिलाना हितकर है।

१० **शर्करादि योग**—मिश्री, सोंठ, सुगन्धवाला, रेंगनी और कचूर—इन सबको चूर्णकर फिर पीसकर रस निचोडकर उसे छानकर घी मिलाकर पिलावे।

११ गाय-भैंस-भेंड बकरी इनका दूध, आंवले का स्वरस और घृत सब समभाग लेकर घृत सिद्ध कर ५–१० ग्राम पिलाना हितकर है।

१२ अगहनी या साठी चावल का भात जागल पशुपक्षियो के मासरस के साथ खाने को दे। जब कफ पतला हो, तो यह पथ्य हितकर है।

१३ यदि कफ गाढा हो तो तिक्तरसयुक्त द्रव्यो से निर्मित लेह मे घी मिलाकर दे।

१४ सांवा, कोदो तथा जौ से बने आहार को मूंग के यूष तथा परवल के शाक से खिलावे।

१५ **सिद्धयोग**—चन्द्रामृत रस, कफकेतु रस, लक्ष्मीविलास रस, व्याघ्री हरीतकी, सितोपलादि चूर्ण, तालीशादि चूर्ण, समशर्कर चूर्ण, भागोत्तर वटी, एलादि वटी, प्रवाल भस्म, टकण भस्म आदि तथा वासारिष्ट या कनकासव का उचित मात्रा मे प्रयोग करे।

१६ अनुपान मे चीनी का शर्वत, मुनक्के का रस, गन्ने का रस, दूध तथा अन्य पेय द्रव्य जो शीतल, मधुर और अविदाही हो, उसे देना चाहिए।

व्यवस्था-पत्र

१ ३–३ घण्टे पर ४ बार

शृंगाराभ्र	५०० मि० ग्रा०
प्रवाल भस्म	५०० मि० ग्रा०
गोदन्ती भस्म	१ ग्राम
बृहत् सितोपलादि चूर्ण	६ ग्राम
	योग ४ मात्रा

वासारस १ चम्मच और १ चम्मच मधु से।

२ भोजन के १ घण्टा पूर्व २ बार

तालीसादि या समशर्कर चूर्ण	६ ग्राम
जल से।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ बार

वासारिष्ट	४० मि० ली०
	२ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४. दिन में ५–६ गोली चूसना

एलादि वटी

या

लवंगादि वटी

५ रात मे सोते समय

यष्ट्यादि चूर्ण (सि० यो० सं०)

अथवा—

पञ्चसकार चूर्ण	५ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

कफज कास-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१ संशोधन—बलवान् रोगी के कफज कास मे मदनफल चूर्ण २ ग्राम, वच चूर्ण २ ग्राम, सेंधानमक १ ग्राम मिलाकर मधु तथा लवण जल का घोल पिलाकर वमन कराना चाहिए।

२ कफघ्न उष्ण इच्छाभेदी या नाराच रस खिलाकर विरेचन करावे।

३. कट्फल के चूर्ण का नस्य देकर शिरोविरेचन कराना चाहिए।

४ धूम्रपान—देवदारु बुरादा, वरियार की जड और जटामासी को समभाग मे लेकर बकरी के दूध मे पीसकर वत्ती बना लें। इसमे घी चुपडकर चीलम पर रखकर धूम्रपान कराने से शीघ्र लाभ होता है। (भावप्रकाश)

५. *कवलग्रह—सोठ, मरिच तथा पीपर के चूर्ण मे मधु मिलाकर मुख मे रखकर उसे जीभ से चलाते रहना चाहिए। इसे कवल कहते हैं।*

६. अवलेह—देवदारु, हरीतकी, नागरमोथा, पीपर और सोठ के समभाग चूर्ण मे मधु मिलाकर चटाना चाहिए।

७ कफनाशक, उष्ण, रूक्ष और लघु गुणयुक्त आहार देना चाहिए।

चिकित्सा

१ त्रिकटु चूर्ण २ ग्राम मधु मिलाकर दिन मे ३–४ वार चटाना चाहिए।

२. शृङ्ग्यादि चूर्ण २ ग्राम की मात्रा मे जल से दिन मे ३–४ बार दे।

३. वायविडग के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध घृत अथवा सिन्दुवार के कल्क एव क्वाथ से सिद्ध घृत १० ग्राम की मात्रा मे चीनी से २ वार दे।

४. पाठादि घृत (सुश्रुत) १० ग्राम की मात्रा मे चीनी से २–३ वार प्रति दिन देवे।

५ **कासनाशक प्रमुख द्रव्य**—सोठ, मरिच, पीपर, नागरमोथा, अतीस, कट्फल, पुष्करमूल, काकडासिंगी, दशमूल, चित्रकमूल, कण्टकारी, मुनक्का, भारगी, जवाखार, पिपरामूल, अरुस, सिन्दुवार, लिसोडा, देवदारु और तुलसी एव अदरक आदि का अकेले ही चूर्ण या क्वाथ के रूप मे मधु मिलाकर सवेरे-शाम प्रयोग करना लाभकर है।

६ मयूरपिच्छ भस्म २५० मि० ग्रा० हरीतकी चूर्ण २ ग्राम के साथ मधु से ३ बार दे।

७ **अष्टाङ्गावलेहिका अथवा वासावलेह** १० ग्राम दिन मे ३ बार दूध से दे।

८. **कट्फलादि क्वाथ**—कफज कास मे वात का अनुबन्ध होने पर इस क्वाथ में मधु और भुनी हीग का प्रक्षेप कर प्रात -सायं पिलावे। (चरक)

९. निम्नलिखित अवलेह कफज कास-नाशक हैं—

१ पीपर, पिपरामूल, चित्रकमूल और गजपीपर।

२. हरीतकी, भुंई आँवला, नागरमोथा और पीपर।

३. देवदारु, कचूर, रास्ना, काकडासिंगी और दुरालभा—इन्हें ४ ग्राम की मात्रा मे लेकर विषम मात्रा मे मधु-घी मिलाकर चटावे।

१० दशमूलादि घृत, कण्टकारी घृत या कुलत्थादि घृत १० ग्राम, प्रात साय प्रयोग करे।

११ *कडवी तरोई के फल का खुज्जा तथा* मैनसिल एक मे मिलाकर चीलम पर पिलावे। बाद मे गरम दूध मे गुड मिलाकर पिलाना चाहिए।

१२ सिद्ध योग—रससिन्दूर, आनन्दभैरव रस, कफकुठार रस, नागवल्लभ रस, शृंगभस्म, शुभ्राभस्म, टकणभस्म, अभ्रक भस्म, चन्द्रामृत, कफकेतु रस, वासारिष्ट और कनकासव का प्रयोग उचित मात्रा और अनुपान के साथ करना चाहिए।

आवस्थिक चिकित्सा

१ वातानुबन्धी कफज कास मे दशमूलादि घृत का पेया आदि के साथ प्रयोग करना चाहिए। मात्रा—१० ग्राम। अथवा—

२ देवदारु, कचूर, रास्ना, काकडासिंगी और दुरालभा का समभाग चूर्ण मधु तथा तिल का तेल मिलाकर चटाना चाहिए। अथवा—

३. पीपर, सोठ, नागरमोथा, हर्रा, आंवला और मिश्री के समभाग चूर्ण मे मधु तथा तिल तेल मिलाकर चटाना चाहिए। अथवा—

४ सोचरनमक, हर्रा, आंवला, पीपर, यवखार और सोठ के समभाग चूर्ण को ३—३ ग्राम की मात्रा मे घी मिलाकर चटाना चाहिए।

५ कण्टकारी घृत सर्वविध वात-कफज कासश्वास-नाशक है।

६ कफज कास मे पित्तानुबन्धज तमक श्वास हो जावे, तो रोगावस्था के अनुसार पित्तज कास की चिकित्सा करनी चाहिए।

७ वातज कास मे कफानुबन्ध हो तो कफनाशक चिकित्सा करे।

८ यदि कफज कास मे पित्त का अनुबन्ध हो, तो पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

९ यदि वात-कफात्मक कास मे कफ अधिक निकलता हो, तो रूक्ष अन्नपान का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु यदि कफ न निकलता हो तो स्निग्ध अन्नपान का प्रयोग करे।

१०. कफज काम मे यदि पित्त का अनुबन्ध हो, तो तिक्त रस युक्त अन्नपान का प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१ ३—३ घण्टे पर ४ वार

कासे लक्ष्मीविलास	५०० मि० ग्रा०
चन्द्रामृत	१ ग्राम
कफकेतु	५०० मि० ग्रा०
	४ मात्रा

पान के रस और मधु से।

अथवा—दिन मे ३ वार

रससिन्दूर	५०० मि० ग्रा०
शृंगभस्म	१ ग्राम
टकण	५०० मि० ग्रा०
मधु से।	३ मात्रा

२ ९ बजे व ३ बजे दिन

शृग्यादि चूर्ण	३ ग्राम
या	
समशर्कर चूर्ण	३ ग्राम
सुखोष्ण जल से ।	१ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार

कनकासव	४० मि० ग्रा०
समान जल मिलाकर पीना ।	२ मात्रा

४ चूसना लवगादि वटी या खदिरादि वटी ५–६ गोली रोज

क्षतज कास-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१ यह एक आत्ययिक व्याधि है, जिसमें बल-मास की क्षीणता घातक होती है, अत जीवनीय गण (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि, मुलहठी, जीवन्ती, मुगपर्णी) की ओषधो तथा मिश्री, मक्खन, घी, दूध, सिंघाडा, शतावर, तालमखाना, मुसली, वशलोचन, चिरौंजी, नारियल, अभ्रकभस्म, प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी आदि शीतल, स्निग्ध एवं पुष्टिकर ओषधों के प्रयोग से शक्ति-सवर्धन करना चाहिए ।

२. इसकी चिकित्सा मे पित्तज कास की चिकित्सा की प्रक्रिया अपनानी चाहिए।

३. कासनाशक ओषधो के अनुपान मे दूध, घी, मधु, चीनी का शर्बत, ईख का रस, अगूर का रस, मुनक्के का क्वाथ, गोदुग्ध आदि मधुर एव शीतल पदार्थ का प्रयोग करना चाहिए ।

४ सन्तर्पण, शीतल और अविदाही अन्नपान का प्रयोग करे ।

५. अभ्यग, उत्सादन आदि में घृत का प्रयोग करना चाहिए ।

६. मन के अनुकूल और प्रिय एव सुखकर शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि विषयो का प्रयोग करे ।

७ पेय जल के रूप मे षडगपानीय का प्रयोग करे । अथवा—

८. खश, कमल, श्वेतचन्दन, लोध, मुलहठी, धावा का फूल, पलाशपुष्प, शतावर, फूलप्रियंगु, अरुसपत्र, नागरमोथा, अनन्तमूल, महुआ, पित्तपापडा, आंवला, गूलर की छाल, वरोह, इनमे से जो भी उपलब्ध हो उसका मोटा चूर्ण २५ ग्राम लेकर २ लीटर जल मे पकावे और आधा बचने पर छानकर रख ले । उसी जल का खाने, पीने या अनुपान मे प्रयोग करना लाभप्रद है ।

चिकित्सा

१ पिप्पल्यादि लेह १० ग्राम की मात्रा मे ५ ग्राम घी और १० ग्राम मधु मिलाकर दिन मे ३ बार चटाना चाहिए ।

२. आँवले के ६ ग्राम चूर्ण को १२ ग्राम घी मे पकाकर, खिलाकर दूध पिलाना चाहिए ।

३. खर्जूरादि योग—खजूर, भारगी, पीपर, चिरोंजी, मुलहठी, छोटी इलायची और आँवला के समभाग का चूर्ण बनावे । उसे ४ ग्राम लेकर चीनी ५ ग्राम, मधु ५ ग्राम और घी १० ग्राम मिलाकर चटाना चाहिए । ऐसी तीन मात्रा प्रतिदिन देवे ।

४ रक्तादि चूर्ण—मजीठ, हल्दी, सौवीराञ्जन, चित्रक, पाठा, मूर्वा और पीपर समभाग का चूर्ण ३ ग्राम मात्रा मे मधु से ३ बार देवे ।

५ गुड के शर्बत को सुखोष्ण कर १ कप लेकर और ६ ग्राम मधु तथा ३ ग्राम मरिच का चूर्ण डालकर सेवन कराना चाहिए ।

६ कल्याणगुड ५ ग्राम की मात्रा प्रात -साय खिलानी चाहिए ।

७ रक्तमिश्रित कफ निकले और दाह हो, तो वातरक्त मे कथित जीवनीय घृत को १० ग्राम की मात्रा में दूध मे पान करावे ।

८ कृश रोगी को लावा (बटेर) आदि पक्षियो का मासरस देवे ।

९ तृष्णा की अधिकता हो, तो पचतृणमूल डालकर पकाया गया बकरी का दूध पिलाना चाहिए ।

१० यदि मुख या नाक से रक्त आता हो, तो दूध से निकाले गये घृत का नस्य दे और पान करावे ।

११ यदि मन्दाग्नि, दुर्बलता एव थकावट हो, तो यवागू खिलावे ।

१२ यदि क्षतज कास मे उर क्षत का विकार शान्त हो गया हो, किन्तु फुप्फुस मे पीडा होती हो, तो धूम्रपान कराना चाहिए ।

१३. मन शिलादि धूम—मैंनसिल, पलाशबीज, अजमोदा, वशलोचन और सोठ के कल्क को रेशमी वस्त्र के टुकडे मे लपेट कर घी से तर करके चीलम पर रखकर धूम्रपान करावे । अथवा—

१४ मैंनसिल और बड के बरोह को समान भाग मे लेकर पीसकर घी मिलाकर चीलम पर रखकर धूम्रपान करावे । बाद मे उक्त दोनो धूम्रपानो के बाद तित्तिर पक्षी के मासरस के साथ अन्न खिलावे ।

सिद्धयोग

१ प्रवालपञ्चामृत, वसन्ततिलक, प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी, वासावलेह, सितोपलादि चूर्ण और तालीसादि चूर्ण आदि का यथायोग्य अनुपान से प्रयोग करे ।

२ सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम, पीसा मुनक्का १ ग्राम और प्रवालभस्म ३०० मि० ग्रा० की मात्रा च्यवनप्राश ५ ग्राम के साथ दिन मे ३ बार दे ।

३ उशीरादि चूर्ण—३–३ ग्राम की मात्रा मे ३ बार वासास्वरस और मधु से दे ।

व्यवस्थापत्र

१ प्रातः, सायं, मध्याह्न

चन्द्रामृतरस	१ ग्राम
प्रवालपिष्टी	½ ग्राम
शुभ्राभस्म	½ ग्राम
लाक्षा चूर्ण	३ ग्राम
	३ मात्रा

वासापत्र-स्वरस और मधु से।

२. ९ बजे व ३ बजे

शृंगाराभ्र	५०० मि० ग्रा०
प्रवालपचामृत	२५० मि० ग्रा०
तालीसादि चूर्ण	२ ग्राम
	२ मात्रा

च्यवनप्राश ५ ग्राम दूध के साथ।

३. भोजन के बाद २ बार

वासारिष्ट	४० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४ एलादि वटी ४–५ गोली प्रतिदिन चूसना

५ रात मे सोते समय

समशर्कर चूर्ण	४ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

६. अभ्यग—

वासाचन्दनादि तैल

अथवा—

चन्दनबलालाक्षादि तैल

क्षयज कास-चिकित्सा

चिकित्सासूत्र

१ क्षयज कास अत्यन्त दारुण और त्रिदोषज होता है, इसलिए इसमे त्रिदोष-नाशक उपचार करना चाहिए।

२ क्षयज कास मे बारी-बारी से दीपन, बृंहण और स्रोत शोधन औषधो का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् एक बार दीपन औषध, फिर बृंहण औषध, तत्पश्चात् स्रोत शोधक, फिर दीपन, फिर बृंहण फिर स्रोत शोधक औषध का प्रयोग करे।

३ क्षतज कास मे कहे गये मन सिला धूम्रपान और मधुर, स्निग्ध एव शीतल द्रवो के अनुपान क्षयज कास मे भी दे।

४. वातनाशक (दशमूल आदि) औषधो से सिद्ध दूध और यूष का सेवन कराना लाभकर है।

५ मासभक्षी क्षयज कास रोगी को विष्किर, प्रतुद और विलेशय जाति के पक्षियो एव पशुओ का मासरस खिलाना चाहिए।

६ यदि रोगी मे बहुदोष के लक्षण (देखें चरक० सूत्र० १६।१३–१६) दीख पड़ें, तो उसे मृदु विरेचन देना चाहिए। जैसे—अमलतास फलमज्जा के क्वाथ से अथवा मुनक्का के क्वाथ से निशोथ का चूर्ण ४–६ ग्राम खिलाना चाहिए।

७ जिस रोगी मे रस-रक्तादि धातुएँ क्षीण हो और कफ-पित्त क्षीण हो और वात की प्रधानता हो, उसे काकडासिंगी, बला, महाबला के कल्क और दूध से सिद्ध किये हुए घी का पान कराना चाहिए।

चिकित्सा

१. द्विपञ्चमूलादि घृत, गुडूच्यादि घृत, कासमर्दादि घृत, इनमे से किसी को भी १० ग्राम की मात्रा मे दूध मे सवेरे-शाम पिलाना चाहिए।

२. हरीतकी लेह, पद्मकादि लेह, द्राक्षादि लेह या जीवन्यादि लेह की १० ग्राम की मात्रा मधु से ३ बार रोज चटाना चाहिए।

३. शल्लकीकण्टक भस्म या मृगश्रृग भस्म—इस भस्म को २५० मि० ग्रा० की मात्रा मे घी चीनी मिलाकर दिन मे ३ बार चटावे।

४. दूध मे पकाये हुए आंवले का चूर्ण ३ ग्राम घी-चीनी मिलाकर दिन मे ३–४ बार खिलाना चाहिए।

५. कालीमरिच का चूर्ण १ ग्राम, चीनी ५ ग्राम और १० ग्राम मधु मिलाकर दिन मे ४–५ बार चटाना चाहिए।

६ ताजे बेर के पत्तो को पीसकर, घी मे भूनकर, ३ ग्राम लेकर उसमे १ ग्राम सेंधानमक मिलाकर दिन मे २–३ बार सेवन करावे।

७ कण्ठ मे शोथ या कण्डू हो तो वासावलेह मे मधु मिलाकर ३ बार चटावे।

८ चूसने के लिए एलादि वटी, मरिचादि वटी या लवगादि वटी दिन मे ६–७ बार दे।

९. जरदा-रहित पान के लगे बीडे मे १००–२०० मि० ग्रा० टकण भस्म रखकर चूसते रहने से खांसी मे राहत मिलती है।

१०. शीतलचीनी, लवग, मुलहठी, खैर, बहेडे का बक्कल या समभाग मे मरिच तथा चीनी का मिश्रण, इनमे से कोई एक औषध मुख मे रखकर चूसते रहने से कास का वेग शान्त रहता है।

सिद्धयोग

वसन्तमालती, वसन्ततिलक, चन्द्रामृत, अगस्त्यहरीतकी, व्याघ्रीहरीतकी, मुक्ता-पिष्टी, प्रवाल पिष्टी, प्रवालपञ्चामृत, तालीशादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, समशर्कर चूर्ण, यवानीषाडव चूर्ण, वासावलेह, च्यवनप्राश आदि बहुपरीक्षित औषधें हैं। इनका समुचित मात्रा मे योग्य अनुपान से प्रयोग लाभकारी है।

व्यवस्थापत्र

१ दिन मे ३ बार

नारदीय लक्ष्मीविलास	५०० मि० ग्रा०
प्रवालपञ्चामृत	५०० मि० ग्रा०
मृगशृंग भस्म	१ ग्राम
रससिन्दूर	४०० मि० ग्रा०
सितोपलादि चूर्ण	३ ग्राम
	३ मात्रा

च्यवनप्राश १० ग्राम के साथ दूध से।

२ भोजन के तुरन्त पूर्व २ बार

यवानीषाडव चूर्ण	६ ग्राम
बिना अनुपान।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ बार

द्राक्षारिष्ट	४०० मि० ली०
	२ मात्रा

बराबर जल मिलाकर पीना।

४ दिन मे ६ बार

एलादिवटी

या

व्योषादि वटी १–१ गोली चूसना।

सामान्य पथ्य

स्निग्ध स्वेदन, विरेचन, वमन, धूम्रपान। आहार मे शालि चावल, साठी चावल, मूग, कुलथी, जागल मांस, घृत, दुग्ध, जीवन्ती, मुनक्का, अरुस, सोठ, मरिच, पीपर, मधु, धान का लावा, इलायची, गोमूत्र आदि का दोषो का विचार कर प्रयोग करे।

सामान्य अपथ्य

रक्तस्रावण, व्यायाम, धूप-सेवन, दूषित वायु, धूलि, धुंआ, अधिक पैदल चलना, विष्टम्भी, विदाही एव रूक्ष अन्नपान, मल-मूत्र-छर्दि आदि के वेगो का रोकना, मछली, सरसो, लौकी, विरुद्ध आहार, गुरु पदार्थ, शीतल अन्नपान आदि दोषो के अनुसार अपथ्य हैं।

वातज कास मे पथ्य

बथुआ, मकोय, मूली, तिनपतिया का शाक, तिल-तैल, गन्ने का रस, गुड से बने पदार्थ, अनार, मद्य का स्वच्छ भाग, मधुर-अम्ल-लवण रसयुक्त पदार्थ हितकर हैं।

पित्तज कास मे अपथ्य

सावाँ, जौ तथा कोदो का भात, जागल पशुपक्षियो के मासरस के साथ या मूँग के यूष के साथ या तिक्तरसयुक्त शाक के साथ खाना चाहिए। शर्बत, मुनक्का, गन्ने का रस, गोदुग्ध तथा मधुर, शीतल, अविदाही पदार्थ पथ्य हैं।

कफज कास मे पथ्य

पुराना चावल, मूँग का यूष, पीपर और जवाखार से सस्कृत सूखी मूली का यूष, जागल जीवो का मासँरस तथा लघु अन्न पथ्य हैं। अनुपान मे मधु, खट्टे अनार का रस, गरम जल, मट्ठा, स्वच्छ मदिरा (प्रसन्ना) का पान करना पथ्य है।

क्षतज कास मे पथ्य

लावा पक्षी का मासरस, पचतृणमूल डालकर क्षीरपाक-विधि से बनाया हुआ बकरी का दूध, यवागू, मधुर, शीतल, स्निग्ध तथा पित्तनाशक पदार्थ पथ्य हैं।

क्षयज कास मे पथ्य

लघु अन्न, पुराना चावल, मूँग का यूष, रुचिकर सुगन्ध युक्त भोजन, अभ्यग, उबटन, मासरस और भात, मधुर फल, बकरी या गाय का दूध आदि पथ्य हैं।

श्वासरोग

परिचय—श्वास का फूलना या दम का फूलना 'श्वासरोग' कहलाता है। वेग के साथ वायु की ऊर्ध्वगति को श्वासरोग कहते हैं। जैसे लोहार की भाथी से वेग के साथ वायु निकलती है, उसी तरह कण्ठ से वेग के साथ बार-बार वायु का निकलना श्वासरोग है। इस श्वास को लेने तथा छोडने मे कष्ट का होना प्राणवहस्रोत मे प्राणवायु के यातायात या विनिमय मे बाधा होने का प्रतीक है। यह रोग प्राणवह-स्रोतस् मे अवरोधात्मक विकृति का परिणाम है।

निर्वचन—'श्वस प्राणने' (अदादि) धातु से श्वास शब्द बना है, जिसका अर्थ है—प्राणधारणार्थं (शरीरस्थ रक्तपरिभ्रमण-प्रक्रिया से दूषित रक्तशोधनार्थ) प्राणवायु (आक्सीजन—Oxygen) का श्वासमार्ग से भीतर प्रवेश करना। जब श्वासप्रणाली या फुप्फुस के वायुकोषो में वायुप्रवेश के लिए स्थान कम होता है, तो प्राणवायु को ग्रहण करने के लिए बार-बार शीघ्रता से श्वास लेनी पडती है। यही श्वासरोग है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसहिता—चिकित्सास्थान अ० १७।
सुश्रुतसहिता—उत्तरतन्त्र अ० ५१।

अष्टाङ्गहृदय—चिकित्सास्थान अ० ४।
माधवनिदान—श्वासरोग।

निदान[1]

श्वासरोग के निदान कई श्रेणियो मे हैं। जैसे—(१) वातप्रकोपक अहार-विहार (२) कफप्रकोपक आहार-विहार (३) आन्तरिक कारण (४) बाह्य कारण (५) स्थानिक कारण और (६) अनेक श्वासजनक रोग।

१. (क) **वातप्रकोपक आहार**—रूक्ष अन्नसेवन, विपमाशन, शीतल जलपान, अपतर्पण, अतिभोजन, अध्यशन आदि।

(ख) **वातप्रकोपक विहार**—धूल, धूम्र, धूप, शीतवायु लगना, शीत स्थान मे निवास, व्यायाम, अतिमैथुन, शीत जल-स्नान तथा वमन आदि का अतियोग, अधिक पैदल चलना, वेगावरोध आदि।

२ (क) **कफप्रकोपक आहार**—सेम, उडद, तिल की खली, पिष्ट पदार्थ, कमल की जड, विष्टम्भी और विदाही अन्न, गुरु द्रव्य, जलज-आनूपमास, दही, कच्चा दूध, अभिष्यन्दी तथा कफवर्धक आहार आदि।

(ख) **कफप्रकोपक विहार**—शीतल स्थान मे निवास, शीतल वायु सेवन, शीत जल-स्नान तथा कफवर्धक वातावरण।

३ **आन्तरिक कारण**—मलावरोध होना, आमविष, प्राणवायु का कफ के अनुगत होना, रौक्ष्य, दौर्बल्य, प्राणवहस्रोतो विकार, फुप्फुस के वायुकोषों की निष्क्रियता, श्वास-प्रणाली मे सग या शोथ, फुप्फुसगत विकार, आमाशय या उदर की वायु-पूर्णता आदि।

४. **बाह्य कारण**—कण्ठ या उर स्थल (छाती) पर आघात लगना, धुंए वाले या धूलि वाले स्थान मे निवास, अति मार्गगमन, अधिक स्त्रीप्रसङ्ग आदि।

५. **स्थानिक कारण**—श्वासनलिका के ऊपरी भाग मे किसी प्रकार का शोथ, वक्ष स्थ किसी अग मे शोथ होना, श्वासक्रिया मे सहायक पेशियो की क्रिया मे बाधा, तुण्डिकाशोथ होना आदि।

६ **श्वासरोगजनक रोग**—पाण्डु, अतिसार, ज्वर, छर्दि, क्षतक्षीण, रक्तपित्त, विष, उदावर्त, विसूचिका, अलसक, आध्मान, मेदोवृद्धि, जलोदर, हृदयरोग, गुल्म, शोष, यक्ष्मा, प्लीहोदर, अग्निमान्द्य आदि।

आधुनिक मत से उरोवात (Emphysema), सन्यास (Coma), जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy), मूत्र-विषमयता (Uraemia), अत्यधिक हृदयाति-पात (Congestive heart failure) भी श्वास को जन्म देते हैं।

---

१. चरक० चि० १७।११–१६ तथा सुश्रुत० उ० ५०।३ ५

संप्राप्ति[1]

प्रबल कफप्रकोपयुक्त प्रकुपित प्राणवायु जब प्राणवाही स्रोतो में अवरोध (रुकावट) पैदा कर सर्वत्र (पूरे फुप्फुस मे) व्याप्त होकर घूमती है, तो श्वास के यातायात मे बाधा होने से श्वास लेने मे कष्ट होने लगता है और 'श्वासरोग' उत्पन्न हो जाता है। प्राणवहस्रोत से श्वास-प्रणाली, नलिकाओ और फुप्फुस का ग्रहण करना चाहिए।

वक्तव्य—(१) फुप्फुस और श्वास-नलिकाओ मे कफ होने से क्षोभ तथा श्वास-वायु के यातायात मे व्यवधान की प्रतिक्रिया स्वरूप शीघ्र श्वास लेने की क्रिया का आरम्भ होता है। यदि वायु के विगुण होने से कफ आसानी से नही निकलता, तो श्वास की तीव्रता बढ जाती है।

(२) श्वासरोग में विकृति केवल फुप्फुस मे न रहकर वातनाडियो मे भी रहती है। प्राणदा (वागस) की क्रिया की कमी या सिम्पैथेटिक की क्रिया की अधिकता के फलस्वरूप श्वासकष्ट होता है।

(३) विष्टम्भी, अभिष्यन्दी एव गुरु पदार्थ भी आमाशयिक क्षोभ द्वारा कफ-वृद्धि से फुप्फुस मे अवरोध उत्पन्न करके सुषुम्नाशीर्षस्थ श्वास-नियन्त्रक केन्द्र को उत्तेजित करके श्वासरोग की उत्पत्ति करते हैं।

(४) कभी-कभी अधिक भोजन कर लेने पर भी फुप्फुस पर आमाशय का दवाव पडता है, जिससे फुप्फुस मे होने वाले वायु-सञ्चार मे कमी हो जाने से पुन -पुन श्वास लेना पडता है।

(५) श्वासरोग को पित्तस्थान-समुद्भव कहा गया है। पित्तस्थान-समुद्भव का अर्थ है—आमाशय-समुद्भव। दोषानुसार आमाशय के दो भाग हैं—१ ऊर्ध्व और २. अध। ऊर्ध्व आमाशय कफ का स्थान है और अध आमाशय-ग्रहणी पित्त का। श्वासरोग प्रबल कफप्रकोप से होता है और आमाशय कफ-वृद्धि का स्थान है, अत श्वासरोग आमाशय-समुद्भव है।

(६) होता यह है, कि कफ की वृद्धि से अग्निमान्द्य होता है और अग्निमान्द्य से आम तथा आमविष बनता है, जिससे रसदुष्टि होती है और रस के मलभूत कफ की अधिकता हो जाती है, जिससे प्राणवहस्रोतस् मे, अवरोध होता है, फिर वायु का यातायात बाधित होने से श्वासकष्ट होकर श्वासरोग हो जाता है। इस प्रकार श्वासरोग की सप्राप्ति मे आमविष के बनने का सिलसिला चल पडता है। जैसे—कफ की वृद्धि→अग्निमान्द्य→आम→रसदुष्टि→कफवृद्धि→फिर अग्निमान्द्य। श्वास-रोगोत्पत्ति में इस सप्राप्ति-चक्र की विशिष्ट भूमिका होती है।

श्वासकष्ट—श्वासकष्ट के भी अनेक प्रकार हैं, जैसे—

---

१ यदा स्रोतांसि सरुध्य मारुत कफपूर्वक।
विष्वग् व्रजति सरुद्धस्तदा श्वासान् करोति स। सु० उ० ५१ तथा चरक चि० १७।१७

(१) उरोवात (Emphysema) के फलस्वरूप फुप्फुस के वायुकोष वायु से अत्यधिक फूले रहते हैं, जिसके कारण वहि श्वसन के समय विशेष कष्ट होता है।

(२) श्वासनलिका के ऊपरी भाग मे किसी प्रकार का अवरोध होने से अन्त-श्वसन मे कष्ट होता है, जैसा कि स्वरयन्त्रीय रोहिणी रोग मे पाया जाता है।

(३) फुप्फुसजन्य श्वास (Bronchial asthma), मूत्रविषमयता, जानपदिक शोथ तथा मधुमेहजन्य सन्यास मे वहि श्वसन और अन्त श्वसन दोनो मे कष्ट होता है।

सम्प्राप्ति-चक्र
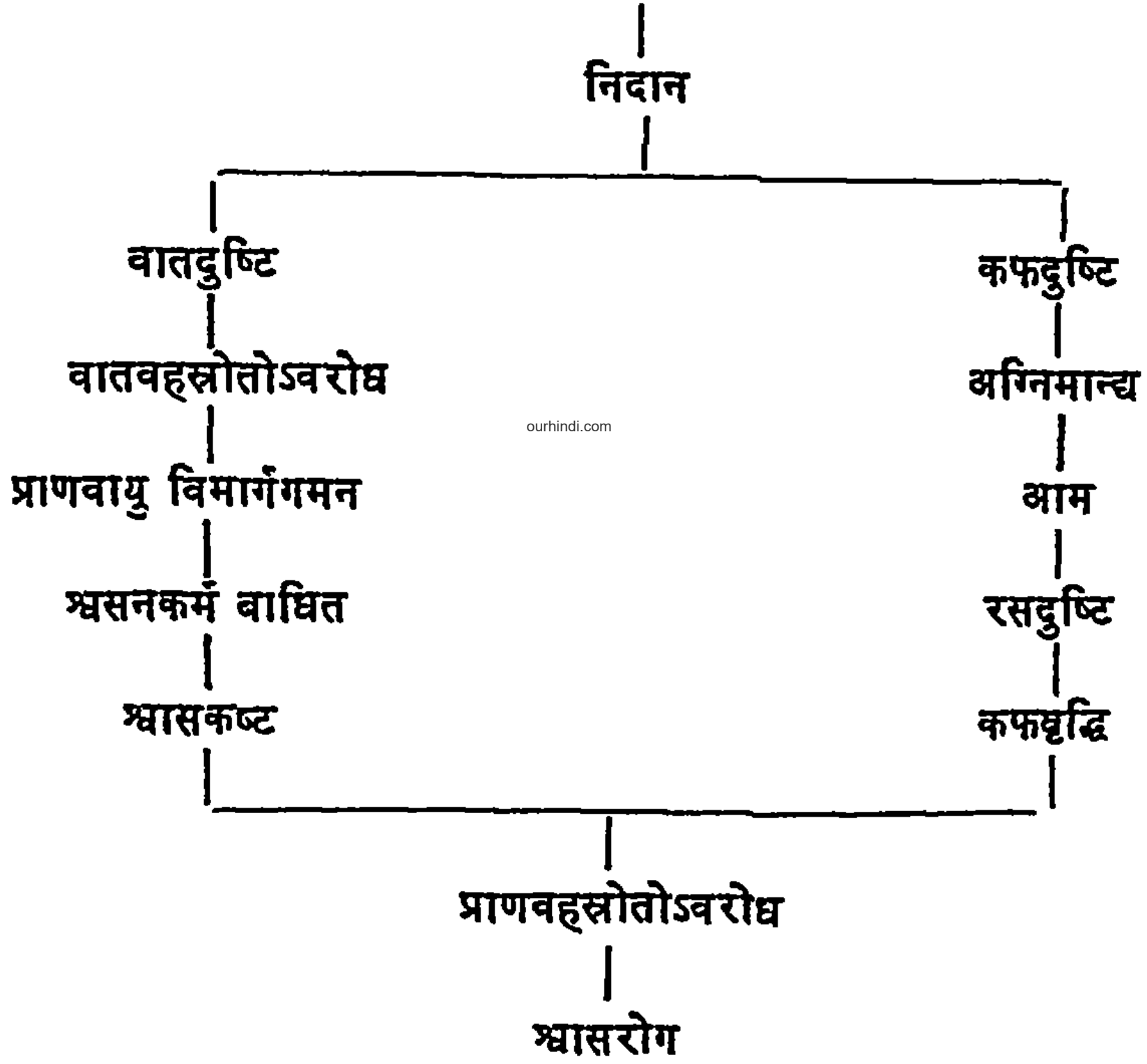
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१. दोष—कफप्रधान वात।
२ दूष्य—रस।
३ स्रोतस्—प्राणवह।
४ अधिष्ठान—आमाशय।
५ स्रोतोदुष्टि लक्षण—सग, विमार्गगमन (वायु का)।
६. आमाशय-समुद्भव रोग।
७ आशुकारी व्याधि।
८ सतत औषध-प्रयोग और जागरूकता अपेक्षित।

श्वासरोग के भेद

१ महाश्वास, २ ऊर्ध्वश्वास, ३. छिन्नश्वास, ४ तमकश्वास और ५ क्षुद्रश्वास के नाम से पाँच प्रकार का श्वासरोग होता है।
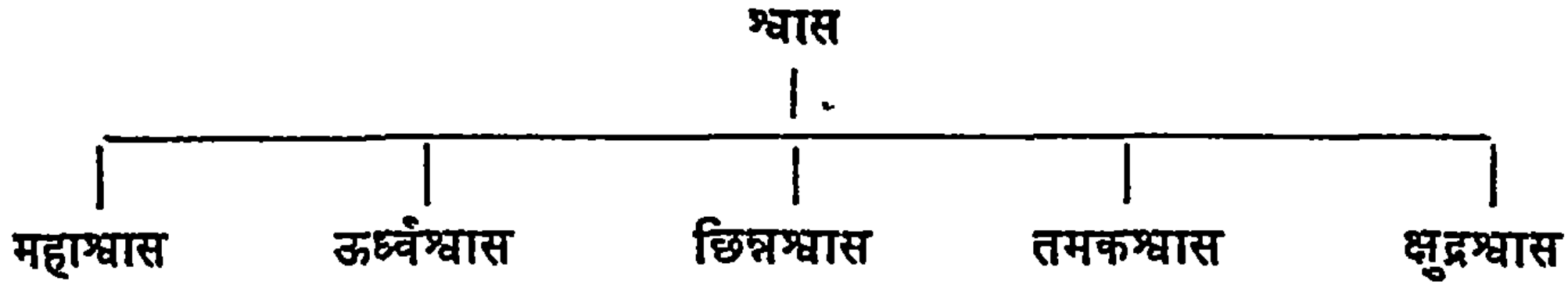
श्वासरोग मे दोषानुबन्ध एवं साध्यासाध्यता

१ महाश्वास—वातप्रबल-कफ-अव्यक्तलक्षण—साध्य, सपूर्ण लक्षण—असाध्य					
२ ऊर्ध्वश्वास—वातप्रबल-कफ	"	"	"	"	
३ छिन्नश्वास—वात-कफाधिक	"	"	"	"	
४ तमकश्वास—कफप्रधान वात	कृच्छ्रसाध्य				
५. क्षुद्रश्वास—वाताधिक कफ	साध्य				

पूर्वरूप

१ हृदय-प्रदेश मे पीडा, २. पार्श्वशूल, ३ आध्मान (उदर मे वायु भरना), ४. आनाह (आम या मल के रुकने से पेट मे वायु का तनाव होना), ५ मुख के स्वाद का फीका होना और ६ शखप्रदेश मे सूई चुभाने जैसी पीडा—ये पूर्वरूप हैं।

महाश्वास का लक्षण

इसमे वायु की ऊर्ध्वगति होने से रोगी उन्मत्त साँड की फुँफकार की गर्जना की तरह शब्द युक्त एव कष्ट के साथ श्वास लेता है। वह सज्ञाशून्य जैसा हो जाता है, आँखें नचाता है, मुख खुला रखता है, आँखें फैली रहती हैं, मल और मूत्र के वेग नही उठते हैं, वाणी रुक-रुक कर निकलती है। वह उदास और दीनवदन दीखता है, उसकी श्वास की ध्वनि दूर से ही सुनाई पडती है। इन लक्षणो से युक्त श्वास-रोग को महाश्वास कहते हैं। इससे आक्रान्त रोगी का मरणकाल निकट होता है।

ऊर्ध्वश्वास का लक्षण

जो रोगी देर तक वाहर की ओर श्वास छोडता है, किन्तु भीतर की ओर श्वास ग्रहण नही कर पाता, जिसका मुख और प्राणवहस्रोत कफ से व्याप्त रहते हैं, जो तीव्र वायु-प्रकोप से पीडित रहता है, जिसकी दृष्टि ऊपर की ओर खिच जाती है और जो नेत्रो को इधर-उधर नचाता रहता है, जो वेदना से व्याकुल होकर वेहोश हो जाता है, जिसका मुख सूखता है और जिसे बेचैनी बनी रहती है। रोगी जब श्वास का त्याग तेजी से करता है, तो भीतर की ओर श्वास ग्रहण करने मे कष्ट होता है, कदाचित् अन्त श्वास नही ले पाता। इस प्रकार पीडा और वेहोशी की स्थिति लाकर यह ऊर्ध्वश्वास रोग रोगी के प्राणो का हरण कर लेता है।

छिन्नश्वास का लक्षण

इसमे रोगी सपूर्ण जोर लगाकर भी रुक-रुक कर श्वास लेता है और हृदय आदि मर्मों की पीडा से त्रस्त एवं दु ख से आर्त होकर कुछ समय तक श्वास ही नही लेता। वह आनाह, स्वेदाधिक्य तथा मूर्च्छा से ग्रस्त रहता है, उसके वस्तिप्रदेश में दाह होता है, आँखे अश्रुपूर्ण होती हैं, रोग के प्रभाव से एक नेत्र मे लालिमा होती है, रोगी क्षीण होता है उसका मन उद्विग्न रहता है, मुख सूखता रहता है, चेहरा कान्तिहीन होता है और रोगी प्रलाप करता रहता है तथा बीच बीच मे श्वास टूट जाता है। ऐसे रोगी को 'छिन्नश्वास' का रोगी समझना चाहिए। यह रोग भी शीघ्र प्राणहर होता है।

तमकश्वास का लक्षण

संप्राप्ति—प्रतिलोम (विपरीत) गतिवाला वायु प्राणवहस्रोतो मे पहुँचकर शिर को जकड लेता है तथा कफ को उभाडकर पीनस (प्रतिश्याय) रोग को उत्पन्न कर देता है। पुन बढा हुआ कफ प्राणवायु के यातायात मे अवरोध उत्पन्न कर प्राण के आश्रयस्थल हृदय को पीडा देनेवाले घुर्घुर शब्द युक्त एव अति तीव्र वेगवाले तमकश्वास को उत्पन्न करता है।

लक्षण—(१) रोगी को प्राणवहस्रोत मे अवरोध के कारण जोर लगाकर श्वास बाहर फेंकना पडता है और श्वासकष्ट होता है। उसकी आँखो के सामने अँधेरा छा जाता है। वह प्यास से व्याकुल और निश्चेष्ट हो जाता है। बहुत खाँसने से तथा श्वास-गति ठीक न होने से वह बार-बार मूर्च्छित-सा हो जाता है। खाँसते-खाँसते जब तक कफ न निकले, तब तक रोगी परेशान रहता है।

(२) जब कफ निकल जाता है, तो रोगी को कुछ समय तक आराम मालूम होता है। उसका गला बैठ जाता है और कोशिश करने पर दम मारकर छोटे-छोटे शब्द बोल पाता है।

(३) लेटने या सोने पर श्वास की तकलीफ और बढ जाती है, क्योकि पार्श्व-प्रदेश मे विमार्गगामी वायु रुका होता है, जिससे पार्श्व मे जकडन होती है। श्वास-क्रिया मे भी बाधा पहुँचती है, जिससे रोगी सो नही पाता है।

(४) रोगी को बैठने से आराम मिलता है। वह छाती मे तकिया दबाकर झुककर श्वास लेने की कोशिश करता है।

(५) उसे उष्ण वस्तुएँ, स्थान या वातावरण आरामदेह प्रतीत होते हैं, चाहे वह गरम जल हो अथवा चाय या काफी हो।

(६) श्वास लेने और फेंकने मे कष्ट के कारण ऐसा लगता है कि आँखें बाहर निकल आयेंगी और ललाट पसीने से तर हो जाता है। श्वासकष्ट अति पीडादायक होता है। मुख सूखता है और रोगी बार-बार श्वास लेता रहता है। जैसे लोहार की भाथी से वेगपूर्वक हवा निकलती है, वैसे ही वह फुँफकारता हुआ श्वास लेता है।

(७) आकाश में बादल छा जाने पर, वर्षा होने पर, शीतल पुरवैया वायु बहने पर और कफवर्धक आहार-विहार का सेवन करने पर यह तमक श्वास बढ़ जाता है।

(८) यह नवीन होने पर साध्य होता है और पुराना होने पर याप्य होता है—'यापनीय तु तं विद्यात् क्रिया धारयते हि यम्'।

प्रतमकश्वास का लक्षण

निदान—यह रोग उदावर्त, धूल के सम्पर्क, अजीर्ण, शरीर के भीगने, वेगावरोध एवं वृद्धतर अवस्था के कारण होता है।

लक्षण—जिस श्वासरोग में तमकश्वास के लक्षणों के साथ ज्वर और मूर्च्छा भी हो उसे प्रतमकश्वास कहते हैं।

वक्तव्य—यह पित्तप्रधान होता है, इसलिए इसमें शीतोपचार उपशय और उष्णोपचार अनुपशय होता है। श्वासनलिका में शोथ होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है।

सन्तमकश्वास का लक्षण

जब श्वास का वेग अन्धकार होने पर या मन में तमोगुण की अधिकता होने पर बढ़े और शीतल उपचार से शान्त हो तथा रोगी अपने को अन्धकार में डूबा हुआ-सा समझे, तो उस रोग को सन्तमकश्वास जानना चाहिए।

वक्तव्य—महर्षि चरक ने तमकश्वास के दो भेद बतलाये हैं—१ प्रतमक और २ सन्तमक। सुश्रुत और वाग्भट (अष्टाङ्गहृदयकार) ने प्रतमक में ही उक्त दोनों का समावेश किया है। तमकश्वास कफवातात्मक होता है, परन्तु जब इसके साथ पित्त का अनुबन्ध हो जाता है, तब प्रतमक या सन्तमक श्वास होता है।

क्षुद्रश्वास का लक्षण

रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन तथा अधिक व्यायाम से जो श्वास उत्पन्न होता है और आराम करने पर अथवा बैठ जाने पर जो शान्त हो जाता है, उसे क्षुद्रश्वास कहते हैं।

साध्यासाध्यता

महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास और छिन्नश्वास असाध्य होते हैं। दुर्बल व्यक्ति का चिरकालीन तमकश्वास असाध्य होता है। चिरकालीन तमकश्वास कृच्छ्रसाध्य होता है और क्षुद्रश्वास साध्य होता है। सबल रोगियों को होनेवाले सभी तरह के श्वासरोग पूर्वरूपावस्था में साध्य होते हैं।

वक्तव्य—श्वासरोग बड़ा दारुण रोग है, इसमें कदाचित्—(१) श्वासावरोध (Asphyxia), (२) हृदयाघात (Syncop) या (३) सन्यास (Coma) होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

श्वासरोग के भेद दोषानुसार नही किये गये हैं, अपितु लक्षण के अनुसार किये गये हैं। सभी प्रकार के श्वासरोग कफवातात्मक होते हैं, अत इसके सभी भेदों मे समान चिकित्सा की जाती है। उक्त श्वासो मे महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास तथा छिन्न-श्वास के रोगी प्राय नही मिलते और ये असाध्य हैं। क्षुद्रश्वास मे विश्राम करने से ही लाभ हो जाता है, उसमे चिकित्सा की आवश्यकता नही होती। मुख्यत तमकश्वास के रोगी मिलते हैं और उसमे श्वासरोग की पूर्णत चिकित्सा की आवश्यकता होती है। अत यहाँ सामान्यत सर्वविध श्वासोपयोगी चिकित्सा का उल्लेख करना अभीष्ट है, विशेषकर तमकश्वास का।

चिकित्सासूत्र

१. आरोग्य के इच्छुक रोगी को इस रोग के कारणो का परित्याग करना चाहिए।

२ श्वासरोगी को ऐसे औषध, पेय पदार्थ एव अन्न का प्रयोग करना चाहिए, जो कफ और वात के नाशक हो, उष्ण हो तथा वायु के अनुलोमक हो।[1]

३ यदि कफ द्वारा वायु के प्राणवहस्रोतस् के यातायात का मार्ग अवरुद्ध हो जाये, तो वायु के मार्ग को निरन्तर शुद्ध करते रहना चाहिए।

४ यदि रोगी बलवान् हो और उसे कफ की अधिकता हो, तो पहले उसे वमन-विरेचन कराकर शोधन करावे, उसके बाद पथ्य-आहारपूर्वक शमन चिकित्सा करे।

५ जो रोगी दुर्बल हो और श्वास वातप्रधान हो एव बालक या वृद्ध हो तो उसे वातनाशक औषध दें तथा स्नेह, यूष एव मासरस का सेवन कराकर सतर्पण उपचार करे।

६ जो रोगी दृढ, बलवान् और कफप्रधान हो, तो उसे पहले आनूप और जलेचर जीवो के मासरस से तृप्त कराकर स्वेदन करने के बाद वमन करावे। यदि रोगी दुर्बल है और कफ की प्रधानता नही है, तो उसकी बृहण चिकित्सा करनी चाहिए।

७ श्वास के रोगी का लवणमिश्रित स्नेह से अभ्यग करना चाहिए, जिससे स्निग्ध और पिच्छिल कफ पिघलकर द्रव हो जाय।

८ अभ्यग के बाद स्नेहन हो जाने पर नाडीस्वेद, प्रस्तरस्वेद अथवा सकरस्वेद कराना चाहिए। स्वेदन से घना कफ द्रवरूप हो जाता है, स्रोतस् मृदु हो जाते हैं और खुल जाते हैं तथा वायु भी अनुलोम हो जाता है।

९. स्वेदन के पश्चात् स्निग्ध आहार (दही-भात) खिलावे, जिससे कफ बढ़ जावे, तब वमन कराकर कफ का नि सारण करे। कफ के निकल जाने पर स्रोत की शुद्धि हो जाने से श्वासवायु के यातायात का मार्ग प्रशस्त हो जाता है और रुकावट दूर हो जाती है।

---

१ यत्किञ्चित् कफवातघ्नमुष्ण वातानुलोमनम्।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने॥ चरक० चि० १७।१४७

१० यदि वमन कराने के वाद भी कफ का कुछ अश प्राणवहस्रोतो मे छिपा रह गया हो, तो कफनाशक—यव के आटा को घी मे सानकर चिलम पर रखकर धूम्रपान कराना चाहिए या मन शिलादि धूम्रपान करावे।

११. नवज्वर से पीडित तथा आमदोष से युक्त रोगियो के वल-दोष का विचार कर रूक्ष स्वेद और लघन कराना चाहिए अथवा गरम जल मे लवण घोलकर उसको पिघलाकर वमन कराना चाहिए।

१२ तमकश्वास से पीडित रोगी को वात-कफनाशक द्रव्यो के प्रयोग से विरेचन कराना चाहिए। विरेचन से मलावरोध दूर होकर वायु का अनुलोमन होने से श्वास मे लाभ होता है।

१३ वमन-विरेचन के वाद रोगी को ससर्जन क्रम से पथ्य देना चाहिए।

१४ श्वासरोग को आमाशय-समुद्भव कहा गया है। अत मूलस्थान की दृष्टि से श्वास मे होनेवाले अग्निमान्द्य, आम, रसदुष्टि तथा प्राणवहस्रोतोऽवरोध को ध्यान मे रखकर दीपन-पाचन, कफ-वातनाशक तथा प्राणवहस्रोतस् शोधक चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्सा

१ घृतप्रयोग—हरीतकी, विडलवण और हीग के कल्क से सिद्ध पुराना घृत १० ग्राम की मात्रा मे सुखोष्ण जल से दिन मे ३ वार दे।

२. अडूसे के पचाग से निर्मित क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत १० ग्राम और १५ ग्राम मधु मिलाकर दिन मे ३ वार दे।

३. शृंग्यादि घृत, तालीशादि घृत, रक्तपित्ताधिकार मे वासाघृत या वातव्याधि का षट्पलघृत, ये श्वासरोग मे वड़े उपयोगी हैं।

४ अनारदाना या विजौरा नीबू का रस कुलथी के यूष मे डालकर सेंधानमक मिलाकर पिलाना हितकर है।

५ पुराना घृत, पिप्पली, जागल जीवो का मासरस, सुरा, काञ्जी, शुद्ध हीग, मधु, मुनक्का, आँवला, वेल की छाल-फल या पत्र, मदार, धत्तूर, भारगी, अरुस, काकडासिगी, काली मरिच, कचूर, पुष्करमूल, छोटी इलायची, तुलसीपत्र, अदरक, दशमूल आदि द्रव्य रोगी के दोष-वलानुसार प्रयोग योग्य वनाकर सेवन कराना चाहिए।

६ शुद्ध सरसो का तेल १५ ग्राम और गुड १५ ग्राम मिलाकर प्रतिदिन २ वार सेवन करने से २-३ सप्ताह मे श्वास ठीक हो जाता है।

७. अरुस के पत्ते का रस १५ ग्राम वरावर कडवे तेल के साथ प्रयोग करे।

८ छोटी पीपर तथा सेंधानमक मिलाकर १ ग्राम को १ चम्मच आदि के रस से २ वार दे।

९. भारगी और सोठ के क्वाथ मे गुड़ मिलाकर सेवन कराना हितकर है।

१० भारगी और सोठ के समभाग चूर्ण को २ ग्राम की मात्रा मे मधु से ३ बार रोज दे।

११ शट्यादि चूर्ण (चरक) ३ ग्राम की मात्रा सुखोष्ण जल से दिन में ३ बार दे।

१२ मुक्तादि चूर्ण (चरक) १ ग्राम मधु से दिन मे ३ बार देना चाहिए।

१३ पीपर, पोहकरमूल, सोठ, कचूर और दालचीनी का चूर्ण परम उपयोगी है।

१४ लिसोडा की पत्ती के क्वाथ मे यवक्षार २ रत्ती मिलाकर पिलाने से कफ निकलकर श्वास मे आराम मिलता है।

१५ छोटे बच्चो के श्वासरोग (हब्बा-डब्बा) मे सेहुँड की पत्ती को गरमकर उसका स्वरस निकालकर मधु के साथ देना चाहिए।

१६ बच्चो के श्वास में उशारेरेवन्द १५०–३०० मि० ग्रा० १ कप दूध में मिलाकर पिलाने से वमन-विरेचन होकर स्रोतोऽवरोध दूर हो जाने से आरोग्य-लाभ होता है।

१७. पुष्करमूल, यवक्षार और कालीमरिच के समभाग चूर्ण को १–१ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ४ बार सुखोष्ण जल से दे।

सिद्धयोग

१ मयूरपिच्छ भस्म २५० मि० ग्रा० और पीपर चूर्ण ५०० मि० ग्रा० मधु के साथ ३–३ घण्टे पर ४ बार देवे।

२. शृङ्गयादि चूर्ण २ ग्राम, अर्कलवण ५०० मि० ग्रा० और टकणभस्म २५० मि० ग्रा० की १ मात्रा सुखोष्ण जल से ३–४ बार दे।

३ हरिद्रादि चूर्ण—हल्दी, कालीमिर्च, मुनक्का, पुराना गुड, रास्ना, पीपर, कचूर, इनके समभाग का चूर्ण ४ ग्राम की मात्रा मे ३–४ बार देना लाभप्रद है।

४ भारगी, शर्करा, अगस्त्यहरीतकी, व्याघ्रीहरीतकी, भार्गी गुड—इनमे से किसी का भी प्रयोग ५–१० ग्राम की मात्रा मे करे।

५ श्वासकुठार रस, श्वासकासचिन्तामणि, महाश्वासारि लोह, भार्गोत्तर गुटिका, वासाहरीतकी अवलेह, सोमयोग, मन शिलादि घृत, मल्लसिन्दूर, नागार्जुनाभ्र, शृगाराभ्र, मुक्तादि चूर्ण, मुक्ताभस्म, प्रवालभस्म, शखभस्म, ताम्रभस्म, लौहभस्म, रौप्यभस्म, कर्पूरादि चूर्ण, वासारिष्ट, कनकासव आदि परीक्षित औषधें हैं। इनका रोगी के दोष-बल का विचारकर योग्य मात्रा मे प्रयोग करे।

६ भारगी, हल्दी, वासा, पुष्करमूल, अर्कदुग्ध, धत्तूरपत्र-स्वरस भावित कज्जली, रसमाणिक्य तथा अम्लेवन का श्वासरोग पर सफलता के साथ प्रयोग किया जाता है।

७ शुद्ध देशी कपूर और पुराने गुड की समभाग मे बनी आधा ग्राम की गोली चूसने से श्वास शान्त होता है। अर्कवटी—मदार के फूल की कली २ भाग, पीपर १ भाग, सेंधानमक १ भाग पीसकर आधा ग्राम की गोली बनाकर ४–५ गोली प्रतिदिन चूसने को देवे।

व्यवस्थापत्र

१. ४–४ घण्टे पर ३ बार

श्वासकासचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
मुक्तादि चूर्ण	३०० मि० ग्रा०
अपामार्गक्षार	५०० मि० ग्रा०
श्वासकुठार	३०० मि० ग्रा०
तालीसादि चूर्ण	३ ग्राम
	योग—३ मात्रा

ताम्बूलपत्र-स्वरस आधा चम्मच और मधु से।

अथवा—

श्वासकासचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
मृगश्रृंग भस्म	५०० मि० ग्रा०
नरसार	५०० मि० ग्रा०
मधुयष्टी चूर्ण	३ ग्राम
	योग—३ मात्रा

वासावलेह ५ ग्राम और मधु से।

२ ९ बजे व २ बजे

श्रृंग्यादि चूर्ण (लवणयुक्त)	४ ग्राम
अर्कलवण	२ ग्राम
टकण	३०० मि० ग्रा०
सुखोष्ण जल से।	योग—२ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार

कनकासव	२० मि० ली०
द्राक्षारिष्ट	२० मि० ली०
कलमीसोरा	$\frac{1}{2}$ ग्राम
	योग—२ मात्रा

बरावर जल मिलाकर पीना।

४. २–२ घण्टे पर चूसना

एलादिवटी १–१ गोली ६ बार

५ रात मे सोते समय

आरोग्यवर्धनी	१ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

नोट—न० १ के स्थान पर निम्नलिखित योग भी उत्तम है—

दिन मे ३ बार

श्वासकुठार	५०० मि० ग्रा०
कर्पूरादि चूर्ण	२ ग्राम
सूतशेखर	३०० मि० ग्रा०
अभ्रकभस्म	५०० मि० ग्रा०
	योग—३ मात्रा

लिसोडा के क्वाथ से।

अथवा—

३–३ घण्टे पर ४ बार

शृगाराभ्र	५०० मि० ग्रा०
श्वासकासचिन्तामणि	३०० मि० ग्रा०
श्वासकुठार	५०० मि० ग्रा०
सोम चूर्ण	१ ग्राम
यवक्षार	५०० मि० ग्रा०
तालीशादि चूर्ण	६ ग्राम
मधु से।	योग—४ मात्रा

पथ्य

पुराना साठी या अगहनी चावल, गेहूँ, जौ, मूँग, कुलथी, अरहर, जागल जीवो का मासरस, पुराना गोघृत, बकरी का दूध, मधु, परवल, चौलाई, बथुआ, पालक, सहिजन की फली, सुखोष्ण जल का प्रयोग, कफ-वातनाशक आहार-विहार तथा औषध, बकरी के दूध के अभाव मे सोठ का या पीपर का चूर्ण डालकर गरम किया गया गोदुग्ध दे। गेहूँ-जौ की रोटी खाना ज्यादा लाभप्रद है।

अपथ्य

रूक्ष, शीत, गुरु अन्न, शीत जल, शर्बत, लस्सी, बर्फ, भेड का दूध-घी, सेम, कन्द वाले शाक, विदाही पदार्थ—सरसो आदि का शाक, राई, गरम मसाला, दही, उडद की दाल, मछली, जलेचर या आनूप जीवो का मास, तेल की बनी वस्तुएँ, विवन्धकारक पदार्थ, कटहल, कोहडा, वडा, अरुई, परिश्रम, पैदल चलना, धूल वाले स्थान मे या धुंआ की जगह रहना, स्त्री-प्रसग, भार वहन करना, वेगावरोध, वात-कफप्रकोपक आहार-विहार और पुरवैया हवा का झोका लगना, शीतल जलावगाहन, खुले बदन रहना, देर तक नहाते रहना, वापी स्नान और बर्फीले स्थान मे निवास आदि अपथ्य हैं।

हिक्कारोग

परिचय—हिक्का को बोलचाल की भाषा मे 'हिचकी' कहते हैं। आधुनिक

चिकित्सा-विज्ञान मे इसे हिक्कफ (Hiccough) कहते हैं। जब प्राणवायु प्रकुपित होकर बडे वेग के साथ मुख से बाहर निकलने के लिए उतावली होती है, तो अचानक गले से हिक्-हिक् की ध्वनि निकलती है। इसी ध्वनि के साथ खांसने या श्वास लेने को हिक्का कहा जाता है।

निर्वचन—(१) 'हिनस्ति असून्' (जो प्राणो को नष्ट कर देती है) इति हिक्का। इस विग्रह मे 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस पाणिनीय सूत्र से हिक्का शब्द बनता है।

(२) हिक् इति कृत्वा शब्दायते इति हिक्का' (जिसके कारण रोगी के मुख से हिक् हिक् की ध्वनि के साथ श्वास या वाणी निकलती है, उसे हिक्का कहते हैं। इस विग्रह मे हिक् पूर्वक 'कै शब्दे' (भ्वादि) धातु से हिक्का शब्द बनता है।

(३) 'हिक्कनम् = हिक्का' हिक्क अव्यक्ते 'शब्दे' (भ्वा० प० से०) गुरोश्च हल (३।३।१०३) इत्य । यटा—

(४) हिक्कयते। 'हिक् हिंसायम्' (चु० आ० से०) पचाद्यच् (३।१।१३४)। ऊर्ध्वे वातप्रवृत्तौ शब्दविशेष । अमरकोष–रामाश्रमी टीका।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरकसहिता–चिकित्सास्थान अध्याय १७।

२. सुश्रुतसहिता–उत्तरतन्त्र अध्याय ५०।

३ अष्टाङ्गहृदय–चिकित्सास्थान अध्याय ४।

४ माधवनिदान–हिक्का-श्वास।

निदान

१ विदाही (जैसे मरिच, सरसो), गुरु (जैसे उडद, कटहल), विष्टम्भी (जैसे कोहडा, बडा, अरूई), रूक्ष (जैसे जौ, चना), अभिष्यन्दी (जैसे दही, दूध, मछली) पदार्थों का अत्यधिक सेवन करना, शीतल पेय पीना और शीतल आहार करना।

२ शीतल स्थान मे निवास, धूल-धुंआ धूप और तेज हवा मे रहना, अधिक व्यायाम, शक्ति से अधिक कार्य करना, अधिक बोझ उठाना, अधिक पैदल चलना मल-मूत्र आदि के वेगो को रोकना और अल्पाहार या अनशन आदि विहार।

उक्त आहार-विहार हिक्कारोग को उत्पन्न करने वाले निदान हैं।[1]

३. विषम भोजन, आमदोष, आनाह रोग, दुर्बलता का आधिक्य, मर्मस्थान पर चोट लगना, शीत और उष्ण का एक साथ सपर्क होना और वमन या विरेचन का अतियोग होना, ये हिक्का के कारण हैं।

---

१ विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनै ।
शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलै ॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणै ।
हिक्का (श्वासश्च कासश्च) नृणां समुपजायते ॥ सु० उ० ५०

४. अतिसार, ज्वर, वमन, प्रतिश्याय, उरःक्षत, धातुक्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विसूचिका, अलसक, पाण्डुरोग और विष-विकार, ये रोग भी हिक्कारोग के जनक होते हैं।

५ उक्त रोगो के अतिरिक्त अन्य किसी भी रोग से आक्रान्त व्यक्ति हो, उसे जीवन की अन्तिमावस्था मे तीव्र वेदनाप्रद हिक्का हो सकती है।

संप्राप्ति

कफ से सयुक्त उदान सहित प्राणवायु वेग से यकृत्-प्लीहा तथा आन्त्र को मुख द्वारा बाहर निकालता हुआ-सा जब बार-बार मुख की ओर आता है, तो हिक्-हिक् शब्द की ध्वनि के साथ हिक्कारोग को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—हिक्का की उत्पत्ति का प्रधान कारण महाप्राचीरा पेशी का असामयिक सकोच ही है[1]। सामान्यतया महाप्राचीरा पेशी का सकोच होनेपर उरोगुहा मे शून्यता हो जाती है, और इसी समय उपजिह्विका (Epiglottis) खुलती है, जिससे वायु फुप्फुस मे प्रवेश कर जाती है तथा महाप्राचीरा के अपने पूर्व स्थिति मे आने पर उसके दवाव से वायु फुप्फुस से बाहर निकल जाती है। यह श्वसन की सामान्य क्रिया है। इस क्रिया मे—१ महाप्राचीरा (Diaphragm) का सकोच, २ उरोगुहा (Thoracic cavity) की शून्यता और ३. उपजिह्विका (Epiglottis) का खुलना—ये तीनो काम एक साथ होते हैं।

यदि ये तीनो कार्य एक साथ नही होते और महाप्राचीरा का असामयिक सकोच होने पर तथा उपजिह्विका द्वार वन्द होने के कारण अन्त श्वसित या वहि प्रेरित वायु रास्ते मे ही अवरुद्ध हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप हिक्-हिक् शब्द की उत्पत्ति होती है।

महाप्राचीरा के असामयिक सकोच के कारणो को दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं—१ पाचन-सस्थानीय और २ वातनाडी-सस्थानीय।

(१) पाचनसस्थानगत विकृति मे आमाशय एव अन्न-प्रणाली का प्रत्यक्ष क्षोभ है, जिसके कारण मिर्च, अचार आदि तथा तीक्ष्ण धूम आदि हैं। तीक्ष्ण आहार भी आमाशयिक क्षोभ का कारण है, जिससे उत्पन्न हिक्का जल पीने से शान्त हो जाती है। आमाशयिक क्षोभ से उत्तेजित अनुकोष्ठिका नाडी (Phrenic nerve) महाप्राचीरा का असमय मे सकोच करा देती है। इसी प्रकार आमाशयिक श्लैष्मिककलाशोथ, आमाशय का विस्फार, आन्त्रिककलाशोथ, अन्त्रावरोध तथा आनाह-आध्मान आदि कारणो से महाप्राचीरा का अनियमित सकोच होने से हिक्का उत्पन्न होती है। उक्त आशय से ही चरक मे हिक्का को पित्तस्थान (पाचन-सस्थान) समुद्भव कहा गया है।

(२) वातसस्थानगत हेतुओ मे योषापस्मार, मस्तिक अर्बुद, मस्तिष्कावरण-

---

1 Clonic diaphragmatic spasm is called hiccough (Price)

शोथ, जलशीर्ष, मदात्यय एवं पुराना (Chronic) वृक्कशोथ, मूत्रविषमयता तथा उरस्तोय के कारण भी हिक्का की उत्पत्ति होती है[1]।

हिक्का के भेद

कफ से युक्त वायु—१ अन्नजा, २ यमला, ३ क्षुद्रा, ४. गम्भीरा तथा ५ महती नामक पाँच प्रकार की हिक्का उत्पन्न करता है।
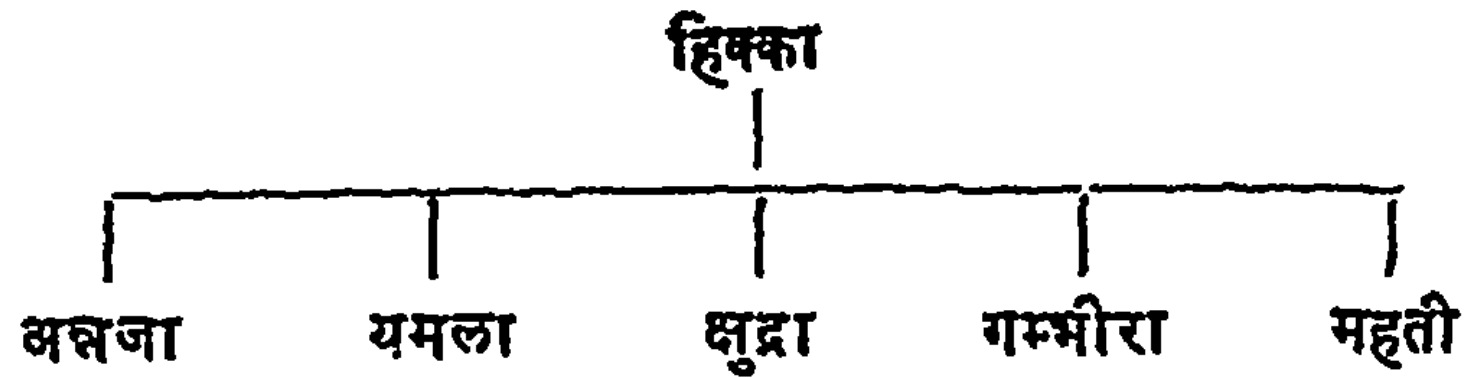
हिक्का का पूर्वरूप

गले का और छाती का भारी होना, मुख का स्वाद कसैला होना और उदर में वायु भरना तथा गुड़गुड़ाहट की आवाज होना, ये हिक्का के पूर्वरूप हैं।

अन्नजा हिक्का का लक्षण

पेय पदार्थ या अन्न के अत्यधिक सेवन से या शीघ्रतापूर्वक पीने-खाने से

---

1 A recurring, involuntary spasm or clonic contraction of the diaphragm, associated with a characteristic sound is described as a hiccup, hiccough or singultus

Causes—These are many varied They may be gastro-intestinal, toxic, neurogical, psychogenic, infective or surgical

(1) Intra-abdominal causes—Peritonitis, diaphragmatic lesions, intestinal obstruction, sub-phrenic abscess, dilatation of stomach or liver abscess.

(2) Mediastinal causes—Enlarged heart, pericardinal effusion, mediasti-tumours, aorotic aneurysm, mediastinitis, asthma, sub-external goitre

(3) Toxic causes—High fevers, toxaemia, septicaemia, shock

(4) Neurological (through irritation of respiratory centre)—Tuberculous meningitis, encephalitis, hydrocephalus, epilepsy, chorea, cerebral arteriosclerosis, brain tumour

(5) Psychogenic—Neurosis, hysteria, sudden laughter, swallowing cold drinks, hot drinks, cold shower

(6) Post-operative—Dilataion of stomach, peritonitis

(7) Metabolic and avitaminosis–Uraemia, diabetic acidosis, gout

(8) Epidemic hiccup, vital infection in males over 40, usually in epidemics, related to influenza and incephalitis and followed (at times) by parkinsonian manifestations

—Clinical Diagnosis by Rustom J. Vakil page 43

(आमाशय मे भार एवं क्षोभ होकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा महाप्रचीरा का अनियमित सकोचपूर्वक) सहसा पीडित वायु ऊर्ध्वगामी होकर अन्नजा हिक्का को उत्पन्न करती है ।

यमला हिक्का का लक्षण

जो हिक्का शिर और ग्रीवा को कँपाती हुई, रुक-रुककर एक बार मे दो वेगों के साथ होती है, उसे यमला कहते हैं ।

वक्तव्य—चरक मे यमला नाम की हिक्का का उल्लेख नही है, अन्य चार पूर्वोक्त हिक्काएँ हैं। विद्वानो ने चरक मे पठित व्यपेता नाम की हिक्का को ही सुश्रुतोक्त यमला माना है। वाग्भट ने यमला का ही उल्लेख किया है। व्यपेता का लक्षण इस प्रकार है—'जो हिक्का अशित-पीत-खादित और लीढ इन चार प्रकार के आहार के बाद उत्पन्न होती है और जब वे आहार पच जाते हैं, तब उसका वेग बढ जाता है। वेग के समय प्रलाप, वमन, अतिसार, तृष्णा, मूर्च्छा, जम्भाई, नेत्राश्रुता, मुखशोष, शरीर का आगे या पीछे की ओर झुकना और उदर मे भयकर आध्मान होना, ये लक्षण होते हैं। यह जत्रु के मूल से उत्पन्न होती है। इसका वेग रुक-रुक कर उठता है। यह प्राणनाश करनेवाली हिक्का व्यपेता कहलाती है।'

मधुकोषकार[१] ने व्यपेता के कुछ लक्षणो का यमला मे होना बतलाया है। इससे भी यमला एव व्यपेता का ऐक्य सिद्ध है।

क्षुद्र हिक्का का लक्षण

जो हिक्का कभी-कभी लम्बे अरसे के बाद उठे, जिसके वेग हलके हो और जो जत्रुमूल से ही उठे, उसे क्षुद्रहिक्का कहते हैं।

वक्तव्य—चरक ने इसे साध्य कहा है अर्थात् यह श्रम करने पर बढती है और भोजन करने पर शान्त हो जाती है।

गम्भीरा हिक्का का लक्षण

जो हिक्का नाभि से उठकर घोर एव गम्भीर शब्द करती हुई एवं अनेक उपद्रवो (तृष्णा, ज्वर, प्रलाप, मूर्च्छा आदि) से युक्त होती है, उसे **गम्भीरा हिक्का** कहते हैं।

महा हिक्का का लक्षण

जो हिक्का वस्ति-हृदय-शिर, इन मर्मों को पीडा पहुँचाती हुई तथा सपूर्ण शरीर को कँपाती हुई लगातार बनी रहती है, उसे महाहिक्का कहते हैं।

साध्यासाध्यता

१ हिचकी आने के कारण जिसका समग्र शरीर फैल जाये (खिच जाये),

---

१ कम्पयन्ती शिरोग्रीवमित्युपलक्षणं, तेन चरकोक्तप्रलापमूर्च्छावमितृष्णावैचित्यजृम्भाविप्लुताक्षत्वमुखशोषा बोध्या इति गयदास । मा० नि० यमला पर मधुकोष-टीका ।

जिसके नेत्र ऊपर को चढ जायें या सकुचित हो जायें, जिसको भोजन मे रुचि न हो तथा शरीर क्षीण हो गया है एव जिसे बहुत अधिक छीके आती हैं, वह असाध्य है।

२ गम्भीरा और महाहिक्का ये दोनो असाध्य होती हैं।

३. जिसके शरीर मे दोषो का अतिमात्रा मे सञ्चय हो, जो न खाने-पीने के कारण दुर्वल हो गया हो अथवा दीर्घकालीन रोग के कारण दुर्वल हो, वृद्ध हो और जो मैथुनकर्म मे अति आसक्त हो, ऐसे व्यक्तियो को किसी भी प्रकार की हिक्का हो जाये, तो वह प्राणनाशनी होती है।

४ यमला हिक्का मे यदि प्रलाप, पीडा, मूर्च्छा और तृष्णा हो तो वह असाध्य है।

५. वलवान् एव प्रवर मनवालि, स्थिर धातुयुक्त तथा स्वस्थेन्द्रिय व्यक्ति को होनेवाली यमला हिक्का साध्य होती है। इसके विपरीत दुर्वल शरीर एव मनवाले, क्षीणधातु तथा क्षीणेन्द्रिय व्यक्ति को होनेवाली यमला असाध्य होती है।

चिकित्सासूत्र

१. हिक्का रोग के निदान का त्याग करना चाहिए।

२ कफ-वातनाशक आहार, विहार और औषध का सेवन करे।

३. कुम्भक प्राणायाम कराना, अचानक मुख पर शीतल जल छिडकना, कठोर वचन बोलकर या डॉट-डपट कर उद्विग्न करना, त्रास, भय, आश्चर्य, शोक तथा प्रिय वस्तु के विनाश की बात करना, मन को व्याकुल करना और अगो में सूई चुभाना आदि हिक्का-शमन उपाय करे।

४ श्वास तथा कास मे कथित उपचार करना चाहिए।

५. कफाधिक वलवान् रोगी हो, तो उर स्थल एव पार्श्वप्रदेश मे लवणयुक्त वातघ्न तैल का अभ्यग कर नाडी-प्रस्तर या सकर विधि से स्निग्ध स्वेदन करे।

६ फिर कफवर्धक स्निग्ध भोजन कराकर मदनफल, पिप्पली और सेंधानमक के घोल को पिलाकर वमन कराना चाहिए। कफ निकल जाने से वायु के आवागमन से शान्ति मिलती है।

७ यदि उक्त कर्म के वाद भी कफ पूरा न निकले तो मन शिलादि धूमपान करावे या जलती आग पर कूठ का चूर्ण डालकर मुख और नाक मे उसका धुंआ देवे।

चिकित्सा

१ स्त्री के दूध मे लालचन्दन को घिसकर उसका नस्य देना उत्तम औषध है।

२. सुखोष्ण घृत मे सेंधानमक मिलाकर नस्य देवे, या—

३ केवल सेंधानमक को पानी मे घोलकर नाक मे टपकाने से हिक्का शान्त होती है।

४ **धूम योग**—जलते अगारे पर राल डालकर धुंआ दे या मन शिला या गाय की सीग या गाय का चर्म या बाल घी चुपडकर अगारे पर जलाकर धुंआ देना चाहिए।

५ सोठ के चूर्ण और गुड का नस्य या धुंआ देवे। नौसादर और चूना मिलाकर बन्द डाट की शीशी मे रखकर सुँघवे। प्याज के रस या गाजर के रस का नस्य देवे।

६ मयूरपिच्छभस्म ४०० मि० ग्रा० और पीपर का चूर्ण ५०० मि० ग्रा० मिलाकर मधु से २–२ घण्टे पर चटाना चाहिए।

७ शृङ्ग्यादि चूर्ण २–२ ग्राम मधु से २–२ घण्टे पर चटावे।

८. शुद्ध स्वर्णगैरिक ½ ग्राम और कुटकी चूर्ण १ ग्राम मधु से बार-बार देवे।

९ शाही के काँटे की अन्तर्धूम भस्म ½ ग्राम मधु से ३–४ बार देवे।

१० कालीमरिच का चूर्ण ½ ग्राम मधु से बार-बार चटाना चाहिए।

११ हरीतकी चूर्ण १–२ ग्राम मधु से बार-बार चटाना हितकर है।

१२ यवक्षार १ ग्राम खिलाकर सुखोष्ण जल पिलाने से हिक्का शान्त होती है।

१३ छोटी पीपर का चूर्ण, खजूर और नागरमोथा, इनका मिलित कल्क ३–३ ग्राम की मात्रा मे बार-बार चटाना विशेष लाभप्रद है।

१४ बिजौरानीवू का रस १० ग्राम लेकर मधु से दे।

१५ सुखोष्ण घृत, सुखोष्ण दूध और सुखोष्ण जल पीना शीघ्र हिक्काशामक है।

सिद्धयोग

१ मयूरपिच्छभस्म ३०० मि० ग्रा०, सूतशेखर १२५ मि० ग्रा० और कचूर चूर्ण ½ ग्राम की १ मात्रा मधु से ३–४ बार प्रतिदिन देना चाहिए।

२ मुक्तापिष्टी १२५ मि० ग्रा०, लीलाविलास रस १२५ मि० ग्रा० स्वर्णयुक्त सूतशेखर १२५ मि० ग्रा० बहेडे के फल का घिसा द्रव और मधु से दे। यह १ मात्रा है।

३ ताम्रभस्म १०० मि० ग्रा० मधु से चटाकर बिजौरानीवू का रस १० ग्राम पिलावे।

४. शखचूल रस २००–३०० मि० ग्रा० मधु से दिन मे ३ बार दे। यह सर्वोत्तम योग है।

५ हिक्कान्तक रस—स्वर्णभस्म, मुक्तापिष्टी, ताम्रभस्म और लोहभस्म समभाग लेकर बिजौरानीवू के रस की ३ भावना देकर १२५ मि० ग्रा० की गोली बनावें। १-२ गोली बिजौरे के रस, कालानमक ३०० मि० ग्रा० और मधु से दिन मे ३ बार देवे।

६ मुक्तादि चूर्ण ½–१ ग्राम की १ मात्रा दिन मे ३ बार मधु से दे।

व्यवस्थापत्र

१ ३–३ घण्टे पर ४ बार

शखचूल रस	½ ग्राम
पीपरचूर्ण	१ ग्राम
मधु से।	१ मात्रा

अथवा—

श्वासकुठार रस	२५० मि० ग्रा०
शृगभस्म	२५० मि० ग्रा०
रससिन्दूर	१२५ मि० ग्रा०

१ यवक्षार ½ ग्राम
———
१ मात्रा

हरीतकी चूर्ण १ ग्राम और मधु से।

२ ४–४ घण्टे पर ३ बार

मयूरपिच्छभस्म ½ ग्राम
पीपर चूर्ण १ ग्राम
———
मधु से। १ मात्रा

३ भोजन के बाद २ बार

कनकासव २० मि० ली०
———
१ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४ रात मे सोते समय

आरोग्यवर्धनी १ ग्राम
———
सुखोष्ण जल से। १ मात्रा

पथ्य

मृदु-स्निग्ध भोजन, पुराना गेहूँ, जौ, अगहनी या साठी का चावल, कुलथी, मूग, बिजौरा नीबू, परवल, पतली मूली, पका कैथ का फल, लहसुन, गोदुग्ध, बकरी का दूध, सँधानमक तथा वात-कफनाशक आहार-विहार-अन्नपान पथ्य है।

अपथ्य

गुरु, शीत, विष्टम्भी अन्नपान, उडद, तिलकल्क, जलेचर तथा आनूप मांस, राई-सरसो, कन्द, सेम, मछली, दही, विरुद्ध भोजन, वेगो को रोकना, धूल, धुआँ, धूप, रूक्ष पदार्थ तथा कफ-वातकारक आहार-विहार अपथ्य है।

———

षोडश अध्याय

पार्श्वशूल, राजयक्ष्मा तथा शोषरोग

पार्श्वशूल

परिचय—वक्ष स्थल या छाती की पसलियो के भीतर या बाहर अथवा उनके इर्द-गिर्द (अगल-बगल) के परिवेश मे होनेवाली पीडा को पार्श्वशूल कहते हैं। यह उरोगुहा की सीमा में होनेवाली वेदना है। कतिपय विद्वान् उदरगुहा के किसी बगल मे दायें या बायें होने वाले शूल या वेदना को भी पार्श्वशूल मानते हैं।

निर्वचन—'शूल रुजायाम्' (भा० प० से०) 'इगुपधज्ञा' (३।१।१३५) इति क ।

१. शूल रुग् आयुधम् (अमर० रामाश्रमी ३।३।१९७)।

२ 'पार्श्वम्—पशूना समूह । 'पर्श्वा णस् वक्तव्य ' (वा० ४।२।४३) सित्वात् (१।४।१६) पदत्वेन मत्वाभावात् 'ओर्गुण ' (६।४।१४६) इति न। अमर० रामाश्रमी (२।६।७९)।

३ 'पार्श्वे शूल पार्श्वशूलम्'।

४. किसी कील या कॉंटे के धँसने या गडने से जो पीडा होती है या गडे कील को उखाडने जैसी पीडा होने के कारण इस पीडा को शूल कहा जाता है।[१]

सन्दर्भ ग्रन्थ

सुश्रुतसहिता—उत्तरतन्त्र अ० ४२।

माधवनिदान।

निदान

पार्श्वशूल कफ तथा वातदोष से होता है, इसलिए वात एव कफ के प्रकोपक आहार-विहार ही इसके निदान हैं। जैसे—अति व्यायाम, अति मैथुन, अति शीतल जलपान, मटर, मूँग, अरहर, कोदो, अत्यधिक रूक्ष पदार्थ-सेवन, अध्यशन, चोट लगना, कषाय एव तिक्तरस-प्रधान अन्न खाना, अकुरित चना आदि खाना, विरुद्ध भोजन, शुष्क मास, शुष्क शाक, मल-मूत्र-वायु का अवरोध, शोक, उपवास और अधिक हँसना, इन कारणो से वायु का प्रकोप होता है। साथ ही आनूप एव जलेचर जीवो का मास खाना, खोया, छेना या दूध से बने पदार्थों का अधिक सेवन, उडद का बडा, कचौडी आदि खाने से भी कफ का प्रकोप होता है।

---

१ शङ्कुस्फोटनवत् तस्य यस्मात् तीव्राश्च वेदना ।
शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते ॥ सुश्रुत० उ० ४२।८१

संप्राप्ति

कफ-वातप्रकोपक आहार-विहार से कफ एव वायु प्रकुपित होकर असामान्य हो जाते हैं। प्रकुपित कफ कुक्षि तथा पार्श्व मे स्थित होकर वायु को रोक देता है और वह अवरुद्ध वायु पार्श्वशूल उत्पन्न करता है।

लक्षण

वक्ष स्थल के पार्श्व मे रुका हुआ वायु अथवा उदरगुहा के पार्श्व मे स्थित वायु शीघ्र ही कुक्षि मे आध्मान और गुडगुडाहट पैदा करती है एव पार्श्व मे सुई चुभाने जैसी पीडा उत्पन्न करती है। उस समय वह रोगी पीडा उत्पन्न होने के डर से बडी कठिनाई से श्वास ले पाता है। उसे भोजन मे रुचि नही होती है और नीद नहीं आती है। इन लक्षणो से कफ-वात से उत्पन्न इस रोग को पार्श्वशूल कहते हैं।

वक्तव्य—माधवकर ने कहा है, कि हृदय, पार्श्व तथा पृष्ठ मे होनेवाला शूल कफ तथा वात से होता है—'वस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु स शूल कफवातिक'। अन्यत्र कहा गया है, कि कफज शूल का मुख्य स्थान हृदय, पार्श्व एव कुक्षि है—

वातात्मक वस्तिगत वदन्ति पित्तात्मक चापि वदन्ति नाभ्याम्।
हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्ट सर्वेषु देशेषु च सन्निपाताद्॥

पार्श्वशूल उदर तथा वक्ष दोनो के पार्श्व मे होता है। उदर पार्श्वशूल आन्त्र की विकृति से होता है अर्थात् कुक्षिस्थित श्लेष्मा के द्वारा आन्त्रगत वायु का अवरोध होने पर उदर पार्श्वशूल उत्पन्न होता है। यह कभी एक पार्श्व मे और कभी दोनो पार्श्वों मे भी हो सकता है।

वक्षगत पार्श्वशूल का कारण परिफुप्फुसशोथ (Dry pleurisy) है। यह शूल विकृत क्षेत्र के अनुसार एक अथवा दोनो पार्श्व मे हो सकता है। इस शूल मे वक्ष के विकृत पार्श्व की गति कम होती है तथा श्वास के समय उदर की गति बढ जाती है। श्वास लेने मे रोगी कष्ट का अनुभव करता है। इस स्थिति में रोगी को ज्वर भी हो जाता है। यह रोग कफ-वातजन्य होता है। कफ की अधिकता से आयाम और वात की अधिकता से पार्श्वसकोच होता है। चरक ने कहा है—'पार्श्वशूल त्वनियत सङ्कोचायामलक्षणम्' (च० चि० ८)। पार्श्ववेदना (Pleurodynia) तथा पर्शुकान्तरीय वातनाडीशूल (Intercoastal neuralgia) जैसी ज्वररहित अवस्थाएँ भी पार्श्वशूल के अन्तर्गत आ सकती हैं।

चिकित्सा

१. पुष्करमूलादि चूर्ण—पोहकरमूल, शुद्ध हीग, सोचर नमक, विडनमक, सेंधानमक, तुम्बुरु और हर्रा के फल की मज्जा, सबको समान भाग मे लेकर बारीक चूर्ण बना लें। २ ग्राम की मात्रा मे जौ के काढे के साथ दिन में ३ बार दें।

२ (प्लीहोदराधिकारोक्त) षट्पल घृत १५–२० ग्राम दूध के साथ प्रात -साय पिलावे।

३. २० ग्राम घृत मे ½ ग्राम शुद्ध हीग डालकर २ वार पिलावे।

४ विजौरा नीबू के बीज के चूर्ण को २ ग्राम दूध के साथ दे। अथवा—

५. विजौरा नीबू के रस को ५ ग्राम लेकर दूध मे पकाकर पिलावे।

६ दोष एव प्रकृति का विचार कर एरण्ड तैल २० ग्राम मद्य, दही का पानी, दूध या मासरस के साथ दे।

सिद्धयोग

७ लक्ष्मीविलासरस, लक्ष्मीनारायणरस, शृङ्गभस्म, महावातराज, त्रिभुवनकीर्ति-रस, शूलवर्जिनी वटी, दशमूलारिष्ट आदि का रोगी की प्रकृति आदि का विचारकर उचित मात्रा और अनुपान के साथ प्रयोग करे।

८ हिंगुद्विरुत्तरयोग—शुद्ध हीग १ भाग, कालानमक २ भाग, सोठ ४ भाग, छोटी हर्रे ८ भाग (भुनी हुई) सबका महीन चूर्ण कर लें। इसे ३–४ ग्राम सुखोष्ण जल से ३–४ वार दे।

९ विषाणयोग—शृगभस्म २५० मि० ग्रा०, रससिन्दूर १२५ मि० ग्रा०, त्रिभुवनकीर्ति रस २५० मि० ग्रा०—इनकी १ मात्रा १० ग्राम घृत मे मिलाकर दिन में ३–४ वार दे।

१० लेप—प्याज के रस और सेहुंड की पत्ती के रस मे मृगशृङ्ग को घिसकर लेप करे। अथवा—

११ आमाहल्दी, रास्ना, सोवाबीज, सौंफ, देवदारु और मैंदा लकडी पीसकर सुखोष्ण लेप लगावे।

पथ्य

पुराना चावल, जौ, गेहूँ, परवल, सहिजन की फली, वथुआ, सोवा, पालक, लहसुन, हीग, सोठ, कालानमक, पपीता, कागजी नीबू पथ्य है।

अपथ्य

गुरु, विष्टम्भी तथा विरुद्ध भोजन, रात्रिजागरण, अध्यशन, विषमाशन, रूक्ष, तिक्त, कषायद्रव्य, राई, सरसो, व्यायाम, स्त्रीप्रसग अपथ्य है।

राजयक्ष्मा

(Tuberculosis)

पर्याय और परिचय—शोष, क्षय, राजयक्ष्मा, रोगराट्, महावल, तपेदिक, दिक, सिल, थाइसिस (Phthisis), कजम्प्शन (Consumption), पल्मोनरी ट्यूबर-कुलोसिस (Pulmonary tuberculosis) आदि नामो से यह रोग जाना जाता है।

यह रोग काम, ज्वर और प्रतिश्याय आदि की ओट मे छिपकर धीरे से गुप्त रूप मे शरीर मे प्रवेश कर जाता है। प्राय. पूर्व ज्वर आदि लक्षणो के अनुसार चिकित्स—

इसकी चिकित्सा करते हैं, क्योकि यह रोग अप्रकट रहता है, किन्तु धीरे-धीरे यह शरीर के भीतर अपनी स्थिति सुदृढ बना लेता है। जब इस रोग के दुर्निवार लक्षण प्रबल हो जाते हैं, तब इस रोग का ज्ञान होता है।

यह रोगो का राजा है, क्योकि जिस प्रकार राजा की सवारी के आगे और पीछे सुरक्षा-सैनिक होते हैं, उसी प्रकार इस रोगराट् के पहले अर्थात् इसके प्रकट होने के पूर्व ज्वर, खांसी, श्वास आदि रोग दिखलाई देते हैं और इसके हो जाने पर अतिसार, शोथ, पाण्डु आदि उपद्रव होते हैं। इसीलिए इसे **बहुरोग पुरोगम** और **अनेक रोगानुगत** कहा गया है। इसका निदान कठिनाई से हो पाता है और इसकी चिकित्सा मे सफलता मिलना भी कष्टसाध्य है। अतएव इस राजयक्ष्मा (शोष) को **महाबलशाली** कहा गया है।

निर्वचन[1]

१ (क) **राजयक्ष्मा** 'यक्ष्मा' रोग को कहते हैं और यह सभी रोगो का प्रधान या राजा है, अत इसे राजयक्ष्मा कहते हैं–'यक्ष्मणा रोगाणा राजा राजयक्ष्मा'। (ख) यह रोग सबसे पहले नक्षत्रो के राजा चन्द्रमा को हुआ था। इस प्रकार राजा का रोग होने के कारण इसे राजयक्ष्मा कहा जाता है—'राज्ञो यक्ष्मा राजयक्ष्मा'।

२ **शोष**—रस-रक्त आदि धातुओ का शोषण करने से इसे 'शोष' कहते हैं—'सशोषणाद् रसादीना शोष इत्यभिधीयते'।

३ **क्षय**—शरीर की वाह्य तथा आन्तरिक क्रियाओ का नाश (क्षय) कर देने के कारण इसे 'क्षय' कहते हैं—'क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुन ।'

सन्दर्भ ग्रन्थ

१ चरकसहिता–निदान० ६ तथा चिकित्सा० ८।
२ सुश्रुतसहिता–उत्तरतन्त्र ४१।
३. अष्टाङ्गहृदय–निदान० ५ तथा चिकित्सा० ५।
४. माधवनिदान।

निदान

शरीर की रोगप्रतिरोधक शक्ति और जीवनीय शक्ति के सुदृढ रहने पर यक्ष्मा के जीवाणुओ के लिए शरीर उर्वर नही होता और वे अपना कोई दुष्प्रभाव नहीं डाल पाते। जब किन्ही कारणो से व्याधिक्षमत्व का ह्रास होता है, तभी कोई व्यक्ति यक्ष्मा जैसे रोग से आक्रान्त होता है। इसी दृष्टि से प्राचीन ऋषियो ने अलौकिक प्रतिभापूर्ण अन्वेषण कर व्याधिक्षमता को घटाने वाले और राजयक्ष्मा के उत्पादक

---

१ सशोषणाद् रसादीनां शोष इत्यभिधीयते।
क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुन ॥
राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामय ।
तस्मात्त राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिण ॥ सु० उ० ४१।४-५

चार कारणो का उल्लेख किया है—१. साहस, २. संधारण, ३. क्षय और ४. विषम भोजन।

(१) साहस—दुर्बल होने पर अपने से बलवान् से युद्ध करना, किसी भारी वस्तु को खीचना, ऊँची आवाज मे बोलना, बहुत ज्यादा बोझ उठाना, दूर तक तैरना, अपने शरीर को दूसरे के पैरो से चहलवाना, दूर का मार्ग दौड़कर तय करना, चोट लग जाना आदि साहसिक कार्यों से वायु प्रकुपित हो जाती है, जिससे फुफ्फुसो मे उर क्षत हो जाता है। वहाँ स्थित वायु कफ को भी प्रकुपित करती है और दूषित कफ को साथ लेकर पित्त को दूषित करती हुई ऊपर, नीचे और तिर्यक् (तिरछे) चलने लगती है।

साहसजन्य राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति—साहसिक कार्य करने से प्रकुपित वायु का जो अंश सन्धियो मे जाता है, वह जम्भाई, अगो में वेदना और ज्वर उत्पन्न करता है। आमाशय मे जाकर अरुचि आदि, कण्ठ में जाकर स्वरभेद आदि, हृदय मे जाकर हृदयशूल और प्राणवहस्रोतो मे जाकर श्वास और प्रतिश्याय तथा मस्तिष्क मे जाकर शिर शूल उत्पन्न करता है। फिर वक्ष में क्षत होने से, वायु की विषम गति से और कण्ठ के विकृत होने से साहसिक रोगी को लगातार खाँसी आने लगती है। खाँसी आने से छाती मे क्षत हो जाने के कारण रोगी रक्त को थूकता है और रक्त निकलने से उसकी दुर्बलता बढ जाती है, फिर तो शरीर-शोषक उपद्रवो से ग्रस्त होकर वह रोगी सूखने लग जाता है।[1]

(२) सन्धारण—जब मनुष्य अपने से बडे लोगो के समाज में, सभ्य समाज मे, स्त्रियो के बीच या सवारी से यात्रा करते हुए लज्जा, भय या सकोचवश अपने वायु के वेग को, मल या मूत्र के वेगों को रोकता है, तो वेगावरोध (सन्धारण) से वायु कुपित हो जाती है।

सन्धारणजन्य यक्ष्मा की सम्प्राप्ति—वह प्रकुपित वायु पित्त और कफ को प्रेरित कर ऊपर, नीचे और तिर्यक् ले जाती है। विकृत वायु अपने अश विशेष से शरीर के विभिन्न अवयवो मे जाकर शूल उत्पन्न करती है। मल को तोडकर बाहर निकालती है या सुखा देती है। पार्श्व, स्कन्ध, कण्ठ, छाती और शिर मे अनेकविध पीडा उत्पन्न करती है। फिर खाँसी, ज्वर, स्वरभेद तथा प्रतिश्याय उत्पन्न करती है, तत्पश्चात् शरीर-शोषक उपद्रवो से ग्रस्त होकर रोगी व्यक्ति सूखने लगता है।

(३) क्षय—जब पुरुष अति शोक तथा चिन्ता से आतुर होकर ईर्ष्या, उत्कण्ठा, भय, क्रोध आदि से ग्रस्त होता है और दुर्बल होते हुए भी रूक्ष अन्नपान का सेवन करता है, उपवास करता है अथवा अल्पाहार करता है, तब उसके हृदय मे रहने

---

१ यदा पुरुषो दुर्बलो हि बलवता सह विगृह्णाति अतिविप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वा अन्यद् वा किञ्चिदेवविध विषममतिमात्र वा व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेण कर्मणोर क्षण्यते तत स उपशोषणैरुपद्रुत शनै शनैरुपशुष्यति तस्माद् पुरुषो मतिमान् साहसं वर्जयेद् कर्म रक्षन् जीवितमात्मन । च० नि० ६।४–५

वाला रस क्षीण हो जाता है। उस रस के क्षीण होने से वह शोष (राजयक्ष्मा) रोग से ग्रस्त हो जाता है।

क्षयज यक्ष्मा की सम्प्राप्ति—जब वह क्षयज राजयक्ष्मा ग्रस्त पुरुष अत्यन्त हर्ष से कामासक्त होकर अतिशय स्त्री-प्रसङ्ग करता है, तो उसका शुक्र क्षीण हो जाता है, फिर भी यदि उसका मन स्त्री-सभोग से विरत नहीं होता है, तो मैथुन करने से शुक्र का स्राव नही होता, अपितु वायु रक्तवाहिनी धमनियो मे प्रविष्ट होकर उनसे रक्त-स्राव कराती है और वह रक्त शुक्रमार्ग से बाहर आता है। परिणामस्वरूप उसकी सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर मे रूक्षता बढ जाती है तथा वायु, रक्त तथा मास को सुखा देती है, फिर कफ तथा पित्त को निकालने लगती है, फिर पार्श्वों में वेदना, कन्धे मे पीडा और कण्ठ मे स्वरभेद उत्पन्न करती है। शिर मे कफ की वृद्धि, सन्धि-शूल, अगमर्द, अरुचि, अजीर्ण आदि हो जाते हैं। पित्त और कफ के उत्क्लेश से और वायु के प्रतिलोम गति होने से ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद और प्रतिश्याय हो जाता है। उर क्षत होने से उसके मुख से रक्त आता है, जिससे वह दुर्बल हो जाता है, फिर तो शरीर को सुखाने वाले उक्त उपद्रवो से ग्रस्त होकर वह सूखने लगता है।[1]

वक्तव्य—आयुर्वेद मे राजयक्ष्मा के दो प्रकार बतलाये गये हैं—१ अनुलोम क्षय और २ प्रतिलोम क्षय।

१ जब विभिन्न कारणो से कफ की वृद्धि होती है, तो सभी रसादिवहस्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं, जिससे खाये हुए अन्न के परिणामस्वरूप रस से आगे की धातुएँ नही बन पाती और शरीर के कार्यों मे उन धातुओ का ह्रास निरन्तर होता चला जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे धातुओ का क्षय हो जाने से वह व्यक्ति यक्ष्मा से पीडित हो जाता है। यह **अनुलोम क्षय** कहलाता है।

२. शुक्रक्षयकारी कारणो के लगातार प्रयोग से शुक्र का अत्यधिक क्षय हो जाता है और शुक्र-क्षय होने के कारण वायु का प्रकोप होता है। वह प्रकुपित वायु शुक्र के समीपवर्ती पूर्व धातु मज्जा का शोषण करती है और क्रमश वह वायु अस्थि-मेद-मास-रक्त तथा रस का भी शोषण कर लेती है। इसे **प्रतिलोम क्षय** कहा जाता है। जैसे तप्त लोहे का गोला जहाँ रखा जायेगा, उसके समीप की गीली भूमि भी सूख जायेगी, उसी तरह वायु अपनी रूक्षता से उक्त धातुओ का प्रतिलोम क्षय करके प्रतिलोम राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न करती है।

(४) **विषम भोजन**—जब पुरुष भोजन, जलपान, भक्ष्य और लेह्य आदि खाने योग्य वस्तुओ को आहार विधि (आठ आहारविधि-विशेषायतन चरक० विमान० १।२१ तथा द्वादशाशनप्रविचार सुश्रुत०) से विपरीत प्रकार से सेवन करता है तो उसके शरीर मे वात, पित्त तथा कफ विषम हो जाते हैं। विषम वात आदि दोष शरीर में फैलकर जब स्रोतो के मुखो को रोक कर स्थित हो जाते हैं, तब मनुष्य जो

---

१ यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादतिप्रसक्तभाव स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद् रेतः क्षयमुपैति। तन. स शनै शनैरुपशुष्यति। च० नि० ६।८

आहार ग्रहण करता है, उससे धातुओ का निर्माण नही हो पाता, अपितु मूत्र और मल ही बनते हैं। रोगी मल के बल पर ही जीवित रहता है। उस पुरुष की क्षीण होती हुई धातुओं के पूर्ण न होने से विषम भोजन से बढे हुए दोष अलग-अलग उपद्रवो को उत्पन्न करते हुए शरीर को सुखा देते हैं।[1]

विषम भोजनजन्य राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति—विषम भोजन के कारण प्रकुपित वात से अङ्गमर्द, कण्ठ मे खरखराहट, पार्श्वशूल, स्कन्ध मे दृढ मर्दन जैसी पीडा, स्वरभेद और प्रतिश्याय उत्पन्न होते हैं। पित्त से ज्वर, अतिसार और उदर मे दाह होता है। कफ से प्रतिश्याय, शिर मे भारीपन, अरुचि और कास उत्पन्न होता है, कास के अधिक होने के कारण छाती मे क्षत होने से रोगी रक्त थूकने लगता है और रक्त के लगातार निकलने से दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार विषम भोजन जनित दोष राजयक्ष्मा को उत्पन्न कर देते हैं। रोगी शरीर-शोषण करनेवाले इन उपद्रवो से पीडित होकर धीरे-धीरे सूखने लगता है।

वक्तव्य—(क) आचार्य चरक ने—१. साहस, २. सधारण, ३. क्षय और ४ विषमाशन, इन चार प्रमुख कारणो का तथा इनमे राजयक्ष्मा होने की सम्प्राप्ति का युक्तियुक्त विवेचन किया है। उन्होने उक्त कारणो मे वायु-विकृति-पूर्वक अन्य दोषो की विकृति मानकर उनसे होनेवाले लक्षणो का उल्लेख किया है। वस्तुत यक्ष्मारोग त्रिदोषज है और विभिन्न अवस्थाओ मे तत्तद् दोषजन्य लक्षणो का प्रादुर्भाव होता है। इसी अभिप्राय से यह उल्लेख किया गया है, कि यक्ष्मारोग चार कारणो से होनेवाला त्रिदोषज रोग है—'त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्'—मा० नि०।

(ख) पाश्चात्य चिकित्सा वैज्ञानिक इस रोग का प्रधान कारण एक जीवाणु को मानते हैं, जिसे वैसिलस ट्यूबरकुलोसिस (Bacillus tuberculosis) कहते हैं। यह आमाशय को छोडकर शरीर के किसी भी भाग मे यक्ष्मा उत्पन्न कर सकता है।

(ग) **यक्ष्मा का आन्तरिक निदान**—जडता (बुद्धिमान्द्य), प्रतिश्याय, कास, प्रसूतिरोग, मधुमेह, इन्फ्लुएन्जा, न्युमोनिया, कुक्कुरकास, रोमान्तिका, शारीरिक कृशता आदि आन्तरिक कारण हैं।

(घ) **यक्ष्मा का बाह्य निदान**—बाल-विवाह, प्रसव-सम्बन्धी दूषण व्यवस्था, पोषक आहार का अभाव, सकीर्ण प्रकाश एव शुद्धवायुरहित स्थान मे निवास, दुर्गन्ध-युक्त (चमडा आदि का) व्यवसाय, कल कारखानो मे कार्य करना, सिगरेट-गाँजा-शराब आदि का व्यसन, क्षयरोगिणी से मैथुन, अति स्त्री-सेवन, हस्त-मैथुन, जल्दी-जल्दी गर्भधारण इत्यादि क्षय के बाह्य कारण हैं।

(ङ) **सहायक कारण**—१ अधिकतर १५ से ४५ वर्ष तक की आयु मे होता है। युवावस्था में अधिक होता है। बालक और वृद्ध भी आक्रान्त होते हैं।

---

१ यदा पुरुष पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगान् प्रकृतिकरणसयोगराशिदेशकालोपयोगसस्थोपयोग-विषमानासेवते तदा तस्य तेभ्यो वातपित्तश्लेष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते, ते विषमा शरीरमनुसृत्य यदा स्रोतसामयनमुखानि प्रतिवार्यावतिष्ठन्ते न तैरुपशोषणैरुपद्रुत शनै शनै शुष्यति।
'हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रिय.।' चरक० नि० ६।१०

२. वश या जाति—कोई भी वश या जाति इसके लिए व्याधिक्षमतायुक्त नही है। जगल और पर्वत के निवासियो को प्राय नही होता। शहरो मे रहनेवालो को अधिक होता है, उनमे भी गन्दी बस्तियो, नालियो और कूडा-करकट की ढेर के बीच झोपडो मे रहनेवालो, गन्दे खान-पान और सिनेमा आदि के व्यसनियो को अधिकाश होता है।

३. व्यवसाय—मिलो की अशुद्ध वायु मे काम करनेवालो को एव धूल, रुई, बुरादा आदि के कणो से व्याप्त वायुमण्डल मे रहनेवालो को होता है।

४ परिस्थिति—भीडभाड, गन्दगी, सील तथा प्रकाश और स्वच्छ वायु की कमी वाले स्थान मे निवास एव होटलो मे भोजन से राजयक्ष्माजनक जीवाणुओ के सक्रमण का अवसर होता है। परदावाली स्त्रियाँ भी इस रोग की शिकार होती हैं।

५ दरिद्रता[1]—आहार में स्निग्ध पदार्थों का अभाव, खनिज और विटामिन्स एव प्रोटीन का अभाव राजयक्ष्मा को आवाहित करता है। अल्पवेतनभोगी क्लर्क, मजदूर, कुली और कलकारखानो मे काम करनेवाले इस रोग से अधिक ग्रस्त होते हैं।

६ अतिश्रम[2]—अपनी शक्ति से अधिक शारीरिक, मानसिक अथवा वाचनिक किसी भी प्रकार का कार्य, दौड-धूप, खेल-कूद या बिना सोये-खाये बहुत अधिक पढना आदि, ये सभी साहसिक कार्य यक्ष्मा की पृष्ठभूमि बन जाते हैं।

७ अतिमैथुन[3]—अत्यधिक स्त्रीसभोग या अन्य प्रकार से वीर्यनाश, स्वप्नदोष, हस्तमैथुन, अप्राकृतिक मैथुन आदि भी क्षयज यक्ष्मा के जनक हैं।

८ कुलज प्रवृत्ति[4]—कुछ परिवारो मे माता-पिता से बालक मे जीवाणु-सक्रमण की अनुकूलता से यक्ष्मा होता है। यह माता-पिता से बीजरूप मे या घनिष्ठतम सम्बन्ध के कारण बालक मे सक्रान्त हो जाता है।

वक्तव्य—इसी प्रकार शरीर की दुर्बलता, शारीरिक वक्ष आदि के निर्माण की विकृति, वक्ष आदि पर आघात लगने तथा न्युमोनिया, कुकरखाँसी, फिरग, सूतिकारोग, आन्त्रिक ज्वर आदि के पश्चात् राजयक्ष्मा हो सकता है।

१. मार्ग—क्षयजनक जीवाणुओ के शरीर मे पहुँचने के तीन मार्ग हैं—१ श्वास-मार्ग २. रक्तमार्ग और ३. मुखमार्ग।

---

१ यदा पुरुषोऽतिमात्रं कृशो वा सन् रुक्षान्नसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारी वा भवति, तदा तस्य हृदयस्थायी रस क्षयमुपैति, स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति। च० नि० ६।९

२. यदा पुरुषो बलवता सह विगृह्णाति, अतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अनिप्रकृष्ट वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति तस्यातिमात्रेण कर्मणोर क्षण्यते। च० नि० ६।४

३. (क) रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षत।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देह स्नेहपरिक्षयात्॥ च० चि० ८।४

(ख) यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादतिप्रसक्तभाव स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद् रेत क्षयमेति तत सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुत शनै शनैरुपशुष्यति। च० नि० ६।१०

४ तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वया कुष्ठार्श- प्रभृतय। (तत्र) प्रभृतिग्रहणान्मेह क्षयादय (डल्हण)। सु० सू० २४

२. देह मे रोगप्रसार—देह मे प्रवेश के बाद जीवाणु अपने प्रसार के लिए तीन साधनो का प्रयोग करते हैं—(१) श्लैष्मिक त्वचा, (२) रसायनियाँ और (३) रक्त। इन तीनो साधनो से जहाँ जहाँ जीवाणुओ का प्रवेश हो जाता है, वहाँ-वहाँ पर वे क्षय की सप्राप्ति करा देते हैं। स्थानिक अथवा सार्वदैहिक दोनो प्रकार के क्षय का प्रसार इन साधनो द्वारा ही होता है।

३. क्षयजीवाणुओ से उत्पन्न रोग एक ही है, किन्तु स्थान भेद से इसे पृथक्-पृथक् सज्ञा दी गयी है। क्षयरोग के मुख्यत दो विभाग हैं—१ सर्वाङ्ग क्षय और २ स्थानिक क्षय। सर्वाङ्ग क्षय मे यह रोग सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाता है और सब अङ्गो को हानि पहुँचाता है। स्थानिक क्षय मे प्रधान फुफ्फुसक्षय है। इसके अतिरिक्त इसके अनेक विभाग हो जाते हैं—

सन्धिक्षय, अस्थिक्षय, लसीकाग्रन्थिक्षय, स्वरयन्त्रक्षय, उदर्याकलाक्षय, अन्त्रक्षय, मस्तिकक्षय, मस्तिष्कावरणक्षय, यकृत्क्षय, प्लीहाक्षय, फुफ्फुसावरणक्षय, मूत्राशयक्षय, गर्भाशयक्षय, उपस्थक्षय, मासक्षय, त्वक्क्षय और सुषुम्नाक्षय आदि स्थानिक क्षय होते हैं। इनमे से सन्धिक्षय और अस्थिक्षय प्राय स्थानिक चोट लगने से होते हैं।

राजयक्ष्मा की सामान्य सप्राप्ति

जब राजयक्ष्मा के जनक कारणो का सेवन किया जाता है, तो अग्नियाँ विषम हो जाती हैं, जिससे आहार तथा धातुओ का उचित पाक नही हो पाता। एवञ्च अग्निमान्द्यजनित कफ की वृद्धि होती है। वह बढा हुआ कफ स्रोतो के मार्गों को बन्द कर देता है, परिणामत रक्तादि धातुओ का क्षय हो जाता है तथा धातुओ मे रहनेवाली सात धात्वग्नियो का नाश हो जाता है। इसी से राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति होती है।[1]

सुश्रुताचार्य ने राजयक्ष्मा के सप्राप्ति-कथन मे—१. अनुलोमक्षय और २. प्रतिलोमक्षय के रूप मे द्विविध सप्राप्ति का कथन किया है—

१ कफप्रधान (वात-पित्त) दोषो के द्वारा रसवाहक स्रोतो का अवरोध हो जाने से उत्तरोत्तर धातुओ का निर्माण या पोषण कम होने के कारण उनका क्षय होकर राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है। उसे अनुलोमक्षय कहते हैं।

वक्तव्य—रसवाहक स्रोतस् शब्द से रसायनियो (Lymphatic vessels) तथा रक्तवाहक स्रोतस् (Arteries and veins) दोनो का ग्रहण होता है। इन स्रोतो का अवरोध हो जाने से कफ या लिम्फ का पूर्णरूप से सवहन न होकर वह विदग्ध होकर विकृत कफ के रूप मे बाहर निकलता है।

२. अधिक सभोग करने या अन्य प्रकार से वीर्य के क्षीण होने पर वायु प्रकुपित होती है और वह मज्जा को शोषित करती है, मज्जा के अनन्तर अस्थियाँ क्षीण होने

---

१ स्रोतसां सन्निरोधाद् च रक्तादीनां च सङ्क्षयाद्।
धातूष्मणां च अपचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥ च० चि० ८।४०

लगती हैं। इस प्रकार पीछे की धातुओ के क्षीण होने के क्रम मे रसधातु तक के क्षीण होने का क्रम आ जाता है। उलटी (प्रतिलोम) धातुओ का क्षय होने से उसे **प्रतिलोमक्षय** कहते हैं।

सप्राप्ति-चक्र

निदान—सधारण + विषमाशन—कफप्रधान (वात-पित्त) दोष—स्रोतोऽवरोध
|
पोषणाभाव
|
रसादि शुक्रान्त धातुओ का
अनुलोम राजयक्ष्मा—शोष—सर्वधातुक्षय—उत्तरोत्तर क्षय

निदान—साहस + क्षय—शुक्रक्षय—वातप्रधान दोष—वात-प्रकोप
|
पोषणा भाव
|
शुक्र से रसपर्यन्त
प्रतिलोम राजयक्ष्मा—शोष—सर्वधातुक्षय—पूर्व-पूर्व धातुक्षय

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१ दोष—त्रिदोष, वात-कफप्रधान।
२ दूष्य—सभी धातुएँ मुख्यत रसधातु।
३ स्रोतस्—सभी स्रोतस्, मुख्यत रसवहस्रोतस्।
४ अधिष्ठान—फुप्फुस, सर्वशरीरगत धातुक्षय।
५ आमपक्वाशयोत्थ चिरकारी व्याधि।

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप

१. शारीरिक दोषजन्य—श्वास, अगमर्द, कफस्रव, तालुशोष, वमन, अग्निमान्द्य, मद, पीनस, कास, निद्रा, शुक्लाक्षता (रक्ताल्पता) (सुश्रुत) तथा शोथ (वाग्भट)।

२. मानसिक विकारजन्य—स्त्री-सभोग की प्रबल इच्छा, स्वप्न मे काक, सुग्गा, साही, नीलकण्ठ, गीध, बन्दर और गिरगिट की सवारी करना, जल-विहीन नदियाँ देखना तथा सूखे, हवा मे झूमते, धुँआ से भरे और दावानल मे पडे वृक्षो को देखना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—यक्ष्मा के रोगी की धातुएँ क्षीण होती हैं, शरीर सूखा होता है और मनोबल गिरा होता है, इसीलिये वह सूखे जलाशय, जलते पेड और पक्षियो की सवारी करना आदि विलक्षण स्वप्न देखता है।

राजयक्ष्मा के भेद

(१) निदान की दृष्टि से यक्ष्मा के चार भेद होते हैं—१ साहसज, २ सधारणज, ३. क्षयज और ४ विषमाशनज ।

(२) लक्षणों के आधार पर यक्ष्मा तीन प्रकार का होता है—१ त्रिरूप राजयक्ष्मा, २ षड्रूप राजयक्ष्मा और ३ एकादशरूप राजयक्ष्मा ।

(३) राजयक्ष्मा अनेक रोगो का समूह है, रोगो का राजा है और त्रिदोषज व्याधि है ।

फुप्फुसमूल राजयक्ष्मा

(Hilum phthisis)

आयुर्वेदोक्त राजयक्ष्मा के वर्णन से यह प्रतीत होता है, कि उसका सम्बन्ध प्रधानरूप से फुप्फुस विकृति से है । यद्यपि राजयक्ष्मा सार्वदैहिक हो सकता है । एक प्रश्न यह उठता है कि राजयक्ष्मा अधिकतर फुप्फुस मे ही क्यो होता है ?

चूंकि शरीर मे फुप्फुस कोमलतम अङ्ग है और शरीर-रक्षक लसीकावाहिनियां फुप्फुस मे कम हैं, अत इसमे यह रोग अधिक होता है । जिस अङ्ग मे लाइपेज की कमी होती है, उसमे राजयक्ष्मा का प्रकोप अधिक होता है और फुप्फुस मे लाइपेज की मात्रा नही के बराबर है । एक अन्य कारण यह भी है, कि सबसे अधिक रक्त-संवहन फुप्फुस मे ही होता है, उसमे भी फुप्फुस के ऊपरी भाग मे । इस रोग के होने मे निम्नाङ्कित कारण हैं—

१. ऊपर के फुप्फुस का भाग टेढा होता है, जिसके कारण वहाँ वायु का गमनागमन कम होता है ।

२ ऊपरी भाग अक्षक (Clavicle) के नीचे दबा रहता है ।

३ ग्रीवा का दबाव भी इस पर पडता है ।

इन कारणो से ऊपरी भाग दुर्बल हो जाता है, जिससे सर्वप्रथम यही विकृति होती है ।

इस प्रकार फुप्फुस मे ही राजयक्ष्मा के होने की अधिक संभावना होने से तथा चिकित्सा की दृष्टि से अन्य की अपेक्षा गम्भीर होने से केवल राजयक्ष्मा कहने से फुप्फुसगत राजयक्ष्मा का ही बोध होता है ।

शास्त्रज्ञो का मत है कि बाल्यावस्था मे राजयक्ष्मा का फुप्फुसगत उपसर्ग उसके मूल मे होता है और धीरे-धीरे यह ऊपर या पार्श्व मे फैलता है । राजयक्ष्मा बढने वाला रोग है । इसका न कोई क्रम है न अवधि है । वैसे यदि रोगी, रोगाक्रान्त होने के बाद एक हजार दिनो तक जीवित रहता है, तो उचित चिकित्सा सुलभ होने से वह बच सकता है[1] । इसका क्रम और काल जीवाणुओ की तीव्रता, रोगी की प्रति-

१ परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः ।
सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः ॥ वृन्दमाधव

कारशक्ति, आर्थिक स्थिति, बाह्य परिस्थिति इत्यादि कई बातो पर निर्भर है। सामान्यत तीव्र प्रकार मे १ से ३ महीने में मृत्यु होती है, कभी-कभी ८–१० दिनो मे भी हो सकती है। साधारणतया राजयक्ष्मा चिरकालीन रोग है, जो २–३ वर्ष तक रहता है। जब रोगी सौत्रिकतन्तु-भूयिष्ठ हो जाता है, तो उसकी अवधि बीसो वर्ष हो सकती है। प्राय क्षीणता, सन्यास, रक्तष्ठीवन, श्वासावरोध, मस्तिष्क-विकृति आदि होने से मृत्यु होती है। आयुर्वेदीय लक्षणो की दृष्टि से यह तीन प्रकार का होता है। कतिपय आचार्य इन तीनो प्रकारो को राजयक्ष्मा की प्रथम, द्वितीय तथा तथा तृतीय अवस्था का लक्षण मानते हैं।

(१) राजयक्ष्मा के लक्षण कारणों के आधार पर—

	साहसज	वेगावरोधज	क्षयज	विषमाशनज
१	शिर शूल	शिर शूल	शिर शूल	शिर शूल
२	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल
३	ज्वर	ज्वर	ज्वर	ज्वर
४	कास	कास	कास	कास
५	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरभेद
६.	अरुचि	अरुचि	अरुचि	अरुचि
७	अतिसार	अतिसार	अतिसार	रक्तवमन
८	उर.शूल	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय
९.	कण्ठोद्ध्वस	असावमर्द	असताप	असताप
१०	जृम्भा	अगमर्द	अगमर्द	प्रसेक
११	सरक्त कफष्ठीवन	छर्दि	श्वास	छर्दि

वक्तव्य—

१ प्रथम छह लक्षण सभी मे समान है।

२ साहसज मे उर शूल, कण्ठोद्ध्वस और सरक्त कफष्ठीवन प्रमुख लक्षण हैं।

३. वेगावरोधज मे अगमर्द और छर्दि प्रमुख हैं।

४ क्षयज मे श्वास प्रमुख है।

५. विषमाशनज मे प्रसेक और छर्दि प्रमुख हैं।

मुख्य लक्षणो के आधार पर राजयक्ष्मा के प्रकार को जाना जा सकता है।

(२) राजयक्ष्मा के दोषानुसार लक्षण[1]—

१ **वात के लक्षण**—स्वरभेद, अस-पार्श्वशूल तथा अस-पार्श्वसकोच।

---

१ स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं सङ्कोचश्चांसपार्श्वयो ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद् रक्तस्य चागम ॥
शिरस परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
कास कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेय कफकोपत ॥ (सु० उ० ४१)

२ पित्त के लक्षण—ज्वर, दाह, अतिसार और रक्तष्ठीवन।
३ कफ के लक्षण—शिरोगौरव, अरुचि, कास, कण्ठोद्ध्वंस।

(३) त्रिरूप राजयक्ष्मा[1]—

(क) कन्धो तथा पार्श्वों मे पीडा, (ख) हाथ-पैर मे जलन और (ग) सम्पूर्ण शरीर मे ज्वर का होना, ये राजयक्ष्मा के लक्षण हैं।

(क) 'असपार्श्वाभिताप—यह राजयक्ष्मा का मुख्य लक्षण है। इसके कई कारण है—

१ रोग का आरम्भ फुप्फुस के असीय भाग अथवा पार्श्वभाग से होता है, अत वहाँ पीडा होना स्वाभाविक है।

२ यक्ष्मा के जीवाणु का फुप्फुसावरण मे प्राथमिक या द्वितीयक उपसर्ग होने से 'फुप्फुसावरणशोथ' होता है, जिसके कारण ये लक्षण होते हैं।

३. शोथयुक्त वक्ष स्थ ग्रन्थियो का नाडियो पर दबाव पडने से भी वक्ष स्थल मे पीडा होती है।

४ वायुकोषो के फट जाने पर वातोरस (Pneumothorax) हो जाने पर पीडा होती है।

५. सौत्रिकतन्तुमय प्रकार के राजयक्ष्मा मे तन्तुओ के सकोच के कारण सपूर्ण वक्ष स्थल मे पीडा होती है।

(ख) हाथ-पैर मे जलन—रसादि धातुओ के क्षय के कारण हुई रोगवृद्धि से व्यानवायु का प्रकोप होने से एव वातनाडियों के क्षोभ के कारण हाथ-पैर के तलवे मे दाह मालूम होता है।

(ग) सर्वाङ्गगत ज्वर—यह ज्वर सर्वशरीरव्यापी होता है। इसकी उत्पत्ति का प्रधान कारण राजयक्ष्माजन्य विषमयता है। यह ज्वर प्राय मध्याह्न के पश्चात् कुछ बढ जाता है।

वक्तव्य—ज्वरोत्पत्ति का कारण यह है, कि विभिन्न स्रोतसो के अवरोध से शरीर मे मल एव आमदोष के सचय के कारण धात्वग्नियो की सक्रियता बढ जाने से अधिक ऊष्मा की उत्पत्ति होती है तथा इस प्रकार उत्पन्न मल और आमदोष तथा राजयक्ष्मा के जीवाणुओ से उत्पन्न विष रक्तवाहिनियो के द्वारा परिभ्रमण करते हुए तापनियन्त्रक केन्द्र पर विषाक्त प्रभाव पैदा कर ज्वर को उत्पन्न करते है। यह ज्वर भोजन के बाद या क्रोधादि उत्तेजक भावो के कारण यक्ष्मा के रोगी को हो जाता है, क्योकि रक्तसवहन के बढने से विष उष्णतानियन्त्रक के पास शीघ्र ही पहुँच जाता है। यह ज्वर १००° से १०२° फा० तक होता है। कभी-कभी द्वितीयक उपसर्ग हो जाने पर ज्वर का विभिन्न रूप प्रकट होता है। इसे 'प्रलेपक ज्वर' कहते हैं। यह तृतीयावस्था मे पाया जाता है और इसका प्रधान कारण पूतिमयता (Pyaemia) है।

---

१ अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥ च० चि० ८।५२

(४) षड्रूप राजयक्ष्मा—

(क) १ भक्तद्वेष (भोजन मे अरुचि), २. ज्वर, ३ श्वास, ४ कास, ५ रक्तष्ठीवन और ६ स्वरभेद, ये राजयक्ष्मा के षड्रूप लक्षण हैं।

(ख) १ कास, २ ज्वर, ३ पार्श्वशूल, ४. स्वरभेद, ५. अतिसार और ६. अरुचि, ये राजयक्ष्मा के छह लक्षण हैं।

वक्तव्य—षड्रूप राजयक्ष्मा, फुप्फुसीय यक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis) का ही अवबोधक लक्षण है।

१. भक्तद्वेष—कफाधिक्य के कारण भोजन के प्रति द्वेष हो जाता है।

२ ज्वर—इसकी उत्पत्ति का कारण इसके पूर्व के वक्तव्य मे देखें।

३. श्वास—फुप्फुस मे विवरीभवन (Cavitation) अधिक हो जाने से फुप्फुस का वातसञ्चार मार्ग कम हो जाता है, वायु के आदान-प्रदान की मात्रा को प्राकृतिक रखने के निमित्त फुप्फुस की अवशिष्ट कोषाओ द्वारा यह कार्य शीघ्रता से किया जाता है, जिससे श्वासकष्ट होता है अथवा सान्द्र (घना) कफ के सचित होने से फुप्फुस घन हो जाते हैं, तब भी श्वासकृच्छ्रता होती है।

४ कास—यह श्वसन-सस्थान की विकृति का द्योतक है। खाँसी की उत्पत्ति का कारण क्षोभ और रक्ताधिक्य है। पहले सूखी खाँसी होती है, किन्तु जब बाद मे एकत्रित कफ तथा फुप्फुस की भग्न कोषिकाओ की उत्तेजना के फलस्वरूप खाँसी आती है, तो इसमे कफ भी निकलता है और कफ निकलने के बाद खाँसी शान्त हो जाती है।

५ रक्तष्ठीवन—इसे हीमोटाइसिस (Haemoptysis) कहते हैं। ८०–९० प्रतिशत राजयक्ष्मा-रोगियो मे यह लक्षण अवश्य होता है। रोग की प्रथमावस्था मे रक्ताधिक्य के कारण रक्तष्ठीवन होता है और मात्रा मे कम रहता है। उत्तरकाल मे रक्तवाहिनी के विदीर्ण होने से अधिक मात्रा मे रक्त निकलता है। सिरा या धमनी किसी से भी रक्त आ सकता है। सिरागत रक्त शीघ्र बन्द हो जाता है, किन्तु धमनी-गत रक्त शीघ्र बन्द नही होता, इसमे लाली अधिक रहती है।

(५) एकादशरूप राजयक्ष्मा—
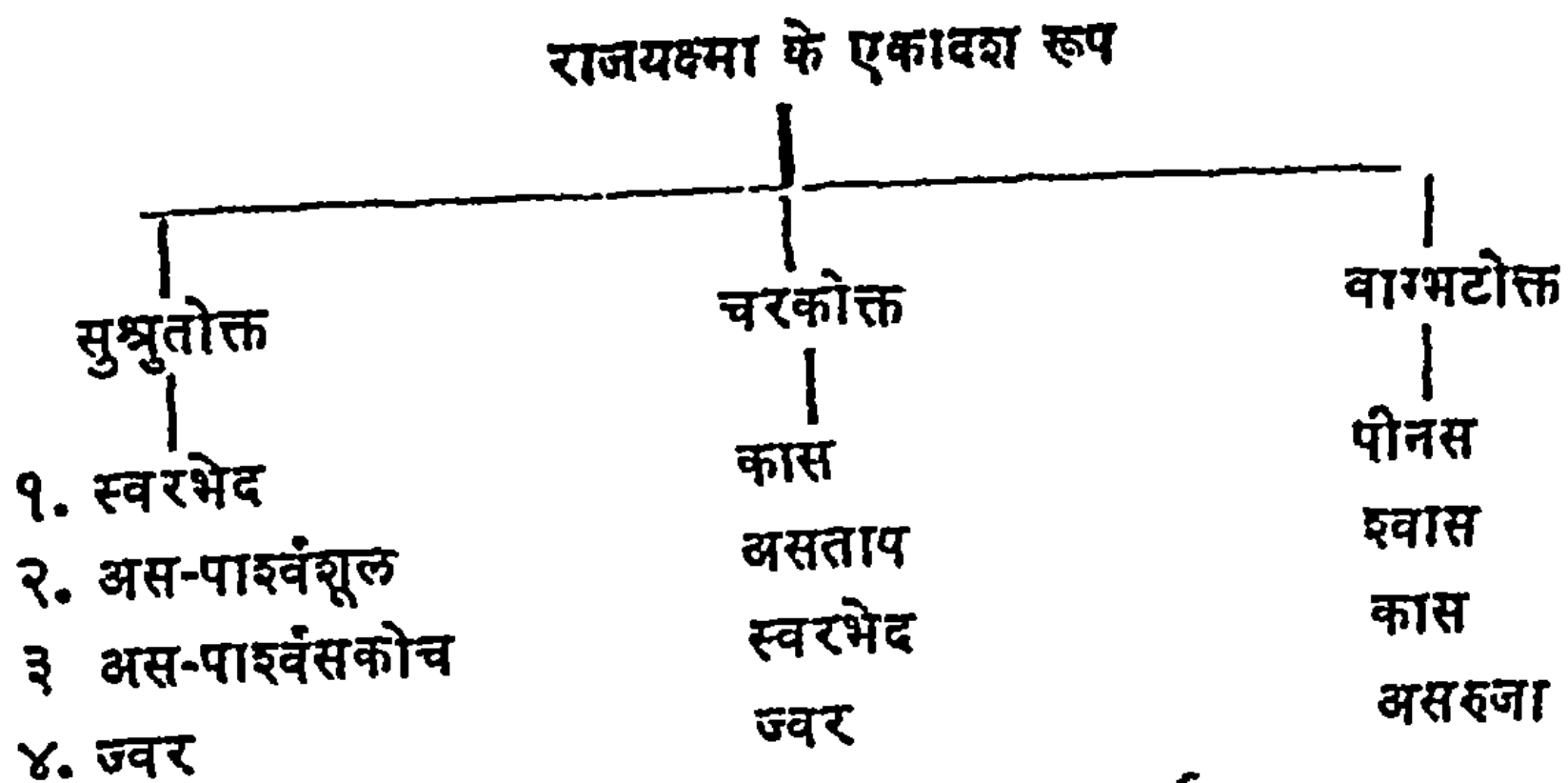
५. दाह	पार्श्वशूल	शिरोरुजा
६ अतिसार	शिर शूल	स्वररुजा
७. रक्तष्ठीवन	रक्तवमन	अरुचि
८ शिर पूर्णता	श्लेष्म छर्दि	विड्भ्रंश-सशोष
९ अरुचि	श्वास	कोष्ठज छर्दि
१० कास	अतिसार	पार्श्वशूल
११ कण्ठोद्ध्वंस	अरुचि	ज्वर

असाध्य लक्षण

१ पूर्वोक्त एकादश, षड्रूप या त्रिरूप रोगी जो बल-मासक्षय युक्त हो ।
२ अधिक मात्रा मे भोजन करे, फिर भी क्षीण होता जाये ।
३ अतिसार रोग से ग्रस्त हो ।
४. उदर तथा अण्डकोषो मे सूजन हो ।
५ जिसके नेत्र श्वेत हो ।
६ जो अन्न से घृणा करता हो ।
७ ऊर्ध्वश्वास-विकार से ग्रस्त हो ।
८. मूत्रकृच्छ्र से पीडित हो ।
९ जो बहुत अधिक मूत्र त्याग करता हो ।

साध्य लक्षण

१ जिसे लगातार ज्वर न रहता हो ।
२ जो बलवान् हो ।
३ जो औषध की शक्ति तथा शोधन की क्रिया को सहन कर सके ।
४ जो आत्मबल-सपन्न एव सयमी हो ।
५ जिसकी जठराग्नि दीप्त हो ।
६ जिसके शरीर मे मास की क्षीणता न हो ।
इन गुणो से युक्त यक्ष्मा का रोगी साध्य होता है ।

साहसज यक्ष्मा, उरःक्षत और क्षतज कास का सापेक्ष निदान

साहसज यक्ष्मा	उर क्षत	क्षतज कास
१. चिरकारी	आशुकारी	चिरकारी
२. उर क्षत का दूरस्थ इतिहास	उर क्षत का समीपस्थ इतिहास	उर क्षत का दूरस्थ इतिहास
३. यक्ष्मा के प्रत्यात्म लक्षण (त्रिरूप) मिलते हैं ।	नही मिलते	नही मिलते
४. अधिक धातुक्षय	अल्प धातुक्षय	अनल्प धातुक्षय
५ अव्यक्त पूर्वरूप	अव्यक्त पूर्वरूप	व्यक्त पूर्वरूप

६ त्रिदोषज	वातप्रधान	वातप्रधान
७ रक्तष्ठीवन मिल सकता है।	रक्तष्ठीवन अवश्य मिलता है।	रक्तष्ठीवन सभव है।

चिकित्सासूत्र

१ राजयक्ष्मा का रोगी यदि निर्बल हो तो उसकी सशमन चिकित्सा करे।

२ सर्वप्रथम इस रोग के निदान का परित्याग करना चाहिए।

३ रोगी का वहि परिमार्जन सौम्य और आरामदायक ढग से करे।

४. अगो की मालिश, उबटन लगाना, स्नान कराना एव अवगाहन कराना चाहिए।

५ वातहर बलातैल की मालिश, असगन्ध-शतावर-पीली सरसो का उबटन, जीवन्ती-शतावर आदि जीवनीय द्रव्यो के क्वाथ मे सुगन्धि डालकर ऋतु के अनुसार शीत या उष्ण करके उससे स्नान और बलातैल की मालिश करके घृत-तैलमिश्रित दुग्ध-जल युक्त टब मे अवगाहन कराना चाहिए।

६. स्वच्छ, आरामदेह नवीन वस्त्र धारण करावे, सुगन्धि वाले फूलो की माला पहनावे। प्रिय-इष्ट मित्रो का सुखद साहचर्य, रमणीय एवं हँसमुख ललनाओ का दर्शन, सुखद गीत एव वाद्य का श्रवण और मधुरालाप सुनना हितकर है।

७ मन मे हर्ष उत्पन्न करने वाले सवादो का सुनना और आश्वासन लाभप्रद है।

८. ब्रह्मचर्य पालन, श्रेष्ठजनो का आदर-सम्मान और दान-पुण्य करना चाहिए।

९. माङ्गलिक कार्य करना, सदाचारपूर्ण जीवन बिताना, देवार्चन और सयम का पालन करना शुभफलदायक है।

१० मन मे ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध-मद-लोभ-काम के भावो को न लाना और प्रसन्नता पूर्ण वातावरण मे निवास करना आरोग्यदायक है।

११ स्रोतोरोध, धातुक्षय तथा धात्वग्निमान्द्य का विचार कर स्रोतस् शोधन, धात्वग्निदीपन तथा बृहण औषधो की व्यवस्था करनी चाहिए।

१२. मासरस या घृत-दुग्ध युक्त तृप्तिकारक पथ्य देना चाहिए।

१३ अग्निदीपन, मनस्तुष्टिकर प्रिय, लघु तथा वातनाशक औषध दे।

१४ बकरी के पुरीष-मूत्र-दुग्ध-घृत और रक्त का स्नान, उबटन और भक्षण तथा बकरियो के बीच मे निवास करना राजयक्ष्मा रोगी के लिए जीवनप्रद है[1]।

१५. लहसुन का जैसे भी पसन्द हो उपयोग करना हितकर है। नागबला चूर्ण दूध के साथ और विधान के अनुसार वर्धमानपिप्पली का सेवन तथा शिलाजीत का सविधि प्रयोग लाभकर है[2]।

---

१ अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृङ् मांसालयानि प्रतिसेवमान।
स्नानादि नानाविधिना जहाति मासादशेषं नियमेन शोषम् ॥ सु० उ० ४१।५८

२ रसोनयोगं विधिवत् क्षयार्तं क्षीरेण वा नागबलाप्रयोगम्।
सेवेत वा मागधिकाविधान तथोपयोग जतुनोऽश्मजस्य ॥ सु० उ० ४१।५९

१६ अनति शीतल वायु वाले, मनोरम, स्वच्छ, प्राकृतिक सुषमा से समृद्ध उन्मुक्त पर्वतीय प्रदेश अथवा नदी मे बजडे पर या किनारे पर रहने की व्यवस्था करे।

१७ पूर्ण विश्राम, मनोऽनुकूल वातावरण, दक्ष परिचारक और प्रसन्न मन से विश्वास-लगन-धैर्य सयम के साथ नियमित औषध सेवन करे।

१८ धातुक्षय की पूर्ति हेतु मक्खन, दूध, घी, मासरस, अण्डा, सूखे फल तथा पौष्टिक औषध-अन्न का सेवन कराना चाहिए।

१९ रोगी को पृथक् आवास मे रखने की व्यवस्था करे।

२०. मल, मूत्र, थूक आदि बन्द ढक्कनदार पात्र मे सग्रह कर उसे जमीन मे गड्ढे मे डलवावे या जलवा दे।

२१. रोगी के वस्त्र, आसन, फूल-माला पात्र आदि का अन्य लोग प्रयोग न करें।

२२. घर की फर्श और वस्त्र आदि को फिनायल डालकर शुद्ध करावे।

२३ वातावरण के शोधनार्थ लोबान, गूगल, चन्दन, देवदारु, राई, जटामासी, नीम की पत्ती आदि यथालाभ जलाना चाहिए।

२४ पूर्ण विश्रान्ति और अच्छी निद्रा की पूर्ण आवश्यकता है।

२५ क्षय रोगी के शुक्र का सरक्षण परमावश्यक है। उसे स्त्री-समागम से अलग रखे।

२६ रोगी का ताप दिन-रात मे कई बार घटता-बढ़ता है, इसलिए थर्मामीटर लगाकर ३–३ घण्टे पर तापमान लिखते रहना चाहिए।

२७ भोजन, निद्रा, शौच और स्नान के पश्चात् एव चिन्तित होने पर शरीर की उष्णता कम हो जाती है तथा मैथुन, परिश्रम, मध्याह्नकाल, क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि भाव होने पर शरीर की उष्णता बढ जाती है। इन कारणो पर विचार कर तापमान लेना चाहिए।

२८ ज्वर शमनार्थ पसीना लाने वाली औषध नही देनी चाहिए।

२९ अतिसार बन्द करने के लिए अफीम मिश्रित दवा या पका बेल नही देना चाहिए।

३० यदि रक्त गिरता हो, तो तत्काल रक्तरोधक उपचार और औषध दे।

३१ मन्द ज्वर वाले और ज्वर रहित रोगियो के लिए तैलमर्दन लाभकर है। तैलमर्दन सायङ्काल हलके हाथो से करना चाहिए और दूसरे दिन प्रात गरम जल मे कपडा भिगोकर देह को पोछ लेना चाहिए। लाक्षादि तैल की मालिश से प्रस्वेद कम आता है।

३२ राजयक्ष्मा रोग दारुण व्याधि है। यह १०–२० दिन मे नही जाता है। अत धैर्यपूर्वक पथ्य-पालन एव श्रद्धा-विश्वासपूर्वक नियमित औषध का सेवन करे।

३३ राजयक्ष्मा त्रिदोषज रोग है। अंत दोषो के बलाबल का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए।

३४ धातुओ की क्षीणता से आक्रान्त राजयक्ष्मा रोगी का बल शुक्र के अस्तित्व

१४ प्रदेह—गुग्गुलु, देवदारु, रक्तचन्दन और नागकेशर अथवा काकोली, वरियार का मूल, विदारीकन्द और सहिजन की छाल तथा गदहपुर्ना को पीसकर सुखोष्ण कर अंस, पार्श्व एव शिर पर लगावे।

१५ आवश्यकतानुसार नस्य, धूमपान, भोजनोत्तर घृतपान, तैलाभ्यङ्ग, निरूह या अनुवासनवस्ति तथा सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिए।

१६. शिर, अंस या पार्श्व प्रदेश मे दाह हो, तो पदुमकाठ, खस, लालचन्दन या दूब, मजीठ, मुलहठी और नागकेशर पीसकर घी मिलाकर उन पर प्रदेह लगावे।

१७ दाह मे अभ्यङ्ग तथा परिषेक—चन्दनादि तैल या शतधौत घृत की मालिश और ताजे गोदुग्ध या मुलहठी के क्वाथ से शरीर का परिसेचन करना दाहशामक है।

१८ स्वरभेद मे नस्य—विदारीकन्द और मुलहठी डालकर सिद्ध घृत में सेंधानमक मिलाकर या पुण्डरिया काठ, मुलहठी, पीपर, वनभटा और वरियार की जड, इनके कल्क और गोदुग्ध से सिद्ध घृत का नस्य देना चाहिए।

१९ घृत का प्रयोग—चरकोक्त दशमूलादि घृत का भोजन के बाद पान करने से कास, श्वास तथा शिर-अस एव पार्श्व का शूल नष्ट हो जाता है।

२० शिर, पार्श्व एवं असशूल में रास्नाघृत या बलाघृत को दूध मे मिलाकर, रोगी के अग्निबल के अनुसार १०–२० ग्राम की मात्रा मे भोजन के मध्य या अन्त मे पिलाना चाहिए। इसी प्रकार खर्जूरादि घृत, दशमूलघृत, पञ्च पञ्चमूलघृत और पञ्च पञ्चमूल के कल्क से आठ गुने दूध और सोलह गुने जल मे सिद्ध दूध से निकाले हुए घृत का सेवन यक्ष्मा के कास-श्वास-स्वरभेद-हिक्का तथा शिर-पार्श्व एव अस के शूल का शमन करता है।

२१ मदाग्नि अरुचि, कास-श्वास मे सितोपलादि चूर्ण २ ग्राम की मात्रा मे मधु मिलाकर दिन मे ४ बार चटावे अथवा तालीशादि चूर्ण इसी भाँति देवे। सवेरे-शाम च्यवनप्राश १० ग्राम मे मिलाकर दे।

२२ अरुचि एवं वमन मे यवानीषाडव चूर्ण २–२ ग्राम विना अनुपान दिन मे ४–५ बार दे अथवा एलादि चूर्ण २–२ ग्राम ४ बार मधु से चटावे। चूसने के लिए एलादि वटी का २–२ घण्टे पर प्रयोग करे।

२३ शुष्ककास मे शृङ्ग्यादि चूर्ण २ ग्राम, अभ्रक भस्म १२५ मि० ग्रा०, प्रवाल भस्म १२५ मि० ग्रा० की एक मात्रा मधु से दिन मे ३–४ बार दे।

२४ हाथ-पैर एव अगो मे दाह होने पर चरकोक्त वासाघृत और शतावरी घृत का दूध के साथ उचित मात्रा मे प्रयोग करे।

२५. ज्वर, दाह, भ्रम, तृष्णा, वमन में दुरालभादि घृत १०–१५ ग्राम दूध में मिलाकर प्रात -साय पिलाना चाहिए।

२६ एकादश लक्षणों मे जीवन्त्यादि घृत १५–२० ग्राम की मात्रा में २५० मि० ली० दूध मे सवेरे-शाम पिलाना चाहिए।

२७ ज्वर और कास में बलादि क्षीर का प्रयोग मधु मिलाकर करे।

२८. कफप्रसेक—कफ के अधिक हो जाने पर वायु बार-बार उसे निकालती है और वमन की प्रवृत्ति होती है, इसे कफप्रसेक कहते है। इसमे मदनफल का कल्क १० ग्राम डालकर सिद्ध किया हुआ दूध पिलाकर वमन करावे तथा कफनाशक--जो, गेहूँ, अरिष्ट, सुरा, आसव, जागल पशु पक्षियो का मास आदि आहार मे देना चाहिए।

२९ अतिसार मे पीयूषवल्ली रस ५०० मि० ग्रा०, शखभस्म २५० मि० ग्रा० और जम्ब्वादि चूर्ण १ ग्राम की एक मात्रा—ऐसी ३ मात्रा जल से देवे। अनार की पत्ती, दूधिया, चागेरी या जामुन की पत्ती से सिद्ध जल मे मूग की दाल का यूप बनाकर उसमे धनियाँ, जीरा, सेंधानमक और घी डालकर खाने को दे। स्थिरादि पचमूल से सिद्ध जल पीने के लिए दे।

३० मुखवैरस्य मे—१ प्रात -साय दन्तधावन, २. मुखशोधक द्रव्यो के क्वाथ से कुल्ला करावे और मुख मे उनका कल्क धारण करावे, ३. प्रायोगिक धूमपान करावे और ४ दीपन पाचन द्रव्यो से निर्मित अनुकूल औषध एव अन्नपान का सेवन करावे।

३१ मुखवैरस्यनाशक योग—१. दालचीनी, मोथा, बडी इलायची, धनियाँ, २ मोथा, आँवला, दालचीनी, ३. दारहल्दी, दालचीनी, अजवायन, ४ तेजपात, पीपर ५ अजवायन और इमली, ये पाँच योग हैं। इनमे से किन्ही का चूर्ण या गोली बनाकर मुख मे धारण करावे। चूर्ण का कवलग्रह और गण्डूष करावे।

३२. अरुचि और विबन्ध आनाह मे यवानीषाडव चूर्ण ६–६ ग्राम की मात्रा मे बिना अनुपान ५–६ बार मुख मे रखकर चूसना चाहिए।

३३ कास-श्वास-वमन आदि मे तालीसादि चूर्ण २–३ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३–४ बार मधु से दे।

३४. यक्ष्मा मे एकल द्रव्य—कास में वासा, दाह में द्राक्षा, श्वास मे भारगी, रक्तष्ठीवन मे लाक्षा, कफष्ठीवन मे अभ्रक, उर शूल मे शृगभस्म, पार्श्वशूल में पुष्करमूल, स्वरभेद मे मुलहठी, वमन मे कर्पूरकचरी, अरुचि में अनारदाना या आदी नीबू के रस और सेंधानमक से देना उपयोगी है।

सिद्धयोग

३५ ज्वर-शमनार्थ—जयमगल रस, चतुर्मुख रस, लक्ष्मीविलास रस, प्रवालपिष्टी तथा सुदर्शन चूर्ण का रोगी के बलानुसार मात्रा मे प्रयोग करावे।

३६ मन्द-मन्द ज्वर बना रहने पर जयमगल रस १२५ मि० ग्रा०, मुक्ताशुक्ति भस्म २५० मि० ग्रा०, शिलाजत्वादि लौह ३०० मि० ग्रा० और गुडूचीसत्त्व ½ ग्राम, की एक मात्रा प्रात -साय मक्खन-मिश्री के साथ दे।

३७ अथवा वसन्तमालती १२५ मि० ग्रा०, मुक्ताशुक्ति भस्म १२५ मि० ग्रा०, प्रवालभस्म १२५ मि० ग्रा०, सितोपलादि चूर्ण २ ग्राम, इनकी दो मात्रा बनाकर प्रात -साय मक्खन-मिश्री के साथ दे।

३८ शक्तिसरक्षणार्थ—मुक्तापञ्चामृत १२५ मि० ग्रा० राजमृगाङ्क रस १२५

मि० ग्रा०, वसन्ततिलक १२५ मि० ग्रा०, तालीशादि चूर्ण ४ ग्राम की २ मात्रा प्रात -साय मक्खन-मिश्री के साथ दे।

३९ बृहणार्थ—छागलादि घृत, जीवनीय घृत, महाबलादि घृत आदि का दूध के साथ प्रयोग करे।

४० स्रोत शोधनार्थ तथा अग्नि-दीपनार्थ—भोजन के पूर्व यवानीषाडव ६ ग्राम दे और भोजनोत्तर द्राक्षासव और दशमूलारिष्ट २०–२० मि० ली० समान जल से दो बार दे।

४१. पार्श्वशूल मे पुराना गोघृत, कपूर और सेंधानमक मिलाकर मालिश करने से लाभ होता है। वासा-चन्दनादि तैल का भी अभ्यङ्ग करे।

आभ्यन्तर प्रयोगार्थ—शृगभस्म १ ग्राम और पुष्करमूल चूर्ण ३ ग्राम मिलाकर ३ मात्रा बनावे। इसे दिन मे ३ बार मधु से दे।

४२ कास में चन्द्रामृतरस आधा ग्राम, सितोपलादि ३ ग्राम, टकणभस्म आधा ग्राम, यवाक्षार आधा ग्राम, इन्हे लेकर ३ मात्रा बनाकर दिन मे ३ बार मधु से चटावे।

४३. श्वासवृद्धि मे श्वासकासचिन्तामणि ३०० मि० ग्रा०, वसन्ततिलक ३०० मि० ग्रा०, मुक्तापञ्चामृत ३०० मि० ग्रा०, श्वासकुठार रस आधा ग्राम, इन्हें लेकर ३ मात्रा बनाकर दिन मे ३ बार दे।

४४ रक्तष्ठीवन मे मुक्तापञ्चामृत आधा ग्राम, 'बोलबद्धरस १ ग्राम, प्रवालपिष्टी आधा ग्राम, रक्तपित्तान्तक रस आधा ग्राम, बोल चूर्ण १ ग्राम, नागकेशर १ ग्राम और लाक्षाचूर्ण १ ग्राम, इन्हे लेकर ४ मात्रा बनावे तथा ३–३ घण्टे पर ४ बार वासास्वरस और मधु से दे। अथवा—

४५ शुद्ध स्वर्णगैरिक १ ग्राम, स्फुटिका भस्म आधा ग्राम, तृणकान्तमणि पिष्टी आधा ग्राम, अभ्रक भस्म आधा ग्राम, शोणितार्गल १ ग्राम, इन्हें लेकर ४ मात्रा बनावे तथा ३–३ घण्टे पर ४ बार मधु से दे।

४६ स्वरभेद मे चन्द्रामृत रस आधा ग्राम, किन्नरकण्ठरस आधा ग्राम, कल्याणलेह ४ ग्राम लेकर ४ मात्रा बनाकर ५ ग्राम ब्राह्मी घृत के साथ ४ बार चटावे।

४७ रात्रिस्वेद मे यशद भस्म ४०० मि० ग्रा०, प्रवाल भस्म आधा ग्राम, वृहत् कस्तूरीभैरव रस ३०० मि० ग्रा०, इन्हे लेकर ३ मात्रा बनाकर दिन मे ३ बार मधु से दे। और—

४८ शरीर पर जगली उपले की राख मले या भुनी कुलथी का चूर्ण या सोठ का चूर्ण या भुनी मसूर का आटा मलना चाहिए।

४९ प्रस्वेद शमनार्थ—प्रवालपिष्टी आधा ग्राम, गुडूची सत्त्व १ ग्राम मिलाकर ३ मात्रा बनाकर दिन मे ३ बार मधु से दे। अथवा—

५० रुद्रवन्ती (Cressa cretica) का चूर्ण ३ ग्राम और प्रवालपिष्टी ३०० मि० ग्रा० मिलाकर ३ मात्रा बनाकर दिन मे ३ बार दे।

५१. राजयक्ष्मा में उपयोगी अन्य औषधो में स्वर्ण सूतशेखर, चन्द्रोदय, सुवर्ण-भस्म, महालक्ष्मीविलास, मृगाङ्क, राजमृगाङ्क, कुमुदेश्वर, शिलाजित्वादि वटी, शिवा-गुटिका, हेमगर्भपोट्टली रस, लोकनाथ रस, योगेन्द्र रस, जातीफलादि चूर्ण, सगजराहृत भस्म, ताप्यादि लौह, च्यवनप्राशावलेह, वासावलेह, कूष्माण्डखण्ड, द्राक्षारिष्ट, दशमूलारिष्ट, रसोनक्षीरयोग, कर्पूरादि चूर्ण, वैदूर्य पिष्टी, रससिन्दूर, त्रिकटु चूर्ण, दाडिमाष्टक चूर्ण, वराटभस्म, पञ्चामृतपर्पटी आदि का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना कल्याणकारक है।

व्यवस्थापत्र

रक्तस्राव मे त्वरित् लाभार्थ

सगजराहृत भस्म
तृणकान्तमणि पिष्टी
गुडूची सत्त्व
वशलोचन चूर्ण
छोटी इलायची चूर्ण
शुद्ध स्वर्णगैरिक
हीराबोल
हीरादोखी गोद

सब समभाग लेकर मिला लें। २–२ ग्राम की मात्रा में ३ बार अनार के शर्बत या मधु से दे।

सामान्य व्यवस्था

१. ३–३ घण्टे पर दिन मे ४ बार

स्वर्ण वसन्तमालती	४०० मि० ग्रा०
सर्वज्वरहर लौह	१ ग्राम
चन्द्रामृत	१ ग्राम
शृगभस्म	१ ग्राम
मुक्तापञ्चामृत	½ ग्राम
सितोपलादि चूर्ण	४ ग्राम
	४ मात्रा

च्यवनप्राश ५ ग्राम और मधु से।

२. भोजन के तुरन्त पूर्व २ बार

यवानीषाडव	१० ग्राम
बिना अनुपान।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ बार

द्राक्षारिष्ट	१५ मि० ली०
दशमूलारिष्ट	१५ मि० ली०
	२ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४ सर्वाङ्ग मे अभ्यग—

महालाक्षादि तैल

या

चन्दनादि तैल

अथवा—

१. ३—३ घण्टे पर दिन मे ४ बार

महालक्ष्मीविलास	आधा ग्राम
काञ्चनाभ्र	आधा ग्राम
राजमृगाङ्क	३०० मि० ग्रा०
प्रवाल पिष्टी	आधा ग्राम
यक्ष्मारि लौह	आधा ग्राम
अभ्रम भस्म	आधा ग्राम
सितोपलादि चूर्ण	४ ग्राम
	४ मात्रा

पारिजात पत्र स्वरस ५ ग्राम और मधु से।

२ भोजन के पूर्व

तालीशादि चूर्ण	४ ग्राम
जल से।	२ मात्रा

३ भोजनोत्तर

वासारिष्ट	२० मि० ली०

समान जल मिलाकर पीना।

४. अभ्यगार्थ

वासाचन्दनादि तैल

दोष और लक्षण की गुरुता एव गम्भीरता का विचार कर पूर्वोक्त सिद्ध औषधो मे से यथायोग्य कल्पना कर प्रयोग करना चाहिए।

पथ्य

१. अभ्यग, उबटन लगाना, दुग्धद्रोणी मे अवगाहन, ऋतु के अनुसार औषधसिद्ध जल से शीत या उष्ण स्नान, सुगन्धि धारण, प्रियवयस्य साहचर्य, प्राकृतिक सुषमा से समृद्ध निवास-स्थान, अजा के दुग्ध-घृत-दधि का सेवन, अजा के मध्य मे निवास आदि बाह्य परिवेश रमणीय होना चाहिए।

२. मुर्गी, मोर, वत्तक, गोरैया, मछली और नक्र के अण्डे यथाविधि संस्कृत कर सेवन करे।

३ लघुपचमूल से सिद्ध जल का भोजन पकाने मे प्रयोग करे, जो षडङ्गपानीय विधि से पकाया गया हो।

४ बकरी का दूध सर्वोत्तम है, अभाव मे गोदुग्ध देवे।

५. फल—अनार, अगूर, सेव, मुसम्मी, सन्तरा का सुखोष्ण रस देवे। पिण्ड खजूर, फालसा, नारियल, किसमिस, मुनक्का, अजीर, आलूबुखारा, अखरोट, बादाम, चिरौंजी, पिस्ता आदि सूखे फल लाभदायक हैं।

६ मक्खन—बकरी के दूध से निकाला गया मक्खन अति हितकर है। अभाव मे गाय या भैंस के दही से निकाला मक्खन मिश्री-मधु के साथ लेना चाहिए।

७. घृत—बकरी का मिले तो उत्तम है, न मिले तो गाय-भैंस का लें।

८ बकरे के मास से सिद्ध औषधीय घृतो का भोजन के साथ प्रयोग करे। औषधो के अनुपान मे भी घृत दे।

९ पिप्पली घृत, छागलादि घृत, बला घृत, रास्नाघृत, जीवन्त्यादि घृत आदि का प्रयोग जैसे भी रुचिकर हो करना चाहिए।

१० वारुणी—ताजी, नीरा (खजूर या ताड की) पीना अति लाभकर है। इसे १००-२०० ग्राम तक नित्य लेवे।

११ मासाहारी जीवो तथा जांगल जीवो का मांस, पका केला, आंवला, सहिजन की फली, परवल, सौंफ, सेंधानमक, सोठ, अदरक, कालीमरिच, पीपर, लौंग, दालचीनी, लाइची, जौ, गेहूँ, मूँग, कुलथी, धनियाँ, जीरा, लहसुन, अनार का सेवन पथ्य है।

१२ मासाहारी को कौआ, उल्लू, भेडिया, चीता, सांप, नेवला, गीध, नीलकण्ठ आदि मासभक्षी पशु-पक्षियो का मास खिलाना चाहिए। रोगी को खाद्य एव प्रसिद्ध जीवो के व्याज से उक्त जीवो का मास देवे। सही नाम बतलाने से रोगी नही खा पायेगा।

अपथ्य

रूक्षान्न-पान, विषमाशन, विरुद्ध आहार, विदाही पदार्थ राई आदि, करेला, भण्टा, कुन्दरू, ताम्बूल, अम्ल, तिक्त, कषाय और कटुरस पदार्थ, पत्रशाक, तेल, हीग, उडद की दाल, क्षारीय पदाथ, विरेचन, वेगधारण, श्रम, प्रजागरण, दिवाशयन, स्त्री-प्रसग, साहसिक कर्म, क्रोध आदि अपथ्य है।

शोषरोग

कारण के अनुसार शोष के भेद

१. व्यवायज शोप, २ शोकज शोप, ३ वार्धक्यज शोप, ४ व्यायामज शोप, ५ मार्गगमनजन्य शोप, ६. व्रणशोप और ७. उर.क्षतजन्य शोप, ये सात प्रकार के शोप कहे गये हैं।

वक्तव्य—सामान्यत रसादि धातुओ का शोषण करने की प्रवृत्ति के कारण 'शोष' भी राजयक्ष्मा का पर्यायवाची माना जाता है, किन्तु कतिपय विशेषताओ के कारण राजयक्ष्मा को शोष से पृथक् मानना चाहिए। अतएव माधव ने 'शोष' का पृथक् वर्णन किया है। राजयक्ष्मा में ज्वर की उपस्थिति तथा राजयक्ष्मा के दण्डाणु का उपसर्ग होना अनिवार्य है, किन्तु शोष में उपसर्गकारी दण्डाणु तथा तज्जन्य ज्वर का होना अनिवार्य एव अपेक्षित नहीं होता। राजयक्ष्मा के अन्य लक्षण भी शोष मे उपलब्ध नही होते। शोकशोषी या जराशोषी में राजयक्ष्मा के लक्षण नही मिलते। राजयक्ष्मा के लक्षण तथा सम्प्राप्ति के न होने से उक्त 'शोष' को शोष ही कहना सगत है।

व्यवाय आदि कारणो से उत्पन्न धातुक्षय से ही जिस शोष की उत्पत्ति होती है, उसमें राजयक्ष्मा के समान सम्प्राप्ति और त्रिदोष के लक्षण नहीं होते हैं। अत शोष को राजयक्ष्मा से पृथक् समझना चाहिए। इसी आशय से सुश्रुत ने कहा है[1]—

'इन सप्तविध शोषो मे राजयक्ष्मा के त्रिदोषो से उत्पन्न होने वाले समस्त (एकादश) लक्षण नही पाये जाते हैं, अतएव इन्हे केवल धातुक्षय के कारण 'क्षय' या 'शोष' ही कहना चाहिए। क्योंकि राजयक्ष्मा स्रोतस् सन्निरोध आदि विशिष्ट सप्राप्ति पूर्वक अनुलोम या प्रतिलोम धातुक्षय के रूप मे त्रिदोषज तथा एकादश लक्षणों वाला होता है'।

(१) व्यवायशोष का लक्षण

व्यवाय शोष का रोगी शुक्रक्षय के लक्षणो से युक्त होता है, जैसे—शिश्न तथा अण्डकोष मे वेदना होना, मैथुन मे असमर्थता, बहुत देर तक मैथुन करने पर भी शुक्र का अल्पमात्रा मे क्षरण तथा कदाचित् किञ्चिन्मात्रा में रक्त के साथ शुक्र का आना, ये लक्षण होते हैं। उसका शरीर पीला पड जाता है और पूर्व-पूर्ववर्ती धातुओ का क्रमश. क्षय होता जाता है।

(२) शोकशोष का लक्षण

शोकशोष का रोगी बहुत अधिक चिन्तन करता है, उसके अग शिथिल हो जाते हैं। रक्ताल्पता के कारण उसका शरीर पीला पड जाता है।

वक्तव्य—सट्टा, लाटरी, रोजगार या प्रियजन या धन की हानि होने से अवरमस्त का व्यक्ति बार-बार उनको सोचता है। उसे खाने-पीने, नहाने-सोने की चिन्ता

---

१. न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम्।
क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंज्ञिताः ॥ सु० उ० ४१।३२-३३

नही होती और भूख-प्यास नही मालूम पडती। वह जो कुछ खाता-पीता है, वह भी ठीक से नही पचता है और रसादि धातुओ का निर्माण नही हो पाता। फलस्वरूप वह सूखने लगता है और अग्रिम धातुओ का निर्माण नही हो पाता। इसे अनुलोम क्षय कह सकते हैं।

(३) जराशोष का लक्षण

जराशोषी का शरीर दुबला होता है, उसका बल और वीर्य क्षीण होता है, उसकी बुद्धि और इन्द्रियाँ कमजोर हो जाती है, उसका शरीर काँपता है, उसे भोजन मे रुचि नही होती और उसकी आवाज फूटे हुए काँसे के बर्तन के समान होती है। शरीर मे भारीपन होता है, कही मन नही लगता है। वह ठाँय-ठाँय खाँसता है किन्तु कफ नही निकलता। उसके मुख से, नाक से, आँख से अनिच्छित रूप से स्राव निकलता है। उसका मल सूख जाता है और उसके चेहरे पर रूक्षता होती है।

(४) अध्वशोष का लक्षण

अधिक पैदल चलने से होने वाले शोष को 'अध्वशोष' कहते हैं। ऐसे अध्वशोष रोगी के अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। उसके मुख की कान्ति झुलसी हुई और रूखी लगती है। उसके अग सूने पड जाते हैं और उसकी तालु, गला और मुख सूखते रहते हैं।

(५) व्यायामशोष का लक्षण

अधिक व्यायाम करने वाले को व्यायामशोष हो जाता है और उसमे अध्वशोषी जैसे ही लक्षण होते हैं। वह उर क्षत न होने पर भी उर.क्षय के लक्षणो का शिकार हो जाता है, जैसे—उर शूल, पार्श्वशूल, श्वास, शुष्क कास, कदाचित् किञ्चिन्मात्रा मे मुख से रक्त निकल जाना, ये सब लक्षण होते हैं।

(६) व्रणशोष का लक्षण

रक्तक्षय, व्रण-वेदना तथा नियन्त्रण के कारण पोषक पदार्थों के आहार का अभाव होने से वायु का प्रकोप होकर व्रणित को जो शोष होता है, उसे व्रणशोष कहते हैं।

(७) उर.क्षत शोष का लक्षण

परिचय—इस रोग में फुस्फुसो मे क्षत हो जाता है, जिससे छाती मे सुई चुभने के समान तीव्र वेदना होती है। इसमे कास, रक्तष्ठीवन या रक्तछर्दि होती है।

निदान

१ क्षमता से अधिक वजनदार पदार्थों को उठाना, मुद्गर भाँजना आदि।

२ अपने से बलवान् के साथ कुश्ती लडना, ऊँचे स्थान से गिरना, विषम भूमि पर गिरना, दौडते हुए बैल या घोडे को रोकना या स्टार्ट कार को रोकना।

३ वजनदार पत्थर या लकडी का बोटा उठाकर फेंकना।

४ जोर-जोर से बोलना या चिल्लाना, तेजी से दौडकर लम्बे रास्ते को पार करना।

५. अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करना।

६ अधिक मैथुन करना, अधिक कूदना, तेजी से नाचना।

७ रूक्ष, अल्प और किसी एक रस वाले पदार्थ खाना।

संप्राप्ति

उपर्युक्त कारणो से फुप्फुस विदीर्ण हो जाते हैं, जिससे वायु का प्रकोप होकर उर क्षत शोष हो जाता है।

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१. दोष—वात प्रधान।

२. दूष्य—रस तथा रक्त।

३. स्रोतस्—रस-रक्तवह, प्राणवह।

४. अधिष्ठान—फुप्फुस।

५. आशुकारी व्याधि है।

उर.क्षत का पूर्वरूप

इसका पूर्वरूप अव्यक्त रहता है, क्योकि कोई भी साहसिक कार्य करने के पहले रोगी विकार रहित होता है।

उरःक्षत का लक्षण

छाती मे अत्यधिक पीडा होती है। पार्श्वों में भी पीडा होती है। शरीर क्रमश सूखने लगता है और काँपता है। रुग्ण की शक्ति, वल, वर्ण, रुचि और जठराग्नि क्षीण होने लगती है। ज्वर और शरीर मे व्यथा होने से रोगी का मनोबल गिर जाता है। उसे अतिसार तथा अग्निमान्द्य हो जाता है। जब वह खाँसता है, तो दूषित, मटमैला, दुर्गन्धयुक्त, पीला, गाँठदार और रक्तमिश्रित कफ निकलता है। शुक्र और ओज के क्षय के कारण उर क्षत का रोगी बहुत अधिक क्षीण हो जाता है।

वक्तव्य—उर क्षत रोग दो कारणो से उत्पन्न होता है—१. शक्ति से अधिक साहसिक कार्य करने से और २ रूक्ष-अल्प-एकरस भोजी अति कामुक व्यक्तियों में शुक्र एव ओज के क्षय के कारण।

इन दोनो कारणो से उत्पन्न उर क्षत के लक्षणो मे कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं। प्रथम को **क्षत** और दूसरे को **क्षीण** कहते हैं। प्रथम (क्षत) मे छाती मे पीडा, रक्त का वमन तथा अनेक वर्ण के दुष्ट कफ के साथ खाँसी आती है तथा दूसरे (क्षीण) मे रक्त सहित मूत्रत्याग, पार्श्व, पृष्ठ तथा कमर मे जकडाहट होना विशिष्ट लक्षण हैं।

साध्यासाध्यता

१. जिस रोगी मे पूर्वोक्त उर क्षत के लक्षण कम हो।
२. जो रोगी दीप्ताग्नि हो।
३ जो रोगी बलवान् हो।
४ जिसका उर क्षत रोग नवीन हो।
ये सब साध्य हैं।

एक वर्ष का पुराना रोग याप्य हो जाता है। सभी लक्षणो से युक्त रोगी, मन्दाग्नि, दुर्बल तथा कृश रोगी असाध्य होता है।

चिकित्सासूत्र

१ व्यवायशोष—मैथुन का त्याग, मनोरम आध्यात्मिक वातारण में अपने से श्रेष्ठजनो के साथ निवास और सत्संग, सद् ग्रन्थ अध्ययन, नित्य स्नान, धार्मिक अनुष्ठान, शुक्र के समान गुण–समानगुणभूयिष्ठ द्रव्यो का उपयोग और धातुवृद्धिकर आहार-विहार का सेवन, शुक्रजनन और वय स्थापन द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।

२. शोकज शोष—विस्मापन, विस्मारण, प्रियवचन श्रवण, गीतवाद्य शब्दश्रवण, प्रियदर्शन, स्नान, अनुलेप, प्रहर्षण, सान्त्वना, आश्वासन, मन सन्तुष्टि, पौष्टिक आहार-विहार का सेवन।

३. वार्धक्यशोष—नियमित स्नान, अभ्यग, पौष्टिक पदार्थ-सेवन, घी-दूध तथा सूखे मेवे खाना, नियमित टहलना, सन्तुष्ट रहना, चिन्ता का परित्याग करना, क्रोध-लोभ-मत्सर आदि का त्याग, सादा जीवन एव उच्च विचार, सुखद आवास, समय से भोजन, शयन और जागरण। प्रात काल खुली हवा मे टहलना और जिन्दादिली रखना परम लाभकर है—

जईफी जिन्दगी मे वक्त की वेजा खानी है।
अगर जिन्दादिली है तो बुढापा भी जवानी है॥

४. व्यायामशोष—श्रमजनक कार्य न करना, कसरत और कुश्ती नही करना, श्रमहर द्रव्यो का सेवन करना, पौष्टिक आहार, सूखे फल, दूध-घी आदि का सेवन हितकर है।

५. अध्वशोष—पूर्ण विश्राम, श्रमहर द्रव्यो का प्रयोग, आरामदेह निवास और विस्तर, मधुर पदार्थ का सेवन, प्रियजन साहचर्य, सुहृद्गोष्ठी और सुखद निद्रा आदि लाभप्रद है।

६ व्रणशोष—व्रणोपचार, सक्रमण प्रतिषेध, स्वच्छ वातावरण और रक्तशोधक एव शोणित-स्थापन द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए। मधुर पदार्थ का अत्यल्प प्रयोग किया जाय।

७. उर.क्षतशोष—चन्दनादि तैल का अभ्यंग, शीतल उबटन, परिषेक, स्नान, निर्मल जलवाली नदी, नद, सरोवर, पुष्करिणी या ह्रद मे अवगाहन, धारागृह-निवास, सुखद विस्तर, शीतल उपवन, चन्द्रकिरण और सुखद हवा का सेवन, मोती-मूगा-

तृणकान्त आदि मणियो की चन्दनानुलिप्त शीतल माला छाती पर धारण करना, रक्तकमल, नीलकमल या श्वेतकमल पुष्पो या उनके पत्रो पर शयन करना या शीतल जलसिक्त कदली पत्र पर शयन करना, सहस्रधौत घृत का अनुलेपन करना, लाजसक्तु, मुनक्का, खजूर, चिरौंजी, फालसा आदि खाना हितकर है।

वक्तव्य—इस रोग की उपेक्षा करने से यह राजयक्ष्मा का रूप पकड लेता है, इसलिए प्रारम्भ मे ही सावधानी के साथ इसकी चिकित्सा करके इस रोग को निवृत्त कर देना चाहिए।

उरःक्षत की चिकित्सा

१. उर क्षत रोग का पता चलते ही उसे तत्काल रोकने का प्रयास करे।

२. लाक्षाचूर्ण १२ ग्राम की ४ मात्रा बनाकर ३–३ घण्टे पर चीनी मिले बकरी या गाय के दूध के साथ पिलावे। भोजन मे केवल खीर खिलावे या धान के लावा का सत्तू दूध मे घोलकर दे।

३ पार्श्व पीडा और वस्ति मे पीडा होनेपर एव पित्त तथा जठराग्नि की अल्पता होने पर लाक्षा चूर्ण ४ ग्राम की मात्रा मृतसजीवनी के अनुपान से दिन मे ३ बार दे।

४. यदि उर क्षत के रोगी को अतिसार हो, तो नागरमोथा-अतीस-पाठा और कोरया की छाल के समभाग चूर्ण ३ ग्राम और ३ ग्राम लाक्षा चूर्ण मिलाकर दिन में ३–४ बार ठडे जल से दे।

५. जब अग्नि प्रदीप्त हो, तो लाक्षा, जीवक-ऋषभक, मेदा-महामेदा, मधुमक्खी का छत्ता, काकोली-क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी-माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी, कमल की केशर प्रत्येक ३–३ ग्राम लेकर बकरी या गाय का दूध ४०० मि० ली० और जल १½ लीटर मिलाकर क्षीरपाक करे और दूध मात्र बचे, तो छान ले। फिर गेहूँ का ७५ ग्राम आटा लेकर २५ ग्राम घी मे भूने, उसमे उक्त दूध और ७५ ग्राम चीनी डालकर लप्सी बनावे और तैयार होने पर उसमे ३ ग्राम वशलोचन चूर्ण डाले, फिर रोगी को खिलावे।

६ ईख की जड, कमल की नाल, कमल की केशर और रक्तचन्दन के चूर्ण से क्षीरपाक कर पिलाना क्षतसन्धानकारक होता है।

७ जौ का सत्तू दूध मे घोलकर चीनी-मधु मिलाकर पिलाना चाहिए। इससे ज्वर और दाह का शमन होता है।

८ खाँसी, पार्श्वशूल और अस्थिशूल मे महुए का फूल, मुलहठी, मुनक्का, पीपर, बरियार का मूल समभाग मे लेकर पीसकर वशलोचन मिलाकर घी और मधु की विषम मात्रा मिलाकर दे।

९ यदि रक्त अधिक आता हो, तो मूग के साथ मुर्गे का अण्डा देना चाहिए।

१० क्षीणशुक्र उर क्षत रोगी को बर की बरोह, गूलर-पीपर-पाकड-साखू इनकी छाल, फूलप्रियगु, ताल की बाल, जामुन की छाल, चिरौंजी, और पद्मकाठ, सबको

समभाग में लेकर कल्क बनाकर उससे क्षीरपाक कर उसके साथ पुराना अगहनी चावल का भात बनाकर खाने को देना चाहिए।

११. अधिक क्षीणता होने पर, नागबला (गगेरन-गुलशकरी) को पहले दिन ५ ग्राम सेवन करे, २–२ दिन पर १०–१० ग्राम बढ़ाते हुए ४० ग्राम तक दूध से सेवन करे, फिर ५–५ ग्राम घटाकर ५ ग्राम की मात्रा तक ले आवे। इसका इसी प्रकार बढाते-घटाते हुए ४० दिन तक प्रयोग करे। पथ्य मे केवल इच्छा भर दूध लेवे। यह कल्प, पुष्टि, आयु, बल और आरोग्य प्रदान करता है।

सिद्ध योग—एलादि गुटिका, अमृतप्राशघृत, श्वदंष्ट्रादि घृत, सर्पिर्गुड, सैन्धवादि चूर्ण, तालीशादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, प्रवालपञ्चामृत, मुक्तापिष्टी, गुडूचीसत्त्व, चन्द्रकला रस, शृगभस्म, उशीरासव, वृहत् चन्द्रामृतरस, इनका आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१. ३–३ घण्टे पर ४ वार

स्वर्ण वसन्तमालती	५०० मि० ग्रा०
मुक्तापिष्टी	५०० मि० ग्रा०
चन्द्रकला रस	१ ग्राम
रक्तपित्तकुलकण्डन रस	५०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	१ ग्राम
	४ मात्रा

लाक्षाचूर्ण १ ग्राम, कूष्माण्ड स्वरस २० ग्राम और मधु ५ ग्राम के साथ दे।

२. ९ बजे व २ बजे दिन

सितोपलादि चूर्ण	४ ग्राम
	२ मात्रा

घी ३ ग्राम और चीनी मिलाकर खिलावे।

३ दिन मे ४–५ वार

एलादिवटी १–१ गोली चूसना।

४ भोजनोत्तर २ बार

उशीरासव	१५ मि० ली०

वरावर जल मिलाकर पीना।

पथ्य

जो अन्नपान सन्तर्पण (शरीर को समृद्ध बनानेवाला–तृप्तिदायक) हो, शीतवीर्य, अविदाही, हितकर, लघुगुणयुक्त एव सुपाच्य हो, उसका सेवन करना चाहिए। जीवनीयगण के द्रव्यो को डालकर विधिपूर्वक पकाया हुआ जगली जीवो का मासरस

चीनी डालकर पिलाना चाहिए। उर क्षत मे नमक की जगह चीनी का ही प्रयोग करना चाहिए। यक्ष्मा, कास तथा रक्तपित्त के रोगियो के लिए जो पथ्य है, उन सबको उर क्षत के रोगी के रोगवल, दोष तथा शरीर के बलाबल का विचार कर प्रयोग मे लाना चाहिए।

जौ या गेहूँ के आटे को घी मे भूनकर फिर दूध मे पकाकर छोटी इलायची का चूर्ण और चीनी डालकर खिलावे। सूखे मेवे खिलाने चाहिए। बकरी का दूध सर्वोत्तम पथ्य है, न मिले तो गाय का दूध पिलावे।

पुराना अगहनी चावल, साठी चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, मसूर तथा जो मधुर, सन्तोषप्रद और रुचिकर हो, वही पथ्य दें। आँवले का मुरब्बा, कूष्माण्ड का मुरब्बा, लौकी, परवल, आँवला, धान का लावा, मुनक्के तथा अगूर का क्वाथ या रस, गन्ने का रस, अनार का रस, गोदुग्ध, ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य

स्त्री-सभोग, शोक, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मात्सर्य, चिन्ता आदि मनोविकारो का त्याग करना चाहिए। रूक्षान्न, विरुद्ध भोजन, राई, करेला, बैंगन, कुन्दरू, सेम, उड़द और क्षारीय पदार्थ अपथ्य हैं। वेगावरोध, साहसिक कर्म, दिन मे सोना तथा श्रम आदि अपथ्य हैं।

सप्तदश अध्याय

हृद्रोग, हृच्छूल तथा हृदयाभिघात

हृद्रोग या हृदयरोग

(Cardiac Diseases)

परिचय—हृत् और हृदय दोनो शब्द हृदयवाचक हैं। हृत् के रोग को हृद्रोग एव हृदय के रोग को हृदयरोग कहते हैं। (हृदो रोग हृद्रोग, हृदयस्य रोग हृदयरोग)। उरोगुहान्तर्वर्ती कमलाकृति हृदय अन्नरस, रक्त और ओज का आश्रय है। श्रीघाणेकर जी ने इसी हृदय को मन, बुद्धि, आत्मा का स्थान माना है। यह रक्त का आधार है और अपने सकोच तथा विकास से रक्त को सदैव गतिमान् रखनेवाला अथवा रक्त का समस्त शरीर मे परिवहन करनेवाला यन्त्र है। हृदय के अगो के प्रकृत स्थिति मे रहने पर शरीर का कार्य प्राकृतिक रहता है। इसके किसी अग या किसी क्रिया के विकृत हो जाने पर हृदय का कार्य विकृत हो जाता है। इसे ही हृदयरोग कहते हैं।

हृदय में दो प्रकार के रोग होते हैं—हृदय के अङ्गसम्बन्धी विकार (Orgenic disorders) और क्रियासम्बन्धी विकार (Functional disorders)। इनमे क्रियासम्बन्धी विकारो का शमन शीघ्र हो जाता है, किन्तु अङ्गसम्बन्धी विकारो का सुधार विलम्ब से होता है, कदाचित् नही भी होता।

निर्वचन—वृहदारण्यक उपनिषद्[1] मे हृदय शब्द का सार्थक निर्वचन किया गया है। जिसका तात्पर्य यह है—'हृञ् हरणे' 'दद दाने' और 'इण् गतौ' इन तीन धातुओ से हृदय शब्द बना है। एवञ्च (१) पाचन-प्रक्रिया से बने हुए रस का आहरण तथा समस्त शरीर मे परिभ्रमणशील रक्त के अशुद्ध हो जाने पर पुन. अपने मे आहरण करना 'हृञ्' धातु का अर्थ है। (२) सर्वधातुओ को शुद्ध रक्त प्रदान करना 'दद्' धातु का अर्थ है। (३) निरन्तर सकोच और विकास के रूप मे गति करते रहना 'इण्' धातु का अर्थ है। इस निर्वचन से यह सिद्ध है, कि हजारो वर्ष पूर्व भारतीय मनीषियो ने हृदय के इस रक्तसवहन-प्रक्रिया का ज्ञान कर लिया था।

इस हृदय के अवयव सम्बन्धी अथवा कार्य सम्बन्धी विकार को हृदयरोग कहा जाता है।

---

१ तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति—(१) 'हृ' इत्येकमक्षरम्—अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। (२) 'द' इत्येकमक्षरम्—ददन्ते अस्मै स्वाश्चान्ये च य एव वेद। 'य' इत्येकमक्षरम्—एति स्वर्गं य एवं वेद। एव हरतेर्ददतेरेतेर्हृदयशब्द ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. चरकसहिता–सूत्र० १७।
२ चरकसहिता–चिकित्सा० २६।
३ सुश्रुतसहिता–उत्तरतन्त्र ४३।
४ अष्टङ्गहृदय–निदान० ५।
५ अष्टाङ्गहृदय–चिकित्सा० ६।
६. माधवनिदान–हृद्‌रोग।

हृदयरोग का सामान्य निदान[1]

१ व्यायाम (अधिक परिश्रम), २ तीक्ष्ण आहार, ३ विरेचन का अतियोग, ४ वस्ति का अतियोग, ५ वमन का अतियोग, ६ आमदोष, ७ कृशताकारक आहार-विहार, ८ अतिउष्ण, ९ अतिगुरु, १० कषायरस-प्रधान, ११. तिक्तरस-प्रधान भोजन और १२ अध्यशन, इन सब कारणो का निरन्तर सेवन करना, १३ रूक्ष अन्न सेवन, १४ विरुद्ध भोजन, १५ अजीर्ण होना, १६. असात्म्य आहार-विहार—ये शारीरिक निदान हैं।

१. अधिक चिन्ता करना, २ अधिक भयभीत होना और ३ अधिक सताया जाना—ये मानस निदान हैं।

१ मल-मूत्रादि के वेगो का रोकना, २. पहले से उत्पन्न रोग की चिकित्सा न करना और ३. शरीर अथवा हृदय पर चोट लगना—ये आगन्तुक कारण हैं।

इस प्रकार हृदयरोग को उत्पन्न करनेवाले निदान कुछ शारीरिक, कुछ मानसिक और कुछ आगन्तुक हैं।

हृदयरोग का सामान्य लक्षण[2]

(१) विवर्णता, (२) मूर्च्छा, (३) ज्वर, (४) कास, (५) हिक्का, (६) श्वास, (७) मुख का स्वाद फीका पडना, (८) अधिक प्यास लगना, (९) बेहोशी होना, (१०) वमन की प्रवृत्ति होना, (११) कफ का उत्क्लेश होना, (१२) वेदना होना (अग टूटना) और (१३) अरुचि होना आदि हृदयरोग के लक्षण हैं।

---

१ सु० उ० ४३।३–४। च० चि० २६।७७ तथा माधवनिदान।

२ (क) व्यायामतीक्ष्णातिविरेकवस्ति चिन्ता भय त्रास गदातिचारा।
छर्द्यामसन्धारणकर्शनानि हृद्रोगकर्तृणि तथाऽभिघात ॥ च० चि० २६

(२) वेगाघातोष्णरूक्षान्नैरतिमात्रोपसेवितै
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैरसात्म्यैश्चापि भोजनै ॥
दूषयित्वा रस दोषा विगुणा हृदयं गता।
कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोग तं प्रचक्षते ॥ सु० उ० ४३

(३) अत्युष्ण गुर्वन्न-कषाय तिक्त श्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गै।
सञ्चिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामय पञ्चविध प्रदिष्ट ॥

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्साशास्त्र में भी ये लक्षण हृदय के विविध रोगों में मिलते हैं—(१) वैवर्ण्य (Discolouration)—इसमें शरीर में पाण्डुता (Pallor), श्यावता (Cyanosis) तथा कपोलारुण्य (Malar flush) इन तीनों का समावेश होता है। पाण्डुता रक्ताल्पता की द्योतक है, जो कि हृदय के विविध कपाटों की विकृति से होती है। श्यावता का कारण शोणवर्तुलि (Haemoglobin) की कमी है तथा इसकी प्रतीति विशेषतया ओष्ठ, नासाग्र तथा नखमूल स्थानों में होती है, जहाँ पर केशिकाएँ उत्तान रहती हैं। इसका कारण सिरागत रक्तावरोध (Venous stasis) है। कपोलारुण्य का कारण द्विपत्र कपाटसंकोच (Mitral stenosis) है। (२) मूर्च्छा—यह हृदयजन्य श्वास (Cardiac asthma) का विशेष लक्षण है। (३) ज्वर—आमवातजन्य या पूयजनित हृदन्तःकलाशोथ (Rheumatic or septic endocarditis) में यह लक्षण प्रधान होता है। (४) कास, हिक्का तथा श्वास ये दबावजन्य लक्षण (Pressure symptoms) हैं। ये द्विपत्र प्रत्युद्गिरण (Mitral regurgitation) में तथा विशेषतया द्विपत्रकपाटसंकोच (Mitral stenosis) में पाये जाते हैं। द्विपत्रकपाटसंकोच में रक्त का वमन भी होता है। हृदयरक्तवाहिनी की घनास्रता (Coronary thrombosis) में वमन, अरुचि तथा श्वासकृच्छ्रता के लक्षण मिलते हैं।

हृदयरोग के भेद

(१) आयुर्वेदविज्ञानकार ने सात प्रकार के हृदयरोगों का वर्णन किया है—१ आवरणिक, २ कौष्ठिक, ३. पृथुक, ४ आयामिका, ५ परिसव, ६ मेदःपूर्ण और ६. निक्षेपिका। ये सातों नाम विकृतिपरक हैं।

(२) आचार्य चरक ने रोगों की गणनावाले (च० सू० १९) अष्टोदरीय अध्याय में तथा (च० सू० १७ एवं) त्रिमर्मीय चिकित्सा (छब्बीसवें अध्याय) में पाँच प्रकार के हृदयरोगों का वर्णन किया है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. त्रिदोषज एवं ५ कृमिज।

(३) वाग्भट तथा माधवकर ने भी उक्त पाँच हृदयरोग कहे हैं।

(४) आचार्य सुश्रुत ने चार प्रकार का हृदयरोग कहा है—१ वातज, २. पित्तज, ३ कफज और ४ कृमियों के संसर्ग से होनेवाला सान्निपातिक।
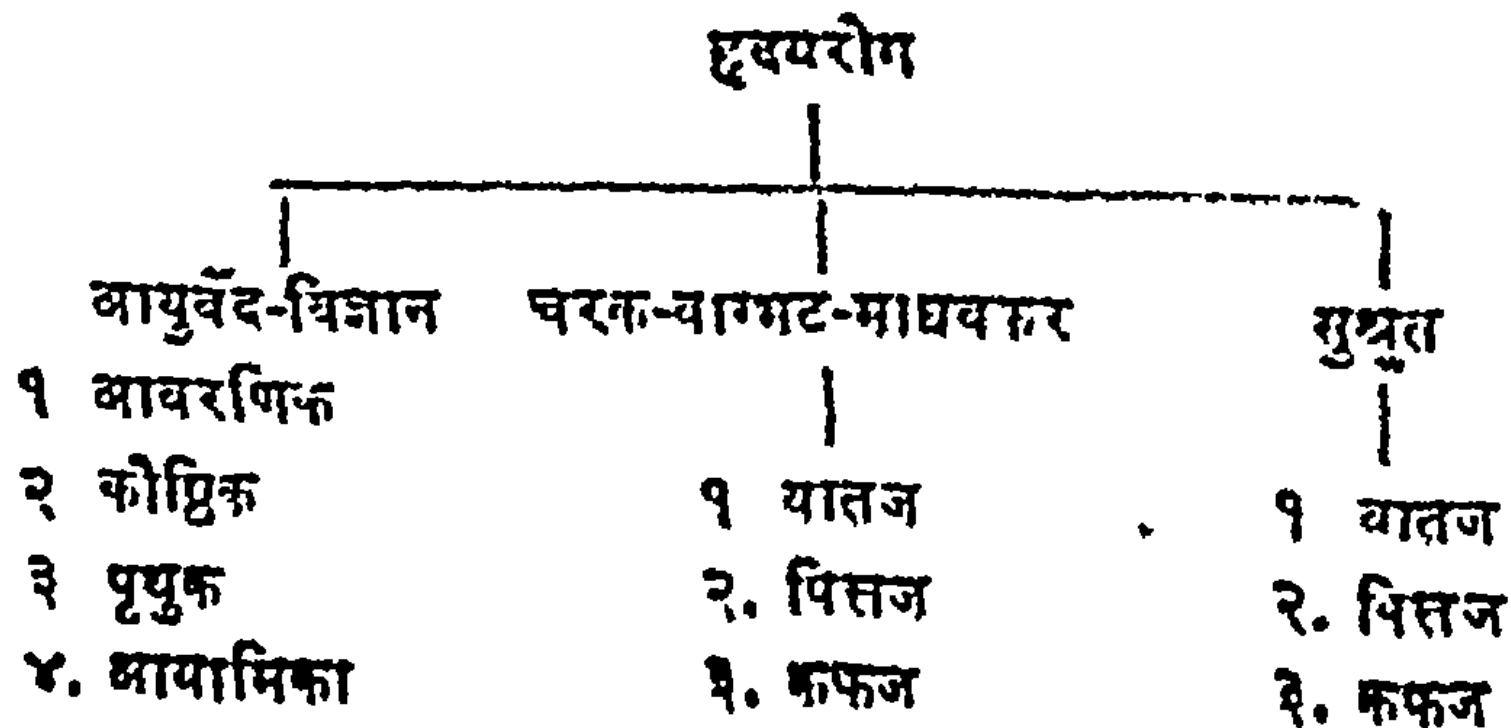
५. परिक्षय	४ सन्निपातज	४ कृमिज
६ मेद सूत्र	५. कृमिज	
७ विक्षेपिका		

आवरणिक-निदान-संप्राप्ति-लक्षण

आमवात रोग, वृक्कविकार अथवा असयमी व्यक्ति के शीतल तथा आर्द्र स्नान मे निवास करने से हृदय को बाहर से आच्छादित करनेवाली हृदयावरणीकला (Pericardium) तथा हृदयान्तरिक कला (Endocardium) मे प्रदाह और शोथ होकर 'आवरणिक' रोग हो जाता है।

इसमे जलन, उष्णता, शोथ, भारीपन और शरीर मे व्यथा होती है। हृदय मे कम्पन, खांसी, दुर्बलता, श्वासकृच्छ्रता, नासिका से रक्तस्राव, अग्निमान्द्य और हाथ-पैर मे सूजन हो जाती है। नाडी की गति विषम हो जाती है। इसे आवरणिक कहते हैं। उत्पन्न होते ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिए। इसकी उपेक्षा करने से यह घातक हो जाता है।

कौष्ठिक का निदान और लक्षण

आमवात, अभिघात (चोट लगना) और आवरणिक रोग के कारण हृत्कोष्ठ (Myocardium) मे शोथ होने को 'कौष्ठिक' कहते हैं। कोष्ठ शब्द का तात्पर्य हृदय की अन्त स्थाकला और मासपेशी तथा छिद्रो के कपाटो से है।

इसमे ज्वर, दाह, अरुचि, कम्प, विवर्णता, अग्निमान्द्य, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, कोष्ठ मे पूय का सचय होना, मूर्च्छा, आक्षेप, प्रलाप तथा नाडी का विषमगामिनी होना, ये लक्षण होते हैं। इस घोर रोग से कोई भाग्यशाली ही बच पाता है।

पृथुक का निदान और लक्षण

असयमी व्यक्ति के मिथ्या आहार-विहार के कारण जब हृत्कोष्ठ के रक्तसञ्चार मे बाधा पहुँचने से हृदय को अधिक कार्य करना पडता है, तो हृदय की समस्त पेशियाँ मोटी हो जाती हैं। इस स्थिति को 'पृथुक' रोग कहते हैं।

इसके होने से हृदय मे पीडा, दुर्बलता, श्वासकृच्छ्रता, भ्रम, बेचैनी और मूर्च्छा होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—इसमे हृदय का मास मोटा हो जाता है और इसे हृन्मासोपचिति (Hypertrophy of the heart) कहते हैं।

आयामिका का लक्षण

इस रोग मे हृदय के कोष्ठ का फैलाव हो जाता है, अत इसे 'आयामिका' कहते हैं।

इसमे श्वासकष्ट, शोथ, भ्रम, मूर्च्छा, हृत्कम्प, अग्निमान्द्य, जलोदर, अनिद्रा तथा बल एव मास की क्षीणता हो जाती है।

वक्तव्य—जब पृथुक रोग होने के बाद भी रोगी को विश्राम नही मिलता तो हृदय को अधिक कार्य करना पडता है और हृन्माससूत्र दवाव पडने से लम्बे और पतले हो जाते हैं एव हृदय की भित्तियाँ फैल जाती हैं। इस फैले हुए हृदय को आयामिका (Dilatation of the heart) कहते है।

परिक्षय का लक्षण

इस हृद्रोग मे हृन्मास का क्षय होता है, अतः इसे 'परिक्षय' कहते है।

इस रोग मे हृत्कोष्ठपेशी के क्षीण हो जाने से श्वासकष्ट, भ्रम, दुर्बलता, अवसाद, अग्निमान्द्य, हृत्कम्प और शोथ आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—इस विकार के होने मे औपसर्गिक ज्वरादि रोग, विष तथा मद्य का अतिसेवन एव मधुमेह आदि भी कारण होते हैं। इस विकार मे हृदय के मास का परिक्षय (Myocardial degeneration) होता है।

मेदःसूत्र का लक्षण

जब हृत्कोष्ठगत माससूत्रो मे मेद के कणो का सचय हो जाता है तो उस स्थिति को 'मेद सूत्र' रोग कहते हैं।

इस रोग में नाडी की गति मन्द होती है, हृदय मे कम्पन होता है, अवसाद, भ्रम, मूर्च्छा और हृदय मासपेशी के स्नायुओ का वल क्षीण होता है और हृदयावरण के भेदन होने से सहसा मृत्यु हो जाती है। यह वडा भयकर रोग है। इसके उत्पन्न होते ही सावधानी से इसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान मेद सूत्र रोग को 'फैट्टी डिजनरेशन आफ दी हार्ट' (Fatty degeneration of the heart) कहता है।

विक्षेपिका का लक्षण

इस रोग मे हृदय के कोष्ठ की धडकन अधिक तीव्र हो जाती है, अत इसे 'विक्षेपिका' कहते हैं।

इस महाव्याधि के उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य के उरोऽस्थि के अधोभाग के मध्य मे, हृत्कोष्ठ मे, वाम वाहु, वाम स्कन्ध की अस्थि, ग्रीवा और पीठ मे मर्मान्तिक एव प्राणपीडक वेदना होती है। ऐसा अनुभव होता है, कि कोई हृदय को खीच रहा हो, उसमे सूई चुभा रहा हो, कोई तोड रहा हो और जलन भी मालूम होती है। असयमी रोगी को वार-वार श्वास की रुकावट, वेहोशी, पसीना आना, शीताङ्गता, आनाह, आध्मान, विवर्णता, कृशता, अरुचि और क्रमश इन्द्रियो की शक्ति का ह्रास होना, ये लक्षण होते हैं। यदि नियन्त्रण नहीं किया गया तो रोगी का प्राणान्त हो जाता है। इसको 'पल्पिटेशन आफ दी हार्ट' (Palpitation of the heart) कहते हैं।

वातज हृद्रोग का निदान और सप्राप्ति

शोक, उपवास, अधिक व्यायाम, रूक्ष-शुष्क और मात्रा मे अल्प भोजन करने

मे प्रकुपित वायु हृदयप्रदेश में व्याप्त होकर अत्यधिक वेदनापूर्वक वातज हृद्रोग को उत्पन्न करती है।

वातज हृद्रोग के लक्षण

वातज हृद्रोग में धडकन का अधिक होना, ऐंठन होना, हृदय की गति में रुकावट होना, मूर्च्छा होना, हृदय का शून्य-सा मालूम होना और भय होना, भोजन के पच जाने पर इन लक्षणो का तीव्र होना तथा हृदय मे खिंचावट, सूचीवेधनवत् पीडा, हृदय मे जैसे मन्थन हो रहा हो, हृदय को कोई विदीर्ण कर रहा हो, चीर रहा हो या फाड रहा हो, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—वातज हृद्रोग मे पीडा की विशेषता रहती है। हृच्छूल (Angina pectoris) तथा हृदयवाहिनी घनास्रता (Coronary thrombosis) का यह विशिष्ट लक्षण है। उक्त दोनो अवस्थाओ में शूल अनिवार्य रूप से रहता है, किन्तु फिर भी दोनो के शूल की प्रकृति तथा अन्य लक्षणों मे भिन्नता भी है। यह अग्रिम कोष्ठक से स्पष्ट है—

हृच्छूल (Angina pectoris)	हृदयवाहिनी घनास्रता (Coronary thrombosis)
१. परिश्रम, भावावेश या भोजनोपरान्त शूल का आक्रमण होता है।	१ रक्तप्रवाह के मन्द होने पर अर्थात् रात्रि मे आराम के समय आक्रमण होता है।
२. रोगी निश्चल खडा रहता है, हिलने से डरता है, चेहरा पीला पड जाता है, पसीना आ जाता है और शीत का अनुभव होता है।	२ रोगी बेचैन रहता है, जिससे इधर-उधर गतियाँ करता है, शरीर गरम रहता है, चेहरे पर श्यावता (Cyanosis) रहती है।
३. कुछ मिनट मे आवेग समाप्त हो जाता है।	३. आवेग कुछ घण्टो तक भी रह सकता है।
४ शूल का प्रचलन अनिवार्य रूप से वाम बाहु या कभी-कभी दोनो बाहु की ओर होता है।	४ शूल का इस प्रकार प्रचलन नही होता। यह उर फलक के पीछे और कुछ नीचे तक रहता है।
५ रक्तवाहिनीप्रसारक औषधियो के प्रयोग से शूल शान्त होता है।	५ ऐसी औषधियो के प्रयोग से शूल की वृद्धि होती है।
६ धमनीगत रक्त का दाब बढ जाता है।	६ धमनीगत रक्त का दाब कम रहता है और सिरागत दाब बढ जाता है।
७. ज्वर नहीं रहता है।	७ ज्वर अल्प मात्रा मे रहता है।
८. रक्तगत घनता साधारण रहती है।	८ रक्त की घनता बढ जाती है।
९. श्वेतकायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) रहता है।	९. श्वेतकायाणूत्कर्ष नहीं होता।

पित्तज हृदयरोग का निदान और सम्प्राप्ति

उष्ण, लवणरस-प्रधान, क्षार और कटुरस वाले द्रव्यो के सेवन से, अजीर्ण रहने पर भी भोजन करने से, अधिक मदिरा पीने से, अधिक क्रोध करने से और देर तक धूप मे रहने से हृदय मे पित्त का प्रकोप होकर पित्तज हृद्रोग होता है।

पित्तज हृद्रोग का लक्षण

हृदय मे दाह, मुख मे तीतापन, मुख मे तिक्त और अम्ल रस का पानी आना एव डकार आना, इन्द्रियो मे थकावट, तृष्णा, मूर्च्छा, चक्कर आना, पसीना होना तथा आँखो के सामने अँधेरा छा जाना, परिताप होना, वेहोशी, सत्रास (घुटन), सताप, ज्वर, शरीर का पीला होना, हृदय की व्याकुलता और पसीना होना तथा मुख का सूखना, ये लक्षण होते हैं।

कफज हृद्रोग का निदान

अधिक भोजन करना, गुरु और चिकने पदार्थों का अधिक सेवन करना, चिन्ता-रहित होना, किसी प्रकार का परिश्रम न करना और अधिक समय तक सोये रहना, ये सब कफज हृद्रोग के कारण हैं।

कफज हृद्रोग का लक्षण

तन्द्रा होना, भोजन मे अरुचि, हृदय का शून्य-सा होना या निश्चल सा लगना, वजनी मालूम पडना और हृदय के ऊपर पत्थर रखा हुआ जैसा प्रतीत होना तथा कफ का प्रसेक, ज्वर, कास एव हृदय का जकडना, मन्दाग्नि और मुख का स्वाद मीठा होना, ये लक्षण होते हैं।

त्रिदोषज हृद्रोग का कारण और लक्षण

वात-पित्त-कफ से होने वाले हृदयरोग के जो कारण कहे गये हैं, वे सयुक्त रूप से सन्निपातज हृदयरोग के कारण होते हैं।

लक्षण—वात-पित्त-कफ से अलग-अलग होने वाले हृद्रोग के जो लक्षण कहे गये गये हैं, उन लक्षणो का एकत्र होना त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण है।

कृमिज हृद्रोग का निदान और संप्राप्ति

त्रिदोषज हृद्रोग से ग्रस्त असयमी रोगी जब तिल, दूध, गुड आदि अधिक खाता है, तो उनके हृदय के एक प्रदेश मे ग्रन्थि बन जाती है। उस ग्रन्थि मे रसधातु आकर क्लेद उत्पन्न करता है, जिसके परिणामस्वरूप उस क्लेद मे कृमियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। पहले तो कृमियाँ हृदय के एक प्रदेश मे उत्पन्न होती हैं, किन्तु वहाँ से हृदय के सभी प्रदेशो मे चलती हुई हृदय का भक्षण करने लगती हैं।

कृमिज हृद्रोग का लक्षण

हृदय मे कृमियो के काटने से सूई चुभाने जैसी या शस्त्र से काटने जैसी वेदना होती है। हृदय मे खुजली और महती पीडा होती है। इन लक्षणो को देखकर

भयकर कृमिज हृद्रोग को जानना-समझना चाहिए। यह भयकर रोग शीघ्र मारक होता है। इसलिए जैसे ही पता चले, इसकी सद्य चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—कृमिज हृद्रोग का सुश्रुतोक्त लक्षण अकुशमुख कृमि (Hook worm) के लक्षण के समान हैं। जैसे हृल्लास (मुख से पानी छूटना), आँखो के सामने अधेरा होना, नेत्रो की मलिनता तथा शोथ ये सभी अकुशमुख कृमि मे देखे जाते हैं। इस कृमि के उपसर्ग से रक्ताल्पता भी हो जाती है, जिससे शरीर का वर्ण पाण्डु तथा नेत्रो पर श्यावता भी आ जाती है। इसके उपसर्ग का प्रभाव हृदय पर भी पडता है। हृत्कपाटो मे भी कभी-कभी विकृति हो जाती है, जिससे वे हृदय-द्वार को उचित रूप से बन्द नही कर पाते और परिणामस्वरूप प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) का दोष आ जाता है। हृदय मे रक्ताल्पतावश रक्तज मर्मर (Hamic) भी उत्पन्न हो जाता है। रक्ताल्पता के कारण शरीर मे शोथ भी उत्पन्न होता है।

हृद्रोग के उपद्रव

शिर मे चक्कर आना, इन्द्रियो की अपने कार्य में असमर्थता, अगो की शिथिलता और शोथ होना, ये हृद्रोग के उपद्रव हैं।

विशेष वक्तव्य—जब तक हृदय धडकता है, तब तक जीवन है, और धडकन का रुकना ही मृत्यु है। हृदय एक प्रधान मर्म है। हर कीमत पर उसकी रक्षा करना प्रत्येक मानव का आध्यात्मिक और नैतिक उत्तरदायित्व है। यह ध्यान देने की बात है कि—

१ हृदय चेतना एव मन का स्थान है और चिन्ता, भय, शोक, त्रास, क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष आदि भावो की मानसिकता का हृदय पर गम्भीर प्रभाव पडता है। कई बार इन मानस विकारो से चेतना लुप्त हो जाती है और पुन आ जाती है।

२. हृदय का सम्बन्ध सीधे-सीधे धमनियो और सिराओ से है। कफज रोगो में 'धमनी-प्रतिचय' भी एक अवस्था है, जो कि धमनियो की भित्तियों मे कफ के सचित होने से होता है, जिससे सगात्मक विकृति होती है। कोलेस्टेरोल (Cholesterol) भी कफवर्गीय द्रव्य है, जो रक्तवाहिनियो की भित्तियो में सचित होकर सगात्मक विकृति उत्पन्न कर देता है। आजकल हृदय-रोग से कोलेस्टेरोल का घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जाता है।

३ हृदय साधकपित्त का स्थान है—'साधक हृद्गत पित्तम्'। यह बुद्धि, मेधा और स्वाभिमान को जागृत रखकर मनुष्य को अपने अस्तित्व की लडाई लडने मे सफल बनाता है। हृदय-रोग मे इसका ह्रास होता है।

४ हृदय ओज का भी स्थान है। ओज प्राणो का आधार है। यह दीर्घ जीवन देता है और शरीर को रोगो के आक्रमण से बचाता है। ओज के नाश से मृत्यु हो जाती है। हृद्रोग मे ओज क्षय होता है।

५. हृदय मे अवलम्बक कफ भी रहता है, जिस पर प्रभाव पडने से हृदय-शून्यता हो जाती है।

६ हृदय मे प्राणवायु का स्थान है तथा हृदय प्राणवहस्रोतस् का मूल है। अत. हृद्रोग में श्वासकष्ट भी होता है।

७ हृदय रसवहस्रोतोमूल है। उसमे संगात्मक विकृति आने पर रस की एक देशीय वृद्धि के रूप मे पादशोथ तथा रसक्षय होने पर हृद्द्रवत्व (Palpitation of the heart) होता है।

८. विभिन्न रोगावस्थाओ मे हृदय सम्बन्धी निम्न लक्षण मिलते हैं, जैसे—

१. हृद्ग्रह	समानावृत अपान, प्राणसवृत उदान, अश्रुनिग्रह, प्रमेहोपद्रव, उन्माद-पूर्वरूप, वातार्श, सहजार्श, अपस्मार-पूर्वरूप।
२ हृद्रोग	वातज ग्रहणी, मदात्यय, कोष्ठाश्रित वात, बीजोपघातज क्लैब्य, कृमिज छर्दि।
३. हृद्द्रव	वातप्रधान अर्श, विष-वेग, रसक्षय।
४ हृत्स्पन्दन	पाण्डु-पूर्वरूप।
५ हृद्घट्टन	हृद्विद्रधि।
६. हृत्पीड़ा	वातिक ग्रहणी, मूर्च्छा-पूर्वरूप, श्वास-पूर्वरूप, वातिक छर्दि।
७. हृदयशूल	वातिक कास, असाध्य अर्श, वातज उदावर्त, बद्धगुदोदर, अज्ञात दकोदर, मक्कलशूल, वातज अरोचक, गुल्म-सप्राप्ति, आमजा तृष्णा, त्रिदोषजा तृष्णा।
८ हृद्व्यथा	विष।
९ हृद्वेदना	वातज प्रदर।
१०. हृत्पीडन	श्वास-पूर्वरूप।
११ हृदयोपताप	सहजार्श, वमन, विरेचन।
१२ हृद्दाह	पित्तज गुल्म, अम्लपित्त।
१३ हृदयोपरोध	आमाशय-प्रविष्ट विष।
१४ हृदयापकर्तिक	अतिक्षार प्रयोग।
१५. हृदयोपशोषण	हिक्का, श्वास।
१६ सशुष्क हृदय	क्षय, तृष्णा।
१७ हृन्मोह	कुण्डलिका।
१८ हृदयगौरव	आमवात, शाखाश्रित कामला।

हृद्रोग का चिकित्सासूत्र

१ प्रात काल खुली हवा मे या उद्यान में टहलना चाहिए।

२ सगयशव (हौलदिल पत्थर) की चौकोर चौकी पहननी चाहिए, जो छाती पर हृदयस्थल का स्पर्श करती रहे।

३. प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए और स्वच्छ प्राणवायु (आक्सीजन) को श्वसन से भीतर में भरे।

४. वक्ष स्थल पर वातनाशक तैल या मोम तैल का अभ्यंग करे।

५ निदान का दृढतापूर्वक परित्याग करना चाहिए।

६. रोगी को विश्राम करना चाहिए।

७. अधिक बोलना, जोर से बोलना, भाषण-प्रवचन बन्द करे।

८ दौड-धूप का काम, क्रोध, चिन्ता, ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहे।

९. स्त्री-प्रसङ्ग और कामुक वातावरण को एकदम त्याग दे।

१०. आहार-विहार मे सयम और नियन्त्रण रखे।

११ दोष और शरीर बल का विचार कर सशोधनकर्म करे।

१२ सशमन उपचारार्थ आँवले का मुरब्बा, गुलकन्द, चन्दन का अवलेह, दही की साढी, मक्खन-मिश्री का प्रयोग करें।

१३ मकान के निचले तल्ले मे निवास करे।

१४ ऊँची सीढी पर न चढे, बोझ न उठावे।

१५. भूखा न रहे और न ही डटकर खाना खाये।

१६ किसी विवाद, समस्या या उलझन या उद्वेगजनक कार्य मे न उलझे। किसी के प्रति असम्मान न प्रकट करे, न ही शिकायत या आलोचना करे, और न किसी की बखिया उधेरे।

१७ अप्रिय वचन, गाली-गलौज, झगडा, तकरार से बाज आवे।

१८ ईश्वर या अपने इष्टदेव का स्मरण करे तथा मन मे निराशा न लावे।

१९ उपकार, प्रेम, दया, करुणा, मैत्री और सहानुभूति का भाव रखे।

२० स्वाध्याय, सत्सग, सुहृद्गोष्ठी मे अधिक समय व्यतीत करे।

२१. बलकारक एव रसायन औषधो का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—च्यवनप्राश, अश्वगन्ध चूर्ण, नागबला चूर्ण और अर्जुन चूर्ण श्रेष्ठ हैं।

२२ वातानुलोमन एव मृदुरेचक योग दे। जैसे—वैश्वानर चूर्ण या शिवाक्षार-पाचन चूर्ण या मुनक्का-गुलकन्द आदि।

२३ मनोविकार से उत्पन्न हृद्रोग मे प्रसन्नताजनक सवाद, प्रहर्षण उपाय, मधुर सगीत, धैर्य और आश्वासन लाभकर है।

२४. **सहज-जन्मजात हृद्रोग** (Congenital heart disease) मे रसायन एव बल्य औषधो (मुक्तापिष्टी, प्रवालपचामृत आदि) का सेवन, विश्राम, कोष्ठशुद्धि, समुचित आहार-विहार एव पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए।

२५ **उच्च रक्तनिपीडजन्य हृद्रोग** (Hypertensive) मे वातरोग की चिकित्सा करे, क्योकि इसमें वात की अधिकता होती है।

२६. **आमवातज हृद्रोग** (Rheumatic heart disease) मे आम का पाचन, अग्निदीपन एवं एरण्डतैल-प्रयोग आदि आमवातघ्न उपचार करे।

सामान्य चिकित्सा

१. **अर्जुन**—अर्जुन हृद्रोग की सफल औषध है। इसके पत्र का स्वरस १ तोला

समान मधु से दे अथवा अर्जुन की छाल का चूर्ण ३ ग्राम १० ग्राम घी के साथ दूध के अनुपान से सवेरे-शाम दे।

२. अर्जुनक्षीरपाक—अर्जुन की छाल का चूर्ण २५ ग्राम, दूध ४०० मि० ली०, जल १ लीटर ६०० मि० ली० मिलाकर पाक करे। जब केवल दूध बचे, तो छानकर सवेरे-शाम पिलावे।

३. शालिपर्णी-बला-यष्टीमधु या लघुपंचमूल—अर्जुन क्षीरपाक की तरह इनमे से किसी भी औषध से सिद्ध दूध पिलावे।

४ गेहूँ का हलवा—गेहूँ का आटा ६० ग्राम और अर्जुन की छाल का चूर्ण १५ ग्राम लेकर घी मे भूने। जब लाल हो जाये और सुगन्ध आने लगे तब २५० मि० ली० गाय का दूध तथा ६० ग्राम चीनी डालकर पतला हलवा बनावे। ठंडा होने पर बलामूल चूर्ण और कमलगट्टे का चूर्ण ६–६ ग्राम तथा २० ग्राम मधु मिलाकर २५० मि० ली० दूध के साथ खिलावे।

५ नागबला—इसका चूर्ण ४–४ ग्राम सवेरे-शाम दूध से देना चाहिए।

६ ककुभादि चूर्ण—अर्जुन की छाल, दूधिया बच, वरियार की जड, नागबला (गुलशकरी) की जड, बडा हर्रा का छिलका, कचूर, पोहकरमूल, पीपर और सोंठ का समभाग का चूर्ण करे। इसकी ३ ग्राम की मात्रा १० ग्राम घी तथा १० ग्राम चीनी के साथ दिन मे ३ बार दे। यह सर्वविध हृद्रोगनाशक है।

७ रजतविद्रुमयोग—प्रवालपिष्टी १ ग्राम और चाँदी का वर्क ५ ग्राम लेकर गुलावजल मे घोटकर वारीक करे। सवेरे-शाम २५० मि० ग्रा० की मात्रा मे आँवले के एक मुरव्वे के साथ खिलावे। यह हृदय-बलवर्धक है।

८ मृगश्रृंग भस्म—अन्त पुटपक्व मृगश्रृंग भस्म १ ग्राम तथा रससिन्दूर ½ ग्राम लेकर घोटकर ४ मात्रा बनावे। ३–३ घण्टे पर ४ बार घी और चीनी के साथ खिलावे।

९ नागार्जुनाभ्र (श्वासरोगाधिकार)—यह बलप्रद और हृद्य है। दिन में ३ बार २०० मि० ग्रा० की मात्रा मे घी से देना चाहिए।

१० रस-औषध—हृदयार्णव रस, प्रभाकर वटी, चिन्तामणि रस, विश्वेश्वर रस, हृद्रोगरत्नाकर, काशीसादि वटी, हृदयरत्न चूर्ण, अर्जुन घृत और अर्जुनारिष्ट, ये सर्वविध हृद्रोग मे लाभकर हैं।

११. हिंग्वादि चूर्ण, पाठादि चूर्ण और हिङ्गूग्रगन्धादि चूर्ण का प्रयोग लाभप्रद है।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय

मकरध्वज	२०० मि० ग्रा०,
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
हृदयार्णव रस	५०० मि० ग्रा०

मृगश्रृंग भस्म	१ ग्राम
ककुभादि चूर्ण	४ ग्राम
	२ मात्रा

घी-चीनी से खाकर अर्जुन-सिद्ध दूध पीना चाहिए।

२. भोजन के पूर्व २ बार

यवानीषाडव चूर्ण	८ ग्राम
विना अनुपान।	२ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार

अर्जुनाद्यरिष्ट	३० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. अपराह्ण ४ बजे

आँवले का या सेव का मुरब्बा या गोधूम का हलवा।

५. रात मे सोते समय

चन्द्रप्रभावटी २ गोली दूध से।

६. अचानक घबडाहट, व्यग्रता, तनाव आदि होने पर सेव का मुरब्बा या आँवले का मुरब्बा या छेने की मिठाई खाने को दे तथा पीने के लिए अजवायन का अर्क वेदमुश्क या अर्क सौंफ अथवा अर्क पुरीना या गुलावजल मिलाकर शीतल जल पिलावे।

७ शिर मे विष्णु तैल या चन्दनादि तैल की मालिश करे।

विशिष्ट चिकित्सा

वातज हृद्रोग

१. वातज हृदय के रोगी को पहले वमन कराते हैं, क्योंकि सिद्धान्त के रूप मे यह माना गया है, कि स्थानीय दोष का उपचार करके ही विकृत दोष या रोग की चिकित्सा करनी चाहिए—'स्थानिन प्रतिकृत्य च'। यद्यपि हृदय का अवलम्बन करनेवाला अवलम्बक कफ उर स्थ होता है, अत उसके प्रतिकार के लिए वमन कराना उपयुक्त है।

२. वमन—वातज हृद्रोगी का विधिवत् स्नेहन करने के पश्चात् उसे दशमूल के क्वाथ मे मदनफल चूर्ण ६ ग्राम, बच ३ ग्राम, सेंधानमक १½ ग्राम और तिलतैल २० मि० ली० मिला-पिलाकर वमन कराना चाहिए।

३. वमन के बाद पिप्पल्यादि चूर्ण—पिप्पली, छोटी इलायची, बच, हींग, यवक्षार, सेंधानमक, सोंचरनमक, सोठ और अजवायन, इनके समभाग मे लेकर बनाये गये चूर्ण को १ ग्राम की मात्रा मे दिन मे २–३ बार देवे। इसके अनुपान मे नीबू का रस या अनार का रस या मोसम्मी का रस या कुलथी का यूष अथवा आसव, पिलाना चाहिए।

४. पुष्करमूलादि चूर्ण—पोहकरमूल, बिजौरे की जड, सोठ, कचूर, हर्रे, इनके समभाग मे लेकर बनाये गये चूर्ण को १ ग्राम की मात्रा मे सवेरे-शाम यवक्षार, घी या नमक के साथ दे।

५ पुष्करादि क्वाथ मे सोठ, जीरा, वालवच, अजवायन, यवाखार ५००-५०० मि० ग्रा० प्रत्येक और सेंधानमक २ ग्राम मिलाकर सवेरे-शाम पिलावे।

६. हरीतक्यादि चूर्ण—हर्रे का वक्कल, मीठावच, रास्ना, पीपर, सोठ, कचूर, पोहकरमूल, इनके समभाग के चूर्ण को १-२ ग्राम की मात्रा मे सवेरे-शाम घी मिलाकर दे।

७. शुण्ठी—सोठ के क्वाथ मे घी तथा सेंधानमक डालकर सेवन करना हृद्रोगनाशक है।

वातज हृद्रोग मे व्यवस्थापत्र

१. प्रात-साय

वृहद् वातचिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
चिन्तामणि रस	२५० मि० ग्रा०
मुक्तापिष्टी	२५० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

ककुभादि चूर्ण १ ग्राम और घी के साथ दे।

२ ९ वजे व २ वजे

मृगश्रृग भस्म	५०० मि० ग्रा०
पुष्करमूलादि चूर्ण	४ ग्राम
मधु से।	४ मात्रा

३ भोजनोत्तर २ वार

दशमूलारिष्ट	३० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४ रात मे सोते समय

हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण	२ ग्राम
जल से।	

पित्तज हृद्रोग

१ वमन—पित्तज हृद्रोग मे गम्भार का फल या जड तथा मुलहठी के क्वाथ मे मदनफल चूर्ण ६ ग्राम, मधु और चीनी मिलाकर वमनार्थ पिलावे।

२ विरेचन—निशोथ चूर्ण ६ ग्राम के साथ खिलावे।

३ काकोल्यादिगण से सिद्ध घृत को दूध मिलाकर दे।

४ पीने के लिए षडगपानीय या सौंफ का अर्क या अजवायन का अर्क दे।

५. अर्जुन की छाल का चूर्ण २० ग्राम को २०० मि० ली० दूध और ८०० मि० ली० जल मे एक साथ दुग्धावशिष्ट पकाकर छानकर चीनी मिलाकर पकावे।

अर्जुन के चूर्ण को ३ ग्राम की मात्रा मे घी या चीनी से या गुड से या दूध से या जल से दिन मे ३ वार दे।

६ पित्तज हृद्रोग मे शीतल प्रलेप एव शीतल परिषेक हितकर है।[1]

७ मुनक्का, फालसा, अगूर, सेब का मुरब्बा, आँवले का मुरब्बा, दूध, घी आदि पित्तनाशक आहार-विहार का सेवन करना चाहिए।

पित्तज हृद्रोग मे व्यवस्थापत्र

१ प्रात-साय

प्रवालपञ्चामृत	२५० मि० ग्रा०
सगयशब पिष्टी	२५० मि० ग्रा०
अकीकपिष्टी	२५० मि० ग्रा०
श्वेतचन्दन चूर्ण	२ ग्राम
आँवले के मुरब्बे के साथ।	२ मात्रा

२. भोजन के पूर्व

यवानीषाडव चूर्ण	६ ग्राम
बिना अनुपान।	२ मात्रा

३ भोजन के बाद

अर्जुनाद्यरिष्ट	३० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. रात मे सोते समय

अविपत्तिकर चूर्ण	३ ग्राम
सुखोष्ण दूध से।	

कफज हृद्रोग

१ कफज हृद्रोग मे स्नेहन-स्वेदन कराकर वच का चूर्ण ३ ग्राम और मदनफल का चूर्ण ६ ग्राम मिलाकर मधु से खिलाकर वमन कराना चाहिए और वमन द्रव्य खिलाने के पूर्व रोगी को दूध या गन्ने का रस भरपेट पिलाना चाहिए।

२. त्रिवृतादि चूर्ण—निशोथ, कचूर, वरिआर की जड, रास्ना, सोठ, हर्रे तथा पुष्करमूल के समभाग मे बनाये गये चूर्ण को २-२ ग्राम की मात्रा मे सवेरे-शाम मधु से दे।

---

१ शीता प्रदेहा परिषेचनानि तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे।
द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकै स्याद् शुद्धे च पित्तापहमन्नपानम्।
पिष्ट्वा पिबेद्‌चापि सिताजलेन यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणीञ्च॥ भै० र०

३ सूक्ष्मैलादि चूर्ण—छोटी इलायची और पिपरामूल को समभाग मे लेकर चूर्ण कर, १-१ ग्राम की मात्रा दिन मे २-३ बार घी से चटावे।

४. पिप्पल्यादि चूर्ण—२-२ ग्राम मधु से प्रात -साय देनी चाहिए।

५. कृष्णादि चूर्ण—पीपर, कचूर, पोहकरमूल, रास्ना, वच, बडा हर्रा का छिलका और सोठ, इनके समभाग का वारीक चूर्ण करे।

इस चूर्ण को ३ ग्राम की मात्रा मे गरम जल से दिन मे ३ बार दे।

कफज हृद्रोग मे व्यवस्थापत्र

१ प्रात -साय

हृदयार्णव रस	२०० मि० ग्रा०
चिन्तामणि	२५० मि० ग्रा०
प्रवालभस्म	२५० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

पिपरामूल चूर्ण ५०० मि० ग्रा० तथा पुष्करमूल चूर्ण १ ग्राम मधु के साथ।

२ ९ वजे व ३ वजे

अकीकभस्म	२५० मि० ग्रा०
मुक्ताभस्म	२५० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

१५ ग्राम च्यवनप्राश और मधु से।

३ भोजनोत्तर २ वार

सारस्वतारिष्ट	१५ मि० ली०
समान जल के साथ पीना।	१ मात्रा

४. रात मे सोते समय

हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण	३ ग्राम

सुखोष्ण जल से।

त्रिदोषज हृद्रोग

१ त्रिदोषज हृद्रोग मे आवश्यकतानुसार उपवास करना चाहिए और त्रिदोष-शामक आहार-विहार तथा औषध का सेवन करना चाहिए। तीनो दोषो मे हीन, मध्य और प्रवल विचार कर तथा प्रधान एव गौण दोष की समीक्षा कर तीनो दोषो की चिकित्सा करे।

२. पुष्करमूल चूर्ण ३-३ ग्राम मधु से सवेरे-शाम दे।

३ गेहूँ के १०० ग्राम आटे मे २० ग्राम अर्जुन चूर्ण मिलाकर घी तेल मे भूनकर १०० ग्राम चीनी डालकर छोटी इलायची का चूर्ण १ ग्राम डालकर हलवा बनाकर जलपान के रूप मे २ बार दे।

४ नागबला का चूर्ण ३–३ ग्राम २ वार देना चाहिए।

५ मृगशृंग भस्म २५० मि० ग्रा० मधु से दिन मे ३–४ वार देना चाहिए।

त्रिदोषज हृद्रोग में व्यवस्थापत्र

१ प्रात, मध्याह्न, सायं

सिद्धमकरध्वज	३०० मि० ग्रा०
योगेन्द्र रस	३०० मि० ग्रा०
विश्वेश्वर	३०० मि० ग्रा०
हृद्रोगरत्नाकर	३०० मि० ग्रा०
	३ मात्रा

अर्जुन चूर्ण १ ग्राम, पुष्करमूल चूर्ण १ ग्राम, बलादि घृत १० ग्राम और चीनी १० ग्राम के साथ।

२ ९ बजे २ बजे दिन

सगयशव पिष्टी	३०० मि० ग्रा०
अकीकपिष्टी	२०० मि० ग्रा०
शृगभस्म	५०० मि० ग्रा०
हृदयार्णव	२५० मि० ग्रा०
प्रवालपचामृत	२५० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

पुष्करमूलादि चूर्ण २ ग्राम और मधु से।

३ भोजनोत्तर २ बार

अर्जुनाद्यरिष्ट	३० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

४. रात मे सोते समय

कुटकी चूर्ण	२ ग्राम
यष्टीमधु चूर्ण	१ ग्राम
चीनी मिलाकर जल से।	१ मात्रा

आमवातजन्य हृद्रोग मे व्यवस्थापत्र

१ दिन मे ३ बार

आमवातारि	½ ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	२०० मि० ग्रा०
महायोगराज गुग्गुलु	१ ग्राम
प्रभाकर वटी	३०० मि० ग्रा०

कल्याणसुन्दर	३०० मि० ग्रा०
शृंगभस्म	६०० मि० ग्रा०
	३ मात्रा

पुष्करमूलादि चूर्ण २ ग्राम और मधु से।

२. भोजनोत्तर २ बार

दशमूलारिष्ट	३० मि० ली०
	२ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

३ रात मे सोते समय

वैश्वानर चूर्ण	५ ग्राम
सुखोष्ण जल से।	१ मात्रा

कृमिज हृद्रोग

१ कृमिज हृद्रोग मे प्राय जब वायु का मार्ग रुक जाता है, तो वह वायु आमाशय मे प्रकुपित होती है। इसलिए शोधन, लघन तथा पाचन औषध का प्रयोग करना चाहिए।

२ विरेचन—रोगी को तीन दिन तक दही-भात तथा तिल का लड्डू खिलावे। मासार्थी को मास-भात खिलावे। तत्पश्चात् उसे विरेचन औषध दे।

विरेचन योग—वायविडग, पलाशबीज प्रत्येक १–१ ग्राम, निशोथ चूर्ण ४ ग्राम और चीनी ६ ग्राम, छोटी इलायची का चूर्ण ½ ग्राम मिलाकर खिलावे।

३ वायविडग १ ग्राम तथा कूठ १ ग्राम चूर्ण करके १००–२०० ग्राम गोमूत्र से सवेरे-शाम खिलावे।

४. जौ या गेहूँ के आटे मे १०–२० ग्राम वायविडंग चूर्ण मिलाकर रोटी बनाकर खिलावे।

५. पुष्करादि क्वाथ—पोहकरमूल, कागजी नीबू के पेड की छाल, पलाशबीज, वायविडङ्ग, करञ्ज का फल, कचूर, देवदारु, सोठ, जीरा और बच, इनको समभाग लेकर भूसा की तरह कूटकर रख लेवे। २०–२५ ग्राम लेकर विधिवत् क्वाथ बनाकर ½ ग्राम यवक्षार और ½ ग्राम सेंधानमक डालकर सवेरे-शाम पिलावे।

६. पिप्पल्यादि चूर्ण या कृष्णादि चूर्ण २–२ ग्राम प्रात-सायं खिलावे।

७. कृमिमुद्गर, कृमिकालानल, कुबेराक्ष वटी, करञ्जादि वटी, नवायस लौह आदि का रोगी के बलाबल का विचार कर उचित मात्रा मे प्रयोग करना श्रेयस्कर है।

व्यवस्थापत्र

१ ३–३ घण्टे पर ४ बार

कृमिमुद्गर रस	१ ग्राम
पलाशबीज चूर्ण	४ "
शृंगभस्म	१ "
अर्जुन चूर्ण	४ "
मधु से।	४ मात्रा

२ भोजनोत्तर—

अर्जुनारिष्ट	१५ मि० ली०
विडङ्गासव	१५ मि० ली०

समान जल मिलाकर पीना। २ मात्रा

३. रात मे सोते समय

आरोग्यवर्धिनी वटी	१ ग्राम

सुखोष्ण जल से।

पथ्य

अगहनी चावल, जौ, जागल मास, परवल, करेला, मरिच, सेंधानमक, मुनक्का, तक्र, पुराना गुड, सोठ, अजवायन, लहसुन, हर्रे, कूठ, तुम्बुरु, कूठ, अनार, अमलतास, नई मूली, अदरक, सिरका, मधु और मद्य हितकर हैं। स्वेदन, विरेचन, वमन, लंघन, वस्ति का प्रयोग पथ्य है।

अपथ्य

तृष्णा, छर्दि, मूत्र, मल, अपान वायु, शुक्र, कास, उद्गार, श्रमज श्वास और आँसुओ का रोकना अहितकर है। सह्य और विन्ध्य पर्वत की नदियो का जल, भेड दूध, दूषित जल, कषायरस के पदार्थ, विरोधी आहार, उष्ण, गुरु, तिक्त, अम्ल द्रव्य, पत्रशाक, शुष्क शाक, क्षार, महुए का फल, दतवन और रक्तस्रावण अपथ्य है।

हृच्छूल

निदान और संप्राप्ति

मिथ्या आहार-विहार से कुपित हुए कफ और पित्त से अवरुद्ध हुआ वायु रस से मिश्रित होकर हृदय मे स्थानसश्रय कर वहाँ शूल उत्पन्न करता है। इस शूल की पीडा के कारण उस रोगी का उच्छ्वास (Expiration) अत्यधिक रुक जाता है। आहार रस और वात से उत्पन्न होने वाले इस रोग को हृच्छूल कहते हैं।[1]

---

१. कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छित।
हृदिस्थ कुरुते शूलमुच्छ्वासारोधकं परम्॥
स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसम्भव॥ सु० उ० ४२।१३२

सम्प्राप्ति

मिथ्याहार-विहार निदान—कफ-पित्तप्रकोप—वात का अवरोध
|
वायु का आहार रस से सम्मूर्च्छन
|
वात का हृदय मे स्थानसंश्रय
|
उच्छ्वासावरोध सह शूल
|
हृच्छूल रोग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१ दोष—त्रिदोष प्रकोप वात-प्रधान ।
२. दूष्य—रस ।
३. अधिष्ठान—हृदय ।

वक्तव्य—यह हृच्छूल हृद्रोग से भिन्न है। इसके कारण और लक्षण भी अलग हैं। इसे आधुनिक भाषा मे एञ्जाइना पेक्टोरिस (Angina pectoris) कहते हैं। इस शूल का प्रारम्भ उर फलक (Sternum) के उपरितन तथा पृष्ठ भाग से होता है। श्रमजनक कार्य करने से इसके आवेग या दौरे आते हैं। यह शूल वक्ष (छाती) से वाम बाहु के आभ्यन्तर भाग से होता हुआ अगुल्यग्र तक पहुँच जाता है। कभी-कभी ग्रीवा के वामपार्श्व मे भी इसकी पीडा का अनुभव होता है। प्राय हृदय की रक्तवाहिनियो मे विकृति होने के पश्चात् प्राणवायु की कमी होने के फलस्वरूप यह अवस्था उत्पन्न होती है। श्वासावरोध होना हृच्छूल का प्रधान लक्षण है।

चिकित्सा

१. हृच्छूल की चिकित्सा हृद्रोग के अनुसार करनी चाहिए ।

२ हृदय कफ का स्थान है तथा कफज रोगो मे वमन प्रशस्त माना गया है तथा वात पित्त भी जब हृदयस्थ हो, तो उनकी भी चिकित्सा स्थानीय अर्थात् हृदय के अनुसार ही वमन द्वारा शोधन करके करनी चाहिए—

'कफस्य च विनाशार्थं वमन शस्यते बुधै' ।

तथा—'स्थानिस्थानगत दोष स्थानिवत् समुपाचरेत्' ।

३ वमन—रोगी का स्नेहन तथा हलका स्वेदन करके उसे दशमूल क्वाथ में घृत और सैंधानमक मिलाकर आकण्ठ पान कराकर मदनफल चूर्ण ६ ग्राम मधु से चटावे ।

वातदोष से पीडित हृदयरोगी को वमन कराने का विधान है—

'वातोपसृष्टे हृदये वामयेत् स्निग्धमातुरम् ।
द्विपञ्चमूलीक्वाथेन सस्नेहलवणेन च ॥'

४ श्रृंगभस्म—मृगश्रृङ्ग भस्म २५० मि० ग्रा० और अर्जुन चूर्ण २ ग्राम मधु से ३–३ घण्टे पर दिन मे ४ बार देना चाहिए।

५. अर्जुनादि चूर्ण, पुष्करमूलादि चूर्ण, अर्जुनघृत, प्रवालभस्म, मुक्ताभस्म, हृदयार्णव, प्रभाकर, हृद्रोगरत्नाकर, रत्नेश्वर आदि का रोगी के बलाबल का विचार कर प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१ रसिसन्दूर — ३०० मि० ग्रा०
अभ्रम भस्म — ३०० मि० ग्रा०
श्रृंगभस्म — १ ग्राम
बृहत्कस्तूरीभैरव — ३०० मि० ग्रा०
हृदयार्णव — १/२ ग्राम
————
३ मात्रा

अर्जुन चूर्ण २ ग्राम और मधु से दिन में ३ बार दे।

२ भोजन के बाद २ बार
अर्जुनारिष्ट — ३० मि० ली०
————
२ मात्रा

समान जल मिलाकर पिलाना।

३ हृच्छूल प्रदेश पर—
हल्के हाथो से अभ्यङ्ग—लाक्षादि तैल, महानारायण तैल, विषगर्भ तैल या कपूर मिलाकर तारपीन के तेल की मालिश करनी चाहिए।

पथ्यापथ्य—हृद्रोग मे कथितानुसार।

हृदयाभिघात

लक्षण

हृदय पर अभिघात होने (चोट लगने) से कास, श्वास, शारीरिक बल का ह्रास, कण्ठ का सूखना, क्लोम के अधोभाग मे आकर्षण होने की तरह वेदना, जिह्वा का बाहर की ओर निकलना, मुख और तालु का सूखना, अपस्मार, उन्माद, प्रलाप एवं संज्ञानाश आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सासूत्र

हृदय एक मर्मस्थान है और इसकी विशेष रूप से वायु से रक्षा करनी चाहिए। क्योकि वायु की यथास्थिति से ही जीवन रक्षित रहता है और प्राणवायु का स्थान हृदय है। वायु ही पित्त और कफ को भी प्रकुपित करता है। इसलिए वायु को अपने प्राकृत स्वरूप मे रखने के लिए सावधान रहना चाहिए।

वायु के विकार को दूर करने के लिए 'वस्ति' सर्वोत्तम उपाय है। 'वस्ति' के दो भेद हैं—१ आस्थापन और २ अनुवासन।

चरक-विमानस्थान, अध्याय ८ मे छ आस्थापन और दो अनुवासन वस्तियाँ बतलायी गई हैं। पचकर्म मे कुशल चिकित्सक को इस मर्मस्थान की रक्षा के लिए उनका प्रयोग करना चाहिए और वातव्याधि मे जो चिकित्सा कही गई है, उसका भी प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा[1]

१ हृदयाभिघात मे घी मे भुनी हीग २५० मि० ग्रा० को कालानमक २५० मि० ग्रा० के साथ घोटकर बिजौरा नीबू के रस या खट्टे अनार के रस या अर्जुनारिष्ट १५ मि० ली० मे मिलाकर दिन मे २-३ बार पिलाना चाहिए।

२ लघुपचमूल के क्वाथ में अर्जुन चूर्ण ३ ग्राम और चीनी मिलाकर प्रात'-सायं पीने को दे।

३ बृहत्पचमूल के क्वाथ में बनाया हुआ गेहूँ के आटे का पतला हलवा जलपान के रूप मे सवेरे-शाम खिलाना चाहिए।

४. हृदयरोग के प्रसिद्ध सिद्धयोगो (हृद्रोगरत्नाकर, हृदयार्णव, विश्वेश्वर, प्रभाकर, शृगभस्म, प्रवालभस्म, चिन्तामणि, ककुभादि चूर्ण, पुष्करमूलादि चूर्ण, अर्जुनघृत, बलाघृत, श्वदष्ट्राघृत, अर्जुनारिष्ट, दशमूलारिष्ट, च्यवनप्राशावलेह आदि का यथायोग्य प्रयोग करे।

५ पथ्यापथ्य पहले कहे गये हृद्रोग के अनुसार जानना चाहिए।

---

१ च० सि० अ० ९।

अष्टादश अध्याय

रक्तपित्त, कामला, कुम्भकामला तथा हलीमक

रक्तपित्त

परिचय—बिना किसी बाहरी आघात या चोट के शरीर के भीतरी कारणो से होनेवाले रक्तस्राव को **रक्तपित्त** कहते हैं। शरीर के ऊपरी भाग (मुख, नाक, आँख और कान) से तथा निम्न भाग (मूत्रेन्द्रिय, योनि और गुदा) से अथवा सभी रोमकूपो से रक्तस्राव का होना रक्तपित्त है। इस रोग मे दुष्टपित्त से दूषित रक्त किसी भी मार्ग से निकलने लग जाता है।

जिन रोगो मे शुद्ध रक्त का स्राव होता है, उन रोगो के नाम के पहले रक्त शब्द लगाया जाता है, जैसे—रक्तार्श, रक्तातिसार, रक्तष्ठीवन, रक्तवमन आदि। किसी भी रक्तस्रावी रोग में जब तक रक्त पित्त से दूषित नही होगा, तब तक उसे रक्तपित्त नहीं कह सकते।

इस प्रकार दुष्टपित्त का प्रवृद्ध रक्त के साथ शरीर से बाहर निकलना रक्तपित्त है। यह एक महारोग है।

निरुक्ति या निर्वचन—आचार्य सुश्रुत ने—'रक्तञ्च पित्तञ्च इति रक्तपित्तम्' ऐसा द्वन्द्वसमास करके रक्तपित्त की निरुक्ति बतलायी है।

आचार्य **चरक** ने कहा है—'ससर्गात् लोहितप्रदूषणात् लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्त लोहितपित्तम् (रक्तपित्तम्) इत्याचक्षते' (च० नि० २।५)। चरक-टीकाकार **चक्रपाणि** ने रक्तपित्त शब्द की तीन प्रकार की निरुक्ति की है—१. 'रक्तयुक्त पित्तं रक्तपित्तम्, इति प्रथमा निरुक्ति'। २. 'रक्ते दूष्ये पित्तम्, इति द्वितीया'। ३ 'रक्त-वत् पित्त रक्तपित्तम्, इति तृतीया निरुक्ति'। (च० नि० २।५ पर चक्रपाणि) इनका तात्पर्य क्रमश इस प्रकार है—१ पित्त का रक्त के साथ सयुक्त रहने से इसे **रक्तपित्त** कहते हैं। २. रक्त दूष्य मे पित्त मिलकर रक्त को दूषित करता है, इसलिए इसे **रक्तपित्त** कहते हैं। ३ रक्त के ससर्ग से पित्त भी गन्ध-वर्ण मे रक्त के समान हो जाता है, इसलिए भी इस रोग को रक्तपित्त कहते हैं।

रक्तपित्तचिकित्साध्याय मे चरक ने पूर्वोक्त तीन कारणो के आधार पर रक्तपित्त नाम रखे जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है—

> 'सयोगाद् दूषणात् तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयो।
> रक्तस्य पित्तमाख्यात रक्तपित्त मनीषिभि'॥' च० चि० ४

१ **सयोगात्**—इस रोग में पित्त रक्त के साथ सयुक्त होता है, अर्थात् रक्त और पित्त मिल जाते हैं।

२. **दूषणात्**—इस रोग में पित्त के द्वारा रक्त की दुष्टि होती है।

३ गन्धवर्णयो सामान्यात्—रक्त और पित्त समान गन्ध और वर्ण के होते हैं। दोष और दूष्य मे गन्ध और वर्ण की समानता होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१ चरकसहिता निदानस्थान २।
२ ,, ,, चिकित्सास्थान ४।
३ सुश्रुतसहिता उत्तरतन्त्र ४५।
४ अष्टाङ्गहृदय निदानस्थान ३।
५ ,, ,, चिकित्सास्थान २।
६ माधवनिदान रक्तपित्तनिदान।

रक्तपित्त का विप्रकृष्ट निदान

प्राचीनकाल मे दक्षप्रजापति के यज्ञ के नष्ट होने पर रुद्र के क्रोध और अमर्ष (अक्षमा–अशान्ति) रूपी अग्नि से सतप्त शरीर और प्राणवाले प्राणियो मे ज्वर के वाद रक्तपित्त का प्रकोप हुआ।

वक्तव्य—रक्तपित्त रोग को महागद (महान् रोग), महान् वेगवाला और आग की लपट वाला, जैसे देखते ही देखते आग सब कुछ जलाकर खाक बना देती है, उसी तरह शीघ्र ही शरीर को नष्ट करनेवाला कहा गया है।

चरकसहिता (चि० अ० ४।३–४) के अनुसार रक्तपित्त रोग का उपदेश पञ्चगङ्ग प्रदेश (पजाब) मे किया गया है। ऐसा लगता है, कि पजाब मे हजारो वर्ष पूर्व यह रोग होता रहा है। सुश्रुत ने भी इस रोग के निदान में क्रोध का प्रथम उल्लेख किया है। क्रोध मे अग्नि का ज्वालामुखी वसता है। क्रोध और तीक्ष्ण-उष्ण-क्षार-लवण-अम्ल-कटुरसप्रधान आहार आज भी पजाव के खान-पान मे देखा जाता है। चाट, मसालडोसा, गुलगप्पा और किस्म-किस्म के पकौडे खाना उस प्रदेश के निवासियो की आदत है और क्रोध-त्रास-आतक तथा तीखे आहार-विहार रक्तपित्त को उजागर करनेवाले प्रधान कारण हैं। आज आतङ्क और त्रासदी की दमघोटू जिन्दगी (जो पजाव की भूमि मे) जीने की मजबूरी है, उसका इतिहास हजारो साल पुराना है। अन्तर यह है कि अब पजाब मे रक्तपित्त का दूषित रक्त नही, अपितु शुद्ध रक्त का स्राव हो रहा है।

रक्तपित्त का निदान

१. आहार—जई, वनकोदो, सेम, उडद, कुलथी, खट्टी दही, सूकर, भैंस, मछली का मास, सरसो, लहसुन, सहिजन तथा उष्ण, तीक्ष्ण, लवण, अम्ल, कटु एव क्षारीय पदार्थों का अधिक सेवन, सिरका, सुरा, विरुद्ध वस्तुओ का एक साथ भोजन आदि।

२ विहार—व्यायाम, अधिक पैदल चलना, अतिव्यवाय, धूप मे रहना, अग्नि के संपर्क मे रहना आदि।

३. मानसिक निदान—क्रोध, अमर्ष, भय, त्रास, शोक आदि।

उक्त निदानो के अभ्यास से पित्त प्रकुपित हो जाता है और रक्त भी अपने प्रमाण से अधिक बढ जाता है। शरीर मे रक्त का प्रमाण बढने पर कुपित हुआ पित्त पूरे शरीर मे फैलकर यकृत् एव प्लीहा से उत्पन्न होनेवाले रक्त को वहानेवाले स्रोतो के मुख को रोक देता है, तब वही पित्त रक्त को दूषित करता है।[1]

रक्तपित्त की संप्राप्ति[2]

पूर्वोक्त पित्त-प्रकोपक कारणो से बढा हुआ पित्त जब अपने स्थान से निकलकर रक्तधातु मे मिल जाता है, तब तक वह पित्त रक्त से ही उत्पन्न होने के कारण उस रक्त में जाकर और अधिक रूप मे वढ जाता है और उसे दूषित भी कर देता है। उस पित्त की ऊष्मा से मांस आदि धातुओ से रक्त मे द्रवाश का खिचाव होता है, जिससे रक्तवाहिनियो मे रक्त की वृद्धि हो जाती है। पित्त सामान्य प्रमाण से अधिक रक्त होने के कारण गौरव तथा तनावयुक्त रक्तवहस्रोतो को अवरुद्ध कर सगात्मक विकृति उत्पन्न कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप सिरा-धमनी तथा कोशिकाओ के फटने से रक्तपित्त रोग की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—पित्तप्रकोपक आहार-विहार से रक्त अधिक मात्रा मे बनता है, किन्तु वह विदग्ध होता है। अतएव उसमे मलरूप पित्त की भी अधिक उत्पत्ति है। इसकी उपस्थिति मे रक्त मे जलीयाश का सन्तुलन घट जाता है। रक्त मे जलीय सन्तुलन बनाये रखने के लिए मास आदि धातुओ के जलीयाश का रक्त मे शोषण होता है, जिससे रक्त का प्रमाण और भी बढ जाता है। परिणामस्वरूप रक्तवहस्रोतोगत भाराधिक्य के कारण उत्पन्न तनाव एव पित्त की अधिकता के कारण रक्तवाहिनियो की दीवार क्षतिग्रस्त हो जाती है और उनसे रक्त का क्षरण होने लगता है। इसी पित्त-मिश्रित रक्त की प्रवृत्ति को रक्तपित्त कहते हैं।

रक्तपित्त की गति और उसकी संप्राप्ति

रक्तपित्त की गति या मार्ग दो हैं—१. ऊपर से और २ नीचे से।

१ जिस व्यक्ति के शरीर मे कफ की अधिकता होती है, उसके शरीर मे कफ के ससर्ग से ऊपर जाता हुआ रक्तपित्त दोनो नासिका, दोनो कान, दोनो नेत्र और एक मुख—इन सात छिद्रो से निकलता है।

२. अधिक वायुवाले शरीर मे वात के ससर्ग से नीचे जाकर वह रक्तपित्त मूत्रमार्ग और गुदा (तथा योनि) से निकलता है।

एवञ्च कफाधिक और वातप्रधान शरीर मे कफ वात के ससर्ग से ऊपर और

---

१ च० चि० ४।४ तथा सु० उ० ४५।३-४ एव मा० नि० रक्तपित्त।

२ तैर्हेतुभि समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते।
तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत्॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते।
स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति॥ च० च० ४।७-८

नीचे वह दोनो मार्गों से निकलता है। कदाचित् बढा हुआ वह रक्तपित्त शरीर के सभी छिद्रो या रोमकूपो से निकलने लगता है।

संप्राप्ति—१ स्निग्ध और उष्ण आहार-विहार से प्रायः ऊर्ध्वग रक्तपित्त तथा २. रूक्ष और उष्ण आहार-विहार से अधोग रक्तपित्त होता है।
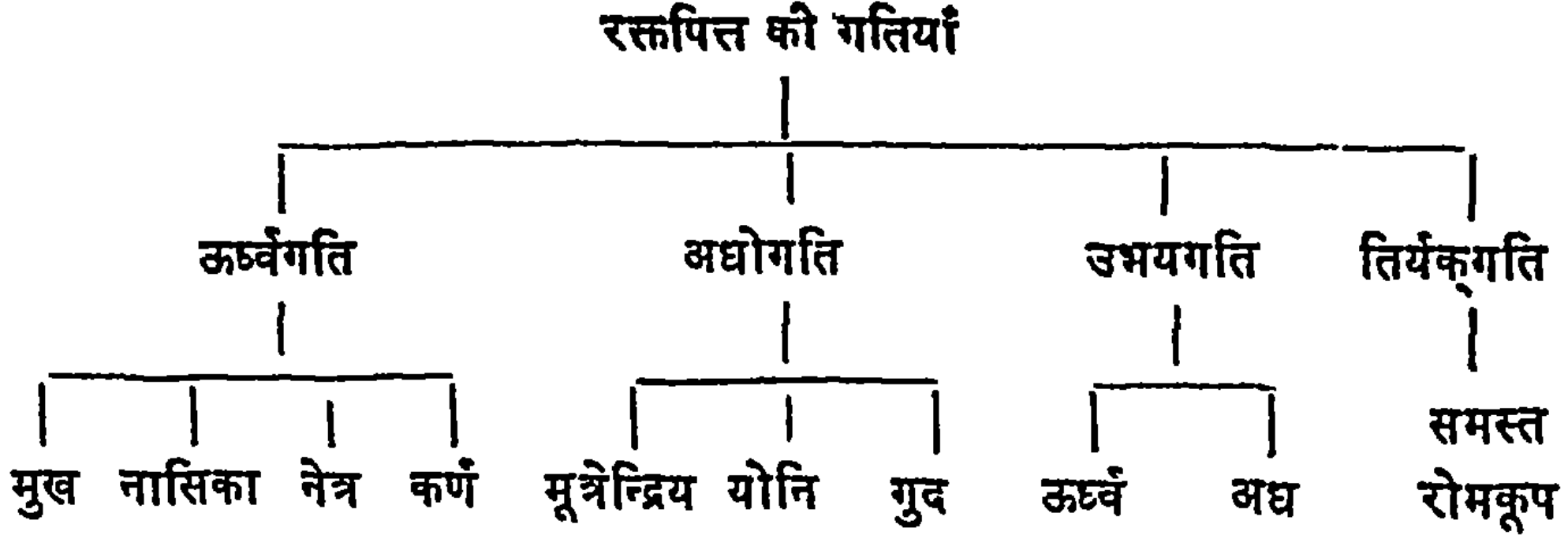
रक्तप्रवर्तन या निर्गमन का मार्ग

१ प्रकुपित पित्त से विदग्ध हुआ रक्त आमाशय से ऊपर की ओर जाकर मुख, नासिका, नेत्र और कर्ण से निकलता है।

२ प्रकुपित पित्त से विदग्ध हुआ रक्त पक्वाशय से नीचे की ओर जाकर मूत्रमार्ग, गुदा और योनि से बाहर निकलता है।

३. आमाशय एव पक्वाशय दोनो मे विदग्ध हुआ रक्त ऊर्ध्व तथा अध दोनो मार्गों से प्रवृत्त होता है।

४ कुछ आचार्य ऊर्ध्व तथा अध इन दोनो मार्गों से होने वाली रक्तपित्त की गति को यकृत् और प्लीहा से मानते हैं।

सम्प्राप्तिचक्र—

१ तीक्ष्ण-उष्ण-अम्ल-लवण-क्षार-प्रधान एव विरुद्ध आदि आहार
२ सूर्यताप, अग्निताप, श्रम, मार्गगमन, अतिव्यवाय आदि विहार
३ क्रोध-शोक-भय-अमर्ष-द्वेष-त्रास आदि मानसविकार

} —निदान—पित्तप्रकोप—रक्त का सयोग, दूषण एव गन्ध-वर्णसाम्य

|

रक्तवहस्रोतस् क्षोभ

|

पित्तदुष्ट रक्त का क्षरण

|

रक्तपित्तरोग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१. दोष—पित्तप्रधान ।

२ दूष्य—रक्त ।

३ स्रोतस्—रक्तवहस्रोतस् ।

४. अधिष्ठान—यकृत्, प्लीहा, रक्तवाहिनियाँ ।

५. स्रोतोदुष्टि-लक्षण—सग-विमार्गगमन ।

६. आम-पक्वाशयोत्थ व्याधि ।

७. आशुकारी महागद ।

वक्तव्य—विभिन्न ऊर्ध्वग या अधोग रक्तस्रावो मे निकलनेवाले रक्त की परीक्षा करके यह निश्चय कर लेना चाहिए कि यह रोग रक्तपित्त है अथवा अन्य किसी कारण से रक्तस्राव हो रहा है । जैसे—

१. नासाप्रवृत्त रक्तस्राव (Epistaxis) के स्थानीय तथा सार्वदैहिक—दो प्रकार के कारण हैं । नासा पर आघात तथा रक्तवाहिनीगत अर्बुद आदि स्थानीय कारण हैं । सार्वदैहिक कारणो मे रक्तचाप की वृद्धि, कालाजार, घातक पाण्डु, कामला और पैत्तिक रक्तस्राव-प्रवृत्ति आदि रोग हैं । आँख और कान से रक्तस्रुति बहुत कम देखने में आती है ।

२. मुखप्रवृत रक्तस्राव—यह आमाशय तथा श्वासप्रणाली से होनेवाला स्राव है । बिना खाँसी के आमाशय से होनेवाले रक्तस्राव को रक्तवमन (Haematemesis) कहते हैं । खाँसी के साथ श्वासप्रणाली की कोशिकाओ के फटने से कफ के साथ या कभी-कभी बिना कफ के भी आनेवाले रक्त को रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) कहते हैं ।

३. कान से बहनेवाले रक्त को आटोरेजिया (Otorrhagia) कहते हैं ।

ये सभी ऊर्ध्वग रक्तपित्त या रक्तस्राव के रोग हैं ।

अधोग रक्तपित्त या रक्तस्राव के निम्नलिखित रोग हैं—(१) मूत्रेन्द्रियप्रवृत्त रक्त को हीमेचूरिया (Haematuria) कहते हैं । (२) आर्तवकाल मे प्रवृत्त अत्यधिक रक्तस्राव को मेनोरेजिया (Menorrhagia) कहते हैं । (३) आर्तवकाल के अतिरिक्त काल मे प्रवृत्त योनि से होनेवाले रक्तस्राव को मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं । इनके अतिरिक्त सरक्ता प्रवाहिका, रक्तातिसार, रक्तार्श और दुष्ट गुदव्रण में भी गुदामार्ग से रक्त निकलता है, जिनके भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं ।

इनमे रक्तपित्त का रक्त है या इन रोगो के कारण रक्त निकल रहा है ? यह भेद इन रोगों के लक्षण मिलाकर तथा रक्तपित्त की विशिष्ट संप्राप्ति एव पित्त द्वारा रक्तदुष्टि और शुद्ध रक्त की परीक्षा कर तथा सापेक्ष रोग-निदान से जानना चाहिए ।

सापेक्ष निदान

रक्तपित्त	रक्तस्रावी अन्य रोग
१. रक्तपित्त के रक्त से मिले अन्न को कौआ-कुत्ता आदि नही खाते ।	१ इनके रक्त से मिश्रित अन्न को कौए-कुत्ते खाते हैं।
२. रक्तरञ्जित वस्त्र सूखने पर गरम जल से धोने पर दाग नही छूटता ।	२. इनके रक्त का दाग नही पडता ।
३ रक्तपित्त के पूर्वरूप मिलते हैं।	३. नही मिलते हैं ।
४. रक्तपित्त के लक्षण मिलते हैं।	४ अपने-अपने रोग के लक्षण मिलते हैं।

रक्तपित्त के पूर्वरूप

१ भोजन में अनिच्छा ।
२. भोजनोत्तर कण्ठदाह ।
३ खट्टे सिरके जैसी डकार ।
४ बार-बार वमन होना ।
५ घृणायुक्त वमन होना ।
६. स्वर भेद ।
७. अगो मे शिथिलता ।
८ हाथ-पैर मे जलन ।
९ मुख से धुंआ-सा निकलना ।
१०. मुख से लोहा, रक्त, मछली और अपच की-सी गन्ध आना ।
११ शरीर के अगो, मल-मूत्र-स्वेद-लाला एव मुख-नाक-कान-नेत्र के मलो को रक्त, हरित, हारिद्र वर्ण होना ।
१२ अग-अग से वेदना होना ।
१३ स्वप्न मे रक्त-नील-पीत-श्याववर्ण तथा तेज चमकती चीजो का बार-बार देखना, ये रक्तपित्त के पूर्वरूप हैं ।

दोषानुसार रक्तपित्त के भेद
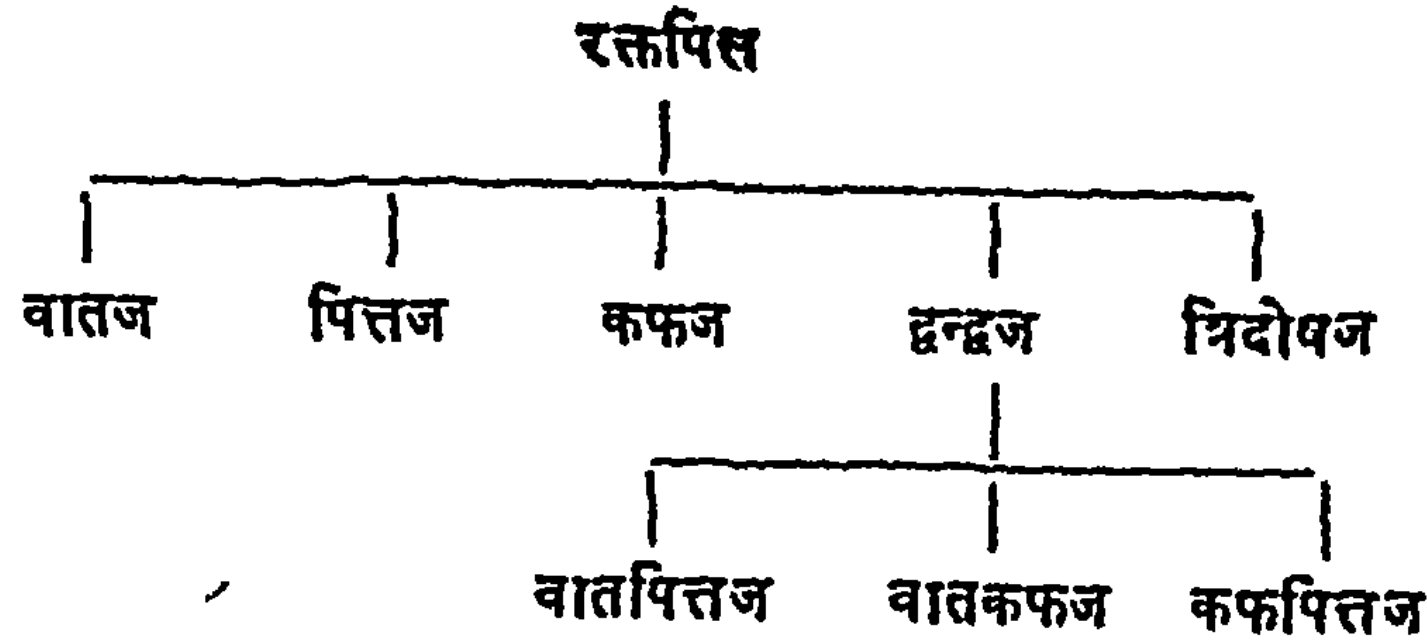
वातज रक्तपित्त का लक्षण

१ श्याववर्ण-मिश्रित (मटमैला) रक्तवर्ण, २ झागदार, ३ पतला और ४. रूक्ष रक्त का स्राव हो, तो उसे वातिक रक्तपित्त जानना चाहिए ।

पैत्तिक रक्तपित्त का लक्षण

१ बरगद की छाल के काढे के रग का, २ काले रग का, ३ गोमूत्र के रग का, ४ चिकना काला, ५. घर के धुंए के झाले के रग का अथवा ६. अजन के सदृश काले वर्ण का रक्त निकले, तो उसे पैत्तिक रक्तपित्त जाने ।

कफज रक्तपित्त का लक्षण

१ गाढा, २. पाण्डुवर्ण, ३. स्नेहयुक्त और ४ पिच्छिल रक्त का स्राव हो, तो उसे कफज रक्तपित्त समझना चाहिए।

द्वन्द्वज रक्तपित्त का लक्षण

१ वात और पित्त, २ वात और कफ तथा ३ पित्त और कफ, इन दो-दो दोषो के सम्मिलित लक्षणो को देखकर द्वन्द्वज रक्तपित्तो को जाने।

सन्निपातज रक्तपित्त का लक्षण

तीनो दोषो के (प्रकृतिसमसमवायारब्ध) लक्षणो को देखकर सन्निपातज रक्तपित्त जानना चाहिए।

रक्तपित्त के उपद्रव[1]

दुर्बलता, श्वास, कास, ज्वर, वमन, मद (हलका नशा जैसा), पाण्डुता, दाह, मूर्च्छा, भोजन का विदाह, धैर्य का ह्रास, हृदयस्थल मे असह्य पीडा, प्यास, अतिसार, शिर मे ताप की अधिकता, दुर्गन्धित थूक निकलना, आहार से द्वेष, भोजन का न पचना और मांसप्रक्षालन के जल के वर्ण का रक्तस्राव होना, ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं।

दोष, लक्षण और मार्ग-भेद से रक्तपित्त की साध्यासाध्यता

साध्य

१. एकदोषज, २ बलवान् रोगी, ३ अल्पवेग, ४ नवीन रोग, ५ उपद्रवरहित, ६ हेमन्त और शिशिर ऋतु मे उत्पन्न तथा ७ ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य होता है।

याप्य

१ द्विदोषज, २ अल्पबल रोगी, ३ मध्यवेग ४ अनवीन रोग, ५ अल्प उपद्रव, ६ शीतभिन्न ऋतुज तथा ७ अधोग रक्तपित्त याप्य होता है।

वक्तव्य—(१) ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे कफ और पित्त का ससर्ग रहता है, अत. इस अवस्था मे कफ और पित्त का हरण करने वाले, कषाय तथा तिक्तरस प्रधान औषध द्रव्यो का सुलभता से प्रयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त (२) पित्त के हरण के लिए 'विरेचन' को श्रेष्ठ और प्रधान उपचार बतलाया गया है—'विरेचन पित्तहराणाम्' (च० सू० २५।४०), तदनुसार विरेचन के प्रयोग से पित्त का आसानी से शमन किया जा सकता है और पित्त का हरण भी किया जा सकता है। इसी प्रकार रक्तपित्त की चिकित्सा मे (३) रोगमार्ग के विपरीत मार्ग से दोष-

---

१ दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदा. पाण्डुतादाहमूर्च्छा
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कोष्ठस्य भेद शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वं
भक्तद्वेषाविपाकौ विकृतिरपि भवेद् रक्तपित्तोपसर्गा ॥ सु० उ० ४५

हरण का सिद्धान्त अपनाने का निर्देश है—'प्रतिमार्गं च हरण रक्तपित्ते विधीयते'—ऊर्ध्वग रक्तपित्त का विपरीत मार्ग अधोग विरेचन ही होगा। इस दृष्टि से भी ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे विरेचन की उपयोगिता होने से यह साध्य होता है।[1]

अधोर्ग रक्तपित्त मे वात और पित्त का ससर्ग रहता है। यदि—(१) इसमे प्रतिमार्ग-हरण सिद्धान्त के अनुसार अधोग के विपरीत ऊर्ध्वग 'वमन' कराया जाये, तो वह केवल वेगमार्ग का ही विरोधी होगा और वमन से न वात का और न पित्त का शमन या हरण होगा, अपितु वमन कराने से वात और पित्त के बढने की संभावना होगी। (२) इसमे वात तथा पित्त की विशेषता रहती है और पित्तशामक कषाय, तिक्त, मधुर-रसो मे से केवल एक मधुर रस ही वात को शान्त करता है। अत सीमित औषधो की उपलभ्यता और प्रतिमार्गहरण उपचार की अनुपयोगिता के कारण अधोग रक्तपित्त याप्य है[2]।

असाध्य

(क) १ त्रिदोषज, २ मदाग्नियुक्त, ३ अतिवेगयुक्त, ४ क्षीणशरीर, ५ वृद्धरोगी, ६ अनशनकारी, ७. रक्त-दृश्यदर्शी, ८ रक्त-आकाशदर्शी, ९ रक्तलोचन, १०. रक्तगन्धी उद्गार, ११ रक्तवमनकर्ता, १२. अतिदुर्गन्धित रक्तवमन, १३ सर्व उपद्रवयुक्त, १४. इन्द्रधनुष के समान विभिन्न वर्णयुक्त रक्तवमन, १५ मास-प्रक्षालित जल के समान, १६ कीचडयुक्त जल के समान, १७ चर्वी और पूय से मिश्रित रक्त के समान, १८. यकृत् खण्ड जैसा, १९ पके जामुन के फल के वर्ण का, २० काला या २१ नीला और २२ मुर्दे जैसी दुर्गन्ध वाला रक्तपित्त का रक्त जिसमे निकलता हो, २३ उभयमार्गी २४ रोमकूपप्रवृत्त रक्त और २५ अतिमात्रप्रवृत्त रक्त वाला रक्तपित्त रोग असाध्य होता है।

(ख) कभी-कभी साध्य रोग भी असाध्य हो जाते हैं। जैसे—१ परिचारक (सेवा-टहल करने वाले) के न होने से, २. उपकरण (साधन) न होने से, ३. रोगी के अधीर होने से, ४. चिकित्सक के दोष से और ५ उचित चिकित्सा उपलब्ध न होने से कोई-कोई साध्य रोग भी असाध्य हो जाता है।

(ग) १. कभी ऊर्ध्वगामी रोग (रक्तपित्त) अधोगामी हो जाता है, २ कभी अधोगामी ऊर्ध्वगामी हो जाता है, ३ कभी मार्ग-परिवर्तन होने पर ऊर्ध्व या अध मार्ग बन्द हो जाता है और कभी ४ मार्ग-परिवर्तन होने पर अपना प्रधान मार्ग नही छोडता, यह स्थिति भी असाध्य है।

(घ) उभयमार्ग (ऊर्ध्वग एव अधोग) से प्रवृत्त रक्तपित्त मे पित्त के साथ वात और कफ की विशेषता रहती है। रक्तपित्त मे प्रतिमार्गहरण का सिद्धान्त है, जो उभयमार्गी रक्तपित्त मे चरितार्थ नही होगा। क्योकि यदि वमन कराया जाय या विरेचन कराया जाय, इन दोनो ही स्थितियो मे अधिक रक्तस्राव की सभावना

१ तत्रे यदूर्ध्वमार्गं तत् साध्य, विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च। च० नि० २।९

२. च० नि० २।९

होने से जीवन-नाश का सशय है। दूसरी बात यह है, कि यह उभयमार्गी है और इसकी चिकित्सा नही की जा सकती। क्योकि ससृष्ट दोषो मे सभी दोषो को जीतने वाली औषध देना ही उचित माना गया है और विरुद्ध मार्गगामी रक्तपित्तोपयोगी औषध का अभाव है। अत वमन-विरेचन के अयोग्य तथा विरुद्धोपक्रम होने से द्विमार्गी रक्तपित्त असाध्य होता है।[1]

चिकित्सा-सूत्र

१ जगल की आग की तरह सत्यानाशी इस रोग की शान्ति हेतु सावधानी से प्रयत्न करना चाहिए।

२ देश, काल, प्रकृति, दोष आदि का विचार कर सन्तर्पण करे।

३ मधुर-तिक्त-कषाय प्रधान रुचिकर गन्ध-वर्ण-रस युक्त मृदु आहार दे।

४ शरीर पर शीतल प्रलेप तथा शीतजल से स्नान तथा परिषेक करे।

५ शीतल द्रव्यो के कल्क का अभ्यग, शीतजल सिञ्चन, शीतजलावगाहन, शीत-गृहशयन, शीतल विस्तरा की व्यवस्था करे।

६ धारागृह (जल का फुहारा लगा घर), भूमिगृह, सुन्दर बगीचा, शीतल जल और वायु, मोती-मूँगा की माला का धारण और स्पर्श मे शीतल तथा हिमजल-सिक्त वस्तुओ का स्पर्श हितकर है।

७ कमल के पुष्प-पत्र और केले के पत्ते आसन एव शयन पर बिछावे।

८ नदियाँ, बडे तालाब, हिमगिरि की शीतल गुफाएँ, खिली चाँदनी, फूले कमल तथा अन्य शीतल, मनोऽनुकूल दृश्य एव श्रवणीय प्रसङ्ग रक्तपित्त के दाह का शमन करते हैं।

९. रुचिर गन्धी इत्र के अनुलेप से सुगन्धित, मनोहर वस्त्राभरण से विभूषित सुवदना, कोमलाङ्गी, मासल भुजा की स्वामिनी, मिष्टभाषिणी, सुहासिनी, सुवासिनी, सुनयना, पीनपयोधरा, प्रमदा जनो का साङ्ग स्पर्श तथा शिशिर जल सिक्त रक्त-कोकनद पुष्पो एव नीलसरोरुह प्रसूनो के व्यजन से वीजित पवन का मृदुस्पर्श रक्त-पित्त के दाह का प्रशमन करता है।

१०. बलवान् तथा भोजन करने वाले रोगी के बढे हुए रक्तपित्त के रक्तस्राव को ग्राही औषधो से पहले ही स्तम्भन न करे।

११. बल, मास और अग्नि जिनकी क्षीण न हो और दोष बढे हो, उनका अपतर्पण करे।

---

१ रक्तपित्तं तु यन्मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते। असाध्यमिति तज्ज्ञेयं पूर्वोक्तादेव कारणात् ॥
नहि सशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम्। प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ॥
एवमेवोपशमन सर्वशो नास्य विद्यते। ससृष्टेषु च दोषेषु सर्वजिच्छमनं मतम् ॥
च० चि० २।२८-३०

१२. बलवान् बहुदोष रोगी के अधोग रक्तपित्त का वमन कराकर शोधन करे। यदि ऊर्ध्वग हो तो विरेचन कराकर शोधन करना चाहिए।

१३ यदि बल-मारादि से क्षीण रोगी हो तो शमन उपचार करे।

१४ रक्तपित्त के निदान का सावधानी से परिवर्जन करे।

१५ दोषानुबन्ध एव निदान आदि की समीक्षा कर लघन या तपण प्रयोग करे।

१६ जो भी आहार-विहार हो वह रक्तपित्तनाशक होना चाहिए।

१७. क्षीण बल-मास वाले रोगी के प्रवृत्त रक्तस्राव को शीघ्र रोकने का प्रयास करना चाहिए।

१८ बालक, वृद्ध, शोषरोग से पीडित व्यक्ति तथा वमन-विरेचन के अयोग्य रक्तपित्त के रोगी के प्रवृत्त रक्तस्राव को स्तम्भन औषधों का प्रयोग कर शीघ्र रोकना चाहिए।

१९ सामान्यत आम (अपक्व आहाररस) के कारण रक्त तथा पित्त उत्क्लिष्ट होते हैं। अत आमपाचनार्थ सर्वप्रथम लघन (उपवास) कराना चाहिए।

२० ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे प्रारम्भ मे रोगी की प्रकृति, बलाबल, दोष, सात्म्य, काल आदि का विचार कर एक दो भोजनकाल मे उपवास कराकर, धान के लावा के सत्तू को खजूर-मुनक्का-महुआ और फालसा डालकर निर्मित षडगपानीय मे घोल कर मधु-चीनी मिलाकर पिलावे। इस प्रकार तर्पण करने के पश्चात् विरेचन औषध का प्रयोग करे।

२१ अधोग रक्तपित्त मे बिना उपवास कराये प्रारम्भ से ही पेया का प्रयोग करना चाहिए, तत्पश्चात् वमन कराना चाहिए।

चिकित्सा

संशोधन-चिकित्सा

तर्पण

१. ऊर्ध्वग रक्तपित्त के रोगी को धान के लावा का सत्तू घोलकर घी-चीनी मिलाकर समय-समय पर पिलाना चाहिए।

२. पिण्डखजूर, अगूर, महुआ का फूल और फालसा प्रत्येक २५-२५ ग्राम लेकर पीसकर चीनी मिलाकर क्षुधाभर पिलावे।

पेयजल

३ हाऊबेर, लालचन्दन, खश, नागरमोथा और पित्तपापडा का चूर्ण २५ ग्राम डालकर २ लीटर जल पकावे, आधा बचे तो छानकर ठडाकर थोडा-थोडा पीने के लिए दे।

रेचन

४ अमलतास की गुद्दी, आंवला और निशोथ २०-२० ग्राम लेकर, आधा लीटर पानी मे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ कर, उसमें मधु या चीनी मिलाकर पिलावे अथवा

श्वेत और काली निशोथ ४–४ ग्राम तथा पीपर २ ग्राम लेकर चूर्ण कर और ४ ग्राम त्रिफला चूर्ण मिलाकर १५ ग्राम चीनी तथा थोडा मधु मिलाकर मोदक बनाकर खिलावे जिससे विरेचन हो जाये।

फलरस

५ मोसम्मी, अगूर, सेव, मीठा अनार, इनका रस तथा ग्लूकोज का घोल दे।

अरुचि

६ यदि मन्दाग्नि और अरुचि हो, तो फलरसो या तर्पण योगो को खट्टा अनारदाना चूर्ण या आमलक चूर्ण मिलाकर दे अथवा १–१ ग्राम यवानीषाडव चूर्ण खाने को दे।

पेया

७ अधोग रक्तपित्त मे पेया, विलेपी या मण्ड पिलाना चाहिए। पुराना चावल, साठी का चावल लेकर लघुपचमूल से सिद्ध जल मे पतला द्रव बनाकर चीनी मिलाकर पिलावे अथवा कमल, पृश्निपर्णी, खस, लोध, धावा का फूल, यवासा, बिल्वपत्र एव वरियार डालकर षडगपरिभाषा से पकाये गये जल मे पुराना चावल और मूँग की दाल डालकर खिचडी बनाकर खिलावे। पेया हो तो थोडा घी-चीनी और खिचडी मे घी, हलका नमक और थोडा खट्टे अनार का रस डालकर खिलावे।

वमन

८ पेया या खिचडी २ से ४ भोजन वेला मे देने के अनन्तर जब वमन कराना हो, तो पहले रोगी को भरपेट गन्ने का रस अथवा चीनी का शर्बत पिलाकर, मदनफल ६ ग्राम या मुलहठी ३ ग्राम चूर्ण करके मधु से चटाना चाहिए।

तर्पण

९ अधोग रक्तपित्त मे खजूर, मुनक्का, मुलहठी और फालसा डालकर पकाये जल मे बनाये गये यूष या पेय को चीनी डालकर पिलावे।

संशमन चिकित्सा

१ थोडा-थोडा बर्फ चूसने को दे। पूर्ण विश्राम करावे। ज्यादा न बोलने दे। शीतल स्थान, शीतल वायु, पेय और भोजन सभी कुछ शीतल दे।

२ रक्तरोधक औषध देने से सयोजक तन्तुओ का सकोच होकर और रक्त सयत होकर रक्तस्राव बन्द हो जाता है। अत क्षीण बल-मास रोगी, वृद्ध या बालक या भीरु रोगी को सशमन औषध देनी चाहिए।

शमन

३ अरूस के पत्ते को पुटपाक-विधि से पकाकर उसका रस निचोड कर मधु और चीनी मिलाकर पिलाने से भयकर रक्तपित्त भी शान्त हो जाता है। यह रस २० ग्राम, १० ग्राम चीनी और १० ग्राम मधु से दिन मे ३ बार।

निसर्गोपचार

४ रोगी को चित्त लिटावे और पैताने की ओर ईंट लगाकर उठा दे, सिरहाना नीचा रखे। शिर पर शीतल जल की पट्टी या बर्फ रखे।

५ दोनो पैरो को गरम जल मे डुबोकर रखने से निम्न शाखा की शिराएँ प्रसारित होती हैं, फलत रक्त मस्तिष्क मे से नीचे की ओर आ जाता है।

६. पृष्ठदेश की कशेरुकाओ के ऊपर गरम जल से सेंक करने पर मस्तिष्क मे से रक्त शीघ्र ही नीचे की ओर आकृष्ट हो जाता है।

रक्तरोधक योग

७ कठगूलर के २० ग्राम स्वरस मे १० ग्राम मधु मिलाकर दिन मे ४ वार पिलावे।

८ पके गूलर, गम्भार के फल, हरीतकी, पिण्डखजूर अथवा मुनक्का पीसकर खिलाने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है।

९ खदिर, प्रियगु और लाल कचनार के फूलो का चूर्ण मधु से दे।

१० गेंदे के पत्ते का रस २०–२० ग्राम दिन मे ३–४ वार पिलावे।

११ सिघाडे का, धान के लावे का तथा नागरमोथे का मिलित चूर्ण ४ ग्राम कमलकेशर १ ग्राम और खजूर १५–२० ग्राम पीसकर मधु से सवेरे-शाम देवे।

१२ कबूतर के बीट को ५०० मि० ग्रा० लेकर मधु से दिन मे ३–४ वार देवे।

१३ लाक्षा चूर्ण ५ ग्राम मधु से दिन मे २–३ वार देना प्रवल रक्तपित्तशामक है।

१४. किसमिस, रक्तचन्दन चूर्ण, लोध्र और पियगु के समभाग का कल्क १० ग्राम, अडूसे का रस १० ग्राम और १० ग्राम मधु मिलाकर चटाने से नाक-मुख-गुदा-मूत्रेन्द्रिय से गिरनेवाला रक्त अथवा शस्त्र द्वारा कटने से होनेवाला रक्तस्राव वन्द हो जाता है।

१५ फिटकिरी का फूला और मिश्री समभाग मिलाकर १–१ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३–४ वार देने से रक्तवमन शीघ्र वन्द होता है।

१६ राल १ ग्राम और चीनी १ ग्राम मिलाकर दिन मे ३–४ वार देवे। यह १ मात्रा है।

१७ गोदन्तीभस्म २५० मि० ग्रा०, राल ५०० मि० ग्रा० और यशदभस्म १२५ मि० ग्रा० की १ मात्रा आँवले के १ चम्मच स्वरस और मधु से ३ वार प्रतिदिन दे।

१८ वासादि क्वाथ[1]—अडूसे के पचाग के ५० मि० ली० क्वाथ मे नीलकमल के मूल की कालीमिट्टी-प्रियगु-लोध्र-कमलकेशर १–१ ग्राम, श्वेताञ्जनभस्म २५० मि० ग्रा०, चीनी २० ग्राम और मधु मिलाकर दिन मे ३ वार देने से रक्तपित्त का वढा हुआ वेग रुक जाता है।

---

१ वासाकषायोत्पलमृत्प्रियङ्गुलोध्राञ्जनाम्भोरुहकेशराणि ।
पीत्वा सिताक्षौद्रयुतानि हन्यात् पित्तासृजो वेगमुदीर्णमाशु ॥ सु० उ० ४५।३६

१९ आटरूषकादि क्वाथ[1]—अरूसे की जड की छाल, मुनक्का और हर्रे, इनके समभाग के क्वाथ मे चीनी तथा मधु डालकर पिलाने से कास, श्वास तथा रक्तपित्त रोग शान्त होते हैं।

२० खैर, प्रियगु, कचनार और सेमर के समभाग फूलो का चूर्ण ४–४ ग्राम मधु मिलाकर दिन मे ३–४ बार देना चाहिए।

२१. शखभस्म ५०० मि० ग्रा०, सुवर्णगैरिक १ ग्राम और दुग्धपाषाणपिष्टी ५०० मि० ग्रा० चीनी मिलाकर दिन मे ४ बार देना चाहिए।

२२. जामुन, आम और अर्जुन इन तीनो की छाल समानभाग में लेकर मोटा कूट ले। उसमे से ५० ग्राम लेकर ३०० मि० ली० जल मे रात मे भिगो दे और सबेरे मसलकर छानकर १०–१५ ग्राम चीनी मिलाकर पिलावे। इसी तरह सुबह का भिगोया शाम को पिलावे।

२३ रक्तचन्दन, मुलहठी और लोध, इनके समभाग का चूर्ण ५ ग्राम मधु मिला मिलाकर ५० मि० ली० तण्डुलोदक दिन मे ३ बार पिलावे।

२४ करञ्जफलमज्जा चूर्ण ३ ग्राम, सेंधानमक ½ ग्राम मिलाकर दही के पानी के साथ दिन मे ३ बार तीन-चार दिनो तक देवे।

२५. अति रक्तस्राव होने पर रोगी को तत्काल मारे गये बकरे अथवा एणमृग के रक्त में मधु मिलाकर पिलाना चाहिए। अथवा बकरी के ताजा निकाले हुए कच्चे यकृत् को पित्त के साथ खिलाना चाहिए।

२६ घोडे की लीद के स्वरस २० मि० ली० मे उतना ही मधु मिलाकर पिलावे।

२७ बथुआ के बीज का चूर्ण ३ ग्राम मधु से ३–४ बार प्रतिदिन दे।

२८ चौलाई के बीज का चूर्ण ३ ग्राम मधु से ३–४ बार दे।

२९ खैर, जामुन, अर्जुन, कचनार, शिरीष, लोध, विजयसार, सेमर और सहिजन, इन सबके फूल समानभाग मे लेकर, चूर्ण कर ४–४ ग्राम की मात्रा मे दिन में ३–४ बार मधु के साथ दे।

३०. ह्रीबेरादि क्वाथ—नेत्रबाला, नीलकमल, धनियाँ, रक्तचन्दन, मुलहठी, गुरुच, खश और निशोथ इनके विधिवत् बने क्वाथ में चीनी मिलाकर पिलाने से उग्र रक्तपित्त का सद्य शमन होता है।

३१. सिद्धयोग—उशीरादि चूर्ण, किराततिक्तादि चूर्ण, सुधानिधि रस, चन्द्रकला रस, रक्तपित्तान्तक रस, रक्तपित्तकुलकण्डन रस, प्रवालपञ्चामृत, सुवर्णगैरिक, प्रवाल-पिष्टी, मुक्तापिष्टी, शुक्तिभस्म, तृणकान्तमणिपिष्टी, स्वर्णमाक्षिकभस्म, सगजराहत-भस्म, बोलबद्ध रस, बोलपर्पटी, वासाघृत, शतावरीघृत, दूर्वादि घृत, उशीरासव, वासारिष्ट, समशर्कर लौह, वासावलेह, कूष्माण्डावलेह, एलादि वटी, वासाकूष्माण्ड-खण्ड, अर्कश्वर रस, रसामृत रस, शतमूल्यादि लौह आदि का रोगी के दोष-बल,

---

१ आटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथ सशर्कर।
मधुमिश्र. श्वासकासरक्तपित्तनिबर्हण ॥ च० चि० ४।६५

प्रकृति के अनुसार उचित मात्रा और अनुपान से आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए।

लाक्षणिक चिकित्सा

३२ रक्तपित्त के रोगी की तृषा में सुगन्धबाला, लालचन्दन, खस, नागरमोथा और पित्तपापडा डालकर पकाया हुआ जल पीने को दे या पित्तपापड़े का अर्क या सौंफ का अर्क या मिट्टी के घड़े में रखा जल पिलावे। अथवा—

३३. उशीरादि पेय, प्रियंग्वादि पेय या बरियार के क्वाथ में मूँग की दाल, धान का लावा, जौ, पीपर, खस, चन्दन और नागरमोथा डालकर निर्मित शृतशीत कषाय पीने को देवे।

३४. मूत्रमार्ग प्रवृत्त रक्तपित्त में पंचतृणमूल को या शतावर और गोखरू को अथवा पर्णीचतुष्टय को क्षीरपाक-विधि से पकाकर प्रति दिन २–३ बार दे।

३५ बकरी का दूध या अनार के फूलो का रस और मिश्री मिलाकर उत्तरबस्ति देने से रक्त बन्द हो जाता है।

३६ प्रियंगु, भुनी फिटकरी, लोध्र और रसौत के मिलित १ ग्राम चूर्ण को अड़ूसे के स्वरस और मधु से ३ बार रोज दे। इससे नासा-मुख-गुदा-योनि-मेढ़ू का रक्त रुक जाता है।

३७ गुदा के रक्तपित्त में—१ मोचरस का या २. वट के बरोह और कुनगी का अथवा ३ सुगन्धवाला, नीलकमल और सोंठ का क्षीरपाक करके पान कराना चाहिए। अथवा—

३८. ह्रीवेरादि क्वाथ, वासादि क्वाथ या उशीरादि चूर्ण के क्वाथजल को पिलाकर उसी जल से चावल या पेया पकाकर खिलाना चाहिए।

३९ कफानुबन्धी रक्तपित्त में यदि रक्त गाँठदार होकर कण्ठ में रुके, तो कमल के नाल का क्षार बनाकर १–१ ग्राम, विषम मात्रा में मधु घी से चटावे। अथवा—

४० कमलनाल, कमलकेशर, नीलकमलकेशर, पलास, प्रियगु, महुआ और विजयसार के मिलित क्षार को विषम मात्रा में मधु-घी मिलाकर चटावे।

४१ नासिकाप्रवृत्त रक्तपित्त में सहसा स्तम्भन न करे। इसके स्तम्भनार्थ—

४२ नीलकमल का फूल, गेरु, शख भस्म और सफेद चन्दन को चीनी के शर्बत मे पीस-छानकर रोगी को चित्त सुलाकर बूँद-बूँद नाक मे टपकावे। अथवा—

४३ आम की गुठली का रस, लजालू का रस, धाय का फूल, मोचरस और पठानी लोध, इनको चीनी के शर्बत में पीसकर नाक मे बूँद बूँद कर टपकावे।

४४ इसी प्रकार अलग-अलग—१ अगूर का रस, २ गन्ने का रस, ३ गाय का दूध, ४. दूर्वास्वरस, ५ प्याज का रस और ६ अनार की कली का रस बूँद बूँद कर टपकावे। अथवा—

४५. आँवले को चूर्ण कर घी में भूनकर पीसकर सिर पर लेप करे। यह लेप नाक से होने वाले रक्तस्राव को रोकता है।

४६ अतिप्रवृद्ध रक्तपित्त मे बोलपर्पटी, चन्द्रकला रस, तृणकान्तमणि पिष्टी प्रत्येक २०० मि० ग्रा०, स्वर्णगैरिक ½ ग्राम, लाक्षा चूर्ण ½ ग्राम की १ मात्रा मधु से चटाकर अरूसे का स्वरस २५ मि० ली० पिलावे।

४७ फिटकरी का फूला २५० मि० ग्रा०, राल चूर्ण ½ ग्राम, आंवले का चूर्ण १ ग्राम, प्रवालपिष्टी २०० मि० ग्रा० को वासाघृत से ३–४ वार देना चाहिए।

४८ सगर्भा के रक्तपित्त में सुवर्णमाक्षीक भस्म २०० मि० ग्रा०, तृणकान्तमणि पिष्टी २०० मि० ग्रा०, चन्द्रकलारस २५० मि० ग्रा०, प्रवालपिष्टी २०० मि० ग्रा० सितोपालादि चूर्ण ½ ग्राम की १ मात्रा मधु से दिन मे ४–५ बार देवे।

४९ अवरसत्त्व या नाजुक मिजाज रोगी को सगजराहत भस्म २५० मि० ग्रा०, प्रवालपिष्टी २०० मि० ग्रा०, तृणकान्तमणिपिष्टी २०० मि० ग्रा० की १ मात्रा मधु से या गुलकन्द से या आंवले के मुरब्बे से प्रति दिन ३–४ वार दे।

५० योनि मे दाह-कण्डू-रक्तस्राव होने पर शतधौत घृत का फाहा रखे। नस्य-पान या अभ्यग मे दूर्वादि घृत, जात्यादि घृत अथवा चन्दनादि तैल का प्रयोग करे तथा तृणकान्तमणिपिष्टी और प्रवालपिष्टी का उचित योग गुडूचीसत्त्व और मधु से ३–४ बार दे।

५१ नये तीव्र रक्तपित्त मे तृणकान्तमणिपिष्टी, प्रवालपिष्टी, वोलवद्ध रस और लाक्षा चूर्ण एव अमृतासत्त्व का योग वासा-स्वरस और मधु से दे।

व्यवस्थापत्र

ऊर्ध्वग रक्तपित्त मे

१ ३–३ घण्टे पर ४ बार

रक्तपित्तकुलकण्डन	५०० मि० ग्रा०
बोल पर्पटी	१ ग्राम
लाक्षा चूर्ण	४ ग्राम
प्रवाल पिष्टी	५०० मि० ग्रा०
शुद्ध स्वर्णगैरिक	२ ग्राम
तृणकान्त पिष्टी	५०० मि० ग्रा०

दूब के रस और मधु से। ४ मात्रा

२. प्रात -साय

कूष्माण्डखण्ड	२०–२५ ग्राम
अथवा—नारिकेल खण्ड	२०–२५ ग्राम
	१ मात्रा

बकरी या गाय के दूध से या शृतशीत जल से।

३ भोजनोत्तर

उशीरासव	४० मि० ग्रा०

समान जल मिलाकर पीना। २ मात्रा

४. प्रतिदिन चूसना—एलादि वटी ३-४ ग्राम

अधोग रक्तपित्त मे

१ ३-३ घण्टे पर ४ बार

कामदुघा रस	५०० मि० ग्रा०
बोल पर्पटी	१ ग्राम
स्वर्णमाक्षीक भस्म	५०० मि० ग्रा०
शुद्ध स्वर्णगैरिक	१ ग्राम
लाक्षा चूर्ण	२ ग्राम
मोचरस	४ ग्राम
	४ ग्राम

रसौत १ ग्राम और मधु मे।

२ भोजनोत्तर

लोध्रासव	४० मि० ली०
	२ मात्रा

समान जल से पीना।

३ प्रात -साय

उशीरादि चूर्ण	४ ग्राम
मधु से।	२ मात्रा

पथ्य

अन्न—पुराना अगहनी या साठी का चावल, गेहूँ, जौ, धान का लावा, मूँग मसूर।

शाक—परवल, लौकी, चौलाई, पतली मूली, प्याज, बथुआ, कचनार तथ सेमर का फूल।

मांस—हिरण, खरगोश, लावा, तीतर, बटेर और जागल जीव।

दुग्ध—बकरी या गाय का दूध, घी, मक्खन।

फल—बेदाना अनार, आंवला, खजूर, फालसा, सिंघाडा, कसेरू, भसीड कमलगट्टा, मीठा अगूर, मुनक्का, किशमिश, कच्चे नारियल का पानी, गन्ने का रस चीनी, मिश्री।

अपथ्य

आहार—कुलथी, उडद, सरसो, राई, लहसुन, सेम, कटु-अम्ल पदार्थ, ग मसाला, विरुद्ध भोजन, मछली, विदाही पदार्थ, मद्य।

विहार—क्रोध, धूप-सेवन, आग के पास रहना, स्वेदन, मैथुन, धूम्रपान रक्तमोक्षण, मल-मूत्रादि वेगो को रोकना, भय, व्यायाम, परिश्रम, पैदल चलना औ रक्तपित्त के निदान मे कहे गये विषयों का त्याग करना चाहिए।

कामला

परिचय—नेत्र, त्वचा, मुखमण्डल और नख का हल्दी जैसे रग का हो जाना, शरीर की शिथिलता, भोजन मे अरुचि, आलस्य और मन्द-मन्द ज्वर बना रहना, ये सब कामलारोग के लक्षण हैं।

निदान—१ अति स्त्री-संभोग, २. अम्ल-लवण का अधिक सेवन, ३ मद्य-प्रयोग, ४ मिट्टी खाना, ५. दिवाशयन, ६. तीक्ष्ण पदार्थ का प्रयोग, ७ विरुद्ध आहार, ८. असात्म्य सेवन, ९. वेगावरोध और १० पाण्डुरोगी का पित्तवर्धक पदार्थ खाना।

सामान्य लक्षण—१ नेत्र-त्वचा-मुख-नख का हरिद्रा वर्ण होना, २ मल-मूत्र का रक्तमिश्रित पीतवर्ण का होना, ३. शरीर का बरसाती मेढक जैसा पीला होना, ४. इन्द्रियो का अपना कार्य न करना, ५ दाह, ६. अपचन, ७. दुर्बलता, ८. शरीर-शैथिल्य, ९ अरुचि, १० तन्द्रा और ११ बलक्षय।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१ चरकसहिता चिकित्सा० १६।

२. सुश्रुत उत्तरतन्त्र ४४।

३. अष्टाङ्गहृदय निदान० १३।

४ ,, ,, चिकित्सा० १६।

५ माधवनिदान।

वक्तव्य—'कामला' को पित्तज और रक्तज विकारो मे गिना जाता है। कामला को पाण्डुरोग की प्रवर्धमानावस्था माना गया है। (१) चरक[1] ने पाण्डुरोगी द्वारा पित्तवर्धक पदार्थों का सेवन, (२) वाग्भट[2] ने पित्तोल्बण पुरुषो द्वारा पित्तवर्धक पदार्थों का अधिक सेवन, (३) सुश्रुत[3] ने किसी भी रोग से मुक्त होने पर पित्तवर्धक (अम्ल-तीक्ष्ण एव अपथ्य) पदार्थों का सेवन करना कामला का निदान कहा है। इस प्रकार **कामला एक पित्तप्रधान त्रिदोषज रोग है**। चरक[4] ने कामला को 'कोष्ठ-शाखाश्रया' कहा है। जिससे विद्वानो ने कामला के २ भेद माने हैं—१ शाखाश्रया कामला और २ कोष्ठशाखाश्रया कामला।

कामला के भेद : निदान की दृष्टि से

१ स्वतन्त्र कामला, २ परतन्त्र कामला, ३. पाण्डुरोग वढकर हुई कामला, ४ पाण्डुभेद कामला (हारीत), ५ अन्य रोग के उपद्रवस्वरूप कामला।

---

१ पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। च० चि० १६।३४

२ भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च। अ० हृ० नि० १३।१७

३ यो ह्यामयान्ते सहसाऽन्नमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम्।

करोति पाण्डुं वदनं विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च॥ सु० उ० ४४।११

४. कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता। च० चि० १६।१६

लाक्षणिक भेद

१. शाखाश्रया कामला तथा २. कोष्ठशाखाश्रया कामला।

शाखाश्रया कामला की संप्राप्ति

जब रूक्ष, शीत, गुरु तथा मधुर आहारो के सेवन से, व्यायाम न करने से तथा पुरीष आदि के वेगो को रोकने से वायु प्रकुपित हो जाती है और वह कफ के साथ मिलकर याकृतिक पित्तवाहिनी मे अवरोध उत्पन्न कर देती है, जिससे वह पित्त अन्त्रो मे न जाकर रक्त मे मिल जाता है और त्वचा मे एव नेत्रादि मे पहुँचकर उनमे हरिद्रावर्ण ला देता है। याकृतिक पित्त का वर्ण हारिद्र होता है।

कफ द्वारा पित्त के स्रोतस् के अवरुद्ध होने से पित्त के अन्त्रो मे न पहुँचने के कारण पिसे हुए तिल के वर्ण का पुरीष आता है। दूसरी ओर रक्त मे अधिक पित्त के कारण मूत्र अधिक गहरा हरिद्रावर्ण का होता है। होता यह है, कि पित्तदुष्टि-जनित अग्निमान्द्य से 'आम' बनता है, जिससे कफ मे पिच्छिलता बढकर अवरोध या सग उत्पन्न होता है और परिणामस्वरूप वायु पित्त को रक्त मे पहुँचा देती है। अत कामलारोग पित्तप्रधान होते हुए भी यह त्रिदोषज रोग है।[१]

कोष्ठशाखाश्रया कामला की सप्राप्ति

पाण्डुरोग या किसी अन्य कारण से रक्तकण दुर्बल हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे पित्तवर्धक आहार-विहार के सेवन से पित्त बढकर अपने उष्ण तथा तीक्ष्ण गुण से उन्हें तोडने लगता है, जिससे याकृतिक पित्त अधिक बनता है और यकृत् अपनी शक्ति के अनुसार इस पित्त को अन्त्रो मे भेजता है और कुछ अश रक्त के साथ भी मिलकर त्वचा आदि मे चला जाता है। ऐसी स्थिति मे मल का वर्ण भी हरिद्रावर्णी होगा और त्वचा, नेत्र एव मूत्र का भी। अत यह कोष्ठशाखाश्रया कामला का रूप है। चरक ने 'पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृङ्मास दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥' इस कथन से उक्त अभिप्राय को ही प्रकट किया है।[२]

वक्तव्य—(१) पित्तवर्धक पदार्थों के अधिक सेवन से बढा हुआ पित्त अपने प्राकृतिक आशय मे न जाकर शाखागत हो जाता है एव मार्ग के कफ से आवृत होने के कारण वह पुन कोष्ठ मे नही आता। इस प्रकार शाखाश्रित कामला मे पित्त कफ से आवृत होता है।

(२) कामला मे एव अन्य रोगो मे रक्तकणो के टूटने से मुक्त शोणवर्तुलि (Haemoglobine) से पित्तरक्ति (Bilirubin) भी अधिक मात्रा मे बनती है। रक्तप्रवाह में इसकी उपस्थिति से जो कामला होता है, उसे शोणाशनजन्य (Haemolitic) कामला कहते हैं। यह कामला स्वतन्त्र न होकर पाण्डु की प्रवृद्धावस्था-विशेष एव परतन्त्र है।

---

१ अ० हृ० चि० १६।४५–४८।
२ च० चि० १६।३४।

संप्राप्ति-चक्र
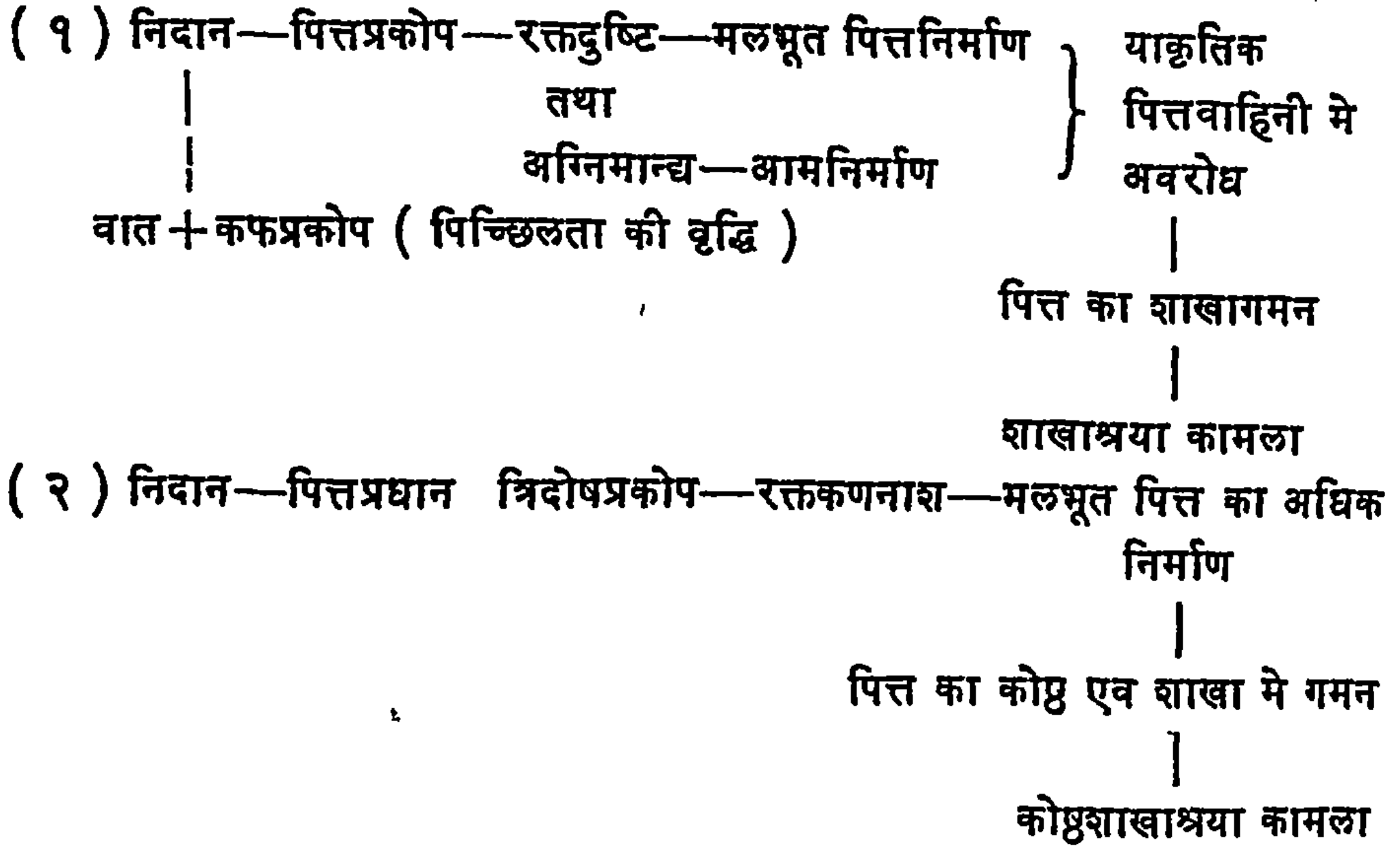
शाखाश्रित कामला के लक्षण

नेत्र, मूत्र, मुख, त्वचा मे हारिद्रवर्ण, पुरीष का श्वेतवर्ण, आटोप, विष्टम्भ, हृदय-प्रदेश मे भारीपन, दुर्बलता, मन्दाग्नि, पार्श्वशूल, हिक्का, श्वास, अरुचि और ज्वर होता है।[१]

कोष्ठशाखाश्रित कामला के लक्षण

नेत्र, मूत्र, नख, त्वचा एव मुख मे हरिद्रावर्ण, मूत्र तथा पुरीष रक्तमिश्रित पीतवर्ण, बरसाती मेढक जैसे शरीर का पीला होना, दाह, अपचन, दुर्बलता, थकावट, अरुचि और इन्द्रियो की शक्ति क्षीण होना, ये लक्षण होते हैं।[२]

कामला का असाध्य लक्षण[३]

जिस रोगी के मल-मूत्र कृष्ण एव पीत वर्ण के हो तथा जिमको शोथ हो गया हो अथवा जिसके नेत्र, मुख, मल, मूत्र और वमन रक्तवर्ण के हो, जिसे मूर्च्छा आती हो तथा जो दाह, अरुचि, प्यास, आनाह, तन्द्रा और मोह से ग्रस्त हो एवं जिसकी जठराग्नि और चेतना नष्टप्राय हो, वह कामला का रोगी असाध्य होता है।

शाखाश्रया कामला का चिकित्सासूत्र[४]

१ कामला के रोगी का सर्वप्रथम स्नेहन करना चाहिए। स्नेहन के लिए—

---

१ अ० हृ० चि० १६।४७–४८ ।
२ च० चि० १६।३५–३६ ।
३ च० चि० १६।३७–३९ ।
४ च० चि० १६।४०–४२ ।

(क) पञ्चगव्यघृत (अपस्मार), (ख) महातिक्तघृत (कुष्ठ) अथवा (ग) कल्याणघृत (उन्माद) का प्रयोग करना चाहिए।

२ स्नेहन के बाद तिक्त द्रव्यो से बने मृदु विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

३. स्नेहन और विरेचन प्रयोग के पश्चात् प्रशमन उपचार करना चाहिए।

४. वायु और कफ के शमन, अग्नि के दीपन, कफ के पाचन-विलयन तथा पित्त को कोष्ठ मे लाने के उपाय करने चाहिए।

५ शाखाश्रया कामला मे याकृतीय पित्तवाहिनी का मार्ग कफ से अवरुद्ध रहता है, अत (क) कफ का ह्रास कर मार्गावरोध दूर करने, (ख) पित्त की वृद्धि करने तथा (ग) वायु के निग्रह के लिए कटु-अम्ल-लवण-तीक्ष्ण एव उष्ण द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिए।[1]

६. पित्त के स्वस्थान (कोष्ठ) मे आ जाने पर, पित्त द्वारा मल के रञ्जित हो जाने पर तथा उपद्रवो के शान्त हो जाने पर सामान्य कामला रोग की चिकित्सा करनी चाहिए।

७ दोषवृद्धि, विष्यन्दन, पाक, स्रोतोमुख-विशोधन तथा वायु के निग्रह उपक्रमो से दोष को शाखा से कोष्ठ मे लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

चिकित्सा[2]

१ पित्त को कोष्ठ मे लाने के लिए रूक्ष, अम्ल और कटु रसवाले द्रव्यो के साथ मोर, तीतर और मुर्गे का मासरस खिलाना चाहिए।

२ आहार के साथ सूखी मूली के यूष या कुलथी के यूष का सेवन करावे।

३ मातुलुङ्गादि योग—बिजौरा या कागजी नीबू का रस ६ ग्राम, मधु ६ ग्राम, पीपर का चूर्ण ५०० मि० ग्रा०, मरिच ५०० मि० ग्रा० और सोठ का चूर्ण ५०० मि० ग्रा० मिलाकर दिन मे ३ बार सेवन करावे।

४ निशोथ का चूर्ण ४ ग्राम या इन्द्रवारुणीमूल चूर्ण ४ ग्राम अथवा सोठ का चूर्ण ३ ग्राम द्विगुण चीनी मिलाकर सवेरे-शाम खिलावे।[3]

५. अमलतास के फल का गूदा २ ग्राम और त्रिकटु चूर्ण २ ग्राम गन्ने के रस से २ बार दे।

६ कोष्ठ-शोधनार्थ इच्छाभेदी रस २५० मि० ग्रा० आधा गिलास शर्बत से दे।

७ अन्य उपचार और पथ्य सामान्य कामला चिकित्सा की भाँति करे।

सामान्य अथवा कोष्ठशाखाश्रया कामला की चिकित्सा

१ सर्वप्रथम निदान का परित्याग करना चाहिए।

२ महातिक्तघृत, पञ्चगव्यघृत, कल्याणघृत, हरिद्रादि घृत या द्राक्षादि घृत का

१ च० चि० १६।१३०–१३१।

२ च० सू० २८।३२।

३ च० चि० १६।१२८–१२९।

सेवन कराकर रोगी का स्नेहन करे, फिर उसे तिक्त रसवाले द्रव्यो का प्रयोग कराकर विरेचन करावे, तत्पश्चात् शमन चिकित्सा करे।

३ विरेचनार्थ (१) निशोथ का चूर्ण ६ ग्राम और १२ ग्राम चीनी मिलाकर खिलावे अथवा (२) इच्छाभेदी रस २५० मि० ग्रा० आधा गिलास शर्बत से देवे या (३) स्वर्णक्षीरी (भडभाड) का मूल, काली निशोथ, देवदारु बुरादा और सोंठ इन्हे ६–६ ग्राम लेकर कल्क करके २०० मि० ली० दूध और ८०० मि० ली० जल मे दुग्धावशेष पकाकर चीनी डालकर पिलाना चाहिए।

४. (१) त्रिफला का चूर्ण ६ ग्राम दिन मे १ बार प्रात दे अथवा त्रिफला का क्वाथ पिलावे या (२) गुडूची का क्वाथ या (३) दारुहल्दी का क्वाथ या (४) नीम की पत्ती का स्वरस अथवा क्वाथ शीतल कर चीनी मिलाकर प्रतिदिन प्रात पिलावे।

५ (१) दन्तीमूल का ६ ग्राम कल्क १२ ग्राम चीनी के साथ दिन में २ बार देवे या (२) निशोथ के चूर्ण की ३–३ ग्राम की मात्रा दूनी चीनी और त्रिफला क्वाथ से २ बार दे।

६. (१) पतली मूली का स्वरस ५० मि० ली० मे २० ग्राम चीनी मिलाकर २ बार दे या (२) गदहपुर्नामूल चूर्ण ६ ग्राम, मरिच चूर्ण ५०० मि० ग्रा०, चीनी ५० ग्राम में शर्बत बनाकर २ बार दे। (३) द्रोणपुष्पी का शाक खिलावे। (४) दारुहल्दी और हल्दी का चूर्ण या क्वाथ मधु से दे।

७ रोगी को पूर्ण विश्राम देना अत्यावश्यक है।

सिद्धयोग

८ 'नवायस लौह' आधा ग्राम, 'पुनर्नवा मण्डूर' आधा ग्राम, 'शख भस्म' २५० मि० ग्रा० की १ मात्रा पुनर्नवा स्वरस और मधु से देकर बाद मे फलत्रिकादि क्वाथ सवेरे और शाम पिलावे।

९ ज्वर रहने पर प्रात -साय 'सुदर्शन चूर्ण' ३–३ ग्राम सुखोष्ण जल से देवे।

१० 'योगराज' १ ग्राम की मात्रा दिन में ३ बार जल से देना चाहिए।

११ 'शिलाजतुवटक' आधा ग्राम की १ मात्रा सवेरे-शाम गोदुग्ध से देवे।

१२ 'धात्री लौह' आधा ग्राम दिन मे ३ बार मधु से देवे, बाद मे फलत्रिकादि क्वाथ पिलावे।

१३ कुमार्यासव, लोहासव, पुनर्नवासव या धात्र्यरिष्ट मि० ली० की १ मात्रा भोजनोत्तर २ बार समान जल मिलाकर पिलावे।

१४ 'आरोग्यवर्धिनी वटी', 'लोकनाथरस', 'यकृत्प्लीहारि लौह' 'कालमेघ-नवायस' 'हरिद्रादि घृत' 'द्राक्षादि घृत' का प्रयोग लाभप्रद होता है।

१५. शतपत्र्यादि योग—शतपत्र्यादि चूर्ण (अजीर्णाधिकार) २ ग्राम, मीठा सोडा २ ग्राम मिलाकर दिन मे २ बार जल से देवे।

१६. अञ्जन—द्रोणपुष्पी (गूमा) की पत्ती के रस के अभाव मे नीम की पत्ती के २–२ बूंद रस को आंख मे सवेरे-शाम डाले।

१७ निशाद्यञ्जन—हल्दी, गेरु और आंवले को समान मात्रा मे साफ पत्थर पर घिसकर नेत्र मे अजन करने से पीलापन दूर हो जाता है।

१८ नस्य—कर्कोट (ककोडा या खेखसा) की जड को पानी मे भिगोकर अथवा कडवी तरोई के सूखे फल को रात मे पानी मे भिगोकर, दूसरे दिन उसको छानकर नासिका में छोडने से पीलास्राव नाक से निकलकर नेत्र का पीलापन दूर होता है।

व्यवस्थापत्र

१. प्रात -सायं

पुनर्नवा मण्डूर	५०० मि० ग्रा०
नवायस लोह	५०० मि० ग्रा०
शखभस्म	२५० मि० ग्रा०
	१ मात्रा

दारुहल्दी चूर्ण ३ ग्राम और ६ ग्राम मधु से।

२. तत्पश्चात्—फलत्रिकादि क्वाथ ५० मि ली०

मधु मिलाकर पीना। १ मात्रा

३. ९ बजे व २ बजे दिन

अग्नितुण्डी वटी	२५० मि० ग्रा०
आरोग्यवर्धिनी	१ ग्राम
कासीस भस्म	२५० मि० ग्रा०
लोकनाथ रस	२५० मि० ग्रा०
मधु से।	२ मात्रा

४. भोजनोत्तर २ बार

लोहासव	५० मि० ली०
समान जल से पीना।	२ मात्रा

५ रात मे सोते समय

त्रिफला चूर्ण	६ ग्राम
जल से।	

पथ्य

१ पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, अरहर, मसूर, परवल, कच्चा केला, चौराई, पुनर्नवापत्र, द्रोणपुष्पी, पालक, बथुआ, लौकी, मूली, जीरा, लहसुन, हर्रे, सिंघाडा, आंवला, अनार, मुनक्का, किशमिश, अजीर, सेव, पका पपीता, सन्तरा, पका आम, मुसम्मी, डाभ, गोदुग्ध, गोघृत, तक्र तथा मक्खन—इनका रोगी की प्रकृति, दोष आदि का विचार कर प्रयोग करे।

अपथ्य

रक्तमोक्षण, धूम्रपान, वमन का वेग रोकना, स्वेदन, मटर, सेम, सरसो का शाक, उडद, तिलखली, पान, सुरा, दिवाशयन, दुष्ट जल, गुरु एव विदाही द्रव्य, मैथुन, क्रोध आदि अपथ्य हैं।

कुम्भकामला का लक्षण

जब कामला रोग पुराना हो जाता है अथवा चिकित्सा मे उपेक्षा करने के कारण शरीर मे रूक्षता आ जाती है, क्योकि पित्त मासधातु को भी दूषित कर देता है, अत शरीर के विभिन्न अवयवो मे शोथ हो जाता है और सन्धियो मे भेदन करने के समान पीडा होती है, तो इसे कुम्भकामला कहते हैं। यह कृच्छ्रसाध्य होता है।

वक्तव्य—कुम्भ का अर्थ घडा है। जैसे घडे मे भीतर खाली स्थान होता है, उसी तरह कोष्ठ मे भी भीतर खालीपन होने से कुम्भ शब्द का कोष्ठ के अर्थ मे प्रयोग किया गया है।

ज्ञातव्य है कि पहले शाखाश्रित पित्त कामला को उत्पन्न करता है और जब रोग पुराना हो जाता है, तो पित्त कोष्ठ मे चला जाता है। इसी स्थिति का नाम कुम्भकामला है। इसके लक्षण मे चरक[1] ने रूक्षता का होना, वाग्भट[2] ने शोथ की अधिकता होना और सुश्रुत[3] ने महाशोथ तथा पर्वभेद का होना बतलाया है। इसमे त्वचा का वर्ण पीत तथा हारिद्र और बरसाती मेढक के समान गाढा हरिद्रावर्ण होता है।

चिकित्सा

१ इसमे कोष्ठशाखाश्रया कामला की सपूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए।

२ स्वर्णमाक्षिक भस्म २५० मि० ग्रा० की १ मात्रा मधु से चाटकर गोमूत्र २५ मि० ली० प्रात-साय पीना।

३ शुद्ध शिलाजीत ५०० मि० ग्रा० की १ मात्रा मधु से चाटकर २५ मि० ली० गोमूत्र सबेरे-शाम पीना।

४ मण्डूर को समभाग सेंधानमक के ढेले के साथ गोमूत्र मे १ मास तक भिगोकर, फिर निकालकर उसका वारितर भस्म बनाकर ३०० मि० ग्रा० की मात्रा में दिन मे ३ बार मधु से चटावे। सबेरे-शाम फलत्रिकादि क्वाथ दे।

५ मण्डूर को बहेडे की लकडी की आँच पर आठ बार प्रतप्त कर गोमूत्र मे बुझावे। हर बार गोमूत्र बदल दे। फिर चूर्ण कर गोमूत्र की भावना देकर

१ कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला। च० चि० १६
२ उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला। अ० हृ० नि० १३
३ भेदस्तु तस्या खलु कुम्भसाह्व शोथो महास्तत्र च पर्वभेद। सु० उ० ४४

१५–२० गजपुट देकर भस्म बनाकर ३०० मि० ग्रा० की मात्रा मे दिन मे ३ बार मधु से देवे।

६ बिभीतक लवण (सुश्रुत) ५०० मि० ग्रा० की मात्रा मे दिन मे २ बार मट्ठे में मिलाकर पिलाना चाहिए।

७ प्राणवल्लभ रस २५० मि० ग्रा० की मात्रा सवेरे-शाम मधु से देवे।

८ हरिद्रादि घृत अथवा मूर्वादि घृत १० ग्राम की मात्रा मे सवेरे-शाम दूध से दे।

९ आमलक्यवलेह १० ग्राम सवेरे शाम गोदुग्ध से देना चाहिए।

१० पुनर्नवा मण्डूर १ ग्राम तक्र के साथ सवेरे-शाम देवे और रोगी को तक्र के पथ्य पर रखे।

११. नवायस लौह, धात्री लौह, निशा लौह, विडङ्गादि लौह, कामलान्तक लौह, पुनर्नवादि मण्डूर और त्र्यूषणादि लौह का रोगी के दोष, बल आदि का विचार कर प्रयोग करना चाहिए।

१२ सामान्य कामला का पथ्य इसमे भी देना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१. प्रात -मध्याह्न-साय

मण्डूर भस्म — ३ ग्राम
मधु से। — ३ मात्रा

वाद मे गोमूत्र या फलत्रिकादि क्वाथ ५० मि० ली० पीना।

२ ९ वजे व २ बजे

आरोग्यवर्धिनी वटी — १ ग्राम
सुखोष्ण दुग्ध या जल से। — २ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार

लोहासव — ४० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना। — २ मात्रा

४ रात मे सोते समय

अविपत्तिकर चूर्ण — ४ ग्राम
सुखोष्ण दुग्ध से।

हलीमक का लक्षण

जब पाण्डुरोग से पीडित व्यक्तियो का शारीरिक वर्ण हरा, श्याव तथा पीले वर्ण का हो जावे, बल-उत्साह का नाश हो जावे, तन्द्रा, मन्दाग्नि, मन्द-मन्द ज्वर, मैथुन में असमर्थता, अगमर्द, श्वास, तृष्णा, अरुचि और भ्रम उत्पन्न हो जावे, तो उसे हलीमक रोग कहते हैं।[१] इसकी उत्पत्ति वात और पित्त की प्रधानता से होती है।

१ माधवनिदान—पाण्ड्वादिरोग-निदान।

वक्तव्य—जब कुम्भकामला का रोगी मिथ्या आहार-विहार करता है, तो उससे वात तथा पित्त का प्रकोप होकर उस रोगी का शरीर उसके नेत्र-नख-त्वचा आदि हरे, पीले और नीले वर्ण के हो जाते हैं, तब उसे '**हलीमक**' कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से हलीमक को अवरोधजन्य पुराण कामला (Chronic obstructive jaundice) कह सकते हैं। क्योकि इस अवस्था में भी रोगी का वर्ण गहरा हरा या श्यावपीत हो जाता है। कई विद्वानो ने इसे क्लोरोसिस (Chlorosis) नामक रक्त का रोग माना है। **वाग्भट**[1] ने हलीमक का वर्णन **लोढर** नाम से किया है और **सुश्रुत**[2] ने इसे **लाघवक** एव **अलस** नाम भी दिया है। यह रोग शाखाश्रया कामला के अधिक दिनो तक बने रहने से हो जाता है।

चिकित्सासूत्र[3]

१ इसमे वात तथा पित्त-प्रधान दोष हैं। अत वात-पित्तनाशक पाण्डुरोग की चिकित्सा तथा कामला-नाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

२. महातिक्तघृत, पञ्चगव्यघृत, कल्याणघृत या गुडूचीस्वरस और गाय के दूध से सिद्ध भैस का घी पिलाकर रोगी का स्नेहन करने के पश्चात् निशोथ चूर्ण ४–६ ग्राम चीनी मिलाकर खिलाकर विरेचन कराना चाहिए।

३ मधुररस-प्रधान एव वात-पित्तनाशक आहार और औषध देवे।

४. यापनावस्तियो का, क्षीरवस्तियो का और साथ-साथ अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

५. जठराग्नि के बल को बढाने के लिए जीवनीयघृत, द्राक्षालेह और द्राक्षारिष्ट आदि का सेवन कराना चाहिए।

चिकित्सा

१ कालातिल, बरियार का बीज, मुलहठी, निर्बीज आँवला, निर्बीज हर्रा, निर्बीज बहेडा, हल्दी, दारुहल्दी, लौह भस्म (सहस्रपुटी या शतपुटी) और चीनी, इन सबका बारीक चूर्ण २०–२० ग्राम लेकर खरल में घोट कर मिला ले। दिन में ३ बार, १–१ ग्राम, मधु ६ ग्राम और घी ३ ग्राम के साथ दे।

२. अरुस, गुरुच, नीम की छाल, चिरायता और कुटकी प्रत्येक ५०–५० ग्राम लेकर भूसा जैसा कूटकर रख ले। २०–२० ग्राम दवा ½ लीटर जल मे पकावे, चौथाई बचे तो छानकर मधु मिलाकर सबेरे-शाम पिलावे।

३ उपर्युक्त क्वाथ मे समभाग आँवला, हर्रा और बहेडा मिला देने से वह **फलत्रिकादि क्वाथ** कहलाता है। यह क्वाथ अद्भुत लाभ करता है। हमने सैकडो रोगियो पर इससे सफलता मिलते देखी है।

---

१ अ० हृ० नि० १३।१८–२०।

२ ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्राक्षयान्वितो लाघरकोऽलसाख्य ।
तं वातपित्ताद्धरिपीतनीलं हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञा ॥ सु० उ० ४४।१४

३ च० चि० १६।१३५–१३७।

४ सिद्धयोग—पाण्डु-कामला की वात-पित्तनाशक औषधें देवे—ताप्यादि लौह, रोहीतक लौह, लोकनाथ रस, आरोग्यवर्धिनी, पुनर्नवा मण्डूर, नवायस लौह, अमृतारिष्ट और कुमार्यासव का प्रयोग करे।

५ पथ्य आदि पाण्डु और कामला की तरह जानना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१ दिन मे ३ बार

शतपुटीलौह भस्म	५०० मि० ग्रा०
नागरमोथा चूर्ण	६ ग्राम
	३ मात्रा

मधु से चटाकर खदिर क्वाथ ५० मि० ली० पिलावे।

२. भोजन के पूर्व

यवानीषाडव	१० ग्राम
बिना अनुपान	२ मात्रा

३. भोजनोत्तर

लोहासव	४० मि० ली०
समान जल से पीना।	२ मात्रा

४. रात मे सोते समय

आरोग्यवर्धिनी	१ ग्राम

दूध से।

अथवा—५. द्राक्षादि घृत २० ग्राम

दूध से दे।

पानकी

(Jaundice complicated with Diarrhoea)

सन्ताप, अतिसार, बाहर-भीतर पीतवर्णता और नेत्रो मे पाण्डुता का होना, ये पानकी के लक्षण हैं।

वक्तव्य—पाण्डुरोग की उपेक्षा से कामला, फिर कुम्भकामला, फिर हलीमक होता है। ये सभी पाण्डुरोग की प्रवर्धमानावस्थाएँ ही अपनी प्रबलता के कारण अलग-अलग नाम धारण करते हैं। इन्ही रोगो का पिछलग्गू रोग पानकी है। इन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, जैसे—(१) कुम्भकामला मे रूक्षता की अधिकता, (२) शरीर में महान् शोथ और (३) सन्धियों मे पीडा होती है। हलीमक मे बल तथा मासादि धातुओ का अधिक क्षय होता है। उसी तरह पानकी में अतिसार होना एक विशिष्ट लक्षण है। कुछ लोग हलीमक को ही पानकी कहते हैं।

एकोनविंश अध्याय

दाहरोग, वातरक्तरोग, रक्तगत वात तथा रक्तावृत वात

दाहरोग

परिचय—किसी बाहरी कारण (आग या धूप आदि) के सपर्क के बिना शरीरान्तर्गत आग्नेय तत्त्व पित्त की वृद्धि होने से शरीर मे होनेवाली जलन को दाह कहते हैं।

निदान—निदान की दृष्टि से दाह के दो भेद है—(१) वातिक और (२) पैत्तिक।

वातिक दाह-निदान

जब वायु अपने प्रकोपक कारणो से कुपित होकर पित्त को विकृत कर दाह उत्पन्न करता है, तो वह वातिक दाह होता है।

१ धातुक्षयज दाह वातज होता है, क्योकि धातुक्षय से वायु का प्रकोप होता है। अथ च—

२ आशयापकर्ष से होनेवाला दाह वातिक दाह होता है। जैसे—प्रकृतिस्थ दोष जब अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान मे चले जाते है और उससे जो विकार उत्पन्न होता है, वह आशयापकर्षजन्य कहलाता है।

जब शरीर मे पित्त सम हो, किन्तु वायु कुपित हो तो वह वायु रजक पित्त को खीचकर त्वचा मे ला देता है और त्वचा मे पहले से ही भ्राजक पित्त वर्तमान रहता है, इसलिए पित्त द्विगुण मात्रा मे हो जाता है, तो वह अपने उष्णगुण से त्वचा मे दाह उत्पन्न करता है।

पैत्तिक दाह का निदान

विधि-विपरीत मद्यपान, प्रकुपित रक्त, तृष्णानिरोध, आभ्यन्तर रक्तस्राव, व्रण होना और मर्माभिघात तथा पित्त का स्वय प्रकुपित होना, ये पित्तज दाह के कारण होते हैं।

वक्तव्य—पित्त पगु है और इसका प्रेरक वायु होता है—'समीरणोऽग्ने' (च० सू० १)। अत पित्त को सचालित करनेवाला वायु है तथा सपूर्ण इन्द्रियो से ग्राह्य विषयो को मस्तिष्क तक वायु ही पहुँचाता है—'सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा' (च० सू० १२) जिससे त्वचा आदि में दाह होने पर दाह का ज्ञान होता है। इस प्रकार पित्त स्वप्रकोपक कारणो से कुपित होकर वायु की सहायता से ही जिस दाह की उत्पत्ति करता है, वह पैत्तिक दाह है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. सुश्रुतसहिता उत्तरतन्त्र ४७। २. माधवनिदान। ३ योगरत्नाकर।
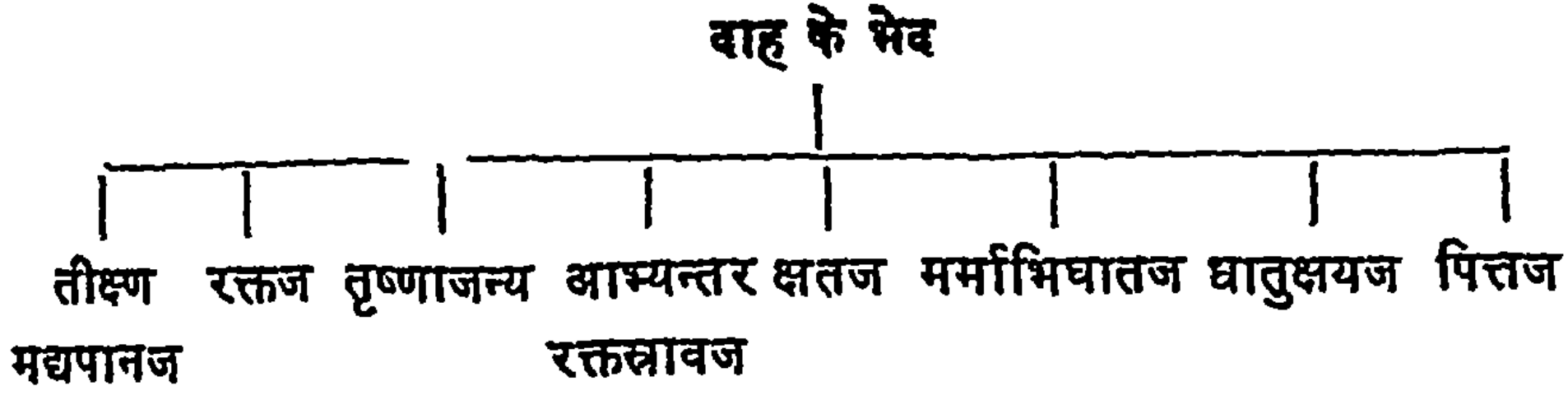
संप्राप्ति

किसी कारण से कफ के क्षीण होने पर वायु के वृद्ध तथा प्रकुपित होने से एव पित्त के सम होने पर बढा हुआ वायु शरीर के जिस-जिस प्रदेश मे पित्त को ले जाता है, वहाँ-वहाँ दाह होता है। जब पित्त स्वप्रकोपक कारणो से कुपित होकर वायु की सहायता प्राप्त कर शरीर मे सञ्चरण करता है, तब दाह होता है।

संप्राप्ति-चक्र
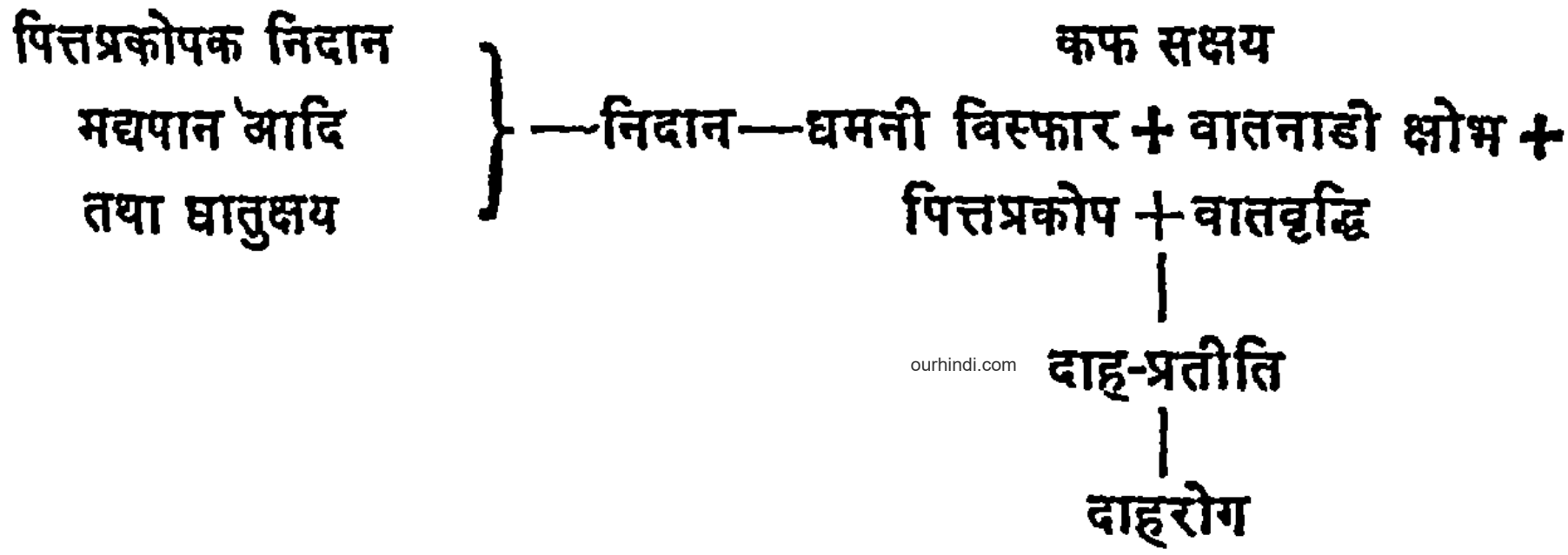
मद्यज दाह

विधि-विपरीत मद्यपान करने से उत्पन्न शरीरोष्मा जब पित्त और रक्त से मिलकर त्वचा मे पहुँचती है तो भयङ्कर दाह को उत्पन्न करती है।

रक्तज दाह

प्रकुपित रक्त सपूर्ण शरीर मे व्याप्त होकर दाह उत्पन्न करता है, जिससे रोगी के शरीर मे आग-सी लगी रहती है, प्यास बढ जाती है, शरीर लाल हो जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं, रोगी के शरीर तथा मुख से लोहे के सदृश गन्ध आती है और वह अपने को आग की लपटो से घिरा हुआ महसूस करता है।

पित्तज दाह

इसमे पित्तज्वर जैसे लक्षण होते हैं। जैसे—गर्मी अधिक लगना, नींद कम आना, वमन की प्रवृत्ति, कण्ठ आदि का सूखना, प्रलाप होना, मुख का स्वाद कडवा होना आदि लक्षण होते हैं।

तृष्णानिरोधज दाह

तृष्णा के वेग को रोकने से जलीय धातु के क्षीण हो जाने पर बढा हुआ पित्त शरीर के बाह्य एव आभ्यन्तर अवयवो मे दाह उत्पन्न कर देता है, जिससे गला, तालु तथा ओठ सूख जाते हैं और रोगी जीभ को बाहर निकालकर काँपने लगता है।

रक्तपूर्ण कोष्ठज या आभ्यन्तर रक्तस्रावज दाह

आभ्यन्तर रक्तस्राव के कारण होनेवाला दाह बर्दाश्त के बाहर होता है।

धातुक्षयज दाह

रस, रक्त आदि धातुओ का क्षय होने के कारण जो दाह होता है, उसे धातुक्षयज दाह कहते हैं। इसमे प्यास, मूर्च्छा, स्वरक्षीणता, अकर्मण्यता, अवसाद और कष्ट का अनुभव होता है।

क्षतज दाह

व्रण के कारण अन्न न खाने और अनेक तरह का शोक करने के कारण क्षतज दाह होता है। इसमे अन्तर्दाह, अत्यन्त प्यास, मूर्च्छा तथा प्रलाप होता है।

मर्माभिघातज दाह

हृदय, वस्ति और शिर आदि मर्मस्थानो मे चोट लगने से जो दाह होता है, उसे मर्माभिघातज दाह कहते हैं।

असाध्य लक्षण

इनमे मर्माभिघातज दाह असाध्य होता है तथा उपर्युक्त दाहो मे, जिनमे शरीर बाहर से शीत होने पर भी भीतर दाह का अनुभव हो। ये दाह असाध्य होते हैं।

चिकित्सासूत्र

१ सभी प्रकार के दाहजनक निदानो का परिवर्जन करना चाहिए।

२. बाह्य और आभ्यन्तर रूप से शीतल आहार-विहार-औषध और उपचार की व्यवस्था करनी चाहिए।

३ पित्तज्वर और रक्तपित्त रोग की औषध आदि की तरह व्यवस्था करे।

चिकित्सा

धातुक्षयज के अतिरिक्त सभी दाहो में पित्त दोष की प्रधानता रहती है। अत सभी का समान उपचार करना चाहिए।

१. प्रलेप—सर्वाङ्ग मे मलयचन्दन का लेप अथवा कच्चे आम को आग मे पका कर उसके पन्ने (स्वरस) का लेप करना चाहिए।

२. शयन-आसन—खिले हुए नीलकमलवाले ठण्डे बिस्तर पर या जलबिन्दु से भीगे कमलिनीपत्रो पर या कदलीदल पर सोये।

३ शीत उपचार—चन्द्रमा की शीतल किरणो का सेवन, मोतियो के हार का धारण और बर्फ के पानी का सेवन करना चाहिए।

४ परिषेचन तथा अवगाहन—सुगन्धबाला, खश, पदुमकाठ, सफेद चन्दन डालकर पकाये हुए जल मे केतकी, गुलाब, मौलिश्री आदि के इत्रो को मिलाकर उससे शरीर पर बफारा दें या सिञ्चन करे और-इसी जल को टब मे भरकर अवगाहन करावे।

५ वापीस्नान—शीतल, रमणीय, मनोहर सुगन्धित जल से पूरित तरणताल अथवा वावली मे शरीर मे श्वेतचन्दन के पतले द्रव का लेपन कर, कमलकोमलाङ्गी, कठोर उरोजोवाली, जलावगाहन मे प्रवीण, सुमधुरभाषिणी, कलाकुशल, साहित्यानुरागिणी युवतियो के स्पर्श-सुख का अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक स्नान कर दाह का शमन करे।

६. धारागृहशयन—फव्वारो के छिद्रो से निकलनेवाले शीतल जलकणो के स्पर्श से शीतल वायुवाले, सुगन्धित पुष्पो से अधिवासित एव गन्धोदक से अभिषिञ्चित भूमितलवाले, पुष्पमालाओ तथा अभिनव यौवना स्त्रियो से आवासित धारागृह मे शयन करे।

७ दाहशामक विविध प्रयोग—रमणीय वनप्रान्त, नील-रक्त-श्वेत कमलयुक्त सलिलाशय, कदलीवन, हास्य-गीत-कथाश्रवण, प्रिय-वयस्य गोष्ठी, पीनस्तनी, पीनोरु-जघना, प्रिय-अनुरागवती, आर्द्रवसना, शिथिलमेखला, गले मे गजरा और वेणी मे मोतीया की कलियो की माला धारण की हुई भावावबोध-कुशला, रसज्ञा रमणियो का सान्निध्य दाहशामक है।

औषध

८ दाह के स्थान मे शतधौत घृत को लगावे।

९. नीम की पत्ती को चटनी की तरह पीसकर थोडा पानी मिला किसी मिट्टी के पात्र में रखकर हाथों से मसले और उसके फेन को लगावे। अथवा बेर के पत्तो के फेन का लेप करे।

१० जौ का सत्तू, आंवला तथा आम का पन्ना एक साथ मथकर लेप करने से दाह का शमन होता है।

११ नागरमोथा, सुगन्धवाला, श्वेतचन्दन, लोध, खश, प्रियगु और नागकेशर का लेप लगाना चाहिए।

१२ पित्तपापडा, खश और नागरमोथे का क्वाथ चीनी डालकर पिलावे।

१३ चन्दनादि चूर्ण—चन्दन, खश, कूठ, नागरमोथा, आंवला, नीलकमल-फूल, मुलेठी, महुए का फूल, मुनक्का, खजूर, छोटी इलायची, ककडी बीज, खीरे का बीज, धनियाँ इन्हें समभाग मे लेकर चूर्णकर सबके बराबर चीनी मिलावे। इस चूर्ण को ३-३ ग्राम की मात्रा मे दिन मे ३ बार शीतल जल से दे।

१४ शालिपर्णी, पचतृणमूल या जीवनीयगण की औषधो से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए।

विशिष्ट उपचार

१५ रक्तज दाह के रोगी को लघन कराकर फिर पेया आदि के द्वारा तर्पण उपचार करे। यदि फिर भी दाह शान्त न हो, तो रोगी को जागल मासरसो से तृप्त कर बाहु तथा जघा मे स्थित लोहिता सिराओ का सिरावेध-विधि से वेधन करे।

१६. तृष्णानिरोधज दाह—मधुर-शीतल आहार, शर्करायुक्त जल और दुग्ध, शीतल, ईख का रस बर्फ मिलाकर तथा घी-चीनी मिला सत्तू पिलाना चाहिए।

१७. रक्तपूर्णकोष्ठज दाह—इसमें सद्योव्रण की तरह उपचार करे।

१८. क्षतज दाह में रुचिकर, मनपसन्द शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का सेवन, मित्रो की गोष्ठी, दुग्ध, मासरस का सेवन तथा पूर्वोक्त दाहशामक उपचार करे।

१९ तृष्णाशामक मद्य—सफेद जीरा, आर्द्रक, सोठ, सोचरनमक का चूर्ण तथा छोटी इलायची, दालचीनी के चूर्ण को डालकर आधा जल मिलाकर मद्य का पान करना तृष्णाशामक है।

व्यवस्थापत्र

१ दिन मे ४ बार

चन्द्रकला रस	५०० मि० ग्रा०
चन्दनादि चूर्ण	३ ग्राम
प्रवालपिष्टी	५०० मि० ग्रा०
गुडूचीसत्त्व	२ ग्राम
	४ मात्रा

गुलकन्द या आँवले के मुरब्बे के साथ।

२ रात मे सोते समय

यष्टयादि चूर्ण ६ ग्राम दूध से।

३. बहेडे की फलमज्जा का प्रलेप।

२१ धातुक्षयज दाह मे स्निग्ध, वातहर तथा रक्तपित्त की चिकित्सा करे।

व्यवस्थापत्र

१. दिन मे ३ बार

गुग्गुलु वटी	३ ग्राम
२–२ गोली गरम जल से।	३ मात्रा

२. रात मे सोते समय

यष्टयादि चूर्ण	६ ग्राम
दूध से।	१ मात्रा

३ अभ्यग

पचगुण तैल

पथ्य

जौ के सत्तू का घी-चीनी मिलाकर बनाया गया द्रव पेय, पुराना चावल, जौ, मूग, परवल, सिंघाड़ा, मुनक्का, किसमिश, खजूर, गोदुग्ध, घृत, मक्खन, फालसे का शर्बत, डाभ का पानी, अगूर का रस, गन्ने का रस आदि शीतल स्निग्ध पदार्थ पथ्य हैं।

अपथ्य

विरुद्ध अन्न-पान, क्षार-तीक्ष्ण-कटु-तिक्तरस द्रव्य, वेगावरोध, परिश्रम, व्यायाम, धूप में और आग के निकट रहना, हींग का सेवन, दही, मछली तथा पित्तवर्धक पदार्थ अपथ्य हैं।

वातरक्तरोग

परिचय—यह वात और रक्त, इन दोनों के दूषित होने से उत्पन्न होनेवाला एक रोग है, जो अधिकतर पैर के अगूठे से या हाथ की अगुलियों से प्रारम्भ होकर ऊपर से गुल्फ और जानु की सन्धियों में फैल जाता है। हाथ पैर में झिनझिनी, फड़कन, सूनापन, ददोरे उठ जाना और सन्धिस्थलों में दर्द होना, इस रोग के होने के सूचक लक्षण हैं।

निर्वचन और पर्याय[1]—इस रोग का वातव्याधि से निर्देश कर दिया है और सुश्रुत ने इसका पाठ वातव्याधि-प्रकरण में ही किया है, परन्तु चरक ने स्वतन्त्र अध्याय में इसका वर्णन किया है, क्योंकि वात की अपेक्षा इस रोग के निदान, दोष, दूष्य तथा सम्प्राप्ति में कुछ विशिष्टता है।

(१) इसमें वात तथा रक्त दोनों दुष्ट होकर सहकारिता से रोग को उत्पन्न करते हैं, इसलिए इसे वातरक्त, वातासृक और वातशोणित कहा जाता है। (२) यह रोग विशेषकर छोटी सन्धियों में होता है, अतः इसे खुड़वात कहते हैं (खुड़ का अर्थ छोटी सन्धि है)। (३) वात के बलवान होने से रक्त अधिक दूषित होकर इस रोग को उत्पन्न करता है, अतः इसे वातबलास (वातस्याधिक्येन बलवत्तरत्वात् शोणिते इति वातबलास) कहते हैं। (४) धनिकों को प्रायः होने से यह आढ्यवात कहलाता है।

सन्दर्भग्रन्थ—

१ चरकसंहिता चिकित्सास्थान २९।
२ सुश्रुतसंहिता निदानस्थान १।
३ सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान ५।
४ अष्टाङ्गहृदय निदानस्थान १६।
५ अष्टाङ्गहृदय चिकित्सास्थान २२।
६ माधवनिदान वातरक्त।

निदान

वातरक्त में साथ ही वात और रक्त का प्रकोप होता है तथा इस रोग में कुछ निदान वातप्रकोपक और कुछ रक्तप्रकोपक होते हैं। जैसे—

---

१. खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः। च० चि० २९।१२

वातप्रकोपक	रक्तप्रकोपक
१. कषाय-कटु-तिक्त तथा रूक्ष आहार ।	७. लवण-अम्ल-कटु-क्षार तथा स्निग्ध आहार ।
२. अल्पभोजन, अनशन ।	८. क्लिन्न, शुष्क और आनूपमास-सेवन ।
३. ऊँट या घोडे की अधिक सवारी करना ।	९ तिलकुट, मूली, कुलथी, उडद और सेम खाना ।
४ अधिक कूदना और तैरना ।	१० दही, काञ्जी, सिरका, तक्र और आसव ।
५ ग्रीष्मऋतु मे अधिक पैदल चलना ।	११ विरुद्ध आहार और अजीर्ण में भोजन।
६ अतिमैथुन, वेगधारण एव जागरण ।	१२ क्रोध, दिवाशयन, रात्रि-जागरण ।

१३ सुकुमारता,[1] अव्यायाम तथा आरामतलव स्वभाव होना ।

१४. मिथ्या आहार-विहार एव अधिक मिठाई खाना और मोटापा ।

१५. वैठे-ठाले रहना, कोई श्रम न करना और पैदल न टहलना अथवा घूमना ।

१६ किसी तरह की चोट लगना और शरीर का कभी शोधन न करना आदि ।

सम्प्राप्ति

वातप्रकोपक कारणो के सेवन तथा विदाही अन्न का अधिक सेवन करनेवाले व्यक्ति के भोजन का विदग्ध परिपाक सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देता है। वह दुष्ट रक्त खिसक कर नीचे पैरो मे इकट्ठा हो जाता है और प्रकुपित वायु से मिलकर वातरक्त को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—इस रोग मे यद्यपि वात तथा रक्त दोनो बढे होते हैं, फिर भी दोनो के दुष्ट होने पर भी वात के दोष होने से प्रवलता के कारण इस रोग को वात-रक्त[2] कहते हैं। बढे हुए दूषित रक्त के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और रुकी हुई वायु पुन सपूर्ण रक्त को दूषित कर देती है तव वातरक्त होता[3] है।

---

१ प्रायश्च सुकुमाराणां मिथ्यान्नसुखभोजिनाम् ।
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम् ॥
अभिघातादशुद्ध्या च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम् । च० चि० २९।७-८

२. तत्सम्पृक्त वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् । मा० नि०

३. वायु प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारित पथि ।
कृत्स्नं सन्दूषयेद् रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् ॥ च० चि० २९।२०

पूर्वरूप

१. पसीना अधिक आना या बिलकुल न आना, २ शरीर का काला पड जाना, ३. स्पर्श न मालूम होना, ४. क्षत होने पर अतिपीडा, ५. सन्धिशैथिल्य, ६. आलस्य, ७. शरीर मे थकावट, ८ जानु, जङ्घा, ऊरु, कटि, अंस तथा हाथ-पैरो की सन्धि मे पिडकाओ की उत्पत्ति और इनमे तीव्र पीडा, ९ अंगो मे फडकन और टूटन, भारीपन और सूनापन तथा खुजली, १०. सन्धियो मे वार-वार पीडा होना और पीडा का नष्ट हो जाना, ११. त्वचा मे विवर्णता होना और १२ त्वचा मे चकत्ते पड जाना, ये वातरक्त के पूर्वरूप हैं।
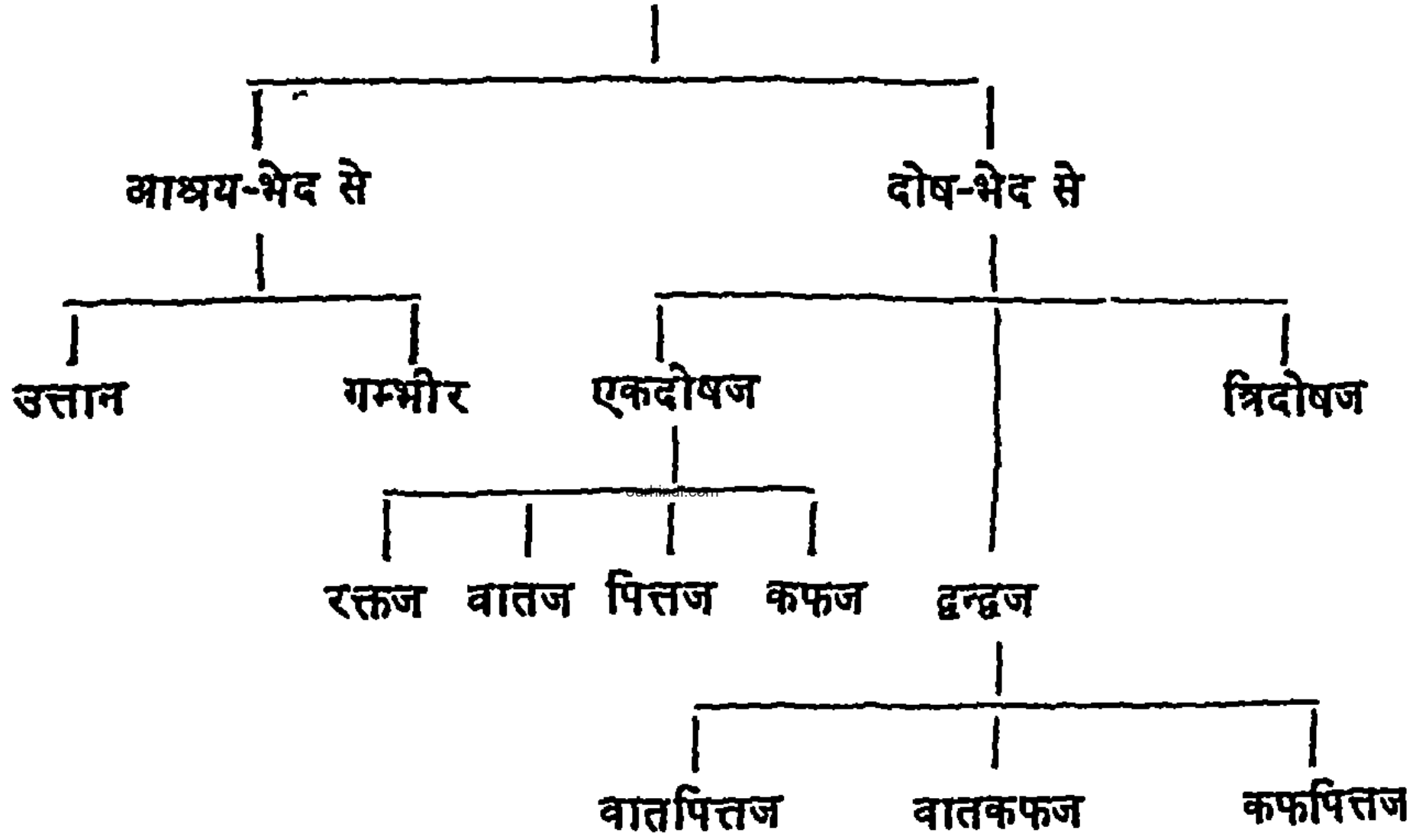
इस प्रकार आश्रय-भेद से २ और दोष-भेद से ८ प्रकार का वातरक्त होता है।

उत्तान वातरक्त का लक्षण

खुजली, दाह पीड़ा, खिंचाव, सूई चुभने जैसी पीडा, फडकन, अगो मे सिकुडन और त्वचा का वर्ण श्यावरक्त तथा ताम्रवर्ण का होना, ये उत्तान वातरक्त के लक्षण हैं।

गम्भीर वातरक्त का लक्षण

जकडन और कठोरता युक्त शोथ, शोथ मे भयकर दर्द, सन्धियो मे दाह, तोद, फडकन और पाक होना, ये गम्भीर वातरक्त के लक्षण हैं।

उत्तान-गम्भीर मिश्रित वातरक्त का लक्षण

वेगवान् वायु शरीर मे पीडा, दाह, सन्धि-अस्थि-मज्जा मे काटने जैसी वेदना उत्पन्न करती है, वह सन्धिस्थल को भीतर से टेढा करती हुई गति करती है और लगडापन या पङ्गुता उत्पन्न करती है।

वातादि दोष प्रधान वातरक्त के लक्षण

सिराओ मे तनाव, शूल, फडकन और सूई चुभने जैसी वेदना, शोथ मे कृष्णता, रूक्षता का घटना-बढना, धमनी-अगुली एव सन्धियो मे सकोच, अगो मे जकडन, अतिपीडा, आकुञ्चन (खिचाव) और शीतल आहार-विहार से द्वेष होता है। ये वातप्रधान वातरक्त के लक्षण हैं।

पित्तप्रधान मे विदाह, वेदना, मूर्च्छा, स्वेदाधिक्य, पिपासा, मद, भ्रम, लालिमा, ज्वर, टूटन, सूखना और उष्णता का अनुभव होता है।

रक्तप्रधान मे खुजली, क्लेदयुक्त शोथ, वेदना, तोद, चुनचुनाहट और त्वचा ताम्र वर्ण की होना।

कफप्रधान मे आर्द्रवस्त्र से ढका जैसा अनुभव होना, भारीपन, चिकनापन, शून्यता, मन्दवेदना होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—किन्ही दो दोषो से द्वन्द्वज और तीनो दोषो के मिलने से त्रिदोषज वातरक्त होता है। इनमे दोषानुसार लक्षण होते हैं। द्वन्द्वज और त्रिदोषज प्रकृति-समसमवायारब्ध होते हैं। अत शास्त्रकारो ने उनका अलग से लक्षण नही दिया है, यह उनकी परम्परा है।

साध्यासाध्यता

१ एकदोषज और नवीन वातरक्त साध्य होता है।

२ द्विदोषज याप्य होता है। एक वर्ष पुराना और उपद्रव रहित भी याप्य होता है।

३. त्रिदोषज और बहुत उपद्रव युक्त असाध्य होता है। और (१) जो वात-रक्त अगूठे से जानुसन्धि तक पहुँच गया हो (२) जिसमे त्वचा विदीर्ण हो गयी हो (३) जिसमे त्वचा से स्राव होता हो और (४) जो बलक्षय तथा मासक्षय आदि उपद्रवो से युक्त हो वह भी असाध्य है।

उपद्रव

१ निद्रानाश २ अरुचि ३ श्वास ४. मासकोथ ५. शिर.शूल ६ मूर्च्छा ७. मद ८ शरीर मे पीडा, ९ तृष्णा १० ज्वर ११. मोह १२ कम्पवात १३. हिचकी १४ पङ्गुता १५. वीसर्प १६ पाक १७ तोद १८ भ्रम १९. क्लम २०. अगुली-वक्रता २१ व्रण निकलना २२ जलन २३ हृदय-वस्ति-शिर मे विकार होना और २४ अर्बुद होना, ये उपद्रव हैं।

इनमे से अल्प उपद्रव रोगी याप्य और उपद्रवो से रहित रोगी साध्य होता है।

वातरक्त की असाध्यता का कारण

वायु प्रकुपित होकर शाखा एव सन्धियो मे जाकर रक्त के मार्ग को रोक देती है अर्थात् बन्द कर देती है और बढा हुआ रक्त भी वायु के मार्ग को रोक देता है।

इस प्रकार रक्त के मार्ग को वायु और वायु के मार्ग को रक्त रोक देता है, जिससे इतनी दारुण वेदना होती है कि रोगी मृत्यु की गोद मे सो जाता है।

चिकित्सासूत्र

१ वातरक्त के निदान का सर्वथा परित्याग करे।

२ गम्भीर उपद्रवो से रहित, बलवान्, जितेन्द्रिय और साधन सपन्न रोगी की चिकित्सा[1] करे।

३ अन्त परिमार्जन . (क) रक्तमोक्षण—रोगी के दोष तथा बल आदि का विचारकर स्नेहन-स्वेदन आदि समुचित पूर्वकर्म करके—(१) शृङ्ग (२) जोक (३) सूई (४) तुम्बी (५) पाछकर या (६) सिरावेध द्वारा रक्त का निर्हरण करना चाहिए। (७) यदि अगशोष हो, रूक्षता अधिक हो और वात-प्रधान वात-रक्त हो, तो रक्त न निकाले।

(ख) वात को पुरीष से आवृत जानकर, वार-वार मृदु विरेचन देना चाहिए अथवा घृत मिलाकर क्षीरवस्ति के प्रयोग से मल का निर्हरण करना चाहिए।[2]

४ बहि.परिमार्जन—पुल्टिस, परिषेक, प्रदेह, मालिश, वायुरहित मनोज्ञ विशाल गृह मे निवास, सुखकर शय्या और कोमल हाथो से सवाहन करना चाहिए।

५ विशिष्ट चिकित्सासूत्र—उत्तान (बाह्य) वातरक्त मे आलेप, अभ्यङ्ग, परिषेक और उपनाह द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

६. गम्भीर वातरक्त मे विरेचन, निरूहवस्ति और स्नेहपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

७ वातप्रधान मे घी-तेल-वसा और मज्जा के यथायोग्य पान, अभ्यग, अनुवासन वस्ति के प्रयोग तथा मन्दोष्ण पुल्टिस की सेंक देकर चिकित्सा करे।

८ रक्त एवं पित्त प्रधान मे विरेचन, घृतपान, दुग्धपान, परिषेक और अनुवासन वस्ति के द्वारा एव शीतल दाहशामक प्रलेपो द्वारा उपचार करना चाहिए।

९ कफप्रधान मे मृदुवमन, स्नेह, परिषेक और लघन का अल्प प्रयोग तथा उष्ण लेप लगावे।

सामान्य चिकित्सा

१. हरीतकी चूर्ण ३ ग्राम को ३ ग्राम गुड के साथ सवेरे-शाम दे।

२ दूध मे ५ पीपर पीसकर और प्रतिदिन ५-५ के क्रम मे बढाकर १० दिनो तक सेवन करे और १५ सख्या होने पर क्रमश घटावे तथा दूध-भात का पथ्य ले।

३ जीवनीयगण के कल्क तथा दूध से घृत पकाकर अभ्यङ्ग करना चाहिए।

---

१ बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्त चोपक्रमेद्। सु० चि० ५।६

२ निर्हरेद् वा मलं तस्य सघृतै क्षीरवस्तिभि.।
नहि वस्तिसमं किञ्चिद् वातरक्तचिकित्सितम्॥ च० चि० २९।८८

४ मोम, मजीठ, राल और अनन्तमूल के कल्क तथा दूध से सिद्ध पिण्डतैल का अभ्यङ्ग करे।

५. गुरुच का स्वरस, कल्क या क्वाथ २–३ महीने तक पीना लाभकर होता है।

६ अमलताश का गूदा, गुरुच और अरूस प्रत्येक १०–१० लेकर, क्वाथ बना १५ ग्राम एरण्ड तैल डालकर सवेरे-शाम पीना वातरक्त शामक है।

७ पीपल की छाल २० ग्राम लेकर क्वाथ बना प्रात-साय मधु मिलाकर पीना।

८. शुद्ध शिलाजीत ½ ग्राम की मात्रा मे गुडूची क्वाथ से सवेरे-शाम पीना चाहिए।

९ गोरखमुण्डी का चूर्ण ५ ग्राम, १० ग्राम घी, २० ग्राम मधु से प्रात-साय दे।

१० बाह्य प्रलेप—तिल को भूनकर गोदुग्ध से पीसकर लेप करे।

११ भेंड के दूध या घी का लेप करे या राल चूर्ण का घी के साथ लेप करे।

१२ शतधौत घृत लगावे या बलादि प्रलेप या गृहधूमादि लेप लगावे।

१३ तैल-प्रयोग—गुडूची तैल, मरिचादि तैल, महापिण्ड तैल, सुकुमारक तैल, मधुपर्ण्यादि तैल, महापद्मक तैल या खुड्डाकपद्मक तैल लगावे।

सिद्धयोग

१४. महामञ्जिष्ठादि क्वाथ इस रोग की बहुश परीक्षित औषध है।

१५. पटोल्यादि क्वाथ, लघुमञ्जिष्ठादि और हरीतकी क्वाथ २ बार दें।

१६ चूर्ण—निम्बादि चूर्ण, महासुदर्शन चूर्ण या भृगराज चूर्ण उत्तम हैं।

१७ गुग्गुलु—कैशोर, गोक्षुरादि या अमृता गुग्गुलु का प्रयोग करे।

१८ घृत—जीवनीय घृत, अमृतादि घृत या गुडूची घृत का प्रयोग करे।

१९ आसवारिष्ट—खदिरारिष्ट, मञ्जिष्ठारिष्ट, सारिवाद्यरिष्ट अथवा चन्दनासव दे।

२० वातरक्तान्तक रस, विश्वेश्वर रस, महातालेश्वर रस, सर्वेश्वर रस और पित्तान्तक लौह का यथायोग्य मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात' कैशोर गुग्गुलु — २ ग्राम / १ मात्रा

महामञ्जिष्ठादि क्वाथ ५० मि० ली० के साथ।

२. ९ वजे प्रात' व २ बजे अपराह्न

वातरक्तान्तक रस — २०० मि० ग्रा०

निम्बादि चूर्ण — ३ ग्राम / १ मात्रा

पीपल की छाल के ५० मि० ली० क्वाथ से।

३. भोजनोत्तर २ बार

खदिरारिष्ट	५० मि० ली०
समान जल से पीना ।	२ मात्रा

४. रात मे सोते समय
आरोग्यवर्धिनी १ ग्राम मन्दोष्ण गोदुग्ध से ।

५. अभ्यङ्ग—महामरिचादि तैल की मालिश करे ।

पथ्यापथ्य

पथ्य—पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, मसूर, करेला, परवल, बथुआ, आँवला, मुनक्का, किसमिस, मक्खन, घी, गाय-बकरी-भैंस का दूध, चना-गेहूँ की रोटी और दूध उत्तम पथ्य है ।

अपथ्य—उडद, कुलथी, सेम, तिल, दही, अम्ल-लवण कटुरसवाले द्रव्य, क्षारीय पदार्थ, उष्ण और विदाही पदार्थ अपथ्य हैं ।

रक्तगत वात

रक्तगत वात का लक्षण

रक्त मे वायु दूषित होने पर शरीर मे तीव्र वेदना, सन्ताप, विवर्णता, कृशता, भोजन मे अरुचि, समस्त शरीर मे अरुचि, समस्त शरीर मे फुन्सियो का होना, भोजन कर लेने पर शरीर मे स्तब्धता (जकड़न)[1] और व्रणो[2] की उत्पत्ति होना, ये रक्तगत वात के लक्षण हैं ।

वक्तव्य—कतिपय आचार्य रक्तवात नामक एक स्वतन्त्र रोग मानते हैं, जिसके दो भेद शास्त्रो मे वर्णित हैं—(१) रक्तगत वात और (२) रक्तावृत वात । प्रथम मे केवल वात विकृत होकर शुद्ध रक्त के सञ्चार मे बाधा डालकर रक्तविकृति के लक्षण उत्पन्न करता है तथा दूसरे मे प्रवृद्ध या दूषित रक्त के आवरण के कारण वायुविकार उत्पन्न होता है ।

चिकित्सा

१. एरण्डतैल २५ मि० ली० को २५० मि० ली० दूध मे पिलाकर विरेचन करावे अथवा निशोथ चूर्ण ४ ग्राम चीनी मिलाकर विरेचनार्थ खिलावे ।

२ शल्यविद् चिकित्सक द्वारा रक्तमोक्षण करावे । उसके पूर्वकर्म विधिवत् सपन्न कर रक्तमोक्षण करे और विधिवत् पश्चात्कर्म की व्यवस्था करे । अविदाही, शीतवीर्य आहार-विहार का सेवन करावे ।

३. शतधौतघृत, दशाङ्गलेप, निम्बपत्रकल्कफेन, बदरीपत्रफेन, चन्दनानुलेपन,

---

१ रुजस्तीव्रा ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥ च० चि० २८।३१

२ व्रणाश्च रक्तगे । सु० नि० १।२६

चन्दनादि तैलाभ्यङ्ग, कमल-पुष्प माला, मोतिया की कली की माला आदि दाहशामक उपचार तथा शीतल प्रदेहों का प्रयोग करे।

औषध

१ आंवला, कमलगट्टा, मुनक्का, गुलकन्द, आंवले का मुरब्बा, नारियल का जल, गन्ने का रस, सन्तरा आदि का सेवन कराये।

२. लोध, खश, सुगन्धवाला, नागकेशर, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, श्वेतचन्दन आदि शीतल एवं सुगन्धित द्रव्यों का भीतर-बाहर प्रयोग करे।

३. चन्द्रकलारस, महायोगराजरस, अमृता गुग्गुलु, वातरक्तान्तकरस, पद्मधरणयोग, रसमाणिक्य आदि का यथायोग्य मात्रा और अनुपान से प्रयोग करे[1]।

रक्तावृत वात

रक्तावृत वात का लक्षण

वायु के रक्त से आवृत होने पर सुइयां चुभने जैसी व्यथा, स्पर्श से द्वेष होना (स्पर्श बर्दास्त न होना) और स्पर्शज्ञानशून्यता[2] (स्पर्श का अज्ञान) एवं त्वचा और मांसपेशियों के मध्य में दाह तथा वेदना की अधिकता, लालिमायुक्त शोथ एवं मण्डल[3] (चकत्ते) होना, ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता निदानस्थान अध्याय १ में ४०-५० सन्दर्भ पर गयदास ने वातरक्त का अर्थ 'रक्तावृत वात' किया है।

चिकित्सा

जब वात ने रक्त से आवृत होकर रोग उत्पन्न किया हो, तो उस विकार में वातरक्त प्रकरण में कथित चिकित्सा-क्रम के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।[4]

वक्तव्य—वातरक्त की पूरी चिकित्सा इसी अध्याय में देखें। पथ्यापथ्य भी वातरक्त के अनुसार जानना चाहिए।

---

१ शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्। च० चि० २८।९२

२. सूचीभिरिव निस्तोद स्पर्शद्वेष प्रसुप्तता।
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते ॥ सु० नि० १।३३

३ रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम्।
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ॥ च० चि० २८।९३

४ शोणितेनावृते कुर्याद् वातशोणितकीं क्रियाम्। च० चि० २८।१९५

विंश अध्याय

तृष्णारोग, अतिसार तथा प्रवाहिका

तृष्णारोग

परिचय—बार-बार जल पीने की इच्छा होना और पानी पीने पर भी प्यास न मिटना तृष्णारोग कहलाता है।

निदान

तृष्णा में पित्त अपने उष्ण गुण से और वायु अपने रूक्ष गुण से शरीर के जलीय अंश को सुखा देते हैं। इसी अभिप्राय से चरक ने इस रोग के निदान में कुछ वातप्रकोपक तथा कुछ पित्तप्रकोपक कारणों का उल्लेख किया है—

वातप्रकोपक निदान—१ क्षोभ, २. भय, ३ श्रम, ४ शोक, ५ लंघन, ६. रूक्ष एवं शुष्क अन्न, ७ मद्य, ८. धातुक्षय, ९. रोगज कृशता और १०. वमन-विरेचन का अतियोग।

पित्तप्रकोपक निदान—१ क्षार, २. अम्ल, ३ लवण, ४. कटु, ५. उष्ण पदार्थ, ६. क्रोध करना और ७. सूर्य सन्ताप।

सन्दर्भ-ग्रन्थ—१. चरकसंहिता चिकित्सा० २२। २. सुश्रुतसंहिता उत्तर० ४८। ३ अष्टाङ्गहृदय निदान० ५। ४. अष्टाङ्गहृदय चिकित्सा० ६। ५. माधवनिदान।

संप्राप्ति

स्वप्रकोपक कारणों से कुपित वात तथा पित्त उदकवहस्रोतस् में जाकर उसके जल को सुखा देते हैं, जिससे शरीर में जलांश का क्षय हो जाता है और इस क्षय की पूर्ति के लिए तृष्णा होती है। पित्तप्रधान अथवा वातप्रधान कुछ रोगों में उपद्रव स्वरूप तृष्णा होती है, वह उपसर्गजा तृष्णा है।

संप्राप्ति-चक्र
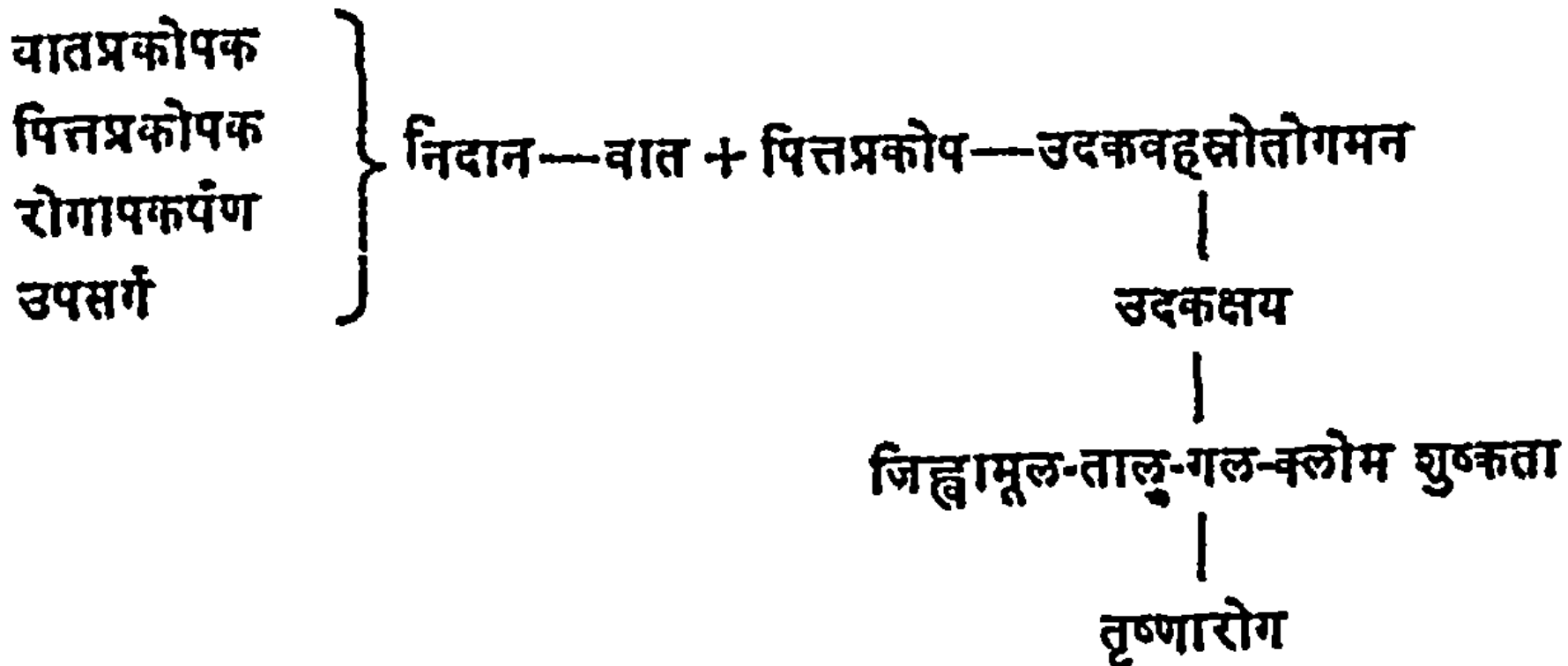
दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१. दोष—पित्त और वात।
२. दूष्य—उदक-जलीय धातु।
३. स्रोतस्—उदकवह (रस-रक्तवह)।
४ अधिष्ठान—तालु।

तृष्णा के भेद (सुश्रुत)

वक्तव्य—चरक ने कफजा, क्षतजा एवं अन्नजा को नहीं माना है, अपितु एक अन्य उपसर्गजा माना है। वाग्भट ने, वात-पित्त-कफ-सन्निपात-आम-क्षय तथा उपसर्ग से सात प्रकार की तृष्णा माना है।

पूर्वरूप

मुख का सूखते रहना तृष्णा रोग का पूर्वरूप होता है।

प्रत्यात्म लक्षण

निरन्तर जल पीने की इच्छा का बना रहना निजी अवश्यम्भावी लक्षण है।

सामान्य लक्षण

१ मुखशोष, २ स्वरभेद, ३ भ्रम, ४. संताप, ५ प्रलाप, ६ शरीर जकड़ना, ७. तालुशोष, ८ कण्ठशोष, ९ ओष्ठशोष, १० जिह्वाशोष, ११. संज्ञानाश, १२ जीभ निकालना, १३. अरुचि, १४ बहरापन, १५ मर्मपीडा, १६. शरीर मे शिथिलता का अनुभव होना।

(१) वातजा तृष्णा के लक्षण

१. निद्रानाश, २. शिर चकराना, ३ मुख सूखना, ४ मुखवैरस्य और ५. स्रोतो मे अवरोध।

(२) पित्तजा तृष्णा के लक्षण

१ मुख का तीतापन, २ शिर मे दाह, ३ शीतप्रियता, ४. मूर्च्छा, ५ नेत्र-मूत्र-पुरीष का पीलापन।

(३) कफजा तृष्णा के लक्षण

१ निद्राधिक्य, २. शरीर मे भारीपन, ३ मुख मीठा रहना और ४. शरीर का अधिक सूखना।

(४) क्षतजा तृष्णा के लक्षण

अत्यधिक रक्तस्राव एव पीडा के कारण प्यास अधिक लगती है।

(५) रसक्षयजा तृष्णा के लक्षण

१ दिन-रात बार-बार पानी पीते रहना, २ हृदय मे पीडा, ३. कम्पन ४. शरीर सूखना, ५ अगो मे सूनापन तथा ६ पानी की तरस बरकरार रहना।

(६) आमजा तृष्णा के लक्षण

१. अरुचि, २ आध्मान, ३. कफप्रसेक, ४ हृच्छूल, ५. मचली आना तथ ६ शरीर का ह्रास।

(७) अन्नजा तृष्णा के लक्षण

स्निग्ध, अम्ल, लवण, कटु तथा मात्रागुरु एव द्रव्यगुरु अन्न के सेवन से यह तृष्णा होती है।

(८) उपसर्गजा तृष्णा के लक्षण

ज्वर, प्रमेह, क्षय, शोष और श्वास आदि रोगो से ग्रस्त रोगियो मे उपद्रवस्वरूप जो तृष्णा होती है, वह उपसर्गजा कहलाती है। यह शरीर को सुखा डालती है और अत्यधिक कष्ट देनेवाली होती है।

असाध्यता के लक्षण

किसी भी तृष्णा की अधिकता और निरन्तरता, रोगी की कृशता, वमन होना और भयङ्कर उपद्रवो का होना, ये तृष्णा के असाध्य लक्षण हैं।

चिकित्सासूत्र

१. निदान का परिवर्जन प्रथम उपचार है।

२ बलवान् रोगी को विधिवत् वमन-विरेचन कराकर शोधन और दुर्बल रोगी का शमन-उपचार करे।

३ दीपक की लौ पर जलाई हुई हल्दी की गाँठ से जिह्वा के नीचे की सिरा का दाह करे।

४. लेप—चन्दन, कपूर, खश आदि शीतल द्रव्यो को पीसकर शरीर मे लेप लगावे।

५. स्नान-अवगाहन—शीतल जल से भरे टब मे बैठना और डुबकी लगाना चाहिए।

६. जलसिक्त खश की टट्टी लगे या फव्वारा लगे आवास मे निवास करे।

७ कूलर की ठण्डी हवा दे या सुगन्धित इत्र मिले जल से भीगे पखे की हवा दे।

८ गोदुग्ध एव गोघृत, फलो के शीतल रस, घी-चीनी मिले सत्तू का घोल दे।

९. चन्द्रलार्द्रप्रियाश्लेष, कौमुदी, शिशिर-मन्द अनिल, मधुर इत्र तथा रत्नाभरण तृषाशामक हैं।

१० तालुशोष निवारणार्थ विजौरा नीबू से रस या आँवले के रस का गण्डूष धारण करावे।

११ आँवले के चूर्ण का मुख मे कवल धारण तथा घर्षण करावे।

सामान्य चिकित्सा

१ शीतल जल—तृणपञ्चमूल या श्वेतचन्दन और खश का षडङ्गपरिभाषा-नुसार बनाया हुआ जल मिश्री मिलाकर थोडा-थोड़ा पीते के लिए देवे।

२ धनिया का अथवा कसेरु, सिघाडा, कमलगट्टा का शीत कषाय मिश्री मिलाकर दे।

३ मधुर (अष्टवर्ग आदि) जीवनीय, शीतवीर्य और तिक्तरस द्रव्यो से क्षीर-पाक विधि से पकाये हुए दूध मे चीनी मिलाकर पिलावे तथा उसी दूध से मालिश एव परिसेचन करे।

४. नस्य—स्त्री के दूध मे मिश्री मिलाकर नस्य दे अथवा ईख के रस का नस्य दे।

५ लेप—जामुन-आमड़ा-वेर-वर-पीपर पाकड-गूलर की गीली छाल, खट्टी वेर, खट्टा अनार, श्वेतचन्दन, खश, इन्हें समभाग लेकर महीन पीसकर घी मिलाकर ललाट आदि मे लेप करे।

६. गण्डूष—गोदुग्ध, ईख का रस, शर्बत, मधु, सिरका, बिजौरा नीबू के रस का गण्डूष धारण करे।

७. अर्क—सौंफ-अजवायन-पुदीना-श्वेतचन्दन का अर्क, बरफ का जल या एलेक्ट्राल पिलावे।

विशिष्ट चिकित्सा

८ वातज में—१ गुड+दही पिलावे। २. गुरुच का स्वरस मधु के साथ देवे। ३ वातनाशक शीतल अन्नपान दे। ४ जीवनीय गण के द्रव्यो से सिद्ध दुग्ध-घृत का प्रयोग करे।

९ पित्तज मे—१. पके गूलर का रस या क्वाथ या शीत कषाय पिलावे या २ मुनक्का, श्वेत चन्दन, पिण्ड खजूर और खश से पकाये गये जल मे मधु मिलाकर पिलावे या ३ काकोल्यादि गण, उत्पलादि गण, सारिवादि गण या जीवनीयगण की औषधो से क्षीरपाक-विधि से पकाया गया दूध पिलावे। ४ धान के लावा का सत्तू चीनी-घी मिलाकर पिलावे।

१०. कफज में—१ नीम की पत्ती का काढा बना सेंधानमक मिलाकर आकण्ठ पिलाकर वमन करावे। २ वेल की छाल, अरहर की जड, धावा का फूल, पीपर, पिपरामूल, चव्य, चीता, सोठ और कुश की जड, इनका फाण्ट या क्वाथ बनाकर थोडा-थोडा पिलाना चाहिए।

११. क्षतज मे—१. वेदना के शमन का उपचार करे। २. अधिक रक्तस्राव होने पर मासरस या ताजे रुधिर का पान करावे। ३ कसेरु, सिंघाडा, कमल, कमल की जड, केला और ईख की जड से सिद्ध किया हुआ जल या क्वाथ पीने को दे।

१२ क्षयज मे—दूध की लस्सी, मासरस और मधु के शर्बत का सेवन करावे या

अपथ्य

स्वेदन, धूम्रपान, व्यायाम या अग्नि-सेवन, अम्ल-लवण-कटु-कषाय रसवाले द्रव्य स्त्री-संभोग, तीक्ष्ण पदार्थ, गुरु भोजन, ये सब अपथ्य हैं।

अतिसार

परिचय—गुदामार्ग से जलबहुल मल का बार-बार परित्याग होना अतिसार कहलाता है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान मे इस रोग को डायरिया (Diarrhoea) कहते हैं। यह पुरीषवहस्रोतस् का रोग है। जब कोष्ठ मे अधिक मलसञ्चय होता है तो वह अतिसार द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१ चरक० चि० १९। सुश्रुत० उत्तर० ४०। ४ अष्टाङ्ग० नि० ८, चि० ९।

सामान्य निदान

(क) १. मात्रागुरु, स्वभावगुरु, सस्कारगुरु भोजन, २ अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अतिउष्ण, अतिशीत, अतिद्रव, अतिस्थूल भोजन, ३ विरुद्धाशन, अध्यशन, अपक्व अन्न तथा विषमाशन। (ख) स्नेहन-स्वेदन (पूर्वकर्म) तथा शिरोविरेचनातिरिक्त पञ्चकर्म के अतियोग या मिथ्यायोग। (ग) विषप्रयोग। (घ) भय-शोक आदि आदि मानसिक भाव। (ङ) दूषित जल एव दूषित मद्य का अतिमात्रा मे पान। ऋतुविपर्यय और सात्म्यविपर्यय। (छ) अत्यधिक जलक्रीडा तथा मूत्रादि वेग-धारण और (ज) कृमि, अर्श, ग्रहणी, अजीर्ण रोग।

निर्वचन—'अति' उपसर्गपूर्वक 'सृ' धातु से अतिसार शब्द बना है। 'अति' का अर्थ है—अधिक और 'सृ' का अर्थ है—सरण, निकलना, बहना। इस प्रकार अतिसार का अर्थ है—(गुदमार्ग से) अधिक मात्रा एवं अधिक सख्या में द्रवमल का निकलना। डल्हण ने 'अतिसरणम् अतिसार', मधुकोषकार ने 'गुदेन बहुद्रवसरणम् अतिसार'; शार्ङ्गधर ने 'अतीव सरत्यतिसारे गुदेन' तथा सुश्रुत ने 'शकृन्मिश्रो वायु-नाऽध' प्रणुन्न सरत्यतीवातिसारं तमाहु' ऐसा निर्वचन किया है।

संप्राप्ति

अपने प्रकोपक कारणो से प्रदुष्ट जलीय धातु (रस-जल-मूत्र स्वेद-मेद-कफ-रक्त आदि) पाचक अग्नि को मन्द करके मल के साथ मिलकर वायु के द्वारा प्रेरित होकर गुदमार्ग से प्रचुर मात्रा में बाहर निकलती है। इस घोर व्याधि को अतिसार कहते हैं।

संप्राप्ति-चक्र

गुरु, अतिस्निग्ध
आदि निदान } —जलीयधातु का प्रदूषण—अग्निमान्द्य की उत्पत्ति एव
मल-मिश्रण + विकृत

जल-मिश्रित दूध पिलावे। इसमे शोषरोग मे कथित औषधो का प्रयोग करना चाहिए।

१३ आमज में—१. गरम जल मे सेंधानमक मिलाकर आकण्ठ पिलाकर वमन करावे। २ पिप्पल्यादि गण की दीपनीय औषधो के साथ बेल की छाल और वच समान भाग मे मिलाकर क्वाथ बनाकर पिलावे।

१४. अन्नज मे—१ पतली पेया पिलाकर मदनफल चूर्ण ३–४ ग्राम चीनी से देकर वमन करावे। २ लाजसत्तू मे घी-चीनी मिलाकर ठण्डे जल मे घोलकर पिलाना चाहिए।

१५. मद्यज मे—अर्धजल-मिश्रित मद्य मे थोडा खट्टे अनारदाने का चूर्ण और थोडा सेंधानमक मिलाकर थोडा-थोडा पिलाना चाहिए।

१६ अति रूक्ष तथा दुर्बल रोगी की तृष्णा मे—गोदुग्ध थोडा-थोडा पिलाना चाहिए।

१७. स्निग्धाहारज तृष्णा मे—मालपूआ, हलवा आदि खाने से जो तृष्णा हो तो गुड का शर्बत दे।

सिद्धयोग

१८ रसादि वटी, रसादि चूर्ण (दोनो योगरत्नाकर), लोकेश्वर रस, महोदधि रस और कुमुदेश्वर रस का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१ ३–३ घण्टे पर ४–५ बार

कुमुदेश्वर रस	५०० मि० ग्रा०
जहरमोहरा पिष्टी	१ ग्राम
मधु से।	५ मात्रा

अनुपान—१ लालचन्दन, अनन्तमूल, मोथा, छोटी इलायची, नागकेशर मिलित ५० ग्राम चूर्ण को २ लीटर जल मे अर्धावशिष्ट पकाकर रख ले और चीनी मिलाकर थोडा-थोडा दवा खिलाकर पिलावे।

२. दिन मे ५-६ बार—एलादिवटी १-१ गोली या आलूबुखारा या आँवला चूसे।

३ भोजन के बाद—अविपत्तिकर चूर्ण ४ ग्राम मे २ मात्रा बनाकर दूध से दे।

पथ्य

धान का लावा सत्तू बनाकर, पेया, विलेपी, मण्ड, मूँग, मसूर, चने का यूष, बेर, कूष्माण्डखण्ड, नारिकेलखण्ड, आँवले का मुरब्बा, गुलकन्द, खजूर, अनारदाना, महुआ का फूल, बिजौरा या कागजी नीबू, कच्चे नारियल का जल, छोटी इलायची, पुदीना, पुराना शालिचावल, जौ, परवल, लौकी, केला का फूल और मधुर तथा तिक्त पदार्थ पथ्य हैं।

वातातिसार लक्षण

इसमे अरुणवर्ण, झागयुक्त, रूक्ष और आम मल थोडी-थोडी मात्रा मे बार-बार पीडा और आवाज के साथ निकलता है।

पित्तातिसार लक्षण

इसमे पीला, नीला या हल्के लाल रग का मल निकलता है एवं रोगी को तृष्णा, मूर्च्छा, सर्वाङ्ग मे दाह तथा गुदपाक होता है।

कफातिसार लक्षण

इससे पीडित व्यक्ति को रोमाञ्च हो जाता है तथा उसके रोगटें खडे हो जाते हैं। वह सफेद, गाढे, कफ युक्त, दुर्गन्धित एव शीतल मल का त्याग करता है।

सन्निपातज अतिसार लक्षण

इसमे आनेवाला मल शूकर की चर्बी तथा मास के धोवन के सदृश तथा सभी दोषो के रूपों से युक्त होता है और यह कृच्छ्रसाध्य होता है।

शोकज अतिसार : निदान-सम्प्राप्ति-लक्षण

धननाश, बन्धुनाश आदि आपदाओ के कारण शोकसतप्त, अतएव अल्प भोजन करने वाले मनुष्य के अतिवाष्पत्याग (नेत्र-नासा तथा गले से निकलने वाले जल-स्राव) से उत्पन्न ऊष्मा उसकी कोष्ठस्थित पाचकाग्नि को दूषित करके रक्त को भी क्षुभित करता है। इस प्रकार क्षुभित एव गुञ्जाफल के समान वर्ण वाला रक्त मल रहित या मल युक्त, निर्गन्ध या सगन्ध होकर गुदामार्ग से निकलता है। यह शोकोत्पन्न अतिसार कष्टसाध्य होता है।

आमातिसार लक्षण

अन्न के न पचने के कारण प्रकुपित दोप कोष्ठ, रक्तादि धातु तथा मलो को दूषित करके अनेक वर्णों से युक्त शूल सहित मल को बार-बार निकालते हैं। इसे आमातिसार कहते हैं।

रक्तातिसार लक्षण

पैत्तिक अतिसार से पीडित रोगी जब अम्ल-लवण-कटु-क्षार-तीक्ष्ण पदार्थों का निरन्तर और अधिक मात्रा मे सेवन करता है, तो पहले से ही क्षुब्ध आन्त्रिककला-गत केशिकाओ के विदीर्ण हो जाने से मल के साथ रक्त भी आने लग जाता है। इसको रक्तातिसार कहते हैं।

असाध्य लक्षण

१ पके जामुन के समान स्निग्ध कृष्णवर्ण, २. यकृत् खण्ड के समान गहरे कत्थई रग का, ३ पतला, ४ घृत-तैल वसा-मज्जा-वेशवार-दूध दही तथा मास धोये हुए जल के समान वर्ण वाला, ५ अञ्जनवत् कृष्ण, ६ नील अरुण वर्ण, ७ पिसे हुए

अपानवायु की
|
अतिसार रोग—गुदा से द्रवमल का ।

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१ दोष—वातप्रधान।

२. दूष्य—पुरीष एवं जलीय धातु रस आदि ।

३ स्रोतस्—पुरीषवह ।

४. अधिष्ठान—पक्वाशय ।

५. स्रोतोदुष्टि लक्षण—अतिप्रवृत्ति ।
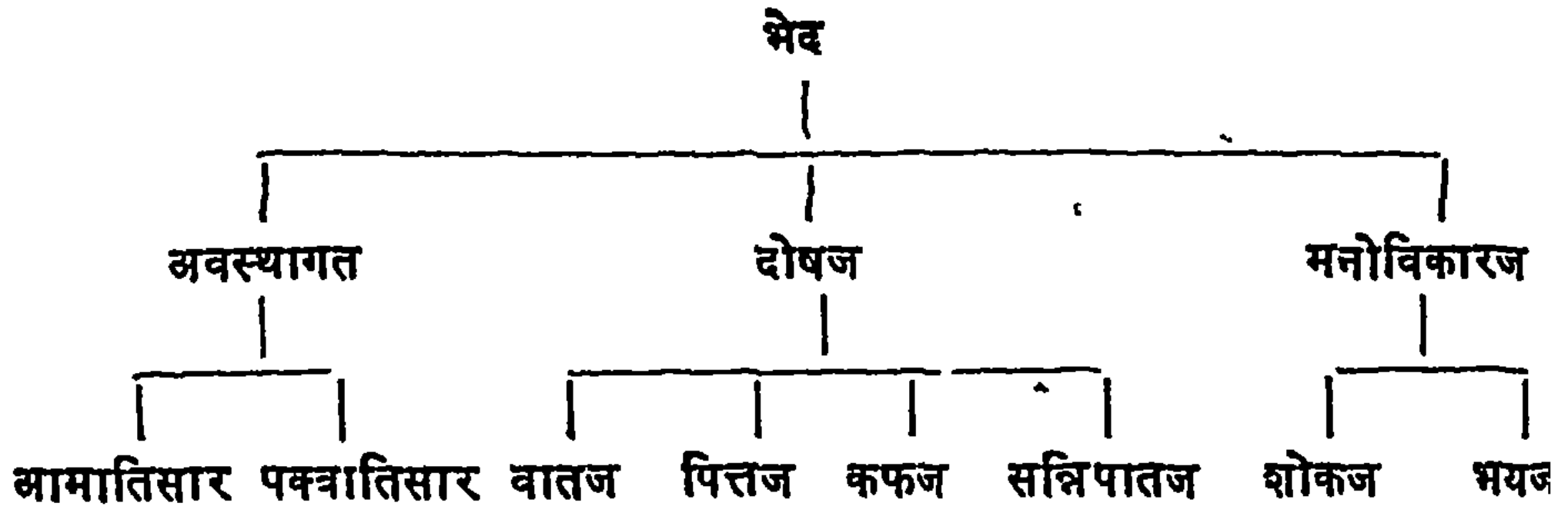
संहिताग्रन्थानुसार ६ भेद

चरक और वाग्भट	सुश्रुत
१ वातज	वातज
२ पित्तज	पित्तज
३ कफज	कफज
४ सन्निपातज	सन्निपातज
५ शोकज	शोकज
६ भयज	आमज

वक्तव्य—चरक और वाग्भट ने 'आमज' को दोषज मे मानकर पृथक् उल्लेख नही किया है। यद्यपि 'भयज' और 'शोकज' भी वातातिसार मे अन्तर्भाव योग्य है, क्योकि 'काम-शोक-भयाद् वायु (प्रकुप्यति)' तथापि लक्षण, सज्ञा एव चिकित्सा भेद होने से पृथक् कहा है। सुश्रुत ने 'भयज' को वातातिसार मे गतार्थ माना है और शोकज तथा आमज को हेतुविपरीत चिकित्सायोग्य के दृष्टिकोण से पृथक् बतलाया है।

पूर्वरूप

१. हृदय-नाभि-गुदा-उदर तथा कुक्षिप्रदेश मे सूचीवेधनवत् पीडा, २ अगो मे शिथिलता, ३ अधोवायु की रुकावट, ४ मलावरोध, ५ आध्मान तथा ६ भोजन का परिपाक न होना, ये अतिसार के पूर्वरूप हैं।

काले अञ्जन के समान कृष्णवर्ण, ८ स्निग्ध एव नानावर्ण, ९ मयूरपिच्छ के समान चन्द्रिकायुक्त, १०. घन, ११ मुर्दे के समान गन्धवाला, १२. मस्तुलुङ्ग-सदृश, १३. सुगन्धित, १४. सडा हुआ और १५ अधिक मात्रा मे मल का आना, ये असाध्य लक्षण हैं।

१६ तृष्णा-दाह-नेत्रो के सामने अन्धेरा छाना, श्वास-हिक्का-पार्श्वशूल-अस्थि-शूल-मूर्च्छा-अरति और इन्द्रियमोह से ग्रस्त अतिसारी असाध्य होता है।

१७ जिसकी गुदवलियाँ पक गई हो, जो क्षीण हो, जो प्रलाप करता हो, वह असाध्य है।

१८ जिसकी गुदवलियाँ सकुचित न हो, पेट फूल गया हो, गुदपाक होने पर भी जिसमे गरमी न रह गयी हो, वह असाध्य है।

१९ श्वास-शूल-पिपासा एव ज्वर से ग्रस्त तथा वृद्ध रोगी असाध्य होता है।

आम-पक्वमल लक्षण

वात आदि दोषो के लक्षणो से युक्त मल यदि अत्यन्त दुर्गन्धित एव पिच्छिलता युक्त हो और जल मे डूब जाये, तो उसे आममल कहते हैं। जिसमे इसके विपरीत (दुर्गंध, पिच्छिलता का अभाव और जल मे तैरना) लक्षण हो एव शरीर तथा कोष्ठ मे हलकापन विशेषरूप से पाया जाय, तो उसे पक्व-मल समझना चाहिए।

सापेक्ष निदान

	शोकज अतिसार	रक्तातिसार	रक्तपित्त
१	रक्त मलयुक्त होता है।	रक्त मलयुक्त होता है।	अनिवार्य नहीं।
२	रक्त अल्प मात्रा मे रहता है।	रक्त अधिक मात्रा मे हो सकता है।	रक्त अधिक मात्रा मे हो सकता है।
३.	जीवरक्त के लक्षण हो सकते हैं।	हो सकते हैं।	जीवरक्त के लक्षण नही होते।
४	रक्त गुदामार्ग से ही आता है।	रक्त गुदामार्ग से ही आता है।	रक्त गुदा-मुख-नासिका आदि से भी आता है।
५	मानसिक उपचार से लाभ।	मात्र पित्तशामक एव स्तम्भक से लाभ।	पित्तनाशक चिकित्सा लाभकर।

आमातिसार और प्रवाहिका

आमातिसार	प्रवाहिका
१. अनेक धातुओ का क्षरण होता है।	केवल कफ का क्षरण होता है।
२. मलत्याग के समय शूल होता है।	मलत्याग के पूर्व ऐंठन होती है।
३ मल की मात्रा अधिक होती है।	मल की मात्रा कम होती है।
४. अपक्व अन्न भी गिरता है।	अपक्व अन्न नही गिरता।

अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी

अतिसार	प्रवाहिका	ग्रहणी
१ प्रवाहण नहीं ।	प्रवाहण अवश्य ।	प्रवाहण नही ।
२ मल कभी-२ कफयुक्त ।	मल सदा सकफ ।	मल कभी-२ सकफ ।
३. द्रवमल अधिक एव वारम्वार ।	मल कम, किन्तु वारम्वार ।	द्रवमल वारम्वार और अन्नयुक्त ।
४ पुरीष अधिक ।	पुरीष की मात्रा कम ।	मलसञ्चय होनेपर शौच-प्रवृत्ति ।
५ कार्श्य विशेष नही ।	कार्श्य विशेष नही ।	कार्श्य विशेष ।
६ जिह्वापाक नही ।	जिह्वापाक नही ।	जिह्वापाक ।
७. पक्वाशयसमुत्थ ।	पक्वाशयसमुत्थ ।	ग्रहणीसमुत्थ ।
८ रक्त निकल सकता है ।	रक्त निकल सकता है ।	प्राय नही निकलता ।
९ शोथ उपद्रवस्वरूप ।	शोथ नही ।	शोथ उपद्रवस्वरूप ।
१०. आशुकारी ।	आशुकारी ।	चिरकारी ।

चिकित्सासूत्र

१ अतिसार मे सर्वप्रथम आमातिसार है या पक्वातिसार, यह पहचान करे ।

२ आमातिसार हो, तो हरीतकी चूर्ण ५ ग्राम देकर या एरण्डतैल १५ ग्राम दूध मे पिलाकर विरेचन कराना चाहिए, फिर लघन, पाचन और दीपन उपचार करे ।

३. पञ्चकोल आदि पाचन औषधो के क्वाथ से सिद्ध यूप या यवागू पिलावे ।

४ यदि आमातिसार मे रोगी को शूल, आध्मान आदि हो, तो पिप्पली चूर्ण और सेंधा नमक से युक्त मन्दोष्ण जल आकण्ठ पिलाकर वमन कराना चाहिए ।

५ वमन कराने के वाद लघु द्रव आहार यूप-मण्ड-लाजमण्ड-फ़ुशरा आदि देवे ।

६ यदि मल स्वय निकल रहा हो, तो उसे पहले रोकना नही चाहिए और यदि दस्त लगकर मल न निकल रहा हो, तो हरीतकी चूर्ण ५ ग्राम देकर मल को प्रवृत्त करे ।

७ जो रोगी अधिक द्रव तथा मात्रा मे अधिक मल का त्याग करता हो, उसे पिप्पली चूर्ण तथा सैन्धव लवण युक्त मन्दोष्ण जल आकण्ठ पिलाकर वमन कराकर लघन कराना चाहिए, पश्चात् पाचन औषध देनी चाहिए ।

८ यदि रोगी अति दुर्बल हो, दस्त वहुत होते हो और पाचन औषध देने पर उसकी मृत्यु होने का सन्देह हो, तो उसे सग्राही औषध देनी चाहिए ।

९ यदि दस्त के वेग तीव्र हो, तो दवा की मात्रा आधी कर के ६–७ वार दिन भर मे दे ।

१० यदि अपानवायु तथा मल के निकलने मे रुकावट हो, तो रोगी को अजादुग्ध दे ।

११ पक्वाशय वायु का स्थान होने से अतिसार चिकित्सा मे (आम पाचन के पश्चात्) पहले वायु का उपचार करे, फिर पित्त और कफ का क्रमश उपचार करे।

१२. निराम अतिसार का निश्चय होने पर सग्राहक औषध देनी चाहिए।

आमातिसार चिकित्सा

१ **हरीतक्यादि चूर्ण**—घी मे भुनी छोटी हर्रे और हीग, अतीस, कालानमक और मीठावच का चूर्ण कर ३–३ ग्राम की मात्रा दिन में ३ बार मन्दोष्ण जल से देवे।

२ **धान्यपचक क्वाथ**—धनिया, सोठ, नागरमोथा, सुगन्धवाला और कच्चे बेल फल, समभाग का क्वाथ दिन मे ३ बार पिलाना चाहिए।

३ **पेय जल**—बच और अतीस डाल कर षडगपरिभाषा से पकाया जल पिलावे।

४ **दीपन-पाचनगण**—त्रिकटु, चित्रकमूल, सज्जीखार, कालानमक, आंवला, इन्द्र-जौ, सोठ, विडग, दालचीनी, छोटी लाइची, अदरख, शीतलमिर्च, शख भस्म, कुचला शुद्ध इनका अकेले प्रयोग करे।

५ **सिद्ध औषधें**—शिवाक्षारपाचन चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण, रसोनादि वटी, गन्धक वटी, शख वटी, सजीवनी वटी, बिल्वादि चूर्ण, बचादि क्वाथ और वराट भस्म का उचित मात्रा मे प्रयोग करना चाहिए।

वातातिसार चिकित्सा

१ इसमे दीपन-पाचन और वातानुलोमन ग्राही औषधो का प्रयोग करे।

२ **पञ्चमूलादि चूर्ण**—वृहत्पञ्चमूल, वरियार, सोठ, धनियाँ, नीलोफर और बेल की गिरी, समभाग का चूर्ण ४–४ ग्राम की मात्रा दिन मे ३–४ बार मट्ठे से देवे।

३ **बचादि क्वाथ**—बच, अतीस, नागरमोथा और इन्द्रजौ का क्वाथ ३ बार पिलावे।

४ **पथ्यादि क्वाथ**—हरीतकी, देवदारु, बच, सोठ, नागरमोथा, अतीस और गुरुच, समभाग का क्वाथ दिन मे ३ बार देना शीघ्र लाभकर है।

५. **सिद्ध औषधें**—अगस्तिसूतराज, कनकसुन्दर और हिंगुलवटी का प्रयोग उत्तम है।

पित्तातिसार चिकित्सा

१ पित्तशामक और दीपन-पाचन औषध एव आहार-विहार का सेवन करे।

२ चीनी मिलाकर चिरायता, इन्द्रजौ, नागरमोथा और रसौत का क्वाथ पिलावे।

३ **बिल्वादि क्वाथ**—बेलगिरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, सुगन्धवाला और अतीस समभाग लेकर २० ग्राम का क्वाथ बनाकर सवेरे-शाम पिलावे।

४ तालीशादि चूर्ण, गगाधर चूर्ण, शख भस्म, कामदुघा रस, सूतशेखर रस, शुक्तिभस्म, इनमे से रोगी की दृष्टि से अनुकूलता का विचार कर दिन मे ३ बार अनार के शर्बत से औषध दे।

५ मधुकादि चूर्ण—मुलहठी, कायफल, लोध, अनार का वक्कल इनके सममाग का चूर्ण ४–४ ग्राम दिन में ३ वार तण्डुलोदक से दे।

कफजातिसार चिकित्सा

१ कफशामक, पाचन और ग्राही औषध का प्रयोग करना चाहिए।

२ पथ्यादि क्वाथ—हर्रें, चित्रकमूल, कुटकी, पाठा, वच, नागरमोथा, कोरया की छाल और सोंठ का क्वाथ बनाकर पिलाना चाहिए।

३ चव्यादि क्वाथ—चव्य, अतीस, नागरमोथा, कच्चा बेल, सोंठ, इन्द्रजौ, कोरया की छाल और हर्रें, इनके सममाग का क्वाथ कर दिन में ३–४ वार पिलाना चाहिए। २० ग्राम की १ मात्रा।

४. हिंग्वादि चूर्ण—भुनी हींग, कालानमक, सोंठ, कालीमिर्च, पीपर, हर्रें, अतीस और वच, समभाग का चूर्ण कर ३–३ ग्राम तीन समय दे।

५ सिद्ध औषधों में लोकनाथ रस, लक्ष्मीविलास रस, जातीफलादि चूर्ण, आनन्दभैरव रस, अगस्तिसूतराज तथा लवणादि चूर्ण का उचित मात्रा में दिन भर में ३–४ वार सेवन करावे।

त्रिदोषज अतिसार चिकित्सा

१. इनमें त्रिदोषनाशक औषध-आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए।

२ समङ्गादि क्वाथ—लज्जावन्ती, अतीस, नागरमोथा, सोंठ, सुगन्धवाला, धाय के फूल, कोरया की छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, इन्हें सममाग में लेकर २०–२० ग्राम का क्वाथ बनाकर, दिन में ३ वार पिलाना अति लाभकर है।

३ पञ्चमूलादि क्वाथ—बृहत् पञ्चमूल के सभी द्रव्य, वरियार की जड़, बेलगिरी, गुरुच, नागरमोथा, सोंठ, पाठा, चिरायता, सुगन्धवाला, कोरया की छाल, इन्द्रजौ, इनके समभाग का क्वाथ २–३ वार प्रतिदिन पिलावे।

४ सिद्ध योग—पीयूषवल्ली रस, अमृतार्णव रस, कुटजावलेह, कपित्थाष्टक, जातीफलादि चूर्ण आदि को रोगी के बलानुसार मात्रा में दे।

रक्तातिसार चिकित्सा

१ रक्तातिसार में वेदनास्थापक तथा रक्तस्थापक औषध-आहार का प्रयोग करे।

२ मोचरस चूर्ण १० ग्राम लेकर क्षीरपाक-विधि से दूध पकाकर प्रयोग करे।

३. बकरी का दूध मधु-चीनी मिलाकर पिलावे और उसी के साथ गीला भात खिलावे।

४ बिल्वादि कल्क—बेलगिरी, नागरमोथा, धाय के फूल, पाठा, सोंठ और मोचरस, समभाग में लेकर चूर्णकर ३–३ ग्राम चीनी के साथ ३–४ वार प्रतिदिन देवे।

सन्दर्भ ग्रन्थ—१ सुश्रुत उत्तर० ४०। २. चरक चि० १९ मे छिटपुट। ३. अष्टाङ्गसग्रह चि० ११। ४. शार्ङ्गधरसं०। ५ भावप्रकाश। ६ मा० नि०।

स्वतन्त्र प्रवाहिका-निदान

१ दूषित जल, दूषित आहार, आर्द्र वायु, सीडन वाले स्थान मे निवास।

२ अतिसार के सभी निदान प्रवाहिका के भी निदान हैं।

३ मिथ्या आहार-विहार, विरुद्धाशन अध्यशन, विषमाशन आदि।

४ वातप्रकोपक तथा कफप्रकोपक सभी निदान तथा अधिक गरमी पडना, तिलकुट या डालडा की बनी पूडी-मिठाई खाना आदि।

परतन्त्र प्रवाहिका-निदान

५ यह अतिसार के कारण जब परतन्त्र रोग के रूप मे होता है या अन्य किसी रोग के बाद होता है, तब इसका निदान इसके पूर्व का रोग होना।

६ दोष या लक्षण की दृष्टि से इसके ४ भेद किये गये हैं, उनमे कफजा का निदान स्नेह (घी-तेल) का अधिक प्रयोग, वातजा का रूक्षाहार और पित्तजा तथा रक्तजा का तीक्ष्ण एवं उष्ण पदार्थ का सेवन है।

सामान्य संप्राप्ति

पहले मिथ्या आहार-विहार से अग्निमान्द्य होता है तथा कफ की वृद्धि होती है एव वायु (समान + अपान) का प्रकोप होता है। साम कफ पिच्छिल होने से आँतो की दीवारो मे चिपका रहता है। प्रकुपित वायु कफ को पुरीष के साथ बाहर निकालता है और इसके लिए प्रवाहण (जोर लगाकर कांखना) करना पडता है, जिससे आँतो मे कृथन या कर्तनवत् पीडा होती है तथा इस प्रवाहिका रोग की उत्पत्ति होती है।
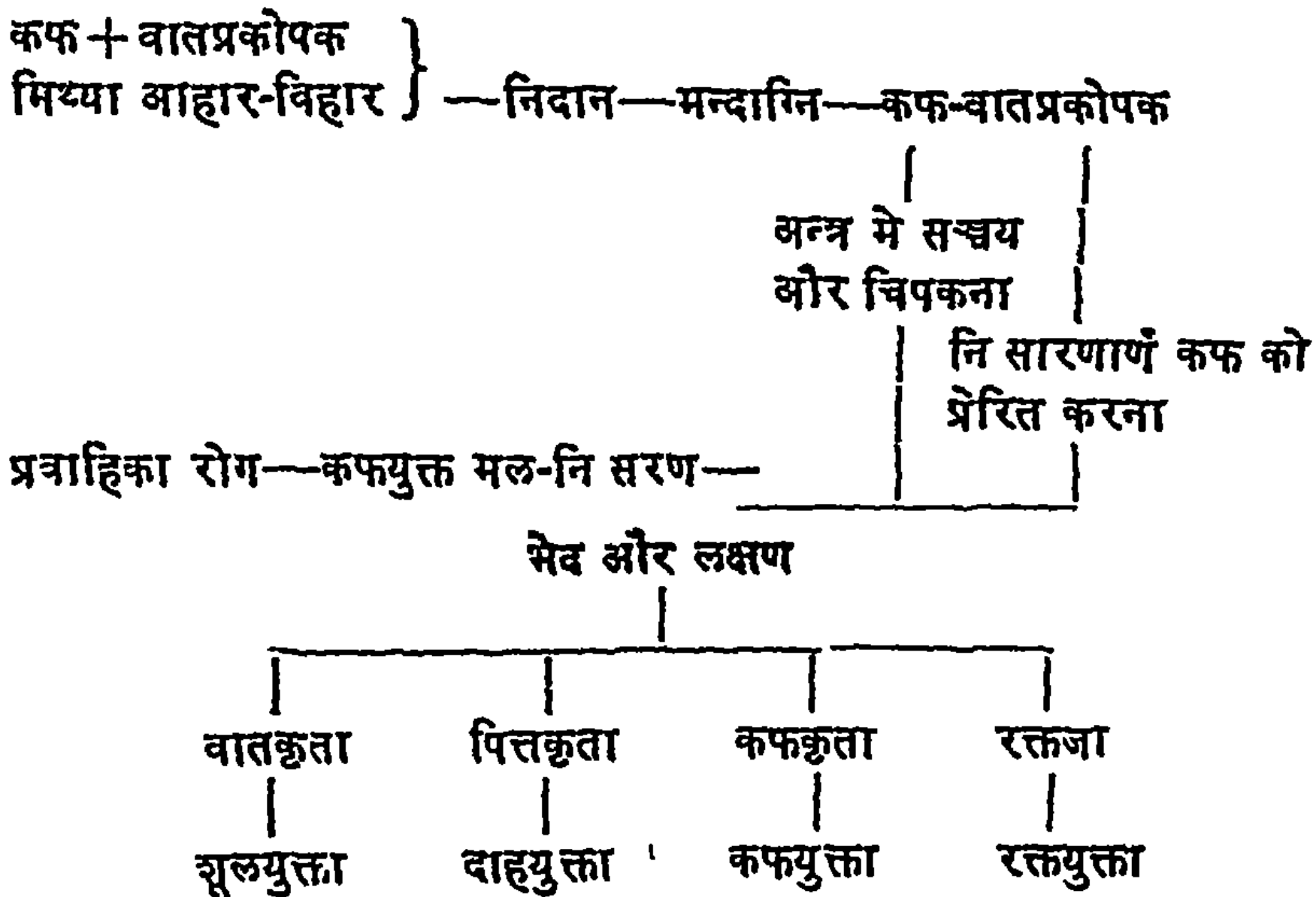
वक्तव्य—१ इन सभी प्रकार की प्रवाहिकाओ के लक्षण, चिकित्साक्रम तथा सामता निरामता का ज्ञान अतिसार के समान ही जान लेना चाहिए। २ प्रवाहिका मे मुख्य रूप से बृहदन्त्र मे विकृति होती है। मलाशय मे मल के साथ कफ चिपका रहता है और कफ की अधिकता होती है। कफ को बाहर निकालने के लिए आँत का प्रवाहण जोर लगाकर करना पडता है और वात का प्रकोप होने से ऐंठन अधिक होती है और मल अल्प मात्रा मे निकलता है। आधुनिक दृष्टि से इसे डिसेण्ट्री (Dysentery) कहते हैं।

चिकित्सासूत्र

१ पहले दिन उपवास करावे, तदनन्तर दीपन पाचन ओषध देवे।

२ आम अधिक हो तो स्तम्भक औषध न दे, अपितु इसबगोल की भूसी ३–४ ग्राम दूध के साथ दे।

३ लघन-पाचन या मृदुविरेचन से लाभ न हो, तो पिच्छावस्ति देवे।

४ प्रवाहिका मे वायु तथा कफ की प्रधान विकृति होती है, अत. वायु के अनुलोमन तथा कफ के निर्हरण का प्रयत्न करना चाहिए, एतदर्थ दीपन-पाचन और ग्राही 'कुटजाष्टकक्वाथ' आदि के साथ एरण्ड तैल का प्रयोग करना चाहिए।

५ उदर मे शूल हो तो हॉटवाटर बैग से सेंक करे या कपूर मिला तार्पिन का तेल मले।

चिकित्सा

विबन्ध मे धारोष्ण दूध, आमदोषयुक्त प्रवाहिका मे एरण्डमूल डालकर पकाये दुग्ध का प्रयोग तथा अतिसार हो या रक्त आता हो तो बालबिल्वमज्जा-साधित दूध का प्रयोग उत्तम लाभप्रद है।

२. विदारीगन्धादि गण औषधें मिलित ५० ग्राम, पञ्चलवण २५ ग्राम और विदारीगन्धादि गण की औषधो का क्वाथ ४ लीटर, तिल-तैल १ लीटर लेकर तैलावशिष्ट पाक करे और इसी तेल से सिद्ध भोजन दे।

३ लोध्रादि चूर्ण—लोध्र, बिडलवण, बेलगिरी, सोठ, मरिच, पीपर, समभाग लेकर चूर्ण कर ३ ग्राम की मात्रा दिन में ३ बार पूर्वोक्त तेल के साथ देवे।

४. उक्त लोध्रादि चूर्ण खाने के बाद भूख लगने पर मलाई सहित दही मे मधु मिलाकर भात से साथ खिलावे।

५. राल का चूर्ण २–२ ग्राम चीनी के साथ दिन मे ३ बार देना चाहिए। अथवा

६ सफेद राल १ ग्राम, मोचरस चूर्ण २ ग्राम और गुड ३ ग्राम मिलाकर मट्ठे के साथ दिन मे ३–४ बार दे।

७ बेलगिरी तथा मोचरस २–२ ग्राम मिलाकर सवेरे-शाम गुड के साथ दे।

८. भुना जीरा ३ ग्राम मट्ठे मे मिलाकर कालानमक मिला थोडा-थोडा पिलावे।

९ कोरया की छाल और अनार के फल का वक्कल २०–२० ग्राम का क्वाथ बनाकर दिन मे ३ बार पिलावे।

१० सिद्धयोग—लघु गगाधर चूर्ण, कनकसुन्दर रस, शखोदर रस, जातीफलादि वटी, सिद्धप्राणेश्वर रस, कुटजावलेह, वृद्धगगाधर चूर्ण, कपित्थाष्टक, कुटजादि वटी, दाडिमावलेह, इनका रोगी के बल आदि का विचार कर प्रयोग करे।

व्यवस्थापत्र

१. पीयूषवल्लीरस	१ गाम
रामवाण रस	½ ग्राम
शखभस्म	१ ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	½ ग्राम
तालीसादि चूर्ण	४ ग्राम
जल से।	४ मात्रा
२. भोजन के पूर्व	
हिग्वष्टक चूर्ण	४ ग्राम
जल से।	२ मात्रा
३. भोजन के वाद	
कुटजारिष्ट	४० मि० ली०
	२ मात्रा

समान जल मिलाकर पीना।

४ दिन भर मे ४–५ वार चूसना
हिग्वादि वटी १–१ गोली

पथ्य

पुराना चावल, मूँग की दाल, कच्चे केले की सब्जी, नेनुआ, टमाटर, आँवला, लहसुन, हीग, वालमूली, धान का लावा आदि हलके, सुपच लघु आहार पथ्य हैं। मट्ठा, बकरी का दूध देना उत्तम है।

अपथ्य

कोहडा, कटहल, आलू, सेम, डालडा या तेल मे तली चीजें, तीक्ष्ण, उष्ण और भारी पदार्थ अपथ्य हैं।

एकविंश अध्याय

पाण्डुरोग, आमवात, मद तथा मदात्यय

पाण्डुरोग

परिचय—रक्त की कमी के कारण जब समस्त शरीर की त्वचा का वर्ण मलिन, उदास, सफेदी लिये हुए पीला हो जाता है और नाखून और नेत्र का वर्ण श्वेतपीताभ हो जाता है, रोगी रक्तहीन, मुरझाया हुआ तथा शिथिल होता है, तो उसे 'पाण्डुरोग' कहते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ—१ चरक० चि० १६। २ सुश्रुत० उत्तर० ४४। ३ अष्टाङ्ग-हृदय निदान० १३। ४ अष्टाङ्गहृ० चि० १६। ५. मा० नि०।

सामान्य निदान

आहार—१. क्षार, २ अम्ल, ३. लवण, ४. अधिक उष्ण, ५ विरुद्ध, ६ असात्म्य, ७ सेम, ८ उडद, ९. तिल की खली, १० तिलतैल, ११ मद्य, १२. मिट्टी खाना।

विहार—१. व्यायाम, २ अधिक मैथुन, ३ शोधन चिकित्सा का व्यतिक्रम होना, ४. ऋतुवैषम्य, ५ मल-मूत्रादि वेग-धारण आदि।

मानस भाव—१ कामवासना, २. चिन्ता, ३ भय, ४ शोक आदि।

सामान्य संप्राप्ति

स्वप्रकोपक निदानो से प्रकुपित पित्त का सञ्चय और प्रकोप होकर जब प्रसर होता है, तो हृदय मे स्थित साधक पित्त बढ़ जाता है। जब प्रबल वायु द्वारा वह पित्त प्रक्षिप्त होकर दश धमनियो द्वारा समस्त शरीर मे घूमता है और कफ-वात-रक्त-मास तथा त्वचा को दूषित करता है एव त्वचा और मास के आभ्यन्तर स्थानसंश्रय करके त्वचा मे पाण्डु आदि अनेक वर्णों को उत्पन्न करता है, तब पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है।

संप्राप्ति-चक्र

क्षार-अम्ल-लवण
आदि निदान } पित्तप्रधान वातादि दोषप्रकोप—वायु द्वारा समस्त देह मे पित्त का प्रसर

|

कफ वात-रक्त आदि दूषण

|

रक्ताल्पता

|

त्वचा का श्वेतपीत वर्ण, विवर्णता
|
पाण्डुरोग

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

१ दोष—पित्तप्रधान वात-कफ।

२. दूष्य—रक्त, त्वक्, मास, मेद।

३ अधिष्ठान—त्वक्।

पूर्वरूप

१ हृदयस्पन्दन की अधिकता, २ रूक्षता, ३. स्वेदाभाव, ४ श्रम (चरक), ५ त्वचा मे फटन, ६ ष्ठीवन, ७. गात्रशिथिलता, ८. मिट्टी खाने की इच्छा, ९ नेत्र-कूटशोथ, १० मल-मूत्र मे पीलापन तथा ११ भोजन का पाचन, ये पूर्वरूप हैं।

सामान्य लक्षण

१. रक्ताल्पता, २ मेद की अल्पता, ३. नि सारता, ४ इन्द्रियशैथिल्य एव ५ विवर्णता।

वातज पाण्डु-लक्षण

१. त्वचा-नेत्र-नख-मुख एव मल-मूत्र का रूक्ष, कृष्ण तथा अरुणवर्ण का होना।

२ शरीर मे सूचीवेधनवत् पीडा, कम्पन, आनाह, भ्रम, भेद और शूल आदि होना।

पित्तज पाण्डु-लक्षण

१. मल-मूत्र-नेत्र में पीलापन २ शरीर मे दाह, प्यास तथा ज्वर और ३. शरीर का वर्ण पीला हो जाना एव ४ अम्लपित्त के समान कडवा स्वाद होना, खट्टी डकार और अन्न का विदाह होना, ये पित्तज पाण्डु के लक्षण हैं।

कफज पाण्डु-लक्षण

१ मुख से कफ का स्राव-तन्द्रा-आलस्य तथा शरीर मे भारीपन, २ शोथ, ३ त्वचा, मल, मूत्र, नेत्र और मुखमण्डल का श्वेतवर्ण का होना।

त्रिदोषज पाण्डु-लक्षण

१ ज्वर २. अरुचि ३ मिचली ४ वमन ५ प्यास और ६ क्लम (अनायास थकावट और इन्द्रियो का अपना काम न करना)।

यदि इन लक्षणो के साथ रोगी अतिक्षीण और हतेन्द्रिय (इन्द्रियो की शक्ति का नाश) हो, तो वह असाध्य होता है।

मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डु की संप्राप्ति

मिट्टी खाने के अभ्यस्त व्यक्ति का कोई एक दोष प्रकुपित होता है। कषायरस की मिट्टी वात को, क्षारीय मिट्टी पित्त को और मधुर मिट्टी कफ को प्रकुपित करती है।

इस प्रकार दोष-प्रकोप करनेवाली मिट्टी अन्नवहस्रोतस् मे चिपक जाती है, जिससे रसाङ्कुर अवरुद्ध हो जाते हैं और आहार रस का शोषण नही हो पाता। परिणामत इन्द्रिय-शक्तिनाश तथा तेज-बल-ओज का नाश करके वह मिट्टी बल-वर्ण एव् जठराग्नि के बल का ह्रास करनेवाले 'पाण्डुरोग' को उत्पन्न करती है।

मृत्तिकाजन्य पाण्डु की संप्राप्ति

कषाय-क्षार या मधुर
मिट्टी खाने का अभ्यास } —निदान—अन्यतम दोषप्रकोप—अन्नवहस्रोतोऽवरोध

|

आहार रस का अशोषण

|

पाण्डुरोग—बलवर्ण हानि, रक्ताल्पता—रस-रक्तादि धातुक्षय

मृद्भक्षणजन्य पाण्डु-लक्षण

१. नेत्रकूट, कपोल, भौंह, पैर, नाभि, मूत्रेन्द्रिय मे शोथ होना, २. उदर मे कृमियो का होना और ३. रक्त तथा कफमिश्रित मल का पतला होना और ४ बल-वर्ण-अग्नि का नाश।

असाध्य लक्षण

१ अधिक पुराना, २ अतिरूक्ष, ३ पीतदर्शी और शोथयुक्त, ४ मल बधा-अल्प-हरितवर्ण और कफयुक्त निकलना, ५ हर्षरहित, ६. वमन-मूर्च्छा-तृषापीडित, ७ दांत-नख-नेत्र मे पाण्डुता, ८ हाथ-पैर मे शोथ युक्त, मध्यशरीर क्षीण या मध्य शोथयुक्त और हाथ-पैर पतले, ९ गुदा-लिंग-अण्डकोषो मे शोथ, १०. ग्लानियुक्त, ११ तीव्रज्वर और १२ अतिसार होना, ये पाण्डुरोग के असाध्य लक्षण हैं।

चिकित्सासूत्र

१ पाण्डुरोग के सभी निदानो का परित्याग करना चाहिए।

२. स्नेहन करके तीक्ष्ण द्रव्यो के प्रयोग से विरेचन कराना चाहिए। तत्पश्चात् पथ्य आहार की व्यवस्था करे।

३ दोषविशेष के अनुसार औषध एव आहार देना चाहिए।

४. वातज पाण्डु मे स्नेहप्रधान औषध, पित्तज पाण्डु मे तिक्तरस एव शीतवीर्यवाले औषध द्रव्य, कफज पाण्डु मे कटु-तिक्त रसवाले तथा उष्णवीर्य औषध द्रव्य एव सन्निपातज पाण्डुरोग मे मिश्रित द्रव्य का प्रयोग करे।

५. मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोगी के बलाबल का विचार कर तीक्ष्ण विरेचन देकर शरीर से मृत्तिका को निकाले और वमन भी करावे।

६. विरेचन से शरीर शुद्ध हो जाने पर औषध-सिद्ध घृत का सेवन करावे।

७. पेयजल—पीने के लिए अथवा भोजन पकाने के लिए लघुपञ्चमूल से सिद्ध किये हुए जल का प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा

१. पाण्डुरोग मे स्नेह का क्षय होता है और रूक्षता अधिक होती है, अत रुग्ण को पञ्चतिक्त घृत, पञ्चगव्य घृत, कल्याणक घृत, दाडिमादि घृत, कटुकादि घृत, हरिद्रा घृत या द्राक्षा घृत मे से जो भी सुलभ हो उसको २५–३० मि० ली० की मात्रा मे दिन मे ३ बार दूध मे मिलाकर पिलाना चाहिए।

२ सम्यक् स्नेहन के बाद वातिक पाण्डु मे ५०० मि० ली० दूध मे १०० मि० ली० गोमूत्र मिलाकर विरेचनार्थ पिलावे, पित्तज मे निशोथ चूर्ण ४–६ ग्राम बराबर चीनी मिलाकर दे और कफज मे हरीतकी चूर्ण ५ ग्राम समान चीनी मिलाकर खिलावे।

३. शोधन के बाद पुराना चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, मसूर और जागल मासरस पथ्य मे दे।

४ एकल द्रव्यो मे अमलतासफल-मज्जा, बिल्वपत्रकल्क, विदारीकन्द स्वरस, आँवले का स्वरस, गुडूची स्वरस, निम्बपत्र स्वरस, दारुहल्दी क्वाथ या द्रोणपुष्पी क्वाथ मे त्रिकटु चूर्ण और चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए।

५ हरीतकी चूर्ण ३ ग्राम को १०० मि० ली० गोमूत्र मे मिलाकर प्रतिदिन २ बार दे।

६ गोमूत्र को गोदुग्ध या त्रिफला क्वाथ और भैंस के मूत्र को भैंस के दूध मे पिलावे।

७ जौ-चना के सत्तू को घोलकर, मधु मिलाकर, गन्ने के रस तथा आँवले के रस के साथ दे।

८ मुलहठी चूर्ण २–२ ग्राम मधु मिलाकर दिन में ३ बार देना पाण्डुनाशक है।

९ अग्निबल के अनुसार पिप्पलीचूर्ण २–३ ग्राम दूध से सेवन करना पाण्डुहर है।

१० न्यग्रोधादि गण, सालसारादि गण या केवल आँवले का चूर्ण ३–३ ग्राम मधु के साथ दिन मे ३ बार देने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है।

११ अजाशकृदादि चूर्ण—बकरी की मेगनी ५० ग्राम, हल्दीचूर्ण १५ ग्राम और सेंधानमक १५ ग्राम मिलाकर चूर्ण कर ले। ३–३ ग्राम मधु के साथ दिन मे ३ बार देवे।

सिद्धयोग

१२ पुनर्नवामण्डूर १–१ ग्राम, ५ ग्राम मधु और १० ग्राम घी मिलाकर सवेरे-शाम दे।

१३ नवायस लौह १ ग्राम, गुडूचीस्वरस १० ग्राम और मधु १० ग्राम के साथ २ बार दे।

१४ योगराज रस ३०० मि० ग्रा० मधु से दिन मे ३ बार दे।

१५. फलत्रिकादि क्वाथ—हर्रे, बहेडा, आँवला (सभी निर्बीज), गुरुच, अडूस, कुटकी, चिरायता, नीम की छाल, सब समान भाग लेकर भूसा की तरह कूट लेवे। २० ग्राम दवा को आधा लीटर जल मे चतुर्थांशावशिष्ट पकावे तथा ठंडा कर छान ले

और मधु मिलाकर सवेरे-शाम पिलावे। यह क्वाथ अनेकश. परीक्षित है और अव्यर्थ औषध है।

१६ मण्डूर भस्म ५०० मि० ग्रा० तथा शखभस्म २५० मि० ग्रा० एव हरे चूर्ण १ ग्राम की १ मात्रा मधु से २ बार दे।

१७ धात्रीलौह १ ग्राम की १ मात्रा मधु से चटाकर फलत्रिकादि क्वाथ सवेरे-शाम दे।

१८ कासीसभस्म २०० मि० ग्रा०, शखभस्म २०० मि० ग्रा०, त्रिफला चूर्ण २ ग्राम इनकी १ मात्रा मधु से २ बार दे।

१९ प्रवालभस्म १२५ मि० ग्रा०, मुक्ताभस्म १२५ मि० ग्रा०, रसाञ्जन ३०० मि० ग्रा०, शखभस्म १२५ मि० ग्रा०, स्वर्णगैरिक २५० मि० ग्रा० की १ मात्रा मधु से दे, तत्पश्चात् गोमूत्र १५ ग्राम २ बार पीए।

२० मृत्तिकाजन्य पाण्डु मे तीक्ष्ण विरेचन (इच्छाभेदी ५०० मि० ग्रा० शर्बत से) देकर विरेचन करावे तथा कडाई के साथ मृद्भक्षण का निषेध करे।

२१ तत्पश्चात् प्रात -साय विडङ्गाद्यवलेह ४–४ ग्राम मन्दोष्ण जल से देवे।

२२ हरीतकी चूर्ण ३–४ ग्राम गोमूत्र के साथ दे। कटुकादि घृत, व्योपादि घृत या आरग्वधसिद्ध घृत का प्रयोग करे तथा फलत्रिकादि क्वाथ पिलावे।

२३ मिट्टी खाने मे अरुचि उत्पन्न करने के लिए मिट्टी मे अतीश चूर्ण या कुटकी चूर्ण या निलम्ब पत्र चूर्ण खिलाकर मिट्टी खिलावे।

२४ कृमिज पाण्डु मे लौहभस्म २०० मि० ग्रा०, वायविडग चूर्ण २ ग्राम, अजवायनसत्त्व १०० मि० ग्रा०, पीपर १ ग्राम, इन्हे मधु से दिन मे ३ बार देवे।

२५. धात्र्यवलेह तथा द्राक्षावलेह १०–१० ग्राम सवेरे-शाम देना उत्तम है।

२६ तालीशादि चूर्ण, अविपत्तिकर चूर्ण, मण्डूर वटक, पाण्डुपञ्चानन रस, आरोग्यवर्धिनी वटी, ताप्यादि लौह, लोहासव, कुमार्यासव, द्राक्षासव, अभयारिष्ट, इनका यथोचित मात्रा और अनुपान के साथ प्रयोग करना लाभदायक होता है।

२७. शिलाजतु वटक (चरक) १–१ ग्राम गोदुग्ध के साथ सवेरे-शाम देना परम लाभकर है।

व्यवस्थापत्र

वातज पाण्डु मे— १ योगराज $\frac{१\frac{१}{२} \text{ ग्राम}}{३ \text{ मात्रा}}$

गोघृत ५ ग्राम तथा मधु १० ग्राम से ३ बार।

२ कुमार्यासव $\frac{४० \text{ मि० ली०}}{२ \text{ मात्रा}}$

भोजनोत्तर २ बार समान जल मे पीना।

पित्तज पाण्डु मे—	१ धात्रीलौह	१½ ग्राम / ३ मात्रा
	धात्र्यवलेह २० ग्राम के साथ दिन मे २ बार।	
	२. द्राक्षासव	४० मि० ली० / २ मात्रा
	समान जल से भोजनोत्तर २ बार।	
	३ अविपत्तिकर चूर्ण	४ ग्राम / १ मात्रा
	गोदुग्ध से रात मे सोते समय।	
कफज पाण्डु मे—	१. त्र्यूषणादि मण्डूर	१½ ग्राम / ३ मात्रा
	गोमूत्र के साथ दिन मे ३ बार।	
	२ कुमार्यासव	५० मि० ली० / २ मात्रा
	भोजनोत्तर समान जल से २ बार।	
	३ हरीतकी चूर्ण	५ ग्राम / १ मात्रा
	रात मे सोते समय गरम जल से।	
शोथयुक्त पाण्डु मे—	१ पुनर्नवा मण्डूर	२ ग्राम / ३ मात्रा
	३ बार मधु से, बाद मे पुनर्नवाष्टक पीना।	
	२ पुनर्नवासव	५० मि० ली० / २ मात्रा
	समान जल से भोजनोत्तर २ बार।	
	३ आरोग्यवर्धिनी	१ ग्राम / १ मात्रा
	रात मे सोते समय मन्दोष्ण जल से।	
मृत्तिकाज पाण्डु मे—	१ कृमिमुद्गर	½ ग्राम
	विडङ्गादि लौह	१ ग्राम
	नवायस लौह	१ ग्राम / ३ मात्रा
	विडङ्ग चूर्ण, पलाशबीज चूर्ण ३–३ ग्राम तथा मधु से।	

२ भोजन के बाद

लोहासव ५० मि० ली०
२ मात्रा

समान जल से भोजनोत्तर २ बार।

पथ्य

पुराने अगहनी चावल का भात, जौ, गेहूँ, मूँग, अरहर, मसूर, परवल, करेला, गूमा, बैगन, प्याज, लहसुन, आँवला, जागल जीवो का मासरस, नेनुआ, लौकी, चौलाई, पालक, पपीता, अनार, अगूर, मुनक्का, किशमिश, सेव, नारङ्गी, केला, मीठे आम, सेव-आँवले का मुरब्बा, गोदुग्ध, इक्षुरस, हल्दी से सिद्ध घृत, ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य

उडद, तिलकुट, सरसो, सुरा, दिन मे सोना, मिट्टी खाना, अतितीक्ष्ण चरपरा भोजन, अधिक नमक, अधिक जल पीना, गुरु और विदाही भोजन, बीडी-सिगरेट-चरस का सेवन, कुल्थी, अधिक अम्ल पदार्थ, मैथुन, व्यायाम आदि अपथ्य हैं।

आमवात[1]

परिचय—यह जिस स्थान पर होता है, वहाँ विच्छू के डंक मारने जैसी कष्टदायक पीडा होती है। यह शरीर की छोटी या बडी सन्धियो में वेदनायुक्त शोथ उत्पन्न करता है। प्राय हाथ की मध्यवर्ती अंगुलि, कलाई, कर्पूरसन्धि को आक्रान्त कर धीरे-धीरे सर्वशरीरस्थ सन्धियों मे शोथ एवं पीडा उत्पन्न कर देता है। इसके होने के साथ अपच, ज्वर, शरीर मे भारीपन, अङ्गो मे अकर्मण्यता और हृद्ग्रह आदि लक्षण होते हैं। वात की प्रधानता होने पर पीडा की अधिकता, पित्ताधिक्य मे दाह तथा कफाधिक्य मे अगो मे जकड़न और भारीपन अधिक होता है। सन्धिशोथ मे चिकनापन और घनत्व की प्रतीति होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—१ माधवनिदान—आमवात। २ चक्रदत्त—आमवात-चिकित्सा। ३ भै० र० आमवात-चिकित्सा। ४. शार्ङ्गधरसहिता—रोगगणना।

निर्वचन—आमवात शब्द आम+वात, इन दो शब्दो से बना है। 'आमेन सहित वातः' अथवा 'आमश्च वातश्च आमवात' इस प्रकार इसकी दो निरुक्ति की जाती है। जठराग्नि की दुर्बलता से असम्यक् पक्व आहार रस को 'आम' कहते हैं। वह वायु द्वारा प्रेरित होकर रक्तवाहिनो द्वारा सर्वशरीर मे परिभ्रमण करता हुआ 'आमवात' रोग का जनक होता है। इस प्रकार 'आम' और 'वात' इन दोनो के सहकार से यह रोग होता है। ये दोनो सन्धिस्थलो मे शोथ, पीडा आदि लक्षण उत्पन्न करते है। इसलिए दोनो के प्राधान्य की अभिव्यक्ति के लिए इस रोग का नाम आमवात है।

जब आमाशयिक क्लेदक कफ की वृद्धि होती है तब आमाशयिक अम्लरस पतला

---

१ सर्वाङ्गैकाङ्गसन्धिस्थशोथार्तिग्रहगौरवम्।
ज्वरोऽपाकाग्निमान्द्ये च तृष्णा चामानिलाकृति ॥ अञ्जननिदान

(Dilute) हो जाता है, जिससे अन्न का परिपाक ठीक से न होने से आहाररस 'आम'[1] (कच्चा) बनता है।

निदान

१ विरुद्ध आहार, २. विरुद्ध चेष्टा, ३. मन्दाग्नि होना, ४. कोई श्रम न करना, ५. स्निग्ध भोजन करने के बाद व्यायाम करना, ६ आमजनक-वातप्रकोपक एवं सन्धिशैथिल्यकारक कारणो का सेवन, ७ उडद-दही-दूध-खीर खाना, ८. आनूप जीवो का मास भक्षण तथा ९. दूषित या सविष जल।

सम्प्राप्ति

विरुद्ध आहार-विहार आदि कारणो से निर्मित आमरस वायु से प्रेरित होकर कफ के मुख्य स्थान आमाशय, सन्धि, हृदय आदि मे जाकर वहाँ स्थित समानगुण-धर्मी कफ से मिलकर और भी विकृत एव विदग्ध हो जाता है तथा अपनी विदग्धता से पित्त को प्रकुपित करता है। वह आम अपने अभिष्यन्दी-गुरु आदि गुणो से स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न करता है, जिससे वायु जो पहले से ही कुपित थी, अब और अधिक प्रकुपित हो जाती है। वायु की प्रेरणा से आम के प्रसर होने से हृदय भी प्रभावित होकर विकृतियुक्त हो जाता है। जब वह आम धमनियो मे पहुँचता है तो तीनो दोषो के प्रकोप से प्रभावित होकर शरीर के स्रोतो मे क्लेद पैदा करता है, जिससे दुर्बलता और हृदय मे भारीपन होता है। वात और कफ एक साथ प्रकुपित होकर कोष्ठ, त्रिकप्रदेश तथा सन्धियो मे प्रविष्ट हो जाते हैं और समस्त शरीर को जकड लेते हैं। यही आमवात है।

सम्प्राप्ति-चक्र

विरुद्धाहारादि निदान—अग्निमान्द्य—आम
\+
वातप्रकोपक निदान—वातप्रकोप—वात

} श्लेष्मस्थान, सन्धि, आमाशय उर कण्ठ मे वात की प्रेरणा से आम का प्रसर
|
धमनियो मे प्रसर

---

१ (क) ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टामामाशयगत रसमाम प्रचक्षते॥
(ख) आमाशयस्थ कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचित।
आद्य आहारधातुर्य स आम इति कीर्तित॥
(ग) अविपक्वमसयुक्त दुर्गन्ध बहु पिच्छिलम्।
सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते॥
(घ) आहारस्य स शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्।
स मूल सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते॥
(ङ) आममन्नरस केचित् केचित्तु मलसञ्चयम्।
प्रथमां दोषदुष्टि च केचिदामं प्रचक्षते॥ मधुकोष-आमवातनिदान

(Dilute) हो जाता है, जिससे अन्न का परिपाक ठीक से न होने से आहाररस 'आम'[१] (कच्चा) बनता है।

निदान

१ विरुद्ध आहार, २. विरुद्ध चेष्टा, ३. मन्दाग्नि होना, ४. कोई श्रम न करना, ५. स्निग्ध भोजन करने के बाद व्यायाम करना, ६ आमजनक-वातप्रकोपक एव सन्धिशैथिल्यकारक कारणो का सेवन, ७ उडद-दही-दूध-खीर खाना, ८. आनूप जीवो का मास भक्षण तथा ९ दूषित या सविष जल।

सम्प्राप्ति

विरुद्ध आहार-विहार आदि कारणो से निर्मित आमरस वायु से प्रेरित होकर कफ के मुख्य स्थान आमाशय, सन्धि, हृदय आदि मे जाकर वहाँ स्थित समानगुण-धर्मी कफ से मिलकर और भी विकृत एव विदग्ध हो जाता है तथा अपनी विदग्धता से पित्त को प्रकुपित करता है। वह आम अपने अभिष्यन्दी-गुरु आदि गुणो से स्रोतो मे अवरोध उत्पन्न करता है, जिससे वायु जो पहले से ही कुपित थी, अब और अधिक प्रकुपित हो जाती है। वायु की प्रेरणा से आम के प्रसर होने से हृदय भी प्रभावित होकर विकृतियुक्त हो जाता है। जब वह आम धमनियों मे पहुँचता है तो तीनों दोपो के प्रकोप से प्रभावित होकर शरीर के स्रोतो मे क्लेद पैदा करता है, जिससे दुर्बलता और हृदय मे भारीपन होता है। वात और कफ एक साथ प्रकुपित होकर, कोष्ठ, त्रिकप्रदेश तथा सन्धियो मे प्रविष्ट हो जाते हैं और समस्त शरीर को जकड लेते हैं। यही आमवात है।

सम्प्राप्ति-चक्र

विरुद्धाहारादि निदान—अग्निमान्द्य—आम
+
वातप्रकोपक निदान—वातप्रकोप—वात

} श्लेष्मस्थान, सन्धि, आमाशय, उर कण्ठ मे वात की प्रेरणा से आम का प्रसर

|

धमनियो मे प्रसर

---

१ (क) ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टामामाशयगत रसमाम प्रचक्षते॥

(ख) आमाशयस्थ कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचित।
आद्य आहारधातुर्य स आम इति कीर्तित॥

(ग) अविपक्वमसयुक्त दुर्गन्ध बहु पिच्छिलम्।
सदन सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते॥

(घ) आहारस्य स शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्।
स मूल सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते॥

(ङ) आममन्नरस केचित् केचित्तु मलसञ्चयम्।
प्रथमा दोषदुष्टि च केचिदाम प्रचक्षते॥ मधुकोष-आमवातनिदान

|
हृदय-विकृति, त्रिदोषप्रकोप
|
रसवहस्रोतस् संग
|
साम कफ + वात का सन्धियो मे
स्थानसश्रय
|
सन्धिशूल, शोथ, ज्वर, आलस्य,
आमवात रोग— गौरव आदि लक्षणोत्पत्ति

दोष-दूष्य-अधिष्ठान

१ दोष—वातप्रधान त्रिदोष । २. दूष्य—रस, स्नायु, कण्डरा ।
३ अधिष्ठान—सभी सन्धिस्थल । ४ स्रोतस्—रसवह ।
५. स्रोतोदुष्टि—सग । ६. रोगमार्ग—मध्यम रोगमार्ग ।

आमवात का सामान्य लक्षण

१ विभिन्न अङ्गो मे पीडा होना २ अरुचि ३. प्यास ४. आलस्य ५ शरीर मे भारीपन ६. ज्वर ७. भोजन का परिपाक न होना तथा ८ अगो मे शोथ होना, ये आमवात के सामान्य लक्षण हैं ।

त्रिकसन्धि के आक्रान्त होने पर कटिप्रदेश मे नित्य ही पीडा बनी रहती है, रोगी उठने-बैठने में भी असमर्थ रहता है और हाथ-पैर की सन्धियो मे शोथ उपस्थित हो जाता है ।

आमवात की तीव्रावस्था के लक्षण

आमवात की प्रवृद्ध अवस्था सब रोगो से अधिक कष्टसाध्य होती है । इससे हाथ, पैर, शिर, गुल्फ, जानु, त्रिक एव ऊरु की सन्धियों मे पीडा युक्त शोथ उत्पन्न होता है । इनके अतिरिक्त भी जिस-जिस स्थान पर आमदोष पहुँचता है, वहाँ-वहाँ विच्छू के डक मारने जैसी वेदना होती है । इसमे अग्निमान्द्य, लालास्राव, अरुचि, शरीर मे भारीपन, उत्साहहानि, मुख की विरसता, शरीर मे दाह, पेशाब की अधिकता, उदर में कठोरता और शूल होता है । दिन में नींद आना और रात मे न आना, प्यास, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, हृद्ग्रह (Precardial region में स्तब्धता) और कोष्ठबद्धता हो जाती है । शरीर में अकर्मण्यता, आँतो मे गुडगुडाहट, आध्मान तथा अन्य अनेक उपद्रवो के होने की संभावना रहती है ।

दोषज विशेष लक्षण

आमवात मे पित्त का अनुबन्ध होने पर रुग्ण स्थान पर जलन और लाली होती है । वात का अधिक प्रकोप होने पर पीडा की अधिकता होती है । कफ का अनुबन्ध होने पर स्तिमितता (स्तब्धता), भारीपन और खुजली, ये लक्षण मिलते हैं ।

साध्यासाध्यता

१. एकदोषज आमवात साध्य, २ द्विदोषज याप्य तथा ३ सर्व-शरीरव्यापी शोथ से युक्त सान्निपातिक आमवात असाध्य होता है।

सापेक्ष निदान

आमवात	वातरक्त	सन्धिवात
१ प्राय बडी सन्धियो से आरम्भ	प्राय छोटी सन्धियो से आरम्भ	सभी सन्धियो में समान
२. ज्वर	ज्वर नही	ज्वर नहीं
३. सन्धिशोथ, सन्धिरुक्	सन्धिशोथ, सन्धिरुक्	सन्धिरुक्
४ हृद्गौरव	—	—
५. त्रिदोषज, वातकफ-प्रधान	त्रिदोषज, वातकफ-प्रधान	वात-प्रधान
६. दूष्य—रस	दूष्य—रस	दूष्य—रस
७. वृश्चिक दंशवत् शूल	सन्धिशूल	सन्धिशूल
८ रक्तमोक्षण से लाभ नही	लाभ	—

चिकित्सासूत्र

१ रोगी के बलाबल का विचार कर उसे लघन और स्वेदन कराना चाहिए।

२. औषध तथा आहार में अग्निप्रदीपक एवं तिक्त तथा कटु रस वाले द्रव्य देवे।

३ विरेचन कराना चाहिए एवं लघन आदि से आमक्षय हो जाने पर रूक्ष वायु के प्रशमन के लिए स्नेहपान कराना चाहिए।

४ सैन्धवादि तैल की अनुवासनवस्ति तथा आम के निर्हरण के लिए शोधन वस्ति दे।

५. वालू की पोटली बनाकर उससे रूक्ष स्वेदन करना चाहिए।

६ बिना स्नेह का प्रयोग किये उपनाह (पुल्टिस से) स्वेदन करना चाहिए।

७. रूक्ष स्वेद के लिए निम्नलिखित पद्य स्मरणीय है—

> कार्पासास्थिकुलत्थिकातिलयवैरेरण्डमूलातसी-
> वर्षाभूशणशिग्रुकाञ्जिकयुतैरेकीकृतैर्वा पृथक्।
> स्वेद· स्यादथकूर्परोदरशिर स्फिक्पाणिपादाङ्गुलि-
> ग्रीवास्कन्धकटीरुजो विजयते सामा समस्ता रुज ॥

८ आमवात के रोगी को प्यास लगने पर ५-५ ग्राम पीपर-पिपरामूल-चाभ-चीता-सोठ लेकर मोटा कूटकर ४ लीटर जल में अर्धशेष पकाकर छानकर पिलाना चाहिए। यह पचकोल सिद्ध जल कहलाता है।

९. पचकोल डालकर क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए।

१०, आमवात मे लंघन, पाचन और शोधन प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा

११ पाचन कषाय—कचूर, सोठ, हरीतकी, वच, देवदारु, अतीस और गुरुच को समभाग लेकर २० ग्राम का क्वाथ बनाकर प्रात -साय देवे ।

१२ शोधन क्वाथ—दशमूल के सभी द्रव्य, गुरुच, रास्ना, सोठ और देवदारु, समभाग लेकर क्वाथ बनाकर २०-२५ मि० ली० एरण्ड तैल मिलाकर आवश्यकतानुसार शोधनार्थ प्रयोग करे।

१३. यदि उक्त क्वाथ का प्रयोग शमनार्थ करना हो, तो एरण्ड तैल १० मि० ली० डालना चाहिए।

१४ रास्नासप्तक क्वाथ—रास्ना, गुरुच, अमलतास, देवदारु, एरण्डमूल, गदहपुर्ना, गोखरू समभाग का क्वाथ सोठ का १ ग्राम चूर्ण मिलाकर सवेरे-शाम पिलावे।

१५ एरण्डपायस—एरण्डबीज और सोठ का चूर्ण ३-३ ग्राम लेकर २०० मि० ली० दूध मे खीर बनाकर प्रतिदिन प्रात काल खाने को देवे।

१६ हरीतकी चूर्ण ३ ग्राम, एरण्ड तैल १५ मि० ग्रा० के साथ सवेरे-शाम देवे।

१७ त्रिवृत चूर्ण ३ ग्राम प्रतिदिन एक बार मन्दोष्ण जल से दे।

१८ रसोनादि क्वाथ—लहसुन, सोठ, सिन्दुवारमूल की छाल, समभाग लेकर २० ग्राम का क्वाथ बनाकर सवेरे-शाम पिलावे।

१९ गुग्गुलु, रास्ना, सोठ, लहसुन, कुचला, शुद्ध भल्लातक, गुडूची और एरण्ड स्नेह से बने योगो का प्रयोग लाभप्रद होता है। विशेषकर एरण्ड तेल को विशेष उपयोगी कहा गया है—

'कटीतटनिकुञ्जेषु सञ्चरन् वातकुञ्जर ।
एरण्डतैलसिंहस्य गन्धमाघ्राय गच्छति ॥ यो० र०

अर्थात् 'शरीर रूपी वन मे विचरण करने वाला आमवातरूपी गजराज एरण्ड तेल रूपी सिंह के गन्धमात्र से भाग जाता है।

२० एकल द्रव्यो मे दशमूल, शिलाजीत, रास्ना, लहसुन, पिपरामूल, शतावर, सोठ, प्रसारणी, वच, बादाम तथा पिस्ता का प्रयोग उत्तम है।

सिद्धयोग—

२१ चूर्ण—वैश्वानर चूर्ण, अलम्बुषा चूर्ण, अजमोदादि चूर्ण या हिंग्वादि चूर्ण दे।

२२ वटी—अग्नितुण्डी वटी, आमवातारि वटी, चित्रकादि वटी एव रसोन वटी का प्रयोग करे।

२३ गुग्गुलु—सिंहनाद, योगराज, कैशोर, वातारि और त्रयोदशाङ्ग गुग्गुलु का प्रयोग करे।

२४. रस-रसायन—हिंगुलेश्वर, वातगजाकुश, समीरपन्नग, अमृतमजरी, मल्लसिन्दूर, तालसिन्दूर, आमवातारिवज्र रस का उचित मात्रा मे प्रयोग करे।

२५ मृत्युञ्जय रस, शृंग भस्म, पंचानन लौह, आमवात-विध्वंसन का प्रयोग करे।

२६ पीड़ा-शमनार्थ—महाविषगर्भ, पंचगुण तैल, प्रसारिणी तैल की हलकी मालिश करे।

२७ दशांग लेप, शताह्वादि लेप, हिंस्रादि लेप, सिन्दुवार पत्र का प्रयोग करे।

२८ आसवारिष्टो मे पुनर्नवासव और अमृतारिष्ट देवे।

२९. दशमूलक्वाथ, सैन्धवादि तैल या नारायण तेल की वस्ति देवे।

३०. रसोनपिण्ड—१०–१० ग्राम सवेरे-शाम मन्दोष्ण जल से देवे।

३१. जीर्णरोग पर वृहद् योगराज गुग्गुलु, मल्लसिन्दूर, सुवर्णभूपति रस, लक्ष्मीविलास रस, समीरगजकेशरी, अजमोदादि चूर्ण, कासीस भस्म, इनमें से अनुकूलता का विचार कर प्रयोग करे।

व्यवस्थापत्र

१. दिन मे ४ बार ३–३ घण्टे पर

वृहद् योगराज गुग्गुलु	१ ग्राम
अग्नितुण्डी वटी	५०० मि० ग्रा०
मल्लसिन्दूर	२५० मि० ग्रा०
आमवातारि रस	१ ग्राम
शृंगभस्म	१ ग्राम
आर्द्रक स्वरस व मधु से।	४ मात्रा

२ सवेरे-शाम

रास्नासप्तक क्वाथ	१०० मि० ली०
एरण्डतैल	१० ग्राम
	१ मात्रा

३. भोजनोत्तर २ बार

अमृतारिष्ट	४० मि० ली०
समान जल से पीना।	२ मात्रा

४. रात में सोते समय

वैश्वानर चूर्ण ५ ग्राम मन्दोष्ण जल से।

पथ्य

जौ, कोदो, सांवा, कुलथी, मूंग, पुराना अगहनी चावल, गोमूत्र, मधु, उष्ण जल, कटु-तिक्तरस-प्रधान द्रव्य, अजवायन, जीरा, सोंठ, मरिच, आदी, लहसुन, जांगल जीवों का मांसरस, करेला, बथुआ, परवल, पञ्चकोल-सिद्ध जल, एरण्डतैल, लहसुन, सोंठ, इनका नियमित प्रयोग अधिक लाभप्रद होता है।

अपथ्य

दूध-मछली, दूध-गुड, विरुद्ध, गुरु एवं स्निग्ध पदार्थ, विरुद्धाशन, विषमाशन, अभिष्यन्दी पदार्थ, रात्रिजागरण, वेगावरोध, पिष्ट पदार्थ, पुरवैया वायु, चिन्ता, शोक, आलस्य आदि अपथ्य हैं।

मद

परिचय—'मद' शब्द का अर्थ हर्ष और आमोद होता है। राजस या तामस आहार करने से या मद्य अथवा अन्य मदकारक द्रव्य गाँजा, भाँग या सुपारी आदि का सेवन करने से वात-पित्त-कफ अलग-अलग या एक साथ अल्पांश मे प्रकुपित हो जाते हैं और मन रजोगुण तथा तमोगुण से आविष्ट हो जाता है तो दोष रक्तवह तथा संज्ञावह स्रोतो को अवरुद्ध कर रुक जाते हैं, जिसके फलस्वरूप 'मद' की उत्पत्ति होती है, जिससे हर्ष, उल्लास, अधिक प्यास, प्रीति सुख, हलका नशा और निद्रा का अनुभव होता है।

'मद' मे दोषो का प्रकोप हलका होता है और रसवह, रक्तवह या संज्ञावह स्रोतो में अल्प अवरोध होता है। यह मानस विकार है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति के पूर्व मन के रज-तम, इन दोनो दोषो का प्रकोप अवश्य ही होता है।

वक्तव्य—आचार्य चरक ने 'मदरोग' का वर्णन दो स्थानो पर किया है—प्रथम चरक-सूत्रस्थान के चौबीसवें अध्याय[१] (विधिशोणितीय) में यह रक्तज रोग के रूप मे कहा गया है और दूसरा चरक-चिकित्सास्थान के चौवीसवें (मदात्यय चिकित्सा) अध्याय मे मद्यज विकार के रूप में वर्णित है। चाहे इसे रक्तवहस्रस्थान का रोग मानें या मद्यज रोग मानें। दोनों ही स्थिति में इसमे रज-तम की कारणता निर्विवाद है। अत यह एक मनोविकार है। इस रोग की वृद्धि होने से 'मूर्च्छा रोग' और मूर्च्छा की वृद्धि होने से 'सन्यासरोग' होता है। इस प्रकार यह कथन असगत नहीं होगा, कि एक ही रोग अवस्था-भेद से तीन नामो से जाना जाता है, क्योंकि उन तीनो रोगो के निदान और सम्प्राप्ति एक हैं। एवञ्च अल्प दोष-प्रकोप होने पर मद, मध्यम श्रेणी के दोषप्रकोप से मूर्च्छा तथा तीव्र रूप मे दोषप्रकोप होने पर संन्यास रोग होता है। यह रोग प्राय. नशीले पदार्थों के सेवन से होता है, अत. इसे मद्यविभ्रम और मद कहते हैं।

निर्वचन—माद्यति इति मद। 'मदी हर्षे' (दि० प० से०)। 'मदोऽनुपसर्गे' (३।३।६७) इत्यप्। हर्षेऽप्यामोदवन्मद। अमर० ३।३।९१

सन्दर्भ ग्रन्थ—१ चरक० सूत्र० २४। २ चरक० चिकित्सा० २४। ३ सुश्रुत० उत्तर० ४७। ४. अष्टाङ्गहृ० नि० ६। ५ अष्टाङ्गहृ० चि० ७। ६ माधवनिदान। ७. योगरत्नाकर।

---

१ यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च।
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मला.॥
मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मन.।
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा॥
मदमूर्च्छायसन्यासास्तेषां विद्याद् विचक्षण।
यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु॥ च० सू० २४।२५–२७

निदान

विरुद्ध आहार, वेगधारण, मन मे रज-तम का बाहुल्य, हीन मनोवल रक्तविकार, रसवह, रक्तवह तथा सज्ञावह स्रोत मे अवरोध, नशीले पदार्थों का सेवन, कसैली, सुर्ती, जर्दा तथा मद्य का सेवन।

संप्राप्ति

स्वप्रकोपक कारणो से प्रकुपित वायु दुर्बल मनवाले व्यक्ति के हृदय एव मनोवाही स्रोतो में प्रवेश करती है, तो मन को क्षुब्ध करती हुई ज्ञान को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार पित्त और कफ दुर्बल हृदय मे जाकर मन को क्षुब्ध करते हुए सज्ञा को नष्ट कर देते हैं, जिससे मदरोग की उत्पत्ति होती है।
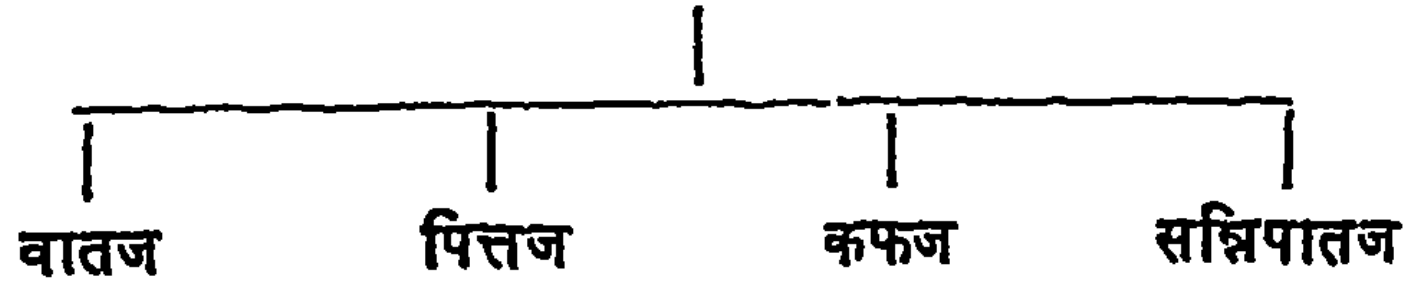
वातज मद के लक्षण

१. रुक-रुक कर, अस्पष्ट, अधिक और शीघ्रतापूर्वक बोलना, २. चञ्चल और अव्यवस्थित रहना और ३ शरीर का वर्ण रूक्ष, श्याव एव अरुण वर्ण होना।

पित्तज मद के लक्षण

१ क्रोधयुक्त कठोर वचन बोलना, २. मारपीट, लडाई-झगडे पसन्द करना और ३ रक्त, पीत अथवा काले वर्ण की आकृति होना।

कफज मद के लक्षण

१ अल्प तथा असम्बद्ध बातें करना, २ तन्द्रायुक्त और आलसी होना, ३. पाण्डु-वर्ण का होना और ४ सदैव किसी बात को सोचते रहना।

सन्निपातज मद के लक्षण

सभी दोषो से होनेवाले लक्षणो का होना, यह सन्निपातज मद का लक्षण है।

वक्तव्य—मद्य के पीने से जो मद होता है, वह शीघ्र ही उत्पन्न होता है और शीघ्र ही शान्त हो जाता है, उसी तरह ये रक्तज मद भी शीघ्र उत्पन्न और शान्त होने के स्वभाव वाले होते हैं।

वक्तव्य—मद्यपान या विष-भक्षण जन्य मद भी रक्तज मद की तरह वात-पित्त और कफ को छोडकर नही होते। उनमे भी दोषो का अनुबन्ध होता है।

मद्यज मद का निदान

१. बिना कुछ खाये-पिये अकेले नित्य मद्य पीना, २ क्रोध-शोक आदि से ग्रस्त होने पर, ३ व्यायाम या परिश्रम करने पर, ३ वेगावरोध होने पर, ४ जल या

अन्न से पेट के भरे रहने पर जो मद्य पीता है, उसमे मद्यजन्य मद आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।
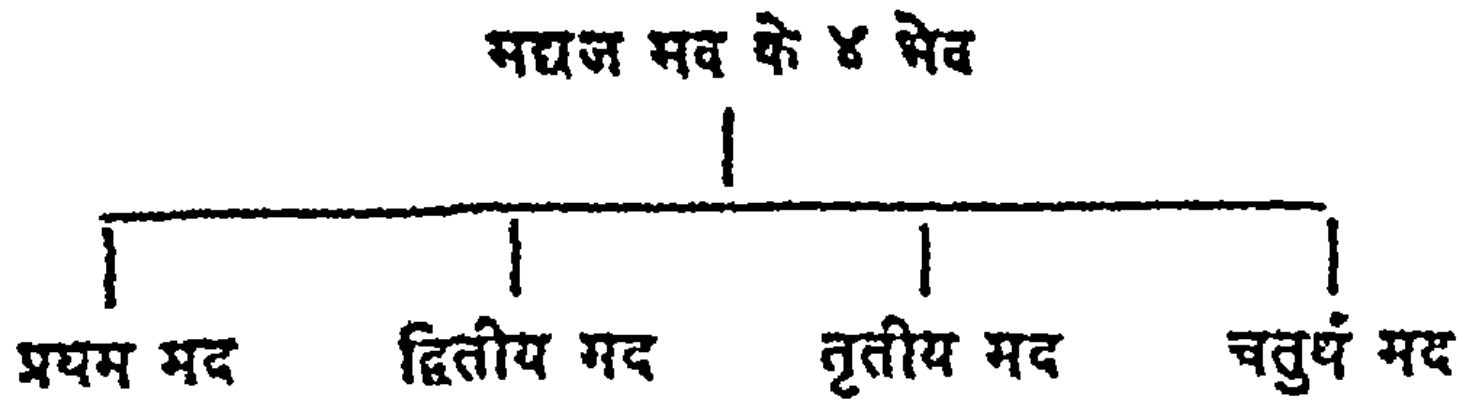
प्रथम मद के लक्षण

प्रथम मद के होने पर बुद्धि और स्मरणशक्ति मे तीव्रता, प्रसन्नता, सुख का अनुभव, भोजन, पेय पदार्थ और निद्रा मे रुचि की वृद्धि, पाठ करने, गाने और भाषण करने का मन होना तथा उनमे पटुता आना, ये लक्षण होते हैं। यह मद आनन्दवर्धक होता है।

द्वितीय मद के लक्षण

मद या नशे की द्वितीयावस्था मे बुद्धि-स्मृति-वाणी लडखडाने लगती हैं। इनकी अभिव्यक्ति अस्पष्ट होती है। वह मदहोश होकर पागलो जैसी हरकत एव बेढब तरीके से आचरण करता है। वह अशान्त एव आलस्य और निद्रा से अभिभूत रहता है।

तृतीय मद के लक्षण

तृतीय मद में वह मद्यपायी नशे के शिकञ्जे मे फँस जाता है। उसकी अपनी नियन्त्रण-शक्ति (Governing power) नष्ट हो जाती है। वह अगम्या स्त्री या अगम्य पथ की ओर भटक जाता है, गुरुजनो का सम्मान नही करता, अज्ञानतावश अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है और मन मे छिपी गोपनीय बातें भी प्रकट कर देता है।

चतुर्थ मद के लक्षण

इस चतुर्थ मद में रोगी अपने होश गँवा बैठता है तथा टूटी लकडी की तरह भूलुण्ठित हो जाता है। वह कार्य-अकार्य विवेकशून्य होता है तथा मरे हुए जैसा कही भी निष्क्रिय पडा रहता है।

वक्तव्य—आचार्य चरक ने द्वितीय मद की अवस्था पारकर किन्तु तृतीय मदावस्था मे पहुँचने के पूर्व एक अन्य मद का उल्लेख किया है। वह दो मदावस्था के बीच की स्थिति मदान्तर नाम से कही जाती है। जिसके लक्षण मे कहा गया है, कि इस मदान्तर अवस्था में आक्रान्त व्यक्ति किसी भी प्रकार के अशुभ-हानिकर या गलत काम कर सकता है। जैसे कोई पथिक ऐसे मार्ग पर नही चलता जहाँ प्राण-सकट हो, उसी तरह कौन ऐसा अबुद्धि होगा जो इस पागल बना देनेवाली प्राणहारक दशा मे अपने आप को डालना चाहेगा।

वस्तुत यह लक्षण तृतीय मद मे गतार्थ हो जाता है। अत. इसको मानने का औचित्य नही प्रतीत होता।

चिकित्सासूत्र

१ प्रथम मद हर्ष, उल्लास और आमोद को बढानेवाला होता है। अत उसमें सौम्य, रुचिकर आहार-विहार और व्यवहार करना चाहिए।

२. द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ मद मे रोगी को विस्मयजनक वार्तों से, प्रिय मधुर गीत-वाद्य से अद्भुत वस्तु दिखलाकर उसके मन को एकाग्र करे।

३ तीक्ष्ण नस्य, अञ्जन, कवलग्रह, घर्षण, उबटन, तीक्ष्ण धूम, तीक्ष्ण वमन-विरेचन आदि से रोगी को होश मे लावे और उसके मनोबल को बढाने का प्रयत्न करे।

४. होश-हवाश ठीक हो जाने पर लक्षण एव उपद्रवानुसार चिकित्सा की व्यवस्था करे।

५ स्नेहन-स्वेदन करके दोष तथा रोगी के बल के अनुसार पञ्चकर्म का प्रयोग करना चाहिए।

चिकित्सा

१ प्रात काल अदरक ५ ग्राम को १० ग्राम गुड के साथ देवे और रात में त्रिफला चूर्ण ६ ग्राम मन्दोष्ण जल से देना चाहिए।

२. नागरमोथा और पित्तपापडा १०-१० ग्राम ४ लीटर जल मे अर्धावशिष्ट पकाकर पीने के लिए देवे।

३ खजूर, मुनक्का, कोकम, इमली, फालसा और आंवले के चूर्ण को अनार के रस के साथ पीने योग्य बनाकर सवेरे शाम दे।

४ त्रिकटु चूर्ण ३ ग्राम, सोचरनमक ½ ग्राम जल मे घोलकर पिलावे। यह वातज मद मे लाभकर होता है। पित्तज मे वट की वरोह को पीसकर चीनी और बर्फ के पानी से पिलावे। कफज मे मद्य पिलाकर वमन एव लघन करावे और दीपनीय औषध दे।

५ सुपारी खाने से हुए मद मे शीतल जल पिलावे और शीतोपचार करे।

६. धतूरे के नशे मे चीनी मिला हुआ गोदुग्ध पीने को दे।

७ भांग के नशे मे इमली का पानक या निम्बुजल पिलावे तथा खटाई खिलावे।

सिद्धयोग

८. मूर्च्छान्तक रस २०० मि० ग्रा० गोदुग्ध से ४ बार रोज दे।

९. कल्याण घृत १५ ग्राम गोदुग्ध से दिन मे ३ बार दे।

१० अष्टाङ्ग लवण २–२ ग्राम नीबू के रस से ३–४ बार दे।

११ रससिन्दूर १२५ मि० ग्रा० पीपर चूर्ण ½ ग्राम व मधु से ३ बार दे।

१२ वसन्तमालती १२५ मि० ग्रा० मधु से दिन मे ३ बार देना चाहिए।

मदात्यय

सामान्य निदान

१. खाली पेट मद्यपान, २. नित्य मद्यपान, ३. केवल मद्यपान, ४. क्रोध-भय-तृष्णा-शोक से पीडित अवस्था मे, ५ व्यायाम-भारवहन-मार्गगमन से थके होने पर, ६ वेगो को रोकने पर, ७. अति जल पीने तथा पेट के अधिक भरे रहने पर, ८ अध्यशन रहने पर, ९. उष्णता से त्रस्त होने पर और १० शरीर के दुर्बल होने पर किया गया मद्यपान अनेक प्रकार के मदात्यय रोग को उत्पन्न करता है।

संप्राप्ति

मद्य अपने प्रभाव से हृदय को आक्रान्त कर अपने (१) लघु गुण से ओज के गुरु गुण को नष्ट कर देता। इसी तरह (२) उष्ण गुण द्वारा शीत को (३) अम्ल गुण द्वारा मधुर गुण को (४) तीक्ष्ण गुण द्वारा मृदु गुण को (५) आशुग गुण द्वारा निर्मल गुण को (६) रूक्ष गुण द्वारा स्निग्ध गुण को (७) व्यवायी गुण द्वारा स्थिर गुण को (८) विकासी गुण द्वारा श्लक्ष्ण गुण को (९) विशद गुण द्वारा पिच्छिल-गुण को और (९) सूक्ष्म गुण द्वारा ओज के बहल गुण को नष्ट कर देता है[१]। इसी तरह मद्य द्वारा ओज के गुणो के नष्ट हो जाने पर ओज पर आश्रित मन में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, उसके बाद मद्य, मदात्यय या नशा को जन्म देता है।

सामान्य लक्षण

१ शरीर मे अति वेदना, २ सम्मोह, ३. हृदय-व्यथा, ४. अरुचि, ५. सदा तृष्णा, ६. शीत या उष्ण ज्वर, ७ शिर-पार्श्व तथा अस्थिसन्धियो मे बिजली के करेण्ट जैसी वेदना, ८ जोरदार जम्भाई, ९ फडकन, १० कम्पन, ११ थकावट, १२. उर स्तम्भ, १३. कास-श्वास, १४ हिक्का, १५ निद्रानाश, १६. कर्णरोग, १७ मुखरोग, १८ त्रिक मे जकडन, १९. वमन, २० अतिसार, २१ मिचली, २२. त्रिदोषज रोग, २३. भ्रम-प्रलाप, २४ असद् रूपदर्शन, २५ तृण-पर्ण-लता-पांशु-भस्म से शरीर ढँकना, २६ ऐसा आभास होना, जैसे कि कोई पक्षी चोंच मार रहा हो या लेकर उड गया हो, २७ स्वप्न मे व्याकुल करनेवाले अशुभ दृश्यो को देखना, ये सब लक्षण-मदात्यय में होते हैं।

---

१ (क) मद्य के १० गुण—

लघूष्णतीष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च।
रूक्षं विकासि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥

(ख) ओज के १० गुण—

गुरुशीत मृदुश्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥

(ग) मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्।
दशभिर्दश सङ्क्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्॥ च० चि० २४।२९–३१
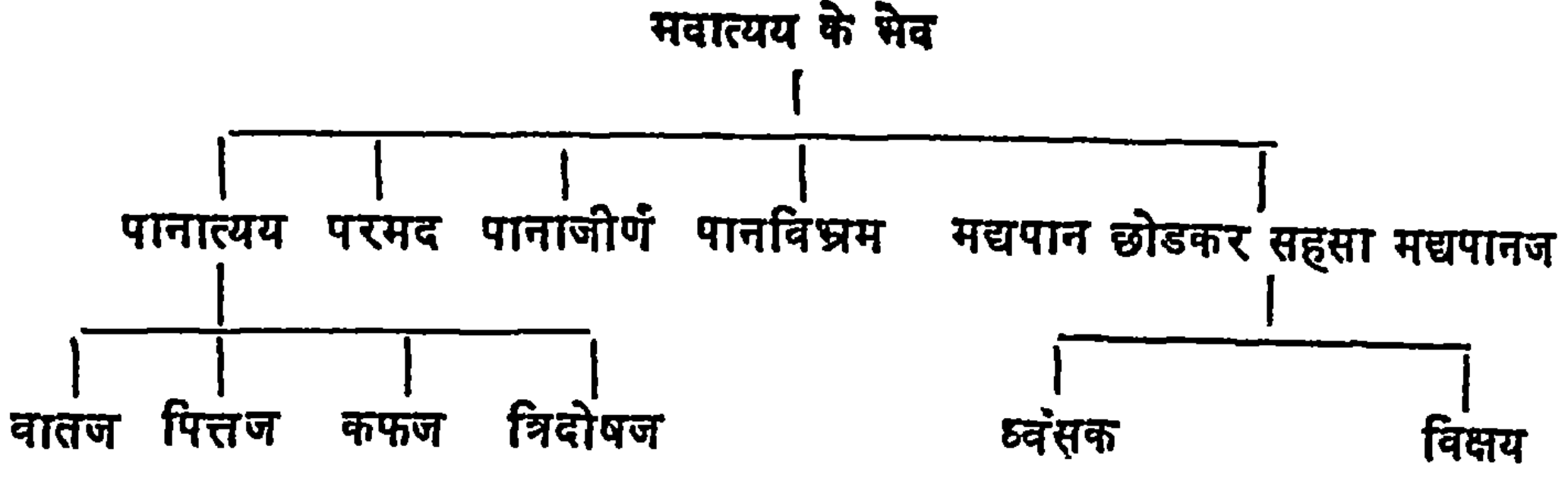
वातज पानात्यय लक्षण

१ हिचकी, २ श्वास, ३. शिर कम्प, ४ पार्श्वशूल, ५ निद्रानाश, ६. बहु प्रलाप।

पित्तज पानात्यय लक्षण

१ तृष्णा, २. दाह, ३. ज्वर, ४. स्वेद, ५ मूर्च्छा, ६ अतीसार, ७ विभ्रम, ८. हरितवर्णता।

कफज पानात्यय लक्षण

१. वमन, २. अरुचि, ३ मिचली, ४. तन्द्रा, ५ भारीपन, ६. शीत लगना और ७. शरीर का गीले कपडे से आवृत्त होने जैसा अनुभव करना।

त्रिदोषज पानात्यय लक्षण

तीनो दोषो के लक्षणो से युक्त होना।

परमद का लक्षण

१ कफाधिक्य, २ अङ्गगौरव, ३ आस्यवैरस्य, ४ मल-मूत्रावरोध, ५ तन्द्रा, ६ अरुचि, ७ तृष्णा, ८ शिर शूल, ९ सन्धिशूल।

वक्तव्य—ये लक्षण मद्यपान की खुमार या पश्चाद्भावी अवसाद के हैं। मद्यपान से उत्तेजित विभिन्न अवयव मद्य-प्रभाव के शान्त होने पर श्रान्त और शिथिल हो जाते हैं। मद्य विष के समान विकासी होने से सन्धियो मे शैथिल्य और पीडा उत्पन्न करता है।

पानाजीर्ण लक्षण

पानाजीर्ण मे मद्य का पाचन न होने से—१ तीव्र अफारा, २ वमन तथा ३ शरीर मे जलन होती है।

पानविभ्रम लक्षण

(Chronic alcoholism)

१. हृदय तथा शरीराङ्गो मे सूचीवेधनवत् पीडा, २ नासा एव मुख से कफस्राव, ३ कण्ठ से धुंआ-सा निकलना, ४ मूर्च्छा, ५. वमन, ६. शिर शूल, ७ शरीर मे दाह और ८. विभिन्न प्रकार के मद्य तथा भोजन में अरुचि।

ध्वंसक के लक्षण

१. कफप्रसेक, २ कण्ठशोष, ३. शब्दासहिष्णुता, ४ अतितन्द्रा-निद्रा।

विक्षय के लक्षण

१ हृद्रोग, २ कण्ठरोग, ३ सम्मोह, ४. वमन, ५. वेदना, ६. ज्वर, ७. वमन, ८ पार्श्वशूल, ९ कास और १० भ्रम होना।

मदात्यय के उपद्रव

१ हिक्का, २ ज्वर, ३ कम्प, ४. वमन, ५ पार्श्वशूल, ६. कास और ७ भ्रम।

असाध्य लक्षण

१ प्रलम्बमान उपरितन ओष्ठ, २. बाहर अतिशीत, ३. आभ्यन्तर अतिदाह, ४. मुख में तेल लगा जैसा मालूम देना, ५. जिह्वा, ओष्ठ, दाँत काले-नीले होना, ६ आँखें पीली होना अथवा रक्त के समान लाल होना।

चिकित्सासूत्र

१. सभी मदात्यय त्रिदोषज होते हैं, किन्तु जिस दोष की अधिकता दीख पड़े, उस दोष की चिकित्सा पहले करनी चाहिए।

२ जब तीनों दोषों की समता रहे, तो पहले कफ, फिर पित्त, तब वायु की चिकित्सा करे।

३ जिस मदिरा के हीन या अतिमात्रा में अविधि पीने से मदात्यय हुआ हो, उसी मदिरा के सम मात्रा में सविधि पीने से यह शान्त हो जाता है।

४ मदात्यय रोग के हल्का होने पर अन्न में रुचि होने पर हितकर आहार-विहार करावे।

५. मद्यपान के तुरन्त बाद १५—२० ग्राम घी में चीनी मिलाकर पिला देने से नशा नहीं चढता है।

६. ध्वंसक तथा विक्षय में दूध और घी का अधिक प्रयोग करे, अनुवासन और यापनबस्ति का प्रयोग तथा वातनाशक तैलाभ्यङ्ग, उबटन और वातनाशक पौष्टिक पथ्य देना चाहिए।

७ मद्यपान-जनित अन्नरस की विदग्धता तथा क्षारीयता के कारण दाह, ज्वर, तृष्णा और मदविभ्रम होने पर पुन मद्य ही पिलाना चाहिए, क्योंकि मद्य अम्लों में श्रेष्ठ है और उसका क्षारीय गुण अम्ल के साथ मिलकर मधुर गुण में परिवर्तित हो जाता है।

८. संशोधन, संशमन, शयन, लङ्घन और परिश्रम हितकर है।

चिकित्सा

वातज मदात्यय मे औषध एवं आहार-विहार

१. पिण्ड खजूर, मुनक्का, वृक्षाम्ल (कोकम), इमली, अनार, फालसा और आँवले से सिद्ध जल मे लाजा का सत्तू घोलकर पिलाना चाहिए।

२ कालानमक, सोठ, मरिच, पीपर के चूर्ण डालकर जल मिश्रित मद्य पिलावे।

३ बिजौरा नीबू, वृक्षाम्ल, वेरमज्जा, अनार, अजवायन, आर्द्रक और सैन्धव-लवण पीसकर मिलाया हुआ हलका जल मिला मद्य पीना हितकर है।

४. लावा, तित्तिर, मुर्गा और मोर एव मृग, मछली तथा आनूप जीवो के मासरस को स्निग्ध और अम्ल द्रव्यो से सस्कृत कर अगहनी चावल के भात से खिलावे।

५ अभ्यग, उवटन, उष्ण स्नान, यौवन की ऊष्मा से गरम देहवाली विपुल नितम्ब-ऊरु-स्तनभार से आनम्र मुख सरसाने और आमोद-प्रमोद का अभिवर्षण करनेवाली प्रमदाओ का प्रगाढ आलिङ्गन, उष्ण शयनागार, उष्ण आच्छादन, उष्ण प्रावार तथा उष्ण अन्तर्गृह निवास वातप्रबल मदात्यय का शीघ्र शमन करते हैं।

पित्तज मदात्यय मे औषध एवं आहार-विहार

१. कमरख, खजूर, मुनक्का, फालसा, खट्टे अनार, इनके रस को मद्य मे मिलाकर जौ का सत्तू और चीनी डालकर पिलाना चाहिए।

२. मूँग के यूष मे चीनी डालकर अथवा मधुर मासरस पिलाना चाहिए।

३. मुनक्का, आँवला, खजूर और फालसा के रस से युक्त सत्तू का तर्पण पिलावे।

४ शीतल जल, शीतल आहार, शीतल वायु, शीतल शयन-आसन-गृह और खाने-पीने के शीतल द्रव्यो का प्रयोग पित्तज मदात्यय को शान्त करता है।

५ स्नान-अवगाहन शीतल जल मे करावे और सौम्य, मनोहर, रुचिवर्धक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धो की व्यवस्था करनी चाहिए।

कफज मदात्यय चिकित्सा

१. मदनफल चूर्ण ४–५ ग्राम या वच चूर्ण ४ ग्राम मद्य मे डालकर थोडा जल मिलाकर पिलाकर वमन करावे। रोगी के बल के अनुसार लघन करावे तथा दीपन औषधो का प्रयोग करे।

२. कफज मदात्यय के रोगी का शरीर जब आमदोष से मुक्त हो जावे तो भूख लगने पर चीनी डालकर बनाये गये पुराने अरिष्ट मे धान के लावा का सत्तू मिलाकर अजवायन तथा सोठ का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए।

३ खट्टे अनार या नीबू का रस डालकर परवल का यूष पिलावे या जौ का सत्तू घोलकर पीने को देवे।

४. मासार्थी को मरिच चूर्ण, नीबू का रस, अजवायन और सोठ का चूर्ण डालकर भूना हुआ मास सेंधानमक डालकर देवे।

५ रूक्ष-उष्ण अन्नपान, गरम जल से स्नान, व्यायाम, उपवास, रूक्ष उबटन, गुरुवस्त्र धारण, आलिङ्गन मे उष्ण और सुखकर उरोज आदि अङ्गोवाली स्त्रियो का आलिङ्गन, प्रशिक्षित होनेवाली प्रिय ललनाओ द्वारा देह दबवाना आदि कफज मदात्यय के विकारों को दूर करते हैं।

सिद्ध औषध

६. अष्टाङ्ग लवण—कालानमक, स्याहजीरा, इमली, अम्लवेत १–१ भाग, दालचीनी, छोटी इलायची, मरिच आधा-आधा भाग और चीनी १ भाग मिलाकर कूट-पीसकर रख ले। १–१ ग्राम दिन मे ३–४ वार जल से देवे।

त्रिदोषज मदात्यय चिकित्सा

१. दोष की प्रबलता के अनुसार चिकित्सा करे, बृंहण उपचार करे और दूध पीने को देवे।

ध्वंसक और विक्षय

इनमें वातज मदात्यय के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

सामान्य चिकित्सा

१. सर्वविध मदात्यय मे एलादि मोदक ५–१० ग्राम धारोष्ण दूध से २ वार दे।

२. महाकल्याण वटी १२५ मि० ग्रा० की १ मात्रा मक्खन-मिश्री से सवेरे-शाम दे।

३ भोजनोत्तर श्रीखण्डासव २० मि० ली० की १–१ मात्रा समान जल से २ वार पिलावे।

पथ्य

गेहूँ, जौ, मूँग, पुराना चावल, परवल, चौलाई, आंवला, विजौरा नीबू, फालसा, मृग, तित्तिर, मुर्गा, मोर का मास एवं मनपसन्द मद्यपान पथ्य हैं।

सशोधन, सशमन, शयन, उपवास, मित्रसङ्गम, प्रिया-आश्लेप, चाँदनी, मणि-धारण, शीतल जल, चन्दनानुलेप, सगीत-वाद्य, ये पथ्य हैं।

अपथ्य

स्वेदन, अञ्जन, धूम्रपान, नस्य, दातौन करना और पान खाना ये सब मदात्य रोगी के लिए अपथ्य हैं।

द्वाविंश अध्याय

यौनसंक्रमित रोग तथा यौनमनोगत विकार

यौनसंक्रमित रोग

(Sexually Transmitted Diseases)

यौनसंक्रमित रतिजन्य रोगो में—१ पूयमेह—सूजाक अथवा गनोरिया (Gonorrhoea), २ फिरङ्ग-आतशक-सिफिलिस (Syphilis) और ३ उपदंश-ध्वजभङ्ग-साफ्ट शेंकर (Soft chancre), ये तीन प्रमुख रोग है। इनके अतिरिक्त दो अन्य सक्रमण जनित रोग—१ रतिजन्य वक्षणीय कणिकार्बुद (Granuloma) तथा २ लिम्फो ग्रेन्यूलोमा होते हैं।

पूयमेह

(Gonorrhoea)

पर्याय और परिचय

पर्याय—इसे औपसर्गिक मेह, व्रणमेह, आगन्तुकमेह, पूयमेह, सुजाक, गनोरिया और भृशोष्णवात कहते हैं।

यह एक तीव्र औपसर्गिक (सक्रमणशील) रोग है, जिसमे मूत्रमार्ग मे शोथ होकर उसमे पूय निकलता है और वाद मे मूत्रप्रजनन-सस्थान के तथा शरीर के अन्य सस्थानो के विभिन्न अगो मे शोथ होता है। स्त्रियो की योनि तथा मूत्रमार्ग मे शोथ हो जाता है और फिर उनसे लसीका का स्राव होने लगता है।

निर्वचन—(१) पूयमेह रोग से आक्रान्त स्त्री के साथ सभोग करने से पुरुष को तथा पूयमेह से ग्रस्त पुरुष के साथ मैथुन करने से स्त्री को इस रोग का सक्रमण या उपसर्ग हो जाता है, इसलिए इस रोग को औपसर्गिक मेह कहते हैं—'उपसर्गात् जात औपसर्गिक'।

(२) मूत्रमार्ग से पूय का स्राव होने के कारण इस रोग को पूयमेह कहते हैं—'पूय मेहत्यत पूयमेह'।

(३) इसके लक्षण व्रणवत् होते हैं और इसका उपचार भी व्रणवत् होता है, इसलिए इसे व्रणमेह कहते हैं—'व्रणवत् तस्य लक्षणोपचारौ भवत इति व्रणमेह'।

(४) आगन्तुक (जीवाणु) जन्य होने से इसे आगन्तुक मेह कहते हैं।

(५) उष्णवात (जो मूत्राघात का एक भेद है) के लक्षण इस रोग मे तीव्र रूप मे उभडते हैं, इसलिए इसे भृशोष्णवात कहते हैं।

निदान

इस रोग के कारण दो बिन्दुओ के सदृश आकारवाले कीटाणु गोनोकोक्कस (Gonococcus) हैं।

संक्रमण

पूयमेहाक्रान्त पुरुष या पूयमेह से पीड़ित स्त्री के सहवास से यह रोग स्वस्थ व्यक्तियों पर भी आक्रमण कर देता है। इनके रोगाणु मूत्रप्रजनन-संस्थान तथा श्लेष्मल त्वचा से शरीर में प्रवेश करते हैं। पूयमेहवाली स्त्री के साथ संभोग करने अथवा पूयमेही बालक के साथ गुदमैथुन करने, पूयमेह से पीड़ित स्त्री-पुरुष बालक के साथ उठने-बैठने, सोने और उनके वस्त्र पहनने आदि से इस रोग का संक्रमण होता है।

सम्प्राप्ति

जिस स्त्री की योनि अनेक रोगों के कारण क्लिन्न तथा कण्डूयुक्त हो अथवा जो रजस्वला हो और जो अनेक पुरुषों से संभोग कराती हो, ऐसी स्त्रियों के साथ कामान्ध होकर जब पुरुष संभोग करता है, तो उसे पूयमेह हो जाता है। फलस्वरूप मूत्रमार्ग के अन्दर की श्लेष्मलत्वचा में व्रण हो जाते हैं और उनसे क्लेद निकलता रहता है। पूयमेही व्यक्ति जब किसी स्त्री के साथ संभोग करता है, तो उस स्त्री को भी पूयमेह हो जाता है।

गोनोकोक्कस नामक जीवाणु के मूत्रमार्ग में प्रवेश करने के कारण यह रोग होता है। २ से ८ दिन के अन्दर शिश्नमणि फूली हुई तथा लाल दिखलाई देती है। मूत्र में दाह और मूत्रकृच्छ्रता होती है। जीवाणु शरीर के भीतर प्रजनन संस्थान में प्रवेश कर जाते हैं, तो उनके प्रवेश की गति के अनुसार पुरुषों में वृषण, अधिवृषण, वस्ति, शुक्राशय, पौरुषग्रन्थि आदि में शोथ उत्पन्न करते हैं तथा स्त्रियों में योनि, गर्भाशय, बीजवाहिनी, वस्ति, उदरावरण आदि में प्रवेश करके शोथ उत्पन्न करते हैं।

लक्षण

इस रोग में क्षोभ के कारण बार-बार लिङ्ग का उत्थान होता है। लिङ्ग के अग्रभाग में कण्डू होती है। मूत्रत्याग के समय असह्य वेदना और दाह होती है। धीरे-धीरे शिश्नमणि पर लाली और शोथ हो जाता है। मूत्रमार्ग में दाह होने से रोगी बेचैन रहता है। पुनः-पुनः मूत्र का वेग होता है। मूत्रत्याग के समय कष्ट होता है। शिश्न तन जाता है और उससे स्राव आने लग जाता है। कभी-कभी शोथ के कारण मूत्रमार्ग से रक्तस्राव होता है और कभी-कभी पूय अन्दर ही सूखकर मूत्रमार्ग में अवरोध उत्पन्न कर देता है। मूत्रपथ का छिद्र सङ्कुचित हो जाता है और मूत्र दाह के साथ दो धाराओं में आता है। कदाचित् पीड़ा के साथ शिश्नोत्थान होकर वीर्यस्खलन भी हो जाता है।

उपद्रव

मूत्रमार्ग में प्रविष्ट हुए जीवाणु शरीर में तीन मार्गों से फैलते हैं और उपद्रव उत्पन्न करते हैं—

(१) सरल सान्निध्य से —मूत्रमार्ग सन्निरोध, शिश्नमणि शोथ, अष्ठीला शोथ, शिश्नविद्रधि, वस्तिशोथ, वृषणशोथ आदि उपद्रव होते हैं।

स्त्रियों मे भगोष्ठ शोथ, मूत्रमार्ग शोथ, योनिशोथ, गर्भाशयग्रीवा शोथ, गर्भाशय शोथ, बीजवाहिनी शोथ, उदरकला शोथ, बीजग्रन्थि शोथ, मासिकधर्म के विकार, गर्भवती होने पर गर्भस्राव, नवजात बालक मे नेत्राभिष्यन्द आदि उपद्रव होते हैं।

(२) हस्त से—स्रावदूषित हाथ के नेत्र पर लगने से नेत्राभिष्यन्द, नासा मे लगने से नासाशोथ एवं गुद मे लगने से गुदशोथ होता है।

(३) रक्तमार्ग से—जीवाणु के रक्त मे प्रविष्ट होने पर सन्धिशोथ, स्नायुशोथ, अन्तर्हृच्छोथ और जीवाणुमयता आदि उपद्रव होते हैं।

वक्तव्य—यह रोग हठी है, किन्तु घातक नही है। यह कृच्छ्रसाध्य रोग है। प्रारम्भ में यदि इसकी उचित चिकित्सा न की गयी, तो आजीवन बना रहता है।

चिकित्सासूत्र

१ मैथुन का सर्वथा त्याग कर देवे। वेश्या तथा पुंश्चली स्त्रियो के साथ कदापि संभोग न करे।

२. शोथनाशक, व्रणनाशक, वातानुलोमक तथा मूत्रल औषध, आहार-विहार की योजना बनानी चाहिए।

३. रोगी को बिस्तरे पर आराम से रहना चाहिए। दौडना, नाचना, सायकिल चलाना या घोडे पर सवारी करना छोड दे।

४. चाय, काफी, कोको, गरम मसाले तथा मास-मछली न खावे।

५. दूध, तीसी का फाण्ट, भिण्डी का पानी, नारियल जल और सोडावाटर पिलावे।

६. दूध की लस्सी और नीबू का शर्बत पिलाना हितकर है।

७ कामोत्तेजक विषयो का दर्शन, भाषण, पठन तथा चिन्तन नही करना चाहिए।

८ रोगी का वस्त्र तौलिया आदि का अन्य लोग प्रयोग न करें।

९. शिश्न का स्पर्श करने पर जन्तुघ्न घोल से हाथो को धो लेना चाहिए।

१० शिश्न को दबाना या मसलना नही चाहिए। मलावरोध होने पर मृदु विरेचक औषध देनी चाहिए।

चिकित्सा

१ चमेली के पत्ते के क्वाथ, बबूल क्वाथ, दारुहरिद्रा क्वाथ या खदिर क्वाथ मे अन्दाज से फिटकरी, कत्था और रसाञ्जन का बारीक चूर्ण मिलाकर उसकी उत्तरवस्ति दे और उसमे रूई भिगोकर शोथयुक्त शिश्न पर रखे। इसी क्वाथ में लिङ्ग को निमज्जित करे और योनि का सिञ्चन करे। पिचकारी दिन में ३ बार लगावे।

२ औषध-प्रयोग के पूर्व कोष्ठशोधन कर लेवे और इसके लिए ३०० मि० ली० गरम दूध मे १५ से २५ ग्राम एरण्ड तैल मिलाकर पिलावे।

३ मूत्रविरेचनार्थ—राल का चूर्ण २ ग्राम और देशी चीनी २ ग्राम की १–१ मात्रा १ गिलास जल से दिन भर में १०–१२ बार दो-तीन दिनो तक देवे।

४. तीसरे दिन से दिन में ३ बार चन्दन का तेल ४–४ बूँद छोटे बताशे में गोदुग्ध से दे।

५ मूली के पत्तो के स्वरस २५० मि० ली० में कलमीशोरा ३ ग्राम मिलाकर ३ दिन दे।

६. तृणपञ्चमूलादि योग—कुश-काश-शर-ईख तथा दाभ की जड़, श्वेत-चन्दन, गोखरू, समभाग में लेकर ३० ग्राम का क्वाथ बनाकर चीनी मिलाकर दिन में ३ बार दे।

७ पूयमेहारि चूर्ण—फिटकरी शुद्ध, कलमीशोरा, छोटी इलायची, संगजराहत, सफेद चन्दन, रेवत चीनी, शीतलचीनी, सफेद जीरा १०–१० ग्राम, बिरोजे का सत्व २० ग्राम, राल ३० ग्राम और सभी के बराबर चीनी मिलाकर चूर्ण बनावे। ३–३ ग्राम की मात्रा दिन में ३ बार दूध की लस्सी में देवे।

८ मूत्रविरेचन चूर्ण—शीतलचीनी, रेवतचीनी, छोटी इलायची, जीरा १०–१० ग्राम, कलमीशोरा २० ग्राम तथा चीनी ५० ग्राम डालकर चूर्ण बनावे तथा ३–३ ग्राम दूध की लस्सी से ४–५ बार रोज दे।

९ वट-जटा, पीपर-गूलर पाकड़ और महुआ की छाल मिलित १५ ग्राम लेकर पीसकर, छानकर १०० मि० ली० जल मिलाकर ३० ग्राम चीनी डालकर और चन्दन का तेल ४ बूँद मिलाकर सबेरे-शाम पिलाना चाहिए।

१०. अनन्तमूल, मकोय, कपूरी, दुग्धिका, गोखरू, आँवला फल और पीपर की छाल का पृथक्-पृथक् १५ ग्राम का क्वाथ बनाकर चीनी डाल सबेरे-शाम देवे।

११. खीरा-ककड़ी-कासनी-खरबूज-तरबूज, इनके बीज की गिरी ६–६ ग्राम, काहू ६ ग्राम, कलमीशोरा ६ ग्राम और गोखरू १० ग्राम लेकर चूर्ण करके ९ खुराक बनाकर दूध की लस्सी से २–२ घण्टे पर पिलावे।

१२. शिलाजित्वादि वटी—शुद्ध शिलाजीत २० ग्राम, शीतलचीनी ४ ग्राम, पाषाणभेद ४ ग्राम, छोटी इलायची के दाने ४ ग्राम, बड़ी इलायची के दाने ४ ग्राम, पुराना गुड़ ४ ग्राम, हर्रे चूर्ण ५ ग्राम, बहेड़ा चूर्ण ५ ग्राम और आँवला चूर्ण ५ ग्राम लेकर, सबका चूर्ण कर बकायन और नीम के पत्तों के स्वरस से घोटकर जंगली बेर के बराबर गोली बनावे। १ गोली प्रतिदिन प्रात दूध की लस्सी से खिलावे।

१३. मोती के सीप की भस्म ६०० मि० ग्रा० तथा फिटकरी का फूला ६०० मि० ग्रा० की ४ मात्रा बनाकर दिन में ४ बार गोदुग्ध से देवें।

१४ नागभस्म १२५ मि० ग्रा० की १ मात्रा दूध की लस्सी से दिन में ३ बार देवे।

१५. स्वर्णवंग ५०० मि० ग्रा० तथा शीतलचीनी ४ ग्राम चूर्णकर ४ मात्रा बनाकर दिन में ४ बार दूध से देवे।

१६ सिद्धयोग—चन्द्रकला वटी, शिवा गुटिका, चन्द्रप्रभा वटी, गोक्षुरादि गुग्गुलु, मेहमुद्गर रस, पूर्णचन्द्र रस, पूयमेहान्तक चूर्ण, तृणपञ्चमूलादि क्वाथ, महाभ्र वटी,

कन्दर्परस, वसन्ततिलक, वृहद् वगेश्वर रस आदि का उचित मात्रा और अनुपान के साथ प्रयोग करना लाभप्रद है।

व्यवस्थापत्र

१ सवेरे-दोपहर-शाम

शिलाजित्वादि वटी	१ ग्राम
स्वर्ण वंग	३७५ मि० ग्रा०
नागभस्म	३७५ मि० ग्रा०
दूध की लस्सी से।	३ मात्रा

२. ९ वजे व २ वजे

पूयमेहारि चूर्ण	६ ग्राम
१ गिलास जल से।	२ मात्रा

३. भोजन के वाद २ वार

चन्दनासव	४० मि० ली०
वरावर जल से पीना।	२ मात्रा

४. रात मे सोते समय

चन्द्रप्रभा वटी १ ग्राम दूध से।

पथ्य

नारियल का जल, वकरी या गाय का दूध, दूध की लस्सी, नीवू का शर्वत, पुराना चावल, जौ, गेहूँ तथा मूँग की दाल।

अपथ्य

दौड-धूप करना, सायकिल चलाना, अंडा, मास, मछली, गरम मसाला, सुरा और मैथुन, ये सब अपथ्य हैं।

फिरङ्ग सिफिलिस
(Syphilis)

पर्याय और परिचय

इसे गरमी, आतशक, फिरङ्ग और सिफिलिस कहा जाता है। फिरङ्गियो (पोर्तुगीज) के साथ सहवास करने से भारतवर्ष मे इस रोग का सक्रमण हुआ, इसलिए इसे फिरङ्ग कहते हैं। यह रोग एक मैथुनजन्य सक्रामक व्याधि है। सबसे पहले भावमिश्र ने इस रोग का वर्णन किया। यह दीर्घकालानुबन्धी औपसर्गिक रोग है। यह स्वोपार्जित (Self-acquired) और माता के द्वारा होने से जन्मबल-प्रवृत्त (Congenital) होता है।

निदान

इस रोग का प्रधान कारण ट्रिपोनिमा पैलिडम (Treponema pallidum) नामक जीवाणु है। यह जीवाणु अत्यन्त सौम्य लालकण के समान किन्तु लम्बा और कुण्डलित होता है। यह जीवाणुनाशक द्रव्यों से शीघ्र ही मर जाता है, किन्तु आर्द्र-स्थान में ४०–५० दिनों तक जीवित रहता है।

सहायक कारण—मैथुन या वंश-परम्परा इसके सहायक कारण हैं। वंश-परम्परा से सहज फिरङ्ग होता है। इसका कारण सन्तानोत्पादक बीज का फिरङ्ग से प्रभावित होना है।

संप्राप्ति और संक्रमण

(१) मैथुन—फिरङ्ग रोग से ग्रस्त पुरुष या स्त्री के साथ मैथुन करने से इसका संक्रमण स्वस्थ व्यक्ति में होता है। मैथुन की रगड से जननेन्द्रिय की श्लेष्मल त्वचा पर जो सूक्ष्म क्षत बनते हैं, उनमें से जीवाणु शरीर मे प्रवेश करता है। इस जीवाणु के अक्षत श्लेष्मल त्वचा द्वारा भी प्रवेश कर जाने की क्षमता होती है।

(२) अमैथुनीय या बहिर्जननेन्द्रिय मार्ग—अमैथुनीय उपसर्ग मुख्यतया चुम्बन से होता है और बहिर्जननेन्द्रिय (Extra-genital) व्रणो में इसी कारण ७० प्रतिशत व्रण ओठो पर उत्पन्न होते हैं। दूसरा स्थान स्तन का है। चिकित्सको और परिचारको की अगुलियो पर व्रण उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष सम्बन्ध के अतिरिक्त उपसृष्ट वस्त्र, पात्र आदि के द्वारा भी रोग का संक्रमण हो सकता है।

(३) रक्तमार्ग—फिरङ्ग रोगियो के रक्त मे प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक की पूर्वस्थिति मे चक्राणु होते हैं। यदि इस अवस्था मे फिरङ्गग्रस्त व्यक्ति का रक्त किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति को दिया जाय तो उसमे फिरङ्गरोग उत्पन्न हो जायेगा।

(४) सहज मार्ग—फिरङ्गी व्यक्ति की सन्तान फिरङ्ग-पीडित होती है। पिता बच्चे को स्वय उपसृष्ट नही कर सकता, परन्तु पत्नी के द्वारा करता है। योनिमार्ग फिरङ्गयुक्त होने पर प्रसूति के समय बालक मे भी उपसर्ग पहुँच सकता है।

फिरङ्ग के प्रकार

फिरङ्गरोग—१ बाह्य, २. आभ्यन्तर और ३. बाह्यान्तर भेद से तीन प्रकार का होता है—

(१) बाह्य फिरङ्ग मे फोडे निकलते हैं, जिनमे पीडा कम होती है और फूटने पर व्रण के समान वह सुखसाध्य होता है।

(२) आभ्यन्तर फिरङ्ग सन्धिगत होता है। यह आमवात के समान पीडायुक्त शोफ को उत्पन्न करता है। यह कष्टसाध्य होता है।

उपद्रव

कृशता, बलहानि, नासिका का नीचे झुक जाना या टेढ़ी हो जाना, अग्निमान्द्य, अस्थिशोष तथा अस्थिवक्रता (Ricket) ये फिरङ्ग के उपद्रव हैं।

साध्यासाध्यता

उपद्रव से रहित नवीन और बाह्य साध्य, आभ्यन्तर कष्टसाध्य तथा क्षीण रोगी का उपद्रवसहित बाह्य या आभ्यन्तर प्रकार का फिरङ्ग असाध्य होता है।

सञ्चयकाल—२ से ६ सप्ताह तक है।

लक्षण

लक्षण तथा समय की दृष्टि से इस रोग की चार अवस्थाएँ होती हैं—

(१) **प्रथमावस्था**—सम्भोग के दूसरे या तीसरे सप्ताह मे केवल शिश्न पर या शिश्न के अग्रचर्म के भीतर की ओर पीछे जोड के पास अथवा नीचे की ओर सीवन पर तथा मूत्रदण्डिका (Urethra) मे छिद्र के ओष्ठो के भीतर तथा स्त्रियो मे बृहद् भगोष्ठ के भीतरी अग पर एक छोटा-सा दाना पड जाता है, जो धीरे-धीरे बढकर फूट जाता है और व्रण बन जाता है। स्पर्श मे यह कठिन होता है। इस व्रण से केवल लसीका का स्राव होता है, जिसमे रोग के जीवाणु होते हैं। व्रण होने के एक या दो सप्ताह पश्चात् वक्षण की लसीका ग्रन्थियाँ फूलती हैं।

(२) **द्वितीयावस्था**—इस अवस्था मे विष समस्त शरीर मे फैल जाता है। ओठ, जीभ, तालु, कपोल के भीतरी भाग और गले के दोनो ओर की श्लेष्मल कला पर छाले पड जाते हैं, जो गोल या अर्धचन्द्राकार होते हैं। ग्रीवा, कोहनी तथा कक्षा की लसीका ग्रन्थियाँ भी फूलती हैं। ज्वर, शिर तथा सन्धियो मे पीडा और रक्ताल्पता आदि सर्वाङ्गिक लक्षण भी मिलते हैं।

(३) **तृतीयावस्था**—यह अवस्था व्रण बनने के छह मास बाद तथा कदाचित् दो-तीन वर्ष बाद भी प्रारम्भ होती है। त्वचा, उपत्वचा, लसीकाग्रन्थियाँ, मासपेशियाँ, अस्थ्यावरण, मस्तिष्कावरण, यकृत्, प्लीहा, वृषणग्रन्थि आदि अङ्गो मे गाँठदार और चपटी ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं, जिन्हे गमा (Gumma) कहते हैं। धीरे-धीरे इनमे सडन होकर, फिर फूटकर धूसर वर्ण का पूय बहता है। नासिका मे गमा होने से यह बैठ जाती है, तालु मे होने से वहाँ छिद्र बन जाता है, मस्तिष्क तथा सुषुम्ना मे होने से पक्षाघात, पङ्गुता आदि विकार होते हैं। कान मे गमा होने से श्रवण-शक्ति और आँख मे होने से दर्शन-शक्ति नष्ट हो जाती है। जिह्वा पर होने से वह फट जाती है।

(४) **चतुर्थावस्था**—इस अवस्था मे प्रथमाक्रमण के तीन महीने के भीतर या पचीस-तीस वर्ष बाद भी विष का आक्रमण हो सकता है। इसमे मस्तिष्क-सस्थान पर विशेष प्रभाव पडने से उन्माद और कलायखञ्ज (लडखडाकर चलना) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

फिरङ्गज तथा उपदंशज व्रण में अन्तर

फिरङ्गज व्रण	उपदशज व्रण
१. मैथुन के पश्चात् तीसरे सप्ताह दाना निकलता है।	१. तीसरे या चौथे दिन दाना प्रारम्भ होता है।

२. यह साधारणतया एक होता है।	२ साधारणतया अनेक दाने होते हैं।
३ व्रण तरुणास्थि के समान कठिन होता है।	३. व्रण मृदु होता है।
४. लसीकामय स्राव होता है, दाह नही होता।	४ दाह तथा रक्त एव पूय का स्राव होता है।
५ व्रण के किनारे न तो साफ, न पोले और न ऊँचे उठे होते हैं।	५. व्रण के किनारे साफ कटे हुए, पोले एव उठे हुए होते हैं।
६ पीडा नही होती।	६. व्रण मे अत्यधिक पीडा होती है।
७. स्राव में ट्रिपोनिमा पैलिडा नामक जीवाणु मिलता है।	७ इसके स्राव मे बैसिलस ड्यूक्रे मिलता है।
८ व्रण के दोनो ओर की वक्षण ग्रन्थियाँ फूलती हैं।	८. केवल व्रण की ओर की ग्रन्थियाँ फूलती हैं।
९ उपेक्षा से भी स्थानिक लक्षण शान्त हो जाते हैं, किन्तु सार्वदैहिक लक्षण व्यक्त होते हैं।	९ उपेक्षा से स्थानीय धातुओ का अधिक नाश होता है। सार्वदैहिक लक्षण नही होते।
१० स्राव को सूई द्वारा प्रविष्ट करने पर समान व्रण नही पैदा होता।	१०. इसमे सूई द्वारा स्राव को प्रविष्ट करने पर समान व्रण पैदा हो जाता है।

चिकित्सासूत्र

१ रक्तशोधन तथा शमन उपचार करना चाहिए।

२ जननेन्द्रिय तथा जहाँ जिस अङ्ग मे व्रण या क्षत हो, जीवाणुनाशक घोल से तथा व्रणशोधन निम्बपत्र आदि के क्वाथ से प्रक्षालन करना चाहिए। त्रिफलाक्वाथ या भृगराज स्वरस से व्रण का प्रक्षालन करे।

३. व्रण पर लेप लगावे और शोधन-रोपण औषधि-सिद्ध घृत लगावे।

४ व्रण का धूपन करें और आभ्यन्तर प्रयोग मे रक्तशोधक औषध एव आहार दे।

चिकित्सा

१. **प्रक्षालन**—चमेली, जयन्ती, कनेर, मदार, अमलतास या गूलर के पत्ते के क्वाथ में रसौंत और कच्ची फिटकरी का चूर्ण डालकर व्रण को धोवे।

२ **लेप**—समभाग त्रिफला के वक्कल को कडाही मे रख सकोरे से ढँक कर चूल्हेपर चढाकर अन्तर्धूम भस्म कर, पीसकर घी मिलाकर व्रण पर लगावे।

३ **रोपण तैल**—आगारधूमादि तैल, गोजीतैल या जम्ब्वादि तैल फाहे से लगावे।

४ **घृत-प्रयोग**—भूनिम्बादि घृत, पञ्चारविन्द घृत या अनन्तादि घृत ५ ग्राम २ बार रोज दे।

५ **क्वाथ**—पटोलपत्र, निम्बत्वक्, त्रिफला, गुडूची, खैर की छाल, विजयसार इनके ५० मि० ली० सिद्ध क्वाथ मे ३ ग्राम त्रिफला चूर्ण मिलाकर १—१ मात्रा सवेरे-शाम दे।

सिद्धयोग

६ **चोपचीनी-चूर्ण** २–२ ग्राम सबेरे-शाम मधु के साथ खिलावे।

७ **भैरवरस** १ गोली प्रतिदिन सायङ्काल मलाई मे रखकर खिलावे।

८. **केशरादि वटी** (सवीरवटी सि० यो० स०, यादवजी) १–१ गोली निगल कर चीनी मिला गोदुग्ध सबेरे शाम पीना।

९ **सारिवाद्यवलेह** १०–१० ग्राम सबेरे-शाम गोदुग्ध से देवे।

१० **निम्बादि चूर्ण**—निम्बपत्र चूर्ण ८० ग्राम, हरीतकी चूर्ण १० ग्राम, आंवला-चूर्ण १० ग्राम और हल्दी चूर्ण ५ ग्राम लेकर कूट लें, ३–३ ग्राम जल से सवेरे-शाम दे।

११ **चोपचीन्यादि चूर्ण**—चोपचीनी चूर्ण १६० ग्राम, चीनी ४० ग्राम, पीपर ५ ग्राम, पिपरामूल ५ ग्राम, कालीमिर्च १० ग्राम, अकरकरा ५ ग्राम, गोखरू ५ ग्राम, सोठ ५ ग्राम, वायविडग ५ ग्राम और दालचीनी ५ ग्राम लेकर चूर्ण बनावे। सबेरे-शाम ३–३ ग्राम घी और १० ग्राम मधु से देवे।

१२ **रसकर्पूरादि वटी**—शुद्ध रसकपूर ४ ग्राम, शुद्ध शिगरफ ४ ग्राम, अकरकरा ४ ग्राम, शुद्ध किया हुआ सफेद सखिया १ ग्राम, तलखचोव ४ ग्राम, इन सबको कूट-छान कर पानी मे घोटकर बाजरे के दाने के बराबर गोली बनाकर छाया मे सुखा ले। १ गोली शाम को गरम जल से निगले। शीतल जल से बचे रहें।

नमक, मिर्च, तेल, खटाई और मैथुन का परित्याग करे। यह योग 'सक्रामक रोगविज्ञान' (श्रीबालकराम शुक्ल) का है।

१३. **सप्तशालि वटी** (भा० प्र०)—१ गोली प्रतिदिन प्रात -काल जल से दे।

१४. **कज्जल्यादि मोदक**—५ ग्राम सबेरे-शाम जल से देवे।

१५. **कज्जली**—शुद्ध पारद १० ग्राम, शुद्धगन्धक २० ग्राम, दोनो को घोटकर कज्जली बना लेवे। रोगी के बलाबल का विचार कर उचित मात्रा मे गोघृत के साथ प्रयोग करे।

१६ मल्लसिन्दूर, रसकर्पूर, व्याधिहरण रस, त्रिफला गुग्गुलु, रसशेखर वटी, चोपचीनीपाक, रसमाणिक्य, खदिरारिष्ट, सारिवाद्यासव, महामञ्जिष्ठादि क्वाथ आदि औषधो का यथायोग्य मात्रा-अनुपान के साथ प्रयोग करना चाहिए।

व्यवस्थापत्र

१. दिन मे २ बार

रसमाणिक्य	२५० मि० ली०
गुडूचीसत्त्व	१ ग्राम
मुक्ताशुक्ति	१/२ ग्राम
	२ मात्रा

चोपचीनी चूर्ण २ ग्राम और मधु से।

अथवा—

सवीरवटी १–१ गोली निगलकर चीनी मिला गोदुग्ध पीना।

२ बाद मे महामञ्जिष्ठादि क्वाथ पीना।

३ भोजन के बाद

खदिरारिष्ट ४० मि० ली०

समान जल मिलाकर पीना। २ मात्रा

४. रात मे

आरोग्यवर्धिनी १ ग्राम

गोदुग्ध से। १ मात्रा

पथ्य

गेहूँ की रोटी और गाय का दूध, मूँग की दाल, घी मे विना नमक-मसाले का परवल, करेला और लौकी तथा आँवला देना पथ्य है।

अपथ्य

दिन मे सोना, मैथुन, मीठा, भारी अन्न, मूत्रवेग को रोकना, अम्ल, तक्र, लवण, श्रम तथा स्नान का त्याग करे।

उपदंश (ध्वजभंग)

पर्याय और परिचय

इसे उपदंश, सॉफ्ट सोर (Soft Sore), सॉफ्ट शैंकर (Soft Chancre) आदि कहते हैं।

यह मैथुनजन्य रोग है, जो रतिसुख की वासना की लिप्सा की पूर्ति के लिए, इस रोग से ग्रस्त या अन्य योनिविकारो से ग्रस्त स्त्री के साथ मैथुन या व्यभिचार करने से उपस्थ और उसके परिवेश मे होनेवाला दारुण दु.ख है। यह कामिनी के मनोज-मन्दिर के रागभोग तथा प्रेम का एक निन्दनीय अभिशाप या प्रसाद है।

निदान

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान का मानना है, कि इस रोग का कारण ड्यूक्रे (Ducrey) नामक जीवाणु है, जो रक्तलोलुप (Haemophilus) जाति का है। यह पूयजनक जीवाणु है, जो व्रणो में, आसपास की धातुओ मे और उपसृष्ट लसीकाग्रन्थियो मे पाया जाता है। वेश्याओ तथा पुंश्चली स्त्रियो की योनियो मे यह मृत्युपजीवी के रूप मे पाया जाता है। जो औरतें योनि की स्वच्छता पर ध्यान नहीं देतीं, वे आसानी से इस रोग की शिकार बन जाती हैं। यह रोग पुरुषो मे अधिक पाया जाता है।

आयुर्वेदोक्त निदान

१ चिरकाल से सहवास-मुक्ता, परित्यक्ता, ब्रह्मचर्यव्रतधारिणी, रजस्वला, दीर्घलोमा, कर्कशलोमा, अतिलोमा, योनिगत लोमा, सकुचितयोनिद्वारा, विस्तृतयोनि-

द्वारा, मैथुनाभिलाषहीना, अप्रक्षालितयोनिपथा, योनिरोगग्रस्ता, विकृत-दुष्टयोनिपथा, अकामुका स्त्री के साथ मैथुन।

२ जननेन्द्रिय पर नख, दन्त, विष, शूक या हस्तमैथुन या बन्धनजन्य आघात।

३ पशुजाति की स्त्री के साथ मैथुन, दूषित जल से लिङ्ग-प्रक्षालन।

४. लिङ्ग-पीडन करना, शुक्र या मूत्र के वेग को रोकना, अति ब्रह्मचर्य रहना।

५ मैथुनक्रिया के पश्चात् लिङ्ग न धोना।

इत्यादि कारणो से वात आदि दोष व्रणयुक्त अथवा अक्षत शिश्न मे आकर शोथ आदि लक्षणो को उत्पन्न करते हैं, जिसे उपदश कहते हैं।[१]

संक्रमण

इस रोग का उपसर्ग मैथुन के समय होता है। रोगी के व्यवहार मे आये हुए वस्त्र, रूमाल, धोती, पाजामा, पैण्ट, पात्र, आसन तथा ओढना-बिछौना आदि के प्रयोग करने से एव सहवास-सहभोजन आदि से इस रोग का सक्रमण होता है। उपदश के रोगी के व्रणस्राव से भी सक्रमण फैलता है। व्रण मे जो स्राव भरा रहता है, वह अत्यन्त उपसर्गी होता है।

संप्राप्ति

मैथुन के बाद एक से चार दिन के बीच शिश्न पर ग्रन्थि बन जाती है, फिर उसमे लसीका भर जाती है। इसके चारों ओर शोथ और रक्ताधिक्य होता है। एक-दो दिन मे पूय उत्पन्न होता है और शोथ विदीर्ण होकर व्रण बन जाता है। इस व्रण का स्राव जहाँ भी लगता है, वहाँ व्रण बना देता है, परिणामस्वरूप उपदश के मूल व्रण के निकट अनेक अनुवर्ती व्रण हो जाते हैं।

व्रण के स्थान—उपदश के व्रण गुह्य अग के अतिरिक्त अन्य स्थानो मे भी होते हैं, जैसे स्तन, ओष्ठ, ग्रीवा, हाथ पैर या सार्वदैहिक रूप से भी व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। विशेषकर पुरुषो मे इसका स्थान शिश्नमणि की त्वचा के भीतर या बाहर, शिश्नसेवनी और मणि के भीतरी मूत्रमार्ग मे होता है। स्त्रियो मे इसका स्थान लघु भगोष्ठ, भगाञ्जलिका, भगशिश्निका (Clitoris) और भगालिन्द मे होता है। स्राव लग जाने पर बृहद् भगोष्ठ, मूलाधार, नितम्ब और उसकी भीतरी त्वचा पर भी व्रण हो सकता है।

सहजोपदश—यह तब होता है, जब माता अथवा पिता के द्वारा उपदश का जीवाणु सन्तान मे सक्रमण करके बालक को उपदशग्रस्त बना देता है। इसको आजन्म या सहजोपदश कहते हैं। प्रसवकाल मे प्रसवपथ के व्रण के स्पर्श से बालक के शरीर मे जो उपदश होता है, उसे आजन्म उपदश नही कहते, अपितु उसे सक्रान्तोपदश कहते हैं। पिता के शुक्र के साथ और माता के आर्तव के साथ उपदशाणु जब भ्रूण मे सचालित हो जाता है, तब तज्जन्य उपदश को **सहजोपदंश** अथवा आजन्म उपदश कहते हैं।

---

१ सु० नि० १२।१० तथा च० चि० ३०।१६२–१६७।

लक्षण[1]

१. शिश्न से शोथ, वेदना, राग, तीव्र फोडे की उत्पत्ति और उसका पक जाना।

२. शिश्न के मणि भाग मे मासवृद्धि होकर व्रण बनना एव उससे स्राव होना।

३ व्रण से रक्त, कृष्ण, नील या धूसर वर्ण का स्राव होना एव अग्निदग्धवत् पीडा होना।

४ जननेन्द्रिय का क्लिन्न रहना और उससे सडी हुई गन्ध निकलना।

५. जननेन्द्रिय मे टेढापन और कठोरता तथा जलन होना।

६. ज्वर, तृष्णा की अधिकता, मूर्च्छा और वमन होना।

७. रोग बढने पर मणि, मूत्रेन्द्रिय, कदाचित् अण्डकोष का सडकर गिर जाना ये लक्षण होते हैं।

उपद्रव

स्वच्छता और उचित चिकित्सा के अभाव मे व्रण बढने लगता है, फिर रक्त-वाहिनी नली के गल जाने से रक्तस्राव होने लगता है। कभी-कभी शिश्न चर्म मे विद्रधि, शिश्नमणि कोथ, निरुद्धप्रकश (Phimosis), परिवर्तिका (Paraphimosis) हो जाते हैं। शिश्नव्रण मे कोथ हो जाने से शिश्न गल जाता है।

इस रोग के आरम्भ मे ही चिकित्सा न करने से शोथ, कृमि, दाह, पाक और विदीर्ण शिश्न (गलित लिङ्ग) होकर रोगी की मृत्यु तक हो जाती है।

चिकित्सासूत्र

१ रोगी का स्नेहन-स्वेदन करके मूत्रेन्द्रिय के मध्य भाग मे स्थित सिरा का वेधन करे अथवा जोक लगाकर रक्तमोक्षण करावे।

२ दोष बढे हो तो स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् वमन तथा विरेचन कराकर शोधन करे।

३. यदि रोगी दुर्बल हो तो निरूहवस्ति देकर कोष्ठ का शोधन करे।

४ उपदश मे आभ्यन्तरशोधन, स्थानीय शोथ एव व्रण का शोधन, प्रलेप, परिषेक और रक्तमोक्षण करना चाहिए।

५. उपदशज व्रण का पाक न होने पावे, इसके लिए प्रयत्नशील रहे।

६ पाक होने से सिरा, स्नायु, मास तथा त्वचा, ये गल जाते हैं। यदि पाक हो जावे, तो औषध या शस्त्र का प्रयोग करे। व्रण मे से पूय निकालकर उस पर घृत-मधु मिश्रित तिलकल्क रखे।

७ व्रणप्रक्षालन तत्परता से करे और इसके लिए नीम-पीपल कदम्ब-जामुन-बरगद-गूलर-शाल-अर्जुन और वेतस की छाल के क्वाथ का प्रयोग करे या त्रिफला के क्वाथ से धोवे।

चिकित्सा

१ त्रिफला को अन्तर्धूम जलाकर उसकी राख पीसकर मधु मिलाकर लगावे।

---

१ च० चि० ३०।१६८–१७५।

२. रसौत, शिरीषबीज और हरीतकी, समभाग का चूर्ण मधु मिलाकर लेप करे।

३. पटोलादि क्वाथ—परवल की पत्ती, नीम की छाल, आँवला-हर्रा-बहेड़ा वक्कल, चिरायता, खदिर छाल तथा असनवृक्ष की छाल, समभाग लेकर मोटा कूट ले। २५ ग्राम लेकर आधा लीटर जल मे चतुर्थांशावशिष्ट पकाकर छानकर, उसमे त्रिफला चूर्ण २ ग्राम डालकर सवेरे-शाम पिलावे।

४. सर्जरस चूर्ण २ ग्राम, गोघृत १० ग्राम चमेलीपत्र स्वरस २५ मि० ली० से २ बार रोज दे।

५. लेप—जायफल, वायविडग, तूतिया और लवंग, समभाग मे लेकर मक्खन में मर्दन कर लेप लगाने से व्रण का शोधन तथा रोपण होता है।

६ चोपचीन्यादि चूर्ण ५–५ ग्राम या चोपचीनी पाक १०–१० ग्राम मधु से सवेरे-शाम दे।

७ व्रणहर चूर्ण—फिटकरी, गैरिक, तूतिया, सेंधानमक, लोध, रसाञ्जन, दारुहरिद्रा, हरताल, मैनसिल और छोटी इलायची, सबको समभाग लेकर बारीक चूर्ण बनाकर व्रणो पर बुरकना चाहिए।

८. अनन्तादि घृत या भूनिम्बादि घृत ५–५ ग्राम की मात्रा मे दूध से सवेरे-शाम दे।

९ अमीररस २५० मि० ग्रा० की २ मात्रा सने आटे के भीतर गोली बनाकर सवेरे-शाम निगलवावे, दाँत से स्पर्श न करे। पथ्य नमकरहित रोटी-दूध से दे।

१०. गोरखमुण्डी और उशवा का क्वाथ सवेरे-शाम पिलावे।

११ सिद्धयोग—सवीर वटी, उपदंशगजकेशरी, भल्लातकावलेह, व्याधिहरण रस, रसगुग्गुलु, वरादि गुग्गुलु, रसशेखर, भैरवरस आदि का रोगी के बलानुसार उचित मात्रा मे प्रयोग करना लाभदायक होता है।

व्यवस्थापत्र

१. सवेरे-शाम

अमीररस — २५० मि० ग्रा० / २ मात्रा

मुनक्के के भीतर रखकर निगलना।

बाद मे पटोलादि क्वाथ ५० मि० ली० पीना।

२ भोजन के बाद

सारिवाद्यासव — ४० मि० ली० / २ मात्रा

बराबर जल मिलाकर पीना।

३. रात मे सोते समय

आरोग्यवर्धिनी — १ ग्राम

गो दुग्ध से।

पथ्य

वमन, विरेचन, उपस्थ के मध्य मे सिरावेध, प्रक्षालन, प्रलेप, जौ, गेहूँ, अगहनी चावल, मूँग का यूष, घृत, करेला, परवल आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

लवण-अम्ल-कटु रस द्रव्य, तेल, मसाला, मैथुन, अग्नि, धूप आदि का त्याग करे।

रतिजन्य वंक्षणीय कणिकार्बुद
(Granuloma Inguinal Venereum)

पर्याय और परिचय

पर्याय—लिङ्गार्श, लिङ्गवर्ती, कामजन्य कणिकार्बुद ये पर्याय हैं।

इस रोग में शिश्न मे धान्य के अकुर के समान मासाकुर उत्पन्न हो जाते हैं। ये अंकुर एक-दूसरे के ऊपर छोटे-छोटे अनुक्रम से वढते हुए स्थिर हो जाते हैं। लिङ्ग की सन्धियो मे अथवा शिश्न के अधोभाग मे मुर्गी की शिखा के तुल्य मासाकुर दिखलाई पडते हैं। इनको लिङ्गार्श या लिङ्गवर्ती कहते हैं।

स्त्री के भगशिश्निका, भगोष्ठ तथा योनिमार्ग मे धान्य के अकुर के समान अकुर निकलते हैं। अन्त में इनसे वदवूदार स्राव आने लग जाता है।

निदान—इस रोग का कारण एक जीवाणु है, जिसे क्लेवसिला ग्रैन्युलोमेटिस (Clebsiella Granulomatis) कहते हैं।

संचयकाल—इसका सचयकाल कुछ दिनो से १२ सप्ताह तक होता है। अधिक खराव सगति के पश्चात् २–८ दिन के अन्दर शिश्न-प्रभृति और भगास्थि-भगशिश्निका, इनमें से किसी एक स्थान की त्वचा मे एक छोटा-सा गोल ग्रन्थि वाला उभार पैदा हो जाता है। इसके ऊपर की त्वचा अत्यन्त मृदु और गुलावी वर्ण की होती है।

लक्षण

त्वचा शीघ्र ही छिलकर क्षत युक्त हो जाती है और उससे वदवूदार पूय निकलने लगता है। यह व्रण शनै-शनै चारो तरफ फैल जाता है, साथ ही पुराने भागो में व्रणवस्तु बनती जाती है, जो फिर से व्रणित हो सकती है। यह रोग नम और मन्दोष्ण स्थान मे अधिकतर होता है। एव गुदा के चारो तरफ भगोष्ठ, योनि, वृषण और उसके मध्य के स्थानो मे अधिक होता है।

इसी प्रकार यह रोग धीरे-धीरे पुरुषो के लिङ्ग, वृषण और उसके ऊपर के भाग गुदद्वार और उसके आस-पास के स्थान और स्त्रियो मे भगशिश्निका, भगोष्ठ, योनि, मूत्रमार्ग, गुदद्वार, ऊरु, वक्षण-प्रभृति भागो मे फैल जाता है। इससे पतला और वदवूदार स्राव निकलता है, जो कपडे खराव कर देता है।

मल-मूत्र और प्रजनन-मार्ग मे व्रण होने से रोगी को कष्ट और बेचैनी होती है। मल-मूत्र त्याग करने मे असुविधा मालूम होती है।

उपसर्ग या उपद्रव

गुदवस्ति अथवा गुदा और योनि मे नाडीव्रण, गुप्ताङ्गो मे गजचर्मता, मूत्रमार्ग का सकोच, शिश्नक्षय, ध्वजभग, वध्यता और कभी-कभी द्वितीय उपसर्ग जन्य वस्ति शोथ आदि अन्य विकार भी हो जाते हैं।

साध्यासाध्यता

यह मन्दगति से बढने वाला रोग है और चिरकालानुबन्धी होता है, जिसका प्रतिकार न होने पर जीवनपर्यन्त कष्ट देता रहता है और गुप्ताङ्गो को विकृत कर देता है।

यह स्वय तो घातक नही है, किन्तु कभी-कभी द्वितीयक उपसर्ग से उत्पन्न होने वाले वस्तिशोथ-प्रभृति उपसर्गों से रोगी की मृत्यु हो जाती है। अधुनातन चिकित्सा से इसकी कृच्छ्रसाध्यता मन्द हो गयी है।

स्थानिक चिकित्सा

१ पहले मासाकुरो को काटकर फिर क्षार से जला देना चाहिए, उसके बाद व्रणोपचार करना चाहिए।

२. **स्वर्जिकाक्षारादि चूर्ण**—सज्जीखार, तूतिया, छैर छरीला, सुर्मा, रसौत, मन शिला और हरताल, इन सबको समभाग मे लेकर कूट-पीस कर छान ले। इसे मासाकुरो पर लगाने से वे नष्ट हो जाते हैं।

३. **कुमारी योग**—घृतकुमारी के पत्तो को मन्दोष्ण करके लिङ्ग के ऊपर लपेट कर डोरे से बाँध देने से मासाकुर नष्ट हो जाते हैं।

४ **गुञ्जा योग**—गुञ्जा के मूल को बैल के मूत्र से पीसकर लेप करने से मासाकुर नष्ट हो जाते हैं।

वंक्षणसन्धीय लसकणिकार्बुद
लिम्फो ग्रैन्युलोमा वेनेरियम इंग्वाइनल
(Lympho Granuloma Venerium Inguinal)

परिचय

यह किसी रोगाक्रान्ता के साथ मैथुन करते समय सक्रमण से होने वाला रोग है। इसमे वक्षणसन्धि की लसीका-ग्रन्थियो मे सूजन हो जाती है। पूय की उत्पत्ति और नाडीव्रण प्रभृति उपद्रव भी हो जाते हैं। इसके साथ ज्वर, शूल, अङ्गसाद आदि सार्वदैहिक लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं।

निदान

इसका कारण एक वाइरस (Virus) है, जो ग्रैन्युलोमा सिटैकोसिस ग्रुप (Granuloma Psittacosis group) का होता है। मैथुन द्वारा शरीर मे इसका व्यापक उपसर्ग होता है।

संक्रमण

इस रोग से आक्रान्ता के साथ मैथुन करने से यह रोग होता है। स्त्रियो की योनि में व्रण उत्पन्न होता है, जिससे लसीका-वाहिनियो द्वारा भग मे भी व्रण हो जाते हैं। इस रोग से पीड़ित स्त्री चिरकाल तक सभोग करने वाले पुरुषो को इस रोग से सक्रान्त कर सकती है।

लक्षण

पुरुषो मे इसका व्रण शिश्न की त्वचा पर होता है और स्त्रियो मे योनि के पश्चात् भाग और गर्भाशयग्रीवा के निकट होता है। कभी-कभी बाहर के अवयव पर व्रणोत्पत्ति के बदले मूत्रमार्ग मे सूजन होती है। इस रोग मे लस-ग्रन्थियो मे व्यापक शोथ होने तथा पूय बनने पर भी अत्यन्त साधारण पीडा होती है।

चिकित्सा

१. रोगी को विश्राम दे। बल के अनुसार विरेचन देकर कोष्ठ शुद्ध करे।

२. मल्लसिन्दूर १०० मि० ग्रा० गुडूचीसत्व १ ग्राम के साथ मधु से प्रात. दे।

३ भोजनोपरान्त सारिवाद्यासव दे।

या

खदिरारिष्ट $\frac{\text{४० मि० ली०}}{\text{२ मात्रा}}$

समान जल मिलाकर प्रतिदिन २ वार दे।

४ रात में सोते समय उशवा चूर्ण १०–१५ ग्राम गरम जल से देवे।

५ सवेरे-शाम आरोग्यवर्धिनी १ ग्राम की २ मात्रा दूध से देना चाहिए।

६ बाह्य उपचार—स्वर्णक्षीरीमूल ५० ग्राम, कालीजीरी १० ग्राम, आमाहल्दी १० ग्राम, विषपलाण्डु ५० ग्राम, सिंगरफ १० ग्राम, इन्हे गोमूत्र मे पीसकर गरम कर शोथ पर दिन में २ वार लेप करे। अथवा एण्टीफ्लोजेस्टिन का लेप लगाकर सेंकना चाहिए।

पथ्य—रोटी-दूध देवे।

अपथ्य—अम्ल-लवण-कटु रस पदार्थ, उष्ण पदार्थ और मैथुन।

यौनमनोगत विकार

योषापस्मार, हिस्टीरिया, अपतन्त्रक

परिचय—यह एक विलक्षण मनोदैहिक रोग है, जिसमे कभी रोना, कभी हँसना, कभी वेहोश हो जाना, ये प्रधान चिह्न हैं, जिन्हे देखकर ऐसा लगता है, कि रोगी किसी प्रेतात्मा के कब्जे मे हो। क्योकि लज्जा, शील, सकोच को छोडकर रोगिणी के शरीर में गजब की ताकत आ जाती है और उसके हँसने-बोलने या नाज-नखरे से देखनेवाले व्यक्ति के रोगटे खडे हो जाते हैं। पूछने पर रोगिणी से मालूम पडता है, कि जैसे उसकी नाभि से वायु का गोला उठकर गले मे आकर अटक गया हो। उसके

हृदय, शख, शिर मे पीडा और आक्षेप होता है और कभी-कभी वह बेहोशी हो जाती है। इसमे किसी भी रोग के लक्षण हो सकते हैं। रोगिणी स्वजनो का अपनी ओर सहानुभूति पूर्ण झुकाव लाने के लिए अनेक विचित्र चेष्टाएँ करती है।

निदान

१. चिन्ता, शोक, भय, तिरस्कार, उपेक्षा, इसके प्रमुख कारण हैं।

२. मानसिक द्वन्द्व (Mental conflict), इच्छाविघात, नैराश्य।

३ मृदु स्वभाव, कामेच्छा की अनापूर्ति, यौन-आनन्द की अतृप्ति।

४ रक्ताल्पता, गर्भाशय विकृति, रजोऽवरोध, कुटुम्बियो का निष्ठुर व्यवहार।

५. नखरा-नाज और विलासी स्वभाव, वयस्क होने पर विवाह न होना।

६. १५ वर्ष से ३५ वर्ष की आयु, दाम्पत्य-सुख का अभाव, उद्वेग।

७. पुरुषो में भी यह रोग होता है, जिसके कारण हैं—प्रबल कामेच्छा होने पर सभोग का अवसर न पाना, अप्राकृतिक मैथुन, अतिश्रम, अनिद्रा आदि।

८ विवाहिता स्त्री की पति द्वारा उपेक्षा, सास-ननद आदि से कलह और प्रताडना, किसी बात का सदमा या बार-बार एक ही बात की ओर ध्यान जाना और निराश होना तथा वातप्रकोपक कारण।

९ युवावस्था मे विधवा होना, अजीर्ण तथा मलावरोध होना।

१० अवरसत्त्व का होना, कामुक किताबें पढना, कामुक चित्र देखना आदि।

संप्राप्ति

स्वप्रकोपक कारणो से तथा काम-शोक-भय आदि मानस कारणो से प्रकुपित हुआ वायु अपने स्थान (पक्वाशय आदि) से ऊपर उठकर शिर की ओर जाता है, तो हृदय, शिर और शखप्रदेश को पीडित करता हुआ अगो को धनुष के समान झुका देता है तथा उनमे आक्षेप एव मूर्च्छा उत्पन्न करता है। श्वास-प्रश्वास मे बडी कठिनाई होती है, आँखें कभी खुली और कभी अधखुली रहती हैं। रोगी बेहोशी की हालत मे कबूतर के समान घुरघुर की ध्वनि करता है।

लक्षण

इस रोग मे—(क) मानसिक और (ख) शारीरिक ये दोनो तरह के लक्षण पाये जाते हैं।

(क) १. स्मरण शक्ति का नाश—रोगी अपना नाम-पता-कारोवार और सम्बन्धी को भूल जाता है। उसे एमेन्सिया (Amensia) हो जाती है।

२. मूर्च्छा—रोगी कांपता, हल्ला करता, हँमता, रोता, विलाप करता, कपडे नोचता-फाडता है और ऐसा करते-करते अचानक मूर्च्छित हो जाता है। उसके दाँत लग जाते हैं और कभी मुख से गाज भी आता है।

३. सोने मे चलना (Sleep walking)—रोगी सुप्तावस्था मे विस्तर छोडकर चलता-फिरता या जो काम मन मे रहता है वह करके पुन सो जाता है और जगने पर उस बात से इनकार करता है।

४. व्यक्तित्व का ह्रास—रोगी को आत्मविस्मृति हो जाती है। वह अपने वातावरण, परिवेश और हैसियत को भूल जाता है और अशोभन, उच्छृङ्खल बात-व्यवहार करने लग जाता है।

५ उद्वेग—मन की अस्थिरता, बेचैनी, सज्ञानाश, स्पर्शनाश, कम्पन, आक्षेप, हृदय की गति मे वृद्धि और शरीर-भार मे कमी होना इत्यादि लक्षण होते हैं।

(ख) १. शारीरिक लक्षण—पक्षाघात (Paralysis), सज्ञाशून्यता (Anaesthesia) और शूल (Pain) होना, ये प्रमुख लक्षण हैं।

२. रोगी का कोई अंग लकवाग्रस्त हो जाता है। वह आसन पर पडा-पडा अगो को हिलाता रहता है।

३ रोगी की वाणी अस्पष्ट निकलती है और वह कांपता रहता है।

४. स्पन्दनविकार—रोगी कदाचित् आँखें नचाता है, मुख चबाता है या सिकोडता है, कभी शिर हिलाता है और यह सब वह अनजाने में वह करता रहता है, जिसका उसे ज्ञान नही होता।

५. स्पर्शज्ञान का नाश या बढ जाना, कम दीखना, रस और गन्ध का ज्ञान न होना, अगो मे ऐंठन तथा उदर मे शूल होना।

६. शिर शूल, अरुचि, आध्मान, वमन, मन्दाग्नि और मलावरोध आदि लक्षण होते हैं।

७ अचेतनता, बुद्धिविभ्रम, अनवसर हास्य और क्रन्दन।

८ ऊँची आवाज मे चिल्लाना, प्रलाप करना, प्रकाश से द्वेष।

९. उद्दण्डता, श्वासकष्ट, कण्ठ और आमाशय में वेदना।

१० स्पर्श का ज्ञान बढ जाना, किसी-किसी अग मे सदा व्यथा।

११ उदर से उठकर वायुगोला का कण्ठ मे अवरोध होना और मूर्च्छित होना, ये सब लक्षण होते हैं।

चिकित्सासूत्र

१. रोग के मूल कारण को खोजकर उसका प्रतीकार करना चाहिए।

२ कोष्ठशुद्धिकर औषध तथा आवश्यकतानुसार अन्य शोधन भी करे।

३. मानसिक सन्तुलन के स्थापनार्थ इष्टवस्तुलाभ, कामेच्छा पूर्ति, प्रहर्षजनक उपाय, मधुर व्यवहार और आश्वासन एव धैर्य बँधावे।

४. उत्तम पौष्टिक सुस्वादु, मनपसन्द आहार देना चाहिए।

५. सैर-सपाटे, पिकनिक मनाकर, चलचित्र दिखाकर और रमणीय उद्यान मे टहलाकर मनोविनोद का वातावरण तैयार करना चाहिए।

६ पति को स्नेह, सास-ससुर-ननद को सहानुभूतिपूर्ण उदार व्यवहार और मधुर वचन का प्रयोग करना चाहिए।

७ रोगी को उसके मनपसन्द के काम मे लगाये रखना चाहिए।

८. चिन्ता या सदमा, भय या शोक को दूर करने का यत्न करे।

९ मनोबल बढाने, मानसिक और शारीरिक विश्राम देने का उपाय करे।

१० वायु का अनुलोमन और मन की सन्तुष्टि करनी चाहिए।

चिकित्सा

इसकी चिकित्सा दो स्तरो मे की जाती है—(क) वेग अथवा दौरा आने पर और (ख) दौरा समाप्त होने पर स्थायीरूप से रोग-निवारक।

(क) १ दौरा आनेपर मूर्च्छा को दूर करने के लिए तीक्ष्ण कट्फल की छाल का बारीक चूर्ण सुँघाना चाहिए।

२ वातनाशक नारायण तैल की सर्वाङ्ग मे मालिश करे।

३ शिर पर मक्खन या सौ वार पानी से धोया हुआ घी लगावे।

४ मुख और छाती पर ठडे जल के छीटे मारे अथवा तीव्र मूर्च्छा हो, तो चम्मच गरम कर ललाट पर दागे।

५. शिर, ललाट और वक्ष पर वर्फ मे भिगोई कपडे की पट्टी रखे।

६ शरीर के वस्त्र खोलकर ढीले कर दे, आँख पर पानी का छीटा दे।

७ हथेली, पिण्डली और पैर के तलवे की मालिश करे।

८ एक छोटी शीशी मे चूना और नौसादर मिलाकर खूब हिला दें। इससे अमोनिया गैस बन जाती है, उसे सुँघाने से मूर्च्छा दूर होती है।

९ रोगी के दाँत लग जाते हैं, अत उनके बीच अँगुली कदापि न डाले, बल्कि चम्मच डालकर मुख खोलना चाहिए।

१० नासिका के छिद्रो को बन्द कर देने से भी दाँत खुल जाते हैं।

११. मसूडो पर सोठ-पीपर का महीन चूर्ण मलना चाहिए।

१२. होश लाने के लिए प्याज, हीग या कपूर सुँघाना भी ठीक है।

(ख) दौरा समाप्त हो जाने पर रोग के कारणानुसार निम्न चिकित्सा करनी चाहिए—

१. मार्जारगन्ध (जुन्दवेदस्तर) घी में भुनी हीग, शुद्ध कुचला, जटामासी और बालबच १०–१० लेकर पीसकर, ब्राह्मी स्वरस मे घोटकर १२५ मिलीग्राम की गोली बनावे। इसे दिन में ४ वार १–१ गोली मधु से दे।

२. चन्दनादि लोह २–२ रत्ती ब्राह्मी स्वरस और मधु से ४ बार दे।

३ बालबच चूर्ण ५०० मि० ग्रा० और कालीमिर्च ५ दाना पीसकर खट्टी दही ५० ग्राम के साथ सबेरे-शाम खिलावे।

४ वातकुलान्तक रस २५० मि० ग्रा०, स्मृतिसागर रस १२५ मि० ग्रा०, ब्राह्मी वटी १२५ मि० ग्रा० की १–१ मात्रा दिन मे ३ बार जटामासी चूर्ण १ ग्राम और मधु से दे।

५ चिन्तामणि चतुर्मुख २५० मि० ग्रा० मधु व ब्राह्मी स्वरस से प्रात -साय दे।

६ हिस्टीरियानाशक चूर्ण—शुद्ध हीग २० ग्राम, दूधिया वच २० ग्राम, जटामासी २० ग्राम, मीठा कूठ ४० ग्राम, कालानमक ४० ग्राम, वायविडङ्ग १८० ग्राम सबको

कूट-पीसकर सुरक्षित रखे। २–२ ग्राम की मात्रा मन्दोष्ण जल से दिन मे तीन वार २–३ माह तक देवे।

७. स्वर्णमाक्षीकभस्म, लौहभस्म, चतुर्भुज रस, रजतभस्म, प्रवालपञ्चामृत, स्वर्णसूतशेखर, ब्राह्मी वटी, शिलाजित्वादि वटी, शिवा गुटिका, आरोग्यवर्धिनी वटी, इन औषधो का रोगी की प्रकृति के अनुसार उचित मात्रा-अनुपान से प्रयोग करे।

पथ्य

सात्विक आहार दे, जो पौष्टिक, सुपच, बलवर्धक, वातानुलोमक और रुचिकर हो। रोटी-दूध और फलो का रस देना उत्तम है।

अपथ्य

भारी और कब्जकारक तथा गरम चीजें नही खानी चाहिए।

स्मरोन्माद या कामोन्माद

परिचय—उन्माद पागलपन को कहते हैं और जब किसी अभीष्ट स्त्री से सभोग की तीव्र लालसा का विघात हो जाता है, तो इस स्थिति को कामातुर व्यक्ति बर्दाश्त नही कर पाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह गुस्से आम भय-लज्जा सदाचार को छोड देता है और उसका दिमाग पागल हो जाता है, जिसे स्मरोन्माद कहते हैं। उसके मानस भाव जैसे—१. मन, २ बुद्धि, ३ सज्ञा ज्ञान, ४ स्मृति, ५ इच्छा, ६ शील, ७ चेष्टा और ८. आचार विभ्रष्ट और विकृत हो जाते है। वह सदा उद्विग्न, चञ्चल और अनाप-शनाप बकनेवाला, कामातुर, भद्दी तथा अश्लील चेष्टाएँ करता रहता है।

निदान

इस रोग का प्रमुख कारण है, प्रेयसी स्त्री के सभोगसुख से अथवा रोगिणी स्त्री का प्रियतम पुरुष के साथ सभोग के अवसर से वञ्चित होना। इसके अतिरिक्त शुक्र विकार या रजोदोष, जननेन्द्रिय के रोग या वायु का प्रकुपित होना, ये सहवर्ती कारण हैं।

लक्षण

स्तब्धता, कँपकँपी, श्वास, प्रलाप, पाण्डुता, चिन्ता, अधीरता और रुदन करना, ये लक्षण होते हैं। नेत्रो मे लालिमा होती है, मन मे भाँति-भाँति के विकल्प उठते हैं, कही चैन नहीं मिलता, निद्रा नही आती, शरीर कृश हो जाता है, लज्जा और शील का ह्रास हो जाता है। कामोन्माद का रोगी प्रेयसी या प्रियतम के चिन्तन मे दिन-रात विह्वल रहता है।

काम की दश दशाएँ

१. नयनो का आपस मे लडना।

२. प्रेमी या प्रेमिका की ओर चित्त की आसक्ति।

३ प्रेमी या प्रेमिका के सम्बन्ध मे अनेक सकल्प-विकल्प उठना।
४. अपमानिता दयिता की तरह नीद का साथ छोड देना।
५. शरीर की धातुओ का ह्रास होकर कृशकाय हो जाना।
६ इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो के भोग से निवृत्त होना।
७ लज्जा का नाश होना।
८ उन्माद।
९ मूर्च्छा।
१०. मृत्यु।
ये काम की दश दशाएँ कही गयी हैं।

चिकित्सासूत्र

१. स्मरोन्माद रोग मे प्रेयसी या प्रियतम का साहचर्य करा देना ही मुख्य चिकित्सा है। अथवा—

२ जिसके कारण स्मरोन्माद हुआ हो, उसके प्रति किसी प्रकार से मन मे द्वेष उत्पन्न कराना चाहिए।

वक्तव्य—असफल प्रेम के रोमाञ्चकारी परिणाम होते देखे जाते हैं। इसके चलते आत्महत्या या प्रेयसी अथवा प्रेमी की हत्याएँ भी हो जाती हैं। यह रोग मृगनयनी की आँखो की उज्ज्वलता का अँधेरा पक्ष है। शम्भु, स्वयम्भू और विष्णु, विश्वामित्र और पराशर जैसे महर्षि भी इस रोग के वेग को नही रोक पाये। भर्तृहरि ने ग्लानि और क्षोभ से भरे मन से कहा है—

> या चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता
> साऽप्यन्यमिच्छति जन स जनोऽन्यसक्त।
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
> धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च' ॥

चिकित्सा

१ अभयादि चूर्ण—हरीतकी निर्बीज, पीपर, मुनक्का, बच, इन्द्रजो, शीतल चीनी, त्रिव्रकमूल, निशोथ, गजपीपर, इन्द्रायन की जड, अतीस, कपूर और मदार की जड का छिलका, इनके समभाग का चूर्ण बनाकर रख ले। मात्रा—२–२ ग्राम, घी-मिश्री मिलाकर प्रात-साय सेवन करावे।

२ शुक्रमेह-नाशक शिलाजित्वादि वटी, वृहद् वगेश्वर, मदनमोदक, शिवा गुटिका, स्वर्णवग आदि का सेवन करावे।

३ इस रोग में कफ-नाशक और मेद को घटाने वाले आहार-विहार तथा औषध का प्रयोग करना चाहिए।

पथ्य

अग्निप्रदीपक, हलके, सुपच और वायु का अनुलोमन करने वाले आहार देवे।

अपथ्य

रोगी का मनोऽभिघात करना, भर्त्सना करना तथा तीक्ष्ण अम्ल, लवण और कटु रस द्रव्यों का प्रयोग अपथ्य है।

बलात्कार

(Rape)

परिचय-परिभाषा—अपनी स्त्री के अलावे, जब कोई व्यक्ति १४ वर्ष से ऊपर आयुवाली किसी स्त्री के साथ, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी स्वतन्त्रता से दी गई स्वीकृति के बिना अथवा अन्यायपूर्ण रीतियो से स्वीकृति लेकर सम्भोग करता है, तो उसे बलात्कार कहते हैं।

सम्भोग या उसके लिए प्रयत्न करना भी बलत्कार समझा जाता है।

वक्तव्य—भारतवर्ष मे १४ वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् स्त्री संभोग के लिए अपनी स्वीकृति दे सकती है और वह स्वीकृति मान्य होगी।

अप्राकृतिक मैथुन के प्रकार

१ गुदमैथुन (Sodomy)।
२ हस्तमैथुन (Masturbation)।
३ एक स्त्री का दूसरी स्त्री के साथ मैथुन (Tribadism)।
४. पशुमैथुन (Bestiality)।

गुदमैथुन

किसी पुरुष का पुरुष, स्त्री अथवा बच्चे के साथ गुदा मे मैथुन करना गुदमैथुन कहा जाता है। प्राय सभी देशो मे गुदमैथुन प्रचलित है। निद्रा की अवस्था मे बिना जगाये किसी के साथ गुदमैथुन नही किया जा सकता है। यदि स्वीकृति लेकर गुदमैथुन किया गया हो, तो इण्डियन पेनल कोड की धारा ३७७ के अनुसार कर्ता और कर्म दोनो को न्यायालय से दण्ड मिलता है।

हस्तमैथुन

यह कर्म न्यायालय द्वारा स्त्री या पुरुष के लिए दण्डनीय नही है। यह प्राय उन व्यक्तियो मे पाया जाता है, जो कमजोर मन के होते हैं, जिनकी स्त्री न हो और जिनकी कामपिपासा उग्र हो और जो कुसङ्गति एव कामुक सग-सोहबत मे रहते हो। स्त्रियो मे हस्तमैथुन कम देखा जाता है।

हस्तमैथुन के अभ्यस्त पुरुषो मे निम्नाङ्कित लक्षण पाये जाते हैं—

१ मानसिक दुर्बलता, लज्जा, सकोच, स्मृतिनाश आदि।
२ बार-बार मूत्रोत्सर्ग का वेग उठना।
३ अण्डकोषों का लटक जाना।
४ शिश्नमुण्ड का रक्तवर्ण हो जाना।
५. आँखो का धँसना और उनके नीचे कालिमा होना।

एक स्त्री का दूसरी स्त्री के साथ मैथुन

यह यौनमनोगत रोग है। इसमे दो स्त्रियाँ कामेच्छा की सन्तुष्टि या वृद्धि के लिए शारीरिक आलिङ्गन के द्वारा अपनी जननेन्द्रियो को परस्पर रगडती हैं।

पशुमैथुन

मनुष्य द्वारा पशुजाति की स्त्री के साथ मैथुन करने को पशुमैथुन कहते हैं। इसके लिए कुत्ती, बिल्ली, गाय, गधी, घोडी, बकरी आदि का इस्तेमाल किया जाता है। यदि औरत द्वारा पशुमैथुन किया जाता है, तो वह प्राय कुत्ते, बन्दर आदि का प्रयोग करती है।

वक्तव्य—काम एक स्वाभाविक क्षुधा है और इसकी अग्नि जठराग्नि की अग्नि से अधिक तीव्र है, जिसे कमजोर मन का कामुक व्यक्ति सहन नही कर पाता। वह किसी भी प्रकार अपनी भूख मिटाने के लिए उपाय ढूढ निकालता है। शास्त्रकारो ने भी कहा है कि जब तक कोई पुरुष या स्त्री कामवासना के रसानुभव मे मन्द होते हैं, तब तक उनके नीवी-बन्धन या लगोट कसे रहते हैं और उनमे शील, सकोच और नैतिकता होती है। किन्तु जब वे पञ्चबाण के बाण से बिद्ध हो जाते हैं, तो उनका धैर्य जवाब दे देता है, उनकी नैतिकता धूल चाटती रह जाती है और वे किसी भी उचित-अनुचित साधन से अपनी कामेच्छा को पूर्ण करते हैं।

माधवनिदान मे उपदश के निदान मे कहा गया है—'हस्ताभिघातात् नखदन्तपातात्' अर्थात् हाथ से लिङ्ग को मसलने से, नखो या दाँतो के आघात से उपदश होता है, जिसकी टीका मधुकोष मे इस प्रकार है—'दाक्षिणात्या स्त्रिय मुखे मैथुन कारयन्ति' अर्थात् दक्षिण प्रदेश की स्त्रियाँ मुख मे मैथुन कराती हैं।

समलिङ्गी मैथुन—एक पुरुष जब किसी दूसरे पुरुष के लिङ्ग पर अपने लिङ्ग का घर्षण कर मैथुन करता है, तो वह समलिङ्गी मैथुन होता है। पाश्चात्य सस्कृति मे दो पुरुषो का परस्पर विवाह और विचित्र प्रकार की मैथुन सस्कृतियो का उद्भव होने के समाचार आये दिन मिलते रहते हैं।

त्रयोविंश अध्याय

त्वचा के रोग

कुष्ठ रोग

परिचय—यह रोग आठ महारोगो मे गिना जाता है और कृच्छ्रसाध्य होता है। इसमे शरीर की त्वचा विकृत होती है और यह क्रमश: अग्रिम धातुओ तथा उपधातुओ को गलाता हुआ शरीर को अत्यन्त विकृत कर देता है। सुश्रुत ने इसे औपसर्गिक (संक्रामक) कहा है। इसे संसर्गज बतलाया गया है। यह त्रिदोषज होता है।

निर्वचन—'कुष्णाति' अङ्गम्। 'कुष निष्कर्षे' (क्रया० प० से०) 'निकुषि' (उ० २।२) इति क्वन्। कुत्सितं तिष्ठति वा। 'सुपि–' (३।२।४) इति क। 'अम्बाम्ब–' (८।३।९७) इति षः। —अमरकोष-रामाश्रमी टीका २।६।५४।

अर्थात् जो रोग शरीर के अंग, प्रत्यंग, धातु, उपधातु को गलाकर विकृत बना दे या गिरा देवे, ऐसे अंग-विकारकारक रोग को कुष्ठ कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रहकार (निदान०१४) ने कहा है—'कालेनोपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद्वपु।'

यदि उचित समय से चिकित्सा न की जाय, तो यह रोग समूचे शरीर को विकृत कर देता है।

निदान[1]

(१) आहार—१ विरुद्ध अन्नपान, द्रव-स्निग्ध और गुरु पदार्थों का अधिक सेवन।

२ शीत-उष्ण, सन्तर्पण-अपतर्पण, गुरु-लघु पदार्थों का व्यतिक्रम से सेवन अर्थात् शीत के बाद उष्ण फिर शीत, गुरु के बाद लघु फिर गुरु आदि।

३ नवीन अन्न, दही, मछली, अति लवण, अति अम्ल, उड़द, आलू खाना।

४ पिष्ट अन्न, तिल, दूध, गुड़ का अधिक सेवन, अजीर्ण रहने पर भोजन।

५. जौ, चीना, कोदो आदि जंगली क्षुद्र अन्नो को दूध, दही, मट्ठा, कुलथी, उड़द, अतसी तथा कुसुम्भ के तेल के साथ खाना।

(२) विहार—६ भोजन के बाद व्यायाम करना, धूप में रहना, दिन मे सोना।

७ धूप, परिश्रम या भय से आक्रान्त होकर सहसा ठंडे जल मे नहाना।

८ अन्नाजीर्ण होने पर मैथुन करना, विदग्ध आहार को बाहर निकाले बिना विदाही पदार्थ खाना, छर्दिवेग-निग्रह, स्नेहपान या वमन के बाद मैथुन करना।

---

१ च० चि० ६। सु० नि० ५।२। अ० ह० नि० १४।

(३) भ्रष्ट आचरण—९. विद्वान् या ब्राह्मण या गुरुजन का अपमान करना। १० सज्जनो, साधुओ तथा श्रेष्ठजनो का तिरस्कार एव निन्दा करना।
११. इस जन्म मे या पूर्व जन्म मे पाप का आचरण करना।
१२ पञ्चकर्मों का अविधि प्रयोग करना।
१३ मल-मूत्रादि वेगो को रोकना।
(४) कृमि—१४ रक्तज कृमियो का होना।
(५) वशज—१५. कुष्ठग्रस्त माता-पिता के रज-वीर्य का दुष्ट होना।

(६) उपसर्ग—१६ कुष्ठरोगी के साथ मैथुन करना, अगो का स्पर्श करना, रोगी के श्वास को ग्रहण करना, एक ही बर्तन मे भोजन करना, एक ही शय्या पर सोना-बैठना, रोगी के वस्त्र आदि धारण करना।

(७) १७ आधुनिक मत से कुष्ठ (Leprosy) की उत्पत्ति एक दण्डाणु बैसिलस लेप्रा (Bacillus lepra) के उपसर्ग से होती है।

(८) चरक—१८ त्रिदोष, त्वचा, रक्त, मास और जलीय धातु का एक साथ दुष्ट होना।

(९) सुश्रुत—१९. त्रिदोष-प्रकोपपूर्वक त्वचा की विकृति तथा उपेक्षा करने पर रक्त-मास आदि की दुष्टि को कुष्ठ का कारण मानते हैं।

(१०) सप्तक द्रव्य—२० वात, पित्त, कफ ये तीन दोष और त्वचा, रक्त मांस एव लसीका ये चार दूष्य कुष्ठजनक सप्तक द्रव्य है।

संप्राप्ति

उक्त निदानो के सेवन से प्रकुपित तीनो दोष शरीर मे सञ्चरण करते हुए त्वचा, रक्त, मास और लसीका को दूषित कर शिथिल कर देते हैं। तत्पश्चात् त्वचा मे स्थानसंश्रय करके वहाँ एक मण्डल बनाते हैं। यदि इस अवस्था मे समुचित चिकित्सा न की गयी, तो दोष शरीर के भीतर अन्य धातुओ को भी दूषित कर देते हैं और कुष्ठरोग को उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्तिचक्र

विरुद्ध आहार आदि एव जीवाणु—निदान—वातादि दोष-प्रकोप
|
त्वग्-रक्त-मास-लसीका का दूषण
|
दोषो का त्वचा मे स्थानसश्रय
|
कुष्ठरोग—मण्डलोत्पत्ति
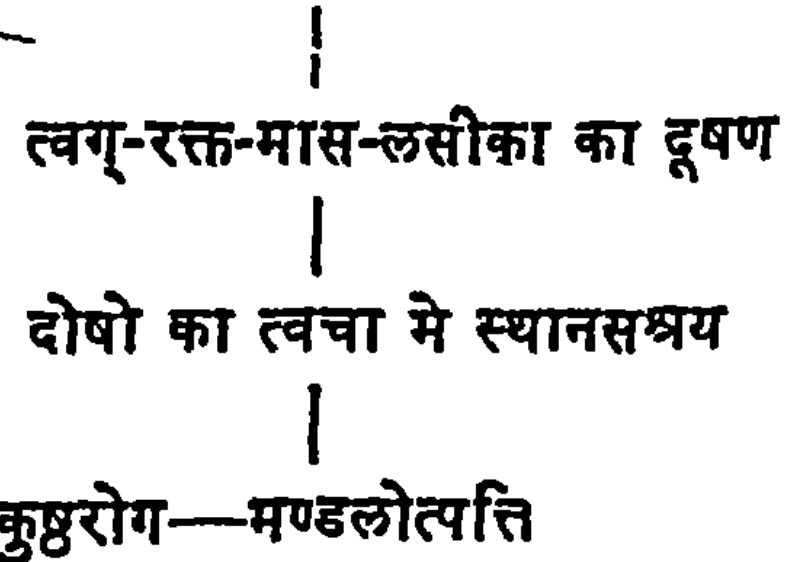
पूर्वरूप

१. त्वचा का स्पर्श अत्यधिक चिकना या अत्यधिक रूक्ष होना।

२. स्वेद की अधिकता अथवा स्वेद का सर्वथा अभाव होना।

३. विवर्णता, दाह, खुजली, सूनापन या सुई चुभाने जैसी पीडा।

४. त्वचा पर चकत्ते होना, श्रम, व्रणो मे अधिक पीडा, उनकी शीघ्र उत्पत्ति, तथा चिरस्थिति।

५ व्रणो का रोपण होने परे रूक्षता एव अल्प कारण से भी व्रणो का बढ जाना।

६ रोमहर्ष होना और रक्त का काला पड जाना, ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं।

भेद

१ वातज, २. पित्तज, ३ कफज, ४ वातपित्तज, ५ वातकफज, ६ पित्तकफज और ७ सन्निपातज भेद से कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं। यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, फिर भी दोषो की अधिकता के आधार पर वातज आदि व्यवहार किया जाता है।

इन सातो को महाकुष्ठ कहते हैं। इनमे दोषो के अधिक प्रकोप के अनुसार वर्ण, वेदना, आकार तथा लक्षणो मे भिन्नता होती है।

सामान्य दोषप्रकोष से ग्यारह प्रकार के क्षुद्रकुष्ठ होते हैं, जिनमे त्वचा मे कण्डू, दाह, रूक्षता आदि लक्षण होते हैं।
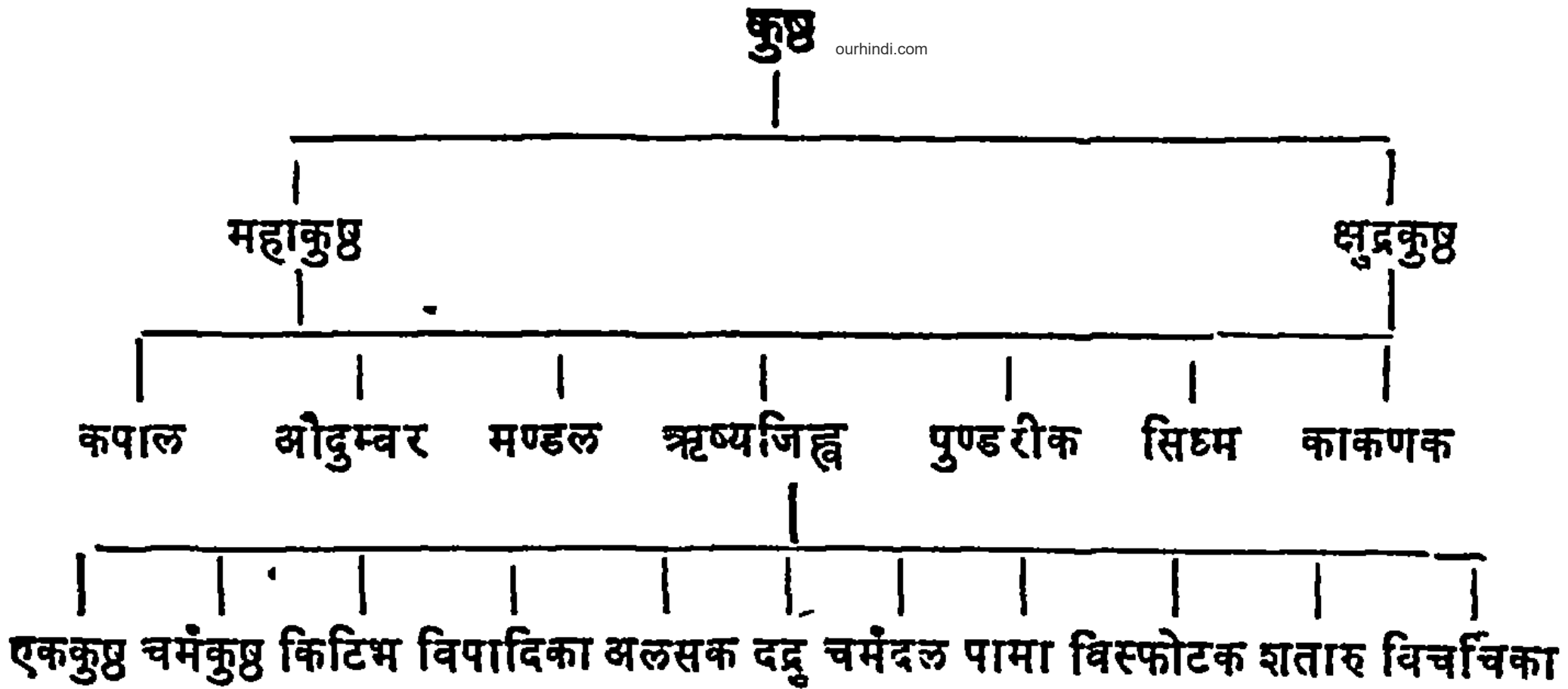
महाकुष्ठ मे दोष और नाम-भिन्नता

दोष	चरक	सुश्रुत	अष्टाङ्गहृदय
१. वात	१ कपाल	१ कपाल	१ कपाल
२ पित्त	२ औदुम्बर	२ उदुम्बर	२ उदुम्बर
३ कफ	३ मण्डल	३ अरुण	३. मण्डल
४ वातपित्त	४ ऋष्यजिह्व	४ ऋष्यजिह्व	४. ऋष्यजिह्व
५ पित्तकफ	५ पुण्डरीक	५ पुण्डरीक	५ पुण्डरीक
६ कफवात	६ सिध्म	६ दद्रु	६. दद्रु
७ त्रिदोष	७ काकणक	७. काकणक	७ काकणक

क्षुद्रकुष्ठ

चरक	सुश्रुत	अष्टाङ्गहृदय
१ एककुष्ठ	एककुष्ठ-स्थूलारुषक	एककुष्ठ
२. चर्मकुष्ठ	किटिभ	चर्मकुष्ठ
३ किटिभ	महाकुष्ठ	किटिभ
४ विपादिका	विसर्प	विपादिका
५ अलसक	परिसर्प	अलसक
६ दद्रु	चर्मदल	सिध्म
७ चर्मदल	पामा	चर्मदल
८ पामा	सिध्म	पामा
९ विस्फोटक	रकसा	विस्फोटक
१० शतारु	विचर्चिका	शतारु
११ विचर्चिका	——	विचर्चिका

कुष्ठ के लक्षण

१ कपालकुष्ठ—यह काले और लाल रग के खप्पर के समान और विषमाकृति तथा रूक्ष, कठोर, तनु, सूचीवेधनवत् पीडायुक्त एव कृच्छ्रसाध्य होता है।

२. औदुम्बर—यह गूलर के फल की आकृति का, मूज के रग के रोमवाला, पीडा-दाह-रक्तिमा और खुजली से युक्त होता है।

३ मण्डल—यह श्वेत या रक्तवर्ण के स्थिर, आर्द्र, चिकने और उठे हुए परस्पर सयुक्त अनेक मण्डलो या उभारो से सयुक्त होता है। ,

४ ऋष्यजिह्व—यह एक विशेष जाति के हिरण की जिह्वा के आकार का, कर्कश, लाल किनारोवाला, वीच मे श्याव और वेदनायुक्त होता है।

५. पुण्डरीक—यह सफेद एव लाल किनारे वाला, रक्तकमल जैसा उन्नत और मध्य मे श्वेत रक्तवर्ण का होता है।

६ सिध्म (सिहुला)—यह श्वेत या लाल रग का, लौकी के फूल के समान और प्राय छाती या पीठ पर होने वाला तथा रगडने पर भूसी जैसा चमडा छोडने वाला होता है।

७. काकणक—यह रत्तीफल के वर्ण का अर्थात् आधा काला आधा लाल, पकने वाला, तीव्र वेदना-युक्त एव तीनो दोषो के लक्षणो से युक्त तथा असाध्य होता है।

क्षुद्रकुष्ठ के लक्षण

१. एककुष्ठ—यह स्वेदरहित, विस्तारवाला और मछली की त्वचा के समान काला-लाल होता है।

२ चर्मकुष्ठ—इसमे हाथी की त्वचा के समान त्वचा मोटी हो जाती है।

३. **किटिभ**—यह स्निग्ध कृष्ण वर्ण का, व्रणस्थान के समान खुरदरा और कठोर होता है।

४ **विपादिका**—इसमे हाथ या पैर मे फटन होकर वेदना होती है, कदाचित् खून बहने लगता है।

५. **अलसक**—यह रक्तवर्ण के फोडो से युक्त और खुजली युक्त होता है।

६. **दद्रु**—यह दिनाय है, जिसमे भयङ्कर खुजली होती है और लालवर्ण की पिडकाओ से युक्त चकत्ते हो जाते हैं।

७. **चर्मदल**—यह रक्तवर्ण का, शूल-खुजली और स्फोटो से युक्त होता है।

८ **पामा**—यह नितम्ब, वक्षण आदि गरम स्थानो मे छोटी-छोटी अनेक फुन्सियो से युक्त, स्राव खुजली और जलन से युक्त कण्डूमय रोग है।

९ **कच्छू**—यह पकनेवाली खुजली है, जिसमे हाथ और नितम्ब प्रदेश मे तीव्र दाहयुक्त फफोले उठ जाते हैं, जिनसे स्राव या पूय निकलता है।

१०. **विस्फोट**—श्याव या रक्तवर्ण पतली त्वचायुक्त फफोलो को विस्फोट कहते हैं।

११ **शतारु**—यह रक्त-श्याववर्ण का, दाहयुक्त और अनेक व्रणोवाला होता है।

विचर्चिका

खुजली सहित, श्याववर्ण की अधिक स्राव करनेवाली पिडकाओ के समूह को 'विचर्चिका' कहते हैं। यह उकवत है।

कुष्ठ मे दोषानुसार लक्षण

वातज लक्षण	पित्तज लक्षण	कफज लक्षण
खुरदरा	दाह	श्वेतता
श्याव	रक्तिमा	शीतता
अरुण	स्राव	स्निग्धता
रूक्ष	पाक	कण्डू
पीडायुक्त	क्लेद	स्थिरता
सकोच	आमगन्ध	गौरव आदि
हर्ष	अगपतन आदि	
तोद		
शूल आदि		

धातुगत कुष्ठ के लक्षण

त्वचा-रसगत	रक्तगत	मासगत	मेदगत	अस्थि-मज्जागत	शुक्रगत
विवर्णता	खुजली	स्थूलमण्डल	अँगुलि आदि	नासिका गल	अगो मे
रूक्षता	दुर्गन्धित-	मुखशोष	गलकर गिरना	कर बैठ जाना	पीडा
सूनापन	पूय	कर्कशता	गमन मे असमर्थता	नेत्र मे	क्षत का
अतिस्वेद	आदि	सूई चुभाने-	अगो मे पीडा	लालिमा	फैलना

रोमहर्ष	जैसी वेदना	घाव का फैलना	घाव मे	तथा
	पिडका		कृमि होना	सभी
	फफोले		स्वरनाश	धातुओ के
	स्थिरता			उक्त लक्षण

वक्तव्य—स्त्री के आर्तव (स्त्री-बीज) तथा पुरुष के वीर्य के कुष्ठ से दूषित होने पर उनकी सन्तान भी कुष्ठी ही होती है।

साध्यासाध्यता

१ त्वचा, रक्त और मास मे स्थित तथा वात एव कफ की अधिकता से होनेवाला कुष्ठ साध्य होता है।

२. मेदोगत कुष्ठ यदि द्वन्द्वज हो, तो याप्य होता है।

३ अस्थिगत, मज्जागत, कृमियुक्त, पिपासायुक्त, दाहयुक्त, मन्दाग्नियुक्त, त्रिदोषज, फटा हुआ, गलिताङ्ग, नेत्र लालिमायुक्त, बोलने की शक्ति से रहित और वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन एव शिरोविरेचन इन पञ्चकर्मों से जिस कुष्ठ मे लाभ होने की सभावना न हो, वह कुष्ठ असाध्य होता है।

सापेक्ष निदान

कुष्ठ	विसर्प
१ यह वात-पित्त-कफ द्वारा शरीर के त्वचा, रक्त, मास और जलीयधातु के दूषित होने से होता है। इसमे द्रव्यसमक कारण हैं।	१ यह भी तीनो दोष और त्वचा, रक्त, मास तथा जलीय धातु के दूषित होने से होता है। इसमे द्रव्यसमक कारण हैं।
२ यह विलम्ब से क्रियाशील, स्थिर एव निर्बल रक्त-पित्तवाले दोषो के कारण होता है।	२. यह शीघ्रकारी विसर्पणशील प्रबल रक्त-पित्तवाले दोषो से होता है।
३. इसमे गुरु-देवता आदि का तिरस्कार, असत्य भाषण और पापकर्म, ये कारण होते हैं।	३ इसमे पाप आदि कारण नही हैं।
४ यह त्रिदोषज होता है।	४ यह एक-एक दोष से भी होता है।
५ यह एक विशिष्ट जीवाणुजन्य रोग है।	५ इसकी उत्पत्ति मे द्रव्यसमक कारण हैं। एव प्रधान कारण मालागोलाणु (Streptococcus) है।

कुष्ठ की संक्रामकता[1]

कुष्ठ आदि रोगो से पीडित रोगी के साथ मैथुन करने या निरन्तर सम्पर्क से

---

१. प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्नि श्वासात् सहभोजनात्।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥

शरीर के स्पर्श से, श्वास से, साथ मे भोजन करने से, एक शय्या पर सोने से, रोगी के पहने वस्त्र और माला को धारण करने से, कुष्ठ, ज्वर, राजयक्ष्मा, नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य मे सक्रान्त हो जाते हैं।

चिकित्सासूत्र

१. वातप्रधान कुष्ठो मे घृतपान, कफप्रधान मे सर्वप्रथम वमन और पित्तप्रधान में सर्वप्रथम रक्तमोक्षण और विरेचन का प्रयोग करे।

२ अल्प और उथले कुष्ठ मे पाछकर सीग से रक्त निकालना चाहिए।

३ अवगाढ (गम्भीर धातुगत) मे सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिए।

४ दोषो को निकालने के लिए तीक्ष्ण प्रयोग हानिकर और वातप्रकोपक होता है, अत बार-बार और धीरे-धीरे दोषो का निर्हरण करना चाहिए[१]।

वमन—१५–१५ दिन पर। **विरेचन**—१–१ माह पर।

अवपीड नस्य—३–३ दिन पर। **रक्तमोक्षण**—६–६ मास पर करावे।

५ विरेचन और रक्तमोक्षण के बाद घृतपान कराना चाहिए, अन्यथा वायु का प्रकोप होकर हानि की आशका होती है।

६ जिस कुष्ठ मे शस्त्र प्रयोग न किया जा सके अथवा जिसमे त्वचा मे शून्यता हो, उनमें रक्त और दोष को निकालने के बाद क्षार का प्रयोग करना चाहिए।

७. पाषाणवत् कठोर, शून्य, स्थिर और पुराने कुष्ठ मे विषघ्न औषध पिलाकर विष का लेप करे।

८. **संशमन**—कुष्ठ की शान्ति के लिए तिक्त और कषाय द्रव्यो का प्रयोग करे।

९ क्षुद्रकुष्ठो मे बाह्य और महाकुष्ठो मे आभ्यन्तर सशोधन अवश्य करे।

१०. निदानपरिवर्जन, दोषानुसार सशोधन तथा शमन उपचार तत्परता से करे।

चिकित्सा

बाह्य प्रयोग—१. **एलादि लेप**—बडी इलायची, कूठ, दारुहल्दी, सौंफ, चित्रक, वायविडग, रसौंत और हर्रा बारीक पीसकर जल मे मिलाकर लेप करे।

२ **सिद्धार्थक स्नान**—नागरमोथा, मदनफल, आंवला, हर्रा, वहेडा, करञ्ज की पत्ती, अमलतास की पत्ती, इन्द्रजौ, दारुहल्दी और छितवन की पत्ती सब समभाग मे कुल १ किलो लेकर कूटकर १ बाल्टी जल मे अर्धावशिष्ट पकाकर छानकर उस जल से स्नान करावे। इन्ही द्रव्यो का क्वाथ पिलावे तथा इनको ही बारीक पीसकर उबटन और लेप लगावे। यह सुलभ, सस्ता और लाभप्रद योग है।

३ **मन शिलादि लेप**—मैंनसिल, हरताल, कालीमरिच, मदार का दूध इन सबको समभाग लेकर तिल मिलाकर लेप करे।

कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च सङ्क्रामन्ति नरान्नरम्॥ सु० नि० ५

१ पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान्मासान्मासाद् स्रंसनं चाप्यधस्तात्।
त्र्यहात् त्र्यहान्नस्ततश्चावपीडान्मासेष्वस्र मोक्षयेत् षट्सु षट्सु॥ चक्रदत्त

४ तुत्थादि लेप—तूतिया, वायविडंग, कालीमरिच, कूठ, लोध्र और मैनसिल, सब समान भाग मे लेकर बारीक पीसकर जल मे लेप लगावे।

५ स्नान, पान, प्रदेह—गोमूत्र, निम्बपत्रक्वाथ और विडङ्गक्वाथ का प्रयोग करे।

६ अरुस की पत्ती, कोरया की छाल, छितवन की छाल, करञ्ज, कनेर और नीम की पत्ती तथा खदिर छाल के समभाग के क्वाथ का गोमूत्र मिलाकर पान, स्नान मे प्रयोग और पीसकर लेप मे प्रयोग करे।

७. नीम, विडङ्ग और खदिर इन तीनो का बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग जैसे भी हो करना चाहिए।

८ बाह्य प्रयोगार्थ—मुर्दाशख, रसकपूर, सोहागा, तुत्थ, गन्धक, कत्था, गोमूत्र, नीलगिरी तैल, चकवडबीज, कसौंदी, नीम का पचाग, चमेली के पत्ते, वायविडग और भजकटैया (स्वर्णक्षीरी) ये औषधें त्वचा-कृमिनाशक हैं।

९ आभ्यन्तर प्रयोगार्थ—खदिरसार, हर्रे, आँवला, हल्दी, छितवन, अमलतास, मजीठ, सरफोका, कसौंदी, वायविडग, चमेली के पत्ते, नीम, खैर, गूलर, भोजपत्र, श्वेत-रक्त चन्दन, विजयसार, उशवा, गोरखमुण्डी, चोपचीनी, सारिवा, सहिजन आदि औषधो को क्वाथ एव चूर्ण आदि के रूप मे प्रयोग करना अत्यन्त उपयोगी है।

१० क्वाथ—पटोलादिक्वाथ, महामञ्जिष्ठादिक्वाथ और पटोलमूलादिक्वाथ दे।

११ चूर्ण—मञ्जिष्ठादिचूर्ण, निम्बादिचूर्ण, मुस्तादिचूर्ण और सोमराजीचूर्ण दे।

१२. आसवारिष्ट—खदिरारिष्ट, मञ्जिष्ठाद्यरिष्ट, सारिवाद्यरिष्ट, मध्वासव और कनकबिन्द्वरिष्ट का प्रयोग उत्तम है।

१३. वटी—आरोग्यवर्धिनी वटी, अमृता गुग्गुलु, एकविंशतिक गुग्गुलु दे।

१४ रसौषध—रसमाणिक्य, गन्धक रसायन, तालकेश्वर, गलत्कुष्ठारि, कुष्ठकुठार, शुद्ध गन्धक का योग्य मात्रा से प्रयोग करे।

१५ घृत—महाखदिरघृत, त्रिफलाघृत, पचतिक्तघृत, तिक्तषट्पलघृत, महातिक्तक-घृत का यथोचित प्रयोग करे।

१६ तैल—बाह्य प्रयोगार्थ—मरिचादि तैल, महामरिचादि तैल, तुवरक तैल, कुष्ठराक्षस तैल, जात्यादि तैल, सोमराजी तैल, करञ्ज तैल, निम्ब तैल आदि का प्रयोग करे।

१७ दश कुष्ठघ्न द्रव्य—आचार्य चरक ने—१ खदिर, २ हर्रे, ३ आँवला, ४ हल्दी, ५ भिलावा, ६ छितवन, ७ अमलतास, ८ कनेर, ९ वायविडग और १०. चमेली के पत्र, इन दशो को कुष्ठघ्न कहा है।

व्यवस्थापत्र

(१) सामान्य

१. प्रात -साय

आरोग्यवर्धिनी वटी	१ ग्राम
रसमाणिक्य	२५० मि० ग्रा०

त्वचा के रोग

गुडूचीसत्त्व	१ ग्राम
गोघृत से।	२ मात्रा
बाद मे महामञ्जिष्ठादि क्वाथ	१०० मि० ली०
पीना।	२ मात्रा

२. भोजनोत्तर २ बार

खदिरादिष्ट	४० मि० ली०
समान जल से।	२ मात्रा

३. ९ बजे व २ बजे दिन

पञ्चनिम्बादि चूर्ण	६ ग्राम
जल से।	२ मात्रा

४ रात मे सोते समय

नारायण चूर्ण	५ ग्राम
मन्दोष्ण जल से।	१ मात्रा

५ अभ्यग—महामरिचादि तैल से।

(२) वातप्रधान मे

१ प्रात -साय

आरोग्यवर्धिनी	१ ग्राम
मन्दोष्ण जल से।	२ मात्रा
बाद में पटोलमूलादि क्वाथ	१०० मि० ली०
पीना।	२ मात्रा

२ भोजनोत्तर २ बार

खदिरारिष्ट	४० मि० ली०
समान जल मिलाकर पीना।	२ मात्रा

३. ९ बजे व २ बजे

महायोगराज गुग्गुलु	२ ग्राम
जल से।	२-मात्रा

४ रात मे सोते समय

नारायण चूर्ण	५ ग्राम
मन्दोष्ण जल से।	१ मात्रा

(३) पित्तप्रधान में

१ प्रात साय

महातिक्तक घृत	३० ग्राम
गरम जल से।	२ मात्रा

२ ९ बजे व २ बजे दिन
पञ्चनिम्बादि चूर्ण — १० ग्राम / २ मात्रा
जल से ।

३ भोजनोत्तर
सारिवाद्यासव — ४० मि० ली० / २ मात्रा
समान जल से पीना ।

४ रात में सोते समय
आरोग्यवर्धिनी — १ ग्राम / १ मात्रा
जल से ।

(४) कफप्रधान में

१. अमृतभल्लातक — १० ग्राम
पटोलमूलादि क्वाथ से ।

२. भोजनोत्तर
खदिरारिष्ट — ४० मि० ली० / २ मात्रा
समान जल से पीना ।

३. रात में सोते समय
आरोग्यवर्धिनी — १ ग्राम / १ मात्रा
जल से ।

(५) गलत्कुष्ठ में

१. प्रात -साय-मध्याह्न
कुष्ठकुठार — १½ ग्राम / ३ मात्रा
मधु से ।

२ ९ बजे व ३ बजे
पञ्चनिम्बादि — १० ग्राम / २ मात्रा
जल से ।

३ भोजनोत्तर
खदिरादिष्ट — ४० मि० ली० / २ मात्रा
समान जल से पीना ।

४ रात मे सोते समय
आरोग्यवर्धिनी — १ ग्राम / १ मात्रा
जल से ।

पथ्य

सभी कुष्ठो मे लघु अन्न और तिक्त रसवाले शाक पथ्य हैं। शुद्ध भिलावा, फला और निम्ब से युक्त अन्न और घृत का प्रयोग हितकर है। पुराना धान्य, ल पशु-पक्षियो का मांस, मूँग की दाल, परवल का शाक हितकर है।

अपथ्य

गुरु अन्न, अम्लरस, दूध, दही, आनूपमास, मछली, गुड और तिल अपथ्य ा है।

किलास या श्वित्र
(Leucoderma)

परिचय

शरीर के किसी अग की त्वचा पर सफेद दाग—सफेद कुष्ठ—होने को किलास श्वित्र कहते हैं।

पर्याय—श्वित्र, किलास, वारुण ये पर्याय हैं। कहीं-कहीं चरण तथा चारुण भी ाय कहे गये हैं। इसे बाह्य कुष्ठ (अष्टाङ्गसग्रह) भी कहा जाता है।

निर्वचन—१ किलास—किलेन श्वैत्येन असति इति किलास । 'किल श्वैत्य डनयो (तु० प० से०)। 'इगुपध-' (३।१।१३५) इति क । किलति इति ल । 'अस दीप्तौ' (भ्वा० उ० से०)। अच् (३।१।१३४) अमरकोष—माश्रमी टीका।

२. श्वित्र—श्वेतते (इति श्वित्रम्)। 'श्विता वर्णे' (भ्वा० आ० से०)। फायितञ्चि–' (उ० २।१३) इति रक्।

निदान

१ झूठ बोलना।
२ कृतघ्न होना।
३ देवताओ की निन्दा करना।
४ गुरुजनो का अपमान।
५ पापकर्म करना।
६ विरुद्ध अन्नपान सेवन।
७ जन्मान्तर (पूर्वजन्म) मे किया गया दुष्कर्म।
८. कुष्ठरोग के सभी निदान इसके भी निदान होते हैं।

आहार

९. मधु, राब (फाणित), मछली, बडहल, मूली और काकमाची का अधिक मात्रा मे लगातार सेवन करना।

१०. अजीर्ण होने पर भोजन करना।

११ दूध-दही-तक्र-मांस-कुलथी और तैलीय द्रव्यों का एक साथ सेवन करना।
१२. गुरु, स्निग्ध तथा द्रव पदार्थों का अधिक सेवन करना।

विहार

१३. वमन आदि के वेगो को रोकना।
१४ भय, श्रम या गर्मी लगने के तुरन्त बाद ठडा जल पीना।
१५ दिन मे सोना और पचकर्म का ठीक प्रयोग न होना।

पाप

१६. गुरु, ब्राह्मण या स्त्री का वध करना।
१७ चोरी करना, जलाशय को दूषित या नष्ट करना।
१८ परायी स्त्री के साथ संभोग करना।

निदानार्थंकर रोग

१९ व्रण अम्लपित्त या अतिसार की उचित चिकित्सा न करना या अधिक दिनो तक कृमिरोग का रहना।

२०. गम्भीर धातुगत व्रण या अग्निदग्ध होना।

संप्राप्ति

पूर्वोक्त निदानों से कुपित दोष त्वचा में स्थानसश्रय करके अन्य धातुओ को दूषित कर त्वचा का वर्ण श्वेत करके किलास रोग उत्पन्न करते हैं।

सामान्य लक्षण

शरीर में त्वचा का रग सफेद हो जाता है और वह शनै शनै फैलता है। इसमे कोई पीडा नहीं होती। गर्मी के मौसम मे इसमें जलन मालूम होती है, जिसे रोगी सहन नहीं कर पाता है।

किलास के भेद

चरक ने दारुण, चारुण और श्वित्र को पर्याय नाम कहा है। इसे त्रिदोषज तथा त्रिविध बतलाया है[1]। चरक ने धातुगत दोषो के आधार पर तीन वर्णों का उल्लेख किया है, किन्तु वाग्भट ने दोषो की प्रधानता से उन-उन धातुओ के आश्रित, वर्णों के आधार पर तीन प्रकार का बतलाया है।

सुश्रुत० नि० ५।१५ पर गयदास-टीका मे उद्धृत भालुकि वचन के अनुसार—

१ रक्तधातुगत दोष से उत्पन्न किलास रक्तवर्ण का होता है, उसे दारुण कहते हैं।
२. मासगत दोषो से उत्पन्न श्वित्र ताम्रवर्ण का होता है, जिसे चारुण कहते हैं।
३ मेदोगत दोष से उत्पन्न श्वित्र श्वेतवर्ण का होता है, जिसे श्वित्र कहते हैं।

---

१. दारुण चारुण श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभि।
विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत्॥ च० नि० ७।१७३

वाग्भटानुसार वातज श्वित्र—यह रक्तगत होता है और त्वचा रूक्ष तथा अरुण वर्ण की हो जाती है।

पैत्तिक श्वित्र—यह मांसगत होता है और त्वचा कमलपत्र के समान ताम्रवर्ण की हो जाती है।

कफज श्वित्र—यह मेदगत होता है और त्वचा श्वेतवर्ण की स्निग्ध, घन, विस्तृत तथा खुजली युक्त होती है।

साध्यासाध्यता

१ कृष्णरोम वाला, पतला, परस्पर चकत्ते न मिले हो।

२ नवीन उत्पन्न (एक वर्ष के अन्दर का हो), अग्निदग्ध न हो, तो साध्य होता है।

१ श्वेतरोम वाला, मोटा, परस्पर मिला हुआ तथा चिरकालीन।

२ अग्निदग्ध, अधिक देश मे फैला हुआ, गुह्य (गोपनीय) अगो मे उत्पन्न, ओठ तथा हथेली पर उत्पन्न नवीन श्वित्र भी असाध्य होता है।

सापेक्ष निदान

कुष्ठ	किलास
१. यह कृमिजन्य होता है।	१. इसमे कृमि का सम्बन्ध नही है।
२ यह सक्रामक है।	२ यह सक्रामक नही है।
३. इससे शरीर-धातुएँ नष्ट होती हैं।	३ शरीर-धातुएँ नही नष्ट होती हैं।
४ यह त्रिदोषज है।	४ यह एकदोषज भी है।
५ यह सप्तधातुगत है।	५. यह त्वचा, रक्त, मास, मेद मे होता है।

श्वित्र	सिध्मकुष्ठ	पुण्डरीक कुष्ठ
१ गहरा श्वेतमण्डल	१ उथला श्वेतमण्डल	१ श्वेताभमण्डल
२ अरुण वर्ण, मध्यस्निग्ध	२ अरुण वर्ण, मध्यस्निग्ध	२. रक्त, रक्तसिरायुक्त
३ प्राय मुख, हस्त-पाद तथा उर प्रदेश।	३ प्राय उर'प्रदेश में फैलने पर पीठ आदि पर	३. पूय, लसीका, कण्डू, कृमि, दाह, पाक आदि।

चिकित्सासूत्र

१ चरक-सूत्रस्थान अ० २४ मे इसे रक्तज रोगो मे गिना गया है। अत रक्तज रोगो की सामान्य चिकित्सा यथा—विरेचन, उपवास और रक्तमोक्षण करे।

२ इसकी चिकित्सा कुष्ठरोग के समान करनी चाहिए।

३. सर्वप्रथम सशोधन और बाद मे सशमन उपचार करे।

३ यह पापकर्मज रोग है, अत पापनाश के लिए दान-पुण्य, व्रत-उपवास आदि धार्मिक अनुष्ठान करना चाहिए, बिना पाप कटे यह ठीक नही होता।

४ वमन-विरेचन द्वारा शरीर का शोधन कर ससर्जन क्रम से पथ्य दे।

चिकित्सा

१. स्नेहपान कराकर स्नेहन करने के बाद, विशेष रूप से विरेचन कराने के लिए कठगूलर के फल का स्वरस या छाल का क्वाथ ५० मि० ली० २० ग्राम गुड मिलाकर पिलाना चाहिए।

२. विरेचन हो जाने के बाद ३ दिन तक धूप मे बैठना चाहिए और प्यास लगने पर पेया पिलानी चाहिए।

३ श्वित्र मे यदि स्फोट (व्रण) हो जाय, तो कण्टक अथवा सूई से भेदन कर लसीका का स्राव करा देवे। तत्पश्चात् सेंधानमक, कूठ, कदलीक्षार और नीलकमल को हाथी के मूत्र मे पीसकर लेप करना चाहिए।

४. **क्वाथ**—कठगूलर की छाल, विजयसार, फूलप्रियङ्गु और सौंफ, इनको समान भाग लेकर कूटकर, उसमे से २० ग्राम लेकर आधा लीटर जल मे चतुर्थांशावशेष क्वाथ बनाकर प्रात. १५ दिन तक पीना।

५ खैर की लकडी २५ ग्राम को कूटकर २ लीटर पानी मे औटाएँ, आधा जल जाने पर छान ले। यही जल पीने को देना चाहिए।

६ महानील घृत का प्रयोग लाभप्रद होता है।

७ कालातिल १० ग्राम और बाकुची चूर्ण १–२ ग्राम जल से १ वर्ष तक प्रात. दे।

८. अपराजिता की जड को पीसकर लगाना हितकर है।

९ स्वर्णमाक्षीक १२५–२५० मि० ग्रा० मधु से सबरे-शाम दे।

१० काले सर्प को जलाकर उसकी राख मे बहेडे का तेल मिलाकर लेप करना लाभकर है। (सु० चि० ९।१७)

११ गोमूत्र को पीना और उसे लगाना उत्तम है।

१२ बाकुची बीज, लाक्षा, गोरोचन, रसाञ्जन, सौवीराञ्जन, पिप्पली लौह भस्म, इन सबको एक साथ पीसकर लेप करना चाहिए।

१३ बाकुची ४ भाग, हरताल १ भाग, कासीस १ भाग लेकर नीम के पत्ते के स्वरस और गोमूत्र के साथ पीसकर वर्ती बना ले और उसको घिसकर लेप लगावे।

१४ कायचिकित्सा (ध्यानी जी, पृ० ४९१) मे एक सिद्धसम्प्रदाय की औषध लिखी है—'करपणपत्तू' जिसका प्रयोग सफल कहा गया है।

१५ **मनःशिलादि लेप**—मैनसिल, वायविडग, कासीस, गोरोचन, भडभाड (सत्यानाशी-स्वर्णक्षीरी) के मूल की छाल और सेंधानमक इनको पीसकर लेप लगाने से श्वित्र शान्त हो जाता है।

१६. **रसौषध**—रसमाणिक्य, आरोग्यवर्धिनी, कैशोरगुग्गुलु, गुडूचीसत्व, खदिरारिष्ट आदि का आभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिए।

पथ्य

लघु अन्न और तिक्त रस वाले शाक, त्रिफला, निम्ब से युक्त अन्न और घृत का प्रयोग लाभकारी है। पुराना अनहनी या साठी चावल, जागल पशु-पक्षियो का मास, मूग की दाल और परवल का शाक पथ्य है।

अपथ्य

गुरु अन्न, अम्ल रस, दूध, दही, आनूप मास, मछली, गुड और तिल का सेवन अपथ्य है।

विसर्प

परिचय—यह शरीर के सर्वाङ्ग मे फैलने के स्वभाव वाला रोग है, जिसमे सरसो या मसूर के आकार की छोटी-छोटी पिडकाएँ निकलती हैं और उनमे वातादि दोषो की प्रधानता के अनुसार शोफ, ग्रन्थि, खुजली, स्राव आदि लक्षण होते हैं। इसे परिसर्प भी कहते हैं।

निर्वचन—विविध प्रकार से शरीर के अगो मे सर्वत्र फैलने के कारण इसे विसर्प या परिसर्प कहते हैं। 'विविध अनेकप्रकारेण सर्वत देहस्य सर्वाङ्गेषु परिसर्पणात विसर्प परिसर्पो वा'। तथा च चरक —

'विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृत ।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वत परिसर्पणात् ॥' (च० चि० २१)

निदान

१ लवण, अम्ल, कटुरस-प्रधान तथा उष्ण-तीक्ष्ण पदार्थों का अधिक सेवन।
२ दही, दही का रायता, मठ्ठे का रायता या छेना अधिक खाना।
३ सुरा, सिरका, तीक्ष्ण मद्य, लशुन तथा विदाही द्रव्यो का सेवन।
४ क्षत होना, वेधकर्म, गिरना और विष का प्रयोग।
५ वमन-वेगावरोध, शरत्काल का प्रभाव तथा यथासमय रक्त का अवसेचन न करना।

विसर्प के कारण सप्तधातु

१ रक्त, २ लसीका, ३. त्वचा, ४ मास, ये दूष्य और वात, पित्त, कफ ये तीन दोष मिलाकर ये सात धातुएँ विसर्प की उत्पत्ति कराती हैं।

वक्तव्य—(१) **सहायक कारण**—विषमाग्नि, चिरकालीन प्रमेह, मद्यसेवन सीलनयुक्त स्थान मे निवास तथा दूपित वायु-सेवन, रोग-क्षमता का ह्रास होना।

(२) **प्रधान कारण**—विसर्प जनक माला गोलाणु—स्ट्रेप्टोकोक्कस एरिसिपेलैटिस—(Streptococcus erysipelatis) प्रधान कारण है।

सम्प्राप्ति

मिथ्या आहार-विहार से कुपित हुए वातादि दोष, त्वचा (तथा लसीका) मांस और रक्त मे जाकर सर्वाङ्ग मे फैलनेवाले, अस्थिर, वातादि लक्षणो से युक्त विस्तृ

एवं अल्प उभारवाले शोथ को शीघ्र उत्पन्न करते हैं। सर्वाङ्ग में फैलने के कारण इसे विसर्प कहते हैं। (सु० नि० १०।३)

दोष-दूष्य-अधिष्ठान

१. दोष—त्रिदोष।
२. दूष्य—त्वचा, लसीका, रक्त, मांस।
३. स्रोतस—रक्तवह।
४. अधिष्ठान—त्वक्।
५. आशुकारी रोग।

विसर्प के भेद
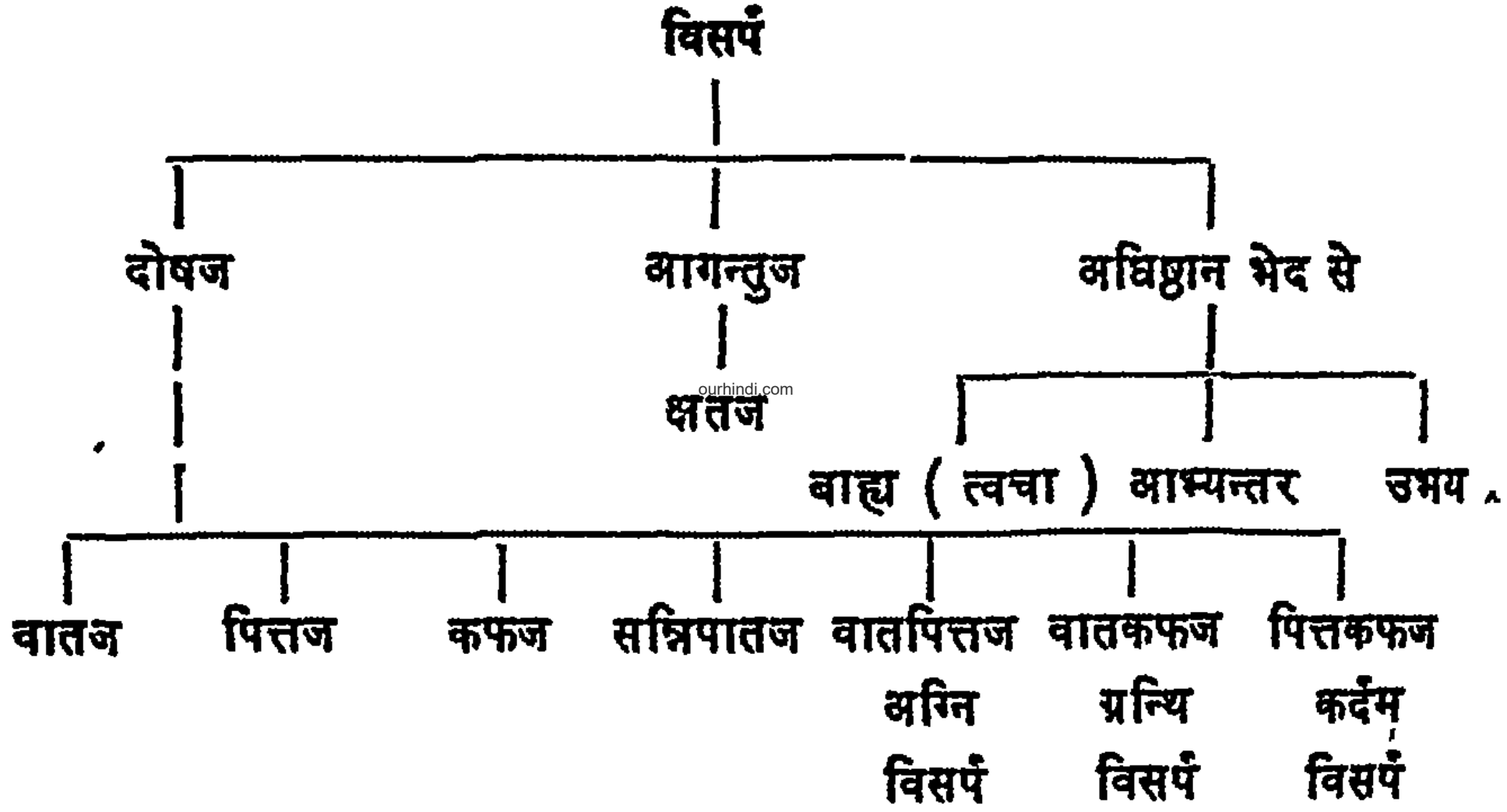
विसर्प की विशेषताएँ

१ त्वचा या श्लेष्मलकला से शोथ का प्रारम्भ।
२. सभी शरीर के अंगो मे फैलने की प्रवृत्ति।
३ शोथ का उभरा हुआ न होना—अनुन्नत शोफ।
४ उत्पत्ति-स्थान में स्थायी रूप से रहना।

ये चार विसर्प के विशेष सूचक चिह्न हैं। विसर्प को एरिसिप्लस (Erysipelas) कहते हैं।

क्षतज विसर्प का लक्षण

१ क्षतस्थान पर अल्प उभारवाला शोथ, लालिमा, दाह, पीडा।
२ वेदनायुक्त फैलनेवाला शोथ, ज्वर, काले रंग की पिडकायें होना।

वातज विसर्प का लक्षण

१. वातज्वर के समान वेदना, शोथ, फड़कन, सूई चुभाने जैसी पीडा।
२. अंगों में टूटन, थकावट, आयाम, संकोच और रोमाञ्च होना।

पित्तज विसर्प का लक्षण

१ शीघ्र फैलना, पित्तज्वर के समान लक्षण और गहरा लालवर्ण होना।

कफज विसर्प का लक्षण

१. खुजली, स्निग्धता और कफज्वर के समान पीडा होना।

सन्निपातज विसर्प का लक्षण

१ तीनो दोषो के लक्षणो से युक्त होना।

वातपित्तज (अग्नि) विसर्प

१ ज्वर, मूर्च्छा, वमन, अतिसार, प्यास, चक्कर आना, ग्रन्थियो का फटना।

२. अग्निमान्द्य, तमकश्वास, अरुचि और सर्वाङ्ग मे तप्त अगार जैसी जलन।

३. विसर्प स्थान का काला, नीला या लाल होकर अग्निदग्धवत् फफोलायुक्त होना।

४. विसर्प का मर्मस्थान मे प्रवेश, वायु की प्रबलता से अगो मे पीडा, बेहोशी, अनिद्रा।

५. हिक्का, श्वास, बेचैनी से पीडित रोगी, जमीन पर बैठने या लेटने की चेष्टा करता हुआ मूर्च्छित होकर चिरनिद्रा मे सदा के लिए सो जाता है।

वातकफज (ग्रन्थि) विसर्प का लक्षण

१ स्व-प्रकोपक कारणो से प्रकुपित कफ से अवरुद्ध वायु कफ को फैलाकर अथवा जिस व्यक्ति का रक्त बढा हुआ है, उसकी त्वचा, सिरा, स्नायु और मास मे रहने वाले रक्त को दूषित कर, लम्बी छोटी गोल या मोटी कठोर ग्रन्थियो की माला (समूह) उत्पन्न करती है। इन ग्रन्थियो का रग लाल होता है और साथ में पीडा तथा ज्वर भी होता है।

२. रोगी को श्वास, खांसी, अतिसार, मुख का सूखना, हिचकी, वमन तथा भ्रम, मोह, विवर्णता होती है।

३. मूर्च्छा, अंगो का टूटना और अग्निमान्द्य, इन लक्षणो से युक्त ग्रन्थियो की माला को अग्नि-विसर्प कहते हैं।

वक्तव्य—चक्रपाणि और विजयरक्षित सुश्रुतोक्त अपची को ग्रन्थिविसर्प मानते हैं।

पित्तकफज (कर्दम) विसर्प का लक्षण

१ ज्वर, अगो की स्तब्धता, निद्रा, तन्द्रा, शिर शूल, अगशैथिल्य।

२. अगविक्षेप, अगलेप की प्रतीति, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा, मन्दाग्नि।

३ अस्थियो मे टूटने जैसी पीडा, प्यास, इन्द्रियो मे भारीपन, आममलत्याग।

४ स्रोतों मे अवरोध, प्राय आमाशय मे और एकदेशव्यापी होना।

५ अनतिरुक्, अत्यधिक पीली, लाल और पाण्डुर वर्ण की पिडकायुक्त।

६. काला, चिकना, अञ्जन के समान कृष्ण, मलिन, शोथयुक्त, भारी।

७ अन्त पाकवाला, अत्यधिक उष्ण, क्लिन्न, छूने पर फटनेवाला।
८ मास के झडने से कीचड की तरह गीला, सिरा-स्नायु दर्शक।
९. शवगन्धी—मुर्दे जैसी गन्धवाला—इन लक्षणो से युक्त कर्दम-विसर्प होता है।

विसर्प के उपद्रव

ज्वर, अतिसार, वमन, त्वचा तथा मास का फटना, क्लम, अरुचि तथा भोजन का ठीक से न पचना, ये विसर्प के उपद्रव हैं।

साध्यासाध्यता

१ वातज, पित्तज और कफज विसर्प साध्य होते है।
२ सन्निपातज और क्षतज विसर्प असाध्य होते हैं।
३ जिस पित्तज विसर्प मे शरीर अजनवत् कृष्ण हो, वह असाध्य होता है।
४ मर्मज विसर्प कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होते है।

चिकित्सासूत्र

१ सामदोष कफस्थान मे हो तो लघन, वमन तथा औषध एव आहार मे तिक्तरस का सेवन करे।

२ सामदोष पित्तस्थान मे हो तो लघन, वमन, तिक्तरस का सेवन करे, विशेष रूप से रक्तमोक्षण और विरेचन का प्रयोग करे।

३ वात के कारण विसप होने पर भी रूक्षण ही करना चाहिए, जिससे रस, रक्त, लसीकागत जलीय अश कम हो जावे।

४ वातप्रधान विसर्प मे तथा पित्तज विसर्प मे तिक्तषट्पल घृत या महातिक्तक घृत का प्रयोग करे।

५ यदि पित्तज विसर्प मे दोष अधिक बढे हो, तो विरेचन का प्रयोग करे।

६ वातज मे स्नेह-प्रयोग, पित्तज मे शीतप्राय और कफज मे रूक्षप्रधान उपचार करे।

७ अग्नि-विसर्प मे वातपित्तशामक और कर्दम मे कफपित्तशामक चिकित्सा करे।

८. ग्रन्थि-विसर्प मे प्रारम्भ से ही रक्त-पित्त की प्रधानता देखकर प्रारम्भ से ही रूक्षण, लङ्घन, पञ्चक्षीरी वृक्षो की त्वचा के क्वाथ से परिषेचन तथा पञ्चक्षीरी वृक्षो की त्वचा से निर्मित प्रदेह का प्रयोग, सिरावेध या जोक लगाकर रक्त का निर्हरण, वमन, विरेचन एव कषाय तथा तिक्त द्रव्यो द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग अवसर के अनुसार करना चाहिए।

९. ग्रन्थि विसर्प मे वमन, विरेचन द्वारा ऊर्ध्व एव अध शोधन हो जाने पर तथा रक्तमोक्षण के वाद वात कफनाशक चिकित्सा करे।

चिकित्सा

१ वमन—परवल पञ्चाङ्ग, नीम की छाल, पीपर, मदनफल और इन्द्र जौ का क्वाथ उचित मात्रा मे पिलाकर वमन करावे।

२. विरेचन—निशोथ चूर्ण ३–४ ग्राम गरम जल से देना चाहिए।

३ त्रिफला के क्वाथ मे घृत और निशोथ चूर्ण मिलाकर पिलावे।

४. घृत—महातिक्त घृत (कुष्ठघ्न), त्रायमाणा घृत (गुल्मघ्न) १५–२० ग्राम २०० मि० ली० गरम दूध मे प्रात -साय पिलावे।

५ क्वाथ—किराततादि या पटोलादि या सारिवादि क्वाथ (चरक) प्रात - साय दे।

६ अमृतादि क्वाथ—गुरुच, अरूस-पत्ती, परवल-पत्ती, नागरमोथा, छितवन की छाल, खैरसार, नीम की पत्ती, हल्दी तथा दारुहल्दी समभाग लेकर जौकुट करे, २० ग्राम लेकर आधा लीटर जल मे पकावे, चौथाई बचे तो छानकर, ठण्डाकर सवेरे-शाम पिलावे।

७ प्रक्षालन—पञ्चवल्कल (पीपल, बरगद, गूलर, पाकड, महुआ) की छाल के क्वाथ से विसर्प-व्रण को धोना चाहिए। अथवा—

८ परवल की पत्ती, नीम की छाल, आँवला, हर्रा, बहेडा, मुलहठी और नील-कमल के समभाग के क्वाथ से विसर्प का प्रक्षालन करे।

९ प्रदेह—वातज मे रास्ना, नीलकमल, लालचन्दन, मुलहठी और वरियार का मूल वारीक पीसकर घी मिलाकर लगाना चाहिए।

१० पित्तज मे, खश, सफेद चन्दन, लोध, कमलनाल, कमलपुष्प, अनन्तमूल, आँवला और हर्रा छिलका पीसकर प्रलेप लगावे।

११ कफज मे त्रिफलादि प्रदेह—आँवला-हर्रा-बहेडा का छिलका, पद्मकाठ, खश, लज्जावन्ती, कनेर का मूल, नरकट का मूल और अनन्तमूल समभाग लेकर पीसकर लेप करे।

१२. शतधौत घृत—नीम के काढे के जल से सौ वार धोया हुआ गाय का घी सभी विसर्पों मे उपयुक्त प्रदेह है।

१३. वातपित्तज (अग्नि) विसर्प मे पञ्चवल्कल के कल्क मे चौगुना शतधौत घृत मिलाकर प्रलेप लगावे।

१४. कफवातज (ग्रन्थि) विसर्प मे, वटजटा, श्वेतगुञ्जा, कदलीस्तम्भ का कल्क चतुर्गुण शतधौत घृत मिलाकर लेप करे।

१५ कफपित्तज (कर्दम) विसर्प मे शिरीष की छाल का कपडछन चूर्ण चौगुने शतधौत घृत मे मिलाकर लेप अति लाभदायक है।

व्यवस्थापत्र

१ सवेरे-शाम

आरोग्यवर्धिनी	½ ग्राम
रसमाणिक्य	१०० मि० ग्रा०
गुडूचीसत्त्व	½ ग्राम
मधु से।	१ मात्रा

बाद महामञ्जिष्ठादि क्वाथ ५० ग्राम पीना।

२. भोजनोत्तर—
खदिरादिष्ट — ४० मि० ली० / २ मात्रा
समान जल मिलाकर पीना।
३ प्रक्षालन
पञ्चवल्कल क्वाथ से।
४. लगाना
जात्यादि घृत

पथ्य

पुराना जौ, गेहूँ, अगहनी चावल, मूँग, मसूर, चना, अरहर, मक्खन, गोघृत, गोदुग्ध, करेला, परवल, लौकी, आँवला, अनार, अगूर-मुनक्का, अंजीर तथा तिक्त-कषाय रसवाले द्रव्य फालसा आदि हितकर हैं।

अपथ्य

विरुद्ध आहार, गुरु भोजन, कुलथी, उडद, तिल, अम्लकटु रसवाले द्रव्य, नमक, लहसुन, गरम मसाला, दही, खटाई, आनूपमास, स्वेदन, धूप, अग्निसेवन, परिश्रम, दिन मे शयन, क्रोध, व्यायाम, हवा का झोका, शोक, ईर्ष्या, वेगावरोध आदि अपथ्य हैं।

शीतपित्त, उदर्द, कोठ

परिचय—१. शीतपित्त को प्रचलित भाषा मे जुलपित कहते हैं। सर्वाङ्ग में लाल-लाल ददोरे उभड जाते हैं और उनमे जलन और असह्य खुजली होती है।

२ उदर्द हड्डा काटने से उत्पन्न शोथ के समान त्वचा पर शोथ होना तथा साथ ही खुजली और दर्द होना उदर्द है।

३ कोठ जब गोल मण्डलाकार शोथ होकर उसमे खुजली और लालिमा होती है, तो उसे कोठ कहते हैं।

तीनों का सामान्य निदान और संप्राप्ति

१ शरीर मे अचानक गरम और ठण्डे का सयोग प्रमुख कारण है। यह बात अनुभव सिद्ध है।

२ शीतल वायु के स्पर्श से कफ और वायु प्रकुपित होकर पहले से (स्वप्रकोपक हेतु से) प्रकुपित पित्त के साथ मिलकर बाहर त्वचा तथा आभ्यन्तर रक्त आदि धातुओं मे फैलकर शीतपित्त, उदर्द और कोठ, इन रोगो को उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति

शीतवातस्पर्श—निदान—कफ + वातप्रकोप + प्रकुपित पित्त सयोग
|
त्वचा एव रक्तादि धातुप्रसर
|
शीतपित्त—उदर्द—कोठ—त्वचा मे स्थानसश्रय

वक्तव्य—ये त्रिदोषज होते हैं। इनमे शीतपित्त अग्रिम पंक्ति का रोग है और दोषो की प्रधानता के भेद से उदर्द और कोठ उसकी ही अवस्थाएँ हैं। शीतपित्त या जुलपित्ती शरीर मे एक साथ गर्मी सर्दी लगते से होता है। शरद् एव वसन्त ऋतुओ मे यह प्राय होता है। सडी-गली चीजे, मछली, मांस; अण्डा, सखिया या क्विनीन के योग तथा अकुशमुख कृमि या गण्डूपद कृमि के उपसर्ग से यह रोग होता है।

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिक शीतपित्त का कारण एलर्जी (Alergy) या अनूर्जता को मानते हैं। जब शरीर मे किसी ऐसे द्रव्य का प्रवेश हो जाता है, जिसे शरीर की रोगक्षमता नही वर्दाश्त कर पाती है, तो इसके चिह्न उभड आते हैं।

पूर्वरूप

१. पिपासा, २ अरुचि, ३. मिचली, ४. थकावट, ५ अगो मे भारीपन तथा ६. आँखो का लाल होना, ये पूर्वरूप हैं।

शीतपित्त के लक्षण

१ त्वचा पर हड्डा काटने जैसा लाल शोथ होना और खुजली होना।

२ अधिक जलन होना और सूई चुभाने जैसी वेदना होना।

३ वमन और ज्वर होना।

इसमे वायु की प्रधानता रहती है।

उदर्द का लक्षण

१ मण्डल के आकार का खुजलीयुक्त शोथ होना।

२ शोथ मे लालिमा होना तथा मध्य मे गड्ढा होना।

३. यह प्राय शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन) में होता है।

४. कफ की प्रधानता होती है।

कोठ (विशेष निदान और लक्षण)

वमन के आयोग या मिथ्यायोग से तथा निकलते हुए पित्त, कफ और अन्न के वेग को धारण करने से शरीर की त्वचा में खुजलीयुक्त लाल चकत्ते पड जाते हैं, उन्हें **कोठ** कहते हैं।

जब वार-वार कोठ होता है, तो उसे उत्कोठ कहते हैं।

सापेक्ष निदान

शीतपित्त	उदर्द	कोठ
१. वाताधिक	कफाधिक	कफ-रक्ताधिक
२ तोद (वेदना) अधिक	कण्डू वमन अधिक	कण्डूरोग अधिक
३. एक साथ शरीर मे गरमी, फिर सरदी लगने से होना	शिशिर ऋतु के प्रभाव से होना	पञ्चकर्म के मिथ्यायोग से होना

चिकित्सा-सूत्र

१. गर्मी-सर्दी एक साथ शरीर मे न लगने दे ।
२ व्यायाम या परिश्रम करके तुरत न नहावे ।
३ उष्णता से पीडित होकर सहसा जलप्रवेश न करे ।
४ शिशिर ऋतु मे शीत से बचाव रखे ।
५ बिना जाने-समझे अण्डा, मछली आदि न खावे ।
६. विरुद्ध भोजन और अप्रिय आहार से बचे ।
७ अधिक गरम पदार्थ न खावे ।

चिकित्सा

बाह्य प्रयोग—

१ ज्यों ही चकत्ते दिखलायी दें, त्यो ही कम्बल ओढाकर रोगी को लेटा देने से पसीना आकर शीतपित्त शान्त हो जाता है ।

२ शरीर मे गेरु और सरसो का तेल लगाकर रोगी को हवा से बचावे ।

३ दूब और हल्दी को पीसकर लेप करना चाहिए ।

४. यवक्षार और सेंधानमक के चूर्ण को कडवे तेल मे मिलाकर लगावे ।

५ सफेद सरसो, हल्दी, कूठ, चकवड के बीज और काले तिल के महीन चूर्ण को कटुतैल मे मिलाकर उबटन लगाना चाहिए ।

आभ्यन्तर प्रयोग—

६ शुद्धस्वर्णगैरिक १ ग्राम और शुद्ध टकण १ रत्ती की १ मात्रा दिन में ४ बार जल से देवे ।

७. त्रिफला चूर्ण ६ ग्राम/२ मात्रा सवेरे-शाम अमृतादि क्वाथ से दे ।

८ हरिद्राखण्ड—५-५ ग्राम सवेरे-शाम जल से प्रयोग करे ।

९ शीतपित्तभञ्जन रस—२५० मि० ग्राम की १ मात्रा दिन मे २ बार गुड से दे ।

१० आर्द्रकखण्ड—५ ग्राम की मात्रा सवेरे-शाम ठण्डे जल से दे ।

११ कैशोरगुग्गुलु—सवेरे-शाम १-१ ग्राम जल से देना चाहिए ।

१२. रसयोग—सूतशेखर, आरोग्यवर्धिनी, अश्वकचुकी, गन्धक रसायन, मलय-सिन्दूर और प्रवालपिष्टी का उचित मात्रा मे प्रयोग करे ।

व्यवस्थापत्र

शीतपित्त मे—

१ दिन मे ३ बार

हरिद्राखण्ड	६ ग्राम
जल से ।	३ मात्रा

२ कामदुधा	६०० मि० ग्रा०
वगभस्म	६०० मि० ग्रा०
स्वर्णमाक्षिक भस्म	१२५ मि० ग्रा०
मधु से ।	१ × ३

उदर मे—दिन मे ४ वार

हरिद्राखण्ड	६ ग्राम
जल से ।	४ मात्रा

कोठ मे—दिन मे २ वार

आरोग्यवर्धिनी	१½ ग्राम
मधु से ।	

पथ्य

अगहनी चावल, मूंग, करेला, सहिजन फल, मूली, गरम जल एव कटु, तिक्त कपाय रसवाले द्रव्य दोषानुसार पथ्य है।

अपथ्य

दूध-चीनी के वने द्रव्य, मछली, जलेचरमास, नवीन मद्य, वेगावरोध, दक्षिण की वायु, दिन मे सोना, विरुद्ध भोजन, धूप मे रहना, स्निग्ध, अम्ल, मधुर द्रव्य, मैथुन एव गुरु अन्न, ये अपथ्य हैं।

वाह्य जीवाणुओ का सक्रमण

आचार्य सुश्रुत ने (सु० नि० ५) सक्रामक रोगो के सक्रमण के विषय मे कहा है कि "मैथुन करने से, शरीर-स्पर्श से, एक-दूसरे की श्वास सूँघने से, साथ-साथ भोजन करने से, एक साथ सोने-वैठने से, रोगी का वस्त्र पहनने से, माला धारण करने से, रोगी द्वारा प्रयुक्त अनुलेप लगाने से और इसी प्रकार के अन्य ससर्ग कार्यों से एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को औपसर्गिक रोगो का सक्रमण हो जाता है।"

जब प्रत्यक्ष सपर्क से कोई रोगी दूसरे नीरोग व्यक्ति को रोग देता है, तो उसे ससर्ग कहते हैं और जव अप्रत्यक्ष अनेक कारणो से रोग की उत्पत्ति होती है, तो उसको उपसर्ग कहा जाता है। इसे ही इन्फेक्शन (infection) कहते हैं।

उपसर्ग-स्थान

(Sources of infection)

कोई स्वस्थ व्यक्ति विकारकारक जीवाणुओ के ससर्ग से किस तरह रोगाक्रान्त हो जाता है, इसके मुख्य हेतु निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्यक्ष—सक्रामक रोगग्रस्त व्यक्ति के साक्षात् प्रत्यक्ष ससर्ग से कुष्ठ, विसर्प, मसूरिका, उपदश, फिरग रोग, पूयमेह, शोष, ज्वर, नेत्राभिष्यन्द आदि व्याधियो का प्रसार होता है।

२ रोगी व्यक्ति के बोलने-खांसने अथवा छीकने से नजदीक में बैठे हुए मनुष्यों के शरीर मे, थूक-खखार के बिन्दुओ के साथ जीवाणुओ का श्वास मार्ग से सक्रमण हो जाता है। प्राय. श्वासपथ के समस्त रोगो मे इसी प्रकार सक्रमण होता है।

३ अलर्क विप (जलसत्रास) और मूपक देश में कुत्ते-सियार या चूहे का काटना भी इसी श्रेणी में आता है।

(२) अप्रत्यक्ष—सक्रामक रोग से पीडित व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त या स्पृष्ट भोजन, पेय पदार्थ, पात्र या दूपित वायु के द्वारा सक्रमण होने पर, रोगी के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण यह अप्रत्यक्ष सक्रमण या प्रसार माना जाता है।

(३) कीटों द्वारा—कीट, पिस्सू, मक्षिका, जुँए, मच्छर और मत्कुण (खटमल) के द्वारा अनेक सक्रामक रोगो का सक्रमण होता है। इनमे से कुछ कीट, केवल विकारी जीवाणुओ का संवहन करते हैं, कुछ अपने शरीर मे जीवाणुओं का सवर्धन करते हैं। कुछ अपनी सन्तानो में भी जीवाणुओ का सक्रमण कर रोग का प्रसार करते रहते हैं।

(४) सवाहक मनुष्य—कुछ व्यक्ति व्याधिमुक्त हो जाने के बाद तथा कुछ गुप्त रूप से रोग से सक्रमित होने पर, स्वयं बिना पीडित हुए ही जीवाणुओ का संवहन करते हैं। इन्हे स्वस्थ तथा रुग्ण वाहक कहते हैं। इनके मल-मूत्र, थूक-छींक आदि से रोग का प्रसार होता है, क्योकि उनके इन क्रिया-कलापो से खाद्य-पेय तथा जल आदि दूपित हो जाते हैं।

(५) भूमि—धनुर्वात (टिटैनस) वातकोथ (गैस ग्रेंग्रीन) तथा अन्नविष-मयताकारक जीवाणु स्वभावत' भूमि मे रहते हैं।

१. किसी व्रण के साथ भूमि का सपर्क होने से उस भूमि में स्थित धनुर्वातकारी जीवाणु धनुर्वात की उत्पत्ति कर देता है।

२. इसी प्रकार अन्य जीवाणु वातिक कोथ उत्पन्न कर देता है।

३. डिब्बे में बन्द शाक मे, भाजी में, मास और अन्न मे विपोत्पादक जीवाणु पहुँचकर रोगोत्पत्ति करते हैं।

संक्रमण का प्रसार

(Spread of infection)

(Droplet infection)

(१) बिन्दूत्क्षेप द्वारा—प्रत्येक व्यक्ति के मुख नासिका और गले में अनेक प्रकार के विकारी जीवाणु बैठे रहते हैं। भाषण करने, बोलने-छींकने से थूक के सूक्ष्म कणों के साथ उनका उत्क्षेपण होता है। एक व्यक्ति कई फीट तक सूक्ष्म बिन्दुओ के साथ जीवाणुओ को पहुँचा सकता है। ये बिन्दु जिस व्यक्ति पर पडते हैं, वह अपनी श्वास के साथ उन्हे नासा, मुख या गले में पहुँचाकर जीवाणु को अपने

शरीर मे भेज देता है। श्वास-सस्थान और गले के रोग प्राय इसी प्रकार फैलते हैं।

इसीलिए सिनेमा हाल, पुलिस बैरक, विद्यालय, अस्पताल आदि मे बैठने की सीट की अपेक्षित दूरी रक्खी जाती है। तथा आपरेशन थियेटर्स (Operation theaters) मे डाक्टर, नर्स एवं परिचारक-गण अनिवार्य रूप से मास्क धारण करते हैं।

(२) धूल के कण—राजयक्ष्मा का रोगी यत्र-तत्र थूकता है, तो थूक के साथ असंख्य जीवाणु मिट्टी मे मिल जाते हैं और वह मिट्टी सूखकर धूल बनकर जब उडती है, तो उसके साथ जीवाणु फेफडो मे पहुँच जाते हैं और आक्रान्त व्यक्ति यक्ष्मा से पीडित हो जाता है।

(३) अन्तर्ग्रहण—(Ingestion)—दूषित खाद्य-पेयो द्वारा भी मानव शरीर मे सक्रमण पहुँच जाता है। इसी दृष्टि से 'नौकनौजिया और नब्बे चूल्हा' की कहावत चरितार्थ होती थी। छुआछूत को आज भूत कहा जाता है, जो एक विशिष्ट स्वास्थ्य सपदा की सरक्षक रही है। खाद्य-पेय का दूषित होना अनेक विन्दुओ पर टिका हुआ है—

१. पाचक के अशुद्ध हाथ और अशुद्ध पात्र एव जल आदि।

२ खाद्य-पेय का खुला होना, जिन पर मक्खियाँ बैठती हैं।

३ अहीर का अशुद्ध पात्र, अशुद्ध हाथ और खुला, बिना ढक्कन का बर्तन।

४. एक ही वस्त्र का शौचालय और भोजनालय मे धारण।

५. मल-मूत्र के दूरीकरण मे त्रुटि का होना आदि।

अन्तर्ग्रहण से फैलने वाले रोगों मे आन्त्रिक ज्वर, अतिसार, सग्रहणी, हैजा, औपसर्गिक यकृद् शोथ आदि प्रमुख हैं।

(४) अन्त'क्षेपण—जैसे पागल कुत्ता काटकर अलर्क (रेबीन्) का अन्त-क्षेपण कर देता है। चूहा के काटने से मूपिक-दंशज्वर हो जाता है। मच्छर से मलेरिया, फाइलेरिया, पीतज्वर और डेंगू फैलता है। पिस्सू प्लेग लाता है। जूँ या चिल्लर तन्द्रिक ज्वर उत्पन्न करते हैं। मक्खियाँ हैजा, मोतीझरा और सग्रहणी फैलाती हैं।

(५) वायु द्वारा रोहिणी (डिप्थीरिया), हूपिंग कफ, लोहित ज्वर, रोमान्तिक, इन्फ्लुएन्जा आदि का प्रसार होता है।

शरीर मे संक्रमण के मार्ग

(१) श्वसन-सस्थान—इस मार्ग द्वारा राजयक्ष्मा, कुकुरखाँसी, रोहिणी, मसूरिका, रोमान्तिका, इन्फ्लुएन्जा, फुस्फुस प्लेग, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर आदि फैलते हैं।

(२) पचन-संस्थान—हैजा, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, यक्ष्मा, कृमि-विकार, सग्रहणी आदि का प्रवेश इसी मार्ग से होता है।

(३) त्वचा—दशकारक कीट, मलेरिया, कालाजार, अलर्क, मूषिक-दश-ज्वर, फाइलेरिया आदि रोगो को त्वचा दश द्वारा उत्पन्न करते हैं।

(४) क्षत या व्रण—द्वारा धनुर्वात, वातिक कोथ, अकुशमुख कृमि आदि उत्पन्न होते हैं।

(५) जननेन्द्रिय—की श्लेष्मल त्वचा के सस्पर्श से फिरंग, पूयमेह (सुजाक), उपदश आदि का प्रवेश होता है।

चतुर्विंश अध्याय

मधुमेह, धमनी-प्रतिचय तथा चयापचय विज्ञान

मधुमेह, क्षौद्रमेह या ओजोमेह

(डायबेटीज मेलाइटस Diabetes Mellitus)

परिचय—इसमे बार-बार पेशाब लगता है, मूत्र मे चीनी आती है, मूत्र के साथ अपर ओज निकलता है, इसीलिए चरक मधुमेह को ओजोमेह कहते है। ओज मधुर स्वभाव का होता है, इसी कारण पेशाब मे चीटिया लगती हैं। मधु और क्षौद्र के समान मूत्र के होने से इसे मधुमेह या क्षौद्रमेह[1] कहते हैं।

निदान[2]

आहार—१. गुरु, स्निग्ध, अम्ल, लवण, नूतन अन्न-पान का सेवन।

२ दही, दूध, मिष्टान्न, ग्राम्य-जलेचर-आनूप जीवो का मास खाना।

३ गुड या चीनी के बने पौष्टिक कफ मेदोवर्धक पदार्थों का अधिक सेवन।

विहार—४. आरामतलबी, गद्दी पर सोना-बैठना, कोई श्रम का कार्य न करना।

५. किसी भी प्रकार का सोच-विचार न करना, सम्पन्नता का सुख भोगना।

६. समयानुसार वमन-विरेचन आदि सशोधनो को न करना आदि।

७ स्नान न करना और पैदल टहलने-घूमने से नफरत करना।[3]

८. मन में कोई उत्साह न होना, अधिक मात्रा मे भोजन करना।

९ शरीर का अधिक स्निग्ध और अतिस्थूल होना।

सम्प्राप्ति

१ सभी तरह के प्रमेह उचित समय पर समुचित चिकित्सा न किये जाने पर मधुमेह का रूप धारण कर लेते हैं।[4]

२. स्व-प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु जब रूक्षता के कारण कषाय रस से मिलकर मधुर स्वभाववाले ओज को मूत्राशय में ले आती है, तब मधुमेह को उत्पन्न करती है।[5]

---

१ कषाय मधुर रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद् बुध। अ० ह० नि० १० तथा क्षौद्ररसवर्णं क्षौद्रमेही। सु० नि० ६।

२. आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसा पयासि।
नवान्नपान गुडवैकृतं च प्रमेहहेतु कफकृच्च सर्वम्॥ च० नि० ६

३ गृध्नुमभ्यवहार्येषु स्नानचङ्क्रमणद्विषम्।
प्रमेह. क्षिप्रमभ्येति नीडद्रुममिवाण्डज.॥ च० नि० ४।५०

४ सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिण।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥ सु० नि० ६

५. च० नि० ४।३७

३ कफ और पित्त जब वात की अपेक्षा न्यून (क्षीण) होते हैं, तब बढ़ा हुआ वायु धातुओ (वसा-मज्जा-ओज-लसीका) को मूत्राशय मे खीचकर ले आता है एव वातज प्रमेहो को उत्पन्न करता है ।[1]

४. जब प्रमेहजनक निदानो से शरीर मे कफ, पित्त, मेद और मास की वृद्धि अधिक रूप मे हो जाती है, तो इनके बढने से रुकी हुई वायु कुपित होकर, ओज को लेकर जब मूत्राशय मे प्रविष्ट होती है, तब कृच्छ्रसाध्य मधुमेह की उत्पत्ति होती है ।[2]

यह मधुमेह वात, पित्त और कफ के लक्षणो को बार-बार शरीर मे दिखलाता है तथा नष्ट करके पुन बढा देता है ।

वक्तव्य—मधुमेह में निकलनेवाला अपर ओज मधुर स्वभाव का होता है, इसीलिए मूत्र में चीटिया लगती हैं—'मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च'—च० चि० ६।१४।

वाग्भट ने कहा है कि (विकृतावस्था मे) सभी प्रमेहो मे प्राय मधु के समान मधुर मूत्र आता है और शरीर भी प्राय मधुर हो जाता है, इन कारणो से सभी प्रमेह प्राय मधुमेहसज्ञक हो जाते हैं—

मधुर यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति ।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥'—अ० हृ० नि० १०।२१

इस कथन से मूत्र मे शर्करा निकलने के साथ-साथ रक्तगत शर्करावृद्धि का भी स्पष्ट सकेत किया गया है ।

चरक ने भी कहा है कि शरीर पर मक्खियो के अधिक बैठने से शरीर का रस मीठा हो गया है, ऐसा जानना चाहिए—

'मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम्'—च० वि० ४।७ ।
'षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्'—च० नि० ४।४७ ।

प्रमेह के पूर्वरूप मे शरीर पर मक्खियाँ और मूत्र मे चीटियाँ लगती हैं ।

मधुमेह का प्रधान कारण वायु है और इसका प्रकोप धातुक्षय तथा अन्य दोषो के आवरण से हो सकता है । प्रमेह से शरीरपोषक धातुओ का क्षय होता है । जब पैत्तिक या कफज प्रमेहो की उपेक्षा की जाती है, तो धातुएँ अत्यधिक क्षीण हो जाती हैं, जिससे वायु कुपित होकर मधुमेह को उत्पन्न करती है । इस प्रकार मधुमेह दो प्रकार का होता है—१ स्वतन्त्र वातप्रकोपजन्य और २ आवरणदोष जनित या उपेक्षित प्रमेहजन्य ।

आधुनिक दृष्टिकोण

प्राकृत अर्थात् स्वस्थ दशा मे मूत्र मे शर्करा नही रहती है । प्राकृत अवस्था मे मूत्र का सापेक्ष गुरुत्व (Specific gravity) १०१५ से १०२५ तक होती है । मूत्र-शर्करा के होने पर यह १०३० से अधिक हो जाती है ।

१ च० चि० ६।६ ।
२ च० सू० १७।७९-८१ ।

वृक्क पूर्णतया स्वस्थ रहते है, शेष तीनो ग्रन्थियाँ मधुनिषूदनी (Insulin) की क्रिया को रोकती हैं। इस प्रकार इन चारो ग्रन्थियो के अन्त स्रावो की प्राकृत अवस्था शर्करा के परिवर्तनो का नियन्त्रण करती हैं। कभी-कभी मधुनिषूदनी की क्रिया बढ जाती है या अन्य तीनो ग्रन्थियो की क्रिया घट जाती है, तो रक्तगत शर्करा प्राकृत से भी कम हो जाती है, जिसे उप मधुमयता (Hypo glycaemia) कहते हैं। यह भी चिन्ताजनक स्थिति है। यदि तुरन्त शीघ्रकारी उपायो द्वारा रक्तगत शर्करा की वृद्धि न की जाय, तो रोगी के प्राण सकट मे पड जाते हैं। यह स्थिति मधुनिषूदनी लेने के पश्चात् तुरन्त ग्लूकोज न लेने पर भी देखी जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि **मधुमेह का प्रधान कारण अग्न्याशय का विकृत होना है।**

साधारण मधुमेह मे भोजन के कुछ देर बाद तक रक्तगत शर्करा की मात्रा प्राकृत से अधिक रहती है और उसका मूत्र द्वारा क्षरण होता रहता है, किन्तु मधुमेह की तीव्र अवस्था मे रक्तगत शर्करा सदैव प्राकृतांश से कई गुना अधिक रहती है और उसका उत्सर्ग भी मूत्र द्वारा होता रहता है। एवञ्च शर्करा समवर्त (Metobolism) का प्रभाव वसा और प्रोटीन पर भी पडता है। वसा समवर्त मे विकृति होने से अम्लोत्कर्ष (Ketosis) होता है, जिससे रक्त की क्षारीयता प्राकृत से बहुत कम हो जाती है और रोगी मे सन्यास के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

सामान्य पूर्वरूप

१ पसीना अधिक आना, शरीर से गन्ध आना, अगो मे शिथिलता।

२ शय्या और आसन पर सोने-बैठने की इच्छा, छाती-नेत्र-जीभ-कान मे मैल जमना।

३ शरीर मे मोटापा होना, केश और नख का अधिक बढ जाना।

४ शीतल द्रव्यो का प्रिय लगना, गला और तालु का सूखना, मुखमाधुर्य।

५ हाथ-पैर में जलन होना और मूत्र मे चीटियो का लगना।

लक्षण

वातप्रकोप के कारण मधुमेह का रोगी कषाय, पाण्डु और रूक्ष मूत्र का त्याग करता है (वह असाध्य होता है)।

मधुमेह मे रोगी मधु के समान मूत्र का त्याग करता है।

भेद

मधुमेह दो प्रकार का होता है—१. स्वतन्त्र और २. परतन्त्र।

१ जो धातुक्षय के कारण प्रकुपित वायु से होता है, वह स्वतन्त्र होता है। दुर्बल और कृश मधुमेही का रोग स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र मधुमेह मे वात की दुष्टि से सीधे ही ओज की दुष्टि हो जाती है—यह सहज प्रमेही होता है।

२ यह पित्त या कफ से आवृत वायु द्वारा उत्पन्न होता है तथा प्रमेहो की उचित चिकित्सा के न करने से मधुमेह में परिणत होने से होता है। इसमे आवरक

दोष और वायु के लक्षण प्रकट होते हैं। यह परतन्त्र कहलाता है। इसके रोगी स्थूल और बलवान् होते हैं। इसमें लक्षण घटते-बढते रहते हैं। यह क्रमश. कृच्छ्रसाध्य हो जाता है।

सापेक्ष निदान

इक्षुवालिकामेह और शीतमेह (दोनो कफज) मे मूत्र मधुर निकलता है और मधुमेह में मूत्र मे मधुरता होने के साथ शरीर मे भी मधुरता होती है, अत इनका परस्पर सापेक्ष निदान अपेक्षित है।

मधुमेह	इक्षुवालिकामेह	शीतमेह
१ वातज	कफज	कफज
२ रोगी कृश या स्थूल	रोगीस्थूल	प्राय स्थूल
३ ओज क्षय के लक्षण	नही	नही
४ असाध्य या याप्य	साध्य	साध्य
५ मूत्र किञ्चित् उष्ण	मूत्र किञ्चित् उष्ण	मूत्र शीत
६ आविल मूत्र	आविल मूत्र	नही
७ चिरकारी	आशुकारी	आशुकारी
८ शरीरमाधुर्य	—	—

चिकित्सासूत्र

१ निदान का दृढतापूर्वक परित्याग करना चाहिए।

२ सर्वप्रथम यह विचार करे कि—१ रोगी स्थूल तथा बलवान् है और क्या इसका रोग सतर्पणजन्य है अथवा २ रोगी कृश तथा दुर्बल है और क्या इसका रोग अपतर्पणजन्य है ?

३. स्थूल रोगी का सशोधन और कृश का सशमन उपचार करे।

४ विधिवत् स्नान करना और सन्ध्या-सवेरे टहलना आवश्यक है।

५ आलस्य को शत्रु समझकर उसको छोड दे। बिना जूता-छाता के पैदल चले और पदयात्रा का कार्यक्रम बना ले।

६ भोजन मे चीनी, चावल, आलू और मिठाई को छोड़ दे।

७ औषध एवं आहार में तिक्तरस-प्रधान द्रव्यो का प्रयोग करे।

८ धन-ऐश्वर्य का गर्व छोडकर ऋषि-मुनियो की तरह प्राणधारण के लिए रूखे-सूखे भोजन पर निर्वाह करे।

९ सूर्य की धूप और खुली वायु मे कुछ श्रम का कार्य करता रहे।

१० मधु-अम्ल-लवण रसो का त्याग और रूक्ष एव कटु-तिक्त-कषाय रसो का सेवन करना हितकर है।

चिकित्सा

१ स्वरस—विल्वपत्र, त्रिकोलपत्र, निम्बपत्र, कच्ची हल्दी, कच्चा आँवलाफल, करेलाफल, गूलर की गीली छाल, जामुन की गीली छाल और प्याज, इनमें जो

सुलभ हो उसे सिल पर पीसकर कपडे के कोने मे रखकर छानकर स्वरस निकाल कर १०–२० ग्राम सवेरे-शाम पीना चाहिए। जो छाल कडी हो उसमे पानी डालकर चटनी की तरह पीसकर रस निकाल ले।

२. **चूर्ण**—जामुन की गुठली, गुडमार, लामज्जक, पूतिकरञ्ज के बीज की मीगी, त्रिफला निर्बीज, बरियार का बीज, गूलर की छाल और आम की गुठली, इनमे से सबको समभाग लेकर चूर्ण बनाकर ३–३ ग्राम सवेरे शाम जल से दे। सब न मिलें, तो जितने द्रव्य मिलें उनका ही चूर्ण बनाकर प्रयोग करे।

३ **विजयसार या सप्तरंगी लकडी**—इनके १०० ग्राम के टुकडे को ताँबे के पात्र मे जल भरकर उसमे रातभर रख दें और वह जल पीने के काम मे लावे।

४ **क्वाथ—त्रिफलादि क्वाथ**—आँवला-हर्रा-बहेडा (निर्बीज) बाँस की पत्ती, नागरमोथा और पाठा को सममात्रा में लेकर २० ग्राम का क्वाथ बना सवेरे-शाम पीना चाहिए। यह बहुमूत्र में उपयोगी है।

५ **शालसारादिगण** (सुश्रुत० सूत्र० अ० ३८।१२) की औषधियाँ जो मिल सकें उनका क्वाथ सवेरे-शाम पीना हितकर है।

६ **न्यग्रोधादि चूर्ण**—वट-पीपर-गूलर-महुआ-सोनापाठा-विजयसार-अर्जुन-धव की छाल, अमलतास का गूदा, आम-जामुन की गुठली, कैथफल की मज्जा, चिरौंजी, मुलहठी, अरहर की जड, पठानी लोध, करञ्जफल की गिरी, आंवला-हर्रा-बहेडा की फलमज्जा, इन्द्रजौ और शुद्ध भल्लातक ५०-५० ग्राम लेकर चूर्ण कर सुरक्षित रख ले। इसकी ३ ग्राम की मात्रा त्रिफला क्वाथ ५० ग्राम से सवेरे-शाम देवे।

७. **शिलाजतु प्रयोग**—रोगी का वमन-विरेचन द्वारा शोधन करने के बाद उसे शालसारादि गण के क्वाथ की भावना देकर बारीक चूर्ण करके शिलाजीत को रख ले। इसकी ½ से १ ग्राम की मात्रा सवेरे-शाम दूध से दे और पथ्य मे रूक्ष अन्न तथा जागल पशु-पक्षियो का मासरस दे।

सुश्रुत ने १ तुला (१०० पल) लगभग ५ किलोग्राम शिलाजीत का सेवन कहा है—

> 'उपयुज्य तुलामेव गिरिजादमृतोपमात्।
> वपुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवर्जितः॥
> जीवेद् वर्षशत पूर्णमजरोऽमरसन्निभ।' सु० चि० १३

शिलाजीतसेवी कुलथी की दाल और कबूतर का मास नही खाना चाहिए।

सिद्धयोग—

८. **वसन्तकुसुमाकर** २०० मि० ग्रा०, हल्दी का चूर्ण १ ग्राम और आँवले का चूर्ण १ ग्राम शुद्ध मधु से सवेरे-शाम देवे।

९ **चन्द्रप्रभावटी** १ ग्राम सवेरे-शाम दूध से देवे।

१० **शिवागुटिका** १ ग्राम दूध से सवेरे-शाम देवे।

११. **वसन्ततिलक रस** २५० मि० ग्रा० की मात्रा त्रिकोल की पत्ती के रस से दे।

व्यवस्थापत्र

१ प्रात -सायम्

शिवागुटिका	१ ग्राम
स्वर्णमाक्षीक भस्म	३०० मि० ग्रा०
	२ मात्रा

गुडमार चूर्ण १ ग्राम मिलाकर जल से।

अथवा

चन्द्रप्रभा वटी	२ ग्राम
या	२ मात्रा
शुद्ध शिलाजीत	१ ग्राम
दूध के साथ दे।	२ मात्रा

२. ९ बजे व २ बजे दिन

वसन्तकुसुमाकर	२५० मि० ग्रा०
गुडमार चूर्ण	२ ग्राम
हल्दी चूर्ण	२ ग्राम
जम्बी बीज चूर्ण	२ ग्राम
शुद्ध मधु से।	२ मात्रा

३ रात मे सोते समय

न्यग्रोधादि चूर्ण	५ ग्राम
जल से।	१ मात्रा

पथ्य

पैदल चलना, व्यायाम करना, सावाँ, दागुन, कोदो, जौ, चना, वास का चावल, मूँग, अरहर, परवल, करेला, चौलाई, पालक, प्याज, लहसुन, कच्चा केला, जामुन, कसेरू, कमलकन्द, कुन्दरू, जागल पशु-पक्षियो का मास, कबूतर, खरगोश, तीतर, मयूर, हरिण आदि के मास का सेवन पथ्य है। शारीरिक श्रम और पैदल चलना अति लाभकर है।

अपथ्य

निदानोक्त विषयो का त्याग करे। मूत्रवेगावरोध, रक्तमोक्षण, आरामदेह गद्दे पर या आराम कुर्सी पर सोये-बैठे रहना, दिन मे सोना, नया अन्न, दही, मिठाई, मधुर-अम्ल-लवण पदार्थों का सेवन, आनूप मास, मैथुन, पिष्टान्न और विरुद्ध भोजन, ये सब अपथ्य हैं।

वातरक्त

इसका वर्णन अध्याय १९ मे किया गया है, अतएव वही देखें।

२ शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन स्थापित करना।

३. आचार-विचार की सात्त्विकता, चिन्ता, आलस्य, क्षोभ का शमन, पैदल चलना, नियमित दिनचर्या।

४ मन मे उत्साह, धैर्य और आत्मवल का जागरण।

चिकित्सा

१ एकल औषधो मे—१ अर्जुनत्वक् २ पुष्करमूल, ३. बच, ४. रसोन, ५ ताम्बूल पत्र, ६. शिलाजतु, ७. मुलहठी, ८. हिंगु, ९. पिप्पली और १० आमलक का प्रयोग चूर्ण, क्वाथ, घृत, आसव-अरिष्ट आदि के रूप मे उचित मात्रा मे करे।

२ वृहद्वातचिन्तामणि १२५ मि० ग्रा०, हृदयार्णव रस १२५ मि० ग्रा० तथा अर्जुनत्वक् चूर्ण १ ग्राम की १ मात्रा, दिन मे ऐसी ३ मात्रा मधु से दे।

३ स्वर्णमाक्षीक भस्म १२५ मि० ग्रा०, अकीक पिष्टी १२५ मि० ग्रा०, जवाहर-मोहरा १२५ मि० ग्रा० की १ मात्रा मधु से दिन मे ३ वार दे।

४ सिद्धमकरध्वज १२५ मि० ग्रा० तथा अभ्रकभस्म १२५ मि० ग्रा० की १ मात्रा पान का रस १ चम्मच और मधु से दिन मे ३ वार दे।

५ ककुभादि चूर्ण—अर्जुन की गीली छाल, बच, रास्ना, वला, नागवला, हरीतकी, कचूर, पुष्करमूल, पीपर और सोठ ये समान भाग मे लेकर कूट छानकर चूर्ण बना लें। २ ग्राम की मात्रा गोघृत या मधु से दिन मे ३ वार।

सिद्धयोग—

६. चूर्ण—ककुभादि चूर्ण, हिंग्वादि चूर्ण, हिङ्गुद्विरुत्तरादि चूर्ण।
७ क्वाथ—दशमूल क्वाथ, लघुपचमूल क्वाथ, अर्जुन क्वाथ।
८ वटी—आरोग्यवर्धिनी, चन्द्रप्रभावटी, शिवा गुटिका।
९. रस—चतुर्मुख रस, वृहद्वातचिन्तामणि, मकरध्वज, हृदयार्णव।
१०. भस्म—अकीक भस्म, शृग भस्म, अभ्रक भस्म, सगयशव पिष्टी।
११ रसायन—अगस्त्य हरीतकी, वर्धमान पिप्पली, आमलकी रसायन।
१२ अरिष्ट—अर्जुनारिष्ट, दशमूलारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट तथा वलारिष्ट। इनका प्रयोग उचित मात्रा और अनुपान के साथ करना चाहिए।

पथ्य

१ मन को अशान्त करने वाले प्रश्नो का समाधान करे।
२ भोजन सात्त्विक, हलका, सुपाच्य और रुचिकर होना चाहिए।
३ टहलना-घूमना आदि हलके व्यायाम करना चाहिए।
४ चर्बीयुक्त रोगी को चर्बीवाले पदार्थ नही खाने चाहिए।
५ सेव, पपीता, अजीर, मुनक्का, वथुआ, लहसुन, प्याज, नीबू, आलूबुखारा, करेला, परवल, अदरख खाना चाहिए।
६ जौ, मूग, चना, तीना, पुराना अगहनी चावल पथ्य है।

अपथ्य

मद्यपान, धूम्रपान, काफी, चाय, घृत, मक्खन, मलाई, अण्डा, मास, गुरु-स्निग्ध आहार, कन्द शाक, तली चीजें अपथ्य है।

अतिमैथुन, क्रोध, ईर्ष्या, चिन्ता, निराशा, आलस्य का त्याग करना चाहिए। ये सब अपथ्य हैं।

चयापचय-विज्ञान

(Metabolism)

चयापचय क्या है ?

प्राचीन आयुर्वेद का 'धातुपाक' ही चयापचय शब्द से जानना चाहिए। आधुनिक चिकित्साशास्त्र उसे मेटाबोलिज्म (Metabolıgm) कहता है। इस प्रकार धातुपाक, चयापचय और मेटाबोलिज्म, ये तीनो शब्द समानार्थक हैं।

सक्षेप मे आहार द्रव्यो के जठराग्नि द्वारा पचन और पचन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होकर धातुओ मे पहुँचे हुए द्रव्यो का कोषो द्वारा उपयोग करके अपने-अपने प्रकृतिनियत कर्मों का सपादन एव इस क्रिया मे विभिन्न मलो की उत्पत्ति होना, इन सब क्रियाओ का मिलित नाम धातुपाक है।

एवञ्च भोज्य पदार्थों का ग्रहण (इजेशन—Ingestion), उनका पचन अर्थात् क्लिष्ट द्रव्यो का सरल द्रव्यो के रूप मे परिवर्तन, उनका आत्मसात्करण (Assimilation) अर्थात् सरल द्रव्यो के रूप मे परिणत हुए द्रव्यो को अपने शरीर के अनुरूप आकार-प्रकारवाले द्रव्यो के रूप मे पुन परिवर्तन करके उन्हें अपना अग बना लेना, श्वसन द्वारा प्राप्त ओषजन के साथ इनका सयोग कराकर उनके दहन (Oxidigestion) द्वारा उष्णता, कर्म आदि शक्तियो (Energy) के रूप मे उनका उपयोग करना, इस उपयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न मलो को पृथक् करना, इन सब क्रियाओ का मिलित नाम धातुपाक (Metabolism[1]) है।

चैतन्यधारियो के अचेतनो से विशिष्ट जो धर्म होते हैं—प्रजनन, क्षोभ्यता, आकुञ्चन-प्रसारण-पुष्टि आदि, वे सब धातुपाक के परिणामस्वरूप होते हैं। क्योकि ये क्रियायें आहार द्रव्यो का उपयोग करने के परिणामस्वरूप ही प्राणियो द्वारा सम्पन्न की जाती हैं।

---

1 Metabolism is the name given to the energy transformation which occurs in boilogical systems The ability to effect such transformations distinguishes living cells from inanimate substances, gives to the former their peculiar properties of irritability, growth and reproduction and makes possible the processes of conduction, contraction and secretion which characterize various specialized types of cells

—Hwell's Text Book of Phisiology p 1084 (Ed 1940)

'चरक'[1] मे वर्णित चयापचय एवं धातुपाक[2] आहारपाक की प्रक्रिया

(Process of Digestion and Metabolism)

मनुष्य अनेक प्रकार के हितकर—१ अशित २ पीत ३ लीढ और ४. खादित आहारो का सेवन करता है। वह आहार द्रव्य प्रदीप्त जठराग्नि के बल से प्रेरित अपनी-अपनी पाञ्चभौतिक अग्नि (ऊष्मा) द्वारा समुचित रूप से पचता है और जैसे काल क्षणभर भी विश्राम नही करता और लगातार गतिशील रहता है, उसी प्रकार सतत परिणत होकर किसी भी धातु मे न रुकता हुआ सपूर्ण धातुओ मे उचित रूप से (अनुपहत) पाक को प्राप्त होता हुआ सभी धातुओ की ऊष्मा वायु और स्रोतोवाले सपूर्ण शरीर को उपचय (वृद्धि) बल, वर्ण, सुख और आयु से युक्त करता है तथा शारीरिक धातुओ को बढाता है।

इस प्रकार शरीर की धातुएँ शारीरिक धातुओ का ही आहार करती हुई (उनसे पोषण द्रव्य ग्रहण करती हुई) अपनी प्रकृति अर्थात् साम्यावस्था का अनुवर्तन करती हैं।

आहार का परिणाम और कार्य

आहार जब समुचित रूप से पच जाता है, तो उसका जो स्वच्छ भाग होता होता है, उसे रस कहते हैं। जो मलभाग रहता है, उसे किट्ट कहा जाता है। इस प्रकार आहार-परिणाम दो तरह का होता है—१. प्रसाद भाग रस और २ मल-भाग किट्ट।

१. किट्ट से मूत्र, पुरीष, स्वेद, वात, पित्त, कफ, आँख-कान-नाक मुख रोमकूप और जननेन्द्रिय के मल तथा केश, दाढी के बाल, रोम, नख आदि अवयवो की वृद्धि होती है।

२ प्रसाद भाग (आहार रस) से रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज, इन धातुओ की और धातुओ के सारभूत पाँचो ज्ञानेन्द्रियो के द्रव्य और शारीरिक सन्धियाँ बन्धनकारक स्नायु-कण्डरायें एव कला आदि अवयवो की पुष्टि होती है। ये सभी मलस्वरूप और प्रसादस्वरूप धातुएँ रस एव मल से पुष्ट होती

---

१. विविधमशित पीत लीढ खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमान कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकम् अनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोत केवल शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति शरीरधातूनूर्जयति च। धातवो हि धात्वाहारा प्रकृतिमनुवर्तन्ते।

चरक० सू० २८।३

२ यहाँ धातुपाक शब्द चयापचय और मेटाबोलिज्म के अर्थ में प्रयुक्त है। अन्यत्र धातुपाक का लक्षण ज्वरनिदान के असाध्य लक्षणवाले श्लोकों (माधवनि० ज्वर० श्लोक ६७ ७३) की टीका में इस प्रकार दिया गया है (किन्तु उक्त सन्दर्भ में उससे कुछ लेना नहीं है। यहाँ आहारपाक के अर्थ में ही जानें)—'निद्रानाशो हृदिस्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम्'।

हुई आयु और शरीर के अनुसार अपनी उचित मात्रा का शरीर मे अनुसरण करती हैं और अपनी उचित मात्रा मे रहती हुई रस और मल धातुएँ अपने आश्रयभूत समधातु (स्वस्थ पुरुष) की धातुओ को सम बनाये रखती हैं।

जब किन्ही कारणो से प्रमाद धातुएँ क्षीण या वृद्ध हो जाती है, तो आहाररस आहारमूलक वृद्धि या क्षय के द्वारा शरीर के आरोग्य के लिए धातुओ को सम बनाये रखता है। इसी प्रकार किट्ट मल को सम बनाये रखता है। अपने प्रमाण से बढे हुए और वाहर निकलनेवाले मलो की शीत-उष्ण और विपरीत गुणवाले द्रव्यो द्वारा चिकित्सा करने पर ये मल शरीर धातुओ को समता मे रखनेवाले होते हैं[१]।

धातुपाक के भेद

आहार द्रव्यो का शरीर की धातुओ द्वारा दो प्रकार से उपयोग होता है—जठराग्नि द्वारा पाक होकर नवीन द्रव्यो के निर्माण के रूप मे तथा इन द्रव्यो का उपयोग करके मलो की उत्पत्ति के रूप मे। नवीन द्रव्यो की उत्पत्ति को प्रसादपाक तथा इन द्रव्यो का विघटन (तोड-फोड) करके उनके उपयोग और मलो की उत्पत्ति को मलपाक कहते हैं। प्रसादपाक और मलपाक इन दोनो का मिलित नाम धातुपाक या चयापचय है।

संवर्तन (Metabolism), परिवर्तन (Anabolism) और निवर्तन (Katabolism)

शरीर मे दो प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं—एक ओर चीजो की (भोजन और श्वास द्वारा) आय होती है, तो दूसरी ओर (कार्य करने मे और मूत्र, घर्म तथा श्वास द्वारा) व्यय होता है। शरीर के पोषण और वृद्धि के लिए दोनो तरह की क्रियाओ की आवश्यकता होती है। वे सब भौतिक, रासायनिक और जैविक क्रियाएँ जिनके द्वारा शरीर मे जीवित पदार्थ की वृद्धि, रक्षण और क्षय होता है, सवर्तन (Metabolism) कहलाती है। भोजन का पचना, फिर उसका आत्मीकृत होना, श्वास द्वारा ओपजन का ग्रहण होना, ओपजनीकरण जैसी रासायनिक क्रियाओ द्वारा आत्मीकृत पदार्थो से शक्ति उत्पन्न होना और यूरिया, अमोनिया, CO_2 और जल आदि भाँति-भाँति के पदार्थो का बनना और फिर इन पदार्थों का श्वास, पसीना और मूत्र द्वारा त्यागा जाना, ये सब क्रियाएँ मिलकर सवर्तन कहलाती है।

सवर्तन में दो प्रकार की क्रियाएँ सम्मिलित है—

१. इस प्रकार की क्रिया द्वारा पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं, भोजन द्वारा प्रोटीन, वसा, कार्वोज, जल और तरह-तरह के लवण और खाद्योज (विटामिन्स) एव श्वास द्वारा ओपजन। इन पदार्थों से शरीर वनता है, उसकी रक्षा होती है और उसकी वृद्धि होती है। ये सभी क्रियाएँ परिवर्तन कहलाती हैं। परिवर्तन सवर्तन का

---

१ च० सू० २८।४।

वह अश है, जिसके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ जीवित शरीर के भाग बन जाते हैं। जैसे—श्वेतसार और कार्वोज से अगूरी शक्कर और शर्कराजन का बनना और शर्कराजन का यकृत् मे इकट्ठा रहना, भोजन की प्रोटीनो से रक्त की प्रोटीनो का बनना और इन प्रोटीनो से विविध सेलो की वृद्धि होना, भोजन के खटिक, स्फुर इत्यादि लवणो का ग्रहण किया जाना और फिर इनसे अस्थि का बनना और भाँति-भाँति के लवणो का सेलो मे जमा रहना एव वसा का शरीर के विविध भागों मे इकट्ठा होना। यह सब परिवर्तन निर्माण की प्रक्रिया है।

२ दूसरी क्रिया परिवर्तन के विरुद्ध है। हर समय रासायनिक क्रियाओ द्वारा जीवोज का क्षय होता रहता है। ओपजनीकरण से शक्ति उत्पन्न होती है और वसा तथा शर्करा से CO_2 और जल एव प्रोटीनों के क्षय से यूरिया, अमोनिया इत्यादि पदार्थ बनते हैं। ये पदार्थ मूत्र, पसीने और श्वास द्वारा शरीर से बाहर निकलते हैं। सवर्तन के इस अश को (जिसके द्वारा परिवर्तन से ग्रहण किये गये पदार्थों का नाश होता है) निवर्तन कहते हैं। सवर्तन = परिवर्तन + निवर्तन, यह स्पष्ट है।

शरीर पर प्रभाव

जब परिवर्तन और निवर्तन बराबर हो, तो शरीर न घटता है और न ही बढता है। शरीर का भार ज्यो का त्यों बना रहता है, जैसा कि ३०-४० वर्ष की आयु मे बहुधा होता है। जब परिवर्तन निवर्तन से अधिक होता है अर्थात् आय अधिक हो और व्यय कम हो, तो शरीर की वृद्धि होती है, जैसे बाल्यकाल मे। जब निवर्तन (व्यय) परिवर्तन से अधिक होता है तो शरीर का भार घटने लगता है और शरीर दुर्बल हो जाता है, जैसे वृद्धावस्था और रोगो मे।

प्रणालीविहीन ग्रन्थियो (विशेषकर चुल्लिकाग्रन्थि, पिट्युट्री, उपवृक्क और थाइमस) का सवर्तन से विशेष सम्बन्ध है। चुल्लिकाग्रन्थि के कम काम करने से एक प्रकार का बौनापन और मोटापन हो जाता है और उसके अधिक काम करने से हाथ-पैर लम्बे हो जाते हैं और शरीर का आकार देवकाय जैसा लम्बा हो जाता है।

न्यूनतम धातुपाक

सुप्तावस्था मे जीवन धारण के लिए हृदय और रक्तवहसस्थान, श्वसनसस्थान तथा पचनसस्थान अपना-अपना कार्य करते ही रहते हैं। देहोष्मा के सरक्षण के लिए तापोत्पत्ति भी चालू रहती है। इन क्रियाओ मे होनेवाला धातुपाक किसी प्रकार घटाया नही जा सकता। इन कार्यों मे रासायनिक परिवर्तन होते हैं। उन्हे न्यूनतम धातुपाक कहते है।

न्यूनतम धातुपाक मे मानसिक श्रम के कारण उत्पन्न ताप लगभग १० प्रतिशत होता है। श्रम—सामान्य शारीरिक व्यायाम से न्यूनतम धातुपाक के प्रमाण मे २५ से ६० प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। तीव्र व्यायाम मे १५०० प्रतिशत तक वृद्धि होना सभव है।

धातुपाक (चयापचय) में अग्नियों की मुख्य भूमिका

किये हुए भोजन का पाक, शरीर में उसका प्रसार और उसके द्वारा धातुओं की पुष्टि आदि कर्म त्रिविध और त्रयोदश अग्नियों के अधीन हैं और व्यानवायु तथा स्रोतों की अविकृति की भी अग्नियों के साथ सहकारिता होती है।[1]

प्रकार—१. जठराग्नि २. भूताग्नि और ३ धात्वग्नि भेद से तीन अग्नियाँ हैं।

संख्या—१ जठराग्नि, ५ भूताग्नि (१ भौम २ आप्य ३ आग्नेय ४ वायव्य और ५ नाभस्) और ७ धात्वग्नि (१ रसाग्नि २ रक्ताग्नि ३ मांसाग्नि ४. मेदोऽग्नि ५ अस्थ्यग्नि ६ मज्जाग्नि और पुरुषों में ७ शुक्राग्नि तथा स्त्रियों में ७. आर्तवाग्नि) मिलकर कुल १३ अग्नियाँ होती हैं।

धात्वग्नियों की मन्दता से धातुओं की वृद्धि और अतितीक्ष्णता से धातुओं का क्षय होता है।

क्षीण हुए किसी धातु की वृद्धि करनी हो, तो तीक्ष्ण हुई उस धातु की अग्नि को मन्द करना चाहिए और वृद्ध धातु को क्षीण करना हो तो उसकी अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए।

जठराग्नि[2] अपने स्थान में रहती हुई इन धात्वग्नियों को बल प्रदान करती है। भूताग्नि[3] प्रत्येक धात्वग्नि में अन्नपानगत प्रत्येक भूत के पाचन तथा विवेचन (पृथक्करण) के लिए पृथक् अग्नि होती है। इस प्रकार प्रत्येक धातु में पाँच भूतों की पाचक अग्नियाँ होती हैं, इन्हें भूताग्नि कहते हैं। इस प्रकार एक जठराग्नि सात धात्वग्नि[4] और पाँच भूताग्नि मिलकर कुल तेरह अग्नियाँ होती हैं।

नव्य क्रियाशारीर की दृष्टि से विचार करें, तो मुख से पक्वाशयपर्यन्त अन्नपान पर क्रिया करनेवाले पाचक रस ही जठराग्नि कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त शरीर में ग्रन्थियों से क्षरित होनेवाले रस (अन्तःस्रावी रस) सीधे रस-रक्त में मिलकर विभिन्न धातुओं तथा अवयवों में पहुँचकर धातुपाक तथा धातुपुष्टि की क्रिया को उद्दीपित करते हैं। ये अन्तःस्रावी रस ही आयुर्वेद के धात्वग्नि प्रतीत होते हैं।

आम और चयापचयजन्य विकार

आम दो प्रकार का होता है—१ जठराग्नि की दुर्बलता से महास्रोत में अपक्व

---

१ यथास्वेनोष्मणा पाकं शरीरे यान्ति धातव ।
स्रोतसा च यथास्वेन धातु पुष्यति धातुन ॥ च० चि० ९।३९

२ अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मत ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मका ॥ च० चि० १५।३०

३ भौमाप्याग्नेयवायव्या पञ्चोष्माण सनाभसा ।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥ च० चि० १५।१३

४ सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविध पुन ।
यथास्वमग्निभि पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥ च० चि० १५।१५

(आम[1]) अन्नरस और २. धात्वग्नियो की दुर्बलता से धातुओ मे अपक्व रसधातु (आमरस[2])।

साम[3]—जठराग्नि या धात्वग्नि किसी भी अग्नि की दुर्बलतावश बनें आम अन्नरस या आम धातुरस से युक्त वातादि दोष, रस-रक्त-मल-मूत्रादि दूष्य तथा इनसे उत्पन्न रोग साम कहे जाते हैं।

साम मलों के चिह्न[4]—स्वेद, मूत्रादि स्रोतो का अवरोध, बलहानि, गौरव (भारीपन), वायु का असम्यक् सचार, आलस्य, अजीर्ण, थूक का अधिक आना, पुरीषादि मलो की अप्रवृत्ति, अरुचि और क्लम, ये साम मलो के लक्षण हैं।

नव्यमत से आम की व्याख्या[5]

प्रोटीन आदि औषधद्रव्यो का जठराग्नि तथा धात्वग्नि द्वारा पाक (क्रमश अन्य द्रव्यो में रूपान्तर) होकर अन्त मे एक-एक मल के रूप में परिवर्तन होता है। यथा—प्रोटीनो का जठर मे एमाइनो एसिड्स के रूप मे, धात्वग्नियो द्वारा यूरिया के रूप मे तथा कार्बोहाइड्रेट्स और स्नेहो का अन्त मे अङ्गाराम्ल के रूप मे परिवर्तन होता है। दोनो अग्नियो की मन्दता से यदि अन्तिम द्रव्य न बनकर मध्यवर्ती अर्धपक्व द्रव्य बनें, तो उन्हें आम कहेंगे।

जैसे प्रोटीन्स के अपूर्ण पाक से यूरिक एसिड बनता है, जिसका सन्धिवात मे, सन्धियो में स्थानसश्रय होता है। कार्बोहाइड्रेट्स और स्नेहों के अधूरे पाक से तक्राम्ल या लैक्टिक एसिड बनता है। मधुमेहादि मे कार्बोहाइड्रेट्स का पाक अपूर्ण रह जाने से स्नेहो का भी पाक अधूरा रह जाता है, जिससे अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं।

तक्राम्ल का आमवात (रिउमेटिज्म) मे पेशियो मे सस्थानसश्रय होता है। इन्स्युलीन के हीनयोग से या यकृत् के विकारवश द्राक्षाशर्करा का ग्लायकोजन में परिवर्तन न हो, तो वह आम ही कही जायेगी। याकृत पित्त के रञ्जक द्रव्य के अन्त्रो में पाक से अन्त मे वह रञ्जक द्रव्य बनता है, जिसके कारण मल का विशिष्ट वर्ण होता है। यह पाक अधूरा रहने से विविध अर्धपक्व रञ्जक द्रव्य बनते हैं, जिसके कारण विशेषत बच्चों मे हरे-पीले दस्त होते हैं। हीमोग्लोबीन के अर्धपक्व

---

१ जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रस ।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपण ॥ च० चि० १५।४४

२ उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ अ० हृ० सू० १३।२५

३ आमेन तेन सयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिता ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवा ॥ अ० हृ० सू० १३।२७

४ स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढता ।
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलसङ्गारुचिक्लमा ॥
लिङ्गं मलाना सामाना । अ० हृ० सू० १३।२३-२४

५ क्रियाशारीर, देसाई सस्करण ८, पृ० ६५६-५७।

समास बनें तो रक्त मे जो विकृति होती है, उसे मेट्हीमोग्लोबीनीमिआ कहते हैं। आमाशय आदि मे प्रोटीन आदि का अपूर्ण पाक होकर जो द्रव्य बनते हैं, वे भी आम ही हैं। रसधातु का पाक अधूरा रहने से (वैद्यक मत से) कफ अधिक निकलता है। यह कफ भी आम है। कफ मे म्यूसीन नामक प्रोटीन होता है, उसका पाक होकर शरीरोपयोगी प्रोटीन नही बन पाता है, ऐसी कल्पना करनी चाहिए। रोग जन्तुओ के उत्पन्न किये विष या आगन्तु विष क्षमता द्वारा अप्रतिकृत होकर पडे रहें अर्थात् तोड-फोडकर बाहर न निकाल दिये जाये, तब तक आम ही कहे जायेंगे।

आमरस अशक्तवश शुक्तरूप (सिरके के समान सधान को प्राप्त होकर) विषवत् हो जाता है।[1]

धात्वग्नि के अपचय से राजयक्ष्मा—अपनी अपनी अग्नि मे प्रत्येक धातु का निरन्तर परिपाक होकर प्रसाद भाग मे पोषण और किट्ट का बहिर्गमन होता रहता है। पूर्व-पूर्व धातु की समृद्धि होने से उत्तर-उत्तर धातुएँ भी समृद्ध होती रहती हैं और जब समुचित रूप मे धात्वग्नि-व्यापार नही होता है, तब पूर्व-पूर्व धातु के ह्रास से उत्तरोत्तर धातुओ का ह्रास होते रहने से राजयक्ष्मा[2] हो जाता है, जिसे अनुलोम क्षय कहते हैं। इस प्रकार उचित धातुपाक मे स्वस्थता और अनुचित धातु-पाक से रोगों का आक्रमण होता है।

---

१. अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्। च० नि० १५।४१
२. धातूष्मणा चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते। च० चि० ८।४०

वक्तव्य आदि से संवलित

व्याख्याकार—

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी० ए०

प्राक्कथन लेखक—

डॉ० गङ्गासहाय पाण्डेय

एवं

डॉ० प्रभाकर जनार्दन देशपाण्डे

सम्प्रति उपलब्ध चरक-संहिता ८ स्थानों तथा १२० अध्यायों में विभक्त है। प्रस्तुत सहिता काय चिकित्सा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। जैसे समस्त संस्कृत-वाङ्मय का आधार वैदिक साहित्य है, ठीक वैसे ही काय चिकित्सा के क्षेत्र में जितना भी परवर्ती साहित्य लिखा गया है, उन सब का उपजीव्य चरक है।

चरकसहिता के अन्त में ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'। इसका अभिप्राय यह है कि काय-चिकित्सा के सम्बन्ध में जो साहित्य व्याख्यान रूप में अथवा सूत्र रूप में इसमें उपलब्ध है, वह अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है, और जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी सुलभ नहीं है। चरक का यह डिण्डिमघोष तुलनात्मक दृष्टि से सर्वदा देखा जा सकता है।

दूसरी विशेषता महर्षि चरक की यह रही है—'पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः'। इन्होंने अपने तन्त्र के अतिरिक्त दूसरे विषय के आचार्यों के क्षेत्र में टाँग अड़ाना पसन्द नहीं किया, अतएव उन्होंने कहा है—'अत्र धान्वन्तरीयाणाम् अधिकारः क्रियाविधौ'।

इस प्रकार के आदर्श ग्रन्थ पर भट्टारहरिचन्द्र आदि अनेक स्वनामधन्य मनीषियों ने टीकाएँ लिखकर इसके रहस्यों का उद्घाटन समय समय पर किया है।

इसके पूर्व भी चरक की कतिपय व्याख्याएँ लिखी गयी हैं, वे विषय का बोध भी कराती हैं। चरकसहिता की चरक-चन्द्रिका टीका के रूप में लेखक का इस दिशा में यह स्तुत्य प्रयास है। इसमें यथासम्भव चरक के रहस्यमय गूढ स्थलों का सरस भाषा में आशय स्पष्ट किया गया है। स्थल विशेष पर पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी नाम भी दे दिये गये हैं। आवश्यकतानुसार प्रकरण विशेष पर आधुनिक चिकित्सा-सिद्धान्तों का तुलनात्मक दृष्टि से भी समावेश कर दिया गया है, जिससे पाठकों को विषय को समझने में सुविधा हो। साथ ही कठिन स्थलों को विशेष वक्तव्य तथा टिप्पणियों द्वारा प्राञ्जल किया गया है।

प्रथम भाग (सूत्र निदान-विमान शारीर-इन्द्रियस्थान) २००—००

द्वितीय भाग (चिकित्सा कल्प-सिद्धिस्थान) २५०—००

सचित्र स्त्रीरोग-चिकित्सा
डॉ० जहानसिंह चौहान
मूल्य १५०—००

सचित्र इजेक्शन-चिकित्सा
डॉ० जहानसिंह चौहान
मूल्य १२५—००

सचित्र नेत्र-विज्ञान
डॉ० शिवनाथ खन्ना
मूल्य १२५—००

सचित्र प्रसूति-तन्त्र
डॉ० शिवनाथ खन्ना
मूल्य १२५—००